卐 श्री वीतरागाय नमः 卐

श्री प्रभाचन्द्राचार्य प्रणीत

प्रमेयकमल मार्त्तण्ड

[द्वितीय भाग]

अनुवादिका :

पू० विदुषी १०५ श्री आर्यिका जिनमती माताजी

प्रथम संस्करण
५००

वीर नि० सं० २५०७

मूल्य :
स्वाध्याय
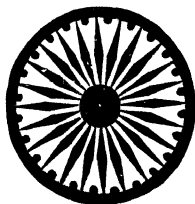
मुद्रक :
पाँचूलाल जैन
कमल प्रिन्टर्स
मदनगंज–किशनगढ़ (राज०)

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सहयोगी
द्रव्य प्रदाता

७२५१) श्री सुकुमालचन्दजी जैन सर्राफ, सहारनपुर

१०००) श्री ब्र० विनोदकुमारजी जैन, सहारनपुर

१००१) श्री पारसमलजी गदिया, अजमेर

१०००) श्री सजनकुमारजी जैन, रानी वाला ब्यावर

१०००) श्री कुबेरचन्दजी फूलचन्दजी साखरबाड़ी

१०००) श्री भगवानलाल हमराजजी जैन ईन्टालीखेड़ा

१०००) श्री .... उदयपुर

१०००) श्री नाथूलालजी महावीरप्रसादजी जैन लालास वालों के
(पू० माताजी की स्मृति में)

५००) श्री सोनादेवी धर्मपत्नी श्री माणकचन्दजी (जयपुरिया) सीकर

५००) श्री पानादेवी धर्मपत्नी श्री पूरणमलजी (जयपुरिया) सीकर

५००) धर्मपत्नी श्री कुनणमलजी छाबड़ा मून्डवाड़ा

५००) श्री श्यामलालजी मूलचन्दजी संघई सीकर

५००) श्री शान्तिलालजी जैन, बागड़िया जावद

३००) श्री मदनलालजी काशलीवाल, बिजयनगर

२५१) सुश्री नीलम जैन, सहारनपुर

१७३०३) कुल योग

परमपूज्य, प्रातः स्मरणीय, चारित्र चक्रवर्ती, आचार्यप्रवर

१०८ श्री शांतिसागरजी महाराज

पचेन्द्रियसुनिर्दान्ति, पंचसंसारभीरुकम् ।
शांतिसागरनामानं, सूरि वदेऽघनाशकम् ॥

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :	समाधि :
ज्येष्ठ कृष्णा ६	ज्येष्ठ शुक्ला १३	फाल्गुन शुक्ला १४	द्वितीय भाद्रपद
वि० सं० १६२६	वि० सं० १६७०	वि० सं० १६७४	वि० सं० २०१२
	उत्तूर ग्राम (कर्नाटक)	यरनाल ग्राम (कर्नाटक)	कुन्थलगिरि सिद्धक्षेत्र

परमपूज्य, प्रातःस्मरणीय, आचार्यप्रवर

१०८ श्री वीरसागरजी महाराज
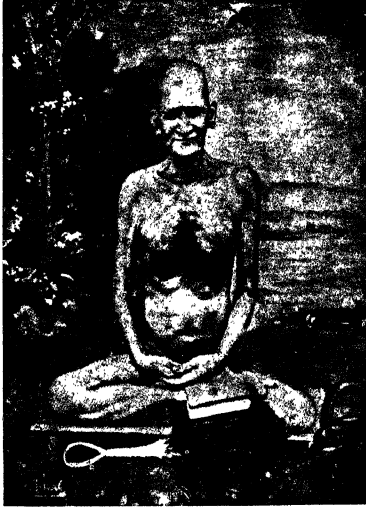
चतुर्विधगणैः पूज्य, गंभीरं सुप्रभावकम् ।
वीरसिन्धुगुरुं स्तौमि, सूरिगुणविभूषितम् ॥

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :	समाधि :
आषाढ पूर्णिमा	फाल्गुन शुक्ला ७	आश्विन शुक्ला ११	आश्विन अमावस्या
वि० सं० १९३२	वि० सं० १९८०	वि० सं० १९८१	वि० सं० २०१४
वीर ग्राम (महाराष्ट्र)	कुम्भोज (महाराष्ट्र)	समडोली (महाराष्ट्र)	जयपुर (राज०)

परम पूज्य तपस्वी आचार्यप्रवर

१०८ श्री शिवसागरजी महाराज

तपस्तपति यो नित्य, कृशाङ्गो गुणपीनकः ।
शिवसिन्धुगुरुं वदे, भव्यजीवहितकरम् ॥

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :	समाधि :
वि० सं० १९५८	वि० स० २००१	वि० सं० २००६	फाल्गुन अमावस्या
अडग्राम	सिद्धवरकूट	नागौर (राज०)	वि० सं० २०२५
(महाराष्ट्र)			श्री महावीरजी

परमपूज्य, प्रशांत मुद्राधारी आचार्यवर्य

१०८ श्री धर्मसागरजी महाराज

धर्मसागर आचार्यो, धर्मसागर वर्द्धने ।
चन्द्रवत् वर्त्तते योऽसौ, नमस्यामि त्रिशुद्धत: ।।

जन्म :	क्षुल्लक दीक्षा :	मुनि दीक्षा :
पौष पूर्णिमा	वि० सं० २०००	वि० सं० २००७
वि० स० १९७०	वालूज ग्राम	फुलेरा (राज०)
गंभीरा ग्राम (राज०)	(महाराष्ट्र)	

विषय परिचय

आचार्य श्री प्रभाचन्द्र विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्ड के राष्ट्रभाषानुवाद का यह द्वितीय भाग पाठकों के हाथ में है। मूल संस्कृत ग्रन्थ बारह हजार श्लोक प्रमाण सुविस्तृत है अतः इसको तीन भागों में विभक्त किया, प्रथम भाग सन् १९७८ में प्रकाशित हो चुका था, द्वितीय यह है और तृतीय भाग आगे प्रकाशित होगा, तीनों में समान समान रूप से ही (चार चार हजार श्लोक प्रमाण) संस्कृत टीका समाविष्ट हुई है।

श्री माणिक्यनंदी आचार्य विरचित परीक्षामुख नामा सूत्र ग्रन्थ की टीका स्वरूप यह प्रमेयकमलमार्त्तण्ड है, परीक्षामुख के कुल सूत्र २१२ हैं (प्रत्यभिज्ञान के उदाहरणों के एक सूत्र में समाविष्ट करके एवं तर्क के उदाहरण सूत्र को एकत्र करके २०८ संख्या गिनने की परिपाटी भी है) इनमें से प्रथम भाग में १८ सूत्र समाविष्ट थे, इस द्वितीयभाग में १०८ सूत्र हैं, शेष सूत्र तृतीय भाग में रहेंगे।

जीवादि पदार्थ या घट पट आदि यावन्मात्र विश्व के चेतन अचेतन पदार्थों को 'प्रमेय' कहते हैं उन प्रमेय रूपी कमलों के लिये मार्त्तण्ड अर्थात् सूर्य कौन हो सकता है तो वह प्रमाण ही हो सकता है, हमारे इस ग्रन्थ में प्रमाण का ही मुख्यवृत्त्या प्रतिपादन है अतः इसका सार्थक नाम "प्रमेयकमलमार्त्तण्ड" है। प्रमेयों को जानने वाले प्रमाण के विषय में दार्शनिक जगत् में विवाद है, नैयायिक कारक साकल्य को (पदार्थ को जानने की बाह्य सामग्री को) और वैशेषिक इन्द्रिय और पदार्थ आदि के सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं, ऐसे ही बौद्ध आदि परवादियों के विविध आग्रह हैं, जैन ज्ञान को ही प्रमाण मानते हैं क्योंकि पदार्थ को जानने के लिये अज्ञान का विरोधी ज्ञान ही हो सकता है, अज्ञान स्वरूप घटादि को अज्ञान रूप हो सामग्री किस प्रकार उपयुक्त हो सकती है ? क्या अप्रकाश स्वरूप वस्तु को अप्रकाश रूप पदार्थ प्रकाशित कर सकता है ? नहीं कर सकता, अर्थात् घट आदि अप्रकाश रूप पदार्थ को प्रकाशित करने के लिये प्रकाश स्वभाव वाले प्रदीप आदि ही समर्थ हो सकते हैं उसी तरह घटादि को जानने के लिये ज्ञान स्वभाववाला प्रमाण ही समर्थ हो सकता है। इसका विस्तृत विवेचन प्रथम भाग में हो चुका है।

इस द्वितीय भाग में बीस प्रकरण हैं आगे इनमें आगत विषयों का परिचय दिया जाता है—

अर्थ कारणवाद - बौद्ध एवं नैयायिक ज्ञान को पदार्थ का कार्य मानते हैं इनका कहना है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होकर ही उसको जानता है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो प्रतिकर्म व्यवस्था अर्थात् अमुकज्ञान अमुक पदार्थ को ही जानता है अन्य को नहीं ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकती। इस विषय पर प्रकाश डालते हुए जैनाचार्य ने कहा कि प्रतिकर्म व्यवस्था तो ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम के अनुसार हुआ करती है अर्थात् जिस जिस वस्तु को जानने का आत्मा में क्षयोपशम हुआ है उसी उसी को वह क्षायोपशमिक ज्ञान जान लेता है अन्य को नहीं। पदार्थ को जानने के लिये प्रकाश की नियम से आवश्यकता रहती है ऐसा नैयायिक का मंतव्य है इसका निरसन तो सिंह, बिलाव, उल्लू आदि के प्रकाश के अभाव में ज्ञान होते हुए देखकर ही हो जाता है।

आवरण सिद्धि–संवर निर्जरा सिद्धि—आत्मा के ज्ञानादि शक्ति को रोकने वाला कोई पदार्थ अवश्य है किन्तु वह अविद्या या शरीरादिक न होकर सूक्ष्म जड़ स्वरूप पुद्गल नामा तत्त्व ही है। अद्वैतवादी अविद्या को आवरण मानते हैं, नैयायिकादि तो अदृष्ट नाम के आत्मा के गुण को ही आवरण मानते हैं। इनका क्रमशः निराकरण करते हुए कहा है कि अविद्या को अद्वैतवादी ने काल्पनिक स्वीकार किया है अतः वह वास्तविक ज्ञान का आवरण नहीं कर सकती, तथा अदृष्ट गुण भी आवरण नहीं हो सकता, आत्मा का ही गुण और आत्मा को ही परतंत्र करे, आवृत करे ऐसा असंभव है। परवादी की यह आशंका है कि अमूर्त्त ज्ञान गुण वाले आत्मा को मूर्त्त पुद्गल कर्म कैसे आवृत कर सकता है। इसका समाधान तो मदिरा के दृष्टांत से हो जाता है, मदिरा मूर्त्तिक होकर भी आत्मा के ज्ञान को विस्मृत या मत्त करा देती है वैसा मूर्त्तिक कर्म ज्ञानादि को आवृत करता है। इस प्रकार आवरण की सिद्धि होने पर उस आवरण को किस प्रकार दूर किया जाय यह प्रश्न होता है, मीमांसक पूर्ण ज्ञानी सर्वज्ञ को नहीं मानते क्योंकि ज्ञान का आवरण सर्वथा नष्ट होना अशक्य है ऐसा उनका कहना है, किन्तु जिस प्रकार अनादिकाल से चला आया जलादि का शीतस्पर्श अग्नि संयोग होने पर नष्ट होता है अथवा अनादिकालीन बीज अंकुर की परंपरा

नष्ट होती है उसी प्रकार अनादि प्रवाह रूप से चले आये आवरण कर्म संवर एवं निर्जरा द्वारा नष्ट होते हैं ऐसा सिद्ध होता है।

सर्वज्ञत्ववाद—भारतीय दर्शनों में मीमांसक और चार्वाक ये दो दर्शन ऐसे हैं कि जो सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार नहीं करते। मीमांसा श्लोकवार्त्तिक में सर्वज्ञ के निषेध करने हेतु अनेक युक्तियां दी गयी हैं, उन सबको पूर्व पक्ष में रख कर श्री प्रभाचंद्राचार्य ने बहुत सुन्दर रीति से उन युक्तियों का निराकरण किया है। सर्वज्ञ का वर्त्तमान में अभाव होने के कारण मीमांसक ने उनके द्वारा अभीष्ट छहों प्रमाणों से सर्वज्ञ एवं सर्वज्ञ के ज्ञान का अभाव करने का असफल प्रयत्न किया है, उनका कहना है कि प्रत्यक्ष प्रमाण से सर्वज्ञ की उपलब्धि नहीं होती, अनुमान प्रमाण भी साध्याविनाभावी हेतु के नहीं होने से सर्वज्ञ भगवान अथवा सकल विषयों के ग्राहक पूर्ण ज्ञान को सिद्ध नहीं कर सकता है। आगम प्रमाण यदि नित्य है तो उससे अनित्य रूप सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती न नित्य आगम रूप वेद में उसका उल्लेख है, और यदि अनित्य आगम से सर्वज्ञ को सिद्ध करना चाहे तो वह इतना प्रमाणभूत नहीं है। अर्थापत्ति एवं उपमा भी सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध नहीं करती अतः अभाव प्रमाण द्वारा सर्वज्ञ का अभाव ही सिद्ध होता है। जैनाचार्य ने कहा कि प्रत्यक्षादि प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती अपितु सुनिश्चित अनुमान प्रमाण से होती है—"सूक्ष्मांतरितादि पदार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः अनुमेयत्वात् अग्निवत्" इत्यादि निर्दोष अनुमान द्वारा सर्वज्ञ की सत्ता भली-भांति सिद्ध होती है। सर्वज्ञ का ज्ञान इन्द्रिय द्वारा नहीं होता अतः मीमांसक का यह कहना कि "सर्वज्ञ यदि अशेष पदार्थों को जानता है तो मांस, मल आदि अशुचि पदार्थों का सेवक कहलायेगा, क्योंकि उन पदार्थों को रसना आदि इन्द्रियों से जानता है" सर्वथा हास्यास्पद ठहरता है। मीमांसक ने एक मार्मिक प्रश्न किया है कि सर्वज्ञ के पूर्ण ज्ञान प्रगट होते ही सकल पदार्थ साक्षात् हो जाते हैं अतः आगे के समय में या तो वह असर्वज्ञ हो जायेगा या उसका ज्ञान अपूर्वार्थग्राही नहीं होने से अप्रामाणिक कहलायेगा? इस मार्मिक प्रश्न का उत्तर भी उतना ही मार्मिक दिया गया है कि—"पूर्वं हि भाविनोऽर्था भावित्वेनोत्पत्स्यमानतया प्रतिपन्ना न वर्त्तमानत्वेनोत्पन्नतया वा, सापि उत्पन्नता तेषां भवितव्यतया प्रतिपन्ना न भूततया। उत्तरकालं तु तद् विपरीतत्वेन ते प्रतिपन्नाः यदा हि यद् धर्म विशिष्टं वस्तु तदा तज्ज्ञाने तथैव प्रतिभासते नान्यथा, विभ्रमप्रसंगात्। इति कथं ग्रहीतग्राहित्वेनाप्यस्या प्रामाण्यम्?" अर्थात् पहले जो

पदार्थ भावी थे उन्हें भावी रूप से ज्ञात किया जाता है वर्त्तमान रूप से नहीं। उत्तर काल में इससे विपरीत रूप से अर्थात् वर्त्तमान रूप से ज्ञात किया जाता है, भावी रूप से नहीं। क्योंकि जो वस्तु जिस समय जिस धर्म विशिष्ट होती है, उसे उस समय वैसा ही ज्ञात किया जाता है, अन्यथा रूप से नहीं इत्यादि।

ईश्वरवाद—विश्व के संपूर्ण पदार्थ ईश्वर द्वारा निर्मित हैं ऐसी नैयायिक वैशेषिक की मान्यता है, पृथ्वी, पर्वत, शरीरादि पदार्थ कार्यरूप हैं अतः इनका कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिये, तथा ये पदार्थ अचेतन होने से स्वयं कार्यशील नहीं हो सकते उनको तो कार्य रूप कराने वाला कोई चेतन रूप पदार्थ चाहिये, जैसे मिट्टी अचेतन होने से स्वयं घट रूप नहीं होती किन्तु चेतन कुंभकार द्वारा घट रूप होती है ऐसे ही पृथ्वी आदि कार्य किसी चेतन द्वारा निर्मित होने चाहिये। वह चेतन शक्ति, ज्ञान एवं इच्छा वाला होना भी आवश्यक है अन्यथा वह कार्य नहीं कर सकेगा इस प्रकार संपूर्ण पदार्थों को निर्माण करने की शक्ति आदि से संयुक्त जो कोई चेतन है वह ईश्वर है और वह अनादि निधन है। ईश्वर वादी के इस मंतव्य का सयुक्तिक खण्डन करके यह सिद्ध किया है कि विश्व का कोई एक सर्व शक्तिमान् कर्त्ता नहीं है किन्तु प्रत्येक पदार्थ अंतरंग बहिरंग कारणों से स्वयं कार्य रूप परिणमन करते हैं, यदि ईश्वर द्वारा सृष्टि रची होती तो दीन दुःखी अनाथ मनुष्य, क्रूर पशु, आदि की उत्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती क्योंकि परम दयालु ईश्वर द्वारा ऐसी रचना होना सर्वथा असंभव है। तथा ईश्वर के शरीर ही नहीं है, केवल इच्छा या ज्ञान मात्र से विश्व का कार्य करना असंभव है। अचेतन कार्यशील स्वयं नहीं होते ऐसा कहना असत् है। मेघ इन्द्रधनुष आदि पदार्थ अचेतन होकर भी स्वयं कार्यशील होते हुए देखे जाते हैं। पृथिवी आदि कार्यों का कर्त्ता कोई ना कोई होना चाहिए ऐसा जो कहना है सो इनका निर्माण स्वयं के उपादानभूत परमाणुओं मे एवं बाध्य निमित्तभूत अनेक सामग्री से हो जाया करता है उनके लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं होती इत्यादि अनेक प्रकार से ईश्वरकर्तृत्व का निरास होता है।

प्रकृतिकर्तृत्ववाद—सांख्य प्रकृति को सृष्टि का कर्त्ता मानते हैं—प्रकृति से महान् (बुद्धि) महान से अहंकार, उससे षोडशगण उससे पंचभूत प्रादुर्भूत होते हैं। सांख्य सत्कार्यवादी कहलाते हैं इनके यहां कारण में कार्य मौजूद ही रहता है ऐसा माना है। आचार्य ने इस वाद का सयुक्तिक निरसन किया है, प्रकृति और पुरुष दोनों

ही सर्वथा नित्य स्वीकार करने से सांख्य का प्रकृतिकर्तृत्व कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि नित्य में किसी प्रकार परिणमन नहीं हो सकने से किसी के प्रति कारण-पना होना अशक्य है। प्रकृति से बुद्धि का प्रादुर्भाव मानना तो हास्यास्पद ही है क्योंकि अचेतन प्रकृति से चेतन के धर्म स्वरूप बुद्धि का निर्माण कैसे संभव है ? सत्कार्यवाद के सिद्धि के लिये दिये गये असत् अकरणात् इत्यादि पंच हेतु विपक्षभूत असत् कार्यवाद को ही सिद्ध कर देते हैं। सांख्यमत में कोई तो केवल प्रकृति को ही सृष्टिकर्त्ता मानता है और कोई प्रकृति और ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं किन्तु चाहे प्रकृति हो, चाहे प्रकृति और ईश्वर हो दोनों ही जब कूटस्थ नित्य हैं तब उनके द्वारा कार्य की संभावना नहीं की जा सकती अंत में यही निर्दोष रीत्या सिद्ध होता है कि विश्व के यावन्मात्र चेतन अचेतन पदार्थों का कोई एक सर्व शक्तिमान कर्त्ता नहीं है अपितु मनुष्यादि के शरीरादिका कर्त्ता तो कर्म एवं द्रव्यादि सामग्री है एवं अचेतन कार्यों में से कोई कार्य तो स्वयं अचेतन से ही अधिष्ठित है और कोई चेतन से अधिष्ठित है किन्तु वह चेतन भी ईश्वर न होकर सामान्यतः कोई भी प्राणी विशेष है।

कवलाहारविचार - श्वेताम्बर जैन अरहंत अवस्था में भगवान के भोजन ग्रहण होना मानते हैं इनका यह आग्रह है कि बिना भोजन के कुछ कम पूर्व कोटि वर्ष तक उत्कृष्ट रूप से केवली का शरीर टिक नहीं सकता। किन्तु यह कथन सिद्ध नहीं होता है भगवान केवल ज्ञानी के परम औदारिक शरीर है हम जैसे का सामान्य औदारिक नहीं, दूसरी बात उक्त शरीर के लिये प्रतिक्षण दिव्य सूक्ष्म महानपुष्टिकारक ऐसे नोकर्माहार रूप परमाणु आया करते हैं इन्हीं से उनका शरीर अवस्थित रहता है। केवली के राग द्वेष का सर्वथा अभाव होता है अतः वह भोजन नहीं करते, भोजन तो इच्छा पूर्वक किया जाता है, तथा जब उनके अनंतवीर्य का सद्भाव है तब भोजन से प्रयोजन भी क्या रहता है ? यदि जबरदस्ती माना जाय कि वे आहार करते हैं तो गृहस्थ के घर में जाकर भोजन करते हैं या समवशरण में ? घर में जाकर करते हैं तो जहां भोजन का लाभ होना है वहीं सीधे जायेंगे तो गोचरीवृत्ति नहीं रही और वैसा नहीं जाते तो दीनता एवं अज्ञानता दिखाई देती है, समवशरण में भोजन करते हैं तो महान आसादना हुई ? भोजन करके प्रतिक्रमण करना होगा अतः इनके सदोषता सिद्ध होती है। अंत में झुंझलाकर यदि यह कहे कि भगवान् आहार करते हुए दिखायी नहीं देते क्योंकि उनका ऐसा ही अतिशय है तो फिर भोजन नहीं करना रूप भुक्ति

अभाव नामका अतिशय ही क्यों न माना जाय ? अतिशय ही मानना है तो यही अतिशय संगत है व्यर्थ के द्राविड़ी प्राणायाम से क्या प्रयोजन ?

मोक्षस्वरूप विचार—मोक्ष का क्या स्वरूप है इस विषय में वैशेषिक आदि परवादियों में विवाद है-वैशेषिक बुद्धि आदि आत्मीक विशेष गुणों के उच्छेद होने को मोक्ष कहते हैं। अद्वैत उपासक वेदांती नित्य आनंद स्वरूप मोक्ष मानते हैं। विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति होना मोक्ष है ऐसा बौद्ध का मंतव्य है। प्रकृति और पुरुष के भेद का दर्शन होने पर चैतन्य पुरुष का स्व-स्वरूप में अवस्थान होना मोक्ष है जिसमें कि ज्ञानादि का भी अभाव है ऐसा सांख्य का कहना है। किन्तु इन सबका प्रतिपादन सिद्ध नहीं होता। इस मोक्ष विचार प्रकरण में प्रथम ही वैशेषिक नैयायिक ने अपने बुद्धि आदि गुणों का उच्छेद होना रूप मोक्ष का लक्षण करके अन्य वेदांती आदि के मोक्ष स्वरूप का निरसन किया है फिर जैन ने इन यौग के प्रति अपनी स्याद्वादमय सशक्त लेखनी द्वारा प्रतिपादन किया है कि बुद्धि आदि आत्मा के गुणों का उच्छेद होना असंभव है, क्योंकि गुणी आत्मा से बुद्धि आदि गुण अभिन्न है, यदि इन गुणों का उच्छेद होगा तो आत्मा का भी उच्छेद मानना होगा, आत्मा को बुद्धि आदि से पृथक् मानकर समवाय से उनको संयुक्त करने का मंतव्य तो पहले से ही निराकृत हो चुका है। बौद्ध के विशुद्ध ज्ञानोत्पत्ति होने रूप मोक्ष का लक्षण कथंचित् ठीक होते हुए भी सर्वथा क्षणिकवाद में तत्वज्ञान का अभ्यास, अभ्यास से सरागज्ञान का नाश और उससे विराग ज्ञान उत्पन्न होना इत्यादि कार्य सिद्ध नहीं हो सकते हैं। वेदांती का आनन्द रूप मोक्ष भी इसलिये निराकृत होता है कि वे लोग इस आनन्द को नित्य मानते हैं जब वह नित्य है तब संसार अवस्था में भी संभव है फिर मोक्ष और संसार में भेद ही काहे का ? सांख्याभिमत मोक्ष का लक्षण भी सदोष है, प्रथम तो यह दोष है कि सर्वथा नित्यवाद में प्रकृति और पुरुष के संसर्ग का अभाव होना पुनश्च पुरुष का चैतन्य मात्र में अवस्थान होना इत्यादि परिवर्त्तन होना संभव नहीं, दूसरा दोष यह है कि यौग के समान इन्होंने भी मोक्ष में ज्ञानादि का अभाव स्वीकार किया है अतः ऐसा मोक्ष का लक्षण सिद्ध नहीं होता, न ऐसे मोक्ष के लिये कोई बुद्धिमान प्रयत्नशील ही हो सकता है। इस प्रकार विभिन्न मोक्ष लक्षणों के निराकृत हो जाने पर अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख एवं अनंत वीर्य इत्यादि आत्मीक गुणों का पूर्ण रूपेण विकसित होना मोक्ष है यही मोक्ष का लक्षण निराबाध एवं निर्दोष सिद्ध होता है।

स्त्रीमुक्तिविचार—उपर्युक्त मोक्ष की प्राप्ति पुरुष को होती है वर्त्तमान में जो जीव स्त्री का शरीर धारण किये हुए है उसको मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि संयम एवं ध्यान को स्त्री उत्कृष्ट रूप से धारण नहीं कर सकती, वस्त्र त्याग करना असंभव होने से तज्जन्य हिंसा भी अनिवार्य है। श्वेतांबर स्त्री को मुक्ति होना स्वीकार करते हैं और उसके लिये "पुंवेदं वेदंता···" इत्यादि आगमोक्त गाथा को प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं किन्तु वह असत् है, उक्त गाथा भाव वेद की अपेक्षा प्रतिपादन कर रही है न कि द्रव्यवेद की अपेक्षा। अतः यह निश्चय करना चाहिये कि स्त्री को उसी भव से उसी स्त्री लिंग रूप द्रव्य आकारधारी शरीर से मोक्ष प्राप्ति होना अशक्य है, हां स्त्री पर्याय से अपने योग्य तपश्चरण करके आगामी भव में पुरुष लिंग धारण कर पूर्ण संयमी दिगम्बर मुनि बनकर वह मोक्ष जा सकती है।

स्मृतिप्रामाण्यवाद—बौद्धादिवादी स्मृतिज्ञान को प्रामाणिक नहीं मानते किन्तु यह मान्यता असत् है, स्मृतिज्ञान को सत्य नहीं माना जाय तो जगत का लेन देन का कार्य समाप्त होगा. अभ्यास भावना विद्यार्थी का विद्याध्ययन आदि संपूर्ण कार्य सिद्ध नहीं हो सकेंगे, तथा किसी किसी विषय में स्मरण ज्ञान व्यभिचरित होता है अर्थात् असत्य सिद्ध होता है इसलिये उस ज्ञान को सर्वथा अप्रमाण माना जाय तो प्रत्यक्षादि ज्ञान को भी अप्रमाण मानना होगा? क्योंकि यह भी क्वचित कदाचित् व्यभिचरित होता है।

प्रत्यभिज्ञान—स्मृति के समान प्रत्यभिज्ञान को भी बौद्ध स्वीकार नहीं करते, मीमांसकादि यद्यपि इसे स्वीकार करते हैं किन्तु उसको प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते हैं। इन मतों का निराकरण करते हुए यह सिद्ध किया है कि अनुमान आदि अन्य प्रमाण के समान प्रत्यभिज्ञान भी एक पृथक् प्रतिभास वाला प्रमाण है जैसे अनुमान का प्रत्यक्ष में अंतर्भाव नहीं होता वैसे इसका भी नहीं हो सकता। तथा बौद्ध यदि इस ज्ञान को प्रमाणभूत नहीं मानेंगे तो उनका क्षणिकत्ववाद समाप्त होगा क्योंकि जो सत् होता है वह सर्व ही क्षणिक होता है ऐसा संकलात्मक ज्ञान हुए बिना साध्यसाधन रूप अनुमान का उदय ही नहीं हो सकता और अनुमान के बिना क्षणभंगवाद भी सिद्ध नहीं हो सकता।

तर्क प्रमाण—चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी प्रवादी अनुमान प्रमाण को स्वीकार करते हैं किन्तु साध्यसाधन के अविनाभाव को विषय करने वाले तर्क प्रमाण

के अभाव में अनुमान प्रमाण का प्रादुर्भाव असंभव है, बात तो यह है कि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क एवं अनुमान इन प्रमाणों में पूर्व पूर्व प्रमाणों की आवश्यकता रहती है अर्थात् प्रत्यक्ष से अनुभूत विषय में ही स्मृति होती है, स्मृति और प्रत्यक्ष का संकलन स्वरूप प्रत्यभिज्ञान होता है, तथा तर्क साध्य साधन के सम्बन्ध का स्मरण एवं संकलन हुए बिना प्रवृत्त नहीं हो सकता। ऐसे ही अनुमान को पूर्व प्रमाणों की अपेक्षा हुआ करती है अतः निश्चय होता है कि अनुमान के साध्य साधन रूप अवयवों के सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला तर्क एक पृथक्भूत प्रमाण है।

अनुमान प्रमाण का लक्षण (साधनात् साध्य विज्ञानमनुमानम्) और हेतु का लक्षण (साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः) करते ही बौद्ध अपने हेतु का लक्षण उपस्थित करते हैं कि पक्षधर्म सपक्षसत्व और विपक्ष व्यावृत्ति इस तरह त्रैरूप्य (तीन रूप) ही हेतु का लक्षण होना चाहिये अन्यथा उक्त हेतु सदोष होता है। इस त्रैरूप्यवाद का निरसन तो कृतिकोदयादि पूर्वचर हेतु से ही हो जाता है, अर्थात् "उदेष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृतिकोदयात्" इत्यादि अनुमानगत हेतु में पक्ष धर्मादि रूप नहीं होते हुए भी ये अपने साध्य के साधक होते हैं अतः हेतु का लक्षण त्रैरूप्य नहीं है।

पांचरूप्य खण्डन—नैयायिक हेतु का लक्षण पांच रूप करते हैं—पक्ष धर्म, सपक्षसत्व, विपक्षव्यावृत्ति, असत्प्रतिपक्षत्व और अबाधित विषयत्व, यह मान्यता भी बौद्ध मान्यता के समान गलत है क्योंकि इसमें भी वही दोष आते हैं, अर्थात् सभी हेतुओं में पांचरूप्यता का होना जरूरी नहीं है। पांचरूपता के नहीं होते हुए भी कृतिकोदयादि हेतु स्वसाध्य के साधक देखे जाते हैं।

अनुमान त्रैविध्यनिरास—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट ऐसे अनुमान के तीन भेद नैयायिक के यहां माने जाते हैं, इनके केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी आदि विभाग किये हैं किन्तु यह सिद्ध नहीं होता, सभी अनुमानों में अविनाभावी हेतु द्वारा स्वसाध्य को सिद्ध किया जाता है अतः उनमें पूर्ववत् आदि का नाम भेद करना व्यर्थ है।

अविनाभावादिका लक्षण एवं हेतुओं के सोदाहरण बावीस भेद—अविनाभाव का लक्षण, साध्य का स्वरूप, पक्ष का लक्षण, अनुमान के अंग, उदाहरण, उपनय एवं निगमनों का लक्षण, विधिसाधक एवं प्रतिषेधक साधक हेतुओं के भेद, बौद्ध कारण

हेतु का नहीं मानता उसका निरसन, पूर्वचर आदि हेतु की सार्थकता एवं पृथक्त्व। अविरुद्ध उपलब्धि हेतु के विधिसाध्य की अपेक्षा छह भेद, विरुद्ध उपलब्धि हेतु के प्रतिषेध साध्य की अपेक्षा छह भेद, अविरुद्ध अनुपलब्धि हेतु के प्रतिषेध साध्य में सात भेद, विरुद्ध अनुपलब्धि हेतु के विधिसाध्य में तीन भेद, इस प्रकार इन सबका वर्णन इस प्रकरण में है।

वेद अपौरुषेयवाद—मीमांसक अपने वेद मामा ग्रन्थ को अपौरुषेय मानते हैं, इनका कहना है कि सभी पुरुष राग द्वेष युक्त ही होते हैं अतः सत्य अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकते, तथा वेद कर्त्ता का स्मरण नहीं है इसलिये वेद पुरुष रचित न होकर अपौरुषेय ही है। किन्तु यह कथन असत् है कोई भी पद एवं वाक्य अपने आप बिना पुरुष प्रयत्न के निर्मित होता हुआ देखा नहीं जाता जब वेद में भारत रामायण आदि के समान वाक्य रचना पायी जाती है तब उसे अपौरुषेय किस प्रकार मान सकते हैं? अर्थात् नहीं मान सकते। कर्त्ता का स्मरण नहीं होने से वेद को अपौरुषेय माना जाय तो बहुत से प्राचीन महल, कूप आदि के कर्त्ता का स्मरण नहीं होता अतः उन्हें भी अपौरुषेय मानना चाहिये? दूसरी बात कर्त्ता का अस्मरण कहां है? कालासुर नामा-देव ने अपने वैर का बदला लेने के लिये हिंसापरक इस वेद को रचा था ऐसा हम जैन को भली भांति स्मरण है। तथा मीमांसक वेद को अपौरुषेय इसलिये मानते हैं कि उससे वह ग्रन्थ प्रामाणिक सिद्ध हो किन्तु अपौरुषेय प्रामाण्य की कसौटी नहीं है, यदि ऐसा है तो चोरी आदि के उपदेश को भी प्रमाण मानना होगा, क्योंकि वह भी अपौरुषेय है। वेद को अपौरुषेय मानने पर भी उसके व्याख्यान एवं अर्थ करने वाले तो पुरुष ही रहते हैं, यदि व्याख्याता पुरुष वेद के अर्थ का सही प्रतिपादन कर सकते हैं तो कोई पुरुष विशेष उसको रच भी सकता है। अंत में यही सिद्ध होता है कि वेद पुरुष रचित ही है क्योंकि उसके वाक्य पुरुष रचित जैसे ही हैं, पुरुष प्रयत्न बिना ग्रन्थ रचना सर्वथा असंभव है।

शब्द नित्यत्ववाद—शब्द नित्य व्यापक एवं आकाश के गुण स्वरूप हुआ करते हैं ऐसा मीमांसक का अभिमत है, शब्द को नित्य माने बिना संकेत ग्रहण पूर्वक होने वाला अर्थ ज्ञान असंभव है, अर्थात् यह घट है, घट शब्द द्वारा इस पदार्थ को कहा जाता है इत्यादि रूप से घट आदि शब्दों में प्रथम संकेत होता है पुनः किसी समय उन शब्दों को सुनकर अर्थ प्रतिभास होता है इस प्रकार संकेत काल से लेकर व्यवहार

काल तक यदि शब्द अवस्थित नहीं रहेगा तो शाब्दिक ज्ञान होना अशक्य है। शब्द की व्यापकता दो कारणों से स्वीकृत की जाती है, एक तो वह आकाश रूप व्यापक द्रव्य का गुण है दूसरे एक साथ नाना देशों में सुनाई देता है। मीमांसक के इस मंतव्य का सुविस्तृत निरसन किया गया है, संकेत काल से लेकर व्यवहार काल तक वही शब्द नहीं रहता अपितु तत् सदृश अन्य रहता है, सादृश्य शब्द द्वारा घटादि वाच्य का प्रतिभास होता है, अर्थात् जब कोई वृद्ध पुरुप बालक के प्रति घट वाच्य और घट वाचक शब्द में संकेत करता है उस समय का शब्द नष्ट होता है अन्य समय में जो घट शब्द को बालक सुनता है वह अन्य तत् सदृश शब्द है, इस सादृश्य शब्द से होने वाला ज्ञान असत्य है ऐसा भी नहीं कह सकते अन्यथा धूम हेतु से होने वाला अग्नि का अनुमान असत्य ठहरेगा, अर्थात् संकेत काल का शब्द व्यवहार काल में नही होता अतः तज्जन्य ज्ञान भ्रांत है तो रसोई घर के धूम अग्नि में साध्य साधन का संकेत ज्ञात कर पुनः पर्वत पर तत्सदृश धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होता है उसको भी भ्रांत मानना होगा ? क्योंकि रसोई घर का धूम तो पर्वतपर है नहीं। तथा मीमांसक ग, क, र आदि वर्णों को सर्वत्र एक व्यापक रूप से मानते हैं, किन्तु ऐसा प्रतीति में नहीं आता, गकार आदि यावन्मात्र वर्ण पृथक् पृथक् अनेकों संख्याओं में एक साथ उपलब्ध हो रहे हैं, विभिन्न देशों में पूर्ण पूर्ण रूपसे अनेकों वर्ण एक साथ उपलब्ध होते हैं, व्यापक पदार्थ इस तरह एक जगह पूर्ण रूपेण उपलब्ध हो ही नहीं सकता अन्यथा वह व्यापक ही काहे का ? व्यापक आकाश क्या एकत्र पूर्ण रूप से उपलब्ध होता है ? शब्द को नित्य मानकर व्यंजक ध्वनि द्वारा उसका संस्कार होने की मान्यता भी आश्चर्यकारी है। वक्ता के मुख से शब्द निकलकर श्रोता के कर्ण तक आता है तो वह मार्ग में किसी पदार्थ से विच्छिन्न होगा इत्यादि जैन के प्रति दिये गये दूषण मीमांसक के अभिव्यंजक वायु में भी लागू होते हैं। तथा यदि शब्द सर्वथा नित्य है तो उसका संस्कार होना या व्यक्त होना आदि नहीं बन सकता, क्योंकि नित्य में पूर्व की अव्यक्त दशा से उत्तर कालीन व्यक्त दशा में आना रूप परिवर्त्तन संभव नहीं अन्यथा वह अनित्य ही ठहरता है। इत्यादि अनेक प्रकार से शब्द के नित्यत्व का खंडन होता है।

शब्दसम्बन्ध विचार—शब्द और पदार्थ में ऐसी ही सहज स्वाभाविक योग्यता है कि गो आदि शब्द तदर्थ वाच्यभूत सास्नामान पदार्थ को अवभासित कराते हैं, पुनश्च इनमें संकेत भी किया जाता है कि अमुक शब्द का अमुक अर्थ होता है, इस

वाच्य वाचक सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिये कहा गया है कि "सहज योग्यता संकेत वशाद् हि शब्दादयः वस्तु प्रतिपत्ति हेतवः" बौद्ध शब्द और अर्थ में ऐसा वाच्य वाचक सम्बन्ध नहीं मानते, उनका कहना है कि ये दोनों भी क्षणिक हैं अतः शब्द द्वारा अर्थ-बोध नहीं होता इत्यादि। किन्तु यह कथन असत् है, प्रथम बात तो यह कि शब्द बिलकुल क्षणिक एक समय मात्र का नहीं है अपितु कुछ समय स्थायी है, और पदार्थ तो क्षणिक है नहीं वह चिरकाल स्थायी है, दूसरे शब्द के अनित्यत्व होने पर भी तज्जन्य ज्ञान द्वारा वाच्यार्थ बोध होता ही है। अतः संकेत और स्वाभाविक योग्यता के कारण शास्त्रीय या लौकिक शब्द (वचन) अर्थ के वाचक होते हैं इनमें वाच्य वाचक लक्षण सम्बन्ध है ऐसा मानना चाहिए।

अपोहवाद—बौद्ध का कहना है कि शब्द घटादि वाच्यार्थ को न कहकर अपोह को कहते हैं अर्थात् गो शब्द सास्नादिमान् पदार्थ को नहीं कहता किन्तु गो से अन्य जो अश्वादि हैं उनसे व्यावृत्ति कराता है इसे अगो व्यावृत्ति कहते हैं, ऐसे घट पट इत्यादि शब्दों द्वारा अन्य का अपोह अर्थात् अघट व्यावृत्ति अपट व्यावृत्ति मात्र की जाती है। शब्दों को अर्थों का वाचक इसलिये नहीं मानते कि अर्थ के अभाव में भी शब्द की उपलब्धि पायी जाती है। बौद्ध का यह मंतव्य सर्वथा असंगत है क्योंकि प्रतीति के विरुद्ध है, गो शब्द को सुनते ही हमें सीधे सास्नादिमान् पदार्थ की प्रतीति होती न कि अन्य की व्यावृत्ति की। कोई कोई शब्द अर्थ के अभाव में उपलब्ध होते हैं अतः सभी शब्दों को अर्थाभिधायक नहीं मानना तो अनुचित ही है अन्यथा कोई कोई गोपाल घटिकादिका धूम अग्नि के अभाव में उपलब्ध होता है अतः उसे भी अग्नि का कार्य नहीं मानना चाहिये न अग्नि का अनुमापक ही। जब हमें गो शब्द सुनते ही तदर्थ वाच्य की प्रतीति होती है तब कैसे कह सकते कि शब्द अर्थ का वाचक न होकर केवल अन्य का व्यावर्त्तक ही है! यदि कहा जाय कि शब्द अन्य की व्यावृत्ति पूर्वक स्ववाच्य को कहता है तो यह मान्यता भी असंगत है क्योंकि एक ही शब्द अगो का निषेध और गो की विधि इस प्रकार विरुद्ध दो अर्थों को कह नहीं सकता न ऐसी प्रतीति ही होती है। तथा यदि गो शब्द अन्य की व्यावृत्ति कराता है ऐसा माना जाय तो गो से अन्य पदार्थ तो असंख्य हैं उनको जाने बिना व्यावृत्ति कैसे हो सकती है? गवादि शब्द केवल अगो आदि का निषेध ही करते हैं तो "न गौः अगौः" इस प्रकार के नञ समास का अर्थ क्या प्रसज्य प्रतिषेध रूप है अथवा पर्युदास प्रतिषेध रूप

है ? प्रथम पक्ष तो अमान्य होने से स्वीकार नहीं कर सकते (क्योंकि बौद्ध ने प्रसज्य प्रतिषेध रूप अभाव नहीं माना है) और द्वितीय पक्ष माने तो अगो का अर्थ गो ही होता है, यह तो द्राविडीप्राणायाम मात्र हुआ कि गो शब्द ने सीधे गो वाच्य को न कहकर यह अगो नहीं है ऐसा घुमाकर गो वाच्य को कहा। अतः प्रतीति का अपलाप नहीं करके ऐसा स्वीकार करना चाहिये कि गो आदि शब्द तदर्थवाचक होते हैं।

स्फोटवाद—भर्तृहरि प्रभृति का कहना है कि शब्द पदार्थ का वाचक नहीं है किन्तु स्फोट पदार्थ का वाचक है, अर्थात् गकार आदि वर्णों द्वारा अभिव्यज्यमान नित्य व्यापक ऐसा कोई स्फोट नामा तत्त्व है वही अर्थ का वाचक होता है, गकार आदि वर्ण तो उत्पन्न होकर विनष्ट हो चुकते हैं अतः वे अर्थ के वाचक नहीं हो सकते, यदि गो आदि शब्द अर्थ के वाचक होते तो जिस पुरुष ने उस शब्द के संकेत को ग्रहण नहीं किया है उसे भी उस शब्द द्वारा गो अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए थी ? आचार्य ने समझाया है कि सहज योग्यता और संकेत होने से शब्द स्ववाच्य को अवश्य कहते हैं, गकार आदि वर्ण विनष्ट हो चुकने पर भी पूर्व पूर्व वर्ण के ज्ञान संस्कार अवस्थित ही रहते हैं और वे अर्थ प्रतीति कराते हैं, गो आदि शब्द और सास्नादिमान पदार्थादि को छोड़कर इनके मध्य ऐसा कोई तत्त्व प्रतीति नहीं होता कि जिसे स्फोट नाम दिया है, बात तो यह है कि "हे देवदत्त ! गां अभ्याज" इत्यादि वाक्य या "घटः" इत्यादि पदों के उच्चारण करते ही अर्थ प्रतीति होती है इसमें क्रम यह है कि पूर्व पूर्व वर्णों के उच्चारण के साथ उन उन वर्णों के ज्ञान संस्कार प्रादुर्भूत होते जाते हैं और अंतिम वर्ण को सहायता करके पूर्ण वाक्यार्थ या पद के अर्थ का अवभासन कराते हैं, पूर्व वर्ण का ज्ञान जिसमें सहायक है ऐसा अंतिम वर्ण अर्थ को प्रस्फुटित कर देता है, शब्द नष्ट हो चुकने पर भी उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान या संस्कार बना ही रहता है अथवा ज्ञान संस्कार का आधारभूत आत्मा तो सदावस्थित ही है, उसी से अर्थ बोध होता रहता है, अतः यदि वैयाकरणों को स्फोट सर्वथा इष्ट ही है तो उसी ज्ञान संस्कार युक्त आत्मा को स्फोट नाम देना चाहिए "स्फुटति–प्रकटी भवति अर्थः अस्मिन् इति स्फोटः चिदात्मा" ऐसा व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी सिद्ध है। इस प्रकार स्फोटवाद का खंडन होता है।

वाक्य लक्षण विचार—शब्द और अर्थ का यथार्थ रूप से वाचक वाच्य संबंध सिद्ध होने पर प्रश्न होता है पद एवं वाक्य का लक्षण क्या होना चाहिये ? इसके

उत्तर में निर्दोष पद और वाक्य का लक्षण आचार्य द्वारा प्रस्फुटित किया गया है कि "वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम्" । पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः वाक्यम्" इति । अर्थात् परस्पर में सापेक्ष किन्तु वर्णांतर निरपेक्ष ऐसा जो वर्ण समुदाय है अर्थात् देवदत्तः, घटः, जिनदत्तम्, दात्रेण इत्यादि में स्थित जो वर्ण समुदाय है उसे पद कहते हैं । परस्पर में अपेक्षित किन्तु पदांतर से निरपेक्ष ऐसा जो पद समुदाय है उसे वाक्य कहते हैं । वाक्य के लक्षण में परवादियों के यहां पर विभिन्न मत हैं कोई गच्छति आदि क्रिया पद को वाक्य मानते हैं, कोई वर्ण समुदाय मात्र को वाक्य मानते हैं इत्यादि किन्तु ये लक्षण निर्दोष सिद्ध नहीं होते, क्योंकि केवल क्रिया पद या वर्ण समुदाय मात्र पूर्ण वाक्यार्थ का बोध नहीं करा सकते हैं । वाक्य द्वारा जो अर्थ प्रतीति होती है उसमें भी विवाद है कि वाक्य में स्थित जो अनेक पद हैं उनमें से किस पद द्वारा वाक्यार्थ का बोध होता है एक पद द्वारा या संपूर्ण पदों द्वारा ? आचार्य ने समझाया है कि पूर्व पूर्व पद के अर्थ ज्ञान के संस्कार अंत्य पद के सहायक होते हैं और उससे वाक्यार्थ प्रतीत हो जाता है । मीमांसक मत के अंतर्गत प्रभाकर का कहना है कि एक पद अन्य पदों के वाच्यार्थों से अन्वित ही रहता है अतः पद के अर्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति भी हो जाती है किन्तु यह अन्वित अभिधानवाद युक्त नहीं है इस तरह तो प्रत्येक पद को वाक्यपना हो जाने का प्रसंग आता है । इसी प्रकार भाट्ट (मीमांसक का एक मत) अभिहित अन्वयवाद मानते हैं अर्थात् पदों द्वारा कहे गये अर्थों का अन्वय ही वाक्यार्थ है ऐसा कहते हैं यह कथन भी पूर्वोक्त रीत्या असंगत सिद्ध होता है ।

इस प्रकार विविध प्रकरणों से युक्त यह द्वितीय भाग समाप्त होता है । इसमें आगत विषयों का यह संक्षिप्त परिचय है ।

द्वितीय भाग में आगत परीक्षामुख के सूत्र

६ नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ।

७ तदन्वय व्यतिरेकानु विधानाभावाच्च केशोण्डुक ज्ञान वन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ।

८ अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकं प्रदीपवत् ।

९ स्वावरण क्षयोपशमलक्षण योग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।

१० कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ।

११ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमती - न्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।

१२ सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्ध- सम्भवात् ।

द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः

अथ तृतीयः परिच्छेदः

१ परोक्षमितरत् ।

२ प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृति प्रत्यभिज्ञानतर्का- नुमानागमभेदम् ।

३ संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ।

४ स देवदत्तो यथा ।

५ दर्शन स्मरण कारणकं सङ्कलनं प्रत्यभि- ज्ञानम्, तदेवेदं, तत्सदृशं, तद्विलक्षणं, तत्प्रतियोगीत्यादि ।

६ यथा स एवायं देवदत्तः ।

७ गो सदृशो गवयः ।

८ गोविलक्षणो महिषः ।

९ इदमस्माद् दूरम् ।

१० वृक्षोऽयमित्यादि ।

११ उपलंभानुपलंभ निमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।

१२ इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ।

१३ यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।

१४ साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।

१५ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।

१६ सहक्रमभावनियमोऽविना भावः ।

१७ सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ।

१८ पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रम- भावः ।

१९ तर्कात्तन्निर्णयः ।

२० इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ।

२१ सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ।

२२ अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्व माभूदितीष्टाबाधित वचनम् ।

२३ न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ।

२४ प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ।

२५ साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ।

२६ पक्ष इति यावत् ।

२७ प्रसिद्धो धर्मी ।

२८ विकल्पसिद्धे तस्मिन्सत्तेतरे साध्ये ।

२९ अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ।

३० प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्म विशिष्टता ।

३१ अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ।

३२ व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ।

३३ अन्यथा तदघटनात् ।

३४ साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।

३५ साध्यधर्मिणि साधनधर्मविबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ।

३६ को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।

३७ एतद्द्वयमेवानुमानांगं नोदाहरणम् ।

३८ न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यंगं तत्र यथोक्त हेतोरेव व्यापारात् ।

३९ तदविनाभाव निश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ।

४० व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्यात् दृष्टान्तरान्तरापेक्षणात् ।

४१ नापि व्याप्ति स्मरणार्थं तथाविध हेतु प्रयोगादेव तत्स्मृतेः ।

४२ तत्परिमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ।

४३ कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ।

४४ न च ते तदंगे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्योर्वचनादेवासंशयात् ।

४५ समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तदुपयोगात् ।

४६ बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ।

४७ दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेक भेदात् ।

४८ साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः ।

४९ साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ।

५० हेतोरुपसंहार उपनयः ।

५१ प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ।

५२ तदनुमानं द्वेधा ।

५३ स्वार्थपरार्थ भेदात् ।

५४ स्वार्थमुक्त लक्षणम् ।

५५ परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ।

५६ तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ।

५७ स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धि भेदात् ।

५८ उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ।

५९ अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्य कारण पूर्वोत्तर सहचर भेदात् ।

६० रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ।

६१ न च पूर्वोत्तर चारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वाकाल व्यवधाने तदनुपलब्धेः ।

६२ भाव्यतीतयोर्मरण जाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ।

६३ तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ।

६४ सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ।

६५ परिणामी शब्दः, कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टो यथा घटः, कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी, यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा बन्ध्यास्तनन्धयाः कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी ।

६६ अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ।

६७ अस्त्यत्र छाया छत्रात् ।

६८ उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ।

६९ उदगाद्भरणिः प्राक्तत एव ।

७० अस्त्यत्र मातुलिंगे रूपं रसात् ।

७१ विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ।

७२ नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ।

७३ नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ।

७४ नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदय शल्यात् ।

७५ नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ।

७६ नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ।

७७ नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भाग-दर्शनात् ।

७८ अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभाव-व्यापक कार्यकारण पूर्वोत्तर सहचरानु-पलम्भभेदात् ।

७९ नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ।

८० नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ।

८१ नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुप-लब्धेः ।

८२ नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ।

८३ न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृत्तिकोदया-नुपलब्धेः ।

८४ नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्प्राक् तत एव ।

८५ नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानु-पलब्धेः ।

८६ विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा विरुद्धकार्य कारणस्वभावानुपलब्धि भेदात् ।

८७ यथास्मिन् प्राणिनि व्याधि विशेषोस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः ।

८८ अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ।

८९ अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानु-पलब्धेः ।

९० परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भाव-नीयम् ।

९१ अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् ।

९२ कार्य कार्यमविरुद्ध कार्योपलब्धौ ।

९३ नास्त्यत्र गुहायाम् मृगक्रीडनं मृगारिसं-शब्दनात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्यो-पलब्धौ यथा ।

९४ व्युत्पन्न प्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुप-पत्त्यैव वा ।

९५ अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्ते-र्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ।

९६ हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते ।

९७ तावता च साध्यसिद्धिः ।

९८ तेन पक्षस्तदाधार सूचनायोक्तः ।

९९ आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।

१०० सहज योग्यता संकेत वशाद्धि शब्दादयो-वस्तुप्रतिपत्ति हेतवः ।

१०१ यथा मेर्वादयः सन्ति ।

इति तृतीय परिच्छेदः समाप्तः

विषयानुक्रमणिका

विषय	पृष्ठ
बौद्ध एवं नैयायिक द्वारा अभिमत अर्थकारणवादका निरसन तथा आलोककारणवादका निरसन	१—२६ तक
पदार्थ और प्रकाश ज्ञानके कारण नहीं हैं क्योंकि वे ज्ञान के विषय हैं....	३
घटादि विषयक ज्ञान घटादि पदार्थोंका कार्य है यह किसी अन्य प्रमाण-द्वारा ज्ञात होता है ऐसा कहना भी असत् है....	४
पदार्थ और पदार्थके साथ ज्ञानका अन्वय व्यतिरेक नहीं पाया जाता....	६
विपर्यय आदि ज्ञानोंमें कौनसा पदार्थ कारण है....	९
संशयादि ज्ञान भ्रांत है अतः बिना पदार्थके होते हैं ऐसा कहना असत् है....	११
नैयायिकके ईश्वरका ज्ञान नित्य होनेसे पदार्थसे उत्पन्न नहीं हो सकता....	१६
पदार्थ जहां नहीं होते वहां भी प्रतीति होती है....	१७
यदि अंधकारका पदार्थरूप स्वीकार नहीं करते तो प्रकाश भी सिद्ध नहीं होगा....	२०
ज्ञानमें वैशद्य प्रकाशसे आया तो जब ज्ञान प्रकाशको विषय बनाता है तब उसमें वैशद्य किससे आता है ?....	२१
ज्ञान पदार्थ और प्रकाशसे उत्पन्न नहीं हुआ तो भी उनको प्रकाशित करता है....	२४
अपने आवरणके क्षयोपशमानुसार ज्ञान प्रतिनियत पदार्थको प्रतिभासित करता है....	२५
जो ज्ञानका कारण वही ज्ञान द्वारा जाना जाता है ऐसा माने तो इन्द्रियोंके साथ व्यभिचार होगा....	२७
आवरण विचार, संवर निर्जरा सिद्धि, कर्मोंका पुद्गलपना	३०-४७
द्रव्यादि सामग्री विशेष द्वारा नष्ट हो गये हैं आवरण जिसके ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञानको मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं....	३०
शरीरादिको आवरण नहीं मानते अपितु कर्म नामक पुद्गल को कर्म मानते हैं....	३३
अविद्याको भी आवरण नहीं मानते....	३५
अदृष्ट नामा आत्माके गुणको आवरण मानना भी अयुक्त है....	३६
संवर निर्जरा सिद्धि....	४०—४७
सर्वज्ञत्ववाद....	४९—९८

विषय	पृष्ठ
सर्वज्ञके विषयमें मीमांसकका पूर्वपक्ष....	५०—६६
मीमांसक—सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि सत्ता ग्राहक पांचों प्रमाणों द्वारा उसकी सिद्धि नहीं होती....	५०
अनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता क्योंकि अविनाभावी हेतु का अभाव है....	५०
सर्वज्ञ सिद्धिमें प्रयुक्त हुआ प्रमेयत्व हेतु भी असत् है....	५३
आगमसे भी सर्वज्ञ सिद्धि नहीं होती....	५५
अर्थापत्तिसे भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता....	५६
कोई भी प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियोंसे निरपेक्ष नहीं होता....	५६
यदि सर्वज्ञ धर्म अधर्मका ग्राहक है तो वह विद्यमान वस्तुको ग्रहण नहीं कर सकेगा....	६२
जैन द्वारा मीमांसकके मंतव्यका निरसन....	६७—६८
सर्वज्ञ प्रत्यक्षसे सिद्ध नहीं होता अपितु अनुमान प्रमाणसे सिद्ध होता है....	६७
कोई आत्मा सकल पदार्थोंको साक्षात् जानने वाला है इत्यादि अनुमानसे उसकी सिद्धि होती है,	६८–७१
सर्वज्ञका ज्ञान इन्द्रियादिकी अपेक्षा नहीं रखता....	७२
धर्म अधर्म संज्ञक पदार्थ इन्द्रियोंसे उपलब्ध किस कारणसे नहीं होते ?....	७६
मंत्र प्रश्नादिसे संस्कारित पुरुष अतीत एवं अनागतको भी ज्ञात करते हैं तब कालांतरित सूक्ष्मादि पदार्थोंको सर्वज्ञ क्यों नहीं ज्ञात कर सकता ?	७७
उपदेश द्वारा अखिल विषयका सामान्य ज्ञान होना संभव ही है....	७६
आगमादि अस्पष्ट ज्ञानसे स्पष्ट ज्ञान कैसे होगा यह प्रश्न भी ठीक नहीं....	८०
शीत उष्णादि परस्पर विरोधी पदार्थ एक साथ एक ज्ञानमें प्रतीत होते हैं....	८१
युगपत् अशेष पदार्थ ज्ञात होनेसे द्वितीय क्षणमें असर्वज्ञ बन जायगा ऐसी आशंका व्यर्थ है....	८२
सर्वज्ञका ज्ञान अपूर्वार्थग्राही ही है....	८२
सर्वज्ञ परगत रागादि को जानने मात्रसे रागी नहीं होता....	८३
सर्वज्ञका ज्ञान विभ्रांत नहीं होता....	८५
सकल पदार्थ साक्षात्कारी सर्वज्ञ है, क्योंकि उसमें कोई बाधक प्रमाण नहीं है....	८७
विवादस्थ पुरुष सर्वज्ञ नहीं इत्यादि अनुमानमें प्रयुक्त वक्तृत्व हेतु सदोष है....	८६
सर्वज्ञमें वक्तृत्वका अभाव सिद्ध होना असंभव है....	९०

विषय पृष्ठ

आपका आगम भी सर्वज्ञ अभाव नहीं करता वह तो सद्भाव ही सिद्ध करता है.... ९३
उपमान अर्थापत्ति भी सर्वज्ञका अभाव सिद्ध नहीं करते.... ९४
अभाव प्रमाण स्वयं ही अभावरूप है अतः सर्वज्ञका अभाव नहीं कर सकता.... ९५
ईश्वरवाद ९९—१४४
ईश्वर सिद्धिके लिये नैयायिक वैशेषिकका पूर्व पक्ष ९९—१०८
नैयायिक-पृथ्वी, पर्वतादि पदार्थ किसी बुद्धिमान से निर्मित हैं, क्योंकि वे कार्य हैं.... ९९
पृथ्वी आदि कार्य इसलिए कहलाते हैं कि वे सावयव हैं... १००
शरीर रहित होने से ईश्वर की उपलब्धि नहीं होती.... १०२
ज्ञान चिकीर्षा और प्रयत्नाधारता ये ही कर्तृत्व है.... १०२
व्यास ऋषि ईश्वर को मानते हैं.... १०४
स्वरूप प्रतिपादक वेद वाक्य भी इस विषय में अप्रमाण नहीं.... १०४
भगवान करुणा से शरीरादि की रचना करते हैं.... १०५
वार्त्तिककार का ईश्वर सिद्धि के लिये अनुमान.... १०६
जैन द्वारा ईश्वरवाद का निरसन.... १०८—१४४
पृथ्वी आदि में कार्यत्व सिद्धि के लिये प्रयुक्त सावयवत्व हेतु का खंडन.... १०८
यौग की विनाश और उत्पाद की प्रक्रिया हास्यास्पद है.... १०९
आपके यहां सत्ता किस रूप है ?.... ११२
ईश्वर की बुद्धि क्षणिक है या नित्य ? दोनों पक्ष गलत हैं.... ११६
ईश्वर और हमारी बुद्धिमें बुद्धिपना समान होने पर भी ईश्वर की बुद्धि नित्य है ऐसा विशेष स्वीकार करें तो घटादि और पृथ्वी आदि में कार्यत्व समान होने पर भी घटादि कर्त्ता है और पृथ्वी आदि का नहीं ऐसा विशेष भी स्वीकार करना चाहिये ... ११७
पिशाच आदि भी शरीर युक्त होने से ही शाखाभंगादि कार्य करते हैं न कि बिना शरीर के.... १२३
ईश्वर का शरीर कार्यरूप है या नित्य ?.... १२४
आकाशवत् पृथ्वी आदि में भी कर्त्ता का अभाव है.... १२५
अचेतन पदार्थ चेतन से अधिष्ठित होकर ही कार्य करे ऐसा नियम नहीं.... १२८
कारणों की शक्ति का ज्ञान होने पर ही कर्त्ता प्रवृत्ति करता है ऐसा नहीं है कर्त्ता अनेक प्रकार के हैं.... १२९
यौग के ईश्वर कर्तृत्व सिद्धि के लिये प्रयुक्त अनुमान में बुद्धिमान कारणपूर्वकत्व साध्य है उसके साथ कार्यत्व हेतु की व्याप्ति कथमपि सिद्ध नहीं होती.... १३१

विषय | पृष्ठ

करुणा से सृष्टि रचे तो सुखदायक शरीरादि क्यों नहीं रचता ?.... १३२
राजा के समान ईश्वर यदि कर्मानुसार फल देता है तो वह रागी द्वेषी हो जायगा.... १३४
जो समर्थ स्वभावी होता है वह सहायक की अपेक्षा नहीं करता.... १३६
पृथ्वी पर्वत आदि पदार्थ एक एक स्वभाव पूर्वक नहीं होते, क्योंकि वे विभिन्न देश, विभिन्न काल एवं विभिन्न आकार वाले हैं ... १४०
प्रकृति कर्तृत्ववाद १४५—१७६
सांख्य—सृष्टिकी प्रक्रिया प्रधानसे प्रसूत है इत्यादि पूर्वपक्ष १४५—१५२
प्रकृतिसे महान् उत्पन्न होता है, उससे अहंकार उससे ग्यारह इन्द्रियां, उनसे पांच तन्मात्रायें.... १४६
कारण जिसरूप होता है कार्य तदनुरूप ही होता है ... १४७
पांच हेतुओसे सत्कार्यवादकी सिद्धि.... १४६
महदादि भेदोंका परिमाण होना इत्यादि हेतुओंसे प्रधानमें ही जगत्का कर्तृत्व सिद्ध होता है.... १५१
जैन द्वारा प्रकृति कर्तृत्वका निरसन.... १५३—१७६
महदादि भेद प्रकृतिसे अभिन्न माननेके कारण उनमें कार्य कारण भाव बन नहीं सकता.... १५३
कार्य कारण भाव अन्वय व्यतिरेक द्वारा जाना जाता है किन्तु प्रधान और महदादिमें वह घटित नहीं होता.... १५४
असत् अकरणात् इत्यादि हेतु असत् कार्यवादके पक्षमें भी समानरूपसे घटित होते हैं.... १५७
शक्तिकी अपेक्षा कार्यको सत् माने तो भी ठीक नहीं.... १५८
शक्तिकी अभिव्यक्तिके लिये कारकोंका व्यापार मानना भी घटित नहीं होता.... १५६
अभिव्यक्ति किसे कहते हैं स्वभावमें अतिशय होना या तद् विषयक ज्ञान होना, अथवा उसके उपलब्धिके आवरणका अपगम होना ? १६०—१६१
कारण शक्तिका प्रतिनियम तो असत् कार्यवादमें भी घटित होता है.... १६४
भेदोंका समन्वय होनेसे एक प्रधान ही कारणरूप सिद्ध होता है ऐसा हेतु भी असिद्ध है.... १६५
समन्वयात् इस हेतुमें अनेकांत दूषण है.... १६७
निरीश्वर सांख्यका पक्ष भी असत् है.... १६८
प्रधान और ईश्वर सम्मिलित होकर कार्य करते हैं ऐसा कहना भी सिद्ध नहीं होता.... १७०
जगत्की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय रूप क्रिया करनेकी सामर्थ्य ईश्वर और प्रधानमें एक साथ है कि नहीं ?.... १७२
सत्वादि गुणोंका आविर्भावादि भी सिद्ध नहीं.... १७३

विषय | पृष्ठ

कवलाहार विचार — १७७—१९९

जीवन्मुक्त दशामें अरहंत कवलाहार करते हैं ऐसा श्वेतांबर कहते हैं.... १७७

प्रमत्त गुणस्थानमें परमार्थभूत वीतरागता नहीं है अतः वहां कवलाहार होना शक्य है.... १७८

बिना अभिलाषाके आहार होना रूप अतिशय माने तो आहार नहीं करना रूप अतिशय ही क्यों न माना जाय ?.... १७९

कवलाहार ग्रहण करने वालेके अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान संभव नहीं.... १८१

लाभांतरायकर्मका सर्वथा नाश होनेसे दिव्य परमाणुओंका आगमन प्रतिसमय होता है और उसीसे केवलीके शरीरकी स्थिति बनी रहती हैं.... १८४

मोहनीयके अभावमें असाता कार्य करनेमें असमर्थ है.... १८६

अनाकांक्षारूप क्षुधा माने तो वह भी दुःखरूप ही घटित होती है.... १९१

भगवान्को देवगण आहार कराते हैं ऐसा सिद्ध नहीं होता.... १९२

केवलीके ग्यारह परीषह उपचारसे माने हैं.... १९५

भोजन करते समय दिखायी न देना रूप अतिशय मानते हैं तो भोजन नहीं करना रूप अतिशय ही क्यों न स्वीकारें ? १९६

मोक्षस्वरूप विचार — २००—२५६

वैशेषिकका पक्ष—अनंत चतुष्टय स्वरूप लाभको मोक्ष नहीं कहते अपितु बुद्धि आदि नौ आत्मगुणोंके उच्छेद होनेको मोक्ष कहते हैं....

तत्त्वज्ञानको मोक्षका कारण माना है.... २०१

मिथ्याज्ञानके नष्ट होने पर राग द्वेष उत्पन्न नहीं होते उसके अभावमें मन वचनका कार्य समाप्त होता है उसके अभावमें धर्मादि नष्ट होते हैं.... २०२

तत्त्व ज्ञान साक्षात् कर्म नाशमें प्रवृत्ति नहीं करता.... २०३

विघ्न बाधायें उपस्थित न हो अतः नित्य नैमित्तिक क्रिया की जाती है.... २०४

वेदान्ती—वैशेषिक बुद्धि आदि गुणोंका मोक्षमें अभाव मानते हैं किन्तु हम चैतन्यका भी वहां अभाव मानते हैं, मोक्ष तो आनंद स्वरूप है.... २०६

वैशेषिक द्वारा वेदांताके मोक्षस्वरूपका निरसन.... २०७—२१२

आप वेदान्ती आत्माके सुख नामा गुणको नित्य मानते हैं या अनित्य नित्य है तो सदा रहना चाहिये और अनित्य है तो.... २०७

विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति होना मोक्ष है ऐसा बौद्ध अभिमत मोक्ष स्वरूप अयुक्त है.... २१२

विषय	पृष्ठ
अनेकान्तकी भावनासे विशिष्ट प्रदेशमें ज्ञानरूप शरीरादिका लाभ होना मोक्ष है ऐसा जैन मानते हैं....	२१६
ब्रह्माद्वैत वादी आत्माके एकत्वका ज्ञान होनेसे परमात्मामें लय होना मोक्ष है ऐसा मानते हैं....	२१७
प्रकृति और पुरुषके भेद ज्ञान मोक्षका कारण है और वह चैतन्यका स्वरूपमें अवस्थान हो जाना है ऐसा सांख्य कहते हैं....	२१८
जैन द्वारा वैशेषिकके मंतव्यका निरसन....	२२०
बुद्धि आदि विशेष गुणोंका अत्यंत उच्छेद होता है क्योंकि ये संतानरूप है ऐसा वैशेषिकका हेतु आश्रयासिद्ध है, संतानत्व हेतु विरुद्ध दोष युक्त भी है....	२२४
तत्त्वज्ञानसे मिथ्याज्ञान नष्ट होना आदि कथन अयुक्त है....	२२६
समाधि के बलसे अनेक शरीरोंको उत्पन्न कर योगीजन कर्मोंका उपभोग कर डालते हैं ऐसा कहना असत्य है....	२२८
ब्रह्मवादी आनंदरूप मोक्ष कथंचित् इष्ट होता किन्तु उस आनंदका नित्य मानना अयुक्त है....	२२९
बौद्धका विशुद्ध ज्ञानोत्पत्ति रूप मोक्ष तब मान्य होता जब वह ज्ञान संतान अन्वय युक्त हो....	२३१
सुप्त उन्मत्तादि दशामें ज्ञानकी सिद्धि....	२३७—२४६
मुक्तिमें भी अनेकांतकी व्यावृत्ति नहीं है, अनेकांत दो प्रकारका है—क्रम अनेकांत और अक्रम अनेकांत....	२४८
सांख्यके मोक्षस्वरूपका निरसन....	२५०
मोक्ष स्वरूप विचार का सारांश	२५४—२५६
स्त्रीमुक्ति विचार....	२५७—२७२
श्वेतांबर—स्त्रियोंके भी मुक्ति होती है, क्योंकि उनके मोक्षके अविकल कारण संभव है....	२५७
दिगंबर—स्त्रियोंमें ज्ञानादि गुणोंका परम प्रकर्ष नहीं होता अतः उनमें अविकल कारण हेतु असिद्ध है....	२५७
स्त्रियोंमें मोक्षका कारणभूत संयम नहीं....	२६०
बाह्याभ्यंतर परिग्रहके कारण स्त्रियोंके मोक्षके योग्य जैसा संयम नहीं है....	२६२
आगम भी स्त्रीमुक्ति समर्थक नहीं....	२६७
सारांश....	२७१—२७२
परोक्ष प्रमाणका स्वरूप एवं भेद	२७३
स्मृति प्रामाण्य विचार	२७६—२८२
प्रत्यभिज्ञान प्रामाण्य विचार	२८३—३०३

विषय	पृष्ठ
मीमांसक-प्रत्यभिज्ञानको प्रत्यक्ष स्वरूप मानता है, उसका पक्ष....	२८३
जैन द्वारा उसका खंडन....	२८४
बौद्ध प्रत्यभिज्ञानको नहीं मानेंगे तो नैरात्म्य भावनाका अभ्यास नहीं बनेगा....	२८६
प्रत्यभिज्ञान अनुमान प्रमाणरूप नहीं मान सकते....	२९६
मीमसांक का सादृश्य प्रत्यभिज्ञान को उपमारूप सिद्ध करने का प्रयास	२९७
तर्कस्वरूप विचार	३०४—३१९
तर्कप्रमाणको प्रत्यक्षमें अंतर्भूत करनेका पक्ष....	३०८
तर्क के विषयभूत व्याप्तिका ज्ञान मानस प्रत्यक्ष द्वारा भी सभव नहीं....	३१२
हेतोस्त्रैरूप्यनिरास	३२०—३२९
अनुमान प्रमाण का लक्षण....	३२०
हेतु का लक्षण त्रैरूप्य है ऐसी बौद्ध मान्यता का निरसन करते हुए निर्दोष हेतु का लक्षण कहते हैं ...	३२१
सपक्ष सत्व रूप लक्षण के नहीं रहते हुए भी हेतु का अन्वय बन सकता है....	३२८
हेतोः पाञ्चरूप्य खण्डनम्....	३३०—३४५
हेतुको पांचरूप मानने वाले यौग का पक्ष ...	३३०
साध्याविनाभावित्व के विना अबाधितविषयत्वादि हेतु के लक्षण असंभव है....	३३२
पूर्ववदाद्यनुमानत्रैविध्यनिरास ...	३४६—३६३
यौग के यहां पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट ऐसे अनुमान के तीन भेद माने हैं....	३४६
व्याप्ति तीन प्रकार की है....	३५३
अविनाभाव के दो भेदों का लक्षण....	३६४
साध्य का लक्षण .	३६६
साध्य के इष्ट और अबाधित इन दो विशेषणों की सार्थकता....	३६६
धर्मी का ही पक्ष यह नाम है और वह प्रसिद्ध होता है....	३६९—३७०
पक्ष प्रयोग की आवश्यकता ...	३७४—३७६
अनुमान के दो ही अंग हैं....	३७७
उदाहरण अनुमान का अंग नहीं....	३७७—३८२
दृष्टान्त एवं उपनय, निगमन के लक्षण....	३८४
अनुमान के दो भेद-स्वार्थानुमान परार्थानुमान	३८५
उपलब्धि और अनुपलब्धिरूप हेतु....	३८८
पूर्वचरादि हेतुओं का कार्य हेतु में अन्तर्भाव नहीं हो सकता....	३९१ से ३९९ तक

विषय पृष्ठ

अविरुद्धोपलब्धि हेतु के छह भेद उदाहरण सहित ४००—४०३
विरुद्धोपलब्धि हेतु के छह भेद सोदाहरण.... ४०४—४०६
अविरुद्ध-अनुपलब्धि हेतु के सोदाहरण सात भेद.... ४०६—४११
विरुद्ध अनुपलब्धि हेतु के सोदाहरण तीन भेद ४१२—४१३
परंपरा रूप हेतुओं का अन्तर्भाव.... ४१४—४१५
हेतुओं का चार्ट ४१८
वेद अपौरुषेयवाद: ४१९ से ४५६
आगम प्रमाण का लक्षण ४१९
आगम को अपौरुषेय मानने वाले प्रवादी की शंका ४२०
प्रत्यक्ष प्रमाण से अपौरुषेय वेद की सिद्धि नहीं होती.... ४२१
अनुमान प्रमाण से भी नहीं.... ४२२
कर्त्ता का अस्मरण होने से वेद को अपौरुषेय मानते हैं ऐसा मीमांसक का कथन अयुक्त है.... ४२५
वेद का अध्ययन गुरु अध्ययन पूर्वक होता है....इत्यादि
अनुमान असत् है.... ४३४
आगम प्रमाण द्वारा भी वेद की अपौरुषेयता सिद्ध नहीं.... ४४१
वेद के व्याख्याता पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थ के ज्ञाता है
अथवा नहीं.... ४४६
मनुष्य द्वारा रचित शब्दों के समान ही वेद में शब्द पाये जाते हैं अत: वेद पुरुष रचित
पौरुषेय है.... ४५०
सारांश ४५५—४५६
शब्द नित्यत्ववाद: ४५७
शब्दों को नित्य मानने में मीमांसक का पूर्वपक्ष.... ४५७ से ४६७
मीमांसक-शब्द नित्य है, क्योंकि अपने वाच्यार्थ की प्रतिपादन की अन्यथानुपपत्ति है.... ४५७
सादृश्य शब्द से अर्थ की प्रतोति मानना ठीक नहीं.... ४५९
जैन द्वारा उक्त मीमांसक के पक्ष का निराकरण.... ४६७
अर्थप्रतिपादकत्व की अन्यथानुपपत्तिरूप मीमांसक का हेतु अयुक्त है.... ४६७
यदि सदृश शब्द द्वारा अर्थ प्रतिपादकत्व होना नहीं मानते तो सदृश धूम द्वारा पर्वतादि
में अग्नि को सिद्ध करना भी नहीं मान सकते.... ४७०
उदात्तादि धर्म शब्द के न कि ध्वनियों के.... ४८०

विषय	पृष्ठ
तालु आदि अथवा ध्वनियां शब्दों के व्यंजक कारण नहीं अपितु कारक कारण है....	४८१
शब्द संस्कार, श्रोत्र संस्कार और उभय संस्कार इस प्रकार शब्द के लिये तीन संस्कार मानना भी असिद्ध है....	४६२
मीमांसक शब्द को सर्वगत मानते हैं अतः उनका आवरण होने का कथन सिद्ध नहीं होता....	४६६
एक ही व्यंजक द्वारा अनेक व्यंग्यभूत पदार्थों का प्रकाशन होता है....	५०५
दर्पणादि पदार्थ स्वसामग्री के अभाव में उक्त आकारों को हमेशा धारण नहीं करते....	५१३
जैन की मान्यता है कि शब्द श्रोता के पास जाता है....	५१७
अदृष्ट की कल्पना करना रूप दोष तो मीमांसक के पक्ष में ही आता है ...	५१८
सारांश	५१९—५२२
शब्द संबंध विचार:	५२३—५३३
सहज योग्यता के कारण शब्द अर्थ की प्रतीति कराते हैं....	५२३
शब्द और अर्थ का वाच्य वाचक सम्बन्ध अनित्य है....	५२५
संकेत पुरुष के आश्रित होता है....	५२६
यह शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध इन्द्रियगम्य है अथवा....	५३०
शब्द अपने अर्थ को स्वयं नहीं कहते....	५३२
अपोहवाद:	५३४—५८२
बौद्ध—पदार्थ के अभाव में भी शब्द उपलब्ध होते हैं अतः वे अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं, शब्द तो अन्य अर्थ का अपोह करते हैं।	५३४
जैन—सभी शब्द अर्थ के अभाव में नहीं होते....	५३५
शब्द केवल अन्यापोह के ही वाचक हैं ऐसा मानना प्रतीति विरुद्ध है....	५३६
बौद्ध मत में शब्द का वाच्य जो अपोह सामान्य माना है सो वह ...	५३८
बौद्ध—'अगो' इस पद में स्थित जो गो शब्द है उस गो शब्द से जिस गो अर्थका निषेध किया जाता है वह विधि रूप है....	५४५
जैन—यदि ऐसी बात है तो सभी शब्द का अर्थ अपोह ही है ऐसा कहना व्यर्थ है.... गो शब्द अश्व शब्द इत्यादि शब्दों द्वारा वाच्य होने वाले अपोहों में परस्पर में विलक्षणता है या....	५५२
आप बौद्ध के यहां कर्ण ज्ञान में प्रतिभासित होने वाला स्वलक्षण रूप शब्द अर्थ का वाचक हो नहीं सकता....	५५३
अपोह शब्द द्वारा वाच्य है या अवाच्य....	५५५

विषय | पृष्ठ

बौद्ध—जिनमें संकेत नहीं किया वे शब्द अर्थाभिधायक होते हैं अथवा संकेत वाले शब्द अर्थाभिधायक होते हैं.... ५५६
गोत्व आदि सामान्य रूप जाति में शब्दों का सकेत होता है ऐसा दूसरा विकल्प भी असत् है.... ५६१
जैन— संकेत किये जानेपर ही शब्द अर्थाभिधायक होते हैं.... ५६३
उत्पन्न हुए पदार्थोंमें संकेत होना समव है.... ५६६
विशद प्रतिभास और अविशद् प्रतिभास सामग्रीके भेदसे होता है.... ५६८
जो जहांपर व्यवहारको उत्पन्न करता है वह उसका विषय होता है.... ५६९
अग्निकी प्रतीतिका कार्य स्फोट आदि होना नहीं है.... ५७१
संपूर्ण वचन विवक्षामात्रको कहते हैं ऐसा माने तो.... ५७४
यदि शब्दको अप्रवर्त्तक मानेंगे तो प्रत्यक्षादिको भी अप्रवर्त्तक मानना होगा ... ५७६
अभिप्राय अनंत होनेसे शब्द द्वारा अभिप्रायको जानना अशक्य है.... ५७८
साधारणता और निर्देश्यता भी वस्तुका निजी स्वरूप है ... ५७९
सारांश ५८१—५८२
स्फोटवाद: ५८३—६०३
पूर्वपक्ष—वर्ण पदादिसे व्यक्त होने वाला नित्य व्यापक ऐसा स्फोट है वही अर्थोंका वाचक है शब्द नहीं.... ५८३
स्फोट श्रोत्रज्ञानमें निरंश एवं अक्रमरूप प्रतिभासित होता है.... ५८६
उत्तरपक्ष जैन—स्फोटसे अर्थ प्रतीति नही होती अपितु पूर्व वर्णसे विशिष्ट ऐसे अंतिम वर्ण द्वारा अर्थ प्रतीति होती है.... ५८७
पूर्व वर्णके ज्ञानसे उत्पन्न हुआ सस्कार प्रवाह रूपसे अंतिम वर्णको सहायताको प्राप्त होता है.... ५८८
आपने संस्कार तीन प्रकारका माना है वेग, वासना, स्थित स्थापक.... ५९१
वर्ण द्वारा स्फोटका संस्कार किया जाता है तो वह एक देशसे या सर्वदेशसे.... ५९२
स्फोटका अभिव्यंजक सस्कार न होकर वायु है ऐसा कहना भी अयुक्त है.... ५९४
यदि शब्दका स्फोट अर्थप्रतीतिमें निमित्त माना जाय तो गंधका स्फोट, रस का स्फोट इत्यादि भी मानने होंगे ... ५९६
सारांश ६०२
वाक्य लक्षण विचार: ६०४—६२०
परस्परमें सापेक्ष किन्तु वाक्यांतर गत पदसे निरपेक्ष ऐसे पदसमूहको वाक्य कहते हैं.... ६०४

विषय	पृष्ठ
प्रकरण आदिसे जो गम्य है, जिसमें पदांतरकी अपेक्षा है तथा प्रकरण-बाह्य पदकी अपेक्षासे रहित ऐसे पद मात्रको भी वाक्य कहते हैं....	६०५
कोई धातुक्रिया पद को ही वाक्य मानते हैं, कोई वर्ण संघातको इत्यादि, किन्तु यह ठीक नहीं....	६०६
मीमांसक प्रभाकर-पदके अर्थ के प्रतिपादन पूर्वक वाक्यके अर्थ का अवबोध कराने वाला पद ही वाक्य है....	६०६
वाक्य लक्षणका निश्चय होनेके अनंतर वाक्यके अर्थ पर विचार प्रारंभ होता है....	६१०
भाट्टका अभिहित अन्वयवाद रूप वाक्यार्थ भी अयुक्त है....	६१६
वाक्यके दो भेद हैं द्रव्य वाक्य और भाववाक्य....	६१८
सारांश	६१६—६२०
उपसंहार	६२१
प्रशस्ति	६२२
परीक्षामुख सूत्र पाठः	६२३—६२८
विशिष्ट शब्दावली	६२६
भारतीय दर्शनों का अति संक्षिप्त परिचय	६३६
शुद्धि पत्र	६४६

जिन्होंने अज्ञान और मोहरूपी अंधकार में पड़े हुए मुझको सम्यग्ज्ञान और सम्यक्त्व स्वरूप प्रकाश पुंज दिया एवं चारित्र युक्त कराया, जो मेरी गर्भाधान क्रिया विहीन जननी हैं, गुरु हैं, जो स्वयं रत्नत्रय से अलंकृत हैं और जिन्होंने अनेकानेक बालक बालिकाओंको कौमार व्रतसे तथा रत्नत्रयसे अलंकृत किया है, जिनकी बुद्धि, विद्या, प्रतिभा और जिनशासन प्रभावक कार्योंका माप दंड लगाना अशक्य है उन आर्यिका रत्न, महान विदुषी, न्याय प्रभाकर परम पूज्या १०५ ज्ञानमती माताजी के पुनीत कर कमलोंमें अनन्य श्रद्धा, भक्ति और वंदामिके साथ यह ग्रन्थ सादर समर्पित है ।

—आर्यिका जिनमती

परमपूज्या, विदुषी, न्याय प्रभाकर, आर्यिका रत्न, १०५ श्री ज्ञानमती माताजी

भव्य जीव हितकारी, विदुषी मातृवत्सलाम् । वन्दे ज्ञानमती मार्यां, प्रमुखां सुप्रभाविकाम् ॥

जन्म :	क्षुल्लिका दीक्षा :	आर्यिका दीक्षा :
शरद् पूर्णिमा	चैत्र कृष्णा १	बैसाख कृष्णा २
वि० स० १९९१	वि० सं० २००९	वि० सं० २०१३
टिकैतनगर (उ०प्र०)	श्री महावीरजी	माधोराजपुरा (राज०)

* मंगलस्तवः *

वर्द्धमानं जिनं नौमि घाति कर्मक्षयंकरम् ।
वर्द्धमानं वर्त्तमाने तीर्थं यस्य सुखंकरम् ।।१।।
श्री सर्वज्ञमुखोत्पन्ने ! भव्य जीव हित प्रदे ।
श्री शारदे ! नमस्तुभ्य माद्यंत परिवर्जिते ।।२।।
मूलोत्तर गुणाढ्या ये जैनशासन वर्द्धकाः ।
निर्ग्रन्थाः पाणि पात्रास्ते पुष्यन्तु नः समीहितम् ।।३।।
माणिक्यनन्दि नामानं गुण माणिक्य मण्डितम् ।
वन्दे ग्रन्थः कृतो येन परीक्षामुख संज्ञकः ।।४।।
प्रभाचन्द्र मुनिस्तस्य टीकां चक्रे सुविस्तृताम् ।
मयाभिवन्द्यते सोऽद्य विघ्ननाशन हेतवे ।।५।।
पञ्चेन्द्रिय सुनिर्दान्तं पञ्चसंसार भीरुकम् ।
शान्तिसागर नामानं सूरिं वन्देऽघनाशकम् ।।६।।
वीर सिन्धु गुरुं स्तौमि सूरि गुण विभूषितम् ।
यस्य पादयोर्लब्धं मे क्षुल्लिका व्रत निश्चलम् ।।७।।
तपस्तपति यो नित्यं कृशांगो गुण पीनकः ।
शिवसिन्धु गुरुं वन्दे महाव्रतप्रदायिनम् ।।८।।
धर्मसागर आचार्यो धर्मसागर वर्द्धने ।
चन्द्रवत् वर्त्तते योऽसौ नमस्यामि त्रिशुद्धितः ।।९।।
नाम्नीं ज्ञानमती मार्यां जगन्मान्यां प्रभाविकाम् ।
भव्य जीव हितंकारीं विदुषीं मातृवत्सलां ।।१०।।
अस्मिन्नपार संसारे मज्जन्तीं मां सुनिर्भरम् ।
ययावलंबनं दत्तं मातरं तां नमाम्यहम् ।।११।।
पार्श्वे ज्ञानमती मातुः पठित्वा शास्त्राण्यनेकशः ।
संप्राप्तं यन्मया ज्ञानं कोटि जन्म सुदुर्लभम् ।।१२।।
तत्प्रसादादहो कुर्वे, देशभाषानुवादनम् ।
नाम्नः प्रमेय कमल, मार्त्तण्डस्य सुविस्तृतम् ।।१३।।

प्रमेय कमल मार्त्तण्ड

श्रीमाणिक्यनन्द्याचार्यविरचित–परीक्षामुखसूत्रस्य व्याख्यारूपः

श्रीप्रभाचन्द्राचार्यविरचितः

प्रमेयकमलमार्त्तण्डः

[द्वितीय भाग]

अर्थकारणतावादः

ननु चेन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं तदित्यसाम्प्रतम्, आत्मार्थालोकादेरपि तत्कारणतयात्राभिधानार्हत्वात्; तन्न; आत्मनः समनन्तरप्रत्ययस्य वा प्रत्ययान्तरेप्यविशेषात् अत्रानभिधानम् असा-

---

श्री माणिक्यनंदी आचार्य ने न्यायका सूत्रबद्ध परीक्षामुख नामा ग्रंथ रचा इसमें सर्व प्रथम प्रमाणके लक्षणका प्रणयन किया है, पुनः इस लक्षणके विषयमें विशेष विवरण किया गया है। इसीप्रकार अन्य विषय जो प्रामाण्य आदिक हैं उनका कथन है। प्रथम परिच्छेदमें तेरह सूत्र हैं, इन सूत्रों पर प्रभाचन्द्राचार्यकी पांडित्यपूर्ण विशाल काय टीका है। दूसरे परिच्छेदमें प्रमाणके भेदोंको बताते हुए पाँचवें सूत्रमें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाणका वर्णन किया है। यहांतकके मूल सूत्र तथा उनकी प्रमेय कमल मार्त्तण्ड नामा टीका इन सबका राष्ट्र भाषामय अनुवाद प्रथम भागमें आया है। अब इस दूसरे भागमें तृतीय परिच्छेद तकके प्रमेयोंका विवेचन रहेगा। इनमें प्रथम ही सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके लक्षणमें परवादी शंका उपस्थित करते हैं—

धारणकारणस्यैव निरूपयितुमभिप्रेतत्वात् । सन्निकर्षस्य चाऽव्यापकत्वादसाधकतमत्वाच्चानभिधानम् । अर्थालोकयोस्तदसाधारणकारणत्वादत्राभिधानं तर्हि कर्त्तव्यम्; इत्यप्यसत्; तयोर्ज्ञानकारणत्वस्यैवासिद्धेः । तदाह—

नार्थाऽऽलोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ॥६॥

शंकाः—जो ज्ञान इन्द्रिय तथा मनके निमित्तसे होता है उसको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं ऐसा जैनाचार्यने प्रत्यक्ष प्रमाणका लक्षण किया है किन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि इस प्रमाणमें आत्मा भी निमित्त होता है तथा पदार्थ एवं प्रकाश भी निमित्त होते हैं, अतः इन सब कारणोंका उल्लेख करना आवश्यक है ?

समाधान—यह शंका ठीक नहीं है, सांव्यवहारिक प्रत्यक्षके लक्षणमें जो असाधारण कारण है उसीको बतलाना इष्ट है, आत्मा या समनंतर प्रत्यय रूप जो अन्य कारण है वह तो परोक्ष प्रमाणमें भी पाया जाता है, सन्निकर्ष इसलिये प्रमाणके लक्षणमें नहीं आता है कि वह अव्यापक है, अर्थात् चक्षु द्वारा सन्निकर्षज ज्ञान नहीं होता, तथा सन्निकर्ष साधकतम भी नहीं है अतः सन्निकर्ष प्रमाणका निमित्त नहीं हो सकता ।

भावार्थ—सांव्यवहारिक प्रत्यक्षका साधकतम कारण इन्द्रिय और मन ही हो सकता है अन्य कोई साधकतम कारण नहीं हो सकते, क्योंकि यदि आत्माको कारण मानते हैं तो वह प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनोंमें कारण है न कि अकेले प्रत्यक्षमें अतः असाधारण कारणमें (साधकतममें) वह नहीं आता, तथा सन्निकर्ष भी प्रमाणके प्रति साधकतम नहीं हो सकता, क्योंकि सभी इन्द्रियज ज्ञान सन्निकर्ष से नहीं होते इस विषयको पहले कह आये हैं ।

अब यहां कोई कहे कि पदार्थ और प्रकाश में तो प्रमाणके प्रति असाधारण कारणपना है ? उनका प्रत्यक्षके लक्षणमें कथन होना चाहिये ? सो यह कथन गलत है क्योंकि पदार्थ और प्रकाश ज्ञानके कारण नहीं हो सकते, आगे इसी विषयका विवेचन करनेवाला सूत्र कहते हैं—

नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात् तमोवत् ॥६॥

प्रसिद्धं हि तमसो विज्ञानप्रतिबन्धकत्वेनातत्कारणस्यापि परिच्छेद्यत्वम्। ननु ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेणान्यस्य तमसोऽभावात्कस्य दृष्टान्ता? इत्यप्यसङ्गतम्; तस्यार्थान्तरभूतस्यालोकस्येवात्रेवानन्तर समर्थयिष्यमाणत्वात्। ननु परिच्छेद्यत्व च स्यात्तयोस्तत्कारणत्व च अविरोधात्; इत्यप्यपेशलम्; तत्कारणत्वे तयोश्चक्षुरादिवत्परिच्छेद्यत्वविरोधात्।

सूत्रार्थ—पदार्थ और प्रकाश ज्ञानके कारण नहीं हैं क्योंकि वे परिच्छेद्य (जानने योग्य) हैं जैसे अधकार जानने योग्य पदार्थ है। देखा जाता है कि अंधकार ज्ञानका प्रतिबधक होनेसे उसका कारण नही होते हुए भी उस ज्ञानका विषय अवश्य है इसीप्रकार पदार्थ और प्रकाश हैं, वे ज्ञानके कारण नही हैं, मात्र ज्ञानके द्वारा जानने योग्य हैं।

शंका—ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होना यही तो अंधकार है अन्य कोई वास्तविक पदार्थ नही है इसलिये अंधकारका दृष्टान्त देना गलत है?

समाधान—ऐसी बात नही है, प्रकाशके समान अंधकार भी एक पृथक् वास्तविक पदार्थ है इस बातको हम आगे भलीप्रकार सिद्ध करेगे।

शंका—पदार्थ और प्रकाश जानने योग्य भी हैं और ज्ञानके कारण भी हैं कोई विरोधकी बात नही है, अर्थात् आपने कहा कि पदार्थ तथा प्रकाश परिच्छेद्य होनेसे ज्ञानके कारण नही हो सकते, सो बात नहीं है?

समाधान—यह कथन असुन्दर है, पदार्थ और प्रकाशको ज्ञानका कारण मानने पर वे परिच्छेद्य नही रह सकेंगे, जैसे कि चक्षु आदि इन्द्रिया ज्ञानका कारण है अतः परिच्छेद्य नहीं है।

दूसरी बात यह है कि ज्ञान पदार्थका कार्य है (पदार्थके निमित्तसे हुआ है) यह बात प्रत्यक्ष प्रमाणसे जानी जाती है कि अन्य किसी प्रमाणसे इस बातका निर्णय करना होगा? ज्ञान पदार्थका कार्य है इस बातको प्रत्यक्ष प्रमाणसे जाना जाता है ऐसा माने तो वह प्रत्यक्ष कौनसा होगा? जो प्रत्यक्ष जिस घटादिको विषय कर रहा है वही स्वयं जान लेता है कि क्या मैं इस घट से उत्पन्न हुआ हूं, अथवा अन्य कोई पट

किञ्च, अर्थकार्यतया ज्ञानं प्रत्यक्षतः प्रतीयते, प्रमाणान्तराद्वा ? प्रत्यक्षतश्चेत्किं तत एव, प्रत्यक्षान्तराद्वा ? न तावत्तत एव, अनेनार्थमात्रस्यैवानुभवात् । तद्धेतुत्वविशिष्टार्थानुभवे वा विवादो न स्यान्नीलत्वादिवत् । न खलु प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुरूपेऽसौ दृष्टो विरोधात् । न हि कुम्भकारादेर्घटादिहेतुत्वेनानुभवे सोऽस्ति । तन्न तदेवात्मनोऽर्थकार्यतां प्रतिपद्यते । नापि प्रत्यक्षान्तरम्; तेनाप्यर्थमात्रस्यैवानुभवात्, अन्यथोक्तदोषानुषङ्गः, ज्ञानान्तरस्यानेनाग्रहणाच्च । एकार्थसमवेतानन्तरज्ञानग्राह्यमर्थज्ञानमित्यभ्युपगमेपि अनेनार्थाग्रहणम् । न चोभयविषयं ज्ञानमस्ति यतस्तत्प्रतिपत्तिः ।

आदि पदार्थका प्रत्यक्ष इस बातको कहता है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, वह घट विषयक ज्ञान तो मात्र घटका अनुभवन करता है, किससे उत्पन्न हुआ हूं इस बातका उसे अनुभव नहीं है। यदि उस ज्ञानद्वारा कारण सहित (अपने उत्पत्ति का जो कारण है उससे सहित) पदार्थका अनुभवन हो जाता तो उसमें विवाद ही काहेको होता ? जैसे कि नील आदि वस्तुका ज्ञानसे अनुभवन होता है तो उसमें विवाद नहीं रहता है। प्रमाणसे जिसका भली भांति निर्णय हो चुका है उस वस्तुमें विवाद होना शक्य नहीं है। जब कुंभकार घटको बनाता है ऐसा हम लोग जानते हैं फिर उसमें विवाद नहीं करते कि यह घट किसने बनाया, कैसा है ? इत्यादि। इसप्रकार यह निश्चित होता है कि घटादि विषयक ज्ञान ही अपने कारण को जानता है ऐसा कहना असिद्ध है।

दूसरा पक्ष—घट विषयक ज्ञान घटका कार्य है इसप्रकारकी जानकारी अन्य किसी प्रत्यक्षसे होती है ऐसा माने तो भी नहीं बनता, क्योंकि वह अन्य प्रत्यक्ष भी मात्र अपने विषयको जानता है, यदि भिन्न विषयक प्रत्यक्ष उस विवक्षित प्रत्यक्ष ज्ञानके कारणको जानता है तो उसमें वही पहले कहे हुए दोष आयेंगे अर्थात् अन्य कोई प्रत्यक्ष इस प्रत्यक्षके कारणका निर्णय देता होता तो विवाद ही क्यों होता कि इसका कारण पदार्थ है अथवा नहीं है इत्यादि। एक बात और भी समझनेकी है कि वह अन्य प्रत्यक्ष ज्ञान उस विवक्षित घट विषयक ज्ञानको जानता ही नहीं तो कैसे बतायेगा कि यह ज्ञान इस पदार्थसे उत्पन्न हुआ है ? ज्ञान तो अन्य ज्ञान द्वारा ग्रहण होता ही नहीं।

यहां पर किसीका कहना हो कि भिन्न व्यक्तिके प्रत्यक्ष ज्ञानके कारणको भिन्न व्यक्तिका प्रत्यक्ष भले ही नहीं जाने किन्तु एक ही व्यक्तिका (किसी विवक्षित पुरुषका) एक प्रत्यक्ष ज्ञान है उसको उसी व्यक्तिमें समवेत जो अन्य अन्य ज्ञान है उसके द्वारा तो जान सकेंगे ही ? मतलब एक ही देवदत्तमें समवेत अनेक घटादि

अथ प्रमाणान्तरात्तस्यार्थकार्यता प्रतीयते; तत्किं ज्ञानविषयम्, अर्थविषयम्, उभयविषयं वा स्यात्? तत्राद्यविकल्पद्वये तयोः कार्यकारणभावाप्रतीतिः एकैकविषयज्ञानग्राह्यत्वात्, कुम्भकार-घटयोरन्यतरविषयज्ञानग्राह्यत्वे तद्भावाप्रतीतिवत्। नाप्युभयविषयज्ञानात्तत्प्रतीतिः; तद्विषयज्ञानस्या-स्मादृशां भवताऽनभ्युपगमात्। न खलु 'ज्ञाने प्रवृत्तं ज्ञानमर्थेऽपि प्रवर्त्तते ऽर्थे वा प्रवृत्तं ज्ञाने' इत्यभ्यु-पगमो भवतः। अभ्युपगमे वा प्रमाणान्तरत्वप्रसक्तिरिति व्याप्तिज्ञानविचारे विचारयिष्यते।

विषयक ज्ञान हैं वे तो एक दूसरेके ज्ञानके कारणको जानते ही होंगे? सो यह कथन भी अयुक्त है, एक ही आत्मामें रहनेवाले वे ज्ञान उस विवक्षित दूसरे ज्ञानको भले ही जाने किन्तु उस पदार्थको नहीं जान सकेंगे जिसे कि वह विषय कर रहा है। उभय विषयक ज्ञान तो है नहीं जिससे उस ज्ञानका कारण जाना जाय? एक ज्ञान मात्र एक विषयको ही ग्रहण करता है।

अब शुरुमें जो दो पक्ष रखे थे कि ज्ञानके पदार्थकी कार्यताको प्रत्यक्ष प्रमाण जानता है या अन्य प्रमाण जानता है इनमेंसे प्रत्यक्ष प्रमाण का पक्ष खंडित हुआ अतः दूसरा पक्ष विचारमें लाते हैं—ज्ञानकी अर्थ कार्यताको प्रत्यक्ष प्रमाण न जानकर अन्य कोई प्रमाण जानता है, तो फिर पुनः प्रश्न होता है कि वह अन्य प्रमाण कौनसा है? ज्ञान है विषय जिसका ऐसा है अथवा अर्थ विषयवाला है याकि उभय विषयवाला है? आदिके दो विकल्प लेते हैं तो ज्ञानके कार्यकारण भावकी प्रतिपत्ति सिद्ध नहीं होती, अर्थात् विभिन्न प्रमाण सिर्फ ज्ञान विषयक है अथवा सिर्फ अर्थ विषयक ही है तो यह ज्ञानरूप कार्य इस घट रूप कारणसे जायमान है ऐसी कार्यकारण भावकी संगतिको बता नहीं सकेगा, क्योंकि उसने दोनोंको ग्रहण ही नहीं किया है।

उपर्युक्त कथनमें कुंभकार और घटका उदाहरण है कि जिस पुरुषने एक घटको ही जाना है और एक ने कुंभकारको ही जाना है ऐसे एक एक विषयको जानने वाले वे व्यक्ति घट और कुंभकार में होनेवाले कार्यकारण भावको बता नहीं सकते हैं, ठीक इसीप्रकार ज्ञान और उसका कारण जाने बिना कोई भी प्रमाण उसके कार्य कारण भावको बता नहीं सकता है। उभय विषयक ज्ञानद्वारा इस ज्ञानके कारणकी प्रतीति होती है ऐसा कहना भी शक्य नहीं है, क्योंकि आप नैयायिकने अल्प ज्ञानियोंके ज्ञानको उभय विषयक माना ही नहीं। ज्ञानको जाननेमें प्रवृत्त ज्ञान, पदार्थको भी जान लेता है अथवा पदार्थको जाननेमें प्रवृत्त ज्ञान, ज्ञानको भी जान लेता है ऐसा

अथानुमानात्तत्कार्यतावसाय , तथाहि—अर्थालोककार्यं विज्ञान तदन्वयव्यतिरेकानुविधानात्, यद्यस्यान्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते तत्तस्य कार्यम् यथाग्नेधूं म., अन्वयव्यतिरेकावनुविधत्ते चार्थालोकयोर्ज्ञानम् इति । न चात्रासिद्धो हेतुस्तत्सद्भावे सत्येवास्य भावादभावे चाभावात् । इत्याशङ्क्याह—

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ॥७॥

तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च, न केवल परिच्छेद्यत्वात्तयोस्तदकारणताऽपि तु ज्ञानस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधानाभावाच्च । नियमेन हि यद्यस्यान्वयव्यतिरेकावनुकरोति तत्तस्य कार्यम्

नैयायिक मान नही सकते, यदि इस तरह का उभय विषयको जाननेवाला ज्ञान स्वीकार करते हैं तो उसे एक पृथक जातिका प्रमाण मानना होगा ? (क्योंकि नैयायिक द्वारा माने गये प्रत्यक्षादि चारो प्रमाणोमेसे एक भी प्रमाण उभय विषय वाला नही है सभी एक विषयवाले हैं) इस विषयपर आगे व्याप्ति ज्ञानकी सिद्धि करते समय विचार करेंगे ।

शका—पदार्थ ज्ञानके कारण है इस बातका निर्णय अनुमान प्रमाण द्वारा हो जाया करता है, वह अनुमान इसप्रकार है—ज्ञान पदार्थ एव प्रकाश का कार्य है, क्योकि इन दोनोके साथ ज्ञानका अन्वय और व्यतिरेक पाया जाता है, जो जिसके साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है वह उसका कार्य कहलाता है, जैसे अग्निका कार्य धूम है अतः वह अग्निके साथ अन्वय व्यतिरेक रखता है, ज्ञान पदार्थ और प्रकाशके साथ अन्वय व्यतिरेक रखता ही है अत वह उनका कार्य है । यह अन्वय व्यतिरेक विधानक हेतु असिद्ध भी नही है, क्योकि पदार्थ एव प्रकाशके होनेपर ही ज्ञान होता है और न होनेपर नही होता ? इस प्रकार की शका होनेपर उसका निरसन करते हुए श्री माणिक्यनदी आचार्य सूत्र का सृजन करते हैं—

तदन्वय व्यतिरेकानुविधानाभावाच्च केशोण्डुक ज्ञानवन्नक्त चर ज्ञान वच्च ।७।

सूत्रार्थ—पदार्थ और प्रकाशके साथ ज्ञानका अन्वय व्यतिरेक नही पाया जाता, जैसे मच्छर के ज्ञानका तथा बिलाव आदि रात्रिमे विचरण करनेवाले प्राणियोके ज्ञानका पदार्थ और प्रकाशके साथ अन्वय व्यतिरेक नही पाया जाता ।

पहले छठे सूत्रमे कहा था कि पदार्थ और प्रकाश ज्ञानके कारण नही हैं, क्योकि वे ज्ञानद्वारा परिच्छेद्य है, अब इस सातवे सूत्रमें दूसरा और भी हेतु देते हैं कि ज्ञानके साथ पदार्थ और प्रकाशका अन्वय व्यतिरेक नहीं पाया जाता, इसलिये भी वे

यथोऽग्नेधू॑मः । न चानयोरन्वयव्यतिरेकौ ज्ञानेनानुक्रियेते ।

अत्रोभयप्रसिद्धदृष्टान्तमाह-केशोण्डुकज्ञानवन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च । कामलाद्युपहतचक्षुषो हि न केशोण्डुकज्ञानेऽर्थः कारणत्वेन व्याप्रियते । तत्र हि केशोण्डुकस्य व्यापारः, नयनपक्ष्मादेर्वा, तत्केशानां वा, कामलादेर्वा गत्यन्तराभावात् ? न तावदाद्यविकल्पः; न खलु तज्ज्ञानं केशोण्डुकलक्षणेऽर्थे सत्येव भवति भ्रमाभावप्रसङ्गात् । नयनपक्ष्मादेस्तत्कारणत्वे तस्यैव प्रतिभासप्रसङ्गात्, गगनतलावलम्बितया पुरःस्थतया केशोण्डुकाकारतया च प्रतिभासो न स्यात् । न ह्यन्यदन्यत्रान्यथा प्रत्येतुं शक्यम् । अथ

दोनों ज्ञानके कारण नहीं हैं । जो जिसका नियमसे अन्वय व्यतिरेकी होगा वह उसका कार्य कहलायेगा, जैसे अग्निके साथ धूमका अन्वय व्यतिरेक होनेसे धूम अग्निका कार्य माना जाता है, किन्तु ऐसा अन्वय व्यतिरेक पदार्थ और प्रकाश के साथ ज्ञानका नहीं पाया जाता है ।

इस विषयमें वादी प्रतिवादी प्रसिद्ध दृष्टान्तको उपस्थित करते हैं—पीलिया, मोतिया आदि रोग से युक्त व्यक्तिके ज्ञानमें पदार्थ कारण नहीं दिखाई देता अर्थात् नेत्र रोगीको केश मच्छर आदि नहीं होते हुए भी दिखायी देने लग जाते हैं, वह मच्छरादिका ज्ञान पदार्थके अभावमें ही हो गया, वहां उस ज्ञानमें पदार्थ कहां कारण हुआ ? तथा बिलाव आदि प्राणियोंको प्रकाशके अभावमें भी रात्रिमें ज्ञान होता है उस ज्ञान में प्रकाश कहां कारण हुआ ? हम जैन नैयायिक आदि परवादीसे पूछते हैं कि नेत्र रोगी को केशोण्डुक (मच्छर) का ज्ञान हुआ उसमें कौनसा पदार्थ कारण पड़ता है, केशोण्डुक ही कारण है या नेत्रकी पलकें; अथवा उसके केश, या कामला आदि नेत्र रोग ? इन कारणों को छोड़कर अन्य कारण तो बन नहीं सकते प्रथम पक्ष की बात कहो तो बनता नहीं देखिये ! यह ज्ञान केशोण्डुक के रहते हुए नहीं होता, यदि होता तो भ्रम क्यों होता कि यह प्रतिभास सत्य है या नहीं ? दूसरा पक्ष—नेत्रकी पलकें उस ज्ञानमें कारण है ऐसा माने तो उसीका प्रतिभास होना था ? सामने आकाशमें निराधार केशोण्डुक की शकल जैसा प्रतिभास क्यों होता ? (केशोण्डुक शब्दका अर्थ उड़नेवाला कोई मच्छर विशेष है, मोतिया बिन्दु आदि नेत्रके रोगीको नेत्रके सामने कुछ मच्छर जैसा उड़ रहा है ऐसा बार बार भाव होता है, वह मच्छर भौंरा जैसा, झिंगुर जैसा, जिस पर कुछ रोम खड़े हो जैसा दिखाई देने लगता है वास्तवमें वह दिखना निराधार बिना परार्थके ही होता है) अन्य किसी वस्तुको अन्यरूपसे अन्य

नयनकेशा एव तत्र तथाऽसन्तोपि प्रतिभासन्ते; तर्हि तद्रहितस्य कामलिनोपि तत्प्रतिभासाभावः स्यात्।

किञ्च, असौ तद्देशे एव प्रतिभासो भवेन्न पुनर्देशान्तरे। न खलु स्थाणुनिबन्धना पुरुषभ्रान्तिस्तद्देशादन्यत्र दृष्टा। कथं च तद्देशता तदाकारता चाऽसती तज्ज्ञानं जनयेद्यतो ग्राह्या स्यात्। अथ भ्रान्तिवशात्तत्केशाएव तत्र तथा तज्ज्ञानं जनयन्ति; अस्माकमपि तर्हि 'चक्षुर्मनसी रूपज्ञानमुत्पादयेते' इति समानम्। यथैव ह्यन्यविषयजनितं ज्ञानमन्यविषयस्य ग्राहकं तथान्यकारणजनितमपि स्यात्।

अथ कामलादय एव तज्ज्ञानस्य हेतवः; तेभ्यश्चोत्पन्नं तदसदेव केशादिकं प्रतिपद्यते; तर्हि निर्मललोचनमनोमात्रकारणादुत्पद्यमानं ज्ञानं सदेव वस्तु विषयीकरोतीति किन्नेष्यते?

जगह प्रतीति आना शक्य नहीं है। नेत्र केश केशोण्डुकरूपसे उस ज्ञानमें झलकते हैं ऐसी तीसरी मान्यता कहो तो नेत्र केश रहित पीलियादि रोग वाले पुरुषको केशोण्डुक का प्रतिभास नहीं होना चाहिये, किन्तु उसको भी वैसा प्रतिभास होता है।

तथा नेत्रके केश यदि केशोण्डुकरूप प्रतीत होते हैं तो वे उस नेत्र स्थान पर ही प्रतीत होते हैं, अन्य स्थान पर (सामने आकाश में) प्रतीत नहीं हो सकते थे। सूखे वृक्षरूप ठूंट में पुरुषपने की भ्रांति होती है वह उस स्थान पर ही तो होती है, अन्यत्र तो नहीं होती? यह जो नेत्र रोगीको केशोण्डुकका ज्ञान हो रहा है उसमें न तो तद्देशता है अर्थात् नेत्रकेश तो नेत्र स्थान पर है और प्रतीति होती है सामने आकाश में, तथा उस ज्ञानमें तदाकारता भी नहीं अर्थात् नेत्र केश का आकार भी नहीं है, फिर किसप्रकार वह उस केशोण्डुक ज्ञानको पैदा करता है, जिससे वह ग्राह्य हो जाय? तुम कहो कि नेत्रके केश ही भ्रम वश आकाश में केशोण्डुक रूपसे केशोण्डुकका ज्ञान पैदा करते हैं, तो हम जैन कहते हैं कि नेत्र तथा मन ही ऐसे ज्ञानको उत्पन्न करता है? इस तरह समान ही बात हो जाती है? जिस प्रकार अन्य विषयसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अन्य विषयका ग्राहक होता है ऐसा यहां मान रहे हो, उसीप्रकार अन्य कारणसे उत्पन्न हुआ ज्ञान अन्यको जानता है ऐसा भी मानना चाहिए।

अब चौथे पक्ष पर विचार करते हैं—नेत्र रोगीको केशोण्डुक का ज्ञान होता है उसमें कामला आदि रोग ही कारण है उन कामलादि से उत्पन्न हुआ वह असत् ऐसे केशादिको ग्रहण करता है, यदि इसतरह नैयायिक कहे तो हम जैन कहते हैं कि निर्मल नेत्र तथा मन रूप कारणसे उत्पन्न हुआ ज्ञान वास्तविक सत् पदार्थको ग्रहण करता है ऐसा क्यों न माना जाय? अवश्य ही मानना चाहिये।

तत्कथमर्थकार्यता ज्ञानस्य अनेन व्यभिचारात् संशयज्ञानेन च ?

न हि तदर्थे सत्येव भवति; अभ्रान्तत्वानुषङ्गात्, तद्विषयभूतस्य स्थाणुपुरुषलक्षणार्थद्वयस्यैकत्र सद्भावासम्भवाच्च। सद्भावे वारेका न स्यात्। अथोच्यते-"सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षादुभयविशेषस्मृतेश्च संशयः" [वैशे॰ सू॰ २।२।१७] विपर्ययः पुनस्तद्विपरीतविशेषस्मृतेः इत्यर्थादेवानयोर्भावः; तदप्युक्तिमात्रम्; तयोः खलु सामान्यं वा हेतुः स्यात्, विशेषो वा, द्वयं वा ? न तावत्सामान्यम्; तत्र संशयाद्यभावात् 'सामान्यप्रत्यक्षात्' इत्यभिधानात्, प्रत्यक्षे च संशयादिविरोधात्।

भावार्थः—नैयायिक आदि परवादी इन्द्रिय और मनके साथ साथ पदार्थ और प्रकाशको भी ज्ञानका कारण मानते हैं उनके लिये जैनाचार्य कह रहे हैं कि कामलादि नेत्रके रोगसे युक्त पुरुषको जो मच्छर आदिका प्रतिभास होता है वह बिना पदार्थके ही होता है उस ज्ञानमें पदार्थ कारण कहां हुआ ? यदि कहा जाय कि उस तरह का ज्ञान होनेमें सदोष नेत्र ही कारण है तब तो यह भलो प्रकार सिद्ध होता है कि निर्दोष नेत्र तथा मन स्वरूप कारणसे सत्य ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् ज्ञानके लिये पदार्थरूप कारणकी कोई जरूरत नहीं रहती है।

इसप्रकार ज्ञान पदार्थका कार्य है इस कथनका केशोण्डुक ज्ञानके साथ व्यभिचार आता है तथा संशय ज्ञानके साथ भी व्यभिचार आता है। संशय ज्ञान पदार्थके मौजूदगी में तो होता नहीं, यदि पदार्थके सद्भाव में होता तो संशय होता ही नहीं। संशय ज्ञानका विषय स्थाणु तथा पुरुष है वे दोनों पदार्थ एकत्र पाये जाना तो असंभव है। यदि दोनों एक स्थान पर होते तो संशय हो नहीं सकता था।

नैयायिकः— सामान्य के प्रत्यक्ष होनेसे तथा विशेष के प्रत्यक्ष न होनेसे उभय विषय संबंधी स्मरण रूप ज्ञान होता है उसे संशय कहते हैं, अर्थात् ठूंठ एवं पुरुष दोनोंमें रहनेवाला सामान्य धर्म जो ऊँचाई है उसका तो ग्रहण हुआ और स्थाणु तथा पुरुषका पृथक पृथक जो विशेष धर्म है उसका ग्रहण नहीं हुआ तब संशय ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये जिसमें विशेष है ऐसे सामान्यरूप पदार्थसे ही संशय होता है बिना पदार्थके नहीं होता है, तथा विपर्यय ज्ञान विपरीत विशेषकी स्मृति होनेसे उत्पन्न होता है अतः वह भी पदार्थसे होता है, इसप्रकार दोनों ज्ञानोंमें अर्थकारणता मौजूद है ?

जैनः—यह कथन ठीक नहीं, आप यह बताइये कि संशय एवं विपर्ययज्ञानमें कौनसा पदार्थ कारण है, सामान्य है या विशेष अथवा दोनों ही ? सामान्यको कारण

विशेषविषयं च संशयादिज्ञानम् । न चास्य सामान्यं जनकं युज्यते । न ह्यन्यविषयं ज्ञानमन्येन जन्यते, रूपज्ञानस्य रसादुत्पत्तिप्रसङ्गात् । यथा च सामान्यादुपजायमानं तदसतो विशेषस्य वेदकं तथेन्द्रियमनोभ्यां जायमानं सतः सामान्यादेरपीति व्यर्थार्थस्य तद्धेतुत्वकल्पना । सामान्यार्थजत्वे चास्य अर्थानर्थजत्वप्रतिज्ञाविरोधः, कामलिनश्च केशोण्डुकादिज्ञानानुत्पत्तिः, न खलु तत्र केशोण्डुकादिसमानधर्मा धर्मी विद्यते यद्दर्शनात्तत्स्यात् । तन्नास्य सामान्य हेतुः ।

नापि विशेषस्तत्र तदभावात् । न खलु पुरोदेशे स्थाणुपुरुषलक्षणो विशेषोस्ति तज्ज्ञानस्या-

---

बता नहीं सकते, क्योंकि संशय ज्ञानका कारण है तो वह प्रत्यक्ष हो चुका है अब उसमें क्या संशय रहेगा ? जो विषय है उसके प्रत्यक्ष होनेपर संशय रहनेमें विरोध आता है। संशय आदि ज्ञान तो विशेषको विषय करनेवाले हुआ करते हैं अतः इन ज्ञानोंका जनक सामान्य नहीं हो सकता, यदि अन्य विषय वाला ज्ञान अन्य कारणसे उत्पन्न होना मानेंगे तो रूपके ज्ञानकी उत्पत्ति रससे होती है ऐसा भी मानना होगा। तथा आप जिस प्रकार इस ज्ञानको सामान्यसे उत्पन्न हुआ मानकर असत् रूप विशेषकी प्रतीति करनेवाला स्वीकार करते हैं उसीप्रकार ज्ञानकी उत्पत्ति तो मन और इन्द्रियसे होती है किन्तु वह ज्ञान जानता है सामान्य आदि विषयोंको, इस तरह स्वीकार करना होगा। इसप्रकार पदार्थको ज्ञानका कारण माननेकी कल्पना व्यर्थ हो जाती है। तथा आप लोग यदि इस संशय ज्ञानको सामान्य अर्थसे उत्पन्न हुआ मानते हैं तो विरोध आता है, क्योंकि आपका प्रतिज्ञावाक्य है कि स्थाणु और पुरुषके अंशरूप अर्थोंमें एक अंश तो विद्यमान होनेसे अर्थरूप ही है और दूसरा विद्यमान नहीं होनेसे अनर्थरूप है उन दोनों-अर्थ तथा अनसे संशय ज्ञान पैदा होता है, इसप्रकारका प्रतिज्ञा वाक्य यहां संशय ज्ञानको सामान्यसे उत्पन्न हुआ माननेसे नष्ट होता है। तथा पीलियां रोगीको जो केशोण्डुकादिका ज्ञान होता है वह भी नहीं हो सकेगा ? क्योंकि केशोण्डुक ज्ञान सामान्यसे उत्पन्न नहीं हुआ है। पीलियां रोगीको जो सामने आकाशमें केशोण्डुकका ज्ञान होता है सो वहां निराधार आकाशमें केशोण्डुक के समान आकृति वाला कोई पदार्थ तो है नहीं जिससे कि उसके देखनेसे केशोण्डुकका प्रतिभास होवे ? अतः निश्चित हुआ कि संशयादि ज्ञानमें सामान्य धर्म कारण नहीं है।

दूसरा विकल्प—संशय ज्ञानमें विशेष धर्म निमित्त होता है ऐसा कहना भी नहीं बनता, वहां तो विशेषका अभाव है, किसी व्यक्तिको सामने जो भ्रम हो रहा है

भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । स्थाणुरस्तीति चेत्; कथं ततः किं पुरुषः पुरुष एवेति पुरुषांशावसायः ? अन्यथान्यत्रापि ज्ञानेर्थस्य कारणत्वकल्पना व्यर्था । तन्न विशेषोपि तद्धेतुः । नाप्युभयम्; उभयपक्षोक्तदोषानुषङ्गात् । ततः संशयादिज्ञानस्यार्थाभावेप्युपलम्भात्कथं तदभावे ज्ञानाभावसिद्धिर्यतोर्थकार्यतास्य स्यात् ?

ननु भ्रान्तं तत्तेनापलभ्यते, न चान्यस्य व्यभिचारेन्यस्य व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; स्वपरग्रहणलक्षणं हि ज्ञानम्, तत्र च यथा सत्याभिमतज्ञानं स्वपरग्राहकं तथा

कि "यह पुरुष है या स्थाणु" उस व्यक्तिको अपने सामने पुरुष या स्थाणुका विशेष तो मालूम ही नहीं है, विशेष धर्म वहां है ही नहीं यदि होता तो वह ज्ञान अभ्रांत कहलाता । स्थाणुत्वरूप विशेष धर्म उस ज्ञानमें प्रतीत होता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि विशेष धर्म झलकता तो यह पुरुष है क्या ? पुरुष ही होना चाहिए ! इस तरह पुरुष अंशकी प्रतीति क्योंकर होती है ? यदि स्थाणुमें अविद्यमान ऐसे पुरुष अंशकी प्रतीति हो सकती है तो पदार्थको ज्ञानका हेतु मानना ही व्यर्थ है, अतः संशय ज्ञानका कारण विशेष धर्म होता है ऐसा कहना भी सिद्ध नहीं होता है । सामान्य और विशेष दोनों धर्म कारण होते हैं ऐसा मानते हैं तो भी गलत होता है, इस मान्यतामें तो दोनों पक्षके दोष आ जायेंगे । इसलिये संशयादिज्ञान पदार्थके अभावमें उपलब्ध होते हैं ऐसा सिद्ध होता है ।

अतः पदार्थके अभावमें ज्ञान नहीं होता ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता उसके असिद्ध होनेसे "ज्ञान पदार्थका कार्य है" इसतरह का कथन असिद्ध हो ही जाता है ।

शंकाः—ये संशयादि ज्ञान भ्रांत हैं अतः बिना पदार्थ के हो जाते हैं, भ्रांत ज्ञानोंमें पदार्थ के साथ रहना व्यभिचरित होनेसे अभ्रांत ज्ञान भी पदार्थके व्यभिचरित होवे ऐसी बात तो है नहीं, यदि अन्यका व्यभिचार अन्यमें लगायेंगे तो अति प्रसंग होगा ? फिर तो गोपालघटिकाके धूमको अग्निके साथ व्यभिचरित होता हुआ देखकर पर्वतपर स्थित अग्निसे होनेवाले धूमको भी व्यभिचरित मानना होगा ?

समाधानः—यह शंका ठीक नहीं, ज्ञानका लक्षण तो स्वपरको जानना है अब इस लक्षणसे युक्त ज्ञानोंमें से जो सत्यरूप स्वीकार किया है वह जिसप्रकार स्वपरका ग्राहक है उसप्रकार केशोण्डुकादिका ज्ञान (असत्य ज्ञान) भी स्वपरका ग्राहक है, हां इतनी विशेषता है कि कोई ज्ञान विद्यमान वास्तविक पदार्थका ग्राहक है, क्योंकि उस

केशोण्डुकाविज्ञानमपि । एतावांस्तु विशेषः-किञ्चित्सत्परं गृह्णाति संवादसद्भावात्किञ्चिदसद्विसंवादात्, न चैतावता जात्यन्तरत्वेनानयोरन्यत्वं ताभ्यां व्यभिचाराभावो वा । अन्यथा 'प्रयत्नानन्तरीयकः शब्दः कृतकत्वाद् घटादिवत्' इत्यादेरप्यप्रयत्नानन्तरीयकैर्विद्युद्वनकुसुमादिभिर्न व्यभिचारः, ताल्वादि-दण्डादिजनिताच्छब्दघटादेस्तद्विपरीतस्य विद्युदादेरन्यत्वात् । न चान्यस्य व्यभिचारेऽन्यस्यापि व्यभिचारोऽतिप्रसङ्गात् । तथाप्यत्र व्यभिचारे प्रकृतेपि सोऽस्तु विशेषाभावात् ।

ज्ञानके विषयमें संवादका सद्भाव है, और कोई ज्ञान अविद्यमान अवास्तविक पदार्थ का ग्राहक है, क्योंकि उसके विषयमें विसंवाद देखा जाता है। किन्तु इतनेमात्रसे इन दोनोंमें सर्वथा भेद नहीं मान सकते, अन्यथा शब्दको अनित्य माननेवाले जैनादिके द्वारा उपस्थित किये जाने वाले अनुमानमें परवादी व्यभिचार नहीं दे सकेंगे, अर्थात् शब्द प्रयत्नके अनंतर उत्पन्न होता है (पक्ष) क्योंकि वह किया हुआ है (हेतु) जैसे घटादि पदार्थ (दृष्टांत) इस अनुमानमें परवादी दोष देते हैं कि वनके पुष्प, विद्युत आदि अनित्य होकर भी बिना प्रयत्नके होते हैं अतः शब्दको भी बिना प्रत्यत्नके होना मानना चाहिये ? किन्तु परवादीका ऐसा अनुमानमें दोष देना असत् है, क्योंकि तालु आदि के द्वारा उत्पन्न हुआ शब्द एवं दण्ड आदिके द्वारा उत्पन्न हुए घट आदिक जो पदार्थ हैं उनसे विपरीत ही विद्युत एवं वनपुष्पादिक है, अर्थात् वन पुष्प आदिकी जाति भिन्न है और घटादिकी जाति भिन्न है। वनपुष्पादिमें बिना प्रयत्नके होनेका व्यभिचार देख घट आदि में उसको लगाना तो अतिप्रसंगका कारण होगा। यदि विद्युत आदि पदार्थ और घट आदि पदार्थ इनमें भिन्न भिन्न जातिपना होते हुए भी अन्यका व्यभिचार अन्यमें लगा सकते हैं तो यहां प्रकरण प्राप्त ज्ञानके विषयमें भी उसको घटित कर सकते हैं। अर्थात् विपर्यय आदि ज्ञान बिना पदार्थके हैं वैसे सत्य ज्ञान भी बिना पदार्थके होते हैं भिन्न जातिपना उभयत्र समान है, कोई विशेषता नहीं है।

विशेषार्थः—नैयायिक अभिमत अर्थकारणवादका प्रकरण चल रहा है, ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न होता है ऐसा बौद्धका कहना है, एवं ज्ञानके लिये पदार्थ भी निमित्त हुआ करते हैं ऐसा नैयायिक का कहना है, इस मान्यता का निरसन करते हुए आचार्यने कहा कि नेत्र रोगीको पदार्थके अभावमें भी ज्ञान होता है तथा संशयादि ज्ञान पुरुषत्व आदि विशेष धर्म के अभाव में भी प्रादुर्भूत होते हुए देखे जाते हैं, अतः ज्ञानमें पदार्थ-रूप कारण मानना बाधित होता है। आचार्यके इस कथन पर परवादीने कहा कि

किञ्च, 'कारणमेव परिच्छेद्यम्' इत्यभ्युपगमे योगिज्ञानात्प्राक्कालभाविन एवार्थस्यानेन परिच्छित्तिः स्यात् तस्यैव तत्कारणत्वात्; न पुनस्तत्कालभाविनोऽभाविनो वा, तस्यातत्कारणत्वात्। लब्धात्मलाभं हि किंचित्कस्यचित्कारणं नान्यथातिप्रसङ्गात्। तथाप्यनेन तत्परिच्छेदेऽन्यज्ञानेनाप्यतत्कारणस्याप्यर्थस्य परिच्छेदः स्यात्। तथा चेदमयुक्तम्–"अर्थसहकारितयार्थवत्प्रमाणम्" [ ] इति। तदपरिच्छेदे चास्यासर्वज्ञतानुषङ्गः। ज्ञानान्तरेण परिच्छेदे तस्यापि ज्ञानान्तरस्य समसमयभाविनोर्थस्यापरिच्छेदकत्वात्कथं सर्वज्ञतेति चिन्त्यम्।

संशयादि ज्ञान भ्रान्त–असत्य है अतः वह बिना पदार्थ के होता है किन्तु अभ्रान्त ज्ञान बिना पदार्थके नहीं होते हैं, संशयादिमें पदार्थके बिना होनेका व्यभिचार आता है तो उस व्यभिचार को सत्य ज्ञानमें नहीं लगाना चाहिये। तब आचार्य उत्तर देते हैं कि ठीक है, किन्तु आप स्वयं अन्यका व्यभिचार अन्यमें लगाते हैं, शब्दको अनित्य मानने वाले किसी दार्शनिकने अनुमान उपस्थित किया कि शब्द प्रयत्नके बाद उत्पन्न होता है क्योंकि कृतक है। इस अनुमानमें आप दूषण देते हैं कि विद्युत आदि अनित्य होकर भी बिना प्रयत्नके होते हैं, सो शब्द आदिकी जाति और विद्युत आदिकी जाति भिन्न होते हुए भी आपने क्योंकर अन्यका व्यभिचार अन्यमें लगाया? यदि यहां अन्यकी बात अन्य में घटित हो सकती है तो ज्ञानके विषयमें भी घटित हो सकती है दोनों जगह समान बात है।

दूसरी बात यह है कि जो ज्ञानका कारण होता है वही परिच्छेद्य (जानने योग्य) होता है ऐसा नियम बनायेंगे तो योगियोंके ज्ञान द्वारा वही पदार्थ जाने जा सकेंगे कि जो उस ज्ञानके पूर्ववर्त्ती है, क्योंकि पूर्ववर्त्ती पदार्थ ही उस ज्ञानमें कारण बन सकते हैं, वर्तमानके पदार्थ एवं भविष्यत् के पदार्थ योगीके ज्ञानद्वारा ग्रहण नहीं हो सकेंगे? क्योंकि वे उसमें कारण नहीं हैं, पदार्थ स्वयं स्वभावको प्राप्त करनेके अनंतर ही अन्य के लिये कारण बन सकते हैं अन्यथा अतिप्रसंग दोष आता है। यदि वर्त्तमान एवं भविष्यत के पदार्थ योगी ज्ञानमें कारण नहीं है तो भी उस ज्ञान द्वारा जाने जाते हैं ऐसा मानते हैं तो अन्य सामान्य व्यक्तिके ज्ञानद्वारा भी अकारणरूप पदार्थ जाने जाते हैं ऐसा भी स्वीकार करना होगा? इसप्रकार ज्ञानमें पदार्थ भी कारण हुआ करते हैं ऐसा कहना गलत ठहरता है, अतः "अर्थं सहकारितया अर्थवत् प्रमाणम्" पदार्थरूप सहकारी कारणसे ज्ञान उत्पन्न होनेकी वजहसे पदार्थका कार्य कहलाता है ऐसा कहना अलीक सिद्ध होता है। इस आपत्तिको दूर करने हेतु परवादी कहे कि

क्षणिकत्वे चार्थस्य ज्ञानकालेऽसत्त्वात्कथं तेन ग्रहणम् ? तदाकारता चास्य प्राक्प्रत्युक्ता। सत्यां वा तस्या एव ग्रहणात्परमार्थतोर्थस्याग्रहणात्तदेवाऽसर्वज्ञत्वम्। न खलु चैत्रसदृशे मैत्रे दृष्टे परमार्थतश्चैत्रो दृष्टो भवत्यन्यत्रोपचारात्। साध्वी चोपचारेण सर्वज्ञत्वकल्पना सुगतस्य सर्वस्य तथाप्राप्तेः, एकस्य कस्यचित्सतो वेदने तत्सदृशस्य सत्त्वेन सर्वस्य वेदनसम्भवात्। सत्त्वेन सर्वस्य

योगीका ज्ञान वर्त्तमान एवं भविष्यतके पदार्थको जानता ही नहीं ! तब तो योगीजनके असर्वज्ञपना मानना पड़ेगा ! जो किसीको इष्ट नहीं है। इस दूषणको हटाने हेतु कोई प्रखर बुद्धिवाला समाधान करे कि योगीके अन्य ज्ञान भी होते हैं उनमेंसे किसी ज्ञान द्वारा वर्त्तमान आदि पदार्थोंको जानना हो जायगा ? सो यह बात भी असत है, वर्तमान एवं भविष्यतके पदार्थको अन्य ज्ञान जान भी लेवे किन्तु उससे कोई मतलब नहीं निकलता क्योंकि इस अन्य ज्ञानके समान कालमें होने वाले जो पदार्थ हैं उनका जानना तो रह जाता है ! अतः सर्वज्ञपना किस प्रकार सिद्ध करना यह प्रश्न तो विचारणीय ही रहता है। बहुत से एकांतवादी पदार्थोंको क्षणिक मानते हैं सो वे क्षणिक पदार्थ ज्ञानके समयमें नष्ट हो जानेसे किसप्रकार ज्ञानद्वारा ग्रहण हो सकेंगे यह भी एक जटिल समस्या है। क्षणिकवादी बौद्ध पदार्थको ज्ञानका कारण मानते हैं उनको क्षणिक मानते हैं एवं उन पदार्थोंका ज्ञानमें आकार आना भी स्वीकार करते हैं, किन्तु यह सारी मान्यता सिद्ध नहीं होती, ज्ञानके तदाकारताको तो प्रथम भागके साकार ज्ञानवाद नामा प्रकरणमें खण्डन कर आये हैं। यदि बौद्धके कदाग्रहसे क्षणभर के लिये उसे मान भी लेवे तो पूर्वोक्त दोष आता है कि सर्वज्ञताके अभावका प्रसंग आता है क्योंकि ज्ञान पदार्थके आकार का होकर मात्र उस आकार को जानता है तो उसने परमार्थतः पदार्थको जाना ही नहीं। चैत्र और मैत्र दो समान आकृति वाले पुरुष हो और उनमें मात्र एक चैत्रको देखा तो मैत्र को देखा ऐसा परमार्थसे तो मान नहीं सकते, उपचार मात्र से कह देना दूसरी बात है कि चैत्रके समान ही मैत्र है अतः मैत्रके देखनेसे चैत्रको देखा हुआ समझो। इसप्रकार उपचार मात्रसे सुगतमें सर्वज्ञकी कल्पना करना परवादी बौद्धको इष्ट है तब तो सभी प्राणी सर्वज्ञ बन बैठेंगे ? एक किसी सत्रूप पदार्थको जान लेने से ही अन्य संपूर्ण पदार्थोंका जानना हो जायगा, क्योंकि सत् सामान्यसे संपूर्ण पदार्थ सदृश हैं ?

सर्वेण वेदनमन्यैस्तु धर्मैरवेदनमिति चेत्; तर्हि ["ए] कस्यार्थस्वभावस्य" [प्रमाणवा० १।१४] इत्यादिग्रन्थविरोधः। सत्त्वेनापि तदग्रहणे न सादृश्यं ग्रहणकारणमिति कथं सुगतस्योपचारेणापि बहिः प्रमेयग्रहणम् ?

कथं चैवंवादिनो भावस्योत्पद्यमानता प्रतीयेत-सा ह्य् त्पद्यमानार्थसमसमयभाविना ज्ञानेन प्रतीयते, पूर्वकालभाविना, उत्तरकालभाविना वा ? न तावत्समसमयभाविना; तस्यास्तत्कार्यत्वात्। नापि पूर्वकालभाविना; तत्काले तस्याः सत्त्वाभावात्। न चासती प्रत्येतुं शक्या; अकारणत्वात्।

बौद्धः—सभी के सर्वज्ञ बन जानेका प्रसंग प्राप्त नहीं होता है, क्योंकि सत्ता सामान्यरूप वस्तुओंके एक धर्मको लेने पर भी अन्य अन्य नीलत्व पीतत्व आदि धर्म तो जाने नहीं ?

जैनः—ऐसा कहेंगे तो आपकेप्रमाणवार्त्तिक नामा ग्रंथके वाक्यके साथ विरोध होगा, क्योंकि उसमें लिखा है कि पदार्थके एक स्वभावको प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा लेने पर ऐसा कौनसा स्वभाव नहीं जाना जाता, अर्थात् जाना ही जाता है, इत्यादि। इस दोषको दूर करनेके लिये कहा जाय कि ज्ञान सत् सामान्यसे वस्तुओंको नहीं जानता, सो यह कथन और भी गलत होगा अर्थात् संपूर्ण वस्तुओंको जाननेका कारण सादृश्य है सत् सामान्यसे एक वस्तुको जान लेने पर अशेष वस्तु ग्रहणमें आ जाती है ऐसा नहीं कह सकेंगे और ऐसी परिस्थिति में सुगत के उपचार मात्रसे भी बाह्य पदार्थोंका जानना सिद्ध नहीं होता परमार्थकी बात तो दूर ही है।

पदार्थको ज्ञानका कारण मानने वाले वादीगण उस पदार्थकी उत्पद्यमानताको किसप्रकार जान सकेंगे यह भी समझमें नहीं आता, बताइये कि वस्तुका उत्पद्यमान धर्म उस वस्तुके समान कालमें होने वाले ज्ञान द्वारा जाना जाता है कि पूर्ववर्त्ती ज्ञान द्वारा जाना जाता है अथवा उत्तर कालवर्ती ज्ञान द्वारा जाना जाता है ? समान कालवर्त्ती ज्ञान द्वारा जाना जायगा ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञानके समान काल में होनेवाला पदार्थ के उत्पद्यमान धर्मका कार्य ज्ञान नहीं है अर्थात् ज्ञान उससे उत्पन्न नहीं हुआ है। पूर्व कालवर्त्ती ज्ञान वस्तुकी उत्पद्यमानता को जानता है ऐसा दूसरा पक्ष भी गलत है, क्योंकि उस ज्ञानके समयमें उत्पद्यमानता है नहीं; असत् उत्पद्यमानता को जानना इसलिये शक्य नहीं है कि वह उत्पद्यमानता ज्ञानके प्रति कारण नहीं है। पूर्वकालवर्ती ज्ञानके समय पदार्थका वह धर्म उत्पत्स्यमान कहलायेगा न कि उत्पद्यमान।

तदा ह्यनुत्पद्यमानतार्थस्य न तूत्पद्यमानता। नाप्युत्तरकालभाविना; तदा विनष्टत्वात्तस्याः। न हि तदोत्पद्यमानतार्थस्य किं तूत्पन्नता।

नित्येश्वरज्ञानपक्षे सिद्धमकारणस्याप्यर्थस्यानेन परिच्छेद्यत्वम्। तद्वदन्येनापि स्यात्। अपदार्थकार्यत्वे तद्वन्नित्यत्वान्निखिलार्थग्राहित्वानुषङ्गः; न; चक्षुरादिकार्यत्वेनानित्यत्वात्। प्रतिनियतशक्तित्वाच्च प्रतिनियतार्थग्राहित्वम्। न खलु यैकस्य शक्तिः सान्यस्यापि, अन्यथा सर्वस्य सर्व-

---

उत्तरकालवर्त्ती ज्ञान द्वारा वह उत्पद्यमानता जानी जाती है ऐसा कहना भी ठीक नहीं उत्तरकालमें तो वह नष्ट हो चुकती है उस समय पदार्थ का वह धर्म उत्पद्यमान न होकर उत्पन्नरूप कहलायेगा।

इसप्रकार बौद्धके पक्षमें ज्ञान पदार्थका कार्य है, पदार्थ ज्ञानमें कारण पड़ता है, इसप्रकार के कथनमें जो दोष आते हैं बतलाइये।

अब नैयायिकको पुनः समझाते हैं कि आप पदार्थको ज्ञानका कारण मानते हैं सो इस मान्यतामें अव्याप्ति नामका दूषण आता है, आप ईश्वर तथा उसके ज्ञानको नित्य मानते हैं, जो नित्य होता है वह किसीसे उत्पन्न नहीं होता अतः ईश्वर का ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न नहीं हो सकता, वह पदार्थसे उत्पन्न न होकर भी उसको जानता है, ऐसा आप मानते भी हैं फिर इसीप्रकार अन्य प्राणियोंके ज्ञान भी पदार्थसे उत्पन्न न हो पदार्थको जानने वाले हो जावे क्या बाधा है ?

शंका:—अन्य ज्ञानोंको पदार्थका कार्य नहीं माने तो वे ज्ञान भी ईश्वरके ज्ञानके समान नित्य हो जानेसे संपूर्ण वस्तुओंको जानने वाले हो जायेंगे ?

समाधानः—ऐसा दोष जैनपर नहीं आ सकता, हम यद्यपि ज्ञानको पदार्थका कार्य नहीं मानते फिर भी उसमें अनित्यता सिद्ध होती है, क्योंकि हम लोग ज्ञानमें इन्द्रियोंको कारण मानते हैं, चक्षु आदि इन्द्रियोंका ज्ञान कार्य है। हम जैसे अल्पज्ञ जीवोंका ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है, यह प्रतिनियत शक्तिवाला रहता है इसी-कारणसे प्रतिनियत कतिपय पदार्थोंका ग्राहक होता है सब पदार्थोंका नहीं। ऐसा भी नहीं होता कि किसी एक वस्तुमें जो शक्ति है वह अन्य वस्तुमें भी होवे, यदि एककी शक्ति अन्यमें होना स्वीकार करेंगे तो बड़ी भारी आपत्ति आयेगी—फिर तो महेश्वर के समान सब प्राणी सबके कर्त्ता धर्त्ता बन बैठेंगे। जिस प्रकार ईश्वर कार्यसमूह द्वारा

कर्तृत्वानुषङ्गो महेश्वरवत् । यथैव हीश्वरः कार्यग्रामेणानुपक्रियमाणोप्यविशेषेण तं करोति तथा कुम्भकारादिरपि कुर्यात् । न हि सोपि तेनोपक्रियते येन 'उपकारकमेव कुर्यान्नान्यम्' इति नियमः स्यात् । शक्तिप्रतिनियमात्तदविशेषेपि कश्चित्कस्यचित्कर्त्तेत्यभ्युपगमो ग्राहकत्वपक्षेपि समानः ।

ननु यद्यर्थाभावेपि ज्ञानोत्पत्तिः कुतो न नीलाद्यर्थरहिते प्रदेशे तद्भवति ? भवत्येव नयनमनसोः प्रणिधाने । कथं न नीलाद्यर्थग्रहणम् ? तत्र तदभावात् । कथं 'तदुत्पन्नम्' इत्यवगमः ? न हि

उपकृत न होकर भी अविशेष रूपसे उसको करता है । उसीप्रकार कुंभकार आदि सभी प्राणी भी अशेष कार्यको कर सकेंगे ? (क्योंकि एककी शक्ति अन्यमें हो सकती है ऐसा आपने मान लिया है) कुंभकार भी उस कार्य समूहद्वारा उपकृत तो होता ही नहीं, जिससे कि वह अपने उपकारकको ही करे, अन्यको न करे इसतरह का नियम बन सके । यदि कोई कहे कि कुंभकार आदि प्राणी अल्प-नियत शक्ति वाले होते हैं अत: ईश्वरके कार्य द्वारा उपकृत नहीं होते हुए भी किसी किसी कार्यको ही कर सकते हैं, सब कार्यों को नहीं ? सो यही बात ज्ञानके ग्राहक पक्षमें घटित कर लेनी चाहिये, अर्थात ज्ञान पदार्थसे उत्पन्न नहीं होकर भी अपने शक्ति के अनुसार योग्य पदार्थका ग्राहक होता है ।

शंका:—यदि पदार्थके अभाव में भी ज्ञान होता है तो नील आदि पदार्थ जहां-पर नहीं हैं ऐसे स्थान पर भी नील आदिकी प्रतीति होनी चाहिये ?

समाधान:—होती है, नेत्र तथा मनसे जो ज्ञान होता है उस स्थानमें पदार्थ रहते ही नहीं, तुम कहो कि फिर वहां नीलादिका ग्रहण (प्राप्ति) भी होना चाहिये ? सो ऐसी बात नहीं है, वहाँ पदार्थ नहीं होनेसे ग्रहण नहीं होता । फिर शंका होती है कि पदार्थके नहीं होनेपर जो ज्ञान होता है तो "वह ज्ञान उत्पन्न हुआ" इसप्रकार कैसे जान सकेंगे ? जो ज्ञान विषयको नहीं जानता उसको 'है' ऐसा कहना युक्त नहीं अन्यथा सर्वत्र सर्वदा सभीको वह ज्ञान होवेगा ? सो यह शंका भी असार है, सामने उपस्थित नील आदि पदार्थको ज्ञान ही ग्रहण करते हुए देखा जाता है । फिर शंका करते हैं कि जब ज्ञान वस्तु को ग्रहण करता है उस वक्त दूसरा ही ज्ञान रहता है ? सो यह शंका ठीक नहीं, क्या आप इस समय प्रकाश स्वरूप ज्ञानमें भेद मानना चाहते हैं ? यदि मानेंगे तो दीपक में घट पट आदिको प्रकाशित करनेकी अपेक्षा भेद मानना

विषयमपरिच्छिन्दत् ज्ञानम् 'अस्ति' इति युक्तम्, अन्यथा सर्वत्र सर्वदा सर्वस्य तदनिवार्यं भवेदित्य-प्यसारम्; तत्रोपनीतस्य नीलादेस्तेनैव ग्रहणोपलम्भात् । तदेव तदन्यज्ज्ञात (न) मिति चेत्कि-मिदानीं प्रतिविषयं प्रकाशकस्य भेदः ? तथाभ्युपगमे प्रदीपादेरपि प्रतिविषयमन्यत्वप्रसङ्गः । प्रत्य-भिज्ञानमुभयत्र समानम् ।

नन्वर्थाभावेपि ज्ञानसद्भावेऽतीतानागते व्यवहिते च तत्स्यात्सन्निहितवत् । ननु (ननु) तत्र तत्स्यादिति कोर्थः ? किं तत्रोत्पद्येत, तद्ग्राहकं वा भवेदिति ? न तावत्तत्रोत्पद्येत; आत्मनि तदु-

---

पड़ेगा, अर्थात् घट को प्रकाशित करनेवाला दीपक पृथक है और पटको प्रकाशित करनेवाला दीपक पृथक है ऐसा मानना होगा । तुम कहो कि दीपक में तो प्रत्यभि-ज्ञानके कारण जिस दीपक ने घटको प्रकाशित किया पटको वही प्रकाशित करता है । "इसप्रकार का एकत्व सिद्ध होता है, प्रत्येक विषयमें भेद की बात नहीं रहती ? सो ठीक है, यही प्रत्यभिज्ञानकी बात ज्ञानके संबंधमें भी सुघटित होती है, उसमें भी "जो आत्मा नील ज्ञानसे परिणत था वही अन्य ज्ञानसे परिणत है" ऐसा एकत्व सिद्ध होता है ।

शंकाः—पदार्थके अभावमें भी ज्ञानका सद्भाव होवेगा तो अतीतके पदार्थमें अनागतके पदार्थमें और व्यवहित के पदार्थ में भी ज्ञान होवेगा, जैसे कि निकटवर्ती वर्त्तमानके पदार्थमें होता है ?

समाधान—"अतीत आदिमें वह होवेगा" इस वाक्यका क्या अर्थ करना इसपर पहले सोचें ! अतीत आदिमें ज्ञान उत्पन्न होता है अथवा उनको ग्रहण करता है ? यदि उत्पन्न होनेका अर्थ मानते हैं तो गलत है, ज्ञान अतीत आदिमें उत्पन्न होता ही नहीं वह तो आत्मामें होता है तथा अतीत आदिको ग्रहण करता है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो भी ठीक नहीं क्योंकि ज्ञानके लिये वे अतीतादिक अयोग्य है—जानने योग्य नहीं है ।

यह भी बात है कि उत्पन्न हुआ ज्ञान सभी पदार्थोंको जाने ही ऐसा नियम नहीं है, ज्ञान तो स्वयोग्य वस्तुका ग्राहक हुआ करता है । कारणके पक्षमें भी यही प्रश्न होता है जो ज्ञानके विषयमें किया है, कुंभकार आदि कर्त्ता घट आदि पदार्थके कारण है, वह कार्यद्वारा उपकृत हुए विना ही कार्यको करते हैं, सो इस विषयमें प्रश्न

त्यत्यभ्युपगमात् । नापि तद्ग्राहकं भवेत्; अयोग्यत्वात् । न खलु तदुत्पन्नमपि सर्वं वेत्ति; योग्यस्यैव वेदनात् । कारणेपि चैतच्चोद्यं समानम् । तत्रापि हि कारणं कार्येणानुपक्रियमाणं यावत्प्रतिनियतं कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम् । ततो ज्ञानस्यार्थान्वयव्यतिरेकानुविधानाभावात्कथं तत्कार्यता यतः "अर्थवत्प्रमाणम्" [न्यायभा॰ पृ॰] १ इत्यत्र भाष्ये "प्रमातृप्रमेयाभ्यामर्थान्तरमव्यपदेश्याऽव्यभिचारिव्यवसायात्मके ज्ञाने कर्त्तव्येऽर्थसहकारितयार्थवत्प्रमाणम्" [ ] इति व्याख्या शोभेत ? तन्नार्थकार्यता विज्ञानस्य ।

नाप्यालोककार्यता ; अञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषां नक्तञ्चराणां चालोकाभावेपि ज्ञानोत्पत्ति-

---

होता है कि कुंभकारादि प्रतिनियत घट आदिको ही क्यों करता है अन्य सभी कार्य को क्यों नहीं करता ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये परवादीको योग्यता की ही शरण लेनी होगी, अर्थात् कुंभकार आदि कारण में इतनी ही योग्यता है कि वह घट आदि कार्यको ही कर सकता है। अन्यको नहीं। ठीक इसी प्रकार ज्ञान भी आत्मासे उत्पन्न होकर अपने योग्य विषयको जानता है सभी को नहीं, ऐसा मानना होगा। इसलिये ज्ञानका पदार्थ और प्रकाशके साथ अन्वयव्यतिरेक नहीं होनेसे ज्ञान उनका कार्य नहीं कहला सकता। अतः निम्न लिखित कथन असत् ठहरता है कि "अर्थवत् प्रमाणम्" प्रमाण पदार्थ के सहकारितासे उत्पन्न होता है, इस न्याय सूत्र की व्याख्या है कि जो प्रमाता और प्रमेयसे पृथक् है। अव्यपदेश्य, निर्दोष, निश्चायक ज्ञान स्वरूप है एवं पदार्थकी सहकारितासे उत्पन्न होता है वह प्रमाण कहलाता है।

इसप्रकार पदार्थ ज्ञानका कारण है ऐसा कथन निराकृत होता है। अब यहां पर जो परवादी प्रकाश को ज्ञानका कारण मानते हैं उनका निरसन किया जाता है ज्ञान प्रकाशका भी कार्य नहीं है, क्योंकि जिनके नेत्र अंजन आदिसे संस्कारित हैं उन मनुष्योंके तथा बिलाव, सिंह आदि पशुओं के ज्ञानकी उत्पत्ति विना प्रकाशके भी होती हुई देखी जाती है।

शंका:—प्रकाशको ज्ञानका कारण नहीं मानते हैं तो हम लोगोंको अंधकार में ही ज्ञान हो जाना चाहिये ? किन्तु होता तो नहीं, प्रकाश रहता है तब हमें दिखायी देता है और प्रकाश नहीं होता तो दिखायी नहीं देता अतः उसके होनेपर

प्रतीतेः। अथालोकस्याकारणत्वेऽन्धकारावस्थायामप्यस्मदादीनां ज्ञानोत्पत्तिः स्यात् न चैवम्; तत-स्तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्तत्कार्यताऽस्य। अन्यथा धूमोप्यग्निजन्यो न स्यात्, तद्व्यतिरेकेणा-न्यस्य तद्व्यवस्थापकस्याभावादिति चेत्, किं पुनरन्धकारावस्थायां ज्ञानं नास्ति ? तथा चेत्; कथ-मन्धकारप्रतीतिः ? तदन्तरेणापि प्रतीतावन्यत्रापि ज्ञानकल्पनानर्थक्यम्। 'प्रतीयते, ज्ञानं नास्ति' इति च स्ववचनविरोधः, प्रतीतेरेव ज्ञानत्वात्।

अथान्धकाराख्यो विषय एव नास्ति यो ज्ञानेन परिच्छिद्येत, अन्धकारव्यवहारस्तु लोके

होना और न होनेपर नहीं होना ऐसा निश्चय होनेसे ज्ञान प्रकाशका कार्य है। इस प्रकार ज्ञान और प्रकाशमें कार्य कारण भाव होते हुए भी नहीं मानेंगे तो धूम अग्निका कार्य है अग्निसे उत्पन्न हुआ है ऐसा नहीं कह सकेंगे ? क्योंकि अन्वय व्यतिरेक को छोड़कर अन्य कोई साधन कार्य कारण भावको सिद्ध करने वाला दिखायी नहीं देता ?

समाधान:— ठीक है, किन्तु यह बताइये कि अंधकार में ज्ञान नहीं होता तो उसकी प्रतीति किस प्रकार होती ? यदि ज्ञान के विना ही अंधकार जाना जाता है तो अन्य घट आदि पदार्थ भी ज्ञानके विना जाने जा सकेंगे, फिर तो ज्ञानकी कल्पना करना ही व्यर्थ है ? बड़ा आश्चर्य है कि इधर कहते हैं कि अंधकार प्रतीत होता है और इधर कहते हैं कि ज्ञान नहीं होता सो यह स्ववचन बाधित कथन है, क्योंकि प्रतीति ही ज्ञान कहलाती है।

नैयायिक:— हम तो अंधकार नामा पदार्थ ही नहीं मानते हैं, जिससे कि वह ज्ञान द्वारा जाना जाय, लोकमें अंधकारका व्यवहार तो मात्र ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होने रूप है अन्य कुछ नहीं।

जैन:—यदि ऐसी बात कहो तो प्रकाशका भी अभाव हो जायगा, हम कह सकते हैं कि निर्मल ज्ञानका होना ही प्रकाश है, अन्य कुछ नहीं, लोकमें प्रकाश-का जो व्यवहार होता है वह विशद ज्ञानकी उत्पत्ति होने रूप ही है ?

नैयायिक:—ज्ञानका वैशद्य [निर्मलता] प्रकाशके अभावमें कैसे हो सकता है ?

ज्ञानानुत्पत्तिमात्र इत्युच्यते; यद्येवमालोकस्याप्यभावः स्याद्विशदज्ञानव्यतिरेकेणान्यस्यास्याप्रतीतेः। तद्व्यवहारस्तु लोके विशदज्ञानोत्पत्तिमात्रः। ननु ज्ञानस्य वैशद्यमेव तदभावे कथम्? इत्यप्यज्ञचोद्यम्; नक्तञ्चरादीनां रूपेऽस्मदादीनां रसादौ च तदभावेपि तस्य वैशद्योपलब्धेः।

आलोकविषयस्य च ज्ञानस्यात एवालोकाद्वैशद्यम्, तदन्तराद्वा, अन्यतो वा कुतश्चित्? यद्यन्यतः; न तर्ह्यालोककृतं वैशद्यम्। न हि यद्यदभावेपि भवति तत्तत्कृतमतिप्रसङ्गात्। अथालोकान्तरात्; तद्विषयस्यापि तस्यालोकान्तरात्तदित्यनवस्था। न चालोकान्तरमस्ति। अथास्मादेवा-

---

जैनः–यह प्रश्न अज्ञान पूर्वक किया है, बिलाव, सिंह, आदिको रूपका (वर्णका) ज्ञान होता है उस ज्ञानका वैशद्य प्रकाशके अभावमें भी अनुभवमें आ रहा है, तथा उसी अंधकारमें हम जैसे मनुष्यको भी रस आदि विषयका स्पष्ट ज्ञान होता हुआ देखा जाता है।

यहां पर यह भी एक प्रश्न होता है कि ज्ञानमें वैशद्य प्रकाशके कारण होता है, किन्तु जब ज्ञान प्रकाशको विषय करता है तब उस ज्ञानमें वैशद्य किस कारणसे आयेगा उसी प्रकाश से आता है अथवा दूसरे प्रकाशसे आता है, या अन्य किसी कारणसे आता है? यदि अन्य किसी कारणसे आता है तो "ज्ञानमें निर्मलता प्रकाश द्वारा हो आती है" ऐसा कहना गलत ठहरता है। जिसके अभाव में भी जो होता है उसके द्वारा वह किया जाता है ऐसा कहना तो अशक्य है इसतरह से कहने में तो अतिप्रसंग होगा। यदि कहा जाय कि प्रकाशको विषय करनेवाले ज्ञानकी विशदता अन्य प्रकाश से आती है तब तो अन्य अन्य प्रकाश की आवश्यकता पड़नेसे अनवस्था दोष आता है। प्रकाश को जाननेवाले ज्ञानका वैशद्य उसी प्रकाश से आया करता है ऐसा तीसरा विकल्प माने तो इसका अर्थ हुआ कि ज्ञानमें वैशद्य अपने आप आता है, फिर तो जैसे प्रकाश को विषय करने वाले ज्ञानमें वैशद्य प्रकाशसेही आया वैसे घट आदि पदार्थ रूपसे घट ज्ञानमें वैशद्य आता है ऐसा भी मानना होगा।

शंका:—घटके रूपमें भासुरता नहीं है अतः उस ज्ञानमें स्वविषयसे वैशद्य नहीं आ पाता?

समाधान:—यह कथन अयुक्त है, रात्रिमें बहल अंधकार में सिंह आदिको विशद ज्ञान होता है वह न हो सकेगा, क्योंकि वहांपर भासुरत्व नहीं है, अतः

लोकात्; स्वविषयादेव तर्हि वैशद्यम्, तथा घटादिरूपादप्यस्तु। तस्याभासुरत्वान्नातस्तत्; इत्यप्ययुक्तम्; बहुलान्धकारनिशीथिन्यां नक्तञ्चरादीनां तत्र वैशद्याभावप्रसङ्गात्। 'विशदं प्रत्यक्षम्' इत्यत्र चोक्तं वैशद्यकारणम्। यद्येवं प्रदीपाद्युपादानमनर्थकं तदन्तरेणापि ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गात्; नाऽनर्थकम्, आवरणापनयनद्वारेण विषये ग्राह्यतालक्षणस्य विशेषस्य इन्द्रियमनसोर्वा तज्ज्ञानजनकलक्षणस्यातोऽञ्जनादेरिवोत्पत्तेः। न चैतावता तस्य तत्कारणता; काण्डपटाद्यावरणापनेतुर्हस्तादेरपि तत्त्वप्रसङ्गात्। ततो यथा ज्ञानानुत्पत्तिव्यतिरेकेण नान्यत्तमः तथा विशदज्ञानोत्पत्तिव्यतिरेकेणालोकोप्यन्यो न स्यात्।

भासुरत्व विशद ज्ञानका हेतु नहीं है। विशद ज्ञानका कारण तो "विशदं प्रत्यक्षं" इस सूत्र के व्याख्यानमें कह आये हैं (ज्ञानावरणके क्षय क्षयोपशमसे विशद ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा पहले प्रतिपादन कर आये हैं)

नैयायिकः—यदि ज्ञानमें प्रकाश कारण नहीं होता तो दीपक आदिके द्वारा रात्रिमें घट आदि को देखते हैं वह व्यर्थ होगा, फिर तो दीपक के बिना भी ज्ञानोत्पत्ति का प्रसंग आयेगा ?

जैनः—दीपक व्यर्थ नहीं होता, वह तो आवरण स्वरूप जो अंधकार है उसको हटाकर घट पट आदि ज्ञानके विषयमें ग्राह्यता रूप विशेषता लाता है, अथवा इन्द्रिय और मनमें ज्ञानको उत्पन्न करानेकी योग्यता लाता है, जैसे कि नेत्र में अंजन डालनेसे विशद ज्ञानको उत्पन्न करनेकी योग्यता आती है। किन्तु इतने मात्र से उसको ज्ञानका कारण नहीं मान सकते, यदि इसतरहसे कारणोंको संगृहीत करते जायेंगे तो हाथ आदिके द्वारा वस्त्र आदिका आवरण हटाकर घट आदिका विशदज्ञान प्रकट होता है अतः उनको भी ज्ञानका कारण मानना होगा ? फिर तो ऐसा कहना होगा कि ज्ञानकी अनुत्पत्ति ही अन्धकार है अन्य कोई वस्तु नहीं है ऐसा मानना आपको इष्ट है वैसे विशद ज्ञानकी उत्पत्ति ही प्रकाश है अन्य कोई वस्तु नहीं है ऐसा कथन भी मानना होगा।

नैयायिकः—प्रकाशको इसलिये पृथक् पदार्थ मानते हैं कि लोक व्यवहार में "यहांपर बहुत प्रकाश है, यहांपर अल्प प्रकाश है" इसप्रकार कहा जाता है, अतः विशदज्ञानोत्पत्तिसे पृथक् रूप प्रकाशको सिद्ध करते हैं।

ननु 'अत्र प्रदेशे बहल आलोकोऽत्र च मन्द:' इति लोकव्यवहारादस्य। सोस्तीति चेत्; तर्हि 'गुहागह्वरादौ बहलं तमोन्यत्र मन्दम्' इति लोकव्यवहार: किं काकभंक्षित: ? अत्रास्याऽप्रमाण त्वेऽन्यत्र क: समाश्वास: ? ननु बहिर्देशादागत्य गृहान्त: प्रविष्टस्य सत्यप्यालोके तम: प्रतीतेर्नं पारमार्थिकं तत्, न चालोकतमसोर्विरुद्धयोरेकत्रावस्थानम्, ततो ज्ञानानुत्पत्तिमात्रमेव तदिति चेत्; तर्हि नक्तञ्चरादीनामेव (वं) विवरादौ प्रदीपाद्यालोकाभावेपि तत्प्रतीते: सोपि पारमार्थिको न स्यात् । न चैकत्र तमोऽभावेपि तत्प्रतीते: सर्वत्र तदभावो युक्त:, अन्यथाऽर्थाभावेपि क्वचित्तत्प्रतीते। सर्वत्र तदभाव: स्यात् । तस्मादालोकवत्तमोपि प्रतीतिसिद्धम् । तत्र चालोकाभावेपि ज्ञानोत्पत्ति-प्रतीते। ।.न च तत्प्रति तस्य कारणता । तन्नार्थालोकयोर्ज्ञानं प्रति कारणत्वम् ।

जेन:—ठीक है, फिर तो आपको अन्धकार को भी पृथक पदार्थरूप मानना जरूरी होगा, यहां गुफामें, गिरि कन्दरा में बहुत अन्धकार है, यहां पर तो अल्प अन्धकार है "इसप्रकारका लोक व्यवहार क्या काक भक्षित है ? यदि अन्धकार संबंधी लोक व्यवहार को अप्रामाणिक मानते हैं तो प्रकाश संबंधी लोक व्यवहारको प्रामाणिक मानना कैसे सिद्ध होगा ?

नैयायिक:—बात यह है कि जब हम बाजार आदि बाह्य स्थानपर भ्रमण कर घरमें प्रवेश करते हैं तब प्रकाशके होते हुए भी अन्धकार दिखायी देता है अत: अन्धकारको काल्पनिक मानते हैं, प्रकाश और अन्धकार दोनों विरुद्ध स्वभाववाले होनेसे एकत्र अवस्थान होना शक्य नहीं है, इसीलिये ज्ञानकी अनुत्पत्ति को ही अन्धकार कहते हैं ?

जैन:—यही बात हम प्रकाशके विषयमें घटित कर सकते हैं नक्तंचर आदि प्राणियोंको विवर आदि स्थान पर प्रदीप आदिका प्रकाश नहीं होते हुए भी उस प्रकाशकी प्रतीति होने लगती है अत: प्रकाश कोई वास्तविक चीज नहीं है, ऐसा सिद्ध हो जायगा ? किसी एक स्थान पर विना अन्धकारके अन्धकार प्रतीत होने से सर्वत्र उसका अभाव कर देना गलत है, यदि ऐसा करेंगे तो कहीं एक जगह पदार्थ के बिना उसकी प्रतीति होती है अत: उसका सर्वत्र अभाव करना होगा ? इसलिये प्रकाशके समान अन्धकार भी एक वास्तविक पदार्थ सिद्ध होता है, उस अन्धकारमें भी ज्ञान उत्पन्न होता है, किन्तु उसको ज्ञानोत्पत्तिका कारण नहीं माना जाता । इसप्रकार प्रकाश और पदार्थ दोनों भी ज्ञानके प्रति कारण नहीं हैं ऐसा सिद्ध हुआ ।

एवं तर्हि तत्तयोः प्रकाशकमपि न स्यादित्याह—

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकम् ॥ ८ ॥

ताभ्यामर्थालोकाभ्यामजन्यमपि तयोः प्रकाशकम् ।

अत्रैवार्थे प्रदीपवदित्युभयप्रसिद्धं दृष्टान्तमाह—

प्रदीपवत् ॥ ९ ॥

न खलु प्रकाश्यो घटादिः स्वप्रकाशकं प्रदीपं जनयति, स्वकारणकलापादेवास्योत्पत्तेः । 'प्रकाश्याभावे प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वायोगात्स तस्य जनक एव' इत्यभ्युपगमे प्रकाशकस्याभावे प्रकाश्यस्यापि प्रकाश्यत्वाघटनात् सोपि तस्य जनकोऽस्तु । तथा चेतरेतराश्रयः-प्रकाश्यानुत्पत्तौ

यहां कोई कहता है कि पदार्थ और प्रकाश ज्ञानमें कारण नहीं हैं तो उनको ज्ञान प्रकाशित भी नहीं करता होगा ? सो उस शंकाका निवारण करने हेतु सूत्रावतार होता है—

अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशकम् ॥ ८ ॥

सूत्रार्थः—ज्ञान पदार्थ और प्रकाश से उत्पन्न न होकर भी उनको प्रकाशित करता है । इस विषयमें वादी प्रतिवादीके यहां प्रसिद्ध ऐसा दृष्टांत देते हैं—

प्रदीपवत् ॥ ९ ॥

अर्थः—जैसे दीपक घटादि पदार्थसे उत्पन्न न होकर भी घटादिको प्रकाशित करता है, वैसे ही ज्ञान पदार्थादिसे उत्पन्न न होकर भी उनको प्रतिभासित करता है प्रकाशित होनेयोग्य घटादि पदार्थ अपनेको प्रकाशित करनेवाले दीपकको उत्पन्न नहीं करते हैं, वह दीपक तो अपने कारण कलापसे (बत्ती, तेल आदिसे) उत्पन्न होता है । प्रकाशित करने योग्य वस्तुके अभावमें प्रकाशकका प्रकाशकपना ही नहीं रहता, अतः प्रकाश्य जो घटादि वस्तु है वह उस प्रकाशकका जनक कहलाता है ? इसतरह कोई परवादी बखान करे तो इसके विपरीत "प्रकाशक के अभावमें प्रकाश्यका प्रकाश्यपना हो नहीं रहता, अतः प्रकाशक (दीप) प्रकाश्य (घटादि) का जनक है" ऐसा भी मानना पड़ेगा ? फिर तो इतरेतराश्रय दोष होगा, अर्थात् प्रकाश्यके उत्पन्न न होनेपर प्रकाशक उत्पन्न नहीं होगा और उसके उत्पन्न नहीं होनेसे प्रकाश्य भी उत्पन्न नहीं होगा ।

प्रकाशकानुत्पत्तेः तदनुत्पत्तौ च प्रकाश्यानुत्पत्तेरिति । स्वकारणकलापादुत्पन्नयोः प्रदीपघटयोरन्यो-न्यापेक्षया प्रकाश्यप्रकाशकत्वधर्मव्यवस्थाया एव प्रसिद्धेर्नेतरेतराश्रयावकाश इत्यभ्युपगमे ज्ञानार्थ-योरपि स्वसामग्रीविशेषवशादुत्पन्नयोः परस्परापेक्षया ग्राह्यग्राहकत्वधर्मव्यवस्थाऽस्तीयताम् । कृतं प्रतीत्यपलापेन ।

ननु चाजनकस्याप्यर्थस्य ज्ञानेनावगतौ निखिलार्थावगतिप्रसङ्गात्प्रतिकर्मव्यवस्था न स्यात् । 'यद्धि यतो ज्ञानमुत्पद्यते तत्तस्यैव ग्राहकं नान्यस्य' इत्यस्यार्थजन्यत्वे सत्येव सा स्यादिति वदन्तं प्रत्याह-

स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।। १० ।।

तथा हि-यदर्थप्रकाशकं तत्स्वावरणव्यपेतप्रतिबन्धम् यथा प्रदीपादि, अर्थप्रकाशकं च

नैयायिकः—प्रकाशक (दीप) और प्रकाश्य (घटादिवस्तु) ये दोनों भी अपने अपने कारण कलापसे उत्पन्न होते हैं और एक दूसरेकी अपेक्षासे प्रकाशक तथा प्रकाश्य कहलाते हैं, प्रकाशक और प्रकाश्य धर्मकी व्यवस्था तो इसप्रकार है अतः इतरेतराश्रय दोष नहीं आता ।

जैनः—बिलकुल ठीक है यही बात ज्ञान और पदार्थके विषयमें है, ज्ञान और पदार्थ भी अपनी अपनी सामग्रीसे उत्पन्न होते हैं और एक दूसरेकी अपेक्षा लेकर ग्राह्य ग्राहक कहलाते हैं ऐसा स्वीकार करना चाहिये ? प्रतीतिके अपलाप करनेसे अब बस हो ।

शंकाः—ज्ञानका अजनक ऐसा जो पदार्थ है वह ज्ञानद्वारा जाना जाता है ऐसा मानेंगे तो एक ही ज्ञान संपूर्ण पदार्थ जानने वाला सिद्ध होगा फिर प्रतिनियत विषय व्यवस्था नहीं बन सकेगी, क्योंकि जो ज्ञान जिससे उत्पन्न होता है वह उसीको जानता है अन्यको नहीं ऐसी प्रतिकर्म व्यवस्था (यह इस ज्ञानका विषय है) तो ज्ञानको पदार्थसे जन्य मानने पर ही हो सकती है ?

अब इस शंकाका निवारण करते हुए श्री माणिक्यनंदी आचार्य कहते हैं—

स्वावरण क्षयोपशम लक्षण योग्यता हि प्रतिनियतमर्थव्यवस्थापयति ।।१०।।

सूत्रार्थः—अपने आवरण के क्षयोपशम रूप योग्यताके निमित्तसे प्रतिनियत पदार्थ को जानने का नियम बनता है, जो जिस वस्तुका प्रकाशक होता है वह अपने आवरणके रुकावटसे रहित होता है, जैसे दीपक आवरण रहित होकर घट आदिका

ज्ञानमिति । प्रतिनियतस्वावरणक्षयोपशमश्च ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थोपलब्धेरेव प्रसिद्धः । न चान्योन्याश्रयः; अस्याः प्रतीतिसिद्धत्वात् । तल्लक्षणयोग्यता च शक्तिरेव । सैव ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थव्यवस्थायामङ्ग' नार्थोत्पत्त्यादिः, तस्य निषिद्धत्वादन्यत्रादर्शनाच्च । न खलु प्रदीपः प्रकाश्यार्थैर्जन्यस्तेषां प्रकाशको दृष्टः ।

किञ्च, प्रदीपोपि प्रकाश्यार्थाऽजन्यो यावत्काण्डपटाद्यनावृतमेवार्थं प्रकाशयति तावत्तदावृत-

---

प्रकाशक होता है । ज्ञान भी स्वयोग्य आवरणसे रहित होकर पदार्थका प्रकाशक होता है । ज्ञानमें इन्हीं प्रतिनियत वस्तुओंको जाननेका क्षयोपशम हुआ है इस बातका निश्चय तो प्रतिनियत वस्तुको जाननेसे ही सिद्ध होता है, इसमें अन्योन्याश्रय दोष भी नहीं आता, क्योंकि प्रतिनियत विषय तो प्रतीतिसे सिद्ध हो रहा है । प्रतिनियत वस्तुको जाननेकी जो योग्यता है उसीको शक्ति कहते हैं, यही शक्ति ज्ञानमें प्रतिनियत वस्तुको जाननेकी व्यवस्था करा देती है इस व्यवस्थाका कारण यह शक्ति ही है न कि तदुत्पत्ति आदिक, क्योंकि तदुत्पत्ति तदाकारता आदि का पहले ही निषेध कर आये हैं तथा प्रदीप आदिमें ऐसा देखा भी नहीं जाता कि वह घट आदि से उत्पन्न होकर उसको जानता हो । दीपक प्रकाश्य भूत जो घट आदि पदार्थ हैं उनसे उत्पन्न होकर उनका प्रकाशक बनता है ऐसा कहीं पर देखा नहीं जाता है ।

यदि परवादी नैयायिकादि को कोई पूछे कि दीपक प्रकाशित करने योग्य पदार्थसे जन्य नहीं है किन्तु वह वस्त्र आदिसे नहीं ढके हुए पदार्थको ही प्रकाशित करता है, ढके हुए पदार्थ को क्यों नहीं प्रकाशित करता ? ऐसा पूछने पर आपको भी जैनके समान योग्यताकी ही शरण लेनी होगी ।

भावार्थः—बौद्ध ज्ञानको पदार्थ से उत्पन्न हुआ मानते हैं तथा नैयायिक ज्ञानको पदार्थ और प्रकाशसे उत्पन्न हुआ मानते हैं, इन परवादियोंकी मान्यता का आचार्यने निरसन कर दिया है, पदार्थको यदि ज्ञानका कारण मानेंगे तो सर्वज्ञका अभाव होनेका प्रसंग आता है । क्योंकि जब एक साथ सब पदार्थ वर्त्तमान रहते नहीं हैं तब उन सब पदार्थोंको ज्ञान कैसे जानेगा ? सबको जाने बिना सर्वज्ञ बन नहीं सकता । दूसरी बात पदार्थके अभाव में भी नेत्र रोगीको पदार्थ दिखाई देता है, विक्षिप्त मन वाले को बिना पदार्थ के उसकी प्रतीति होने लग जाती है इत्यादि बातों को देखकर यह निश्चित होता है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता । प्रकाश भी

मपि किन्न प्रकाशयेदिति चोद्ये भवतोप्यतो योग्यतातो न किञ्चिदुत्तरम् ।

कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥११॥

नहीन्द्रियमदृष्टादिकं वा विज्ञानकारणमप्यनेन परिच्छेद्यते । न ब्रूमः-कारणं परिच्छेद्यमेव किन्तु 'कारणमेव परिच्छेद्यम्' इत्यवधारयामः; तन्न योगिविज्ञानस्य व्याप्तिज्ञानस्य चाशेषार्थग्राहिणोऽभावप्रसङ्गात् । न हि विनष्टानुत्पन्नाः समसमयभाविनो वार्थास्तस्य कारणमित्युक्तम् । केशोण्डुका-

---

ज्ञानका कारण नहीं है, रात्रिमें बिलाव आदि प्राणियोंको बिना प्रकाशके भी ज्ञान होता रहता है तथा मनके द्वारा जानने के लिये भी प्रकाशकी जरूरत नहीं रहती। बौद्धका यह हटाग्रह है कि यदि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता तो प्रतिनियत विषय व्यवस्था कैसे बनती कि अमुक ज्ञान अमुक पदार्थको ही ग्रहण करता है? सो उसका जवाब यह है कि जैसे दीपक घट आदि से उत्पन्न न होकर भी उन प्रतिनियत घट आदिको ही प्रकाशित करता है वैसे ज्ञान है वह भी पदार्थ से उत्पन्न न होकर भी क्षयोपशम जन्य योग्यताके अनुसार प्रतिनियत विषयको जानता है। इस प्रकार अर्थकारणवाद और आलोककारणवादका निरसन किया गया है।

अब अग्रिम सूत्र प्रस्तुत करते हैं—

कारणस्य परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः ॥११॥

सूत्रार्थः—जो ज्ञानका कारण है वही ज्ञानके द्वारा जाना जाता है ऐसा मानेंगे तो इन्द्रियोंके साथ व्यभिचार आता है।

चक्षु आदि इन्द्रियां एवं अदृष्ट आदिक ज्ञानके कारण तो हैं किन्तु ज्ञानद्वारा परिच्छेद्य (जानने योग्य) नहीं है, अतः जो ज्ञानका कारण है वही जानने योग्य है ऐसा कहना व्यभिचरित होता है।

शंकाः—जो ज्ञानका कारण है वह अवश्य ही परिच्छेद्य हो ऐसा नियम नहीं है किन्तु जो भी जाना जाता है वह कारण होकर ही जाना जाता है ऐसा हम बौद्ध अवधारण करते हैं?

समाधानः—इसतरह भी अवधारण नहीं कर सकते क्योंकि ऐसा अवधारण करने पर भी अशेषार्थ ग्राही योगीका ज्ञान एवं व्याप्ति ज्ञान इन ज्ञानोंका अभाव होवेगा, इसीका खुलासा करते हैं—जो पदार्थ नष्ट हो चुके है जो अभी उत्पन्न नहीं हुए हैं, जो समकालीन है ये सब पदार्थ ज्ञानके कारण नहीं है (किन्तु) योगीका

विज्ञानस्य चाजनकार्थग्राहित्वाभावप्रसङ्गः । कथं च कारणत्वाविशेषेपीन्द्रियादेरग्रहणम् ? अयोग्यत्वाच्चेत्; योग्यतैव तर्हि प्रतिकर्मव्यवस्थाकारिणी, अलमन्यकल्पनया । स्वाकारार्पकत्वाभावाच्चेन्न; ज्ञाने स्वाकारार्पकत्वस्याप्यपास्तत्वात् । कथं च कारणत्वाविशेषेपि किञ्चित्स्वाकारार्पकं किञ्चिन्नेति प्रतिनियमो योग्यतां विना सिध्येत् ? कथं च सकलं विज्ञानं सकलार्थकार्यं न स्यात् ? 'प्रतिनियतशक्तित्वाद्भावानाम्' इत्युत्तरं ग्राह्यग्राहकभावेपि समानम् ।

ज्ञान इन सबको जानता अवश्य है अतः जो ज्ञानका कारण है वही उसके द्वारा जाना जाता है ऐसा कहना गलत होता है) केशोण्डुक ज्ञानमें भी पदार्थ कारण नहीं है वह तो पदार्थसे अजन्य है, उस ज्ञानमें जो अजनकार्थ ग्राहीपना देखा जाता है वह भी नहीं रहेगा । जो ज्ञानका कारण है उसको ज्ञान जानता है तो चक्षु आदि इन्द्रियोंको ज्ञान क्यों नहीं जानता इस बात को परवादी को बताना चाहिये ? आप कहो कि इन्द्रियोंमें ज्ञान द्वारा ग्राह्य होनेकी योग्यता नहीं है तो उसी योग्यता को ही क्यों न माना जाय ? फिर तो योग्यता ही प्रतिकर्म व्यवस्था करती है ऐसा स्वीकार करना ही श्रेष्ठ है, व्यर्थकी तदुत्पत्ति आदिकी कल्पना करना बेकार है ।

बौद्ध:—इन्द्रियोंसे ज्ञान उत्पन्न तो अवश्य होता है किन्तु इन्द्रियां अपना आकार ज्ञानमें अर्पित नहीं करती अतः ज्ञान उनको नहीं जानता ।

जैन:—यह कथन ठीक नहीं है, ज्ञानमें वस्तु का आकार आता है इस मतका पहले सयुक्तिक खण्डन कर चुके हैं । आप बौद्ध को कोई पूछे कि इन्द्रिय और पदार्थ समान रूपसे ज्ञानमें कारण होते हुए भी पदार्थ ही अपना आकार ज्ञानमें देता है इन्द्रियां नहीं देती ऐसा क्यों होता है ? इस प्रश्न का उत्तर आप योग्यता कहकर ही देते हैं अर्थात् कारण समान रूपसे है किन्तु पदार्थ ही अपना आकार ज्ञानमें देते हैं इन्द्रियां नहीं देती क्योंकि ऐसी ही उनमे योग्यता है, तथा सभी ज्ञान अविशेषपनेसे सभी पदार्थोंका कार्य क्यों नही होता इत्यादि प्रश्न होने पर आपको यही कहना होगा कि पदार्थोंमें प्रतिनियत शक्ति होती है तब सबके कारण या कार्य नहीं हो सकते, ठीक इसीतरह ज्ञान के विषयमें समझना चाहिये, ज्ञानमें जिस विषय को जाननेकी शक्ति अर्थात् ज्ञानावरणका क्षयोपशम होता है (सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष की अपेक्षा यहां पर जगह जगह क्षयोपशम शब्दका प्रयोग हुआ है) उसी विषय को ज्ञान जानता है, उसी ग्राह्य वस्तुका ज्ञान ग्राहक बनता है ऐसा निर्दोष सिद्धांत स्वीकार करना चाहिये ।

अर्थकारणवाद और आलोककारणवाद के खंडन का सारांश

बौद्ध नैयायिकादि प्रवादी पदार्थ को ज्ञानका कारण मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है, किन्तु यह मान्यता सिद्ध नहीं होती है। कामलादि रोग के कारण केशोण्डुक ज्ञान होता है ऐसा कहे तो जैसे सदोष नेत्र भ्रान्त ज्ञान के हेतु हैं वैसे निर्दोष नेत्र सत्य ज्ञान के हेतु हैं ऐसा मानना चाहिये। अर्थकारणवाद की तरह आलोककारणवाद भी असत् है क्योंकि प्रकाश के अभाव में ज्ञान होता है अंधकार में भी "यह अंधकार है" ऐसा ज्ञान होता है। तथा बिल्ली, उल्लू, सिंह, शेर आदि प्राणियों को बिना प्रकाश के ज्ञान होता है। इस तरह पदार्थ और प्रकाश दोनों भी ज्ञान के हेतु नहीं हैं ऐसा निश्चय होता है। अतः पदार्थ के अभाव में तथा प्रकाश के अभाव में भी ज्ञान होता है ऐसा मानना चाहिये।

२
आवरणविचारः

अथेदानीं मुख्यप्रत्यक्षप्ररूपणस्यावसरप्राप्तत्वात् तदुत्पत्तिकारणस्वरूपप्ररूपणायाह—

सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमऽतीन्द्रियमशेषतो मुख्यम् ॥१२॥

'विशदं प्रत्यक्षम्' इत्यनुवर्त्तते। तथाशेषतो विशदमतीन्द्रियं यद्विज्ञानं तन्मुख्यं प्रत्यक्षम्। किंविशिष्टं तत्? सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणम्। ज्ञानावरणादिप्रतिपक्षभूता हीह सम्यग-

---

अब यहां पर मुख्य प्रत्यक्ष के उत्पत्ति का कारण तथा स्वरूप सूत्र द्वारा प्ररूपित किया जाता है:—

सामग्री विशेष विश्लेषिताखिलावरण—
मतीन्द्रिय मशेषतो मुख्यम् ॥१२॥

सूत्रार्थ:—द्रव्यादि सामग्री विशेष के द्वारा नष्ट हो गये हैं संपूर्ण आवरण जिसके ऐसे अतीन्द्रिय तथा पूर्णज्ञान को मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं।

विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं ऐसा प्रकरण चल रहा है उसमें जो पूर्णरूप से विशद हो तथा अतीन्द्रिय हो वह ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष या पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहलाता है। वह कैसा है? सामग्री विशेष से नष्ट हो गये हैं संपूर्ण आवरण जिसके ऐसा है। यहां पर ज्ञानावरण आदि कर्मों के प्रतिपक्ष स्वरूप जो सम्यग्दर्शन आदिक है वह अंतरंग सामग्री कहलाती है और अनुभव, योग्य देशका लाभ काल, द्रव्य आदि का होना बहिरंग सामग्री है, यह अनेक प्रकार की है, इन दोनों सामग्री का होना सामग्री

दर्शनादिविलक्षणान्तरङ्गा बहिरङ्गानुभवादिविलक्षणा सामग्री गृह्यते, तस्या विशेषोऽविकलत्वम्, तेन विश्लेषितं क्षयोपशमक्षयरूपतया विघटितमखिलमवधिमनःपर्ययकेवलज्ञानसम्बन्ध्यावरणम् अखिलं निश्शेषं वाऽऽवरणं यस्यावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानत्रयस्य तत्तथोक्तम् ।

अत्र च प्रयोगः—यद्यत्र स्पष्टत्वे सत्यवितथं ज्ञानं तत्तत्रापगताखिलावरणम् यथा रजोनीहाराद्यन्तरितवृक्षादौ तदपगमप्रभवं ज्ञानम्, स्पष्टत्वे सत्यवितथं च क्वचिदुक्तप्रकारं ज्ञानमिति । तथाऽतीन्द्रियं तत् । मनोऽक्षानपेक्षत्वात् । तदनपेक्षं तत् सकलकलङ्कविकलत्वात् । तद्विकलत्वं चास्यात्रैव प्रसाधयिष्यते । अत एव चाशेषतो विशदं तत् । यत्तु नातीन्द्रियादिस्वभावं न तत्तदनपेक्षत्वादिविशेषणविशिष्टम् यथास्मदादिप्रत्यक्षम्, तद्विशेषणविशिष्टञ्चेदम्, तस्मात्तथेति । तथा मुख्यं तत्प्रत्यक्षम् अतीन्द्रियत्वात् स्वविषयेऽशेषतो विशदत्वाद्वा, यत्तु नेत्थं तन्नैवम्, यथास्मदादिप्रत्यक्षम्,

---

विशेष है, इस सामग्री विशेष से नष्ट हो गये हैं आवरण जिसके ऐसा यह प्रत्यक्ष है अर्थात् अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान की अपेक्षा क्षयोपशम रूप होना और केवलज्ञान की अपेक्षा क्षय होना ऐसे ज्ञानावरण जिसके हुए उसे मुख्य प्रत्यक्ष कहते हैं, अर्थात् अवधिज्ञानावरण और मनःपर्ययज्ञानावरण का क्षयोपशम होने से अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान होता है और केवलज्ञानावरण का नाश हो जाने से केवलज्ञान होता है ये ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं ।

यहां अनुमान के द्वारा इस प्रत्यक्ष ज्ञान की सिद्धि करते हैं:—

जो ज्ञान जिस विषय में स्पष्ट होकर सत्यरूप से जानता है वह उस विषय में पूर्ण रूप से आवरण रहित होता है, जैसे धूली, कुहरा आदि से ढके हुए वृक्ष आदि पदार्थ हैं । उनका आवरण हटने से जो ज्ञान होता है वह स्पष्ट होकर सत्य कहलाता है, ऐसे ही अवधि ज्ञानादिक स्पष्ट और सत्य है । यह मुख्य प्रत्यक्ष इन्द्रियां और मन की अपेक्षा नहीं रखता है अतः अतीन्द्रिय है, अपने आवरण के हटने से इन ज्ञानों में इन्द्रियादिकी अपेक्षा नहीं रहती कर्म का आवरण नष्ट होता है इस बात को अभी इस अध्याय में सिद्ध करने वाले हैं । आवरण के हट जाने से ही वह ज्ञान पूर्णरूप से विशद हो गया है, जो ज्ञान अतीन्द्रिय आदि गुणविशिष्ट नहीं होता वह पूर्ण विशद या इन्द्रियादि से अनपेक्ष भी नहीं होता, जैसे कि हम जैसे का प्रत्यक्ष ज्ञान (सांव्यावहारिक प्रत्यक्षज्ञान) अवधिज्ञानादि तीनों ज्ञान अतीन्द्रिय आदि विशेषण युक्त होते हैं अतः मुख्य प्रत्यक्ष कहलाते हैं । अनुमान सिद्ध बात है कि अतीन्द्रिय होने से

तथा चेदम्, तस्मान्मुख्यमिति ।

ननु आवरणप्रसिद्धौ तदपगमाज्ज्ञानस्योत्पत्तिर्युक्ता, न च तत्प्रसिद्धम् । तद्धि शरीरम्, रागादयः, देशकालादिकं वा भवेत् ? न तावच्छरीरं रागादयो वा; तद्भावेप्यर्थोपलम्भसम्भवात् । तदुपलम्भप्रतिबन्धकमेव हि काण्डपटादिक लोके प्रसिद्धमावरणम् । ननु मेर्वादेर्दूरदेशता रावणादेस्तत्कालता परमाण्वादेः सूक्ष्मस्वभावता मूलकीलोदकादेश्च भूम्यादिः आवरणं प्रसिद्धमेवेति चेत्तदसारम्; तदभावस्य कर्त्तुमशक्यत्वात् । न खलु सातिशयर्द्धिमतापि योगिना देशाद्यभावो विधातुं शक्यः । न चान्यत् किञ्चिदावरणं प्रतीयते । ततः सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमित्ययुक्तम्;

अथवा अपने विषय में पूर्ण रूप से विशद होने से ये ज्ञान मुख्य प्रत्यक्ष हैं जो अतीन्द्रियादि विशेषण विशिष्ट नहीं है वह मुख्य प्रत्यक्ष नहीं होता जैसे हम लोगों का प्रत्यक्ष है, यह ज्ञान वैसा विशिष्ट है अतः मुख्य प्रत्यक्ष है ।

परवादीः—आप जैन ने आवरण के विषय में बहुत कुछ कहा किन्तु यह सब कथन आवरण नामा कोई पदार्थ होवे तो बने ? तथा उस आवरण का नाश होने से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसा कथन बने ? आवरण किसको कहना चाहिये ? शरीर को, या रागद्वेष आदि को, या देश कालादिको ? शरीर और रागादि को आवरण मानना शक्य नहीं, क्योंकि शरीर आदि के रहते हुए भी पदार्थों का ज्ञान होता है । लोक में तो ज्ञान को रोकने वाले वस्त्र, परदा, दीवाल आदि पदार्थ माने गये हैं ।

हमारे प्रति यहां कोई शंका उपस्थित करे कि मेरु आदि का आवरण तो दूर देशता है अर्थात् दूर देश में होने से मेरु का ज्ञान नहीं होता अतः वह उसका आवरण कहलायेगा ? ऐसे ही रावणादि का आवरण अतीत कालता, परमाणु आदि का सूक्ष्म स्वभावता, तथा वृक्ष की जड़, कील, जल आदि का आवरण पृथ्वी आदिक हैं ये सारे आवरण दुनियां में प्रसिद्ध ही हैं, फिर उनको क्यों नहीं मानते ? सो यह प्रतिशंका बेकार है, भला हम पृथ्वी आदि का क्या अभाव कर सकते हैं ? कोई अतिशय ऋद्धिधारी योगीजन भी देश, काल, स्वभावों का अभाव नहीं कर सकते पृथिवी आदि, या शरीरादि को छोड़कर अन्य कोई ज्ञान का आवरण प्रतीति में नहीं आता है, अतः सूत्रकार माणिक्यनंदी आचार्य ने जो "सामग्री विशेष…………………………………इत्यादि सूत्र लिखा है वह असत् है ?

अत्रोच्यते-न शरीराद्यावरणम् । किं तर्हि ? तद्व्यतिरिक्तं कर्म । तच्चानुमानतः प्रसिद्धम्; तथाहि-स्वपरप्रमेयबोधैकस्वभावस्यात्मनो हीनगर्भस्थानशरीरविषयेषु विशिष्टाऽभिरतिः आत्मतद्व्यतिरिक्तकारणपूर्विका तत्त्वात् कुत्सितनरपुरुषे कमनीयकुलकामिन्यास्तन्त्राद्युपयोगजनितविशिष्टाभिरतिवत् । तथा, भवभृतां मोहोदयः शरीरादिव्यतिरिक्तसम्बन्ध्यन्तरपूर्वको मोहोदयत्वात् मदिराद्युपयोगमत्तस्यात्मगृहादौ मोहोदयवत् ।

ननु चातः कर्ममात्रमेव प्रसिद्धं नावरणम्; ततस्तत्सिद्धावेव प्रमाणमुच्यतां तत्रैव विवादा-

---

जैनः—अब यहां परवादी के अभिप्राय का निरसन किया जाता है, हम जैन शरीरादि को आवरण नहीं मानते हैं, किन्तु शरीर से व्यतिरिक्त कर्म नामक एक पुद्गल है उसे आवरण शब्द से कहा है, वह आवरण रूप कर्म अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है, उसी अनुमान को प्रस्तुत करते हैं—स्व–परको जानने का जिसका स्वभाव है ऐसे इस आत्माके हीन स्थान स्वरूप गर्भ, शरीर, पंचेन्द्रिय के विषयों में प्रीति होती है, यह प्रीति तो आत्मा से पृथक कोई अन्य कारण से होती है, क्योंकि वह विशिष्ट अत्यासक्तिरूप है, जैसे कोई कुत्सित व्यसनी पर पुरुष है उस पर यदि कोई सुन्दर कुलांगना आसक्त होती है तो उसका कारण कोई विशिष्ट मंत्र, या तंत्र वशीकरण, आदिक जरूर है, उसके बिना कुलवान स्त्री पर पुरुष पर आसक्त नहीं हो सकती है ।

जैसे:—इस कुलवान स्त्री के परवश मंत्रादि के कारण से अयोग्य चेष्टा हुई वैसे ही आत्मा की शरीरादि में आसक्ति कर्म के कारण से हुई है । इसी विषय में दूसरा अनुमान प्रयोग है कि संसारी जीवों के मोह का उदय होता है वह शरीरादि से भिन्न अन्य कोई निमित्त से होता है, क्योंकि उसमें मोहोदयपना है, जैसे मदिरा पीने से उन्मत्त हुए पुरुष के अपने गृह आदि में मोहोदय रहता है ।

शंका:—इन अनुमानों से कर्ममात्र की सिद्धि हुई न कि आवरण की, आवरण सिद्ध करने के लिये ही प्रमाण दीजिये, क्योंकि आवरण के अस्तित्व में ही विवाद है ?

समाधानः—अच्छा तो सुनिये ! संसारी जीवों का ज्ञान संपूर्ण स्वविषय में आवरण सहित दिखायी देता है, क्योंकि यह ज्ञान अपने विषय में प्रवृत्ति नहीं कर पाता है, जो ज्ञान स्वविषय में अप्रवृत्तिरूप है वह सावरण होता है, जैसे पीलिया

दिति चेदुच्यते यज्ज्ञानं स्वविषयेऽप्रवृत्तिमत् तत्सावरणम् यथा कामलिनो लोचनविज्ञानमेकचन्द्रमसि, स्वविषये प्रशेषार्थलक्षणेऽप्रवृत्तिमच्च ज्ञानमिति ।

ननु विज्ञानस्याशेषविषयत्वं कुतः सिद्धम् ? आवरणापाये तत्प्रकाशकत्वाच्चेदन्योन्याश्रयः- सिद्धे हि सकलविषयत्वे तस्य आवरणापाये तत्प्रकाशनं सिद्ध्यति, अतश्च सकलविषयत्वमिति; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; यतोनुमानमिच्छता भवताप्यवश्यं सकलावरणवैकल्यात्प्रागेव सकलस्य प्राणिमात्रस्याशेषविषयं व्याप्त्यादिविज्ञानमभ्युपगतमेव । तथा, यत्स्वविषयेऽस्पष्टं ज्ञानं तत्सावरणम्

रोगी का नेत्र से होने वाला ज्ञान अपने संपूर्ण विषयों में प्रवृत्त नहीं हो पाता है इसीलिये सावरण है ।

शंका:—ज्ञान संपूर्ण विषयों को जानता है यह किस प्रमाण से सिद्ध होता है ? यदि कहो कि आवरण के नष्ट होने पर उन सब पदार्थों का प्रकाशक हो जाता है अतः ज्ञान की अशेषज्ञता सिद्ध होती है, सो ऐसा तो अन्योन्याश्रय दोष आवेगा, ज्ञान में संपूर्ण विषयपना सिद्ध होने पर उसके आवरण के अपाय में सफल विषयका ग्राहकत्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर संपूर्ण विषयपना सिद्ध होगा ऐसे दोनों ही असिद्ध की कोटी में रह जाते हैं ?

समाधान:—यह बिना सोचे कहा गया है, आप अनुमान प्रमाण को मानने वाले हैं संपूर्ण आवरण का अभाव होने के पहले भी प्राणिमात्र को अशेष विषय वाले व्याप्ति ज्ञान आदिक हुआ करते हैं, किंतु वे सावरण अस्पष्ट हैं इस बात को अनुमान से सिद्ध कर सकते हैं जो ज्ञान अपने विषय में अस्पष्ट होता है वह सावरण होता है, जैसे रज, हिम आदि से आच्छादित वृक्ष आदि पदार्थ होते हैं उनका हमें अस्पष्ट ही ज्ञान होता है, हम जैसे अल्पज्ञों का सभी श्रुतादिज्ञान अस्पष्ट है । इससे ज्ञान की सावरणता सिद्ध होती है । विपरीत बुद्धिवाले मिथ्यादृष्टियों को जो ज्ञान होता है, वह सावरण होता है, उनका ज्ञान संपूर्ण वस्तुओं में अनेकान्तपना होते हुए भी एकान्तपने का निश्चय कराता है, क्योंकि मिथ्या स्वरूप है, इसीलिये वह ज्ञान सावरण सिद्ध होता है, जैसे धतूरा या अन्य मादक पदार्थ के पीने से पुरुष को मिट्टी के ढेले में भी सुवर्ण की झलक होने लगती है । इन सब अनुमान प्रमाणों से यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञान का आच्छादक या आवरण करने वाला कोई पदार्थ है । वह आवरण तो पौद्गलिक कर्म है, अन्य कोई पदार्थ नहीं है ।

यथा रजोनीहाराद्यन्तरिततरुनिकराविज्ञानम्, अस्पष्टं च 'सर्वं मदनेकान्तात्मकम्' इत्यादि व्याप्तिज्ञानम्। मिथ्यादृशां सर्वत्रानेकान्तात्मके भावे विपरीतज्ञानं सावरणं मिथ्याज्ञानत्वात् धत्तूरकाद्युपयोगिनो मृच्छकले काञ्चनज्ञानवदिति। अतः सिद्धमावरणं पौद्गलिकं कर्मेति।

ननु चाविद्यैवावरणं न पौद्गलिकं कर्म, मूर्त्तेनानेनामूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरणायोगात्, अन्यथा शरीरादेरप्याव (वा) रकत्वानुषङ्गात्; इत्यप्यसमीचीनम्; मदिरादिना मूर्त्तेनाप्यमूर्त्तस्य ज्ञानादेरावरणदर्शनात्। अमूर्त्तस्य चाव (वा) रकत्वे गगनादेर्ज्ञानान्तरस्य च तत्प्रसङ्गः। तदविरुद्धत्वात्तस्य तन्नेति चेत्; तर्हि शरीरादेरप्यत एव तन्मा भूत्तद्विरुद्धस्यैवावरकत्वप्रसिद्धेः। प्रवाहेण प्रवर्त्तमानस्य ज्ञानादेरविद्योदये निरोधात्तस्यास्तद्विरोधगतौ मदिरादिवत्पौद्गलिक कर्मणोपि सास्तु

भावार्थः—परवादी ने पहले ज्ञान के आवरण का अभाव सिद्ध करना चाहा, जब उसका अभाव नहीं हो सका तब वह आवरण नामा पदार्थ किस रूप है यह प्रश्न हुआ, जैनाचार्य ने समझाया कि वह आवरण तो कर्म है जो कि आत्म स्वभाव से भिन्न है, आत्मा से पृथक ऐसे हीन शरीरादि में मोह पैदा करता है इत्यादि।

शंकाः—आवरण को अविद्या रूप मानना चाहिये, पुद्गल रूप नहीं, क्योंकि पुद्गल मूर्तिक पदार्थ है उससे अमूर्तिक आत्माके ज्ञानादि गुणों का आवरण होना शक्य नहीं है यदि मूर्तिक पदार्थ अमूर्तिक ज्ञानादि पर आवरण कर सकता है तो शरीरादि भी आवरण करने वाले बन जायेंगे।

समाधानः—यह शंका गलत है, मदिरा आदि मूर्तिक पदार्थ के द्वारा अमूर्तिक ज्ञान आदि का आवरण देखा जाता है, यदि आवरण को अमूर्तिक मानते हैं तो आकाश आदिक अमूर्तिक द्रव्य तथा अन्य ज्ञानादिक हैं उनसे भी ज्ञान पर आवरण आने लगेगा? यदि कहा जाय कि आकाश या ज्ञानादिक ज्ञान के साथ अविरुद्धता रखने वाले पदार्थ हैं, अतः इनसे ज्ञान का आवरण नहीं हो सकता? सो शरीरादिक भी अविरुद्ध स्वभाव वाले होने से ज्ञान के आवारक मत होवें? जो ज्ञान के विरुद्ध है वही आवरण बन सकता है। यदि प्रवाह रूप से चले आये ज्ञान को अविद्या रोक देती है, अविद्या ज्ञान का विरोधक है, ऐसा मानते हैं तो मदिरा के समान इस पौद्गलिक कर्म को ही अविद्यापना होवे? कोई विशेषता नहीं। कर्म भी आत्मा या ज्ञानादि का विरोधी ही है। पुनश्च अनुमान से आवरण को कर्म

विशेषाभावात् । तथाहि—आत्मनो मिथ्याज्ञानादिः पुद्गलविशेषसम्बन्धनिबन्धनः तत्स्वरूपान्यथाभावस्वभावत्वात् उन्मत्तकादिजनितोन्मादादिवत् । न च मिथ्या ज्ञानजनितापरमिथ्याज्ञानेनानेकान्तः; तस्यापरापरपौद्गलिककर्मोदये सत्येव भावात् अपरापरोन्मत्तकादिरससद्भावे तत्कृतोन्मादादिसन्तानवत् ।

ननु चात्मगुणत्वात्कर्मणां कथं पौद्गलिकत्वमित्यन्ये; तेप्यपरीक्षकाः; तेषामात्मगुणत्वे तत्पारतन्त्र्यनिमित्तत्वविरोधात् सर्वदात्मनो बन्धानुपपत्तेः सदैव मुक्तिप्रसङ्गात् । न खलु यो यस्य गुणः स तस्य पारतन्त्र्यनिमित्तम् यथा पृथिव्यादे रूपादिः, आत्मगुणश्च धर्माधर्मसंज्ञकं कर्म परैरभ्युपगम्यते इति न तदात्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तं स्यात् । न चैवम्, आत्मनः परतन्त्रतया प्रमाणतः

रूप सिद्ध करते हैं आत्मा में जो मिथ्याज्ञानादि विकार है वह पुद्गल विशेष के संबंध के कारण ही है, क्योंकि ये मिथ्याज्ञानादिक आत्म स्वरूप से भिन्न स्वभाव वाले हैं, जैसे आत्मा से भिन्न उन्मत्तक पदार्थ से आत्मा में उन्मत्तता आती है । इस "तत्स्वरूपअन्यथाभावस्वभावत्व" हेतु का मिथ्याज्ञान से उत्पन्न हुए दूसरे मिथ्याज्ञान के साथ अनेकांत भी नहीं होता, अर्थात् अन्य मिथ्याज्ञान से यह हेतु व्यभिचरित नहीं होता, वह अपर मिथ्याज्ञान भी अपर अपर पौद्गलिक कर्म के उदय से होता है, जैसे उन्मत्त करने वाले अन्य अन्य मदिरा आदि रस के निमित्त से अन्य अन्य उन्माद की दशा होती है, उसकी परंपरा चलती रहती है ।

शंकाः—कर्म को आत्मा का गुण मानते हैं अतः उसको पौद्गलिक कैसे कह सकते हैं ?

समाधानः—यह कथन असत् है कर्म को आत्मा का गुण मानेंगे तो वह आत्मा के परतंत्रता का कारण बन नहीं सकता और इस तरह आत्मा के कभी भी बंधन नहीं होवेगा वह तो सदा मुक्त ही रहेगा । आप यौग जिस धर्म अधर्म संज्ञक अदृष्ट को कर्म कहते हैं वह परतंत्रता का कारण नही हो सकता, क्योंकि उसे आत्मा का गुण मान लिया है । जो जिसका गुण होता है वह उसी के परतंत्रता का कारण नहीं हो सकता जैसे पृथ्वी आदि के रूपादि गुण उसी पृथ्वी के विरोधक नहीं होते । आप धर्म अधर्म संज्ञक अदृष्ट कर्म को आत्मा के गुण बता रहे अतः वह आत्मा के परतंत्रता का निमित्त नहीं हो सकता । आत्मा परतंत्र नहीं सो भी बात नहीं है

प्रतीतेः । तथाहि-परतन्त्रोऽसौ हीनस्थानपरिग्रहवत्त्वात् मद्योद्रेकपरतन्त्राशुचिस्थानपरिग्रहवद्विशिष्ट पुरुषवत् । हीनस्थानं हि शरीरम्, आत्मनो दुःखहेतुत्वात्कारागारवत् । तत्परिग्रहवांश्च संसारी प्रसिद्ध एव । न च देवशरीरे तदभावात्पक्षाव्याप्तिः; तस्यापि मरणे दुःखहेतुत्वप्रसिद्धेः । यत्परतन्त्रश्चासौ तत्कर्म इति सिद्धं तस्य पौद्गलिकत्वम् । तथा हि-पौद्गलिकं कर्म आत्मनः पारतन्त्र्यनिमित्तत्वान्निगलादिवत् । न च क्रोधादिभिर्व्यभिचारः; तेषां जीवपरिणामानां पारतन्त्र्यस्वभावत्वात्, क्रोधादिपरिणामो हि जीवस्य पारतन्त्र्यं न पुनः पारतन्त्र्यनिमित्तम् ।

सत्यम् ; नात्मगुणोऽदृष्टं प्रधानपरिणामत्वात्तस्य "प्रधानपरिणामः शुक्लं कृष्णं च कर्म" [ ] इत्यभिधानात् ; इत्यपि मनोरथमात्रम्; प्रधानस्या-

---

उसकी परतंत्रता तो प्रमाण से सिद्ध है यह संसारी आत्मा परतंत्र है, क्योंकि इसने हीन-स्थान को ग्रहण किया है, जैसे कि मद्य के उद्रेक के आधीन हुआ पुरुष अशुचि स्थान को ग्रहण करता है, वहीं पड़ा रहता है । यहां हीन स्थान तो शरीर है, क्योंकि यह आत्मा को दुःख देता है, जैसे काराग्रह देता है । संसारी जीव उस शरीर रूपी परिग्रह को धार रहे, प्रसिद्ध ही है । देव के शरीर में दुःख हेतु का अभाव होने से हेतु अव्यापक हुआ ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि देवों को भी मरण के समय शरीर दुःख का कारण हो जाता है, आत्मा के पारतंत्र्य का जो हेतु है वह कर्म ही है, इस तरह कर्म का पौद्गलिकपना सिद्ध होता है । और भी अनुमान सुनिये ! कर्म पौद्गलिक है क्योंकि वह आत्मा के परतंत्रता का निमित्त है, जैसे बेडी आदि परतंत्रता के निमित्त होते हैं । यह परतंत्रता का निमित्त रूप हेतु क्रोधादि के साथ व्यभिचरित भी नहीं होता, क्योंकि वे भी पारतत्र्य स्वभाव वाले हैं, क्रोधादिक परिणाम स्वय पारतन्त्र्य स्वरूप है न कि पारतत्र्य का कारण है । इस प्रकार यहां तक नैयायिकादि ने कर्म को आत्मा का गुण मानकर शका की थी उसका खण्डन किया है ।

सांख्यः—यह बात तो सत्य है कि अदृष्ट या कर्म आत्मा का गुण नहीं है, वह तो जड़ प्रधान का परिणमन है । प्रधान परिणाम के दो भेद हैं एक शुक्ल और एक कृष्ण ।

जैनः—यह कथन मन के मनोरथ रूप है, प्रधान ही नहीं तो उसका परिणाम क्या होगा ? कुछ भी नहीं । प्रधान का निरसन अभी इसी अध्याय में

सत्त्वेन तत्परिणामत्वस्य क्वचिदप्यसम्भवात् । तदसत्त्वं चात्रैवानन्तरं वक्ष्यामः । तत्परिणामत्वेपि वा तस्यात्मपारतन्त्र्यनिमित्तत्वाभावे कर्मत्वायोगात्, अन्यथाति प्रसङ्गः । प्रधानपारतन्त्र्यनिमित्तत्वात्तस्य कर्मत्वमिति चेन्न; प्रधानस्य तेन बन्धोपगमे मोक्षोपगमे चात्मकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात् । बन्धमोक्षफलानुभवनस्यात्मनि प्रतिष्ठानान्न तत्कल्पनावैयर्थ्यमित्यसत्; प्रधानस्य तत्कर्तृत्ववत् तत्फलानुभोक्तृत्वस्यापि प्रमाणसामर्थ्यप्राप्तत्वात्, अन्यथा कृतनाशाकृताभ्यागमदोषानुषङ्गः । अथात्मनश्चेतनत्वात्तत्फलानुभवनं न तु प्रधानस्याऽचेतनत्वात् ; तदप्ययुक्तम् ; मुक्तात्मनोपि तत्फला-

---

करने वाले हैं सांख्य अदृष्ट को प्रधान रूप मान भी लेवे किन्तु उससे आत्मा के परतन्त्रता होना नहीं मानते हैं तो उसमें कर्मत्व सिद्ध नहीं होगा । अन्यथा अति-प्रसंग आता है ।

भावार्थः— सांख्य आत्मा को सर्वथा अकर्ता निर्विकार मानते हैं, प्रधान के दो परिणामों का कृष्ण शुक्ल का संसर्ग सूक्ष्म प्रधान से होता है उसी का सारा विकार है, आत्मा सदा एकसा है ऐसा कहते हैं सो यहां आचार्य ने कहा कि प्रधान को कर्म मान भी लेवे किन्तु उससे आत्मा में पारतन्त्र्य नहीं आता तो कर्मत्व ही काहे का ? जो आत्मा में विकार नहीं लाता उसको भी कर्म मानेंगे तो घट आदि पदार्थ को भी कर्मत्व संज्ञा हो जायगी ।

सांख्यः—कृष्ण शुक्ल रूप प्रधान तत्त्व का जो परिणमन है वह पारतन्त्र्य का कारण तो है किन्तु प्रधान के ही पारतन्त्र्य का कारण है, आत्मा के नहीं ?

जैनः—यह कथन अयुक्त है, प्रधान परिणाम से प्रधान ही बंधता है और प्रधान ही छूटता है मतलब बंध मोक्ष प्रधान के ही होते हैं, ऐसा मानेंगे तो आत्म तत्व का ही अभाव हो जायगा ।

सांख्यः—आत्मा का अभाव नहीं होगा, क्योंकि आत्मा बंध मोक्ष के फल का अनुभव करता है ?

जैनः—यह बात गलत है, प्रधान को ही उसका फल भोगना चाहिये, जैसे प्रधान बंध मोक्ष को करता है, उसी प्रकार से उसके फल को भी भोग लेगा, यह तो तर्क सिद्ध बात है, जो करता है वही भोगता है, अन्यथा कृतनाश और अकृत अभ्यागम नाम का दोष आता है, जिसने किया उसको कुछ हुआ नहीं और दूसरे को उसका फल भोगना पड़ा सो यह बात बिल्कुल अयुक्त है ।

नुभवनानुषङ्गात् । तस्य प्रधानसंसर्गाभावान्न तत्फलानुभवनमिति चेत् ; तर्हि संसारिणः प्रधानसंसर्गाद्बन्धफलानुभवनम् । तथा चात्मन एव बन्धः सिद्धः, तत्संसर्गस्य बन्धफलानुभवननिमित्तस्य बन्धरूपत्वात्, बन्धस्यैव 'संसर्गः' इति पुद्गलस्य च 'प्रधानम्' इति नामान्तरकरणात् ।

ननु प्रसिद्धस्यापि यथोक्तप्रकारस्य कर्मणः कार्यकारणप्रवाहेण प्रवर्त्तमानस्यानादित्वाद्विनाशहेतुभूतसामग्रीविशेषस्य चाभावात्कथं तेन विश्लेषिताखिलावरणत्वं ज्ञानस्य; इत्यप्यपेशलम् ; सम्यग्दर्शनादित्रयलक्षणस्य तद्विनाशहेतुभूतसामग्रीविशेषस्य सुप्रतीतत्वात् । सञ्चितं हि कर्म निर्जरातश्चारित्रविशेषरूपायाः प्रलीयते । सा च निर्जरा द्विविधा–उपक्रमेतरभेदात् । तत्रौपक्रमिकी तपसा द्वादशविधेन साध्या । अनुपक्रमा तु यथाकालं संसारिणः स्यात् ।

सांख्यः—आत्मा चेतन है अतः वह फलानुभव कर सकता है, प्रधान भोक्ता कैसे बने ? वह तो जड है ?

जैनः–यह बात भी गलत है, इस तरह से तो मुक्तात्मा के भी भोक्तृत्व का प्रसंग आयेगा ?

सांख्यः–मुक्तात्मा में प्रधान का संसर्ग नहीं रहता अतः फलानुभव नहीं करता ?

जैनः—ऐसी बात है तो संसारी जीवों के प्रधान का संसर्ग होता है और बंध के फल का अनुभव भी वे करते हैं यह निश्चय हुआ ? फिर आत्मा के बंधन सिद्ध होता है, प्रधान का संसर्ग बंध तथा फलानुभव का निमित्त होता है, ऐसा कहने से तो बंधन की सिद्धि होती है, आपने सिर्फ उस बंध का "संसर्ग" यह नाम धर दिया है और पुद्गल का प्रधान नाम धरा है, और कुछ भिन्नता की बात नहीं है ।

इति कर्मणां पौद्गलिकत्वं सिद्धम्

कर्म नामा पदार्थ पौद्गलिक है वह सिद्ध होने पर कोई शंका करता है कि–कर्म भले ही पौद्गलिक हो किन्तु वे कार्य कारण भाव से अनादि काल से ही प्रवाहित हो रहे हैं, उनका नाश होना असंभव है, अतः द्रव्यादि सामग्री विशेष से ज्ञान का कर्मरूप आवरण नष्ट होता है ऐसा कहना असिद्ध है ?

समाधानः–यह कथन असुन्दर है कर्मों के नष्ट करने का हेतु सम्यग्दर्शन,

कुतः पुनः साकल्येन पूर्वोपात्तकर्मणां निर्जरा निश्चीयते इति चेदनुमानात्; तथाहि–साकल्येन क्वचिदात्मनि कर्माणि निर्जीर्यन्ते विपाकान्तत्वात्, यानि तु न निर्जीर्यन्ते न तानि विपाकान्तानि यथा कालादीनि, विपाकान्तानि च कर्माणि, तस्मात्साकल्येन क्वचिन्निर्जीर्यन्ते। न चेदमसिद्धं साधनम्; तथाहि–विपाकान्तानि कर्माणि फलावसानत्वाद्व्रीह्यादिवत्। न चेदमप्यसिद्धम्; तेषां नित्यत्वानुषङ्गात् न च नित्यानि कर्माणि नित्यं तत्फलानुभवनप्रसङ्गात्।

भावि पुनः कर्म संवरान्निरुध्येत–"अपूर्वकर्मणामास्रवनिरोधः संवरः" [तत्त्वार्थ सू० ९।१]

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूप सुप्रसिद्ध ही है, यही कर्मों को नष्ट करने की सामग्री है। पुराना संचित कर्म चारित्र विशेष रूप निर्जरा से समाप्त होता है, वह निर्जरा दो प्रकार की हैं, उपक्रम निर्जरा और अनुपक्रम निर्जरा। उपक्रम या औपक्रमिक निर्जरा अनशन आदि बारह प्रकार की तपश्चर्या से होती है, तथा अनुपक्रम निर्जरा यथा समय कर्म का उदय आकर झड़ने रूप है वह सभी संसारी जीवों के होती है।

शंका:—पुराकृत कर्मों की पूर्ण रूपेण निर्जरा होती है यह किस प्रमाण से सिद्ध होगा?

समाधान:—अनुमान प्रमाण से सिद्ध होवेगा, यहां उसी पंचावयव रूप अनुमान को उपस्थित करते हैं किसी विशेष आत्मा में संपूर्ण रूप से कर्मों का नाश होता है, क्योंकि वे कर्म फलदान तक ही रहने वाले हैं, जो निर्जीव नहीं होते, वे फलदान तक ही नहीं रहते, जैसे काल आदि द्रव्य, कर्म अवश्य ही फलदान तक रहते हैं, अतः किसी आत्मा में संपूर्ण नष्ट होते हैं। इस अनुमान का विपाकान्तत्व–फल देने तक रहना रूप हेतु असिद्ध नहीं है, इसी को कहते हैं–कर्म फलदान तक ही ठहरने वाले हैं क्योंकि उसके बाद नष्ट होते हुये दिखाई देते हैं, जैसे चांवल गेहूँ आदि अनाज हैं, इस अनुमान का फलावसानत्व हेतु भी असिद्ध नहीं। यदि इसको असिद्ध मानेंगे तो कर्म को नित्य मानना पड़ेगा, किन्तु कर्म नित्य नहीं है, यदि होते तो हमेशा ही उनका फल भोगना पड़ता।

आगे आने वाले कर्मों का अभाव तो संवर करता है, नये कर्मों को रोकना संवर कहलाता है, ऐसा तत्वार्थ सूत्र में प्रतिपादन किया है। नया कर्म जिन कारणों से आता है उसको आस्रव कहते हैं उसके पांच भेद हैं, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनके निमित्त से आत्मा में नये कर्म आते रहते हैं। आस्रव को

इत्यभिधानात् । आस्रवो हि मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगविकल्पात्पञ्चविधः, तस्मिन्सति कर्मणामास्रवणात् । स च संवरो गुप्ति समितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रैर्विधीयते इत्यागमे विस्तरतः प्ररूपितं द्रष्टव्यम् । निर्जरासंवरयोश्च सम्यग्दर्शनाद्यात्मकत्वात्तत्प्रकर्षे कर्मणां सन्तानरूपतयाऽनादित्वेपि प्रक्षयः प्रसिध्यत्येव । न ह्यनादिसन्ततिरपि शीतस्पर्शो विपक्षस्योष्णस्पर्शस्य प्रकर्षे निर्मूलतलं प्रलयमुपव्रजन्नोपलब्धः, कार्यकारणरूपतया बोजांकुरसन्तानो वाऽनादिः प्रतिपक्षभूतदहनेन निर्दग्धबीजो निर्दग्धाङ्कुरो वा न प्रतीयते इति वक्तुं शक्यम् ।

रोकने वाला जो संवर है उसके गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय, और चारित्र इस प्रकार भेद हैं तथा और भी प्रभेद आगम में विस्तार से कहे हैं, इन सबका स्वरूप वहीं देखना चाहिये ।

भावार्थः—भली प्रकार से मन, वचन, काय को वश करना गुप्ति है, उसके मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति ऐसे तीन भेद हैं । गमन आदि क्रियाओं को जीवों की रक्षा करते हुए करना समिति है, इसके पांच भेद हैं, ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति, उत्सर्ग समिति । धर्म–जो जीवों को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में पहुँचा देता है उसे धर्म कहते हैं, उसके दश भेद हैं उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य । वैराग्य बढ़ाने के लिये जिनका बार बार चिंतवन किया जाता है वे अनुप्रेक्षा कहलाती हैं, उनके बारह भेद आगम में कहे हैं, अनित्य अनुप्रेक्षा, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म । मोक्षमार्ग में अडिग रहने के लिये बिना व्याकुल हुए जो कष्ट सहते हैं उसे परीषहजय कहते हैं । उसके बावीस भेद हैं, क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नग्न, अरति, स्त्री, चर्या, शय्या, निषद्या, आक्रोश, वध, याचना, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान, अलाभ और अदर्शन । जिन क्रियाओं से कर्म आता है ऐसी क्रियाओं से ज्ञानी विरक्त होते हैं उस ज्ञानी के आचरण को चारित्र कहते हैं, उसके पांच भेद हैं, सामायिक चारित्र, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात चारित्र । इन सबका पृथक् पृथक् लक्षण भी सिद्धांत ग्रन्थों में पाया जाता है, उनको वहीं से देखना चाहिये । ये गुप्ति आदिक तथा पूर्वकथित सम्यग्दर्शनादिक संवर निर्जरा के कारण हैं सम्यग्दर्शन के बिना गुप्ति आदिक वास्तविक नहीं कहलाते न उनसे संवरादि ही होते हैं ।

ननु तत्प्रकर्षमात्रात्कर्मप्रक्षयमात्रमेव सिध्येन्न पुनः साकल्येन तत्प्रक्षयः, सम्यग्दर्शनादेः परमप्रकर्षसम्भवाभावात्; इत्यप्यसङ्गतम्; तत्प्रकर्षस्य क्वचिदात्मनि प्रसिद्धेः। तथाहि—यस्य तारतम्यप्रकर्षस्तस्य क्वचित्परमप्रकर्षः यथोष्णस्पर्शस्य, तारतम्यप्रकर्षश्चासंयतसम्यग्दृष्टयादौ सम्यग्दर्शनादेरिति। न च दुःखप्रकर्षेण व्यभिचारः; सप्तमनरकभूमौ नारकाणां तत्परमप्रकर्षप्रसिद्धेः सर्वार्थसिद्धौ देवानां सांसारिकसुखपरमप्रकर्षवत्, मिथ्यादृष्टिष्वनन्तानुबन्धिक्रोधादिपरमप्रकर्षवद्वा। नापि ज्ञानहा-

---

जब इन सम्यग्दर्शनादिक गुणों का आत्मा में विकास होता है तब अनादि काल का प्रवाहरूप से चला आया कर्म संतान भी नष्ट होता है। जैसे जलादि का शील स्पर्श अनादि संतान से चला आता है। किंतु उसके प्रतिपक्षी उष्ण स्पर्श के अत्यंत प्रकर्ष होने पर वह समूल नष्ट होता है। दूसरा उदाहरण बीज और अंकुर में अनादि से कार्य कारण भाव चलता है, किन्तु वह भी प्रतिपक्षी अग्नि के द्वारा नष्ट होता है बीज या अंकुर जल जाने पर निरवशेष खतम होता है, यह सब प्रतोति सिद्ध उदाहरण है, इनमें इन्कार नहीं कर सकते।

शंका:—ठीक है, किंतु इन अनुमानों से सम्यक्त्व आदि के प्रकर्ष से कर्म का सामान्यतः क्षय होना तो सिद्ध होवेगा, किंतु पूर्णरूप से क्षय होना सिद्ध नहीं होता। क्योंकि सम्यक्त्व आदि का परम प्रकर्ष होना ही असंभव है ?

समाधान:—यह कथन असंगत है, रत्नत्रय का परम प्रकर्ष किसी किसी आत्मा में होता ही है, इसो बात को सिद्ध करते हैं—जिस वस्तु का तरतम रूप से प्रकर्ष होता है उसका किसी में तो अवश्य ही परम प्रकर्ष होवेगा, जैसे उष्ण स्पर्श में तरतमता और प्रकर्ष दिखाई देता है। असंयतनामा चतुर्थ गुणस्थान वाले सम्यग्दृष्टि जीव को आदि लेकर अग्रिम गुणस्थानों में सम्यक्त्व आदि का प्रकर्ष बढ़ता हुआ पाया जाता है। कोई शंका करे कि इस कथनका दुःख के साथ व्यभिचार आता है ? तो इसको आचार्य समझाते हैं कि दुःख का परम प्रकर्ष सप्तम नरक में नारकी जीवों के है, जैसे सांसारिक सुखों का परम प्रकर्ष सर्वार्थसिद्धि वाले देवों के है अथवा अनंतानुबंधी क्रोधादि का प्रकर्ष मिथ्यादृष्टि में रहता है। इन सब हेतुओं का ज्ञान की हानिरूप प्रकर्ष के साथ व्यभिचार नहीं आता है, अर्थात् जो घटता बढ़ता है वह पूर्ण नष्ट भी होता है ऐसा एकांत कहेंगे तो ज्ञान हानि के साथ हेतु व्यभिचरित है, क्योंकि ज्ञान की परम हानि तो होती ही नहीं ? ऐसा कोई अल्पज्ञ कहे तो ठीक नहीं, ज्ञान की बात

निप्रकर्षेणानेकान्तः; तस्यापि क्षायोपशमिकस्य हीयमानतया प्रकृष्यमाणस्य केवलिनि परमापकर्षप्रसिद्धेः। क्षायिकस्य तु हानेवासम्भवात्कुतस्तत्प्रकर्षो यतोऽनेकान्तः।

इत्थं वा साकल्येन कर्मप्रक्षये प्रयोगः कर्तव्यः-'यस्यातिशये यद्धान्यतिशयस्तस्यात्यन्तातिशयेऽन्यस्यात्यन्तहानिः यथाग्नेरत्यन्तातिशये शीतस्य, अस्ति च सम्यग्दर्शनादेरत्यन्तातिशयः क्वचिदात्मनि' इति। यद्वा, आवरणहानिः क्वचित्पुरुषविशेषे परमप्रकर्षप्राप्ता प्रकृष्यमाणत्वात् परिमाणवत्। न चात्रासिद्धं साधनम्; तथाहि-प्रकृष्यमाणावरणहानिः आवरणहानित्वात् माणिक्याद्यावरणहानिवत्। तद्धानिपरमप्रकर्षे च ज्ञानस्य परमः प्रकर्षः सिद्धः। यद्धि प्रकाशात्मकं तत्स्वावरणहानिप्रकर्षे प्रकृष्यमाणं दृष्टम् यथा नयनप्रदीपादि, प्रकाशात्मकं च ज्ञानमिति। तदेवमावरणप्रसिद्धिवत्तदभावोप्यनवयवेन प्रमाणतः प्रसिद्धः। तत्प्रभवमेव चाशेषार्थगोचरं ज्ञानमभ्युपगन्तव्यम्,

---

ऐसी है कि वह यदि क्षयोपशम रूप है तब तो हानि का प्रकर्ष केवली के होता है, क्योंकि केवली में क्षयोपशम रूप ज्ञान नहीं है, क्षायिक ज्ञान में हानि नहीं है तो परम प्रकर्ष कहाँ से होगा ? जिससे कि हेतु को अनेकान्तिक कह सकते हैं ? कर्म का संपूर्ण क्षय होता है, इसका समर्थक और भी अनुमान है-जिसके अतिशय में जिसका हानि का अतिशय होता है, उस अतिशय के अत्यंत बढ़ जाने पर उस अन्य की अत्यंत हानि होती है। जैसे अग्नि के अत्यंत अतिशय में शीत की अत्यंत हानि होती है। किसी आत्मा में सम्यक्त्व आदि का अत्यंत अतिशय होता ही है। इस अनुमान से कर्म का पूर्ण क्षय होना सिद्ध होता है। तथा किसी पुरुष विशेष में आवरण की हानि चरम सीमा को प्राप्त होती है, क्योंकि वह प्रकृष्यमान है, जैसे परिमाण या माप प्रकृष्यमान होता है। यह प्रकृष्यमानत्वात् हेतु असिद्ध नहीं है, उसी को बताते हैं आवरण की हानि प्रकृष्यमान है क्योंकि वह आवरण की हानि है आवरण के हानि का परम प्रकर्ष सिद्ध है अतः ज्ञान का परम प्रकर्ष भी सिद्ध होता है।

जो प्रकाशक होता है वह उसके आवरण हानि के बढ़ने पर बढ़ता ही है, जैसे दीपक या नेत्र संबंधी आवरण हानि है। ज्ञान भी दीपकादि की तरह प्रकाश शील है। इन उपर्युक्त अनुमान प्रमाणों से कर्म का आवरण और अत्यंत अभाव भले प्रकार से सिद्ध होता है। इस आवरण के अत्यंताभाव से संपूर्ण त्रिकाल, त्रिकाल गोचर अशेष पदार्थों का ज्ञान होता है, ऐसा सिद्ध हुआ। ज्ञान में थोड़ा भी आवरण रहेगा तो वह अखिल वस्तुओं को जान नहीं सकता, जिस विषय में ही आवरण रहेगा उसी में इस ज्ञान की रुकावट हो जावेगी।

लेशतोप्यावरणसद्भावे तस्याशेषार्थगोचरत्वासम्भवात्, यत्रैवावरणसद्भावस्तत्रैवास्य प्रतिबन्धसम्भवात्।

आगमद्वारेणाशेषार्थगोचरं ज्ञानम्; इत्यप्यसुन्दरम्; विशदज्ञानस्य प्रस्तुतत्वात्। न चागमज्ञानं विशदम्। न चागमोप्यशेषार्थगोचरः; अर्थपर्यायेषु तस्याप्रवृत्तेः। ते चार्थस्य प्रतिक्षणम् 'अर्थक्रियाकारित्वात्सत्त्वाद्वा सन्ति' इत्यवसीयन्ते। अन्यथास्याऽवस्तुत्वप्रसङ्गः। करणजन्यत्वे चाशेषज्ञानस्यातोन्द्रियार्थेषु प्रतिबन्धः प्रसिद्ध एव, इन्द्रियाणां रूपादिमत्यव्यवहितेऽनेकावयवप्रचयात्मकेऽथ प्रवृत्तिप्रतीतेः।

शंका:—आत्मा के आवरण के नाश से ही अखिल पदार्थों का ज्ञान होता है सो बात नहीं? आगम से भी वैसा ज्ञान हो सकता है?

समाधान:—यह कथन असत् है, यहां प्रकरण तो विशद ज्ञान का है, आगम ज्ञान विशद नहीं होता, न आगम के द्वारा संपूर्ण वस्तुओं का ज्ञान ही होता है, क्योंकि आगम ज्ञान से अगुरुलघु की षट् हानि वृद्धि रूप अर्थपर्यायें नहीं जानी जाती हैं। अर्थ पर्याय पदार्थों में होती हैं, इस बात का निर्णय निम्न कथित अनुमान से हो जाता है—पदार्थ प्रतिक्षण परिणमन शील है। क्योंकि उनमें अर्थक्रिया होती है। तथा वे पदार्थ सत्ता स्वरूप भी हैं। यदि वस्तु में प्रतिक्षण अर्थक्रिया नहीं होवेगी तो वह वस्तु अवस्तु—अभाव रूप हो जावेगी। कोई मूर्खशिरोमणि यदि चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा संपूर्ण वस्तुओं का ज्ञान होना स्वीकार करे, तो वह भी असत्य है, क्योंकि इन्द्रिय जनित ज्ञान अतीन्द्रिय विषयों का ग्राहक नहीं होता। इन्द्रियां तो रूप, रस आदि गुण वाले निकटवर्ती स्थूल पदार्थों को ही जानती हैं अन्य विषयों को नहीं।

शंका:—जब इन्द्रियां योगज धर्म से अनुग्रहीत होती हैं तब आकाश आदि संपूर्ण पदार्थों को जो कि अतीन्द्रिय हैं, उनको जानने में समर्थ होती हैं, (संपूर्ण विषयों को साक्षात् करा देती हैं) अतः अखिल पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों से होने पर भी प्रतिबंध कैसे हो सकता है? अर्थात् योगज धर्मानुग्रहीत इन्द्रियां प्रतिबंध रहित होती हैं?

समाधान:—यह कथन विना सोचे किया है, इंद्रियों पर योगज धर्म का अनुग्रह होना और उससे संपूर्ण विषयों को जानने की सामर्थ्य आना इन दोनों का प्रथम अध्याय में ही खण्डन कर आये हैं।

ननु योगजधर्मानुगृहीतानामिन्द्रियाणां गमनाद्यशेषातीन्द्रियार्थसाक्षात्कारिज्ञानजनकत्वसम्भवात् कथं तत्राशेषज्ञस्येन्द्रियजत्वेपि प्रतिबन्धसम्भवः; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; योगजधर्मानुग्रहस्येन्द्रियाणां प्रथमपरिच्छेदे प्रतिविहितत्वात्।

भावनाप्रकर्षपर्यन्तजत्वाद्योगिविज्ञानस्य नोक्तदोषानुषङ्गः। भावना हि द्विविधा-श्रुतमयी, चिन्तामयी च। तत्र श्रुतमयी श्रूयमाणेभ्यः परार्थानुमानवाक्येभ्यः समुत्पद्यमानज्ञानेन श्रुतशब्दवाच्यतामास्कन्दता निर्वृत्ता परमप्रकर्षं प्रतिपद्यमाना स्वार्थानुमानज्ञानलक्षणया चिन्तया निर्वृत्तां चिन्तामयीं भावनामारभते। सा च प्रकृष्यमाणा परं प्रकर्षपर्यन्तं सम्प्राप्ता योगिप्रत्यक्षं जनयतीति तत्कथमस्यावरणापायप्रभवत्वम्? इत्यप्यसारम्; क्षणिकनैरात्म्यादिभावनायाश्चिन्तामय्याः

भावार्थ:—ध्यान, प्राणायाम आदि योग विशेष से इन्द्रियों में अतिशय पैदा होता है और वह अतीन्द्रिय पदार्थों को भी जानने लग जाती है ऐसा मीमांसकों का कहना है सो इस विषय पर पहले अध्याय में विचार कर आये हैं। इन्द्रियों में योगज धर्म का कितना भी अनुग्रह हो जाय किंतु वे परमाणु आदि पदार्थों को ग्रहण नहीं कर सकती न अपने विषय को छोड़कर अन्य रूप आदि को ग्रहण कर सकती है, क्या योगज धर्मानुग्रहीत नेत्र रसास्वाद का कार्य करेंगे? नहीं कर सकते हैं। अतः योगज धर्मानुग्रहीत इंद्रियों द्वारा संपूर्ण पदार्थों को जानकर सर्वज्ञ होना शक्य नहीं है।

बौद्ध:—योगज धर्मानुग्रहीत इन्द्रिय से भले ही अखिल वस्तु का ज्ञान नहीं हो किन्तु श्रुतमयी भावना आदि का जब परम प्रकर्ष होता है तब उससे होने वाला योगी का ज्ञान अशेष पदार्थों का ग्राहक बन जाता है, इसमें कोई आपके कहे हुए दोष नहीं आते? भावना भी दो प्रकार की है—श्रुतमयी भावना और चिन्तामयी भावना। आचार्य आदि से सुनने में आये हुए जो परार्थानुमान रूप वाक्य हैं उनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान श्रुत शब्द के द्वारा कहा जाता है, इन गुरु वाक्यों से उत्पन्न हुई तथा परम प्रकर्ष को प्राप्त हुई ऐसी जो श्रुतसम्बन्धी भावना है वह श्रुतमयी भावना कहलाती है, यही भावना स्वार्थानुमान लक्षण वाली चिन्ता से निर्मित चिन्तामयी भावना को उत्पन्न करती है। फिर चिन्तामयी भावना बढ़ते बढ़ते चरम सीमा को प्राप्त होती है तब योगी प्रत्यक्ष को उत्पन्न कर देती है। इस प्रकार योगी प्रत्यक्ष ज्ञान या पूर्ण ज्ञान स्वरूप मुख्य प्रत्यक्ष तो इन भावनाओं से उत्पन्न होता है, फिर इसको आप जैन आवरण के नाश से होता है ऐसा क्यों मानते हैं?

श्रुतमय्याश्च मिथ्यारूपत्वात् । न च मिथ्याज्ञानस्य परमार्थविषययोगिज्ञानजनकत्वमतिप्रसङ्गात् । यथा च न क्षणिकत्वं नैरात्म्यं शून्यत्वं वा वस्तुनस्तथा वक्ष्यते ।

किञ्च, प्रखिलप्राणिनां भावनावतां तथाविधज्ञानोत्पत्तिः किन्न स्यात् सुगतवत् ? तेषां तथाभूतभावनाऽभावाच्चेत्; न; प्रतिपन्नतत्त्वानां भावनाप्रवृत्तमनसां सर्वेषां समाना भावनैव कुतो न स्यात् ? प्रतिबन्धककर्मसद्भावाच्चेत्; तर्हि भावनाप्रतिबन्धककर्मापाये भावनावत् योगिज्ञानप्रतिबन्धककर्मापाये तज्ज्ञानोत्पत्तिरभ्युपगन्तव्या । इति सिद्धं साकल्येनावरणापाये एवातीन्द्रियमशेषार्थविषयं विशदं प्रत्यक्षम् ।

जैनः—यह पक्ष भी बेकार है । आप बौद्ध के यहाँ क्षणिक नैरात्म्यवाद है, इस क्षणिकवाद में श्रुतमयी आदि भावना भी मिथ्या एवं क्षणिक ही रहेगी, अतः इस क्षणिक भावना में कुछ प्रकर्ष होना आगे आगे बढ़ना आदि हो नहीं सकता उसके अभाव में वह भावना ही काहे की ? वह तो मिथ्या ही है, इस मिथ्या भावना से वास्तविक विषय वाला योगी ज्ञान उत्पन्न होना अशक्य है, यदि मानेंगे तो अतिप्रसंग होगा, फिर दो चन्द्र का ज्ञान भी योगी ज्ञान का जनक बन बैठेगा ? क्योंकि मिथ्याज्ञान से भी योगी ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा आपने मान लिया ? तथा आप बौद्ध के सिद्धांत जो क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद, शून्यवादादि हैं, इनकी सिद्धि नहीं होती, ये सब असत्य सिद्धान्त हैं, ऐसा आगे भी कहेंगे ।

हम जैन बौद्ध से पूछते हैं कि संसार के सभी प्राणियों को जो कि इन भावनाओं से संयुक्त हैं उनको, अशेष पदार्थों का ज्ञान क्यों नहीं होता ? जैसे सुगत को पूर्ण ज्ञान होता है ? तुम कहो कि उन जीवों के श्रुतमयी आदि भावना नहीं होती है अतः पूर्ण ज्ञान का अभाव है ? सो भी ठीक नहीं, जिन्होंने तत्त्वों का अभ्यास किया है, भावना में मनको लगाया है, उन जीवों के समान भावना क्यों नहीं होती ? क्या प्रतिबंधक कर्म का सद्भाव है इसलिये समानता नहीं होती ? यदि यही बात है तब तो भावना को रोकने वाले कर्म का अभाव होने पर जैसे भावना उत्पन्न होती है वैसे ही योगीज्ञान प्रगट होता है ऐसा निर्दोष वक्तव्य मानना चाहिये । इस प्रकार यह निश्चय हुआ कि आवरण का पूर्ण नाश होने पर ही संपूर्ण विषयों का ग्राहक ऐसा विशद ज्ञान उत्पन्न होता है ।

अलं विस्तरेण

आवरण सिद्धि, कर्म पौद्गलिकत्वसिद्धि तथा संवर निर्जरा सिद्धि का सारांश

ज्ञानावरण आदि कर्मों के पूर्णरूप से नाश होने पर या क्षयोपशम होने पर मुख्य प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है, "किन्तु बौद्ध आवरण को नहीं मानते उनके यहां श्रुतमयी और चिंतामयी भावना से ज्ञान प्रगट होता है न कि आवरण के हटने से।" वे कहते हैं कि शरीर, राग आदि को आवरण माने तो उनके सद्भाव में भी ज्ञान होता है, अन्य कोई आवरण दिखाई नहीं देता, आचार्य ने उनको समझाया है कि शरीर आदि आवरण नहीं है कर्म आवरण है उस कर्म की अनुमान के द्वारा सिद्धि होती है आत्मा स्व और पर को जानना रूप स्वभाव वाला है ऐसे आत्मा की हीन शरीरादि पदार्थ में आसक्ति हो रही है वह आत्मा से भिन्न किसी अन्य कारण से हुई है क्योंकि वह विशिष्ट आसक्ति है जैसे व्यसनी नीच पुरुष पर किसी कुलवंती स्त्री को आसक्ति मंत्र तंत्र आदि के हेतु से होती है, इस अनुमान से सामान्य कर्म सिद्ध हुआ, पुनः आवरण रूप विशिष्ट कर्म की सिद्धि के लिये दूसरा अनुमान प्रयुक्त होता है संसारी जीवों का ज्ञान सम्पूर्ण विषयों में आवरण युक्त है, क्योंकि सब विषयों में प्रवृत्त नहीं हो पाता, जो अपने विषय में प्रवृत्त नहीं होता उसका कारण अवश्य होना चाहिए, जो कारण है वही आवरण है। ज्ञान का आवरण कर्म न होकर अविद्या है क्योंकि मूर्तिक आवरण से अमूर्तिक ज्ञान पर आवरण नहीं आ सकता ऐसी शंका भी मदिरा के दृष्टान्त से दूर हो जाती है, जैसे मदिरा आदि मादक पदार्थ मूर्तिक होकर भी अमूर्तिक आत्मादि को उन्मत्त करा देते हैं, वैसे कर्म हैं तथा यह कर्म अनादिकाल से प्रवाहरूप से चला आया है अतः उससे सम्बद्ध आत्मा सर्वथा अमूर्तिक नहीं है। इस तरह पुरुषाद्वैतवादी आदि के अविद्या रूप आवरण का निरसन किया है। सांख्य प्रधान को ही आवरण मानते हैं और वह आवरण भी प्रधान पर आया हुआ मानते हैं, सो यह मान्यता अयुक्त है, प्रधान स्वरूप आवरण प्रधान पर आवरण डालता है तो प्रधान के ही बंध और मोक्ष होना सिद्ध होगा, अतः आत्मा को मानना व्यर्थ होता है। बंध तथा मोक्ष का फल आत्मा भोगता है अतः वह व्यर्थ नहीं होता ऐसा कहना भी तर्क संगत नहीं है। इस प्रकार कर्म पौद्गलिक पदार्थ है यह सिद्ध हो जाता है, उस कर्म का अभाव संवर और निर्जरा से होता है, कोई कोई कर्म रूप आवरण का पूर्णतया नाश होना नहीं मानते, उनको शीत स्पर्श का दृष्टांत देकर

समझाया है कि जैसे अनादि कालीन शीत स्पर्श उसके प्रतिबंधक उष्ण स्पर्श के बढ़ जाने से नष्ट होता है, वैसे ही कर्म के प्रतिपक्षी सम्यग्दर्शनादि कारणों के वृद्धिगत होने पर कर्म मूल से नष्ट हो जाते हैं बीज अंकुर का दृष्टांत भी बढ़िया है। कर्म का आगामी आना रुकना संवर है, और वह गुप्ति, समिति आदि के द्वारा होना है। पहले संचित हुए कर्म, तपश्चर्या आदि के द्वारा निर्जीर्ण होते हैं जैसे जैसे सम्यग्दर्शनादि प्रकृष्ट होते हैं वैसे वैसे कर्म आवरण की हानि होती है। इस प्रकार कर्मों का पूर्णतया संवर तथा निर्जरा होना सिद्ध होता है।

३

सर्वज्ञत्ववादः

ननु चाशेषार्थज्ञातुस्त(ज्ञानस्वत)ज्ज्ञानवत। कस्यचित्पुरुषविशेषस्यैवासम्भवात्कथं तज्ज्ञान-सम्भवः? तथाहि–न कश्चित्पुरुषविशेषः सर्वज्ञोस्ति सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकागोचरचारित्वा-द्वन्ध्यास्तनन्धयवत्; न चायमसिद्धो हेतुः, तथाहि–सकलपदार्थवेदी पुरुषविशेषः प्रत्यक्षेण प्रतीयते, अनुमानादिप्रमाणेन वा? न तावत्प्रत्यक्षेण; प्रतिनियतासन्नरूपादिविषयत्वेन अन्यसन्तानस्यसंवेदन-मात्रेप्यस्य सामर्थ्यं नास्ति, किमङ्ग पुनरनाद्यनन्तातीतानागतवर्त्तमानसूक्ष्मादिस्वभावसकलपदार्थ-साक्षात्कारिसंवेदनविशेषे तदध्यासिते पुरुषविशेषे वा तत्स्यात्? न चातीतादिस्वभावनिखिलपदार्थ-

---

मीमांसकः—जैन ने आवरण कर्म के नाश से पूर्ण ज्ञान प्रगट होता है ऐसा सिद्ध किया तथा आवरण की सिद्धि की किन्तु संपूर्ण पदार्थों को जानने वाला ज्ञान और उस ज्ञान से संयुक्त कोई पुरुष विशेष ही संभव नहीं है, अतः ऐसे ज्ञान को सिद्ध करना कैसे शक्य है? इसी को बताते हैं—कोई भी पुरुष विशेष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह सत्ताग्राहक पांचों प्रमाणों के गोचर नहीं होता, जैसे वन्ध्यापुत्र नहीं होता। यह सत्ताग्राहक प्रमाणों के अगोचर होना रूप हेतु असिद्ध नहीं है। कैसे सो बताते हैं—संपूर्ण पदार्थों को जानने वाला जो पुरुष है वह प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है या अनुमान से? प्रत्यक्ष प्रमाण से वह पुरुष विशेष जाना जाता है ऐसा कहना तो शक्य नहीं, यह प्रत्यक्ष तो प्रतिनियत तथा निकटवर्ती रूप, रस आदि को जानता है, इस इंद्रिय प्रत्यक्ष में अन्य आत्मा में होने वाले ज्ञान को जानने की भी सामर्थ्य नहीं है तो फिर जो ज्ञान अतीत अनागत एवं वर्तमान कालीन सूक्ष्मादि स्वभावों से संयुक्त अनंतानंत संपूर्ण पदार्थों को साक्षात्कार करने वाला है ऐसे विशिष्ट ज्ञान को एवं तद्विशिष्ट पुरुष विशेष को [सर्वज्ञ को] कैसे जान सकता है? [अर्थात् नहीं जान

ग्रहणमन्तरेण प्रत्यक्षेण तत्साक्षात्करणप्रवृत्तज्ञानग्रहणम्, ग्राह्याग्रहणे तन्निष्ठग्राहकत्वस्याप्यग्रहणात् ।

नाप्यनुमानेनासौ प्रतीयते; तद्धि निश्चितस्वसाध्यप्रतिबन्धाद्धेतोरुदयमासादयत्प्रमाणतां प्रतिपद्यते । प्रतिबन्धश्चाखिलपदार्थज्ञसत्त्वेन स्वसाध्येन हेतोः किं प्रत्यक्षेण गृह्येत, अनुमानेन वा ? न तावत्प्रत्यक्षेण; अस्याऽत्यक्षज्ञानवत्सत्त्वसाक्षात्करणाक्षमत्वेन तत्प्रतिपत्तिनिमित्तहेतुप्रतिबन्धग्रहणेप्यक्षमत्वात् । न ह्यप्रतिपन्नसम्बन्धिनस्तद्गतसम्बन्धावगमो युक्तोऽतिप्रसङ्गात् । नाप्यनुमानेन; अनवस्थेतरेतराश्रयदोषानुषङ्गात् ! न चात्र धर्मी प्रत्यक्षेण प्रतिपन्नः; अनक्षज्ञानवत्यत्यक्षेऽध्यक्ष-

---

सकता है] तथा यह भी बात है कि उन सूक्ष्मादि स्वभाव वाले अनंत अतीतादिकालीन निखिल पदार्थों को ग्रहण किये बिना उन पदार्थों को साक्षात करने वाले ज्ञान को ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि ग्राह्य को ग्रहण किये बिना ग्राहक का ग्रहण होना भी अशक्य है । इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती है ।

अनुमान प्रमाण के द्वारा भी सर्वज्ञसिद्ध नहीं होता है अनुमान में प्रमाणता का उदय तब होता है जब उसमें साध्य का अविनाभावी हेतु होता है, स्वसाध्य के अविनाभावी हेतु से ही अनुमान में प्रामाण्य माना जाता है । यहां पर अशेषार्थ ग्राहक पुरुष विशेष को सिद्ध करना है अतः वह साध्य है इस साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव किससे जाना जायगा ? प्रत्यक्ष से या अनुमान से ? प्रत्यक्ष से तो शक्य नहीं, क्योंकि इस प्रत्यक्ष में अतीन्द्रिय ज्ञानी के जानने की शक्ति नहीं है । अतीन्द्रिय ज्ञानी के सत्व बिना उसके प्रतिपत्ति का निमित्तभूत हेतु का अविनाभाव जाना नहीं जायगा, संबंधी को जाने बिना उसमें होने वाला संबंध कैसे जाना जाय ? यदि माने तो अतिप्रसंग होगा, फिर तो परमाणु को जाने बिना ही उसका घट के साथ होने वाला संबंध भी जाना जा सकेगा । किंतु यह शक्य नहीं है । अशेषज्ञ को सिद्ध करने वाले हेतु का अविनाभाव अनुमान से सिद्ध करे तो भी शक्य नहीं है क्योंकि अनवस्था और इतरेतराश्रय दोष आयेंगे ? कैसे सो ही बताते हैं प्रथम अनुमान के हेतु का अविनाभाव निश्चित करने के लिये दूसरा अनुमान चाहिए, पुनः उस दूसरे के लिए तीसरा चाहिये क्योंकि उसका अविनाभाव भी जानना जरूरी है इस तरह अनवस्था आती है । इतरेतराश्रय दोष इस प्रकार होगा—प्रथम अनुमान जो कि सर्वज्ञ को सिद्ध करता है उसके हेतु के अविनाभाव को दूसरा अनुमान बतायेगा, और दूसरे

स्याप्रवृत्तेः। प्रवृत्तौ वाध्यक्षेणैवास्य प्रतिपन्नत्वान्न किञ्चिदनुमानेन। नाप्यनुमानेन; हेतोः पक्षधर्मतावगममन्तरेणानुमानस्यैवाप्रवृत्तेः। न चाप्रतिपन्ने धर्मिणि हेतोस्तत्सम्बन्धावगमः। नाप्यप्रतिपन्नपक्षधर्मत्वो हेतुः प्रतिनियतसाध्यप्रतिपत्त्यङ्गम्।

किञ्च, सत्तासाधने सर्वो हेतुरसिद्धविरुद्धानैकान्तिकत्वलक्षणां त्रयीं दोषजातिं नातिवर्त्तते। तथाहि-सर्वज्ञसत्त्वे साध्ये भावधर्मो हेतुः, अभावधर्मो वा स्यात्, उत उभयधर्मो वा? प्रथमपक्षेऽसिद्धः; भावेऽसिद्धे तद्धर्मस्य सिद्धिविरोधात्। द्वितीयपक्षे तु विरुद्धः; भावे साध्येऽभावधर्मस्याभावा-

---

अनुमान के हेतु का अविनाभाव प्रथम अनुमान से सिद्ध होगा। अशेषज्ञरूप धर्मी का प्रत्यक्ष ज्ञान तो होता नहीं क्योंकि अतीन्द्रिय ज्ञान वाले अत्यंत परोक्ष ऐसे उस पुरुष विशेष में प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति ही नहीं होती, यदि प्रवृत्ति होती तो अनुमान की जरूरत ही नहीं रहती, प्रत्यक्ष से ही वह दिखायी देता। सकल पदार्थों का ज्ञायक ऐसा यह पक्ष में लिया हुआ धर्मी अनुमान से भी नहीं जाना जाता है क्योंकि जब तक हेतु का पक्ष धर्मत्व गुण ग्रहण नहीं होगा तब तक अनुमान की प्रवृत्ति अशक्य है, और पक्ष अर्थात् धर्मी असिद्ध है तो हेतु का पक्ष धर्मत्व क्या सिद्ध होगा? बिना धर्मी को जाने हेतु के अविनाभाव को जान नहीं सकते। इस तरह जिसका पक्ष धर्मत्व अज्ञात है वह हेतु अपने नियत साध्य को सिद्ध करने में निमित्त नहीं बन सकता। भावार्थ—अनुमान के दो अवयव होते हैं एक तो साध्य जहां रहता है वह स्थान जिसे धर्मी या पक्ष कहते हैं वह और दूसरा उसके साथ अविनाभाव संबंध रखने वाला हेतु। हेतु पक्ष में अवश्य रहता है ऐसा अविनाभाव तब निश्चित होता है कि जब पक्ष जानने में आवे, किन्तु यहां सकलार्थ वेदी पुरुष पक्ष कोटी में है वह प्रत्यक्षगम्य नहीं होने से उसका अविनाभावी हेतु भी नहीं जाना जाता इस तरह सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले अनुमान में पक्ष और हेतु दोनों ही असिद्ध हो जाते हैं।

एक बात यह भी है कि सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करने में जो भी हेतु दिया जाय उसमें असिद्ध, विरुद्ध, अनेकान्तिक ये तीनों दोष आते हैं, कैसे सो बताते हैं सर्वज्ञ को सिद्ध करने में हेतु कौन सा देंगे भाव अर्थात् सद्भाव धर्मवाला या अभाव धर्मवाला? अथवा उभय धर्मवाला? प्रथम पक्ष असिद्ध है, क्योंकि भाव ही असिद्ध है तो उसका धर्म क्या सिद्ध होगा? हो नहीं सकता। दूसरे पक्ष में तो हेतु विरुद्ध कहलायेगा, साध्य तो सद्भाव स्वरूप है और हेतु है अभाव धर्म वाला सो अभाव तो अभाव के साथ रहेगा अतः ऐसा हेतु विरुद्ध कहलायेगा। भाव अभाव दोनों धर्मवाला

व्यभिचारित्वेन विरुद्धत्वात् । उभयधर्मोप्यनैकान्तिकः सत्तासाधने; तदुभयव्यभिचारित्वात् ।

अपि चाविशेषेण सर्वज्ञः कश्चित्साध्यते, विशेषेण वा ? तत्राद्यपक्षे विशेषतोऽर्हत्प्रणीतागमाश्रयणमनुपपन्नम् । द्वितीयपक्षे तु हेतोरपरसर्वज्ञस्याभावेन दृष्टान्तानुवृत्त्यसम्भवादसाधारणानैकान्तिकत्वम् ।

किञ्च यतो हेतोः प्रतिनियतोऽर्हन् सर्वज्ञः साध्यते ततो बुद्धोपि साध्यतां विशेषाभावात्, न

हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त होगा, क्योंकि सर्वज्ञता रूप साध्य तो सत्ता स्वभाव वाला है और उसमें हेतु प्रयुक्त किया सत्ता असत्ता दोनों स्वभाव वाला ।

हम मीमांसक आप जैन से प्रश्न करते हैं कि यह जो सर्वज्ञ सिद्ध किया जा रहा है वह सामान्य से कोई एक पुरुषरूप सिद्ध करेंगे अथवा विशेष रूप से अर्हंत पुरुष विशेष सिद्ध करेंगे ? प्रथम पक्ष तो ठीक नहीं, क्योंकि इसमें अर्हंत भगवान के द्वारा प्रणीत आगम ही सत्य है उसी का आश्रय लेते हैं इत्यादि आपकी मान्यता बनती नहीं है । मतलब जब सामान्य से सर्वज्ञ सिद्ध किया तो वह अर्हंत ही होवे सो बात नहीं, फिर उसी के आगम को मानने का पक्ष खंडित होता है । दूसरा पक्ष विशेष रूप से अर्हंत रूप सर्वज्ञ को सिद्ध करते हैं तो उसको सिद्ध करने वाले अनुमान में दृष्टान्त नहीं रहता है क्योंकि अर्हंत को छोड़कर अन्य सुगत आदि को सर्वज्ञ माना नहीं है फिर दृष्टान्त किसका देवें ? बिना दृष्टान्त के हेतु असाधारण अनेकान्तिक बन जायगा ।

भावार्थः—हम मीमांसक के यहां असाधारण अनैकान्तिक हेतु का यह लक्षण है कि जो विपक्ष ओर सपक्ष दोनों से व्यावृत्त हो, जैसे शब्द अनित्य है, क्योंकि सुनायी देना रूप धर्म उसमें पाया जाता है । इस उदाहरण में जो श्रावणत्व हेतु है वह अपना विपक्षी जो नित्य आत्मादि पदार्थ हैं उनसे व्यावृत्त होता है तथा सपक्षी जो पट आदि पदार्थ हैं उससे भी व्यावृत्त होता है, क्योंकि इनमें श्रावणत्व नहीं है, सो ऐसा हेतु असाधारण अनैकान्तिक कहलायेगा, सर्वज्ञ सिद्धि में भावाभाव धर्म वाला हेतु इसी दोष से दूषित है ।

तथा यह भी बात है कि आप जैन जिस हेतु से प्रतिनियत अर्हंत को सर्वज्ञ सिद्ध करते हैं उसी हेतु से बुद्ध भी सर्वज्ञ हो सकता है कोई विशेषता तो नहीं है । सर्वज्ञपने को सिद्ध करने के लिये जैन के पास कोई विशेष हेतु हो सो बात नहीं है ।

चात्र सर्वज्ञत्वसाधने हेतुरस्ति ।

यदप्युच्यते–सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्पावकादिवत्; तदप्युक्तिमात्रम्; यतोऽत्रैकज्ञानप्रत्यक्षत्वं सूक्ष्माद्यर्थानां साध्यत्वेनाभिप्रेतम्, प्रतिनियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षत्वं वा ? तत्राद्यकल्पनायां विरुद्धो हेतुः; प्रतिनियतरूपादिविषयग्राहकानेकप्रत्ययप्रत्यक्षत्वेन व्याप्तस्याग्न्यादिदृष्टान्तधर्मिणि प्रमेयत्वस्योपलम्भात् साध्यविकलता च दृष्टान्तस्य । द्वितीयकल्पनायां सिद्धसाध्यता अनेकप्रत्यक्षैरनुमानादिभिश्च तत्परिज्ञानाभ्युपगमात् ।

सर्वज्ञ सिद्धि में जैन का प्रसिद्ध अनुमान है—सूक्ष्मांतरित दूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः, प्रमेयत्वात्, पावकादिवत् । सूक्ष्म–परमाणु आदि, अंतरित–राम रावणादिक, दूरार्थ–सुमेरु पर्वत आदि पदार्थ ये सब किसी न किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे प्रमेय हैं (जानने योग्य हैं) जैसे अग्नि आदि पदार्थ प्रमेय हैं । यह अनुमान ठीक नहीं बैठता, इसमें प्रश्न यह है कि सूक्ष्मादिक पदार्थों का प्रत्यक्ष होने रूप साध्य है सो क्या वे सभी पदार्थ एक ही ज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं अथवा प्रतिनियत विषय वाले अनेक ज्ञानों द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं । अर्थात् एक एक पृथक पृथक ज्ञान के द्वारा सूक्ष्मादिक वस्तु जानी जाती है ऐसा मत इष्ट है अथवा सूक्ष्मादि सभी का एक ही ज्ञान के द्वारा जानना इष्ट है ? प्रथम पक्ष की बात कहे तो हेतु विरुद्ध होगा क्योंकि आपके अनुमान में हेतु प्रमेयत्व है वह प्रतिनियत रूपादि विषय वाले अनेक प्रत्यक्षों द्वारा ग्रहण में आता है, किन्तु साध्य तो एक ज्ञान से ग्रहण में आने रूप है । तथा दृष्टान्त अग्निका है उसमें भी यह साध्य नहीं है अतः दृष्टान्त भी साध्यविकल कहलायेगा । दूसरा पक्ष सूक्ष्मादि पदार्थ अनेक ज्ञानों द्वारा किसी के प्रत्यक्ष होते हैं ऐसा कहो तो सिद्ध साध्यता है, यह बात तो हम मीमांसक भी मानते हैं, अनेक प्रत्यक्ष प्रमाणों द्वारा तथा अनुमान आदि प्रमाणों द्वारा इन सूक्ष्मादि का ज्ञान किसी को हो सकता है ऐसा हमें इष्ट ही है । इसी को बताते हैं— प्रत्यक्ष आदि छहों प्रमाणों द्वारा संपूर्ण वस्तुओं को जानकर सर्वज्ञ बनता है अर्थात अशेष पदार्थों का ज्ञान अनेक प्रमाणों से होता है जिसको होता है वह सर्वज्ञ है ऐसा मानते हैं तब तो उसका हम खण्डन नहीं करते, किन्तु एक ही अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से सर्वज्ञता आती है, ऐसा मानेंगे तब तो बनता नहीं ।।१।। एक ही प्रमाण के द्वारा अशेष वस्तुओं को जानेगा तो क्या एक चक्षुरिन्द्रिय द्वारा सभी रसादि विषयों का ग्राहक होवेगा ? अर्थात् एक ज्ञान से सर्वज्ञ सबको जानता है ऐसा मानने से एक ही इंद्रिय द्वारा सब रसादि विषयों को जानने की विकट समस्या आती है ।

"यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात्सर्वज्ञः केन वार्यते ।
एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते ।।
नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन्प्रतिपद्यते ।" [मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १११-१२]
इत्यभिधानात् ।

किञ्च, प्रमेयत्वं किमशेषज्ञेयव्यापिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिलक्षणमभ्युपगम्यते, अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिस्वरूपं वा स्यात्, उभयव्यक्तिसाधारणसामान्यस्वभावं वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः, विवादाध्यासितपदार्थेषु तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्यासिद्धत्वात्, अन्यथा साध्यस्यापि सिद्धेर्हेतूपादानमपार्थकम् । सन्दिग्धान्वयश्चायं हेतुः स्यात्; तथाभूतप्रमाणप्रमेयत्वस्य दृष्टान्तेऽसिद्धत्वात् । द्वितीयपक्षेऽसिद्धो हेतुः, अस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्वस्य विवादगोचरार्थेष्वसम्भवात् । सम्भवे वा ततस्तथाभूतप्रत्यक्षत्व-

---

यह भी विचार करना है कि सर्वज्ञ सिद्धि में प्रस्तुत प्रमेयत्व हेतु है वह किस रूप है ? संपूर्ण ज्ञेयों में व्यापी अर्थात् संपूर्ण ज्ञेयों को जानने वाला जो प्रमाण है उसके द्वारा जानने योग्य जो प्रमेय है वह प्रमेयत्व लेना अथवा हम जैसे व्यक्तियों के प्रमाण के द्वारा जानने योग्य प्रमेयत्व लेना, या उभय व्यक्तियों में साधारण सामान्य स्वभावरूप प्रमेयत्व लेना ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, विवाद में आये हुए सूक्ष्मादि पदार्थों में उस प्रकार का प्रमाण प्रमेयपना असिद्ध है । यदि सिद्ध होता तो साध्य भी (सर्वज्ञता) सिद्ध रहता, फिर हेतु को देना ही बेकार है । अशेष ज्ञेय व्यापी प्रमाण प्रमेय व्यक्तिरूप यह हेतु सन्दिग्धान्वय वाला भी हो जाता है, क्योंकि उस प्रकार का प्रमाण प्रमेयपना दृष्टान्त में—अग्नि में नहीं है । दूसरा पक्ष—हम जैसे व्यक्ति के प्रमाण का विषय रूप प्रमेयत्व ही सर्वज्ञ की प्रमेयत्व नामा हेतु सिद्धि करने वाले अनुमान में दिया है ऐसा कहो तो वह हेतु असिद्ध दोष वाला होगा ? हमारे प्रमाण का प्रमेयत्व विवाद में स्थित सूक्ष्मादि विषयों में असंभव है, यदि संभव होता तो हम जैसे के प्रत्यक्ष ज्ञान से सिद्ध ही होता, फिर विवाद होता ही नहीं । जिसमें विवाद नहीं है उस विषय में हेतु का देना उपयोगी नहीं रहता । उभय व्यक्ति साधारण सामान्य प्रमेयत्व है अर्थात् सर्वज्ञ और अल्पज्ञ दोनों के प्रमाणों का प्रमेयत्व है ऐसा तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, अत्यंत विलक्षण स्वभावरूप अतीन्द्रिय विषय वाले प्रमाण का प्रमेयत्व और इन्द्रिय विषय वाले प्रमाणों का प्रमेयत्व इन दोनों में साधारण सामान्यपन होना बिल्कुल असंभव है, इस प्रकार अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि होना शक्य नहीं है ।

सिद्धिरेव स्यात् । तत्र चाविवादान्न हेतूपन्यासः फलवान् । नाप्युभयप्रमेयत्वव्यक्तिसाधारणं प्रमेयत्वसामान्यं हेतुः, अत्यन्तविलक्षणातीन्द्रियेन्द्रियविषयप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिद्वयसाधारणसामान्यस्यैवासम्भवात् । तन्नानुमानात्तत्सिद्धिः ।

नाप्यागमात्; सोपि हि नित्यः, अनित्यो वा तत्प्रतिपादकः स्यात् ? न तावन्नित्यः, तत्प्रतिपादकस्य तस्याभावात्, भावेपि प्रामाण्यासम्भवात् 'कार्येऽर्थे तत्प्रामाण्यप्रसिद्धेः । अनित्योऽपि किं तत्प्रणीतः, पुरुषान्तरप्रणीतो वा ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः—सर्वज्ञप्रणीतत्वे तस्य प्रामाण्यम्, ततस्तत्प्रतिपादकत्वमिति । नापि पुरुषान्तरप्रणीतः; तस्योन्मत्तवाक्यवदप्रामाण्यात् । तन्नागमादप्यस्य सिद्धिः ।

नाप्युपमानात्; तत्सकलूपमानोपमेययोरनवयवेनाध्यक्षत्वे सति सादृश्यावलम्बनमुदय-

---

आगम प्रमाण से भी सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता, इसीको बताते हैं, आगम प्रमाण दो प्रकार का है नित्य और अनित्य, इनमें से कौन सा आगम सर्वज्ञ का प्रतिपादन करता है, नित्य आगम सर्वज्ञ का प्रतिपादक है ऐसा कहना अशक्य है क्योंकि ऐसा कोई नित्य आगम ही नहीं है कि जो उसका प्रतिपादक हो । यदि कोई है तो प्रामाणिक नहीं होगा, क्योंकि नित्य आगम (अपौरुषेय वेद) तो कार्य में प्रमाणभूत होता है । अनित्य आगम भी कौन सा है सर्वज्ञ प्रणीत है कि अन्यजन प्रणीत है ? सर्वज्ञ प्रणीत आगम सर्वज्ञ की सिद्धि करता है ऐसा माने तो अन्योन्याश्रय दोष स्पष्ट दिखाई देता है—सर्वज्ञ प्रणीत आगम सिद्ध होने पर सर्वज्ञता सिद्ध होगी और उसके सिद्ध होने पर सर्वज्ञ प्रणीत आगम सिद्ध होगा । अन्य किसी पुरुष के द्वारा प्रणीत आगम सर्वज्ञ को सिद्ध करता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, इस तरह के पुरुष के वाक्य प्रामाणिक नहीं होते, जैसे उन्मत्त व्यक्ति के नहीं होते हैं । इस प्रकार आगम प्रमाण से सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हुई । उपमा प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती, उपमा प्रमाण कब प्रवृत्त होता है सो बताते हैं—उपमा और उपमेय इनके पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष होने पर सादृश्य का अवलंबन लेते हुए उपमा प्रमाण प्रवृत्त होता है अन्यथा नहीं होता अर्थात् उपमा और उपमेय में से किसी का ग्रहण नहीं हुआ हो तो उपमा प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता है, यदि मानें तो अतिप्रसंग होगा, यहां उपमानभूत सर्वज्ञ है वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं है, फिर उसके सदृश अन्य किसी में सर्वज्ञता उपमा प्रमाण से कैसे बताई जाय ? नहीं बता सकते ।

मासादयति; नान्यथातिप्रसङ्गात् । न चोपमानभूतः कश्चित्सर्वज्ञत्वेनाध्यक्षतः सिद्धो येन तत्सादृश्या-दन्यस्य सर्वज्ञत्वमुपमानात्साध्येत ।

नाप्यर्थापत्तितस्तत्सिद्धिः; सर्वज्ञसद्भावमन्तरेणानुपपद्यमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातार्थस्य कस्यचिदभावात् । धर्माद्युपदेशस्य बहुजनपरिगृहीतस्यान्यथापि भावात् । तथा चोक्तम्—

"सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।

[मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० ११७]

दृष्टो न चैकदेशोऽस्ति लिङ्गं वा योऽनुमापयेत् ।। १ ।। [ ]

न चागमविधिः कश्चिन्नित्यः सर्वज्ञबोधकः ।

न च मन्त्रार्थवादानां तात्पर्यमवकल्पते ।। २ ।। [ ]

अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती । सर्वज्ञ के सद्भाव के बिना जो अनुपपद्यमान हो ऐसा छह प्रमाणों से ज्ञात कोई पदार्थ ही नहीं है, अतः अर्थापत्ति से सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता है ।

भावार्थ—अर्थापत्ति प्रमाण के छह भेद हैं, प्रत्यक्ष पूर्विका अर्थापत्ति, १ अनुमान पूर्विका अर्थापत्ति २ उपमा पूर्विका अर्थापत्ति ३ आगम पूर्विका अर्थापत्ति ४ अर्थापत्ति पूर्विका अर्थापत्ति ५ और अभाव पूर्विका अर्थापत्ति ६ इनमें नामों के अनुसार लक्षण पाये जाते हैं, इन सबका विशद वर्णन प्रथम भाग में हो चुका है । अर्थापत्ति प्रत्यक्षादि छहों प्रमाणों के द्वारा ज्ञात विषयों में प्रवृत्त होती है, अतः यहां "प्रमाण-षट्कविज्ञातार्थस्य" ऐसा पाठ है ।

सर्वज्ञ धर्मादि का उपदेश देता है अतः उसको मानते हैं ऐसा कहना भी बनता नहीं, धर्मोपदेश तो बहुत से व्यक्ति देते हैं । सर्वज्ञ के बिना भी वह हो सकता है, कोई कहे कि धर्म अधर्मरूप अदृष्ट का (पुण्य–पाप) उपदेश सर्वज्ञ देते हैं अतः उनको मानते हैं सो भी ठीक नहीं, इनका उपदेश अन्य भी देते हैं । सर्वज्ञाभाव को अन्यत्र भी कहा है—वर्तमान में हम लोगों को सर्वज्ञ दिखाई नहीं देता है, अनुमान से अतीतादिकाल में सिद्ध करना चाहे तो उसका हेतु रूप एक देश दिखाई नहीं देता, जो उस सर्वज्ञ को सिद्ध कर देता ।।१।। नित्य आगम सर्वज्ञ को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि यह आगम होम अनुष्ठान आदि को कहता है, मंत्रवाद आदि को कहता है, उससे सर्वज्ञ की सत्ता निश्चित नहीं हो सकती है ।।२।। नित्य आगम वेद है उसमें

न चान्यार्थप्रधानैस्तैस्तदस्तित्वं विधीयते ।
न चानुवदितुं शक्यः पूर्वमन्यैरबोधितः ।। ३ ।। [ ]
अनादेरागमस्यार्थो न च सर्वज्ञ आदिमान् ।
कृत्रिमेण त्वसत्येन स कथं प्रतिपाद्यते ।। ४ ।। [ ]
अथ तद्वचनेनैव सर्वज्ञोऽन्यैः प्रतीयते ।
प्रकल्पेत कथं सिद्धिरन्योन्याश्रययोस्तयोः ? ।। ५ ।। [ ]
सर्वज्ञोक्ततया वाक्यं सत्यं तेन तदस्थिता ।
कथं तदुभयं सिद्ध्येत सिद्धमूलान्तरादृते ।। ६ ।। [ ]
असर्वज्ञप्रणीतात्तु वचनान्मूलवर्जितात् ।
सर्वज्ञमवगच्छन्तः स्ववाक्यात्किन्न जानते ? ।। ७ ।।
सर्वज्ञसदृशं कश्चिद्यदि पश्येम सम्प्रति ।
उपमानेन सर्वज्ञ जानीयाम ततो वयम् ।। ८ ।। [ ]

अन्य अन्य अनुष्ठान आदि प्रधान अर्थ वाले वाक्य हैं, उन वाक्यों से सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता, जब तक अन्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वज्ञ का अस्तित्व ज्ञात नहीं है तब तक उन वाक्यों का अनुवादन कर उससे सर्वज्ञ सिद्धि का अर्थ निकालना भी अशक्य है ।।३।। नित्य आगम तो अनादि है और सर्वज्ञ पुरुष आदिमान है, इसलिये भी उससे सर्वज्ञ सिद्ध होना संभव नहीं है । कृत्रिम–अनित्य आगम तो असत्य है, उससे सर्वज्ञ का प्रतिपादन कैसे हो सकता है ? ।।४।।

सर्वज्ञ के वचन से अर्थात् सर्वज्ञ प्रणीत आगम से हम जैसे को सर्वज्ञ प्रतीति में आता है ऐसा कहना भी दोष भरा है ऐसे तो सर्वज्ञ और सर्वज्ञ प्रणीत आगम की सिद्धि में अन्योन्याश्रय दोष प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है ।।५।।

अन्योन्याश्रय दोष कैसे है सो बता रहे हैं कि सर्वज्ञ का कहा हुआ होने से उनके वचन प्रमाणभूत कहलायेंगे और वचन प्रमाणिक होने से सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध होगा ? जब तक स्वयं सिद्ध नहीं है तब तक उससे अन्य की सिद्धि करना शक्य नहीं है ।।६।। मूल रहित अर्थात् प्रामाण्य रहित ऐसे असर्वज्ञ प्रणीत आगम से सर्वज्ञ की सिद्धि करेंगे तो, अपने मन चले वाक्यों से भी सर्वज्ञ की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? ।।७।। सर्वज्ञ के समान यदि कोई पुरुष वर्तमान में देखा जाता तो उपमा प्रमाण के द्वारा उस सर्वज्ञ की सिद्धि कर सकते थे ।।८।। धर्म अधर्मरूप अदृष्ट का प्रतिपादन सर्वज्ञ बिना

उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माऽधर्मादिगोचरः ।
अन्यथा नोपपद्येत सार्वज्ञ्यं यदि नाऽभवत् ।। ९ ।। [ ]
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसम्भवः ।
उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात् ।। १० ।। [ ]
ये तु मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम् ।
त्रयीविदाश्रितग्रन्थास्ते वेदप्रभवोक्तयः ।। ११ ।।" [ ]

इति ।

न च प्रमाणान्तरं सदुपलम्भकं सर्वज्ञस्य साधकमस्ति ।

मा भूदत्रत्येदानीन्तनास्मदादिजनाना (नां) सर्वज्ञस्य साधकं प्रत्यक्षाद्यन्यतमं देशान्तर-कालान्तरवर्त्तिना केषाञ्चिद्भविष्यतीति चाऽयुक्तम्;

"यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थदर्शनम् ।
दृष्टं सम्प्रति लोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ।।"
[मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० ११३]

इत्यभिधानात् । तथा हि–विवादाध्यासिते देशे काले च प्रत्यक्षादिप्रमाणम् अत्रत्येदानीन्तन-प्रत्यक्षादिग्राह्यसजातीयार्थग्राहकं तद्विजातीयसर्वज्ञाद्यर्थग्राहकं वा न भवति प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात् अत्रत्येदानीन्तनप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् ।

नहीं बन सकता, इस प्रकार की अर्थापत्ति से बुद्धादिक में सर्वज्ञता सिद्ध करना चाहे तो भी ठीक नहीं है ।।९।। बुद्ध आदिक पुरुष वेद को जानते नहीं अतः उनका उपदेश वेदकृत नहीं है वे तो सिर्फ व्यामोह या अज्ञानता से ही उपदेश देते हैं उस उपदेश से कुछ मतलब नहीं निकलता ।।१०।। त्रयीवेदी पुरुष मनु आदि के ग्रन्थों को मानते हैं, सो वे ग्रंथ वेद से उत्पन्न हुए हैं अतः मान्य हैं ।।११।। इन प्रत्यक्षादि पांचों प्रमाणों को छोड़कर अन्य कोई प्रमाण तो शेष नहीं रहा कि जो सर्वज्ञ की सत्ता को सिद्ध कर सके। कोई जैन शंका करे कि वर्तमान के हम जैसे जीवों के प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सर्वज्ञ की सिद्धि मत होवे किन्तु किसी देश वाले के किसी काल में होने वाले पुरुष विशेष के प्रमाण द्वारा तो सर्वज्ञ सिद्ध होवेगा ? सो यह अभिमत भी मान्य नहीं है, कहा है कि—वर्तमान में जिस प्रकार की प्रमाण की जाति द्वारा जिन वस्तुओं का ग्रहण होता है वैसे ही तो अन्य देश तथा काल संबंधी प्रमाण में होता है, और क्या विशेषता होगी ? ।।१।। विवादास्पद किसी देश या काल में होने वाले प्रत्यक्षादि प्रमाण, यहां के वर्त्तमान काल के प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानने योग्य विषयों के ही सजातीय हैं उनसे अन्य विजातीय पदार्थ जो सर्वज्ञादिक हैं उनके ग्राहक नहीं हैं, क्योंकि वे भी प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं, जैसे वर्तमान काल के प्रत्यक्षादि प्रमाण होते हैं ।

ननु च यथाभूतमिन्द्रियादिजनितं प्रत्यक्षादि सर्वज्ञाद्यर्थासाधकं दृष्टं तथाभूतमेव देशान्तरे कालान्तरे च तथा साध्यते, अन्यथाभूतं वा ? तथाभूतं चेत्सिद्धसाधनम् । अन्यथाभूतं चेदप्रयोजको हेतुः, जगतो बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये सन्निवेशविशिष्टत्वादिवत्; तदसाम्प्रतम्; तथाभूतस्यैव तथा साधनात् । न च सिद्धसाधनमन्यादृशप्रत्यक्षाद्यभावात् । तथा हि—विवादापन्नं प्रत्यक्षादिप्रमाणमिन्द्रियादिसामग्रीविशेषानपेक्षं न भवति प्रत्यक्षादिप्रमाणत्वात्प्रसिद्धप्रत्यक्षादिप्रमाणवत् । न गृद्ध्रवराहपिपीलिकादिप्रत्यक्षेण सन्निहितदेशविशेषानपेक्षिणा नक्तञ्चरप्रत्यक्षेण वालोकानपेक्षिणानेकान्तः,

---

शंका—आपने इस अनुमान में प्रत्यक्षादि प्रमाणों को पक्ष बनाया है सो जिस प्रकार का इन्द्रियादि से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्षादिक है जो कि सर्वज्ञ आदि पदार्थों का असाधक देखा गया है ठीक वैसा ही विभिन्न देश और काल वाले प्रमाणों में सर्वज्ञ का असाधकपना सिद्ध करते हैं या कोई विभिन्न जाति का अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष में सर्वज्ञ का असाधकत्व सिद्ध करते हैं ? प्रथम विकल्प कहो तो सिद्ध साधन है, क्योंकि वर्तमान का जैसा प्रत्यक्ष अतीतादि काल में होवे तो वह सर्वज्ञ को क्या सिद्ध करेंगे ? अन्य कोई जाति का प्रत्यक्ष है वह सर्वज्ञ का असाधक है ऐसा कहो तो हेतु अप्रयोजक होवेगा, जैसे कि जगत को बुद्धिमान सृष्टि कर्ता के द्वारा रचा हुआ सिद्ध करने में सन्निवेश विशिष्टत्व आदि हेतु देते हैं, वे अप्रयोजक होते हैं ? [जो हेतु सपक्ष में तो हो और पक्ष से हटा हो तथा "प्रतिनियत विषय का ग्राही होने पर" ऐसे विशेषण से उत्पन्न हुआ है निकट संबंध जिसमें वह हेतु अप्रयोजक कहलाता है]

समाधान—यह जैन की शंका ठीक नहीं है, हम मीमांसक सर्वज्ञ का असाधक प्रमाण मानते हैं वह प्रमाण वर्तमान जैसा है, ऐसा मानने में जो सिद्ध साधन दोष बताया वह ठीक नहीं है, इसी का खुलासा करते हैं—विवादाग्रस्त विभिन्न देश काल वर्ती प्रत्यक्षादि प्रमाण, इन्द्रियादि सामग्री की अपेक्षा से रहित नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे भी प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं, जैसे वर्तमान में यहां के जीवों को प्रत्यक्षादि प्रमाण होते हैं, इस उपर्युक्त अनुमान में गृद्ध पक्षी के प्रत्यक्षज्ञान से अनेकान्तिकता भी नहीं आती अर्थात् गृद्धपक्षी, चींटी आदि जीवों का प्रत्यक्षज्ञान निकट देशादि में पदार्थों की अपेक्षा किये बिना ही उत्पन्न होता है, तथा नक्तंचर-सिंह, बिलाव आदि जीवों को प्रकाश की अपेक्षा किये बिना ही प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है अतः "प्रत्यक्षादि प्रमाण इंद्रिय सन्निहित पदार्थ तथा प्रकाशादि सामग्री की अपेक्षा लेकर ही

कात्यायनाद्यनुमानातिशयेन, जैमिन्याद्यागमातिशयेन वा; तस्यापीन्द्रियादिप्रणिधानसामग्री विशेषमन्तरेणासम्भवात्, अतीन्द्रियाननुमेयाद्यर्थाविषयत्वेन स्वार्थातिलङ्घनाभावात् । तथा चोक्तम्—

"यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात् ।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तितः (ता) ।। १ ।।
[मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० ११४]

येपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञामेधादिभिर्नराः ।
स्तोकस्तोकान्तरत्वेन न त्वतीन्द्रियदर्शनात् ।। २ ।।　　[　　]

प्राज्ञोपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान्द्रष्टुं क्षमोपि सन् ।
सजातीरनतिक्रामन्नतिशेते परान्नरान ।। ३ ।।　　[　　]

उत्पन्न होते हैं" ऐसा साध्ययुक्त पक्ष एवं "प्रत्यक्षादि प्रमाणत्व" हेतु बाधित होता है ? इस प्रकार की आशंका करना ठीक नहीं है । तथा कात्यायनी आदि के मत का अतिशय युक्त आगम प्रमाण के साथ भी प्रत्यक्षादि प्रमाणत्व नामा हेतु व्यभिचरित नहीं होता है, क्योंकि ये सब प्रमाण इंद्रियादि सामग्री से ही उत्पन्न होते हैं, इंद्रियादि के बिना नहीं होते । वे प्रमाण भी इंद्रिय से अतीत तथा अनुमान से अतीत ऐसे विषयों को ग्रहण नहीं कर सकते, क्योंकि वे अपने विषयों का उल्लंघन नहीं करते हैं । यही बात आगम में लिखी है—

जिस किसी के इन्द्रियों में अतिशयपना दिखाई देता है वह अपने विषय का उल्लंघन नहीं करते हुए ही दिखाई देता है, गृद्ध पक्षी के नेत्र दूर में स्थित वस्तु को देखते हैं, तो केवल देखने का ही काम करते हैं ? कर्ण आदि अन्य अन्य इन्द्रियों के विषयों में तो प्रवृत्त नहीं होते ? ।।१।। जिस किसी पुरुष विशेष में प्रज्ञा, मेधा आदि का अतिशय देखा जाता है वह कुछ ही अंतर को लिये हुए रहता है, अर्थात् किसी व्यक्ति में अर्थ को समझने की शक्ति होती है उसे प्रज्ञाशाली कहते हैं, जिसमें शीघ्रता से पाठ याद करने की बुद्धि रहती है उसे मेधावी कहते हैं, किन्तु ये सब ज्ञान क्या इन्द्रियों के बिना हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते ।।२।। कोई बहुत ही बुद्धिमान पुरुष है जो कि सूक्ष्म से सूक्ष्म अर्थ को समझता है, किन्तु इन्द्रिय ज्ञान के सजातीयता का उल्लंघन करके अन्य पुरुष से बढ़कर नहीं होता अर्थात् उसे भी इंद्रिय जनित ज्ञान ही होता है ।।३।। किसी पुरुष में एक व्याकरणादि विषयक शास्त्र का बहुत अधिक

एकशास्त्रविचारेषु दृश्यतेऽतिशयो महान् ।
न तु शास्त्रान्तरज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते ।। ४ ।। [ ]
ज्ञात्वा व्याकरणं दूर बुद्धिः शब्दापशब्दयोः ।
प्रकृष्यते न नक्षत्रतिथिग्रहणनिर्णये ।। ५ ।। [ ]
ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोपि चन्द्रार्कग्रहणादिषु ।
न भवत्यादिशब्दानां साधुत्वं ज्ञातुमर्हति ।। ६ ।। [ ]
तथा वेदेतिहासादिज्ञानातिशयवानपि ।
न स्वर्गदेवताऽपूर्वप्रत्यक्षीकरणे क्षमः ।। ७ ।। [ ]
दशहस्तान्तरं व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न योजनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ।। ८ ।।" [ ]

इति ।

प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां चास्याशेषार्थविषयत्वं बाध्यते, तथाहि—सर्वज्ञस्य ज्ञानं प्रत्यक्षं यद्यभ्युप-

---

ज्ञान है, अभ्यास है, ठीक है, किन्तु वह अभ्यास का अतिशय उसी विषय में काम आयेगा, अन्य सिद्धांतादि शास्त्रों का ज्ञान तो उससे हो नहीं सकता ।।४।। शब्द संबंधी ज्ञान अर्थात् ये शब्द व्याकरण से सिद्ध हैं, सत्य हैं, और ये अशुद्ध हैं असत्य हैं इत्यादि व्याकरण संबंधी ज्ञान को किसी ने प्राप्त किया है वह ज्ञान उस विषय के चरम सीमा तक भले ही पहुँचे किन्तु उस व्याकरण के ज्ञान से तिथि, नक्षत्र, ग्रहण आदि ज्योतिष संबंधो शास्त्र का ज्ञान तो हो नहीं सकता ।।५।। तथा कोई बहुत बढ़िया ज्योतिषी है, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि का विशेष ज्ञान है, किन्तु वह ज्योतिषी "भवति" आदि पदों की सिद्धि करने में तत्संबंधि विशेष बोध करने में समर्थ नहीं हो सकेगा ।।६।। इसी तरह जो भलो प्रकार से वेद, इतिहास, पुराणादि को अतिशयरूप से जानता है किंतु अदृष्ट स्वर्ग, देवता आदि को तो साक्षात् देख नहीं सकता ।।७।। जो व्यायाम प्रिय व्यक्ति आकाश में दस हाथ उछलकर गमन कर सकता है, दस हाथ ऊंचाई तक जिसकी छलांग जाती है, तो क्या वह सैकड़ों अभ्यास करने पर भी एक योजन की छलांग मार सकता है ? एक छलांग में एक योजन जा सकता है ? अर्थात नहीं जा सकता ।।८।। सर्वज्ञ का ज्ञान सकल वस्तुओं को विषय करता है ऐसा जो जैन का हटाग्रह है वह प्रसंग और विपर्यय से भी बाधित होता है । सर्वज्ञ के ज्ञानको प्रत्यक्ष रूप स्वीकार करते हैं तो वह धर्म अधर्म आदि को जान नहीं सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष

गम्यते तदा तद्धर्मादिग्राहकं न स्याद्विद्यमानोपलम्भनत्वात् । विद्यमानोपलम्भनं तत् सत्सम्प्रयोगजत्वात् । सत्सम्प्रयोगजं तत्, प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वादस्मदादिप्रत्यक्षवत् । तद्धर्मादिग्राहकं चेत् न विद्यमानोपलम्भनं धर्मादेरविद्यमानत्वात् । तत्त्वे चासत्सम्प्रयोगजत्वे चाऽप्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वम् ।

धर्मज्ञत्वनिषेधे चान्याशेषार्थप्रत्यक्षत्वेपि न प्रेरणाप्रामाण्यप्रतिबन्धो धर्मे तस्या एव प्रामाण्यात् । तदुक्तम्—

"सर्वप्रमातृसम्बन्धिप्रत्यक्षादिनिवारणात् ।
केवलागमगम्यत्वं लप्स्यते पुण्यपापयोः ।। १ ।।" [ ]
धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते ।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ।। २ ।।" [ ]

तो केवल विद्यमान की उपलब्धि कराता है, प्रत्यक्ष प्रमाण संप्रयोग से उत्पन्न होता है अतः विद्यमान मात्र को ग्रहण करता है, इस ज्ञान को संप्रयोगज इसलिये मानते हैं कि वह प्रत्यक्ष नाम से कहा जाता है, जैसे हमारा प्रत्यक्ष प्रमाण प्रत्यक्ष शब्द से वाच्य होने से संप्रयोगज है । यदि सर्वज्ञ के ज्ञान को धर्म अधर्मादिका ग्राहक मानते हैं तो वह विद्यमान (वर्तमान) पदार्थ का ग्राहक नहीं बनेगा, क्योंकि धर्मादिक तो अविद्यमान है, इस तरह विद्यमान ग्राहक तथा संप्रयोजक न होवे तो उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कह ही नहीं सकते, वह तो अप्रत्यक्ष या परोक्ष शब्द से कहा जायगा । कोई सर्वज्ञवादी इस प्रकार मानता हो कि सर्वज्ञ का ज्ञान धर्म अधर्म को (पुण्य पाप को) छोड़कर अन्य अशेष पदार्थों को साक्षात् जानने वाला है ? सो इस तरह की मान्यता में वेद की प्रमाणता में कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता है, धर्म आदि विषय में तो वेद वाक्य ही प्रमाणता की कोटि में आते हैं, इसी प्रकरण का निम्नलिखित श्लोकार्थ से खुलासा होता है । संसार भर में जितने भी प्रमाता हैं उन प्रमाता संबंधी प्रत्यक्षादिप्रमाण धर्म आदि विषय में प्रवृत्त नहीं होते हैं अतः इन धर्म–अधर्म को जानने का अधिकार आगम प्रमाण को है आगम से ही पुण्य पाप का ज्ञान होता है अन्य प्रमाण से नहीं ।।१।। हम तो पुरुष मात्र में पुण्य-पाप को जानने वाले का ही निषेध करते हैं, उनको छोड़कर शेष सर्वको जानने वाला कोई पुरुष होवे तो हम मना नहीं करते । मतलब किसी भी जीवको धर्म अधर्म को छोड़कर अन्य शेष पदार्थों का ज्ञान होना शक्य है धर्म अधर्म को छोड़ अन्य सबको जानकर ही सर्वज्ञ बन जायगा ऐसा माने तो उसका निषेध नहीं है ।।२।।

किञ्च, अस्य ज्ञानं चक्षुरादिजनितं धर्मादिग्राहकम्, अभ्यासजनितं वा स्यात्, शब्दप्रभवं वा, अनुमानाविर्भूतं वा ? प्रथमपक्षे धर्मादिग्राहकत्वायोगश्चक्षुरादीनां प्रतिनियतरूपादिविषयत्वेन तत्प्रभवज्ञानस्याप्यत्रैव प्रवृत्तेः। अथाभ्यासजनितम्, ज्ञानाभ्यासादिप्रकर्षतरतमादिक्रमेण तत्प्रकर्ष-सम्भवे सकलस्वभावातिशयपर्यन्तं संवेदनमवाप्यते; इत्यपि मनोरथमात्रम्; अभ्यासो हि कस्य-चित्प्रतिनियतशिल्पकलादौ तदुपदेशाद् ज्ञानाच्च दृष्टः। न चाशेषार्थोपदेशो ज्ञानं वा सम्भवति। तत्सम्भवे किमभ्यासप्रयासेनाशेषार्थज्ञानस्य सिद्धत्वात्। अन्योन्याश्रयश्च-अभ्यासात्तज्ज्ञानम्, ततोऽभ्यास इति। शब्दप्रभवं तदित्यप्ययुक्तम्; परस्पराश्रयणानुषङ्गात्-सर्वज्ञप्रणीतत्वेन हि

भावार्थः—धर्मज्ञ और सर्वज्ञ के विषय में पर्याप्त चर्चा है, धर्मज्ञ शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक तो जो आत्मा के कल्याण का कारण है ऐसा क्रिया काण्ड रूप व्यवहार धर्म और दूसरा आत्मा के स्वभावरूप धर्म इस धर्म को जो जाने सो धर्मज्ञ इस अर्थ वाले धर्मज्ञ का यहां कथन नहीं है। दूसरा धर्मज्ञ शब्द का अर्थ—धर्म मायने पुण्य और उसी के उपलक्षण से उसका सहचरी अधर्म मायने पाप, इन पुण्य पाप को जो जानता है वह धर्मज्ञ है यही अर्थ यहां प्रकरण में इष्ट है, मीमांसक का कहना है कि धर्मज्ञ तो कोई बन ही नहीं सकता, क्योंकि धर्म अधर्म का ज्ञान मात्र वेद में है उस वेद को पढ़कर परोक्ष से भले ही शब्द मात्र में धर्म अधर्म को कोई जान लेवे, किन्तु इनका साक्षात ज्ञान तो किसी को भी नहीं होता, इन पुण्य पाप को छोड़कर अशेष पदार्थों को कोई जानने वाला होवे तो निषेध नहीं है उसको जैनादिक सर्वज्ञ नाम रख देते हैं तो ठीक है ऐसा सर्वज्ञ निषिध्य नहीं है, किन्तु "सर्वं जानाति इति सर्वज्ञः" इस निरुक्ति के अनुसार सर्व में धर्म अधर्म पदार्थ भी आते हैं उनका किसी पुरुष के द्वारा जानना हो नहीं सकता अतः हम मीमांसक सर्वज्ञ का निषेध करते हैं, जैन सर्वज्ञ को अतीन्द्रियदर्शी भी मानते हैं सो हमें इष्ट नहीं है क्योंकि बिना इंद्रिय के ज्ञान नहीं हो सकता। अस्तु।

मीमांसक जैन से पूछते हैं कि सर्वज्ञ धर्म अधर्म को भी जानता है ऐसा आपका कहना है सो वह धर्मादि को जानने वाले सर्वज्ञ का ज्ञान चक्षु आदि इंद्रियों से उत्पन्न हुआ है, या अभ्यास से, कि शब्द प्रभव अर्थात् आगम से, अथवा अनुमान से उत्पन्न हुआ है ? चक्षु आदि इंद्रिय से सर्वज्ञ का ज्ञान उत्पन्न हुआ है और वह धर्मादि का ग्राहक है ऐसा कहना असंभव है, चक्षु आदि इन्द्रियां अपने प्रतिनियत रूप, रस आदि विषयों में प्रवृत्त होती हैं धर्मादि विषयों में नहीं, अतः उनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान

तत्प्रामाण्येऽशेषार्थविषयज्ञानसम्भवः, तत्सम्भवे चाशेषज्ञस्य तथाभूतशब्दप्रणेतृत्वमिति। अभ्युपगम्यते च प्रेरणाप्रभवज्ञानवतो धर्मज्ञत्वम्,

"चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं नान्यत् किंचनेन्द्रियादिकम्" [शाबरभा० १।१।२] इत्यभिधानात्।

अनुमानाविर्भूतमित्यप्यसङ्गतम्; धर्मादेरतीन्द्रियत्वेन तज्ज्ञापकलिङ्गस्य तेन सह सम्बन्धासिद्धेरसिद्धसम्बन्धस्य चाज्ञापकत्वात्।

किञ्च, अनुमानेनाशेषज्ञत्वेऽस्मदादीनामपि तत्प्रसङ्गः, 'भावाभावोभयरूपं जगत्प्रमेयत्वात्'

भी उसी रूपादि का ग्राहक होगा। अभ्यास से कहना भी मनोरथ मात्र है। अभ्यास तो किसी व्यक्ति के प्रतिनियत शिल्पकला आदि में उपदेश या ज्ञान से होता है, किंतु संपूर्ण विषयों का न तो कोई उपदेश ही दे सकता है और न किसी को उससे ज्ञान ही हो सकता है। यदि अशेषार्थ का उपदेश और ज्ञान होता तो अभ्यास का प्रयास ही व्यर्थ ठहरता क्योंकि अशेषार्थ का ज्ञान तो हो चुका है? तथा इसमें अन्योन्याश्रय दोष भी आता है, अभ्यास से अशेषार्थ का ज्ञान होना और उस ज्ञान से अभ्यास होना इस प्रकार एक की भी सिद्धि नहीं होगी। आगम से धर्मादि को ग्रहण करने वाला ज्ञान होता है ऐसा कहना भी अन्योन्याश्रय दोष युक्त है सर्वज्ञ प्रणीत होने से आगम में प्रामाण्य आने पर तो अशेषार्थ का ज्ञान होना संभव होगा, और उसके संभव होने पर सर्वज्ञ के अशेषार्थ विषय का प्रणेतृत्व सिद्ध हो पायेगा। इस तरह दोनों ही असिद्ध रहेंगे। हम लोग वेद से जिनको ज्ञान हुआ है ऐसे ज्ञानी पुरुषों के धर्मज्ञपना तो स्वीकार करते ही हैं, अर्थात् यह बात पहले भी कही थी कि वेद से धर्म अधर्मादि का ज्ञान भले ही होवे किंतु साक्षात् ज्ञान नहीं हो सकता। वेद तो ऐसा पदार्थ है कि वह भूत, भविष्यत, वर्तमान, सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट इत्यादि जातीय पदार्थों को जानने में बिलकुल पूर्ण समर्थ है, वेद को छोड़कर अन्य इंद्रियादि इस तरह के ज्ञान के कारण नहीं हो सकते, इस तरह शाबरभाष्य में प्रतिपादन किया है। सर्वज्ञ का ज्ञान धर्मादि का ग्राहक है ऐसा जैन कहते हैं उसमें हमने चार प्रश्न किये थे कि सर्वज्ञ का ज्ञान धर्मादि का ग्राहक है सो वह इंद्रिय जनित है, अभ्यास जनित है, आगम जनित है या अनुमान जनित है? इनमें से पहले के तीनों विकल्प खण्डित हुए। अब चौथा विकल्प=अनुमान जनित ज्ञान धर्मादि का ग्राहक है, सो यह कथन भी असत् है, धर्मादिक अतीन्द्रिय पदार्थ हैं, उनका ज्ञायक कोई हेतु हो नहीं सकता, क्योंकि

इत्याद्यनुमानस्यास्मदादीनामपि भावात् । अनुमानागमज्ञानस्य चास्पष्टत्वात्तज्जनितस्याप्यवैशद्यसम्भवान्न तज्ज्ञानवान्सर्वज्ञो युक्तः ।

न च वक्तव्यम्–'पुनःपुनर्भाव्यमानं भावनाप्रकर्षपर्यन्ते योगिज्ञानरूपतामासादयत्तद्वैशद्यभाग् भविष्यति । दृश्यते चाभ्यासबलात्कामशोकाद्युपप्लुतज्ञानस्य वैशद्यम्' इति; तद्वदस्याप्युपप्लुतत्वप्रसङ्गात् ।

किञ्च, अस्याखिलार्थग्रहणं सकलज्ञत्वम्, प्रधानभूतकतिपयार्थग्रहणं वा ? तत्राद्यपक्षे क्रमेण तद्ग्रहणम्, युगपद्वा ? न तावत्क्रमेण; अतीतानागतवर्त्तमानार्थानां परिसमाप्त्यभावात्तज्ज्ञानस्याप्यपरिसमाप्तेः सर्वज्ञत्वायोगात् । नापि युगपत्; परस्परविरुद्धशीतोष्णाद्यर्थानामेकत्र ज्ञाने प्रतिभासा-

---

अतीन्द्रियार्थ के साथ हेतु का अविनाभाव सिद्ध होना अशक्य है, बिना अविनाभाव संबंध सिद्ध हुए हेतु साध्य का ज्ञायक (सिद्ध करने वाला) नहीं होता । दूसरी बात यह है कि अनुमान से अशेषार्थ का ज्ञान होना शक्य है तो हम जैसे व्यक्ति भी सर्वज्ञ बन सकते हैं, क्योंकि हम लोग भी "यह जगत भाव, अभाव उभयरूप है, क्योंकि वह प्रमेय है" इत्यादि अनुमान प्रमाण से सकलार्थ को जानते हैं यह भी बात है कि अनुमान ज्ञान तथा आगम ज्ञान ये तो अस्पष्ट होते हैं उनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान विशद नहीं होता, अतः इस ज्ञान के धारक पुरुष सर्वज्ञ नहीं कहला सकते ।

कोई कहे कि आगम या अनुमान जनित ज्ञान की पुनः पुनः भावना करने से भावना की चरम सीमा होगी और उस भावना प्रकर्ष के होने पर योगी के ज्ञान पने को प्राप्त होता हुआ विशद् रूप से प्रगट होवेगा, देखा भी जाता है कि अभ्यास के बल से काम, शोक आदि से व्याप्त ज्ञान विशद् रूप से अनुभव में आने लगता है ? सो यह कहना अयुक्त है, भावना ज्ञान के समान इस सर्वज्ञज्ञान में विशदता मानेंगे तो वह भावना के समान ही उपप्लत व्याहत बन जायेगा ।

दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ की सर्वज्ञता संपूर्ण वस्तुओं को जानने वाली है या मुख्य मुख्य कुछ पदार्थों को जानने वाली है ? प्रथम पक्ष कहो तो वह सकलार्थ का ग्रहण क्रम से होता है या युगपत होता है ? क्रम से कहना नहीं, अतीत, अनागत, वर्तमान इन तीनों कालों में होने वाले पदार्थों का क्रम से जानकर अंत आ ही नहीं सकता, अंत आये बिना पूरा सभी का ज्ञान नहीं होता और उसके बिना सर्वज्ञ बनता नहीं यह आपत्ति है । युगपत अशेष पदार्थों का ग्रहण होना भी शक्य नहीं है, परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले, शीत उष्ण आदि पदार्थों का एक ही ज्ञान में एक साथ प्रतिभास

सम्भवात् । सम्भवे वा प्रतिनियतार्थस्वरूपप्रतीतिविरोधः ।

किञ्च, एकक्षण एवाशेषार्थग्रहणाद् द्वितीयक्षणेऽकिञ्चिज्ज्ञः स्यात् । तथा परस्थरागादिसाक्षात्करणाद्रागादिमान्, अन्यथा सकलार्थसाक्षात्करणविरोधः ।

नापि प्रधानभूतकतिपयार्थग्रहणम्; इतरार्थव्यवच्छेदेन 'एतेषामेव प्रयोजननिष्पादकत्वात्प्राधान्यम्' इति निश्चयो हि सकलार्थज्ञाने सत्येव घटते, नान्यथा । तच्च प्रागेव कृतोत्तरम् ।

कथं चातीतानागतग्रहणं तत्स्वरूपासम्भवाद् ? असतो ग्रहणे तैमिरिकज्ञानवत्प्रामाण्याभावः । सत्त्वेन ग्रहणेऽतीतादेर्वर्त्तमानत्वम् । तथा चान्यकालस्यान्यकालतया वस्तुनो ग्रहणात्तज्ज्ञानस्याऽप्रामाण्यम् ।

होना असंभव है । यदि संभव माने तो उन पदार्थों के स्वभावों को विभिन्न प्रतीति नहीं आयेगी । जैनादिवादी का सर्वज्ञ एक ही क्षण में संपूर्ण पदार्थों को जान लेता है अतः दूसरे आदि क्षणों में वह असर्वज्ञ बन बैठेगा तथा अन्य रागी द्वेषी पुरुषों के विकारों को साक्षात करने से स्वयं भी रागी द्वेषी हो जायगा । यदि सर्वज्ञ रागादि को जानते समय राग आदि रूप नहीं होता तो उसने सकलार्थ को साक्षात् ही क्या किया ? अर्थात् नहीं किया । मुख्य मुख्य कुछ पदार्थों को जानकर सर्वज्ञ होता है ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, जगत में पदार्थ अनंतानंत है उनमें से अन्य का व्यवच्छेद करके अन्य ही किसी को जानना, इतने पदार्थ मुख्य हैं इन्हीं से मोक्षादि प्रयोजन सिद्ध होते हैं, इत्यादि निश्चय तो सभी पदार्थों के जानने पर हो हो सकेगा ? अन्यथा नहीं, सभी पदार्थ का ज्ञान सभव नहीं है, इस विषय में पहले ही जवाब दे चुके हैं ।

सर्वज्ञ अतीत अनागत पदार्थों को जानता है ऐसा कहते हैं किन्तु उन अतीतादि का ग्रहण कैसे होवे ? पदार्थ तो हैं नहीं, बिना होते असत् को ही ग्रहण करता है तब तो वह सर्वज्ञ का ज्ञान नेत्र रोगी के विपरीत ज्ञान के समान हुआ । उसमें प्रामाण्य संभव नहीं । यदि अतीत आदि को सत्ता रूप से ग्रहण करे तो अतीतादि वर्तमान रूप हो जायेंगे, इस प्रकार से अन्य काल के वस्तु को अन्य काल रूप से ग्रहण करेगा तो वह ज्ञान अप्रमाण हो जायगा । तथा यह सर्वज्ञ संपूर्ण वस्तुओं को जानने वाला है ऐसा उसी के समय होने वाले अन्य असर्वज्ञ पुरुषों द्वारा किस प्रकार जाना जा सकेगा ? क्योंकि असर्वज्ञ पुरुष सकलार्थ को जानते नहीं । कहा भी है—"यह सर्वज्ञ पुरुष है" ऐसा तत्कालीन पुरुष भी कैसे जान सकेंगे, क्योंकि वे अन्य पुरुष सर्वज्ञ

कथं चासौ तद्ग्राह्याखिलार्थाज्ञाने तत्कालेप्यसर्वज्ञैर्ज्ञातुं शक्यते ? तदुक्तम्—

"सर्वज्ञोयमिति ह्येतत्तत्कालेपि बुभुत्सुभिः ।
तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ।। १ ।।
कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव ।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुद्धयते ।। २ ।।
सर्वज्ञो नावबुद्धश्च येनैव स्यान्न तं प्रति ।
तद्वाक्यानां प्रमाणत्व मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत् ।। ३ ।।"

[मी० श्लो० चोदनासू० श्लो० १३४-३६] इति ।

के ज्ञान को नहीं जानते हैं और न उसके ज्ञेयों को ही जानते हैं ।।१।। सर्वज्ञ को तो सर्वज्ञ ही जान सकेगा ऐसा माने तो बहुत सारे सर्वज्ञ होवेंगे, क्योंकि असर्वज्ञ है वह सर्वज्ञ को जान नहीं सकता ।।२।। जिस किसी ने भी सर्वज्ञ को नहीं जाना हो वह उस सर्वज्ञ के वाक्य को प्रमाण नहीं मान सकता, क्योंकि आगम का हेतु जो सर्वज्ञ है उसका ज्ञान नहीं हुआ है, जैसे रथ्या पुरुष के वाक्य को प्रमाण नहीं मानते हैं । इस प्रकार सर्वज्ञ को सिद्धि नहीं होती है उसके विशिष्ट ज्ञान की सिद्धि भी नहीं होती, अतः हम मीमांसक सर्वज्ञ की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं ।

जैन—अब यहां मीमांसकका सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करने वाला मंतव्य खण्डित किया जाता है—पूर्व पक्ष में कहा कि सत्ता ग्राहक पांचों प्रमाणों द्वारा सर्वज्ञ को नहीं जाना जाता है, सो यह बात असिद्ध है, सर्वज्ञ को सिद्ध करने वाले अनुमानादि प्रमाण मौजूद हैं । उसी अनुमान प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—कोई आत्मा सकल पदार्थों को साक्षात जानने वाला है क्योंकि उन पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव वाला होकर उसके प्रतिबंधक कर्मों का अभाव हो चुका है, जो जिसके ग्रहण करने का स्वभाव वाला होकर प्रक्षीणावरण बन जाता है वह उसका साक्षात जानने वाला होता ही है, जैसे तिमिर आदि रोग का नाश होने पर नेत्र ज्ञान रूप को साक्षात जानता है, किसी आत्मा में सकल पदार्थों का ग्रहण करने का स्वभाव होकर साथ ही आवरण कर्म का नाश भी हो गया है । आत्मा में सकल पदार्थों का साक्षात करने का स्वभाव असिद्ध भी नहीं है । चोदना अर्थात् वेद के बल से अखिल पदार्थों के ज्ञानोत्पत्ति की अन्यथानुपपत्ति से ही वह स्वभाव सिद्ध हो जाता है ।

अत्र प्रतिविधीयते । यत्तावदुक्तम्-सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्वं साधनम्; तदसिद्धम्; तत्सद्भावावेदकस्यानुमानादेः सद्भावात् । तथाहि-कश्चिदात्मा सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वात्, यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययं तत्तत्साक्षात्कारि यथापगततिमिरादिप्रतिबन्धं लोचनविज्ञानं रूपसाक्षात्कारि, तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययश्च कश्चिदात्मेति । न तावत्सकलार्थग्रहणस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धम्; चोदनाबलान्निखिलार्थज्ञानोत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेस्तस्यतत्सिद्धेः, 'सकलमनेकान्तात्मकं सत्त्वात्' इत्यादिव्याप्तिज्ञानोत्पत्तेर्वा । यद्धि यद्विषयं तत्तद्ग्रहणस्वभावम् यथा रूपादिपरिहारेण रसविषयं रासनविज्ञानं रसग्रहणस्वभावम्, सकलार्थविषयश्चात्मा व्याप्त्यागमज्ञानाभ्यामिति । सोयं

"चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवजातीयकमर्थमवगमयितुमल पुरुषान्" [शाबरभा० १।१।२] इति स्वयं ब्रुवाणो विधिप्रतिषेधविचारणानिबन्धनं साकल्येन व्याप्तिज्ञानं च प्रतिपद्यमानः सकलार्थग्रहणस्वभावतामात्मनो निराकरोतीति कथं स्वस्थः ? प्रक्षीणप्रतिबन्धप्रत्ययत्वं च प्रागेव प्रसाधितत्वान्नासिद्धम् ।

भावार्थः—मीमांसक वेद के द्वारा संपूर्ण पदार्थों का ज्ञान होना स्वीकार करते हैं अतः आत्मा में सकल पदार्थों को साक्षात करने का स्वभाव अपने आप सिद्ध हो जाता है, क्योंकि आत्मा में वैसा स्वभाव है तभी तो वेदाध्ययन से पूर्ण ज्ञान होता है, आत्मा में यह गुण नहीं होता तो वेद से क्या ज्ञान हो सकता था ? नहीं हो सकता था । "संसार के सभी पदार्थ अनेकांत स्वभाव वाले हैं, क्योंकि वे सत्यरूप हैं" इत्यादि व्याप्ति ज्ञान से भी आत्मा के सकलार्थ ग्राहक स्वभाव की सिद्धि होती है । आत्मा संपूर्ण वस्तुओं को ग्रहण करने के स्वभाव से युक्त है, क्योंकि सकलार्थ विषय वाला है, जो जिसका विषय होता है वह उसके ग्रहण करने के स्वभाव के कारण ही होता है, जैसे रस संबंधी ज्ञान रूपादि का परिहार करके मात्र रस को जानता है वह उसके जानने का स्वभाव होने के कारण ही है, अतः व्याप्ति ज्ञान और आगम ज्ञान के द्वारा आत्मा सकलार्थ को जानने वाला है इतना तो मीमांसक कहते ही हैं अर्थात् वेद भूत, भावी, वर्तमान, विप्रकृष्ट इत्यादि विषयों को जानने में पुरुषों को समर्थ करता है, ऐसा स्वयं कह रहे हैं तथा व्याप्ति ज्ञान के द्वारा विधि निषेध मुख से तत् तत् विषयक साध्य साधन का पूर्ण ज्ञान होना भी बता रहे हैं, और फिर भी आत्मा में सकलार्थ ग्रहण स्वभाव का निराकरण करते हैं सो वे कैसे स्वस्थ कहलायेंगे ? आत्मा के प्रतिबंधक आवरण कर्म का क्षय होता है इस विषय को तो पहले ही सिद्ध कर चुके हैं,

साध्यसाधनयोश्च प्रतिबन्धो न प्रत्यक्षानुमानाभ्यां प्रतिज्ञायते येनोक्तदोषानुषङ्गः स्यात्, तर्काख्यप्रमाणान्तरात्तत्सिद्धेः।

यच्चाप्रतिपन्नपक्षधर्मत्वो हेतुर्न प्रतिनियतसाध्यप्रतिपत्त्यङ्गमित्युक्तम्; तदप्यपेशलम्; न हि सर्वज्ञोत्र धर्मित्वेनोपात्तो येनास्यासिद्धेरयं दोषः। किं तर्हि ? कश्चिदात्मा। तत्र चाविप्रतिपत्तेः। न चापक्षधर्मस्य हेतोरगमकत्वम्;

"पित्रोश्च ब्राह्मणत्वेन पुत्रब्राह्मणतानुमा।
सर्वलोकप्रसिद्धा न पक्षधर्ममपेक्षते।।" [ ]

इति स्वयमभिधानात्।

यदप्युक्तम्–सत्तासाधने सर्वो हेतुस्त्रयीं दोषजातिं नातिवर्त्तत इति; तत्सर्वानुमानोच्छेदकारित्वादयुक्तम्; शक्यं हि वक्तुं धूमत्वादिर्यद्यग्निमत्पर्वतधर्मस्तदाऽसिद्धः को हि नामाग्निमत्पर्वतधर्मं हेतुमिच्छन्नग्निमत्त्वमेव नेच्छेत्। तद्विपरीतधर्मश्चेद्विरुद्धः; साध्यविरुद्धसाधनात्। उभयधर्म-

---

अतः वह असिद्ध नहीं तथा सर्वज्ञ रूप साध्य के साथ हेतु का अविनाभाव प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होता है इस तरह हम स्वीकार नहीं करते हैं, हम तो तर्क नामा एक प्रथक प्रमाण मानते हैं उसी के द्वारा अविनाभाव संबंध जाना जाता है अतः वे अनवस्थादि दिये हुए दोष लागू नहीं हो सकते।

जिस हेतु का पक्ष धर्मत्व नामा गुण नहीं जाना है वह प्रतिनियत साध्य को सिद्धि का कारण नहीं हो सकता है ऐसा कहा वह गलत है, हमने इस अनुमान में सर्वज्ञ को धर्मी नहीं बनाया है जिससे उसकी असिद्धि से यह दोष आवे। हम तो किसी एक आत्मा को पक्ष बना रहे हैं, उसमें किसी का विवाद नहीं है, तथा आप हेतु में पक्ष धर्मत्व नहीं होना दोष बता रहे हैं वह भी ठीक नहीं है, पक्ष धर्मत्व रहित हेतु भी अगमक नहीं होता, माता पिता के ब्राह्मण होने से पुत्र को ब्राह्मणमता का अनुमान हो जाता है यह सर्व लोक प्रसिद्ध बात है यहां पक्ष धर्मत्व की अपेक्षा नहीं है। ऐसा आप स्वयं मानते हैं। और भी जो कहा है कि सर्वज्ञ की सत्ता सिद्ध करने में जो भी हेतु होंगे वे सभी असिद्धादि तीन दोषों से रहित नहीं होवेंगे ? सो यह कथन संपूर्ण अनुमानों का विच्छेद करने वाला होने से अयुक्त है, कोई कह सकता है कि धूमत्व आदि हेतु यदि अग्निमान पर्वत का धर्म है तो वह असिद्ध दोष युक्त होगा ? क्योंकि ऐसा कौन

श्चेद्व्यभिचारी सपक्षेतरयोर्वर्त्तनात्। विमत्यधिकरणभावापन्नधर्मिधर्मत्वे धूमवत्त्वादेः सर्वं सुस्थम्। यथा चाचलस्याचलत्वादिना प्रसिद्धसत्ताकस्य सन्दिग्धाग्निमत्त्वादिसाध्यधर्मस्य धर्मो हेतुर्न विरुध्यते, तथा प्रसिद्धात्मत्वादिविशेषणसत्ताकस्याप्रसिद्धसर्वज्ञत्वोपाधिसत्ताकस्य च धर्मिणो धर्मः प्रकृतो हेतुः कथं विरुध्येत ?

यदपि अविशेषेण सर्वज्ञः कश्चित्साध्यते विशेषेण वेत्याद्यभिहितम्; तदप्यभिधानमात्रम्; सामान्यतस्तत्साधानात्तत्रैव विवादात्। विशेषविप्रतिपत्तौ पुनर्दृष्टेष्टाविरुद्धवाक्त्वादर्हत एवाशेषार्थ-

---

बुद्धिमान है कि जो अग्निमान पर्वत का धर्म रूप हेतु को मानकर उसमें अग्निमानत्व नहीं होगा ? अर्थात् पर्वत अग्निवाला सिद्ध है तो उसका धर्म धूमत्व भी सिद्ध है, अतः उस पर हेतु से अग्नित्व सिद्ध करना बेकार है। तथा धूमत्व हेतु अग्निरहित पर्वत का धर्म है तो विरुद्ध होगा क्योंकि साध्य को विरुद्ध सिद्ध करने वाला है ? अग्निमान और अनग्निमान दोनों प्रकार के पर्वतों का धर्मत्व रूप धूमत्व हेतु है तो व्यभिचारी बन बैठेगा ? क्योंकि सपक्ष और विपक्ष दोनों में रह गया। यदि किसी एक विवाद ग्रस्त धर्मी स्वरूप पर्वत का धर्म धूमत्व हेतु है ऐसा मानते हैं तब तो सब ठीक हो जाता है। जिस प्रकार पर्वत स्थिरपना, स्थूलपना आदि रूप अपने स्वरूप से प्रसिद्ध है उसमें सन्दिग्ध अग्निमान है उसको पक्ष बनाते हैं तो पक्ष का धर्म रूप जो धूमत्व हेतु है वह विरुद्ध नहीं पड़ता है, क्योंकि पर्वतरूप पक्ष अपने पर्वत पने से तो प्रसिद्ध सत्ता वाला ही है, बिल्कुल उसी प्रकार सर्वज्ञत्व की सिद्धि में आत्मत्व, अमूर्तत्व आदि विशेषणों से प्रसिद्ध सत्ता वाला पुरुष विशेष है, उसमें केवल सर्वज्ञपना संदिग्ध है, उसको साध्य बनाकर "तद् ग्रहण स्वभावत्वे सति प्रक्षीण प्रतिबंध प्रत्ययत्वात्" हेतु को प्रयुक्त करते हैं तो यह हेतु किस प्रकार विरुद्ध पड़ेगा ? अर्थात् नहीं पड़ सकता है।

विशेषार्थः—सर्वज्ञ सिद्धि में जो कोई हेतु देवे तो वह धर्मी असिद्ध होने से असिद्ध ही कहलायेगा ऐसा मीमांसक ने कहा था सो उसको आचार्य ने समझाया कि ऐसा कहने से प्रसिद्ध प्रसिद्ध धूमत्वादि हेतु असिद्ध होवेंगे फिर तो अनुमान नामक चीज ही खतम हो जायगी। "यहां पर्वत पर अग्नि है क्योंकि धूम है" इस जगत प्रसिद्ध अनुमान में पर्वत धर्मी है वह पर्वतपने से तो सिद्ध ही है और अग्निमानपने से असिद्ध है सो इतने मात्र से उसे कोई असिद्ध धर्मी नहीं मानते, उसी प्रकार कोई आत्मा सकल पदार्थों का साक्षात करने वाला है इत्यादि अनुमान में पक्ष या धर्मी "कोई

ज्ञत्वं सेत्स्यति । कथं वा तत्प्रतिषेधः अत्राप्यस्य दोषस्य समानत्वात् ? अर्हतो हि तत्प्रतिषेधसाधनेऽप्रसिद्धविशेषणः पक्षो व्याप्तिश्च न सिध्येत्, दृष्टान्तस्य साध्यशून्यतानुषङ्गात् । अनर्हतश्चेत्; स एव दोषो बुद्धादेः परस्यासिद्धेः, अनिष्टानुषङ्गश्चार्हतस्तदप्रतिषेधात् । सामान्यतस्तत्प्रतिषेधे सर्वं सुस्थम् ।

यच्चोक्तम्—एकज्ञानप्रत्यक्षत्वं सूक्ष्माद्यर्थानां साध्यत्वेनाभिप्रेतं प्रतिनियतविषयानेकज्ञानप्रत्यक्षत्वं वेत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; प्रत्यक्षसामान्येन कस्यचित्सूक्ष्माद्यर्थानां प्रत्यक्षत्वसाधनात् ।

आत्मा" यह है सो आत्मत्व आदि धर्म से पहले से ही प्रसिद्ध है, अब उसमें सर्वज्ञत्व सिद्ध करना है वह प्रक्षीणावरणत्व इत्यादि हेतु से सिद्ध करेंगे, सो इस हेतु को असिद्ध कहना बनता नहीं, यदि सर्वज्ञ को पक्ष बनाते तब तो वह असिद्ध है और उसके असिद्ध होने से हेतु भी असिद्ध धर्मवाला कहलाता, इस प्रकार प्रक्षीणावरणत्व आदि हेतु को धूमत्व हेतु के समान निर्दोष सिद्ध किया है । मीमांसक ने पूछा था कि सामान्य से कोई एक सर्वज्ञ सिद्ध करना है कि विशेष से निश्चित किसी पुरुष विशेष को सर्वज्ञ सिद्ध करना है, सो यह प्रश्न भी ठीक नहीं, हम प्रथम तो सामान्य से ही सर्वज्ञ सिद्ध कर रहे हैं क्योंकि सर्वज्ञपने में ही अभी विवाद है । जब सामान्य से सर्वज्ञ सिद्ध हो जाता है तब विशेष प्रतिपत्ति के लिये उसको सिद्ध करते हैं कि प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के अविरोधी वचन बोलने वाले होने से अर्हंत देव ही सर्वज्ञ हैं, उसी में सकलार्थ साक्षात्कारित्व हो सकता है । आप मीमांसक सर्वज्ञ का प्रतिषेध करते हैं उसमें जो अनुमान उपस्थित करते हैं उसमें भी वही सर्वज्ञ सिद्धि वाले अनुमान के दोष आते हैं । इसी का खुलासा करते हैं—अर्हंत को पक्ष बनाते हैं तो वह अप्रसिद्ध विशेषण वाला हो जायगा अर्थात् अर्हंत सर्वज्ञ नहीं हैं क्योंकि वह पुरुष है, जैसे रथ्यापुरुष है । अब आपके इस अनुमान प्रयोग में पक्ष अर्हंत को बनाया, हेतु पुरुषत्व, और साध्य सर्वज्ञ नहीं, तथा दृष्टान्त रथ्या पुरुष है, इसमें अर्हंत नामा जो पक्ष है वह प्रसिद्ध नहीं होने से अनुमान सदोष पक्ष वाला हुआ तथा इसमें व्याप्ति भी सिद्ध नहीं है कि जो जो पुरुष हो वह वह अर्हंत होकर सर्वज्ञ न हो इस तरह की व्याप्ति नहीं होने से दृष्टान्त साध्य से विकल ठहरता है । इसी तरह अनर्हन्त (बुद्धादि) को पक्ष बनाते हैं तो वही दोष आयेगा क्योंकि आपके यहां बुद्ध आदि को माना नहीं, तथा अनिष्ट बात भी सिद्ध होगी अर्थात् "अनर्हन्त सर्वज्ञ नहीं है" ऐसा कहने से अर्हन्त के सर्वज्ञत्व का निषेध नहीं रहेगा । क्योंकि आपने अनर्हन्त को पक्ष बनाकर उसमें

प्रसिद्धे च तेषां सामान्यतः कस्यचित्प्रत्यक्षत्वे तत्प्रत्यक्षस्यैकत्वमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षत्वात्सिध्येत्, तदपेक्षस्यैवास्यानेकत्वप्रसिद्धेः। तदनपेक्षत्वं च प्रमाणान्तरात्सिद्धयेत्; तथाहि-योगिप्रत्यक्षमिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं सूक्ष्माद्यर्थविषयत्वात्, यत्पुनरिन्द्रियानिन्द्रियापेक्षं तन्न सूक्ष्माद्यर्थविषयम् यथास्मदादिप्रत्यक्षम्, तथा च योगिनः प्रत्यक्षम्, तस्मात्तथेति।

किञ्च, एवं साध्यविकल्पनेनानुमानोच्छेदः। शक्यते हि वक्तुम्-साध्यधर्मिधर्मोऽग्निः साध्य-

---

सर्वज्ञता का निषेध किया है। यदि सामान्य से कोई भी आत्मा सर्वज्ञ नहीं है ऐसा पक्ष बनाते हैं तो बात बनती है, सो तुम्हारे सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि करने में अनुमान प्रयोग की जैसी बात है वैसी हमारे सर्वज्ञ को सिद्धि करने में अनुमान की बात है, सर्वज्ञ सिद्धि वाले अनुमान में जो दोष देंगे तो वही दोष आपके सर्वज्ञ के अभाव सिद्धि वाले अनुमान में आयेंगे।

एक ज्ञान से सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना इष्ट है अथवा नियत विषय वाले अनेक ज्ञानों से सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रत्यक्ष होना इष्ट है? इत्यादि सर्वज्ञ के ज्ञान के विषय में कहना था वह अयुक्त है, किसी एक प्रत्यक्ष को सामान्य से सूक्ष्मादि अर्थों का प्रकाशक साधा है, प्रत्यक्ष सामान्य से उन सूक्ष्मादि पदार्थों का ग्रहण होना सिद्ध करके फिर उसमें एकत्व सिद्ध करेंगे कि यह ज्ञान इन्द्रिय मन आदि की अपेक्षा नहीं रखता अतः सूक्ष्मादि पदार्थों का प्रकाशक एक ही प्रत्यक्ष ज्ञान है। जो ज्ञान इन्द्रियादि की अपेक्षा रखता है वही अनेक प्रकार का होता है यह बात प्रसिद्ध है। सर्वज्ञ के प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियादि की अपेक्षा नहीं है इस बात का निर्णय तो दूसरे प्रमाण से सिद्ध करके बता सकते हैं, योगी (सर्वज्ञ या दिव्यज्ञानी) का प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियां और मन की अपेक्षा से रहित है, (पक्ष) क्योंकि वह सूक्ष्मादि विषयों को जानता है (हेतु) जो इंद्रिय तथा मन की अपेक्षा से युक्त है वह सूक्ष्मादि को नहीं जानता है, जैसे हमारा प्रत्यक्ष ज्ञान है, योगी प्रत्यक्ष सूक्ष्मादि का ग्राहक है अतः इन्द्रियादि की अपेक्षा से रहित है। दूसरी बात यह है कि एक ज्ञान रूप प्रत्यक्ष को साध्य बनाया है या अनेक ज्ञान रूप प्रत्यक्ष को साध्य बनाया है इत्यादि प्रश्न किये हैं उससे तो अनुमान का ही उच्छेद होता है। अन्य अग्नि आदि साध्य में तुम्हारे जैसे प्रश्न कर सकते हैं कि साध्य धर्मी के अर्थात् पक्ष के धर्म रूप अग्नि को साध्य बनाया है अथवा दृष्टान्त धर्मी के धर्म को? या उभय=दृष्टांत और पक्ष दोनों के धर्म को? प्रथम पक्ष

त्वेनाभिप्रेतः, दृष्टान्तधर्मिधर्मः, उभयधर्मो वा ? प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः, तद्विरुद्धेन दृष्टान्तधर्मिणि तद्धर्मेणाग्निना धूमस्य व्याप्तिप्रतीतेः । साध्यविकलश्च दृष्टान्तः स्यात् । द्वितीयपक्षे तु प्रत्यक्षादि-विरोधः । अथोभयगताग्निसामान्यं साध्यते तर्हि सिद्धसाध्यता ।

यच्चान्यदुक्तम्–प्रमेयत्वं किमशेषज्ञेयव्यापिप्रमाणप्रमेयत्वव्यक्तिलक्षणमस्मदादिप्रमाणप्रमेयत्व-व्यक्तिस्वरूपं वेत्यादि; तद्धूमादिसकलसाधनोन्मूलनहेतुत्वान्न वक्तव्यम् । तथाहि–साध्यधर्मिधर्मो धूमो हेतुत्वेनोपात्तः, दृष्टान्तधर्मिधर्मो वा स्यात्, उभयगतसामान्यरूपो वा ? साध्यधर्मिधर्मत्वे दृष्टान्ते तस्याभावादनन्वयो हेतुदोषः । दृष्टान्तधर्मिधर्मत्वे साध्यधर्मिण्यभावादसिद्धता । उभयगतसामान्यरूप-

---

में धूम हेतु विरुद्ध होगा, क्योंकि साध्य धर्मी के विरुद्ध दृष्टान्त धर्मी में उसका धर्म जो अग्नि है उसके साथ धूम हेतु की व्याप्ति देखी जाती है महानस का दृष्टान्त भी साध्य विकल होवेगा । द्वितीय पक्ष में तो प्रत्यक्षादि से ही विरोध आयेगा तथा तीसरा पक्ष बचा लेते हैं अर्थात् पर्वत और रसोई घर दोनों में स्थित अग्नि सामान्य को साध्य बनाते हैं, तो सिद्ध साध्यता है ।

विशेषार्थः—इस पर्वत पर अग्नि है; क्योंकि धूम निकल रहा है जैसे रसोई घर । यह अनुमान है इसमें साध्य अग्नि है उसके विषय में कोई बेकार के प्रश्न करे कि अग्नि को जो साध्य बनाया है वह कौनसी अग्नि है ? पर्वत पर होने वाली या रसोई घर में होने वाली ? पर्वत पर की अग्नि को साध्य बनाते हैं तो धूमत्व हेतु विरुद्ध पड़ता है क्योंकि वह दृष्टान्त में स्थित अग्नि के साथ व्याप्ति नहीं रखता है । यदि दृष्टान्त की अग्नि को साध्य बनाते हैं तो प्रत्यक्ष से विरोध होगा क्योंकि पर्वत पर अग्नि है ऐसा कहते जा रहे हैं और अग्नि तो रसोई घर की इष्ट है इत्यादि । पर्वत और महानस दोनों में स्थित मात्र अग्नि सामान्य को साध्य बनाना तो बेकार है ? अग्नि सामान्य तो सिद्ध ही है सो ये सब बेकार के प्रश्न अनुमान का नाश कर देते हैं, ठीक इसी प्रकार सर्वज्ञ सिद्धि के अनुमान में किसको साध्य बनाया है इत्यादि प्रश्न अनुमानोच्छेदक है । मीमांसक ने पूछा था कि अशेष ज्ञेय व्यापि प्रमाण का जो प्रमेयत्व है उसको हेतु बनाया है अथवा हम जैसे व्यक्ति के प्रमाण का जो प्रमेयत्व है उसको बनाया है ? सो इस पर हम जैन का कहना है कि ये प्रश्न भी संपूर्ण जगत प्रसिद्ध धूमत्व आदि हेतुओं का नाश करने वाले हैं, इसी का खुलासा करते हैं —पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करने में धूम हेतु देते हैं वह धूम कौन सा है साध्य धर्मी का धर्म है या दृष्टान्त धर्मी का धर्म है, अथवा उभयगत धर्म है ? साध्य धर्मी के धर्म को हेतु

त्वेप्यसिद्धतैव, प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्वेनात्यन्तविलक्षणमहानसाचलप्रदेशव्यक्तिद्वयाश्रितसामान्यस्यैवासम्भवात् । अथ कण्ठाक्षिविक्षेपादिलक्षणधर्मकलापसाधर्म्यान्न महानसाचलप्रदेशाश्रितधूमव्यक्त्योरत्यन्तवैलक्षण्यं येनोभयगतसामान्यासिद्धेरसिद्धता स्यात्; तर्हि स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकत्वादिधर्मकलापसाधर्म्यस्यातीन्द्रियेन्द्रियविषयप्रमाणव्यक्तिद्वयेऽत्यन्तवैलक्षण्यनिवर्त्तकस्य सम्भवादुभयसाधारणसामान्यसिद्धेः कथं प्रमेयत्वसामान्यस्यासिद्धिः ?

यच्चेदमुक्तम्–प्रसङ्गविपर्ययाभ्यां चास्याशेषार्थविषयत्वं बाध्यत इत्यादिः तन्मनोरथमात्रम्; साध्यसाधनयोर्व्याप्यव्यापकभावसिद्धौ हि व्याप्याभ्युपगमो व्यापकाभ्युपगमनान्तरीयको यत्र प्रदर्श्यते

बनावे तो दृष्टान्त में उसका अभाव होने से अनन्वयी नामा सदोष हेतु कहलायेगा। दृष्टान्त धर्मी के धर्म को हेतु बनावे तो साध्य धर्मी में उसका अभाव होने से वह असिद्ध हेत्वाभास हो जायगा। उभयगत सामान्य धर्म को हेतु बनावे तो भी असिद्ध नामा हेत्वाभास दोष आता है, कैसे सो बताते हैं– महानस और पर्वत के प्रदेश प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दो तरह के हैं अर्थात् महानस प्रत्यक्ष है और पर्वतगत अग्निप्रदेश अप्रत्यक्ष है अतः पृथक है, इन दोनों में रहने वाला सामान्य सम्भव नहीं है।

शंका—मानस का धूम हो चाहे पर्वत का दोनों कंठ तथा नेत्र में विक्षेप करना आदि धर्म समूह से युक्त होते हैं अतः इनमें अत्यन्त वैलक्षण्य नहीं है इसलिये धूम हेतु उभयगत सामान्य से रहित होने से असिद्ध हेत्वाभास है ऐसा कहना ठीक नहीं ?

समाधान—तो फिर अतीन्द्रियविषयक प्रमाण हो चाहे इन्द्रियविषयक प्रमाण हो दोनों में स्व और अपूर्वार्थ का निश्चय करना आदिरूप समान धर्मसमूह है, अतः अत्यन्त वैलक्षण्य तो इनमें भी नहीं है, उभयगत सामान्य की दोनों ज्ञानोंमें सिद्धि है, इसलिये उनमें प्रमेयत्व सामान्य की किसप्रकार असिद्धि हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती।

सर्वज्ञ के ज्ञानको अशेषपदार्थ को विषय करने वाला मानना प्रसंग और विपर्यय से बाधित होता है इत्यादि मीमांसक का कथन मनोरथ मात्र है पहले प्रसंग साधन और विपर्यय किसे कहते हैं इस बात को देखे, साध्य और साधन में व्याप्य-व्यापकभाव सिद्ध होने पर जहां व्याप्य स्वीकार किया वहां व्यापक अवश्य स्वीकार करना होगा ऐसा दिखाना "प्रसंग साधन" अनुमान कहलाता है। तथा व्यापक के निवृत्त होने पर [हट जाने पर] व्याप्य भी निवृत्त होता है ऐसा दिखाना "विपर्यय"

तत्प्रसङ्गसाधनम्। व्यापकनिवृत्तौ चावश्यं भाविनी व्याप्यनिवृत्तिः स विपर्ययः। न च प्रत्यक्षत्व-सत्सम्प्रयोगजत्वविद्यमानोपलम्भनत्वधर्माद्यनिमित्तत्वानां व्याप्यव्यापकभावः क्वचित् प्रतिपन्नः। स्वात्मन्येवासौ प्रतिपन्न इत्यप्यसङ्गतम्; चक्षुरादिकरणग्रामप्रभवप्रत्यक्षस्याव्यवहितदेशकालस्वभावा-विप्रकृष्टप्रतिनियतरूपादिविषयत्वाभ्युपगमात्, नियमस्य चाभावाद्विप्रकृष्टार्थग्राहकेपि प्रत्यक्षशब्दवाच्य-त्वदर्शनात्। तथाहि—अनेकयोजनशतव्यवहितार्थग्राहि वैनतेयप्रत्यक्षं रामायणादौ प्रसिद्धम्, लोके चातिदूरार्थग्राहि गृध्रवराहादिप्रत्यक्षम्, स्मरणसव्यपेक्षेन्द्रियादिजन्यप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षं च कालविप्रकृष्ट-स्यातीतकालसम्बन्धित्वस्यातीतदर्शनसम्बन्धित्वस्य च ग्राहि पुरोवस्थितार्थे भवतैवाभ्युपगम्यते।

कहलाता है। इस प्रकार के प्रसंग और विपर्यय की यहां अशेषार्थ—विषयत्व आदि में उपस्थिति नही है क्योंकि यहां प्रत्यक्षत्व और सत्संप्रयोगजत्व इन दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव है ऐसा कहीं जाना नहीं गया है, ऐसे ही विद्यमानोपलंभतत्व और धर्मादि अनिमित्तत्व इन दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव भी निश्चित नहीं है, जिससे कि एक के होने पर दूसरा होना भी जरूरी है और एक के नहीं होने पर दूसरा भी नहीं होना जरूरी है।

शंका:— प्रत्यक्षत्व और संप्रयोगजत्व का व्याप्य-व्यापक भाव अपने में ही जाना हुआ है ?

समाधान:—यह कथन असंगत है, चक्षु आदि इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ प्रत्यक्ष ज्ञान अव्यहित देश, काल, स्वभाव और अविप्रकृष्ट नियत रूपादि विषय को जानता है, किंतु सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष तो ऐसा नहीं है। यह भी नियम नही है कि जो निकटवर्ती देश काल आदि को जाने वही प्रत्यक्ष शब्द के द्वारा वाच्य हो, दूरवर्ती देशादि विषयों को जो जाने उसे भी प्रत्यक्ष कहते है कैसे सो बताते हैं आपके यहां ही रामायणादि में कथन पाया जाता है कि अनेक योजनों दूर देश में स्थित पदार्थ को वैनतेय (गरुड) देख लेता था। लोक में भी देखा जाता है कि गृध्र वराह आदि जीव दूर दूर के वस्तु का ज्ञान कर लेते हैं। स्मरण की जिसमें अपेक्षा है तथा जो इन्द्रियादि से उत्पन्न हुआ है ऐसा प्रत्यभिज्ञान नामा प्रत्यक्ष भी आपने माना है वह प्रत्यभिज्ञान काल से दूर अतीत काल संबंधी वस्तु का या अतीत दर्शन संबंधी का ग्राहक ज्ञान पुरोवर्ती पदार्थ में प्रवृत्त होता है ऐसी आपकी मान्यता है। अतः निकट देशादि को जानने वाला इन्द्रिय ज्ञान ही प्रत्यक्ष शब्द का वाच्य है ऐसा कहना असत्य है। प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार नहीं करेंगे तो आपका निम्नलिखित ग्रंथ का कथन विरुद्ध होगा कि—प्रत्यभिज्ञान का

अन्यथा—

"देशकालादिभेदेन तत्रास्त्यवसरो मितेः।
इदानीन्तनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम् ॥"

[मी० श्लो० प्रत्यक्षसू० श्लो० २३३-३४]

इत्यादिना तस्यागृहीतार्थाधिगन्तृत्वं पूर्वापरकालसम्बन्धित्वलक्षणनित्यत्वग्राहकत्वं च प्रतिपाद्यमानं विरुध्येत। प्रातिभं च ज्ञानं शब्दलिङ्गाक्षव्यापारानपेक्षं 'श्वो मे भ्राता आगन्ता' इत्याद्याकारमनागतातीन्द्रियकालविशेषणार्थप्रतिभास जाग्रद्दशायां स्फुटतरमनुभूयते।

किञ्च, धर्मादेरतीन्द्रियत्वाच्चक्षुरादिनानुपलम्भः, अविद्यमानत्वाद्वा स्यात्, अविशेषणत्वाद्वा ?

विषय यद्यपि पूर्व प्रमाण से गृहीत है किन्तु उसमें देश, कालादि के निमित्त से अपूर्वार्थ विषय रहता है, क्योंकि पूर्व प्रमाण से वर्तमान में इस समय का अस्तित्व ग्रहण नही होता ॥१॥ इस प्रकार से उस प्रत्यभिज्ञान में अनधिगतार्थगन्तृत्व सिद्ध होता है, तथा यह ज्ञान पूर्वकाल और उत्तरकाल में अवस्थित नित्य वस्तु का ग्राहक है, इत्यादि कथन अन्यथा विरुद्ध होगा। एक प्रतिभा ज्ञान होता है जिसमें हेतु, आगम, इन्द्रियादि की अपेक्षा नही रहती। जैसे "कल मेरा भाई आयगा" इत्यादि रूप प्रतिभाज्ञान होता है यह ज्ञान अनागत को विषय कर रहा है, तथा अतीन्द्रिय काल विशेषणार्थ का प्रतिभास कराता हुआ जाग्रत दशा में ही स्पष्ट रूप से अनुभव में आता है, सो ये सब प्रत्यभिज्ञान, व्याप्तिज्ञान, प्रतिभाज्ञान इन्द्रियों से रहित अनागतादि के ग्राहक माने हैं कि नहीं ? ऐसा ही सकलार्थग्राही अतीन्द्रिय प्रत्यभिज्ञान भी मानना होगा। मीमांसक का खास करके धर्म–अधर्म की उपलब्धि में विवाद है कि वे दोनों प्रत्यक्ष आदि से गम्य नहीं हैं, सो इस पर जैन पूछते हैं कि धर्म–अधर्म नामा पदार्थ अतीन्द्रिय होने के कारण चक्षु आदि इन्द्रियों से उपलब्ध नहीं होते कि अविद्यमान होने से, अथवा विशेषण रहित होने से ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि आपने अभी स्वीकार किया है कि प्रत्यभिज्ञानादिक अतीन्द्रिय ऐसे अतीत कालादि को ग्रहण करते हैं। अविद्यमान होने से धर्म–अधर्म उपलब्ध नहीं होते ऐसा दूसरा विकल्प कहना भी गलत है, जिस तरह अतीत कालादिक अविद्यमान होकर भी ज्ञान से उपलब्ध होते हैं वैसे भावी कालीन धर्म–अधर्म भी उपलब्ध हो सकते हैं। विशेषण रहित होने से धर्म–अधर्म का अनुपलंभ है ऐसा तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, सकल प्राणियों के उपभोग्य वस्तुओं का जनक तथा द्रव्य, गुण, कर्म से जन्य होने से धर्म–अधर्म में तो सकलार्थ के विशेषण

न तावदाद्यः पक्षः; अतीन्द्रियस्याप्यतीतकालादेरुपलम्भाभ्युपगमात् । नाप्यविद्यमानत्वात्; भाविधर्मादेरतीतकालादेरिवाविद्यमानत्वेप्युपलम्भसम्भवात् । अविशेषणत्वं तु तस्यासिद्धं सकललोकोपभोग्यार्थजनकत्वेन द्रव्यगुणकर्मजन्यत्वेन चास्याखिलार्थविशेषणत्वसम्भवात् । अतीताद्यतीन्द्रियकालादेरिवास्यापि विशेषणग्रहणप्रवृत्तचक्षुरादिना ग्रहणोपपत्तेः कथं धर्म प्रत्यस्यानिमित्तत्वसाधने प्रसङ्गविपर्ययसम्भवः ? प्रश्नादिमन्त्रादिना च संस्कृतं चक्षुर्यथा कालविप्रकृष्टार्थस्य द्रव्यविशेषसंस्कृतं च निर्जीवकादिचक्षुर्जलाद्यन्तरितार्थस्य ग्राहकं दृष्टम्, तथा पुण्यविशेषसंस्कृतं सूक्ष्माद्यशेषार्थग्राहि भविष्यतीति न कश्चिद्दृष्टस्वभावातिक्रमः । 'स्वात्मनि च यावद्भिः कारणैर्जनितं यथाभूतार्थग्राहि प्रत्यक्षं प्रतिपन्नं तथा सर्वत्र सर्वदा प्राण्यन्तरेऽपि' इति नियमे नक्तञ्चराणामनालोकान्धकारव्यवहितरूपाद्युपलम्भो न

मौजूद हैं, अर्थात् यह अदृष्ट इस प्राणी का है क्योंकि इसको यह उपभोग्य वस्तु प्राप्त है इत्यादि रूप से अनेकों विशेषण धर्मादि में हो सकते हैं । जैसे अतीत आदि अतीन्द्रिय काल आदि का ग्रहण होता है (प्रत्यभिज्ञान के द्वारा) वैसे ही विशेषण ग्रहण करने में प्रवृत्त चक्षु आदि इंद्रियों से धर्म–अधर्म का ग्रहण होना संभव है, अतः आपने सर्वज्ञज्ञान के प्रति धर्मादिक निमित्त नहीं हैं, धर्मादि को सर्वज्ञ ज्ञान नहीं जानता, इत्यादि कहा था तथा प्रसंग विपर्यय दोष उपस्थित किया था वह कैसे घटित हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । विप्रकृष्ट, सूक्ष्म आदि पदार्थ का सर्वज्ञ साक्षात्कार कर लेते है इस विषय में समझाने के लिये आपके प्रति और भी दृष्टांत उपस्थित करते है । प्रश्न, यंत्र आदि से जब कोई व्यक्ति संस्कारित होते हैं अर्थात् किसी ज्योतिषी से किसी ने अतीतादि विषय में प्रश्न करने पर या किसी मंत्र वादी के द्वारा मंत्र करने पर उस ज्योतिषी या मंत्रवादी के नेत्र अतीत आदि काल विप्रकृष्ट वस्तु को देखने में समर्थ होते हैं, अंजन आदि द्रव्य विशेष से संस्कारित नेत्र वाले मल्लाह जल से अंतरित पदार्थ को देख लेते हैं, यह सब संभव है तो वैसे ही पुण्य विशेष से संस्कारित योगीजन की दिव्य चक्षु सूक्ष्मादि अशेष पदार्थों की ग्राहक होती है । इसमें कोई स्वभाव अतिक्रम नहीं होता । इतने उदाहरण दिखाने पर भी सूक्ष्मादि पदार्थों को विषय करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान स्वीकार नहीं करे मात्र वर्तमान में हम जैसे को अपने स्वयं में जितने कारणों से जनित जैसा यथार्थ वस्तु का ग्राहक जितना प्रत्यक्ष होता है वैसा ही हमेशा सभी जगह अन्य प्राणी में भी प्रत्यक्ष होता है, इस तरह का नियम बनायेंगे तो नक्तंचर–सिंह आदि प्राणियों को बिना प्रकाश के अंधकार आदि से व्यवहित रूप आदि का ज्ञान होना संभव नहीं रहेगा क्योंकि हमारे में वैसा

स्यात्स्वात्मनि तथाऽनुपलम्भात् । प्राण्यन्तरे स्वात्मन्यनुपलब्धस्यानालोकान्धकारव्यवहितरूपाद्युप-लम्भलक्षणातिशयस्य सम्भवे सूक्ष्माद्युपलम्भलक्षणातिशयोपि स्यात् । जात्यन्तरत्वं चोभयत्र समानम् । अभ्युपगम्य चाक्षजन्वं सर्वज्ञज्ञानस्यातीन्द्रियार्थसाक्षात्कारित्वं समर्थितं नार्थतः, तज्ज्ञानस्य घातिकर्म-चतुष्टयक्षयोद्भूतत्वात् ।

यच्चास्य ज्ञानं चक्षुरादिजनितं वेत्याद्यभिहितम्; तदप्यचारु; चक्षुरादिजन्यत्वेऽप्यनन्तरं धर्मादिग्राहकत्वाविरोधस्योक्तत्वात् ।

यच्चाभ्यासजनितत्वेऽभ्यासो हीत्याद्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"

उपलब्ध नहीं है ? यदि अन्य प्राणियों में हमारे में नहीं होने वाला ऐसा अंधकार आदि से व्यवहित पदार्थ की उपलब्धि रूप अतिशय मानते हैं, तो फिर सर्वज्ञ में सूक्ष्मादि का जानने रूप अतिशय क्यों न माना जाय ? मानना ही होगा । यदि कहा जाय कि नक्तंचर आदि का ज्ञान भिन्न जातीय है ? सो वैसे सर्वज्ञ में भी माने तथा सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थों का साक्षात्कारी अवश्य है किन्तु वह परमार्थतः इन्द्रिय जनित नही है, वह ज्ञान तो चार घातिया कर्म–ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इनके नाश से उत्पन्न होता है ।

सर्वज्ञ का ज्ञान चक्षु आदि इंद्रियों से उत्पन्न हुआ है अथवा अन्य किसी प्रकार से उत्पन्न हुआ है इत्यादि, कथन अयुक्त है आपका लक्ष सर्वज्ञ ज्ञान का अभाव करने में है किन्तु चक्षु आदि इन्द्रिय जन्य ज्ञान भी धर्मादि अदृष्ट का ग्राहक है, कोई विरोध की बात नहीं ऐसा अभी बता चुके हैं ।

भावार्थः—यहां धर्म अधर्म–अर्थात् पुण्य पाप को इन्द्रिय जन्य ज्ञान भी जानता है ऐसा कहा है सो पहले इस प्रकार बतलाया है कि सकल प्राणियों के लिये जो उपभोग्य वस्तुओं की उपलब्धि साक्षात् दिखाई दे रही है वह स्वयं ही धर्मादि को सिद्ध कर रही है मतलब इस देवदत्त का अदृष्ट सुष्ठु है क्योंकि इसे चंदन, वनिता आदि इष्ट सामग्री उपलब्ध है, तथा इस यज्ञदत्त का अदृष्ट दुष्ठु है क्योंकि साक्षात ही दिखायी देता है कि रोगादि ने इसको पीडित कर रखा है तथा धनहीन है इत्यादि हेतु के उपलब्ध होने से धर्मादि को इन्द्रियगम्य वतलाया है । सर्वज्ञ के ज्ञानको अभ्यास जनित मानते हैं तो·········इत्यादि दोष दिये थे वे अयुक्त हैं, सभी पदार्थ उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य से संयुक्त है, इस प्रकार अखिल पदार्थों के विषय में श्रीगुरु का उपदेश है अतः संपूर्ण पदार्थों का उपदेश संभव नहीं है, ऐसा कहना गलत ठहरता है

[तत्त्वार्थसू० ५।३०] इत्यखिलार्थविषयोपदेशस्याविसंवादिनो ज्ञानस्य च सामान्यतः सम्भवात्। न च तज्ज्ञानवत एवाशेषज्ञत्वाद्व्यर्थोभ्यासः, तस्य सामान्यतोऽस्पष्टरूपस्यैवाविर्भावात्, अभ्यासस्य तत्प्रतिबन्धकापायसहायस्याशेषविशेषविषयस्पष्टज्ञानोत्पत्तौ व्यापारात्। नाप्यन्योन्याश्रयः, अभ्यासादेवाखिलार्थविषयस्पष्टज्ञानोत्पत्तेरनभ्युपगमात्।

शब्दप्रभवपक्षेप्यन्योन्याश्रयानुषङ्गोऽसङ्गतः; कारकपक्षे तदसम्भवात्। पूर्वसर्वज्ञप्रणीतागमप्रभवं ह्येतस्याशेषार्थज्ञानम्, तस्याप्यन्यसर्वज्ञागमप्रभवम्। न चैवमनवस्थादोषानुषङ्गः; बीजांकुरवदनादित्वेनाभ्युपगमादागमसर्वज्ञपरम्परायाः।

तथा उस उपदेश से सामान्य रूप से अविसंवादी ज्ञान होता हुआ भी देखा जाता है, अभिप्राय यह है कि गुरुपदेश से अखिलार्थ का सत्य ज्ञान होना संभव ही है। जिसको उपदेश से ज्ञान हुआ है वह उस ज्ञान से ही अशेषज्ञ बन जायगा, उसे अभ्यास की क्या आवश्यकता है ? ऐसा भी नहीं कहना, उपदेश से सामान्यरूप ज्ञान हुआ है वह अस्पष्ट है, पुनः अभ्यास विशेष के कारण संपूर्ण विषयों के स्पष्ट ज्ञान को रोकने वाले कर्म का नाश होता है और इस तरह अशेष पदार्थों में बिल्कुल स्पष्ट ज्ञान की उत्पत्ति होनी है, इसका भावार्थ यह हुआ कि प्रथम तो कोई मुमुक्षु श्रीगुरु के उपदेश से संपूर्ण तत्त्व संबंधी ज्ञान प्राप्त करता है जिसे श्रुतज्ञान या आगमज्ञान कहते हैं, फिर उसमें मनन, चिन्तन आदि रूप अभ्यास करते रहने से उस ज्ञान तथा वैराग्य संपन्न अर्थात् रत्नत्रय से युक्त पुरुष के सकल पदार्थ का ग्राहक ऐसा जो स्पष्ट ज्ञान है उसको रोकने वाले कर्मो का नाश होता है और वह पूर्ण ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञ बन जाता है, इस प्रकार संपूर्ण पदार्थ का उपदेश, अभ्यास और स्पष्ट ज्ञान तीनों ही सिद्ध होते है।

अभ्यास से अशेषार्थ का ज्ञान होना मानेंगे तो अन्योन्याश्रय होगा सो भी बात नहीं है, हम जैन मात्र अभ्यास से ही अशेषार्थ ग्राही ज्ञान होता है ऐसा नहीं मानते हैं। भाव यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक्तप आदि भी सकलार्थ ग्राही ज्ञान की उत्पत्ति में कारण है अकेला अभ्यास ही नहीं, अतः अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता है कि अभ्यास होवे तब अशेषार्थ ग्राही ज्ञान होवे और अशेषार्थ ग्राही ज्ञानी का उपदेश होवे तो अभ्यास होवे।

आगम से अशेषार्थ ग्राही ज्ञान हुआ है ऐसा मानने में अन्योन्याश्रय दोष देना भी अयुक्त है, कारक पक्ष अर्थात् सर्वज्ञ आगम का कर्त्ता है ऐसा माने तो अन्योन्याश्रय

यच्चानुमानाविर्भावितत्वपक्षे सम्बन्धासिद्धे रित्युक्तम्; तदसमीचनम्; प्रमाणान्तरात्सम्बन्ध-सिद्धे रभ्युपगमात्। न खलु कश्चित्तस्यागोचरोस्ति सर्वत्रेन्द्रियातीन्द्रियविषये प्रवृत्ते रन्यथा तत्रानु-मानाप्रवृत्तिप्रसङ्गात्, तस्य तन्निबन्धनत्वात्।

यच्चानुमानागमज्ञानस्य चास्पष्टत्वादित्यभिहितम्; तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; न हि सर्वथा कारणसदृशमेव कार्यं विलक्षणस्याप्यंकुरादेर्बीजादेरुत्पत्तिदर्शनात्। सर्वत्र हि सामग्रीभेदात्कार्यभेदः। अत्राप्यागमादिज्ञानेनाभ्यासप्रतिबन्धकापायादिसामग्रीसहायेनासादिताशेषविशेषवैशद्यं विज्ञानमा-विर्भाव्यते।

भावनाबलाद्वैशद्ये कामाद्युपप्लुतज्ञानवत्तस्याप्युपप्लुतत्वप्रसङ्गः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतो

नहीं होता, हमने तो ऐसा माना है कि पूर्व सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत आगम है उसके अभ्यासादि से जो पुरुष तपश्चर्या आदि के द्वारा कर्मों का नाश करता है उसके सकलार्थग्राही ज्ञान होता है, पूर्ववर्ती सर्वज्ञ के भी अन्य पूर्ववर्ती सर्वज्ञागम से पूर्ण ज्ञान उत्पन्न हुआ है, इस तरह मानने में अनवस्था दोष की आशंका भी नही करना क्योंकि आगम और सर्वज्ञ की परंपरा बीज और अंकुर के समान अनादि कालीन है, अनादि व्यवस्था में अनवस्था का कोई स्थान नहीं है।

सर्वज्ञ के ज्ञान को अनुमान जनित माने तो संबंध की असिद्धि है…इत्यादि दोष बताये वे भी असत हैं, हम जैन अविनाभाव संबंध की सिद्धि तर्क प्रमाण से होना स्वीकार करते हैं, तर्क प्रमाण के कोई अगोचर नहीं है, उसकी तो सर्वत्र अतीन्द्रिय विषयों में भी प्रवृत्ति होती है, यदि नहीं मानें तो अनुमान की भी उनमें प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी। क्योंकि अनुमान की प्रतिष्ठा तो तर्क प्रमाण में निष्ठ है। आगम तथा अनुमान अस्पष्ट ज्ञान है इत्यादि कथन किया है वह विना बिचारे ही किया है अर्थात् आगमादि अस्पष्ट ज्ञान से सर्वज्ञ का स्पष्ट ज्ञान कैसे उत्पन्न होगा? ऐसा जो कथन है वह ठीक नहीं, क्योंकि कारण के समान ही कार्य होता हो सो बात नहीं है, कारण से विलक्षण भी कार्य उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, बीज से विलक्षण ही अंकुर उत्पन्न होता है बात यह है कि सर्वत्र सामग्री के भिन्न होने से कार्य में भिन्नता दिखाई देती है। यहां सर्वज्ञ ज्ञान के विषय में आगमादि का ज्ञान, अभ्यास, प्रतिबंधक कर्मों का अपाय इत्यादि सामग्री है, इनकी सहायता से सकलार्थ विषयों का विशद ज्ञान प्रगट होता है। भावना के बल से सर्वज्ञ के ज्ञान में विशदता माने तो कामी जन के समान यह ज्ञान उपयुक्त काल्पनिक बन बैठेगा। इत्यादि कथन भी असत है, भावना ज्ञान

'भावनाबलाद् ज्ञानं वैशद्यमनुभवति' इत्येतावन्मात्रेण तज्ज्ञानस्य दृष्टान्तोपपत्तेः । न चाशेषदृष्टान्त-धर्माणां साध्यधर्मिण्यापादनं युक्तं सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात् । न चाशेषज्ञज्ञानं क्रमेणाशेषार्थग्राहीष्यते येन तत्पक्षनिक्षिप्तदोषोपनिपातः, सकलावरणपरिक्षये सहस्रकिरणवद्युगपन्निखिलार्थोद्द्योतनस्वभावत्वात्तस्य कारणक्रमव्यवधानातिवर्त्तित्वाच्च ।

यच्चोक्तम्-युगपत्परस्परविरुद्धशीतोष्णाद्यर्थानामेकत्र ज्ञाने प्रतिभासासम्भवः; तदप्यसारम्; तत्र हि तेषामभावादप्रतिभासः, ज्ञानस्यासामर्थ्याद्वा ? न तावदभावात्; शीतोष्णाद्यर्थानां सकृत्सम्भवात् । ज्ञानस्यासामर्थ्यादित्यसत्; परस्परविरुद्धानामन्धकारोद्द्योतादीनामेकत्र ज्ञाने युगपत्प्रतिभास-

---

पदार्थ के निकटवर्ती नहीं होने पर भी उसको स्पष्ट प्रतिभासित करता है । उस ज्ञान का दृष्टात सर्वज्ञ ज्ञानकी स्पष्टता समझ में आने के लिये देते हैं किन्तु इतने मात्र से सर्वज्ञ ज्ञान भी भावना ज्ञान के समान काल्पनिक होवे सो बात नहीं है "न हि दृष्टान्तस्य सर्वे धर्माः दार्ष्टान्ते भवितु मर्हति" दृष्टांत के सभी गुण धर्म दार्ष्टान्त में नही होते, यदि मानेंगे तो सकल अनुमानों का उच्छेद ही हो जायगा । तथा सर्वज्ञ का ज्ञान क्रम से अशेषार्थ का ग्राहक नहीं माना है जिससे उस पक्ष के दिये हुए दोष लागू होवें अर्थात् सर्वज्ञ यदि क्रम क्रम से जानते हैं तो पदार्थ अनंत होने से कभी संपूर्ण पदार्थों का ज्ञान नही होगा । ऐसा कहा था वह बेकार है हम तो सर्वज्ञ ज्ञान को सकल आवरण का क्षय होने से सूर्य के समान एक साथ संपूर्ण पदार्थों का प्रकाशन करने वाला मानते हैं, इस ज्ञान में न तो इन्द्रियों का क्रम है न बीच बीच में रुकावट है, यह तो अप्रतिहत स्वाभाविक ज्ञान है ।

सर्वज्ञ को दोषयुक्त ठहराने के लिये मीमासक ने कहा था कि एक साथ परस्पर विरोधी शीत उष्ण आदि पदार्थों का एक ज्ञान में प्रतिभास होना अशक्य है, सो यह कथन असार है, विरोधी पदार्थो का अभाव होने से एक ज्ञान में प्रतिभास नहीं होता, अथवा एक ज्ञान की सामर्थ्य नहीं होने से परस्पर विरुद्ध पदार्थो का प्रतिभास नहीं होता ? "अभाव होने से प्रतिभास नहीं है" ऐसा कहना तो गलत है, शीत उष्ण आदि पदार्थ एक साथ उपलब्ध होते ही हैं अभाव कहां है ? ज्ञान की सामर्थ्य नहीं है इसलिये एक साथ सब पदार्थों का ज्ञान नहीं होता है । ऐसा कहना भी ठीक नहीं है परस्पर विरोधी अंधकार और प्रकाश आदि पदार्थ एक साथ एक ही ज्ञान में प्रतीत होते हुए देखे जाते हैं । यदि परस्पर विरोधी पदार्थों का एक साथ एक ज्ञान में प्रति-

संवेदनात् । सकृदेकत्र विरुद्धार्थानां प्रतिभासासम्भवे 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इत्यादिव्याप्तिश्च न स्यात्, साध्यसाधनरूपतया तयोर्विरुद्धत्वसम्भवात् । नाप्येकत्र तेषां प्रतिभासे तज्ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थग्राहकत्वविरोधः; अन्धकारोद्योतादिविरुद्धार्थग्राहिणोऽपि प्रतिनियतार्थग्राहकत्वप्रतीतेः ।

यच्चान्यदुक्तम्–एकक्षण एवाशेषार्थग्रहणाद्द्वितीयक्षणेऽज्ञः स्यात्; तदप्यसम्बद्धम्; यदि हि द्वितीयक्षणेऽर्थानां तज्ज्ञानस्य चाभावस्तदाऽयं दोषः । न चैवम्, अनन्तत्वात्तद्द्वयस्य । पूर्वं हि भाविनोऽर्था भावित्वेनोत्पत्स्यमानतया प्रतिपन्ना न वर्त्तमानत्वेनोत्पन्नतया वा । साप्युत्पन्नता तेषां भवितव्यतया प्रतिपन्ना न भूततया । उत्तरकालं तु तद्विपरीतत्वेन ते प्रतिपन्नाः । यदा हि यद्धर्म-

---

भास नहीं होगा तो जो कृतक होता है वह अनित्य होता है, इत्यादि व्याप्ति कैसे बनेगी ? क्योंकि इनमें एक जो कृतकत्व है वह तो साधन है और अनित्य है वह साध्य है इस तरह दोनों में विरुद्धत्व है । एक ज्ञान में अनेक विरोधी वस्तुओं का प्रतिभास होना माने तो वह ज्ञान प्रतिनियत अर्थों का ग्राहक नहीं हो सकता ऐसा कहना भी नही बनता, अंधकार और प्रकाश आदि विरोधी वस्तु को ग्रहण करने वाला ज्ञान भी प्रतिनियत वस्तु का ग्राहक होता हुआ देखा जाता है । और भी जो कहा था कि एक क्षण में ही संपूर्ण पदार्थों का ग्रहण हो जाने से दूसरे क्षण में वह सर्वज्ञ अज्ञ ही बन जायगा । इत्यादि सो यह कथन असंबद्ध है, यदि दूसरे क्षण में पदार्थों का अभाव हो जाता या उसको जानने वाले ज्ञान का अभाव होता तब तो यह दोष होता, किन्तु ऐसा है नही, दोनों ही पदार्थ और ज्ञान अनंत है । इसी विषय का खुलासा करते है— सर्वज्ञ के ज्ञान ने पूर्व क्षण में भावी वस्तुओ की उत्पन्नता है वह भवितव्यता रूप से "होवेंगे" इस रूप से जानी थी, भूतरूप से नही । अब वह क्षण बदला, उत्तर काल में, इससे विपरीत रूप से वे पदार्थ ग्रहण में आयेंगे, क्योंकि जब जिस धर्म से विशिष्ट वस्तु होती है तब सर्वज्ञ के ज्ञान में उसी रूप से प्रतीति में आती है, अन्यथा रूप से प्रतीत होगी तो भ्रम सा हो जायगा, इस प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान ग्रहीतग्राही होने से अप्रमाण है ऐसा कोई कहे तो उसका निराकरण भी उपर्युक्त कथन से हो जाता है ।

भावार्थः—मीमांसक ने प्रश्न किया था कि सर्वज्ञ एक क्षण में ही अशेष पदार्थ को ग्रहण करता है तो दूसरे क्षण में जानने के लिये कोई पदार्थ नहीं रहता है अतः वह अज्ञ बन जायगा ? इसपर प्रभाचन्द्राचार्य कहते हैं कि द्वितीयादि क्षण में ज्ञान का नाश होता है, कि पदार्थो का नाश होता है ? दोनों का नाश नहीं होता है, पदार्थ

विशिष्टं वस्तु तदा तज्ज्ञाने तथैव प्रतिभासते नान्यथा विभ्रमप्रसङ्गात् इति कथं गृहीतग्राहित्वेनाप्यस्याप्रामाण्यम् ?

यच्चेदं परस्थरागादिसाक्षात्करणाद्रागादिमानित्युक्तम्; तदप्ययुक्तम्; तथापरिणामो हि तत्त्वकारणं न संवेदनमात्रम्, अन्यथा 'मद्यादिकमेवंविधरसम्' इत्यादिवाक्यात्तच्छ्रोत्रियो यदा प्रतिपद्यते तदाऽस्यापि तद्रसास्वादनदोषः स्यात् । अरसनेन्द्रियजत्वात्तस्यादोषोयम्; इत्यन्यत्रापि समानम्। न हि सर्वज्ञज्ञानमिन्द्रियप्रभवं प्रतिज्ञायते। किञ्चाङ्गनालिङ्गनसेवनाद्यभिलाषस्येन्द्रियोद्रेकहेतोराविर्भावाद्रागादिमत्त्वं प्रसिद्धम्। न चासौ प्रक्षीणमोहे भगवत्यस्तीति कथं रागादिमत्त्वस्याशङ्कापि।

और ज्ञान तो अनंत हैं अंत रहित हैं। जो पदार्थ प्रथम क्षण में भावी रूप था वह द्वितीय क्षण में वर्तमानरूप हो जाता है तथा जो वस्तु वर्तमान रूप थी वह अतीत हो चुकी वस्तु जिस समय जिस धर्म से विशिष्ट होती है वह उसी रूप से ही तो ज्ञान में झलकेगी ? अन्यथा रूप नहीं तथा प्रतिक्षण वस्तु में अपूर्वता आती है इसलिये सर्वज्ञ का ज्ञान ग्रहीतग्राही होने से अप्रमाण है ऐसा कहना भी शक्य नहीं है। सर्वज्ञ पर के रागादि को जानेगा तो स्वयं भी रागीद्वेषी बन जायगा ऐसा कहा था वह भी अयुक्त है। उसी प्रकार परिणमन कर जाने से रागी होता है जानने मात्र से नहीं। यदि जानने मात्र से उसी रूप होना जरूरी है तब तो "मदिरा आदि में इस तरह का रस होता है" इत्यादि वाक्य कहने या सुनने या जानने मात्र से श्रोत्रिय ब्राह्मण आदि को उस मदिरा रस का स्वाद लेने का दोष आवेगा।

शंका—मदिरा के रस का ज्ञान रसनेन्द्रिय से नहीं हुआ है अतः रसास्वाद लेने का दोष नही आता है ?

समाधान—यही बात सर्वज्ञ में है, सर्वज्ञ भी यह रागी है, यह द्वेषी है इत्यादि रूप से मात्र जानता है, उस रूप से परिणमन नहीं करता। सर्वज्ञ का ज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है ऐसा हम नहीं कहते हैं। आप सर्वज्ञ को रागी सिद्ध करना चाहते हैं, किंतु स्त्री के आलिंगन सेवन आदि की जिसके इच्छा है ऐसे कामी पुरुष के इन्द्रियों के उद्रेक के कारण उपस्थित होने पर रागीपना होता है, ऐसा रागोद्रेक, मोह का नाश जिसके हुआ है ऐसे सर्वज्ञ के कैसे संभव है ? अर्थात् नहीं है।

यदप्यभिहितम्-कथं चातीतादेर्ग्रहणं तत्स्वरूपासम्भवादित्यादि; तदप्यसारम्; यतोऽतीतादेरतीतादिकालसम्बन्धित्वेनासत्त्वम्, तज्ज्ञानकालसम्बन्धित्वेन वा ? नाद्यः पक्षो युक्तः; वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वेन वर्त्तमानस्येव स्वकालसंबन्धित्वेनातीतादेरपि सत्त्वसम्भवात्। वर्त्तमानकालसम्बन्धित्वेन त्वतीतादेरसत्त्वमभिमतमेव, तत्कालसम्बन्धित्वतत्सत्त्वयोः परस्परं भेदात्। न चैतत्कालसम्बन्धित्वेनासत्त्वे स्वकालसम्बन्धित्वेनाप्यतीतादेरसत्त्वम् वर्त्तमानकालसम्बन्धिनोप्यतीतादिकालसम्बन्धित्वेनासत्त्वात् तस्याप्यसत्त्वप्रसङ्गात् सकलशून्यतानुषङ्गः। न चातीतादेः सत्त्वेन ग्रहणे वर्तमानत्वानुषङ्गः; स्वकालनियतसत्त्वरूपतयैव तस्य ग्रहणात्। ननु चातीतादेस्तज्ज्ञानकाले असन्निधानात्कथं प्रतिभासः, सन्निधाने वा वर्त्तमानत्वप्रसङ्गः प्रसिद्धवर्त्तमानवत्; इत्यपि मन्त्रादिसंस्कृतलोचनादिज्ञानेन व्याप्तिज्ञानेन च प्रागेव कृतोत्तरम्।

मीमांसक ने कहा था कि अतीतादि विषयों का ग्रहण कैसा होगा ? क्योंकि उन विषयों का स्वरूप तो अभी मौजूद नहीं है इत्यादि सो वह वक्तव्य असार है, अतीत पदार्थ का अतीत काल के संबंधी रूप अभाव है अथवा सर्वज्ञ ज्ञान के काल संबंधी रूप से अभाव है ? प्रथम पक्ष ठीक नही, अतीत का अतीत काल संबंधी सत्व था ही। जैसे वर्तमान काल संबंधी रूप से वर्तमान का सत्व होता है यह बात जरूर है कि वर्तमान काल संबंधी पने से अतीतार्थ का असत्व–अभाव होता है। तत्काल संबंधीपना और तत्सत्वपना इनमें परस्पर भेद है, इस काल संबंधी रूप से वस्तु का असत्व है अतः स्वकाल संबंधी रूप से भी अतीत वस्तु का असत्व है ऐसा तो कह नही सकते। जो वर्तमान संबंधी वस्तु है उसका भी अतीत काल संबंधीपने से असत्व था ? मतलब वर्तमान कालीन वस्तु का अतीत में असत्व था और अतीत कालीन वस्तु का वर्तमान में असत्व है यदि एक काल मे वस्तु का अभाव होने से अन्य समय मे भी उसका अभाव मानेंगे तो सकल शून्यता का प्रसग होगा। कोई शंका करे कि अतीत का सत्व रूप से ग्रहण करेंगे तो वह वस्तु वर्तमान रूप हो जायगी ? सो भी बात नहीं है। अतीत वस्तु का अतीत स्वकाल में नियत सत्व रूप से ही जानना होता है।

शंका:—अतीतादि पदार्थो का उनके ज्ञान के काल में तो सन्निधान होता नहीं, फिर उनका प्रतिभास कैसे होवे ? यदि उन पदार्थो का ज्ञान काल में सन्निधान है तब तो उन्हें वर्तमानपना आ ही जायगा ? जैसे कि प्रसिद्ध वर्तमान का सन्निधान होता है ?

अथोच्यते—'पूर्वं पश्चाद्वा यदि क्वचित्कदाचिन्निखिलदर्शिनो विज्ञानं विश्रान्तं तर्हि तावन्मात्रत्वात्संसारस्य कुतोऽनाद्यनन्तता ? अथ न विश्रान्तं तर्हि नानेकयुगसहस्रेणापि सकलसंसारसाक्षात्करणम्' इति; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः किमिदं विश्रान्तत्वं नाम ? किं किञ्चित्परिच्छेद्याऽपरस्यापरिच्छेदः, सकलविषयदेशकालगमनासामर्थ्यादिवान्तरेऽवस्थानं वा क्वचिद्विषये उत्पद्य विनाशो वा ? न तावदाद्यविकल्पो युक्तः; अनभ्युपगमात्। न खलु सर्वज्ञज्ञानं क्रमेणार्थपरिच्छेदकम् युगपदशेषार्थोद्द्योतकत्त्वात्तस्येत्युक्तम्। द्वितीयविकल्पोप्यनभ्युपगमादेवायुक्तः। न हि विषयस्य देशं कालं वा गत्वा ज्ञानं तत्परिच्छेदकमिति केनाप्यभ्युपगतम्, अप्राप्यकारिणस्तस्य क्वचिद्गमनाभावात्। केवलं यथाऽनाद्यनन्तरूपतया

समाधानः—इस शंका का परिहार पहले हो चुका है, मंत्रादि से संस्कारित चक्षु आदि के द्वारा आतीतादि का ग्रहण होता है, तथा व्याप्ति ज्ञान के द्वारा भी वर्तमान में वस्तु का सन्निधान नहीं होते हुए भी काल विप्रकृष्ट वस्तु का ग्रहण होता है। व्याप्ति ज्ञान के दृष्टांत से यह स्पष्ट हो जाता है कि जानते समय उस वस्तु का निकट होना जरूरी नहीं है।

शंकाः—पहले या पीछे यदि कदाचित् उस सर्वज्ञ का ज्ञान किसी विषय में विश्रांत हो जायगा तो संसार भी उतना रह जायगा उसमें अनादि अनंतता सिद्ध नहीं होगी ? तथा यदि सर्वज्ञ का ज्ञान विश्रांत नहीं होता है तब तो अनेक सहस्रकाल व्यतीत होने पर भी सारे संसार का जानना नहीं होगा, संसार तो अनंत है ?

समाधानः– यह कथन अयुक्त है– विश्रांत होना किसे कहते हैं ? कुछ को जानकर शेष को नहीं जानना, संपूर्ण देश संपूर्ण काल संबंधी विषयों के निकट गमन की शक्ति नहीं होने से बीच में रुक जाना, अथवा किसी विषय में उत्पन्न होकर नष्ट होना ? प्रथम विकल्प का विश्रांत ठीक नहीं, हमने ऐसा माना ही नहीं कि कुछ को जानकर अन्य को नही जानता। तथा सर्वज्ञ का ज्ञान क्रम से वस्तु को नहीं जानता है जिससे कि कुछ को जानकर अन्य को नही जान सकेगा, वह ज्ञान तो एक साथ अशेष पदार्थों को प्रकाशित करने वाला है। दूसरा विकल्प भी स्वीकार नहीं करने से अयुक्त है, वस्तु के पास ज्ञान जाता है या काल के पास जाता है फिर उसको जानता है ऐसा किसी भी वादी प्रतिवादी ने नहीं माना है, ज्ञान तो अप्राप्यकारी है वह कहीं पर नही जाता है। ज्ञान का काम तो इतना है कि पदार्थ जैसे अनादि अनंतरूप अवस्थित है उसी रूप से उनको जानना। तीसरा विकल्प भी अयुक्त है, किसी विषय में उत्पन्न हुआ ज्ञान नष्ट नहीं होता है क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है (वस्तु का स्वभाव नहीं है)

स्थितोर्थस्तथैव तत्प्रतिपद्यते । तृतीयविकल्पोप्ययुक्तः; क्वचिद्विषये तस्योत्पन्नस्यात्मस्वभावतया विनाशासम्भवात् । न हि स्वभावो भावस्य विनश्यति स्फटिकस्य स्वच्छतादिवत्, अन्यथा तस्याप्यभावः स्यात् । औपाधिकमेव हि रूपं नश्यति यथा तस्यैव रक्तिमादि । कथं चैवंवादिनो वेदस्यानाद्यनन्तताप्रतिपत्तिस्तत्राप्युक्तविकल्पानामवतारात् ? कथं वा साध्यसाधनयोः साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तिः, सामान्येन व्याप्तिप्रतिपत्तावप्यनाद्यनन्तसामान्यप्रतिपत्तावुक्तदोषानुषङ्ग एव ।

यच्चोक्तम्-'कथं चासौ तत्कालेप्यऽसर्वज्ञैर्ज्ञातुं शक्यते ? तदपि फल्गुप्रायम्; विषयापरिज्ञाने वि-

---

पदार्थ का जो स्वभाव होता है वह नष्ट नहीं होता जैसे स्फटिक का स्वभाव स्वच्छता है यह नष्ट नही होता है । यदि स्वभाव का नाश होगा तो पदार्थ का नाश हो जायगा । हां जो उपाधि से आया हुआ स्वरूप है वह नष्ट होता है; जैसे उसी स्फटिक में जपा कुसुम रूप उपाधि से आयी हुई लालिमा नष्ट होती है । सर्वज्ञ के ज्ञान में इस प्रकार के प्रश्न करने वाले आप मीमांसक के वेद में अनादि अनंतता की प्रतिपत्ति की सिद्धि किस प्रकार सिद्ध होगी ? क्योंकि वहां पर भी यही प्रश्न होंगे ?

भावार्थः—सर्वज्ञ का ज्ञान पहले या पीछे कदाचित् विश्रांत हो जायगा तो संसार की अनादि अनंतता कैसे सिद्ध होगी ? इत्यादि प्रश्न सर्वज्ञ के ज्ञान के विषय में किये थे, ठीक यही प्रश्न वेद के विषय में हो सकते हैं वेद से उत्पन्न हुआ ज्ञान यदि पहले या पीछे कदाचित् विश्रांत हुआ तो संसार की अनादि अनंतता कैसे सिद्ध होगी ? वेद ज्ञान विश्रांत नहीं होता ऐसा माने तो भी अनेक युग सहस्र काल में भी सकल संसार का जानना नही होगा, क्योंकि वेद ज्ञान क्रमिक है ? इस प्रकार इन प्रश्नावलिसे मीमांसक का छुटकारा नहीं हो सकता ।

सर्वज्ञ ज्ञान के विषय में विश्रांतत्व का विचार करते हैं सो व्याप्ति ज्ञान में भी वही विचार आयेगा, उसमें भी साध्य साधन की पूर्ण रूप से प्रतीति होती है, सामान्य से व्याप्ति को जानने पर भी अनादि अनंत के सामान्य का ज्ञान होने में वही विश्रांति का प्रश्न आता है, क्योंकि सर्वदेश और सर्वकाल संबंधी साध्यसाधन के अविनाभाव का ज्ञान कराना व्याप्ति ज्ञान का कार्य है सो यदि वह पहले या पीछे कदाचित् विश्रांत हो जाय तो कैसे होगा ? इत्यादि प्रश्नों का जवाब कैसे देंगे ?

सर्वज्ञ कालीन असर्वज्ञ पुरुष सर्वज्ञ को कैसे जान सकेंगे ऐसा मीमांसक ने पूछा था, वह ठीक नहीं है, जिसको किसी विषय का ज्ञान नहीं है तो क्या उस विषय को

षयिणोप्यपरिज्ञानाभ्युपगमे कथं जैमिन्यादेः सकलवेदार्थपरिज्ञाननिश्चयोऽसकलवेदार्थविदाम् ? तदनिश्चये च कथं तद्व्याख्यातार्थश्रवणादग्निहोत्रादावनुष्ठाने प्रवृत्तिः ? कथं वा व्याकरणादिसकलशास्त्रार्थापरिज्ञाने तदर्थज्ञतानिश्चयो व्यवहारिणाम् ? यतो व्यवहारप्रवृत्तिः स्यात् ।

सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वाच्चाशेषार्थवेदिनो भगवतः सत्त्वसिद्धिः । न चेदमसिद्धम्; तथाहि—सर्वविदोऽभावः प्रत्यक्षेणाधिगम्यः, प्रमाणान्तरेण वा ? न तावत्प्रत्यक्षेण; तद्धि सर्वत्र सर्वदा सर्वः सर्वज्ञो न भवतीत्येवं प्रवर्त्तते, क्वचित्कदाचित्कश्चिद्वा ? प्रथमपक्षे न सर्वज्ञाभावस्तज्ज्ञानवत

जानने वाले व्यक्ति का भी ज्ञान नहीं हो सकता है ? यदि नहीं तो आपके "जैमिनी महर्षि आदि को संपूर्ण वेदार्थ का ज्ञान था" ऐसा निश्चय वेद ज्ञान से रहित पुरुषों को कैसे हो सकेगा ? तथा यदि जैमिनी आदि के ज्ञान का निश्चय नहीं है तो उनसे व्याख्यान सुनना, वेद कथित अनुष्ठान अग्निहोत्र आदि का करना इत्यादि कार्यों में कैसे प्रवृत्त हो सकेंगे ? लोक में व्याकरण आदि सकल शास्त्रों का परिज्ञान किसी को नहीं होता तो भी वह व्यक्ति उन व्याकरण आदि शास्त्रों को जानने वाले विद्वान का निश्चय कैसे करता है ? उनके पास पढ़ना आदि व्यवहार किस प्रकार होता ? यह सब होता है, इसी से मालूम होता है कि संपूर्ण पदार्थों को नहीं जानने पर भी उन पदार्थों को जो जानता है उस पुरुष को हम जान सकते है ।

भावार्थः — यहां विशेषरूप से यह समझाया है कि किसी व्यक्ति के ज्ञान के विषय में जानना हो तो उस ज्ञान के विषयों को भी जानना जरूरी हो सो बात नहीं है, देखा जाता है कि किसी को ज्योतिषी शास्त्र पढ़ना है तो वह व्यक्ति ज्योतिषी के पास चला जाता है, किंतु उसको उस ज्योतिषी संबंधी विषयों का—नक्षत्र ग्रहण, तारा आदि का ज्ञान तो है नही, यदि होता तो पढने को जाता ही नहीं, ऐसे ही सर्वज्ञ को जानने के लिये सर्वज्ञ के ज्ञान के सारे विषयों को जानना जरूरी नहीं है यह निर्विवाद सिद्ध होता है ।

अब सर्वज्ञ की सिद्धि निर्दोष अनुमान प्रमाण से करते हैं - सकल पदार्थों को जानने वाले भगवान सर्वज्ञ हैं (साध्य) क्योंकि सुनिश्चितरूप से उसमें कोई बाधा देने वाला प्रमाण नहीं है। यह अनुमान असिद्ध नहीं है, इसी बात को कहते हैं—मीमांसक सर्वज्ञ का अभाव करते हैं वह अभाव क्या प्रत्यक्ष से जाना जाता है, या अन्य प्रमाण से ? प्रत्यक्ष से जाना जाता है ऐसा तो कह नहीं सकते, प्रत्यक्ष के विषय में प्रश्न है कि प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करता है सो "सब जगह हमेशा सभी पुरुष सर्वज्ञ

एवाशेषज्ञत्वात् । न हि सकलदेशकालाश्रितपुरुषपरिषत्साक्षात्करणमन्तरेण प्रत्यक्षतस्तदाधारमसर्वज्ञत्वं प्रत्येतुं शक्यम् । द्वितीयपक्षे तु न सर्वथा सर्वज्ञाभावसिद्धिः ।

अथ न प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं सर्वज्ञाभावसाधकं किन्तु निवर्तमानम् । ननु कारणस्य व्यापकस्य वा निवृत्तौ कार्यस्य व्याप्यस्य वा निवृत्तिः प्रसिद्धा नान्यनिवृत्तावन्यनिवृत्तिरतिप्रसङ्गात् । न चाशेषस्य प्रत्यक्षं कारणं व्यापकं वा येन तन्निवृत्तौ सर्वज्ञस्यापि निवृत्तिः । न चैवं घटाद्यभावासिद्धिः एकज्ञानसं-

---

नहीं होते हैं, इस तरह सर्वज्ञ का अभाव करता है, अथवा किसी जगह 'कदाचित्' कोई सर्वज्ञ नहीं होता" इस तरह का अभाव सिद्ध करता है ? प्रथम पक्ष कहो तो सर्वज्ञ का अभाव हो नहीं सकता, क्योंकि जिसने "सब जगह सब काल में सभी सर्वज्ञ नहीं होते" इतनी बात जान ली वही सर्वज्ञ हुआ । तथा संपूर्ण देश काल में होने वाले सभी पुरुषों को जाने बिना प्रत्यक्ष रूप से उन पुरुषों में होने वाली असर्वज्ञता जानना शक्य नही है । दूसरा पक्ष कहो तो सर्वथा एकांत से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नही हुआ किन्तु क्वचित् कदाचित् ही हुआ ।

मीमांसक:—सर्वज्ञ के अभाव को सिद्ध करने वाला जो प्रत्यक्ष है वह प्रवर्त्तमान नही निवर्त्तमान है ?

जैन:—निवर्त्तमान प्रत्यक्ष किसके निवर्त्तमान होने पर निवृत्त होता है यह बताना होगा । कारण (अग्नि आदि) के निवृत्त होने पर या व्यापक (वृक्षत्वादि) के निवृत्त होने पर कार्य या व्याप्य (धूम या शिंशपा) निवृत्त होता है, यह तो प्रसिद्ध बात है, कोई अन्य के निवृत्त होने से अन्य निवृत्त नहीं होता, यदि मानेंगे तो अति प्रसंग होगा, चाहे जिसके निवृत्त होने पर चाहे जो निवृत्त हो जायगा । अतः निवर्त्तमान की बात तो अग्नि-धूम वृक्षत्व-शिंशपात्व के समान, व्याप्य व्यापक, कार्यकारण संबंध होने पर ही संभव है, किन्तु सर्वज्ञ का निवर्त्तमान प्रत्यक्ष कोई कारण या व्यापक तो है नहीं जिसमे कि प्रत्यक्ष के निवृत्तमान होते ही सर्वज्ञ की भी निवृत्ति हो ? कोई कहे कि इस तरह सर्वज्ञ के अभाव की सिद्धि नहीं मानेंगे तो घट आदि के अभाव की सिद्धि भी नही हो सकती, क्योंकि उसमें भी प्रश्न उपस्थित होंगे कि घट के अभाव का साधक प्रवर्त्तमान प्रत्यक्ष है कि निवर्त्तमान प्रत्यक्ष ? इत्यादि, सो बात नही, घट का अभाव तो सिद्ध हो जायगा, क्योंकि एक ज्ञान संसर्गि अर्थात् एक ही व्यक्ति के ज्ञान से जाने हुए अन्य पदार्थ की यहां उपलब्धि होती है, मतलब घट और उसका आश्रय भूतल दोनों को एक ज्ञानसे

सर्गिपदार्थान्तरोपलम्भात् क्वचित्तत्सिद्धेः। न चात्राप्ययं न्यायः समानस्तत्संसर्गिण एव कस्यचिदभावात्, अन्यथा सर्वत्र तदभावविरोधो घटादिवत्। तन्न प्रत्यक्षेणाधिगम्यस्तदभावः।

नाप्यनुमानेन; विवादाध्यासितः पुरुषः सर्वज्ञो न भवति वक्तृत्वाद्रथ्यापुरुषवदित्यनुमाने हि प्रमाणान्तरसंवादिनोऽर्थस्य वक्तृत्वं हेतुः, तद्विपरीतस्य वा स्यात्, वक्तृत्वमात्रं वा ? प्रथमपक्षे विरुद्धो हेतुः; प्रमाणान्तरसंवादिसूक्ष्माद्यर्थवक्तृत्वस्याशेषज्ञे एव भावात्। द्वितीयपक्षे तु सिद्धसाधनम्; तथाभूत-

---

जाना था पुनः घट रहित अकेला भूतल दिखाई दिया अतः वहां घटका अभाव सिद्ध होता है, ऐसी बात सर्वज्ञ के विषय में नहीं है, वहां एक पुरुषका संसर्गि ज्ञान नहीं है, जो प्रत्यक्ष के निवर्त्तमान होने से सर्वज्ञ का अभाव कर देवे यदि एक संसर्गिज्ञान होना स्वीकार करेंगे तो सर्वत्र सर्वज्ञ का अभाव होगा ही नहीं, जैसे घट आदिका नहीं होता। इस प्रकार सर्वज्ञ का अभाव प्रत्यक्ष से जाना जाता है ऐसा कहना सिद्ध नहीं हुआ।

अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करना भी शक्य नहीं, अब इसी विषय में चर्चा करते हैं—विवादाध्यासित पुरुष सर्वज्ञ नहीं है, क्योंकि वह बोलता है, जैसे रथ्या-पुरुष, यह अनुमान सर्वज्ञका अभाव सिद्ध करता है ऐसा अनुमान मीमांसक उपस्थित करे तो इस अनुमान का हेतु वक्तृत्व अर्थात् बोलना है, सो वक्तृत्व किस प्रकार का है ? प्रमाणांतरसे संवादक ऐसा सत्यार्थ विषयक वक्तृत्व है, या इससे विपरीत वक्तृत्व है, अथवा वक्तृत्व मात्र है ? प्रथम पक्ष कहो तो हेतु विरुद्ध होगा, क्योंकि जिसमें प्रमाणांतर से संवादकता है ऐसे सूक्ष्मादि पदार्थो के विषय में वक्तृत्व तो सर्वज्ञ में ही होगा, मतलब सत्यार्थ वचन बोलता है अतः सर्वज्ञ नहीं ऐसा कह ही नही सकते, सत्यार्थ वचन वाले में तो सर्वज्ञपने की सिद्धि ही होती है, सो वक्तृत्व हेतु दिया था सर्वज्ञाभाव के लिए और उल्टे उसने सर्वज्ञ के सद्भाव को सिद्ध किया अतः यह वक्तृत्व हेतु विरुद्ध हुआ।

द्वितीय पक्ष— विपरीत वचन बोलता है अतः यह पुरुष सर्वज्ञ नहीं है ऐसा कहें तो सिद्धसाधन है, क्योंकि हमने भी इस तरह का विपरीत वचन बोलने वाले पुरुष को असर्वज्ञ ही माना है। वक्तृत्व सामान्य को हेतु बनाया है ऐसा मानें तो साध्य से विपरीत सर्वज्ञ के साथ भी इसकी अनुपलब्धि सिद्ध नहीं हो सकेगी अर्थात् सर्वज्ञ में वक्तृत्व सामान्य का विरोध है ऐसा सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्वज्ञ और वक्तृत्व

स्य वक्तुरसर्वज्ञत्वेनास्माभिरभ्युपगमात्। वक्तृत्वमात्रस्य तु हेतोः साध्यविपर्ययेण सर्वज्ञत्वेनानुपलब्धेन सह सहानवस्थानपरस्परपरिहारस्थितिलक्षणविरोधासिद्धेस्ततो व्यावृत्त्यभावान्न स्वसाध्यनियतत्वं यतो गमकत्वं स्यात्। सर्वज्ञे वक्तृत्वस्यानुपलब्धेस्ततो व्यावृत्तिरित्यप्यसम्यक्; सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्यासिद्धेः, तेनैव सर्वज्ञान्तरेण वा तत्र तस्योपलम्भसम्भवात्। सर्वज्ञस्य कस्यचिदभावात्सर्वसम्बन्धिनोऽनुपलम्भस्य सिद्धिरित्यसङ्गतम्, प्रमाणान्तरात्तत्सिद्धावस्य वैयर्थ्यात्। अतः सिद्धो चक्रकानुषङ्गः।

सामान्य इनमें सहानवस्था विरोध, या परस्पर परिहार स्थिति लक्षण विरोध नही है, इसलिये यह वक्तृत्व सामान्य हेतु सर्वज्ञ सद्भाव से व्यावृत्त नही होने से अपने साध्य का अविनाभावी होकर गमक नहीं होता, अर्थात् साध्य (सर्वज्ञाभाव) को सिद्ध नहीं करता है।

शंका—सर्वज्ञ में वक्तृत्व का अनुपलंभ सिद्ध करके फिर उससे व्यावृत्ति सिद्ध करेंगे ?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं, सभी पुरुष सर्वज्ञमें वक्तृत्वका अभाव स्वीकार करते हैं इस प्रकार सिद्ध होना असंभव है कोई सर्वज्ञ ही नही है अतः सर्व संबंधि अनुपलंभ की सिद्धि होगो ऐसा कहना भी ठीक नहीं यदि अन्य प्रमाण से (अनुपलंभ हेतु से) उसकी सिद्धि मानेंगे तो यह वक्तृत्व हेतु वाला अनुमान बेकार ठहरेगा। कहो कि इससे उसकी सिद्धि हो जायगी, तब तो चक्रक दोष आवेगा, यह इस प्रकार होगा प्रथम तो वक्तृत्व हेतुवाले अनुमान से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होगा, उसके सिद्ध होने पर सर्वज्ञ से हेतु की व्यावृति की सिद्धि होगी, फिर उससे अनुमान सिद्ध हो जायगा इस तरह तीनों को घुमाते जाना किसी की भी सिद्धि संभव नहीं है। स्वसंबंधी अनुपलंभ मात्र से वक्तृत्व के व्यतिरेक का निश्चय नही हो सकता, क्योंकि स्वसंबंधि अनुपलंभ–अर्थात् अपने को अनुपलंभ होना यह तो अनैकान्तिक हुआ करता है, अपने को उपलब्धि नही है तो भी वह चीज उपलब्ध हो सकती है, परके मन की प्रवृत्ति हमें उपलब्ध नही होती, किन्तु वह है तो सही ? अतः अपने को अनुपलंभ होने मात्र से किसी के व्यतिरेक का निश्चय होना शक्य नहीं है। वक्तृत्व हेतु को इस प्रकारसे सदोष सिद्ध करने से सारे अनुमानों के हेतुओं में यही दोष हो सकने से अनुमान नाम ही खतम होगा। ऐसा भी नहीं कहना, अन्य धूम आदि हेतु में अनुपलंभ के बिना विपक्ष व्यावृत्ति

नापि स्वसम्बधिनोऽनुपलम्भात्तद्व्यतिरेकनिश्चयः; अस्य परचेतोवृत्तिविशेषैरनैकान्तिकत्वात्।

न चाखिलसाधनेषु दोषस्यास्य समानत्वान्निखिलानुमानोच्छेदः, तत्र विपक्षव्यावृत्तिनिमित्तस्यानुपलम्भव्यतिरेकेण प्रमाणान्तरस्य भावात्। न चात्र कार्यकारणभावः प्रसिद्धः; असर्वज्ञत्वधर्मानुविधानाभावाद्वचनस्य। यद्धि यत्कार्यं तत्तद्धर्मानुविधायि प्रसिद्धं वन्ह्यादिसामग्रीगतसुरभिगन्धाद्यनुविधायिधूमवत्। तथाहि असर्वज्ञत्वं सर्वज्ञत्वादन्यत्पर्युदासवृत्त्या किञ्चिज्ज्ञत्वमभिधीयते। न च तत्तरतमभावाद्वचनस्य तथाभावो दृश्यते तद्विप्रकृष्टमत्यल्पज्ञानेषु कृम्यादिषु, न च तत्र वचनप्रवृत्तेः प्रकर्षो दृश्यते। अथ प्रसज्यप्रतिषेधवृत्त्या सर्वज्ञत्वाभावोऽसर्वज्ञत्वं तत्कार्यं वचनम्; तर्हि ज्ञानरहिते मृतशरीरादौ तस्योप-

---

का निमित्त प्रमाणांतर मौजूद है। यहां असर्वज्ञत्व और वक्तृत्व में कार्यकारण भाव तो दिखाई नही देता, वक्तृत्व असर्वज्ञके साथ अन्वय नहीं रखता। जो जिसका कार्य होता है वह उसके धर्म का अनुविधान करता है, जैसे अग्नि आदि सामग्रीमें होने वाला सुगंधित गंध आदि धर्मका अनुविधान धूम भी कर लेता है, अर्थात् अग्नि में यदि चंदन को लकड़ी है तो उस अग्निरूप कारण का कार्य जो धूम है वह भी सुगंधित होवेगा। ऐसा अनुविधान वक्तृत्व हेतु में नहीं है, इसी को बताते हैं—जो सर्वज्ञत्व से अन्य हो उसे असर्वज्ञत्व कहते हैं, "न सर्वज्ञत्वं असर्वज्ञत्वं" इस प्रकार पर्युदासवृत्ति से असर्वज्ञत्व पद का अर्थ अल्पज्ञत्व होता है। इस अल्पज्ञत्व की तरतमता से वचन की तरतमता होती है ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि अति अल्पज्ञान वाले कृमि आदि जीवोंमें अल्पज्ञपना अधिक है किन्तु वचन का अधिकपना नहीं है। "न सर्वज्ञत्वं असर्वज्ञत्वं" इस समास में नकार का अर्थ सर्वथा अभाव रूप प्रसज्य-प्रतिषेध करते हैं अर्थात् सर्वज्ञत्व के अभाव को असर्वज्ञत्व मानते हैं और उसका कार्य वचन है ऐसा कहते हैं तो ज्ञानरहित मृतक शरीर आदि में उसकी उपलब्धि होने का प्रसंग आयेगा, और जो अतिशय ज्ञानवान हैं, अखिल शास्त्रों के व्याख्याता हैं उनमें वचनातिशय उपलब्ध न हो सकेगा। किन्तु ऐसा नहीं होता अतः वचन में ज्ञान के प्रकर्ष की तरतमता का अनुविधान दिखाई देने से वह ज्ञानातिशय का कार्य है, जिस प्रकार बुद्धिमान बढई आदि रूप कारण धर्म का अनुविधान उनके महल आदि कार्य में दिखाई देता है, अर्थात् बढई आदि शिल्पी तथा अन्य साधन जितने उत्तम होंगे उतना ही प्रासाद सुन्दर बनेगा, उसी प्रकार जितना ज्ञानातिशय होगा उतना वक्तृत्व में सातिशयपना होगा अतः वक्तृत्व हेतुवाले अनुमान द्वारा सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं होता है। आगम प्रमाण से भी सर्वज्ञ का अभाव नहीं कर सकते। वह आगम सर्वज्ञ प्रणीत है, या अन्य अल्पज्ञ प्रणीत है, अथवा अपौरुषेय है?

लम्भप्रसङ्गो ज्ञानातिशयवत्सु चाखिलशास्त्रव्याख्यातृषु वचनातिशयोपलम्भो न स्यात् । न चैवम्, ततो ज्ञानप्रकर्षतरतमाद्यनुविधानदर्शनात्तस्य तत्कार्यता सातिशयतक्षादिकारणधर्मानुविधायिप्रासादादिकार्यविशेषवत् । तन्नानुमानात्तदभावसिद्धिः ।

नाप्यागमात्, स हि तत्प्रणीतः, अन्यप्रणीतः, अपौरुषेयो वा तदभावसाधकः स्यात् ? तत्र यद्यागमप्रणेता सकलं सकलज्ञविकलं साक्षात्प्रतिपद्यते युक्तोसौ तत्र प्रमाणम्, किन्तु विद्यमानोपि न प्रकृतार्थोपयोगी, तथा प्रतिपद्यमानस्य तस्यैवाशेषज्ञत्वात् । न प्रतिपद्यते चेत्; तर्हि रथ्यापुरुषप्रणीतागमवन्नासौ तत्र प्रमाणम् । न ह्यविदितार्थस्वरूपस्य प्रणेतुः प्रमाणभूतागमप्रणयनं नामातिप्रसङ्गात् । द्वितीयविकल्पेप्येतदेव वक्तव्यम् ।

अपौरुषेयोप्यागमो जैमिन्यादिभ्यो यदि सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभावं प्रतिपादयेत्तर्हि सर्वस्मै प्रतिपादयेत् केनचित् सह प्रत्यासत्तिविप्रकर्षविरहात् । तथा च—

उनमें यदि आगम का प्रणयन करने वाला संपूर्ण जगत को सर्वज्ञ से रहित साक्षात् ज्ञान से जानता होता तो उसका कथन प्रमाणभूत होता किन्तु ऐसा कोई होवे तो भी प्रकृत में सर्वज्ञाभाव करने में उपयोगी नहीं होगा क्योंकि जो ऐसा सर्व जगतको जानता है वही सर्वज्ञ बन जाता है । यदि कहो कि "सकल जगत सर्वज्ञता से रहित है" ऐसा वह आगम प्रणेता नहीं जानता है तो उसका आगम रथ्यापुरुष प्रणीत आगम के समान होने से सर्वज्ञाभाव सिद्धि में प्रामाणिक नहीं माना जायगा । जिसने तत्व स्वरूप को भली प्रकार नहीं जाना है वह प्रणेता प्रामाणिक आगम की रचना नही कर सकता, यदि कर सकता है तो रथ्यापुरुष भी कर सकेगा । अन्य सामान्य पुरुष द्वारा प्रणीत आगम से सर्वज्ञाभाव करते हैं तो उस पक्ष में भी यही उपर्युक्त दोष आते हैं । अपौरुषेय आगम से सर्वज्ञाभाव होना मानें तो वह आगम जैमिनि आदि को सर्वज्ञाभाव बताता है तो सभी व्यक्ति के लिए सब जगह हमेशा सर्वज्ञाभाव को बतलायेगा, किसी के साथ उस अपौरुषेय आगम की निकटता और दूरता तो है नहीं इसलिये सबको ही सर्वज्ञाभाव की सिद्धि होनी थी ? किन्तु निम्नलिखित आगम वाक्यों से सर्वज्ञ सिद्ध होता है :—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो, विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात् ।।
संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैः, द्यावा भूमि जनयन् देव एकः ।।१।।
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।।२।।

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पात्।" [श्वेताश्वत० ३/३]

स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्।" [श्वेताश्वत० ३/१९] "हिरण्यगर्भ" [ऋग्वेद अष्ट० ८ मं० १० सू० १२१] प्रकृत्य "सर्वज्ञः" इत्यादौ न न कस्यचिद्विप्रतिपत्तिः स्यात्-'किमनेन सर्वज्ञः प्रतिपाद्यते कर्मविशेषो वा स्तूयते' इति। न खलु प्रदीपप्रकाशिते घटादौ कस्यचिद्विप्रतिपत्तिः—'किमयं घटः पटो वा' इति। न च स्वरूपेऽस्याप्रामाण्यम्। अविसंवादो हि प्रमाणलक्षणं कार्ये स्वरूपे वार्थे, नान्यत्। यत्र सोस्ति तत्प्रमाणम्। न चाशेषज्ञाभावावेदकं किञ्चिद्वेदवाक्यमस्ति, तत्सद्भावावेदकस्यैव श्रुतेः। अन्नागमादप्यस्याभावसिद्धिः।

नाप्युपमानात्; तत्खलूपमानोपमेययोरध्यक्षत्वे सति सादृश्यावलम्बनमुदयमासादयति नान्यथा।

जिसके सब ओर चक्षु हैं तथा सब ओर मुख सब ओर हाथ सब ओर पाद भी हैं, पुण्य तथा पाप के द्वारा जगत की रचना करता है तथा परमाणुओं के द्वारा भी पृथ्वी और स्वर्ग को वही एक ईश्वर उत्पन्न करता है ।।१।। हस्त पाद रहित होकर भी शीघ्रगामी है, ग्रहीता है, चक्षुरहित होकर देखता है, कर्ण रहित होकर सुनता है ऐसा ईश्वर है, वह सबको जानता है किन्तु उसको कोई नहीं जानता ऐसे अनादि प्रधान महान पुरुष को ईश्वर कहते हैं ।।२।।

ऋग्वेद में उस सर्वज्ञ को हिरण्यगर्भ नाम से पुकारा है। सर्वज्ञः इस पद में किसी को विवाद नहीं है, इस प्रकार वेद, पुराण आदि में कहा जाता है। इन आगम वाक्यों से क्या सर्वज्ञ का प्रतिपादन किया जा रहा है अथवा कर्म विशेष का प्रतिपादन है ? यदि सर्वज्ञ का प्रतिपादन है तो विवाद ही नहीं रहा। दीपक के द्वारा घटादि के प्रकाशित होने पर किसी को विवाद नहीं होता है कि "यह क्या घट है, अथवा पट है" इत्यादि। आप वस्तु के स्वरूप के विषय में वेद वाक्य को प्रमाण मानते हैं, श्रुतिवाक्य को नहीं मानते, सो यह मान्यता ठीक नहीं है, प्रमाण का लक्षण तो अविसंवादी होना है।

दोनों में यही प्रमाण का लक्षण है अन्य अन्य लक्षण नहीं है जिसमें वह अविसंवादीपना है वह प्रमाण है, फिर चाहे वेद वाक्य हो चाहे श्रुतिवाक्य हो। यह भी एक बात है कि सर्वज्ञका अभाव बतलाने वाला वेद वाक्य नहीं है। श्रुति में तो सर्वज्ञ का सद्भाव ही सद्भाव बताया है। इसलिये आगम प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध करना शक्य नहीं है। उपमा प्रमाण से सर्वज्ञ का अभाव करना भी शक्य नहीं है। उपमा

न चात्रत्येदानीन्तनोपमानभूताशेषपुरुषप्रत्यक्षत्वम् उपमेयभूताशेषान्यदेशकालपुरुषप्रत्यक्षत्वं चाभ्युपगम्यते; सर्वज्ञसिद्धिप्रसङ्गात्, निखिलार्थप्रत्यक्षत्वमन्तरेणाशेषपुरुषपरिषत्साक्षात्कारित्वासम्भवात्।

नाप्यर्थापत्तेस्तदभावावगमः; सर्वज्ञाभावमन्तरेणानुपजायमानस्य प्रमाणषट्कविज्ञातस्य कस्यचिदर्थस्यासम्भवात्। वेदप्रामाण्यस्य गुणवत्पुरुषप्रणीतत्वे सत्येव भावात्। अपौरुषेयत्वस्याग्रे विस्तरतो निषेधात्। न चार्थापत्तिरनुमानात्प्रमाणान्तरमित्यग्रे वक्ष्यते। तद्वदत्रापि व्याप्त्यादिचिन्तायां दोषान्तरं चापादनीयम्।

नाप्यभावप्रमाणात्तदभावसिद्धिः; तस्यासिद्धेः, तदसिद्धिश्चाभावप्रमाणलक्षणस्य

"प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव उच्यते।
सात्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वान्यवस्तुनि॥"

[मी० श्लो० अभावप० श्लो० ११]

प्रमाण तो उपमा और उपमेय के प्रत्यक्ष होने पर सादृश्य का अवलंबन लेकर प्रगट होता है, अन्यथा नहीं। किन्तु ऐसा उपमा उपमेय का यहां सर्वज्ञ के विषय में प्रत्यक्ष होना शक्य नही है यहां के वर्तमान समय के अशेष पुरुषोंका प्रत्यक्ष ज्ञान, तथा उपमेयभूत अशेष अन्य देशकाल में होनेवाले पुरुषों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ऐसा स्वीकार नहीं कर सकते, यदि करेंगे तो सर्वज्ञ की सिद्धि होवेगी किन्तु सकल पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान हुए बिना सकल पुरुष समूह का साक्षात्कार भी संभव नहीं है। अतः उपमा प्रमाण सर्वज्ञाभाव को सिद्ध नहीं कर सकता। अर्थापत्ति प्रमाण से भी सर्वज्ञाभाव करना शक्य नहीं, सर्वज्ञाभाव के बिना नहीं होने वाले, प्रमाण षटक से विज्ञात ऐसा कोई पदार्थ नहीं है। मतलब ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो कि सर्वज्ञ का अभाव होने पर ही हो सकता हो, अतः अन्यथानुपपद्यमानत्वरूप अर्थापत्ति सर्वज्ञाभाव को सिद्ध नहीं कर पाती। वेद में प्रमाणता तो तब मानेंगे जब उसको गुणवान पुरुषकृत स्वीकार किया जाय? आपके अपौरुषेय वेद या आगम का आगे विस्तार से खण्डन करने वाले हैं। तथा यह भी बात है कि अर्थापत्ति अनुमान से कोई पृथक् प्रमाण नहीं है। जैसे अनुमान से सर्वज्ञाभाव सिद्धि करनेमें व्याप्ति का अभाव, सपक्ष का अन्वय नहीं होना इत्यादि दोष आते हैं ऐसे ही दोष अर्थापत्ति में भी आवेंगे। अभाव प्रमाण से भी सर्वज्ञ का अभाव नहीं होता, क्योंकि स्वयं अभाव प्रमाण ही सिद्ध नहीं है, अभाव प्रमाणका लक्षण गलत होने से उसकी सिद्धि नहीं होती प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अभाव होना प्रमाणाभाव

इत्यादेः प्रागेव विस्तरतो निराकरणात्सिद्धा । इत्यलमतिप्रसंगेन । न चानुमाने तत्सद्भावावेदके सत्ये-तत्प्रवर्त्तते—

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते ।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥"

[मी० श्लो० अभावप० श्लो० १]

इत्यभिधानात् किञ्च, अभावप्रमाणं

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम् ।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया ॥"

[मी० श्लो० अभावप० श्लो० २७]

इति सामग्रीतः प्रादुर्भवति । न चाशेषज्ञनास्तिताधिकरणाखिलदेशकालप्रत्यक्षता कस्यचिदस्त्यतीन्द्रियार्थदर्शित्वप्रसङ्गात् । नाप्यशेषज्ञः क्वचित्कदाचित्केनचित्प्रतिपन्नो येनासौ स्मृत्वा निषेध्येत, सर्वत्र

कहलाता है, तथा आत्मामें अपरिणमन होना अभाव प्रमाण है, और अन्यवस्तु में विज्ञान होना अभाव प्रमाण है, ये अभाव प्रमाण के भेद हैं इनके भेद तथा लक्षणों का प्रथम परिच्छेद में "अभावस्य प्रत्यक्षादावर्तभावः" इस प्रकरण में विस्तार से निराकरण कर चुके हैं । अतः इस विषय में अधिक नही कहते ।

अनुमान प्रमाण अभाव प्रमाण का सद्भाव बतलाता है ऐसा कहना भी शक्य नही है, क्योंकि प्रमाण पंचक-प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमा, अर्थापत्ति ये जिस वस्तु में प्रवृत्त नहीं होते वहां वस्तु सत्ता का अवबोध (अभाव) कराने के लिए अभाव प्रमाण प्रवृत्त होता है ॥१॥ ऐसा कहा है अर्थात् प्रत्यक्ष या अनुमान आदि कोई भी प्रमाण जिसमें प्रवृत्त न हो उस विषयमें अभाव प्रमाण है इस तरह मानने से अनुमान अभाव प्रमाण को कैसे सिद्ध करेगा ? नहीं कर सकता । अभाव प्रमाण का लक्षण वस्तु के सद्भाव को जानकर तथा प्रतियोगी का स्मरण कर, इंद्रिय अपेक्षा से रहित मन से "नहीं है" इस प्रकार का नास्ति का ज्ञान होना अभाव प्रमाण है । इस तरह की सामग्री से वह उत्पन्न होता है ऐसा माना है सो यहां सर्वज्ञाभाव बतलाने के लिए सर्वज्ञ के नास्तिता का अधिकरण रूप संपूर्ण देश तथा काल का प्रत्यक्ष होना तो अशक्य है, यदि शक्य है तो वही अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञानी बन जायगा । सर्वज्ञ को भी किसी ने कभी कहीं पर प्रत्यक्ष नहीं देखा, जिससे कि स्मरण कर उसका निषेध कर सके । सर्वत्र सर्वदा उसका निषेध करना भी अशक्य है जब तक निषेध्य और निषेध का आधार दोनों

सर्वदा तन्निषेधविरोधात्। न च निषेध्यनिषेध्याधारयोरप्रतिपत्तौ निषेधो नामातिप्रसङ्गात्। न ह्यप्रतिपन्ने भूतले घटे च घटनिषेधो घटते। यथा चाभावप्रमाणस्योत्पत्तिः स्वरूपं विषयो वा न सम्भवति तथा प्राक्प्रपञ्चेनोक्तमिति कृतमतिप्रसंगेन।

तन्नाभावप्रमाणादप्यशेषज्ञाभावसिद्धिः। तदेवं सिद्धं सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वमप्यशेषज्ञस्य प्रसाधकम् इत्यलमतिप्रसंगेन।

नहीं जाने हैं तब तक उनका निषेध करना असंभव है अन्यथा अतिप्रसंग होगा, घट और भूतल जाना नहीं तो घट का निषेध घटित नहीं होता, अभाव प्रमाण की उत्पत्ति, उसका स्वरूप तथा उसका विषय ये सब संभव नहीं हैं इसका पहले ही विस्तृत विवेचन कर दिया है, अब इस विषय पर अधिक नहीं कहते। इस तरह अभाव प्रमाण से सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार कोई भी प्रमाण सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं कर सका। उसके सद्भाव को सिद्ध करनेवाला सुनिश्चित असंभवत बाधक प्रमाण रूप हेतुवाला अनुमान प्रमाण है, वह सर्वज्ञ को भले प्रकार से सिद्ध कर देता है। अब इस सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरण को समाप्त करते हैं।

॥ सर्वज्ञत्ववाद समाप्त ॥

सर्वज्ञवाद का सारांश

पूर्व पक्ष—मीमांसक सर्वज्ञ को नहीं मानते हैं उनका अनुमान वाक्य है कि सर्वज्ञ नहीं है क्योंकि वह सत्ता ग्राहक पांचों प्रमाणों का विषय नहीं है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमा, अर्थापत्ति ये पांच प्रमाण वस्तु के सद्भाव को सिद्ध करने वाले हैं इनमें से प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञ को सिद्ध करना शक्य नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष तो निकटवर्ती रूपादि विषय को ग्रहण करता है, अतीन्द्रिय सर्वज्ञ को नहीं। अनुमान के द्वारा सर्वज्ञ सिद्ध तब हो जब सर्वज्ञ का अविनाभावी कोई हेतु उपस्थित हो सर्वज्ञ की सिद्धि के लिये जैन का दिया गया अनुमान ठीक नहीं है अर्थात् सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष है क्योंकि वे प्रमेय हैं इत्यादि अनुमान का हेतु असिद्धादि दोष युक्त है। आगम प्रमाण से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रयादि दोष आते हैं। उपमा उपमेय की सदृशता न होने से उपमा प्रमाण भी सर्वज्ञ को सिद्ध नहीं कर सकता। अर्थापत्ति भी अन्यथानुपपद्यमानत्व शक्ति के बिना प्रवृत्त नहीं होता। आप जैन का कहना है कि अभ्यास करते करते सकल पदार्थ का ज्ञान हो जाता है। सो अभ्यास अन्य विषयक अतिशय को पैदा कर सकता है? नहीं कर सकता, अर्थात् जिस विषय का अभ्यास करेंगे उसी का विशेष या पूर्ण ज्ञान होगा अन्य का नहीं। अनंत विषयों का न अभ्यास ही संभव है और न उसमें निपुणता रूप अतिशय भी आ सकता है। सर्वज्ञ यदि सभी को जानता है तो दूसरे के रागादि को जानते समय खुद भी रागी द्वेषी बनेगा। सर्वज्ञ अतीत कालवर्ती वस्तु को ग्रहण करता है किन्तु उस समय वस्तु नहीं होने से असत् के ग्रहण करने का प्रसंग भी होगा। इस प्रकार सर्वज्ञ की सिद्धि किसी भी प्रमाण से नहीं होती है।

उत्तर पक्ष—जैन इस असर्वज्ञवादी मीमांसक का खंडन करते हैं प्रत्यक्ष के द्वारा सर्वज्ञ का ग्रहण नहीं होता है। क्योंकि वह इस समय इस क्षेत्र में (भरत क्षेत्र में पंचम काल में) नहीं हैं। अनुमान द्वारा सर्वज्ञ सिद्धि होती है—कोई आत्मा समस्त पदार्थों को साक्षात् जानने वाला है क्योंकि उसका सम्पूर्ण पदार्थों को जानने का स्वभाव है, नष्ट हो गये हैं प्रतिबंध कारण जिससे ऐसा है, जो जिसके ग्रहण रूप स्वभाव वाला होने पर प्रक्षीण प्रतिबंध कारण होता है वह उसको जानता ही है, जैसे रोग रहित नेत्र

पीत आदि वर्ण को साक्षात् करता है। इस अनुमान में सर्वज्ञ को धर्मी न बनाकर कोई आत्मा को बनाया है। आपने अभ्यास के पूर्ण ज्ञान होने का खंडन किया किन्तु वह अयुक्त है, आगम का अभ्यास और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री को प्राप्त करके यह भव्यात्मा सम्पूर्ण आवरण कर्म का क्षय करने में समर्थ होता है। अस्पष्ट आगम ज्ञान से स्पष्ट प्रत्यक्ष कैसे उत्पन्न हो सकता है ऐसी शंका भी उचित नहीं, क्योंकि यह सर्वथा नियम नही है कि कारण सदृश ही कार्य हो, बीज कारण से अन्य अंकुर रूप कार्य होता हुआ देखा गया है, आपका यह जबरदस्त हटाग्रह है कि सम्पूर्ण वस्तु का ज्ञान किसी को नहीं हो सकता किंतु यह कथन आप खुद के भी विरुद्ध होगा, क्योंकि आप मीमांसक भी वेद के द्वारा सकल पदार्थ का बोध होना मानते हैं तथा व्याप्ति के द्वारा भी सामान्यतः सम्पूर्ण साध्य साधन का ज्ञान होना हम जैसे निकृष्ट व्यक्ति को भी संभव है तो योगी जन को स्पष्ट रूप से सकलार्थ का बोध होवे इसमें क्या संदेह है? सर्वज्ञ देव क्रम से वस्तु को न जानकर सूर्य के समान संपूर्ण पदार्थों को प्रकाशित करते हैं। सर्वज्ञ का ज्ञान प्रथम समय में सब वस्तुओं को ग्रहण करेगा तो द्वितीयादि समय में जानने योग्य वस्तु के अभाव में असर्वज्ञ बन जायगा ऐसी शंका भी व्यर्थ है, पदार्थ प्रतिक्षण अपने अर्थ पर्याय को परिवर्तित करके रहते हैं, जो पदार्थ अभी भविष्यत् रूप जाना था वही द्वितीयादि क्षणों में वर्तमान रूप हो जायगा तथा जो वर्तमान रूप जाना था वह अतीतरूप धारण करेगा, अतः पदार्थ में प्रतिसमय नवीनता रहती है। रागादि को जानने से सर्वज्ञ को भी रागादि मान हो जाने का दोष अनुचित है यदि दूसरे के रागादि को जानने से रागी द्वेषी होंगे तो ब्राह्मणादि कुलीन पुरुष को मदिरा आदि पदार्थ का वर्णन करने या सुनने मात्र से मदिरापेयी होने का प्रसंग प्राप्त होगा। वक्तृत्व हेतु के द्वारा सर्वज्ञाभाव को सिद्ध करना तो बिल्कुल गलत है, क्योंकि यदि सर्वज्ञ सत्य परस्पर अविरुद्ध वाक्य बोलता है तो क्या बाधा है, सर्वज्ञ का और वक्तृत्व का परस्पर में विरोध होता हो सो भी बात नहीं है। आपके आगम प्रमाण, अथवा अर्थापत्ति आदि प्रमाण सर्वज्ञ के बाधक नहीं हैं, क्योंकि उनका वह विषय नहीं है। इस प्रकार आप सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं कर पाते हैं, और हम जैन निर्दोष अनुमान प्रमाण से उसे सिद्ध कर देते हैं अतः आपको सर्वज्ञ भगवान अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

॥ सर्वज्ञवाद का सारांश समाप्त ॥

४

ईश्वरवादः

ननु चावरणविश्लेषादशेषवेदिनो विज्ञानं प्रभवतीत्यसाम्प्रतम्; तस्यानादिमुक्तत्वेनावरणस्यैवासम्भवादिति चेत्; तदयुक्तम्; अनादिमुक्तत्वस्यासिद्धेः। तथाहि–नेश्वरोऽनादिमुक्तो मुक्तत्वात्तदन्यमुक्तवत्। बन्धापेक्षया च मुक्तव्यपदेशः, तद्रहिते चास्याप्यभावः स्यादाकाशवत्।

ननु चानादिमुक्तत्वं तस्यानादेः क्षित्यादिकार्यपरम्परायाः कर्तृत्वात्सिद्धम्। न चास्य तत्कर्तृत्वमसिद्धम्; तथाहि– क्षित्यादिकं बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वात्, यत्कार्यं तद्बुद्धिमद्धेतुकं दृष्टम् यथा

यौग–नैयायिक वैशेषिक अनादि एक ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं, अब यही प्रकरण शुरू होता है।

यौग–जैन ने सर्वज्ञ को सिद्ध किया है। उसमें हमारा यह कहना है कि सर्वज्ञ का ज्ञान आवरण के नाश से उत्पन्न नहीं होता सर्वज्ञ तो अनादि से मुक्त ही है अनादि सिद्ध के आवरण संभव नहीं है।

जैन–यह कथन अयुक्त है, अनादि मुक्त की सिद्धि नहीं हो पाती अनुमान से सिद्ध होता है कि ईश्वर अनादि मुक्त नहीं है, क्योंकि वह मुक्त हुआ है जैसे अन्य मुक्तात्मा अनादि से मुक्त नहीं है। बंध की अपेक्षा से ही मुक्त नाम पाता है यदि बंध रहित है तो उसे मुक्त नहीं कह सकते जैसे आकाश को मुक्त शब्द से नहीं कहते हैं क्योंकि वह बँधा नहीं था।

यौग–ईश्वर में अनादि मुक्तपना अनादि कालीन पृथ्वी आदि कार्य परम्परा के कर्तृत्व से सिद्ध होता है ईश्वर का यह कर्तापन असिद्ध भी नहीं है। पृथ्वी, पर्वत वृक्ष आदि पदार्थ किसी बुद्धिमान से निर्मित हैं, क्योंकि ये कार्य हैं, जो कार्य होता है वह बुद्धिमान के द्वारा निर्मित होता है जैसे घट, पृथ्वी आदिक भी कार्य हैं, अतः बुद्धिमान निमित्तक हैं। इस अनुमान का कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं है। अब कार्यत्व हेतु

घटादि, कार्यं चेदं क्षित्यादिकम्, तस्माद्बुद्धिमद्धेतुकम्। न चात्र कार्यत्वमसिद्धम्; तथाहि—कार्यं क्षित्यादिकं सावयवत्वात्। यत्सावयवं तत्कार्यं प्रतिपन्नम् यथा प्रासादादि, सावयवं चेदम्, तस्मात्कार्यम्।

ननु क्षित्यादिगतात्कार्यत्वात्सावयवत्वाच्चान्यदेव प्रासादादौ कार्यत्वं सावयवत्वं च यदक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्ध्युत्पादकम्, ततो दृष्टान्तदृष्टस्य हेतोर्धर्मिण्यभावादसिद्धत्वम्; इत्यसमीक्षिताभिधानम्; यतोऽव्युत्पन्नान्प्रतिपत्तृनधिकृत्यैवमुच्यते, व्युत्पन्नान्वा ? प्रथमपक्षे धूमादावप्यसिद्धत्वप्रसङ्गात्सकला-

---

की सिद्धि करते हैं—पृथ्वी आदि पदार्थ कार्य रूप हैं, क्योंकि वे अवयव सहित हैं, जो अवयव युक्त होता है वह कार्य होता है जैसे प्रासादादि, पृथ्वी आदि भी सावयव हैं अतः कार्य हैं।

शंका–पृथ्वी आदि में होने वाला कार्यपना और सावयवपना पृथक् है और प्रासाद आदि का कार्यपना पृथक् है। प्रासादादि की रचना करना रूप क्रिया नहीं देखी है तो उसमें भी किये हुए की बुद्धि उत्पन्न होती है, इसलिये प्रासाद रूप दृष्टान्त में देखा हुआ हेतु पक्ष में नहीं रहने से असिद्ध है ?

समाधान–यह शंका ठीक नहीं है, यह कथन अव्युत्पन्न व्यक्तियों के लिये किया जा रहा है या व्युत्पन्न व्यक्तियों के लिये किया जा रहा है ? प्रथम पक्ष कहो तो अव्युत्पन्न व्यक्ति के प्रति धूम आदि हेतु भी असिद्ध होने से सारे ही अनुमानों का व्युच्छेद हो जायगा। दूसरे पक्ष की बात कहो तब तो कार्यत्व हेतु में असिद्धपना नहीं रहता है, क्योंकि व्युत्पन्न व्यक्ति ने कार्यत्व का बुद्धिमान कारणत्व के साथ अविनाभाव है ऐसा जाना है, वह प्रासादादिवत् पृथ्वी आदि में भी कार्यत्व का निश्चय कर लेता है, जैसे पर्वत आदि में धूम का निश्चय कर लेते हैं। यदि कहा जाय कि दृष्टान्त में देखे गये कार्यत्वादि धर्म पृथ्वी आदि के कार्यत्व से भिन्न है तो पर्वत आदि का धूम और महानस का धूम इनमें भी भेद मानना होगा।

शंका–कार्यत्व हेतु का बुद्धिमान कारणत्व के साथ अविनाभाव नहीं है, अर्थात् जो कार्य हो वह बुद्धिमान कृत ही होवे सो बात नहीं है क्योंकि बिना बोये वृक्ष आदि कार्यत्व का बुद्धिमान कारणत्व के साथ अविनाभाव नहीं देखा जाता है ?

समाधान–ऐसा नहीं है, जो हेतु साध्य के बिना भी होवे उसे व्यभिचारी कहते हैं, बिना बोये उत्पन्न हुए वृक्षादिक में कर्ताका अभाव निश्चित नहीं है, किंतु

नुमानोच्छेदः। द्वितीयपक्षे तु नासिद्धत्वम्; कार्यत्वादेर्बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन प्रतिपन्नाविनाभावस्य क्षित्यादौ प्रसिद्धेः पर्वतादौ धूमादिवत्। दृष्टान्तोपलब्धकार्यत्वादेस्ततो भेदे पर्वतादिधूमान्महानसधूमस्यापि भेदः स्यात्।

ननु कार्यत्वस्य बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेनाविनाभावोऽसिद्धः, अकृष्टप्रभवैः स्थावरादिभिर्व्यभिचारात्; तन्न; साध्याभावेपि प्रवर्त्तमानो हेतुर्व्यभिचारीत्युच्यते, न च तत्र कर्त्रभावो निश्चितः किन्त्वग्रहणम्। उपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वे हि ततः कर्त्तु रभावनिश्चयः, न च तत्तस्येष्यते।

अथ क्षित्याद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानोपलम्भात्तेषां नातिरिक्तस्य कारणत्वकल्पना अतिप्रसङ्गात्; तर्हि धर्माधर्मयोरपि तत्र कारणता न भवेत्। न च तयोरकारणतैव; तरुतृणादीनां सुखदुःखसाधनत्वाभावप्रसङ्गात्, धर्माधर्मनिरपेक्षोत्पत्तीनां तदसाधनत्वात्। न चैवम्, न हि किञ्चिज्जगत्यस्ति वस्तु यत्साक्षात्परम्परया वा कस्यचित्सुखदुःखसाधनं न स्यात्।

उसका ग्रहण नहीं होता है जिसकी उपलब्धि संभव है ऐसे कर्ता का अभाव निश्चित कर सकते हैं, यहां ईश्वररूप कर्ता को उपलब्धि संभव नहीं है।

शंका–पृथ्वी आदि के अन्वय व्यतिरेक का अनुविधान उपलब्ध होने से उनसे अतिरिक्त अन्य कारण की कल्पना नहीं करनी चाहिये अन्यथा अति प्रसंग होगा ?

समाधान–ऐसा माना जायगा तो उन पृथ्वी आदि में धर्म अधर्म रूप कारण भी सिद्ध नहीं हो सकेंगे किंतु वे कारण न हों ऐसी बात नहीं है, अन्यथा वृक्ष तृण आदि में सुख दुःख के कारणपने का अभाव होता है क्योंकि धर्म अधर्म की अपेक्षा के बिना जिनकी उत्पत्ति होती है वे सुख दुःख के साधन नहीं होते हैं, किंतु ऐसा देखा नहीं जाता है, जगत में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है कि जो साक्षात या परम्परा से किसी के सुख दुःख का कारण नहीं होती हो।

शंका–पृथ्वी आदि सामग्री से उत्पन्न होने वाले स्थावर आदि में जो बुद्धिमान कर्ता की उपलब्धि नहीं हो रही है वह अभाव के कारण नहीं हो रही है या सद्भाव होते हुए भी अनुपलब्धि लक्षण वाला होने से नहीं हो रही है इस प्रकार संदेह होने से कार्यत्व हेतु संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति वाला है ?

समाधान–यह कथन असत् है, इस तरह तो सभी अनुमान समाप्त हो जायेंगे, जहां पर अग्नि के अदर्शन में धूम दिखता है, वहां शंका होगी कि यहां अभाव होने से अग्नि नहीं दिखायी देती है अथवा अनुपलब्धि लक्षण वाली होने से नहीं दिखती है।

ननु क्षित्यादिसामग्रीप्रभवेषु स्थावरादिषु 'बुद्धिमतोऽभावादग्रहणं भावेप्यनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाद्वा' इति सन्दिग्धो व्यतिरेकः कार्यत्वस्य; इत्यप्यपेशलम्; सकलानुमानोच्छेदप्रसङ्गात्। यत्र हि वह्नेरदर्शने धूमो दृश्यते तत्र-'किं वह्नेरदर्शनमभावादनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाद्वा' इत्यस्यापि सन्दिग्धव्यतिरेकत्वान्न गमकत्वम्। यया सामग्र्या धूमो जन्यमानो दृष्टस्तां नातिवर्त्तते इत्यन्यत्रापि समानम्-कार्यं कर्तृकरणादिपूर्वकं कथं तदतिक्रम्य वर्त्तेतातिप्रसङ्गात्?

अनुपलम्भस्तु शरीराद्यभावान्न त्वसत्त्वात्, यत्र हि सशरीरस्य कुलालादेः कर्तृता तत्र प्रत्यक्षेणोपलम्भो युक्तोऽत्र तु चैतन्यमात्रेणोपादानाद्यधिष्ठानान्न प्रत्यक्षप्रवृत्तिः। न च शरीराद्यभावे कर्तृत्वाभावस्तस्य शरीरेणाविनाभावाभावात्। शरीरान्तररहितोपि हि सर्वश्चेतनः स्वशरीरप्रवृत्तिनिवृत्ती करोतीति, प्रयत्नेच्छावशात्तत्प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणकार्याविरोधे प्रकृतेपि सोस्तु। ज्ञानचिकीर्षा-

---

इस तरह धूम हेतु भी संदिग्ध व्यतिरेको होने से साध्य का गमक नहीं हो सकेगा। कोई कहे कि जिस सामग्री से धूम उत्पन्न होता हुआ रसोई में देखा था वह अपनी सामग्री का उल्लंघन नहीं कर सकता है ऐसा समझकर जहां पर्वत पर अग्नि नहीं दिखती है वहां भी उसका निश्चय हो जाता है? सो यही बात कार्यत्व हेतु में घटित कर लेनी चाहिये जो कार्य होता है वह कर्ता करण आदि पूर्वक होता है, अतः पृथ्वी आदिक कार्यपना कर्ता का उल्लंघन कैसे कर सकता है? अन्यथा अतिप्रसंग होगा। ईश्वर का जो अनुपलंभ है वह शरीरादिक नहीं रहने के कारण है न कि अभाव के कारण है। शरीरधारी कुंभकार आदि का कर्तापन प्रत्यक्ष से उपलब्धि होना युक्त है, किंतु यहां स्थावर पृथ्वी आदि में चैतन्य मात्र से प्रेरित होकर कार्य होता है अतः प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं है। शरीर का अभाव होने से ईश्वर में कर्तापन नहीं बन सकता है, ऐसा कहना भी गलत है क्योंकि कार्य का शरीर के साथ अविनाभाव संबंध नहीं है, देखा जाता है कि शरीरांतर से रहित होकर भी सभी चैतन्य अपने शरीर में प्रवृत्ति या निवृत्ति करते हैं। प्रयत्न और इच्छा से प्रवृत्ति निवृत्ति रूप कार्य होता है ऐसा माने तो पृथ्वी आदि में भी प्रयत्न और इच्छा से कार्य का कर्तापना मानना चाहिये। ज्ञान चिकीर्षा और प्रयत्नधारता यह कर्तृत्व का लक्षण है, शरीर सहित या शरीर रहित होना कर्तृत्व नहीं है। इसी को सिद्ध करते हैं—कोई व्यक्ति सशरीरी होकर भी घट कार्य करना नहीं जानता है तो उसमें कर्तृत्व नहीं दिखाई देता है और कोई पुरुष कार्य करना जान रहा है किंतु इच्छा नहीं है, तो भी कार्य नहीं करता है तथा इच्छा है किंतु प्रयत्न का अभाव है तो भी कार्य नहीं होता है इस

प्रयत्नाधारता हि कर्तृत्वम् न सशरीरेतरता, घटादिकार्यं कर्त्तुमजानतः सशरीरस्यापि तत्कर्तृत्वादर्शनात्, जानतोपीच्छापाये तदनुपलम्भात्, इच्छतोपि प्रयत्नाभावे तदसम्भवात्, तत्त्रयमेव कारकप्रयुक्ति प्रत्यङ्गं न शरीरेतरता।

न च दृष्टान्तेऽनीश्वरासर्वज्ञकृत्रिमज्ञानवता कार्यत्वं व्याप्तं प्रतिपन्नमित्यत्रापि तथाविधमेवाधिष्ठातारं साधयतीति विशेषविरुद्धता हेतोः इत्यभिधातव्यम्; बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमात्रस्य साध्यत्वात्। धूमाद्यनुमानेपि चैतत्समानम्–धूमो हि महानसादिदेशसम्बन्धितार्णपार्णादिविशेषाधारेणाग्निना व्याप्तः पर्वतेपि तथाविधमेवाग्निं साधयेदिति विशेषविरुद्धः। देशादिविशेषत्यागेनाग्निमात्रेणास्य व्याप्तेर्न दोषः इत्यन्यत्रापि समानम्।

सर्वज्ञता चास्याशेषकार्यकरणात्सिद्धा। यो हि यत्करोति स तस्योपादानादिकारणकलापं प्रयोजनं चावश्यं जानाति, अन्यथा तत्क्रियाऽयोगात्कुम्भकारादिवत्। तथा "विश्वतश्चक्षुः" [श्वेताश्वतरोप० ३।३] इत्यागमादप्यसौ सिद्धः

प्रकार ज्ञान, प्रयत्न और इच्छा ये तीन कर्ता के अंग हैं, अर्थात् कार्य कर्ता में ये तीन हों तो कार्य कर सकेगा अन्यथा नहीं। अतः शरीरी होना या अशरीरी होना कर्ता के अंग नहीं है।

शंका–पृथ्वी आदि ईश्वरकृत हैं ऐसा सिद्ध करने में "घटादिवत्" यह दृष्टांत दिया है। घट का कार्यत्व अधीश्वर, असर्वज्ञ, अनित्य ज्ञानी के साथ व्याप्त है अतः कार्यत्व हेतु पृथ्वी आदि में वैसे ही अनीश्वर असर्वज्ञ आदि विशेषण वाले कर्ता को सिद्ध करता है इसलिये यह हेतु विशेष विरुद्ध दोष वाला है।

समाधान–ऐसा नहीं कहना, हम यौग ने यहां पर सामान्यतः बुद्धिमत् कारण पूर्वकत्व को साध्य बनाया है शंकाकार ने हमारे कार्यत्व हेतु के विषय में जो कहा उसको धूमत्व आदि हेतु के विषय में भी कह सकते हैं—धूम हेतु महानस आदि स्थानों पर तृण की अग्नि, पत्ते की अग्नि आदि विशेष आधार से व्याप्त था अतः पर्वत पर उसी प्रकार की अग्नि को सिद्ध करेगा अतः धूमत्व हेतु भी विशेष विरुद्ध होता है। यदि कहा जाय कि देश आदि विशेष से रहित मात्र सामान्य अग्नि के साथ धूम हेतु की व्याप्ति रहती है अतः कोई दोष नहीं है, तो यही बात कार्यत्व हेतु में है दोनों में समान ही दोष और परिहार है ईश्वर में सर्वज्ञता इसलिये सिद्ध होती है कि वह संपूर्ण कार्यों को करता है, जो जिसको करता है वह उस कार्य के उपादान आदि कारण कलाप को तथा प्रयोजन को अवश्य ही जानता है, अन्यथा कार्य को कर नहीं

"द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।। १ ।।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ।। २ ।।"

[भगवद्गी० १५।१६-१७]

इति व्यासवचनसद्भावाच्च ।

न च स्वरूपप्रतिपादकानामप्रामाण्यम्; प्रमाजनकत्वस्य सद्भावात् । प्रमाजनकत्वेन हि प्रमाणस्य प्रामाण्यं न प्रवृत्तिजनकत्वेन, तच्चेहास्त्येव । प्रवृत्तिनिवृत्ती तु पुरुषस्य सुखदुःखसाधनत्वाध्यवसाये समर्थस्यार्थित्वाद्भवतः । विधेरङ्गत्वादमीषां प्रामाण्यं न स्वरूपार्थत्वात्; इत्यसत्; स्वार्थ-

---

सकता है, जैसे कुंभकार घट के कारण कलाप को जानकर घट को बनाता है । तथा विश्वतश्चक्षु इत्यादि आगम वाक्य से भी ईश्वर की सर्वज्ञता सिद्ध होती है । संसार में दो पुरुष हैं एक (क्षर) अनित्य है एक अक्षर (नित्य) है, क्षर तो सभी संसारी जीव हैं और अक्षर मात्र एक (ईश्वर है) ।।१।। जो अक्षर है वह उत्तम पुरुष है, उसी को परमात्मा कहते हैं, ईश्वर तथा अव्यय भी कहते हैं, जो कि तीनों लोकों में प्रवेश कर उनको धारण करता है ।। २ ।। इस प्रकार के ईश्वर के विषय में व्यास ऋषि के वचन हैं ।

स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले वेद वाक्य भी इस विषय में अप्रमाण नहीं हैं, क्योंकि वे वाक्यप्रमा को (यथार्थ अनुभव को) उत्पन्न करते हैं । जो प्रमा को उत्पन्न करता है वह प्रमाण है, उसी के निमित्त से प्रामाण्य आता है न कि प्रवृत्ति को उत्पन्न करने से । ऐसी प्रमाणता तो वेद वाक्य में मौजूद ही है, प्रवृत्ति और निवृत्ति तो सुख दुःख के साधनों का निश्चय होने के बाद तदर्थ इच्छुक समर्थ पुरुष की होती है ।

शंका—वेद वाक्यों में विधि का अंग होने से प्रमाणता है न कि स्वरूप प्रतिपादक होने से ?

समाधान—ऐसा नहीं है, स्वार्थ प्रतिपादक होने से वेद वाक्य विधि का अंग बने हैं इसी को बताते हैं—स्तुति के वाक्य स्वार्थ प्रतिपादक होने से प्रवर्तक हैं और निंदा के वाक्य निवर्त्तक हैं, अन्यथा उन वाक्यों के अर्थ के परिज्ञान के अभाव में उपादेय और निषिद्ध कार्यों में समान रूप से ही प्रवृत्ति या निवृत्ति हो जायगी । दूसरी

प्रतिपादकत्वेन विध्यङ्गत्वात् । तथाहि–स्तुतेः स्वार्थप्रतिपादकत्वेन प्रवर्तकत्वं निन्दायास्तु निवर्तकत्वम्, अन्यथा हि तदर्थापरिज्ञाने विहितप्रतिषेधेष्वविशेषेण प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा स्यात् । तथा विधिवाक्यस्यापि स्वार्थप्रतिपादनद्वारेणैव पुरुषप्रेरकत्वं दृष्टमेवं स्वरूपपरेष्वपि वाक्येषु स्यात्, वाक्यरूपताया अविशेषाद्विशेषहेतोश्चाभावात् । तथा स्वरूपार्थानामप्रामाण्ये "मेध्या आपो दर्भः पवित्रममेध्यमशुचि" इत्येवंस्वरूपापरिज्ञाने विध्यङ्गतायामविशेषेण प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसङ्गः । न चैतदस्ति, मेध्येष्वेव प्रवर्त्तते अमेध्येषु च निवर्त्तते इत्युपलम्भात् ।

एवं प्रमाणप्रसिद्धो भगवान् कारुण्याच्छरीरादिसर्गे प्राणिनां प्रवर्त्तते । न चैवं सुखसाधन एव प्राणिसर्गोऽनुषज्यते; अदृष्टसहकारिणः कर्तृत्वात् । यस्य यथाविधोऽदृष्टः पुण्यरूपोऽपुण्यरूपो वा तस्य तथाविधफलोपभोगाय तत्सापेक्षस्तथाविधशरीरादीन्सृजतीति । अदृष्टप्रक्षयो हि फलोपभोगं विना न शक्यो विधातुम् ।

बात यह है कि जो लोग वेद वाक्य का अर्थ विधि रूप करते हैं उनके यहां भी स्वार्थ प्रतिपादन द्वारा ही पुरुष के प्रेरकपना देखा जाता है अतः स्वरूप प्रतिपादक वाक्यों में भी इसी प्रकार घटित होता है । विधि परक वाक्य और स्वरूप प्रतिपादक वाक्य इनमें वाक्यपना तो समान ही है, भेद कारक विशेष हेतु भी नहीं है । तथा यदि स्वरूपार्थ प्रतिपादक वेद वाक्यों में अप्रामाण्य माना जायगा तो "जल पवित्र है," "दर्भ पवित्र है" "अशुचि पदार्थ अपवित्र है" इत्यादि वस्तु स्वरूप का ज्ञान नहीं होने से दोनों में विधि रूपता की समानता होने से प्रवृत्ति निवृत्ति समान हो जायगी, किंतु ऐसा नहीं होता है पवित्र पदार्थों में ही प्रवृत्ति होती है और अपवित्र में ही निवृत्ति होती है ।

इस प्रकार प्रमाण द्वारा प्रसिद्ध ऐसे भगवान करुणा भाव से प्राणियों के शरीरादि की रचना में प्रवृत्ति करते हैं । करुणा से प्रवृत्ति करता है तो सुख साधन रूप ही प्राणियों को पैदा करना चाहिये ऐसा भी नहीं कह सकते हैं क्योंकि प्राणियों के शरीर आदि के कर्तृत्व में ईश्वर को अदृष्ट की सहायता रहती है, जिस प्राणी का जिस प्रकार का अदृष्ट पुण्य रूप या पाप रूप होता है उसको वैसे फल भोगने के लिये ईश्वर उसी प्रकार के अदृष्ट की अपेक्षा से वैसे ही शरीरादि की रचना करता है । अदृष्ट का नाश फल भोगे बिना नहीं हो सकता है । ऐसा भी नहीं कहना कि–अदृष्ट से ही सकल कार्य की उत्पत्ति होती है अतः अन्य कर्ता की कल्पना क्यों करना ? अदृष्ट

न चादृष्टादेवाखिलोत्पत्तिरस्तु किं कर्तृकल्पनयेति वाच्यम्; तस्याप्यचेतनतयाधिष्ठात्रपेक्षोपपत्तेः। तथाहि-अदृष्टं चेतनाधिष्ठितं कार्ये प्रवर्त्ततेऽचेतनत्वात्तन्त्वादिवत्। न चास्मदाद्यात्मैवाधिष्ठायकः; तस्यादृष्टपरमाण्वादिविषयविज्ञानाभावात्। न च (वा) चेतनस्याकस्मात्प्रवृत्तिरुपलब्धा, प्रवृत्तौ वा निष्पन्नेपि कार्ये प्रवर्त्तेत विवेकशून्यत्वात्।

तथा वार्त्तिककारेणापि प्रमाणद्वयं तत्सिद्धयेऽभ्यधायि—"महाभूतादि व्यक्तं चेतनाधिष्ठितं प्राणिनां सुखदुःखनिमित्तं रूपादिमत्त्वात्तुर्यादिवत्। तथा पृथिव्यादीनि महाभूतानि बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितानि स्वासु धारणाद्यासु क्रियासु प्रवर्त्तन्तेऽनित्यत्वाद्वास्यादिवत्।" [न्यायवा० पृ० ४६७]

तथाऽविद्धकर्णेन च—"तनुकरणभुवनोपादानानि चेतनाधिष्ठितानि स्वकार्यमारभन्ते रूपादिमत्त्वात्तन्त्वादिवत्।" तथा "द्वीन्द्रियग्राह्याग्राह्यं विमतिभावापन्नं बुद्धिमत्कारणपूर्वकं स्वारम्भका-

---

अचेतन होने से अधिष्ठायक चेतन की अपेक्षा रखता है इसी का खुलासा करते हैं—अदृष्ट चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य में प्रवृत्त होता है क्योंकि वह अचेतन है, जैसे तंतु आदि पदार्थ अचेतन हैं। इस पर जैनादि परवादी शंका करते हैं कि हम जैसे प्राणियों का आत्मा ही अदृष्ट का अधिष्ठायक होता है, तो यह शंका गलत है, हमारे आत्मा को अदृष्ट परमाणु आदि विषयों का ज्ञान नहीं होता है, तथा अचेतन के बिना कारण के प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, यदि होगी तो निष्पन्न कार्य में भी होती रहेगी क्योंकि अचेतन विवेक शून्य होता है। वार्तिककार ने भी ईश्वर सिद्धि के लिये २ प्रमाण उपस्थित किये हैं, प्रथम प्रमाण--महाभूत आदि कार्य चेतन से अधिष्ठित होकर प्राणियों के सुख दुःख का निमित्त बनता है क्योंकि वह रूपादिमान है जैसे वाद्य चेतनाधिष्ठित होकर ही बजने का कार्य करता है। दूसरा प्रमाण—पृथ्वी आदि महाभूत बुद्धिमान कारण से अधिष्ठित होकर अपने धारण आदि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि वे अनित्य हैं, जैसे वसूला आदि अपने काटने रूप क्रिया में देवदत्त से अधिष्ठित होकर ही प्रवृत्त होता है जो बुद्धिमान कारण है वही ईश्वर है। इन दो अनुमान प्रमाणों से ईश्वर की सिद्धि होती है।

अविद्धकर्ण नामा गुरु ने भी कहा है कि शरीर, जगत, इन्द्रियां आदि उपादान रूप कारण चेतन से अधिष्ठित होकर स्वकार्य का आरंभ करते हैं, क्योंकि वे रूपादिमान हैं, जैसे तन्तु, तन्तुवाय से अधिष्ठित होकर वस्त्ररूप कार्य करते हैं, दूसरा अनुमान द्वीन्द्रिय ग्राह्य (स्पर्शन और चक्षु से ग्राह्य) पदार्थ और इनसे अग्राह्य पदार्थ

वयवसन्निवेशविशिष्टत्वाद् घटादिवत्। वैधर्म्येण परमाणवो यथा" [ ] द्वाभ्यां दर्शनस्पर्शनेन्द्रियाभ्यां ग्राह्यं पृथिव्यप्तेजोलक्षणं त्रिविधं द्रव्यमग्राह्यं वाय्वादिकम्। वायौ हि रूपसंस्काराभावादनुपलब्धिः रूपसंस्कारो रूपसमवायः। द्वयणुकादीनां त्वऽमहत्वात्। उक्तं च–"महत्यनेकद्रव्यत्वाद्रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः" [वैशे० सू० ४।१।६]

प्रशस्तमतिना च; "सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारोऽन्योपदेशपूर्वकः उत्तरकालं प्रबुद्धानां प्रत्यर्थनियतत्वादप्रसिद्धवाग्व्यवहाराणां कुमाराणां गवादिषु प्रत्यर्थनियतो वाग्व्यवहारो यथा मात्राद्युपदेशपूर्वकः" [ ] इति।

जो कि विवादग्रस्त हैं वे बुद्धिमान कारण पूर्वक होते हैं, क्योंकि अपने आरम्भक परमाणु रूप अवयवों की रचना स्वरूप हैं, जैसे घटादि पदार्थ परमाणुओं की रचना विशेष होने से चेतन अधिष्ठित है। व्यतिरेक दृष्टांत में परमाणु को ले लीजिये, अर्थात् जो रचना विशेष रूप नहीं है वह चेतनाधिष्ठित भी नहीं है जैसे परमाणु रचना विशेष रूप नहीं है अतः चेतनाधिष्ठित नहीं है। दर्शन तथा स्पर्शनेन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ पृथ्वी जल और अग्नि ये तीन द्रव्य हैं। वायु आदिक अग्राह्य द्रव्य हैं। रूप संस्कार का अभाव होने से वायु की उपलब्धि नहीं होती है, रूप का समवाय होने को रूप संस्कार कहते हैं। द्वि अणुक आदि पदार्थ अमहत्व रूप होने से अग्राह्य होते हैं। कहा भी है महान में अनेक द्रव्यपना होने से तथा रूप विशेष होने से रूप की उपलब्धि होती है। प्रशस्तमति ने भी कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भ में पुरुषोंका व्यवहार अन्य उपदेश पूर्वक होता है क्योंकि उत्तरकाल में प्रबुद्ध पुरुषों का अर्थ के प्रति नियमितपना देखा जाता है जैसे जिनको वचन बोलना नहीं आता है ऐसे कुमारों का गो आदि अर्थ में नियतरूप वचन व्यवहार होता है वह माता पिता के उपदेश पूर्वक होता है।

भावार्थ—बालक को शुरुआत में माता पिता वचन बोलना एवं वस्तु का नाम निर्देश आदि सिखाते हैं कि यह गाय है इसे गाय कहना यह पुस्तक है इत्यादि उस शिक्षा से ही बालकों का प्रत्येक पदार्थ में निश्चित वचन व्यवहार होने लगता है, उसी प्रकार सृष्टि के शुरुआत में पुरुषों का कार्यों में प्रवृत्ति होना आदि व्यवहार होता है वह अन्य पुरुष के उपदेश से ही होता है इस तरह अनादि एक ईश्वर सिद्ध होता है उद्योतकर नामा टीकाकार ने भी कहा है कि जगत के कारणभूत प्रधान परमाणु तथा अदृष्ट ये सब स्वकार्य की उत्पत्ति में अतिशय बुद्धिमान अधिष्ठाता की अपेक्षा रखते

उद्द्योतकरेण च; "भुवनहेतवः प्रधानपरमाण्वदृष्टाः स्वकार्योत्पत्तावतिशयवद्बुद्धिमन्तमधिष्ठितारमपेक्षन्ते स्थित्वा प्रवृत्तेस्तन्तुतुर्यादिवत्। तथा, बुद्धिमत्कारणाधिष्ठितं महाभूतादि व्यक्तं सुखदुःखनिमित्तं भवत्यचेतनत्वात्कार्यत्वाद्विनाशित्वाद्रूपादिमत्वाद्वा वास्यादिवत्।" [न्यायवा० पृ० ४५७] इत्यनवद्यं भगवतः प्रलयकालेऽप्यलुप्तज्ञानाद्यतिशयस्य साधनम्।

अत्र प्रतिविधीयते–सावयवत्वात्कार्यत्वं क्षित्यादेः प्रसाध्यते। तत्र किमिदं सावयवत्वं नाम ? सहावयवैर्वर्त्तमानत्वम्, तैर्जन्यमानत्वं वा, सावयवमिति बुद्धिविषयत्वं वा ? प्रथमपक्षे सामान्यादिनानेकान्तः; गोत्वादि सामान्यं हि सहावयवैर्वर्त्तते, न च कार्यम्। द्वितीयपक्षेऽप्यसिद्धो हेतुः; परमाण्वाद्य-

---

हैं क्योंकि ये स्थित होकर कार्य में प्रवृत्ति करते हैं, जैसे तन्तु (धागे) वाद्य आदिक पदार्थ स्थित होकर कार्य करते हैं अतः बुद्धिमान अधिष्ठाता जुलाहा आदि की अपेक्षा रखते हैं। दूसरा अनुमान महाभूत पृथ्वी आदि बुद्धिमान कारण से अधिष्ठित होकर सुख दुःख का निमित्त हुआ करते हैं, क्योंकि वे सब अचेतन हैं, कार्यरूप हैं, नाशशील हैं, तथा रूपादिमान हैं, जैसे वसूला आदि शस्त्र चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं। इस प्रकार यहां तक अनादि ईश्वर को सिद्ध करने वाले अनेकों प्रमाण बताये गये हैं उनसे भगवान ईश्वर की निर्दोष रूप से सिद्धि होती है तथा उनमें प्रलय काल में भी ज्ञान का अतिशय सर्वज्ञपना बना रहता है, ऐसा सिद्ध होता है।

जैन—ईश्वरवादी यौग का यह कथन असत्य है, पृथ्वी आदि में अवयवपना होने से कार्यत्व को सिद्ध करते हैं, सो प्रश्न होता है कि सावयवपना किसे कहते हैं ? अवयवों के साथ रहना, अवयवों से उत्पन्न होना "यह सावयव है" ऐसा बुद्धि का विषय होना ? प्रथम पक्ष में सामान्य आदि के साथ अनेकांत दोष आता है क्योंकि गोत्व आदि सामान्य अवयवों के साथ तो रहता है किन्तु कार्य नहीं है। दूसरे पक्ष में कार्यत्व हेतु असिद्ध दोष संयुक्त होता है क्योंकि परमाणु आदि अवयव प्रत्यक्ष से असिद्ध हैं अतः उनसे पृथ्वी आदि का उत्पन्न होना भी असिद्ध रहेगा किसी भी पदार्थ का कार्य कारण भाव प्रत्यक्ष और अनुपलंभ प्रमाण द्वारा जाना जाता है अन्यथा नहीं।

शंका—द्वयणुक आदि पदार्थ अपने से अल्प परिमाण वाले परमाणुरूप कारण से किये हुए हैं, क्योंकि वे कार्य हैं, जैसे पटादिक कार्य हैं इस अनुमान से परमाणु आदि की सिद्धि हो जाती है ?

समाधान—इस तरह मानने से चक्रक दोष आता है परमाणु के प्रसिद्ध होने पर उनसे पृथ्वी आदि का उत्पन्न होना रूप सावयवत्व सिद्ध होगा और उनके सिद्ध

वयवानां प्रत्यक्षतोऽसिद्धौ क्षित्यादेस्तज्जन्यमानत्वस्याप्यसिद्धेः। प्रत्यक्षानुपलम्भसाधनश्च कार्यकारणभावः। द्व्यणुकादिकं स्वपरिमाणादल्पपरिमाणोपेतकारणारब्धं कार्यत्वात्पटादिवदित्यनुमानात्तेषां प्रसिद्धिः; इत्यप्यसमीचीनम्; चक्रकप्रसङ्गात्—परमाणुप्रसिद्धौ हि क्षित्यादेस्तैर्जन्यमानत्वलक्षणसावयवत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च कार्यत्वसिद्धिः, ततश्च परमाणुप्रसिद्धिरिति। महापरिमाणोपेतप्रशिथिलावयवकर्पासपिण्डोपादानेन अतिनिविडावयवाल्पपरिमाणोपेतकर्पासपिण्डेन अनेकान्तश्च। बलवत्पुरुषप्रयत्नप्रेरितहस्ताद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेः अवयवविभागात् संयोगविनाशात् महाकर्पासपिण्डविनाशः, अल्पकर्पासपिण्डोत्पादस्तु स्वारम्भकावयवकर्मसंयोगविशेषवशादेव भवति; इत्यपि विनाशोत्पादप्रक्रियोद्घोषणमात्रम्, प्रमाणतोऽप्रतीतेः। कर्पासद्रव्यं हि महापरिमाणपिण्डाकारपरित्यागे-

---

होने पर कार्यत्व हेतु सिद्ध होगा फिर परमाणु की प्रसिद्धि होगी। आपने कहा कि जो कार्य होता है वह अपने से अल्प परिमाण वाले कारण से होता है, सो यह कथन महान परिणामरूप शिथिल अवयव वाले कार्पास पिण्डसे अति निबिड (घनिष्ट) सम्बन्ध रूप अवयवों का अल्प परिमाण वाला कार्पास पिण्ड बनता हुआ दिखाई देने से अनैकान्तिक होता है, क्योंकि यहां महान परिणाम रूप कार्पास से अल्प परिमाण वाला कार्पास पिण्ड उत्पन्न हुआ है।

यौग—बलवान पुरुष के प्रयत्न से प्रेरित हाथ आदि के आघात से अवयवों में क्रिया उत्पन्न होती है, उससे अवयवों का विभाग होता है उस विभाग से संयोग का नाश होता है और उससे महाकार्पास पिण्ड नष्ट होता है, अल्प कार्पास पिण्ड का उत्पाद तो भिन्न कारण से ही होता है, उसमें पहले तो उस पिण्ड के आरम्भक जो अवयव हैं उनमें क्रिया होती है, उस क्रिया से संयोग विशेष होता है और उससे अल्प परिमाण वाला कार्पास पिण्ड तैयार हो जाता है ?

जैन—यह विनाश और उत्पाद की प्रक्रिया का वर्णन असत् है, क्योंकि प्रमाण से ऐसी प्रतीति नहीं होती है प्रमाण से तो एक ही कार्पास द्रव्य महापरिमाण पिण्डाकार को छोड़कर अल्प परिमाण पिण्डाकार रूप से उत्पन्न होता हुआ प्रतीति में आता है। अतिशीघ्र पूर्व संयोग का नाश होकर नवीन पिण्ड तैयार होता है अतः भेद मालूम नहीं देता है ऐसा समाधान देना भी असंगत है इस तरह तो सभी पदार्थ क्षणिक सिद्ध हो जावेंगे क्षणिकवादी कह सकते हैं कि सभी पदार्थ क्षणिक हैं उनमें अभेद का अध्यवसाय सदृश अपर अपर पदार्थ के उत्पन्न होने से होता है, इस प्रकार

नाल्पपरिमाणपिण्डाकाकारतयोत्पद्यमानं प्रमाणतः प्रतीयते । आशूत्पत्तेर्भेदानवधारणात्तथा प्रतीति-रित्यप्यसङ्गतम्; सकलभावानां क्षणिकत्वानुषङ्गात् । अभेदाध्यवसायस्तु सदृशापरापरोत्पत्तिविप्रल-म्भादित्यनिष्टसिद्धिप्रसंगात् । नाप्यागमात्परमाण्वादिप्रसिद्धिस्तत्प्रामाण्याप्रसिद्धेः ।

सावयवमिति बुद्धिविषयत्वमपि, आत्मादिनानैकान्तिकं तस्याकार्यत्वेपि तत्प्रसिद्धेः । सावय-वार्थसंयोगान्निरवयवत्वेप्यस्य तद्बुद्धिविषयत्वमित्यौपचारिकम्; तदप्यसंगतम्; तस्य निरवयवत्वे व्यापित्वविरोधात् परमाणुवत् । तदपि ह्यौपचारिकमेव स्यात् । तदेवं सावयवत्वासिद्धेः कथं ततः क्षित्यादेः कार्यत्वसिद्धिः ?

अनिष्ट तत्व की सिद्धि होने का प्रसंग आता है । आगम से भी परमाणु आदि की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि उसमें प्रामाण्य की असिद्धि है । सावयत्व का तीसरा अर्थ किया था "सावयव है ऐसा बुद्धि का विषय होना" यह पक्ष भी आत्मादि द्रव्यों से अनेकांतिक होता है, आत्मादिक पदार्थ कार्य नहीं होते हुए भी सावयव हैं ऐसी बुद्धि के विषय हैं ।

यौग—सावयवी पदार्थो के संयोग होने से निरवयवी आत्मादि में सावयव की बुद्धि का विषयपना आ जाता है अतः यहां का सावयवत्व मात्र औपचारिक है ।

जैन—यह बात असंगत है, आत्मा को निरवयवी मानेंगे तो परमाणु के समान उसके व्यापकत्व में विरोध आयेगा अथवा आत्मा में सावयवत्व के समान व्यापकत्व भी औपचारिक सिद्ध होगा । इस प्रकार सावयव शब्द का अर्थ सिद्ध नहीं होता है अतः उससे पृथ्वी आदि का कार्यपना कैसे सिद्ध हो सकता है ?

यौग—जो पहले असत् रूप है उसके स्वकारण का समवाय होने से अथवा सत्ता का समवाय होने से पृथ्वी आदि का कार्यपना सिद्ध होता है ।

जैन—यदि ऐसी बात है तो किससे पहले असत् थे ? कारण समवाय से पहले कहो तो कारण समवाय के समय में पहले के समान स्वरूप सत्व का अभाव था कि नहीं ? यदि अभाव था तो प्राग् इस प्रकार का विशेषण व्यर्थ होता है क्योंकि प्रथम तो यह बात होती है कि समवाय के समय में कार्य का स्वरूप से सत्त्व होना संभव है तो कारण के समान कार्य का सत्त्व भी पहले था अतः कार्य में कार्यपना सिद्ध नहीं होता, जिससे कि प्राग् विशेषण अर्थवान होता, तथा दूसरी बात यह होती है कि पहले के समान कारण समवाय के समय में भी इस (कार्य) के स्वरूप सत्व का

प्रागसतः स्वकारणसमवायात्, सत्तासमवायाद्वा तत्सिद्धिश्चेत्; कुतः प्राक्? कारणसमवायाच्चेत्; तत्समवायसमये प्रागिवास्य स्वरूपसत्त्वस्याभावः, न वा? अभावे 'प्राक्' इति विशेषणमनर्थकम्। कार्यस्य हि कारणसमवायसमये स्वरूपेण सत्त्वसम्भवे तद्वत्प्रागपि सत्त्वे कार्यता न स्यात्। ततः प्रागित्यर्थवत्स्यात्। प्रागिव तत्समवायसमयेप्यस्य स्वरूपसत्त्वाभावे तु 'असतः' इत्येवाभिधातव्यम्। न चासतः कारणसमवायः; खरविषाणादेरपि तत्प्रसंगात्। न चास्य कारणाभावान्न तत्प्रसंगः; इत्यभिधातव्यम्; क्षित्यादेरपि तदभावप्रसंगादसत्त्वाविशेषात्। क्षित्यादेः कारणोपलम्भान्न दोषः; इत्यप्यसारम्; कार्यकारणयोरुपलम्भे हीदमस्य कारणं कार्यं चेदमिति प्रति (वि)भागः स्यात्। न च प्रत्यक्षतः क्षित्यादेरुपलम्भोऽसतस्तस्य तज्जनकत्वविरोधात् खरविषाणवत्। न चाजनकं विषयः, उपलम्भकारणमुपलम्भविषय इत्यभ्युपगमात्।

अभाव है तो उसको असत् इस प्रकार कहना होगा। असत् में कारण का समवाय होना निषिद्ध है, यदि माने तो गधे के सींग आदि में भी मानना होगा। गधे के सींगादि के कारण का अभाव होने से समवाय नहीं होता है, ऐसा भी नहीं कहना, इस तरह तो असत्व की अविशेषता होने से पृथ्वी आदि में भी कारण समवाय का अभाव मानने का प्रसंग आता है। पृथ्वी आदि का कारण उपलब्ध होता है अतः कोई दोष नहीं है ऐसा कहना भी सार रहित है, जब कारण और कार्य उपलब्ध होवें तब यह इसका कारण है और यह इसका कार्य है ऐसा विभाग कर सकते हैं, किंतु पृथ्वी आदि के कारणों की उपलब्धि प्रत्यक्ष से नहीं होती है, असद्भूत पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान के जनक नहीं होते हैं, जैसे खरविषाण नहीं होते। जो अजनक है वह विषय भी नहीं हो सकता, क्योंकि जो प्रत्यक्ष का कारण है वह प्रत्यक्ष का विषय होता है ऐसा आपने स्वीकार किया है।

प्राग् असत् के सत्ता समवाय होने से पृथ्वी आदि के कार्यत्व की सिद्धि होती है ऐसा पक्ष कहना भी पहले के समान दोष युक्त है।

यौग— इस पक्ष में पहले के समान बात नहीं है, पृथ्वी आदि के कार्य और खरविषाण इनमें विशेषता है, खरविषाण तो अत्यन्त असत हैं किन्तु पृथ्वी आदिक न सत् है न असत् है, वह तो सत्ता सम्बन्ध से सत् है।

जैन—यह कथन मनोरथ मात्र है सत् और असत् का एक साथ एक में ही प्रतिषेध नहीं हो सकता है। सत नहीं है, ऐसा कहने से सत्ता सम्बन्ध के पहले उसका प्रागभाव था ऐसा सिद्ध होता है क्योंकि न सत् का अर्थ सत् का प्रतिषेध है। असत्

प्रागसतः सत्तासम्बन्धेप्येतत्सर्वं समानम् । न समानम्; खरशृंगादेः क्षित्यादिकार्यस्य, विशेषसम्भवात् । तद्धत्यन्ताऽसत्. क्षित्यादिकं न सन्नाऽप्यसत्सत्तासम्बन्धात्तु सत्; इत्यपि मनोरथमात्रम्; सत्त्वासत्त्वयोरेकत्रैकदा प्रतिषेधविरोधात् । 'न सत्' इत्यभिधानात्तस्य सत्तासम्बन्धात्प्रागभावः स्यात्सत्प्रतिषेधलक्षणत्वादस्य, 'नाप्यसत्' इत्यभिधानात्तु भावः, असत्त्वप्रतिषेधरूपत्वात्तस्य रूपान्तराभावात् । ततोऽसदेव तदभ्युपगन्तव्यम् । तन्नास्य खरशृंगादेर्विशेषः ।

किञ्च, सत्ता सती, असती वा ? यद्यऽसती; कथं तया वन्ध्यासुतयेव सम्बन्धादन्येषां सत्त्वम् ? सती चेत्स्वतः, अन्यसत्तातो वा ? यद्यन्यसत्तातोऽनवस्था । स्वतश्चेत् पदार्थानामपि स्वत एव सत्त्वं स्यादिति व्यर्थं तत्परिकल्पनम् ।

एतेन द्वितीयविकल्पोप्यपास्तः । कार्यस्य हि स्वतः सत्त्वोपगमे किं तत्कल्पनया साध्यम् ? अनवस्थाप्रसंगात् । तदेवं कार्यत्वासिद्धेरसिद्धो हेतुः ।

नहीं है ऐसा कहेंगे तो सद्भाव रूप वस्तु का ग्रहण होता है क्योंकि सद्भाव असत्व का प्रतिषेध रूप है । असत्व और सत्व को छोड़कर तीसरा रूप नहीं है । अतः सत्ता सम्बन्ध के पहले पृथ्वी आदि असत् थे ऐसा आपको मानना पड़ेगा । इस तरह पृथ्वी आदि की खरविषाण से कोई विशेषता सिद्ध नहीं होती ।

आप यौग की सत्ता भी किस जाति की है ? असत् है कि सत् है ? यदि असत् है तो बन्ध्या पुत्र के समान उसके सम्बन्ध से अन्य में सत्व कैसे आयेगा ? अर्थात् नही आ सकता है । यदि सत् है तो स्वतःसत् है या अन्य से सत् है ? "अन्य से सत् है" तो अनवस्था आती है और स्वतः ही सत् है तो पृथ्वी आदि पदार्थों में भी स्वतः सत्व होना चाहिये इस तरह सत्ता समवाय की कल्पना करना व्यर्थ हो जाता है ।

शुरू में प्रश्न हुआ था कि पृथ्वी आदि में कारण समवाय के समय स्वरूप सत्व का अभाव है कि नहीं सो इसमें अभाव का पक्ष समाप्त हुआ, अब "अभाव नहीं है" ऐसे दूसरे विकल्प में विचार करें तो प्रथम पक्ष के समान इसमें भी दोष हैं क्योंकि पृथ्वी आदि में कारण समवाय के समय स्वरूप का सत्व है तो स्वतः सत्व रूप उन पदार्थों में कारण समवाय अथवा सत्ता समवाय की कल्पना करने से क्या प्रयोजन सिद्ध होता है ? उल्टा अनवस्था दोष का प्रसंग प्राप्त होता है, इस प्रकार पृथ्वी आदि में कार्यत्व सिद्ध नहीं होने से कार्यत्व हेतु में असिद्ध दोष सिद्ध होता है । किंच, पृथ्वी आदि को कथंचित् कार्यत्व रूप मानते हैं या सर्वथा ? सर्वथा कहो तो वही

किञ्च, कथञ्चित्कार्यत्वं क्षित्यादेः, सर्वथा वा ? सर्वथा चेत्पुनरप्यसिद्धत्वं द्रव्यतोऽशेषार्थानामकार्यत्वात् । कथञ्चित् चेद्विरुद्धत्वम्; सर्वथा बुद्धिमन्निमित्तत्वात्साध्याद्विपरीतस्य कथञ्चिद्बुद्धिमन्निमित्तत्वस्य साधनात् ।

अनैकान्तिकं च आत्मादिभिः; तेषां बुद्धिमन्निमित्तत्वाभावेपि तत्सम्भवात् । कथञ्चिदप्यकार्यत्वे चैतेषां कार्यकारित्वस्याभावस्तस्याऽकर्तृ रूपत्यागेन कर्तृ रूपोपादानाविनाभावित्वात् । तस्यागोपादानयोश्चैकरूपे वस्तुन्यसम्भवात्सिद्धं कथञ्चित् कार्यत्वं तेषाम् । कर्तृत्वाकर्तृत्वरूपयोरात्मादिभ्योऽर्थान्तरत्वान्न तद्विनाशोत्पादाभ्यां तेषामपि तथाभावो यतः कार्यत्वं स्यात्; इत्यपि श्रद्धामात्रम्; तयोस्ततोऽर्थान्तरत्वे सम्बन्धासिद्धिप्रसङ्गात् । समवायादेश्च कृतोत्तरत्वादित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

हेत्वाभास का प्रसंग होगा क्योंकि द्रव्य रूप से सभी पदार्थों को अकार्य रूप (कथंचित् कार्यरूप) माना है ऐसा कहो तो विरुद्ध हेत्वाभास होगा, क्योंकि पृथ्वी आदि सर्वथा बुद्धिमान निमित्तक है ऐसा आपका साध्य था किंतु हेतु उससे विपरीत कथंचित् बुद्धिमान निमित्तक को सिद्ध कर रहा है । यह कार्यत्व हेतु अनैकांतिक दोष युक्त भी है, आत्मा आदि पदार्थ बुद्धिमान निमित्तक नहीं होकर भी कार्य हैं । यदि आत्मादि को कथंचित् रूप से भी कार्य स्वरूप नहीं मानेंगे तो वे कार्यकारी नहीं रहेंगे । कार्यकारी पदार्थ तो वे ही होते हैं जो अपने अकर्तृत्व का परित्याग कर कर्तृत्व को धारण करते हैं सर्वथा एक रूप वस्तु में अकर्तृत्व त्याग और कर्तृत्व ग्रहण रूप परिणमन असंभव होने से आत्मा आदि पदार्थों में कथंचित् कार्यत्व है ऐसा सिद्ध होता है ।

शंका–आत्मा आदि पदार्थों में जो कर्तृत्व और अकर्तृत्व रूप होता है वह उनसे पृथक् है अतः उनके उत्पाद और नाश से आत्मादि का भी उत्पाद आदि होने का प्रसंग नहीं आता, इसलिये आत्मादि में कार्यत्व सिद्ध नहीं होता है ।

जैन–यह कथन श्रद्धामात्र है, कर्तृत्व आदि से आत्मादि को पृथक् मानेंगे तो उनका सम्बन्ध नहीं हो सकेगा समवाय सम्बन्ध आदि के विषय में पहले कह चुके हैं, अब अतिप्रसंग से बस हो ।

दूसरी बात यह है कि "बुद्धिमान कारण है" इस शब्द में मतुप् प्रत्यय अर्थ वाला साध्य का विशेषण अनुपपन्न है । क्योंकि बुद्धिमान से बुद्धि भिन्न है कि अभिन्न है ? दोनों पक्ष में से पहली बात माने कि बुद्धि बुद्धिमान से सर्वथा भिन्न है तो "बुद्धिमान की बुद्धि है" ऐसा संबंध सिद्ध नहीं होता है । तथा बुद्धि बुद्धिमान का गुण

बुद्धिमत्कारणमित्यत्र च मत्वर्थस्य साध्यविशेषणस्यानुपपत्तिः। बुद्धिमतो हि बुद्धिर्व्यतिरिक्ता वा, अव्यतिरिक्ता वा ? तत्र तस्यास्ततो व्यतिरेकैकान्ते तस्येति सम्बन्धस्याभावः। सा हि तस्य तद्गुणत्वात्, तत्समवायाद्वा, तत्कार्यत्वाद्वा, तदाधेयत्वाद्वा स्यात् ? न तावत्तद्गुणत्वात्सा तस्येत्यभिधातव्यम्; ततो व्यतिरेकैकान्ते सा तस्यैव गुणो नाकाशादेरिति व्यवस्थापयितुमशक्तेः। नापि तत्समवायात्; तस्यैवासम्भवात्। सम्भवे वा तस्य ताभ्यां भेदैकान्ते व्यवस्थापकत्वायोगात्सर्वत्राविशेषाच्च। तत्कार्यत्वात्सा तस्येति चेत्; कुतस्तत्कार्यत्वम् ? तस्मिन्सति भावात्; आकाशादौ प्रसङ्गः। तदभावेऽभावाच्चेन्न; नित्यव्यापित्वाभ्यां तस्य तदयोगात्। तदाधेयत्वात्सा तस्येति चेत्; किमिदं तदाधेयत्वं नाम ? समवायेन तत्र वर्त्तनं चेत्तत्कृतोत्तरम्। तादात्म्येन वर्त्तनं चेन्न; अनभ्युपगमात्। सम्बन्धमात्रेण वर्त्तनं चेत्; तर्हि घटादेर्भूतलादिगुणत्वप्रसङ्गः, सम्बन्धमात्रेण वर्त्तमानस्य तस्य तदाधेयत्वसम्भवात्।

होने से उसको कहलाती है या उसमें समवाय होने से, उसका कार्य होने से, अथवा उसका आधेय होने से उसकी कहलाती है ? बुद्धि बुद्धिमान का गुण होने से उसकी कहलाती है ऐसा प्रथम विकल्प नहीं मान सकते क्योंकि बुद्धिमान से सर्वथा भिन्न उस बुद्धि को बुद्धिमान का ही गुण है आकाशादि का नहीं है इस प्रकार व्यवस्था करना अशक्य है। उसमें समवाय होने से बुद्धिमान की बुद्धि कहलाती है, ऐसा द्वितीय विकल्प भी समवाय का असंभव होने से ठीक नही है। संभावना हो भी जाय तो उसका बुद्धि और बुद्धिमान से सर्वथा भेद होने के एवं सर्वत्र अविशेष रूप से व्यापक होने के कारण यह इस बुद्धिमान की बुद्धि है ऐसा व्यवस्थित नहीं होता है। बुद्धि बुद्धिमान कार्य होने से उसकी कहलाती है ऐसा तीसरा पक्ष कहें तो बुद्धिमान का कार्य बुद्धि है यह किस हेतु से सिद्ध होगा ? उसके होने पर होना रूप हेतु से कहो तो आकाशादि हेतु चला जाता है। उसके न होने पर नहीं होना रूप हेतु द्वारा बुद्धि बुद्धिमान का कार्य है ऐसा सिद्ध होता है इस तरह कहना भी गलत है, क्योंकि नित्य और व्यापक होने से इसके न होने पर नहीं होता ऐसा बुद्धिमान में घटित नहीं हो सकता है। उसका आधेय होने से बुद्धि बुद्धिमान की कहलाती है ऐसा कहो तो बताइये कि उसका आधेयपना क्या है ? समवाय से बुद्धिमान में रहना तदाधेयत्व है ऐसा कहना शक्य नहीं क्योंकि इस विषय में उत्तर दे चुके हैं। तादात्म्य रूप से रहना तदाधेयत्व है ऐसा कहना भी अशक्य है क्योंकि यौग के यहां तादात्म्य को नहीं माना है। सम्बन्ध मात्र से रहना तदाधेयत्व है, ऐसा कहो तो घट आदि पदार्थ भूमि आदि

किञ्च, व्याप्त्या तेनास्यास्तत्र वर्त्तनम्, अव्याप्त्या वा ? न तावद्व्याप्त्या; आत्मविशेषगुणत्वादस्मदादिबुद्ध्यादिवत् । परममहापरिमाणेन व्यभिचारः; इत्ययुक्तम्; तत्र विशेषगुणत्वाभावात् । नन्वेवमस्मदादिबुद्ध्यादौ सकलार्थग्राहित्वाभावो दृष्टः सोपि तत्र स्यादिति चेत्; अस्तु नाम, दृष्टान्ते व्याप्तिदर्शनमात्रात्सर्वत्र साध्यसिद्धे र्भवताभ्युपगमात् । कथमन्यथा प्रकृतसिद्धिः ? यथा चास्मदादिबुद्धिवैलक्षण्यं तद्बुद्धे रदृष्टं परिकल्प्यते तथा घटादौ कर्मकर्त्तृ करणनिर्वर्त्यकार्यत्वं दृष्टं वने वनस्पत्यादिषु चेतनकर्त्तृ रहितमपि स्यादित्येतैर्व्यभिचारो हेतोः । अथाऽव्याप्त्या; तर्हि देशान्तरोत्पत्तिमत्कार्येषु कथं तस्या व्यापारः असन्निधानात् ? तथापि व्यापारेऽदृष्टस्याप्यग्न्यादिदेशेऽसन्निहितस्योर्ध्वज्वलनादिहेतुता

के गुण कहलाने लगेंगे क्योंकि सम्बन्ध मात्र से रहना रूप तदाधेयत्व घटादि में भी पाया जाता है ।

किंच, बुद्धिमान में बुद्धि रहती है वह समस्त रूप से व्यापक होकर रहती है अथवा असमस्त रूप से ? समस्त रूप से रहना शक्य नहीं, क्योंकि वह आत्मा का विशेष गुण है, जैसे–हमारे बुद्धि आदि गुण होते हैं । जो विशेष गुण होता है वह अव्यापक होता है ऐसा माने तो परम महापरिणाम के साथ व्यभिचार आता है ऐसी आशंका करना भी अयुक्त है, क्योंकि परम महापरिणाम में विशेष गुणत्व का अभाव है ।

यौग–हमारी बुद्धि में समस्त रूप से रहना रूप विशेषता नहीं है अतः अन्य के (ईश्वर की) बुद्धि में भी वह विशेषता नहीं है, इस तरह घटित करेंगे तो हमारी बुद्धि में सकलार्थ ग्राहित्व नहीं है अतः ईश्वर में भी नहीं है ऐसा विपरीत अर्थ सिद्ध होवेगा ?

जैन–यह आपत्ति आपको है क्योंकि आपने दृष्टांत में व्याप्ति को देखने मात्र से सर्वत्र साध्य की सिद्धि हो जाया करती है ऐसा माना है अन्यथा प्रकृत बुद्धिमत्कारणत्व की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ? यदि आप हमारे जैसे सामान्य पुरुषों की बुद्धि से ईश्वर की बुद्धि में विलक्षणता है ऐसा बिना देखे स्वीकार करते हैं तो घट आदि में कर्त्ता, कर्म, करण द्वारा कार्यत्व देखा जाता है किन्तु वन में वनस्पति आदि में चेतन कर्त्ता से रहित कार्यत्व होता है ऐसा स्वीकार करना होगा । इस प्रकार कार्यत्व हेतु इनके द्वारा व्यभिचरित होता है । बुद्धिमान में बुद्धि असमस्तपने से रहती है, ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो देशदेशांतरों में उत्पन्न शील कार्यों में उस अव्यापक बुद्धि

स्यादिति–"अग्नेरूर्ध्वज्वलनम्" [प्रश० व्यो० पृ० ४११] इत्याद्यात्मसर्वगतत्वसाधनमयुक्तम्। **अव्यतिरेकैकान्ते चात्ममात्रं बुद्धिमात्रं वा स्यात्, तत्कथं मत्वर्थः ? न हि तदेव तेनैव तद्वद्भवति।**

किञ्च, असौ तद्बुद्धिः क्षणिका, अक्षणिका वा ? यदि क्षणिका; तदा तस्याः कथं द्वितीयक्षणे प्रादुर्भावः कारणत्रयाधीनत्वात्तस्य ? न चेश्वरेऽसमवायिकारणमात्ममनःसंयोगस्तच्छरीरादिकं च निमित्तं कारणमस्ति। कारणत्रयाभावेप्यस्मदादिबुद्धिवैलक्षण्यात्तस्याः प्रादुर्भावे क्षित्यादिकार्यस्य घटादिकार्यवैलक्षण्याद्बुद्धिमत्कारणमन्तरेणाप्युत्पत्तिः किन्न स्यात् ? महेश्वरबुद्धिवच्च मुक्तात्मनामप्यानन्दादिकं शरीरादिनिमित्तकारणमन्तरेणाप्युत्पत्स्यत इति कथं बुद्ध्यादिविकलं जडात्मस्वरूपं मुक्तिः स्यात् ?

का असन्निधान होने से किस प्रकार व्यापार होगा ? असन्निधान होते हुए भी व्यापार कर सकती है तो अग्नि आदि के देश में असंनिहित रहकर अदृष्ट भी ऊर्ध्वज्वलनादि का हेतु हो सकता है। इस तरह असंनिहित पदार्थ में कार्यत्व मानने पर आत्मा को सर्वगत सिद्ध करने के लिये दिये गये हेतु अयुक्त ठहरते हैं। बुद्धिमान से बुद्धि सर्वथा अपृथक् है ऐसा एकांत कहेंगे तो केवल आत्म तत्व का अस्तित्त्व, या केवल बुद्धि तत्त्व का अस्तित्त्व रह जाने से बुद्धिमान इस प्रकार का मतुप् प्रत्यय का अर्थ किस प्रकार सिद्ध होगा ? वही पदार्थ उसीसे तद्वान नही कहलाता है।

दूसरी बात यह है कि बुद्धिमान ईश्वर की बुद्धि क्षणिक है या अक्षणिक ? क्षणिक माने तो द्वितीय क्षण में कैसे उत्पन्न हो सकेगी क्योंकि उत्पत्ति तीन कारणों के (समवायी कारण, असमवायी कारण, और निमित्त कारण) अधीन है ईश्वर में इन कारणों में से आत्मा और मन का संयोगरूप असमवायी कारण तथा शरीरादि रूप निमित्त कारण नहीं होता है। ईश्वर की बुद्धि अस्मदादि की बुद्धि से विलक्षण होने के कारण तीन कारणों के अभाव में भी उत्पन्न होती है ऐसा कहें तो घटादि कार्य से विलक्षण ही पृथ्वी आदि कार्य हैं अतः वे बिना बुद्धिमान निमित्त के उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसा भी क्यों न माना जाय ? तथा जैसे महेश्वर में कारण के बिना क्षण-क्षण में बुद्धि उत्पन्न होती है, वैसे अन्य मुक्तात्माओं के आनंदादिक गुण शरीरादि निमित्त कारण के बिना ही उत्पन्न हो सकेंगे। ईश्वर की बुद्धि को अक्षणिक मानने के पक्ष में भी दोष है, शब्द क्षणिक है क्योंकि वह हम जैसे के प्रत्यक्ष होने पर "विभु द्रव्य का विशेष गुण है" जैसे सुख आदिक। इस अनुमान में इसी बुद्धि द्वारा हेतु की अनैका-

अथाऽक्षणिका तद्बुद्धिः । नन्वत्रापि 'क्षणिकश्शब्दोऽस्मदादिप्रत्यक्षत्वे सति विभुद्रव्यविशेषगुणत्वात् सुखादिवत्' इत्यत्रानुमानेऽनयैव हेतोरनेकान्तोऽस्या इव विभुद्रव्यविशेषगुणत्वेऽन्यस्यास्मदादिप्रत्यक्षत्वेपि नित्यत्वसम्भवात् । तथा 'क्षणिका महेश्वरबुद्धिर्बुद्धित्वादस्मदादिबुद्धिवत्' इत्यनुमानविरोधश्च । अथ बुद्धित्वाविशेषेपि ईशास्मदादिबुद्ध्योरक्षणिकत्वेतरलक्षणो विशेषः परिकल्प्यते तथा घटादिक्षित्यादिकार्ययोरप्यकर्तृकर्तृपूर्वकत्वलक्षणो विशेषः किन्नेष्यते ? तथा च कार्यत्वादिहेतोरनेकान्तः । तदेवं बुद्धिमत्त्वासिद्धेः कथं तत्कारणत्वेन कार्यत्वं व्याप्येत ?

अस्तु वाऽविचारितरमणीयं बुद्धिमत्कारणत्वव्याप्तं कार्यत्वम्; तथाप्यत्र यादृग्भूतं बुद्धिमत्कारणत्वेनाऽभिनवकूपप्रासादादौ व्याप्तं कार्यत्वं प्रमाणतः प्रसिद्धं यदक्रियादर्शिनोपि जीर्णकूपप्रा-

---

न्तिकता होती है, क्योंकि बुद्धि के विभु द्रव्य गुणत्व और अस्मदादि प्रत्यक्षत्व होने पर भी नित्यपना संभव है । बुद्धि को अक्षणिक मानने में दूसरे अनुमान से भी विरोध आता है—महेश्वर की बुद्धि क्षणिक है, क्योंकि वह बुद्धिरूप है, जैसे हम लोगों की बुद्धि है ।

यौग—ईश्वर और हमारी बुद्धि में बुद्धिपना समान हो किन्तु ईश्वर की बुद्धि नित्य और हमारी बुद्धि अनित्य है ऐसा विशेष माना गया है ?

जैन—ऐसा ही घटादि में और पृथ्वी आदि में कार्यत्व तो समान है किन्तु एक कर्ता सहित है और एक कर्ता रहित है ऐसा विशेष भी क्यों नहीं माना जाय ? इस तरह कार्यत्व हेतु अनैकांतिक सिद्ध होता है । इस तरह बुद्धिमानपना ही असिद्ध है तो उसके निमित्त से होने वाला कार्य भी असिद्ध है, अतः बद्धिमान कारण रूप साध्य के साथ पृथ्वी आदि कार्य रूप हेतु की व्याप्ति किस प्रकार सिद्ध हो सकती है ?

आप के आग्रह से अविचारितरमणीय ऐसा कार्यत्व हेतु बुद्धिमान कारणत्व के साथ व्याप्त है ऐसा मान भी लेवे तथापि जिस प्रकार का कार्यपना नये कूप प्रासाद आदि में बुद्धिमान कारणत्व के साथ व्याप्त होता हुआ प्रमाण से सिद्ध है जो कि जीर्ण कूप प्रासादादि में अक्रियादर्शी होने पर भी लौकिक एवं परीक्षक पुरुषों को कृतकपने की बुद्धि उत्पन्न कराता है, उस प्रकार की व्याप्ति पृथ्वी आदि में दिखायी नहीं देने से हेतु असिद्ध ही रहता है । इस कार्यत्व हेतु को सिद्ध मानें तो भी जैसे जीर्णकूप महल आदि में रचना को नहीं देखने पर भी किये हुए हैं ऐसी बुद्धि होती है वैसे पृथ्वी, वृक्ष आदि में कृतकपने की बुद्धि होनी चाहिये ? जो धर्म स्वभाव से

सादादौ लौकिकेतरयोः कृतबुद्धिजनकं तादृग्भूतस्य क्षित्यादावसिद्धे रसिद्धो हेतुः। सिद्धौ वा जीर्ण-कूपप्रासादादावविदाऽक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्धिप्रसङ्गः। न च प्रकृत्याऽत्यन्तभिन्नोपि धर्मः शब्दमात्रेणा-भेदी हेतुत्वेनोपादीयमानोऽभिमतसाध्यसिद्धये समर्थो भवत्यन्यत्राप्यस्याविरोधेनाशङ्काऽनिवृत्तेः। यथा वल्मीके धर्मिणि कुम्भकारकृतत्वसिद्धये मृद्विकारत्वमात्रं हेतुत्वेनोपादीयमानम्।

नन्वेतत्कार्यसमं नाम जात्युत्तरम्। तदुक्तम्–"कार्यत्वान्यत्वलेशेन यत्साध्यासिद्धिदर्शनं तत्कार्यसमम्" [ ] इति। अस्य चासदुत्तरत्वान्नातः प्रकृतसाध्यसिद्धिप्रतिबन्धोऽन्यथा सकलानुमानोच्छेदः। शब्दानित्यत्वे हि साध्ये किं घटादिगतं कृतकत्वं हेतुत्वेनोपादीयते, किं वा शब्दगतम्, उभयगतं वा? प्रथमपक्षे हेतोरसिद्धिः; न ह्यन्यगतो धर्मोऽन्यत्र वर्त्तते। द्वितीये तु

अत्यन्त भिन्न है शब्द मात्र से अभेद रूप है उसको हेतु रूप से ग्रहण किया जाने पर अभिमत साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि इसका अन्यत्र (विपक्ष में) रहने में विरोध नहीं होने के कारण शंका की निवृत्ति नहीं हो पाती। जिस प्रकार वल्मीक को पक्ष बनाकर उसमें कुंभकार कृतकत्व साध्य को सिद्ध करने के लिये मृद् विकारत्व को हेतु रूप से ग्रहण करने पर अभिमत सिद्धि नही होती है।

भावार्थ–सर्प की बामी, कुम्भकार ने की है, क्योंकि मिट्टी का विकार स्वरूप है, इस अनुमान में मृद्विकारत्व को [मिट्टी का विकारपना] हेतु बनाया है किन्तु इसमें शंका रहती है कि यह घट के समान कुम्भकार कृत है अथवा अन्य प्राणी कृत है, वैसे ही कार्यत्व हेतु में शंका रहती है।

यौग–इस तरह कार्यत्व हेतु को सदोष ठहराना गलत है, यह तो कार्य सम नामा जात्युत्तर है, इसका लक्षण बताया है कि कार्यत्व का थोड़ा सा अन्यपना दिखा-कर साध्य की असिद्धि दिखाना कार्य समनामा जाति है "असदुत्तरं जातिः" असत् उत्तर को जाति दोष कहते हैं, अतः इसके द्वारा प्रकृत साध्य की सिद्धि में प्रतिबंध नहीं हो सकता, अन्यथा संपूर्ण अनुमानों का उच्छेद होवेगा। इसी को बतलाते हैं–शब्द अनित्य है, क्योंकि वह कृतक है, इस अनित्यत्व साध्य में कृतकत्व को हेतु रूप से ग्रहण किया गया है वह कृतकत्व घटगत धर्म है या शब्दगत धर्म है अथवा उभयगत धर्म है? प्रथम पक्ष कहे तो हेतु असिद्ध होता है, क्योंकि अन्यगत धर्म अन्य में नहीं रहता है।

साधनविकलो दृष्टान्तः। तृतीयेप्युभयदोषानुषङ्गः; इत्यप्यसारम्; कारणमात्रजन्यतालक्षणस्य कृतकत्वस्य विपक्षे बाधकप्रमाणबलादनित्यत्वमात्रव्याप्तत्वेनाऽवधारितस्य शब्देप्युपलम्भात् तत्रोक्तदूषणस्यासदुत्तरत्वाज्जात्युत्तरत्वम्। न चैवं कार्यसामान्यं बुद्धिमत्कारणत्वमात्रव्याप्तं क्षित्यादावुपलभ्यते, विपक्षे बाधकप्रमाणाभावेन सन्दिग्धानैकान्तिकत्वात्तस्य, अन्यथाऽक्रियादर्शिनोपि कृतबुद्धिप्रसङ्गः। यदि च घटादिलक्षणं विशिष्टकार्यं तन्मात्रव्याप्तं प्रतिपद्याऽविशिष्टकार्यस्यापि क्षित्यादेस्तत्पूर्वकत्वं साध्यते; तर्हि पृथ्वीलक्षणभूतस्य रूपरसगन्धस्पर्शवत्त्वं प्रतिपद्य भूतत्वादेव वायोरपि तत्साध्यताम्। अथाऽत्र प्रत्यक्षादिप्रमाणबाधः, सोन्यत्रापि समानः।

दूसरा पक्ष कहें तो दृष्टांत साधन विकल बनता है, अर्थात् घट दृष्टांत में शब्दगत कृतकत्व धर्म नही पाया जाता उभयगत कृतकत्व धर्म को हेतु माने तो उभय पक्ष के दोष आवेंगे।

जैन–यह कथन असार है कारण मात्र से उत्पन्न होना है लक्षण जिसका ऐसा कृतकपना विपक्ष में बाधक प्रमाण होने के कारण अनित्यत्व के साथ ही व्याप्त है। इस प्रकार अनित्य के साथ जिसकी व्याप्ति निश्चित हो चुकी है उस कृतकत्व की शब्दों में भी उपलब्धि पायी जाती है, उसमें पूर्वोक्त दूषण देना असत् है। अतः इसमें असत् उत्तर होने से जात्युत्तर दोष युक्त है, किन्तु ऐसा कार्यत्व हेतु में नहीं है, कार्य सामान्य बुद्धिमान कारण मात्र के साथ व्याप्त होता हुआ पृथ्वी आदि में उपलब्ध नहीं होता है क्योंकि विपक्ष में बाधक प्रमाण का अभाव होने से कार्यत्व हेतु सन्दिग्ध अनैकान्तिक होता है, अन्यथा पृथ्वी आदि पदार्थों में भी अक्रियादर्शी होने पर कृत बुद्धि उत्पन्न होने का प्रसंग आता है। यदि घटादि लक्षणभूत विशिष्ट कार्य की अक्रियादर्शी पुरुष के कृत बुद्धि उत्पादक के साथ व्याप्ति होती हुई देखकर अविशिष्ट कार्यभूत पृथ्वी आदि में भी उस व्याप्ति को सिद्ध किया जाय तो पृथ्वी रूप भूत में रूप, रस, गंध और स्पर्शवानपने की व्याप्ति देखकर उसी भूतत्व हेतु द्वारा वायुरूप भूत में स्पर्शादि चारों की व्याप्ति सिद्ध करनी चाहिये। यदि कहा जाय कि वायु में रूपादि को मानने में प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधा आती है तो पृथ्वी आदि में भी बुद्धिमान पूर्वकत्व की व्याप्ति करने में प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधा आती है।

पहले कहा था कि व्युत्पन्न बुद्धि वालों को कार्यत्व हेतु असिद्ध नहीं होता है सो वह अयुक्त है, व्युत्पन्न पुरुषों की व्युत्पत्ति अविनाभाव सम्बन्ध को जानन रूप होती है, अथवा इससे अतिरिक्त कोई होती है? प्रथम पक्ष कहो तो प्रकृत साध्य

यदप्युक्तम्-व्युत्पन्नप्रतिपत्तॄणां नासिद्धत्वं कार्यत्वादेः; तदप्ययुक्तम्; यतः प्रतिबन्धप्रतिपत्तिलक्षणा व्युत्पत्तिस्तेषाम्, तद्व्यतिरिक्ता वा स्यात् ? प्रथमपक्षे क्षित्यादिगतकार्यत्वादौ प्रकृतसाध्यसाधनाभिप्रेते व्युत्पत्त्यसम्भवः, यथोक्तसाध्यव्याप्तस्य तत्र तस्याभावात्। भावे वा सशरीरस्यास्मदादीन्द्रियग्राह्यस्यानित्यबुद्ध्यादिधर्मकलापोपेतस्य घटादौ तद्व्यापकत्वेन प्रतिपन्नस्यात्र ततः सिद्धिः। न खलु हेतुर्व्यापकं विहायाव्यापकस्यात्यन्तविलक्षणसाध्यधर्मस्य धर्मिणि प्रतिपत्तौ हेतोः सामर्थ्यम्। कारणमात्रप्रतिपत्तौ तु सिद्धसाध्यता।

ननु बुद्धिमत्कारणमात्रं ततस्तत्र सिध्यत्पक्षधर्मताबलाद्विशिष्टविशेषाधारमेव सेत्स्यति, निर्विशेषस्य सामान्यस्यासम्भवात्, घटादौ प्रतिपन्नस्य चास्मदादेस्तन्निर्माणासामर्थ्यात्। नन्वेवं क्षित्यादौ बुद्धिमत्कारणत्वासिद्धिरेव स्यादस्मदादेस्तन्निर्माणासामर्थ्यादन्यस्य च हेतुव्यापकत्वेन कदाचनाप्यप्रतिपत्तेः खरविषाणवत्, निराधारस्य च सामान्यस्यासम्भवात्। न हि गोत्वाधारस्य खण्डादिव्यक्तिविशेषस्यासम्भवे तद्विलक्षणमहिष्याद्याश्रितं गोत्वं कुतश्चित्प्रसिद्ध्यति।

साधन भूत पृथ्वी आदि में पाये जाने वाले कार्यत्वादि में व्युत्पन्न बुद्धि होना असंभव है, यदि संभावना मानेंगे तो सशरीरी अस्मदादि इन्द्रिय ग्राह्य, अनित्य बुद्धि वाला इत्यादि, धर्म समूह से युक्त ऐसे कार्यत्व का घटादि में व्यापकपना जानकर उसकी इस पृथ्वी आदि में सिद्धि होगी, अर्थात् घटादि के समान पृथ्वी आदि का कर्ता भी सशरीरी आदि धर्म युक्त सिद्ध होगा। क्योंकि हेतु में ऐसी सामर्थ्य नहीं है कि वह व्यापक को छोड़कर अत्यन्त विलक्षण ऐसे अव्यापक धर्मभूत साध्य की धर्मी में प्रतिपत्ति करा देवे। यदि कहा जाय कि कार्यत्व हेतु कारण मात्र की प्रतिपत्ति कराता है तो सिद्ध साध्यता है।

यौग–कार्यत्व हेतु द्वारा प्रथम तो बुद्धिमान कारण मात्र की सिद्धि होती है फिर उसके पक्ष धर्मता के बल से विशिष्ट विशेषाधार (ईश्वर रूप बुद्धिमान कारणत्व) सिद्ध होगा, क्योंकि विशेष रहित सामान्य का होना असंभव है। घटादि में पाया जाने वाला कार्यत्व तो अस्मदादि का है, अस्मदादि से उस पृथ्वी आदि का निर्माण कार्य नहीं हो सकता ?

जैन–ऐसा मानेंगे तो पृथ्वी आदि में बुद्धिमान कारणत्व का अभाव हो ही जायगा क्योंकि अस्मदादि में तो उन पृथ्वी आदि के निर्माण करने की शक्ति नहीं है और अन्य जो अशरीरी ईश्वर है उसकी हेतु के व्यापकपने से कभी भी प्रतीति नहीं

अस्मादृशान्यादृशविशेषपरित्यागेन कर्तृत्वमात्रानुमाने च चेतनेतरविशेषत्यागेन कारणमात्रानुमानं किन्नानुमन्यते ? धूममात्रात्पावकमात्रानुमानवत् । यादृशमेव हि पावकमात्रं पैङ्गल्यादिधर्मोपेतं कण्ठाक्षविक्षेपकादित्वापाण्डुरत्वादिधर्मोपेतधूममात्रस्य प्रत्यक्षानुपलम्भप्रमाणजनितोहाख्यप्रमाणात्सर्वोपसंहारेण व्यापकत्वेन महानसादौ प्रतिपन्नं तादृशस्यैवान्यत्राप्यतोनुमानं नात्यन्तविलक्षणस्य, व्यक्तिसम्बन्धित्वमात्रस्यैव भेदात् । न च व्यक्तीनामप्यात्यन्तिको भेदो महानसादिवदन्यासामपि दृश्यतयोपगमात् । न च कार्यविशेषस्य कर्तृविशेषमन्तरेणानुपलम्भात् तन्मात्रमपि कर्तृविशेषानुमापकं युक्तम्; तस्य कारणत्वमात्रेणैवाविनाभावनिश्चयात्, धूममात्रस्याग्निमात्रेणाविनाभावनिश्चयवत् । घटादिलक्षणकार्यविशेषस्य तु कारणविशेषेणाविनाभावावगमः चान्दनादिधूमविशेषस्याग्निविशेषेणाविनाभावावगमवत् । तथापि कार्यमात्रस्य कारणविशेषानुमापकत्वे धूमादिकार्यविशेषस्य महानसादौ

होती जैसे कि खरविषाण की नहीं होती । तथा निराधार सामान्य का होना भी असंभव है, क्योंकि गोत्व सामान्य के आधार भूत खंडादि व्यक्ति विशेष का असंभव होने पर उससे विलक्षण महिष आदि में गोत्व सामान्य आश्रित रहता हुआ किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है । यदि पृथ्वी आदि का कर्ता हम जैसा है कि अन्य प्रकार का है इत्यादि विशेषका विचार न करके सामान्य से कोई एक कर्ता है ऐसा अनुमान से सिद्ध करना चाहते हैं तो चेतन और अचेतन ऐसे विशेष कारणों को छोड़कर सामान्य से पृथ्वी आदि का कोई कारण मात्र है (परमाणु आदिक) ऐसा क्यों न माना जाय ? जैसे सामान्य धूम को देखकर सामान्य ही अग्नि का अनुमान होना मानते हैं । पीत आदि धर्म से संयुक्त जिस प्रकार की अग्नि को कण्ठ और नेत्र में पीड़ा पहुंचाने वाले तथा सफेद आदि धर्म युक्त धूम सामान्य के साथ महानसादि स्थान पर प्रमाण द्वारा सर्वोपसंहार रूप व्यापकपने से ज्ञात किया था उसी प्रकार की अग्नि को अन्य स्थान पर भी ज्ञात करते हैं, अतः सामान्य हेतु से अत्यन्त विलक्षण का अनुमान नहीं होता, क्योंकि इसमें केवल व्यक्ति के सम्बन्धीपने का भेद रहता है । तथा यह व्यक्तियों का भेद भी आत्यन्तिक भेद नहीं हुआ करता, क्योंकि महानसादि के समान पर्वतादि व्यक्तियों में भी दृश्यता स्वीकार की गयी है । विशेष कर्ता के बिना विशेष कार्य उपलब्ध नहीं हो सकता, अतः सामान्य कार्य को विशेष कर्ता का अनुमापक मानना अयुक्त है । सामान्य कार्य तो सामान्य कारण के साथ ही अविनाभावी हुआ करता है, जैसे सामान्य धूम सामान्य अग्नि का अविनाभावी होता है । जो घटादि विशेष कार्य होता है उसका विशेष कारण के साथ अविनाभाव निश्चित होता है, जैसे चंदन संबंधी

तत्कालवन्ह्यविनाभावोपलम्भाद् धूमघटिकादौ तन्मात्रं तत्कालवन्ह्यनुमापकं स्यात्। अथ तत्र तत्कालवन्ह्यनुमाने प्रत्यक्षविरोधः; सोऽकृष्टजाते भूरुहादौ कर्त्रनुमानेपि समानः। तत्कर्त्तुरतीन्द्रियत्वात्तदविरोधे धूमघटिकादौ वह्नेरप्यतीन्द्रियत्वात्सोस्तु। भास्वररूपसम्बन्ध्यवयविद्रव्यत्वान्नातीन्द्रियत्वं तस्येति चेत्; एतदेव कुतोऽवसितम्? महानसादौ तथाभूतस्यास्योपलम्भाच्चेत्; तर्हि क्षित्यादिकर्तुः शरीरसम्बन्धिनोऽतीन्द्रियत्वं मा भूत्कुम्भकारादौ तस्यानुपलम्भात्।

ननु वृक्षशाखाभङ्गादौ पिशाचादिः, स्वशरीरावयवप्रेरणे चात्माऽशरीरोऽपि कर्त्तोपलब्धः; इत्यप्यसुन्दरम्; पिशाचादेः शरीरसम्बन्धरहितस्य कार्यकारित्वानुपपत्तेर्मुक्तात्मवत्। तत्सम्बन्धेनैव हि

विशेष धूम का विशेष अग्नि के साथ अविनाभाव निश्चित होता है। इस प्रकार सामान्य कार्य सामान्य कारण का और विशेष कार्य विशेष कारण का अनुमापक होता है ऐसा सिद्धांत निश्चित होता है, फिर भी सामान्य कार्य को विशेष कारण का अनुमापक माना जायगा तो महानसादि में विशेष धूम तत्काल में अग्नि का अविनाभावी होता हुआ देखकर गोपाल घटिकादि में सामान्य धूम तत्काल में अग्नि का अनुमापक होने लगेगा।

यौग–गोपाल घटिका में तत्काल अग्नि का अनुमान होने में प्रत्यक्ष से विरोध आता है।

जैन–स्वयं उगने वाले वृक्षादि में कर्ता का अनुमान लगाने में भी प्रत्यक्ष से विरोध आता है।

यौग–वृक्ष आदि का कर्ता अतीन्द्रिय है अतः कर्ता को सिद्ध करने वाले अनुमान में प्रत्यक्ष विरोध नहीं आता है।

जैन–तो गोपाल घटिकादि में होने वाली अग्नि भी अतीन्द्रिय है अतः उसको सिद्ध करने वाले अनुमान में प्रत्यक्ष विरोध नहीं आता है, ऐसा मानना चाहिये।

यौग–अग्नि भासुर रूप वाला अवयवी द्रव्य है अतः अतीन्द्रिय नहीं है।

जैन–यह कैसे जाना? महानस आदि में उसी प्रकार की अग्नि देखी है, ऐसा कहो तो पृथ्वी आदि का कर्ता भी शरीर का सम्बन्ध करने वाला होने से अतीन्द्रिय नहीं होना चाहिये? क्योंकि कुंभकार आदि कर्ता में अतीन्द्रियत्व की अनुपलब्धि है।

कुम्भकारादौ कार्यकारित्वं दृष्टं नान्यथा। तत्सम्बन्धोपगमे चास्य दृश्यत्वप्रसङ्गः कुम्भकारादिवत्। तच्छरीरस्य दृश्यत्वाद्दृश्योसौ न पिशाचादिर्विपर्ययादिति चेत्; ननु शरीरत्वाविशेषेपि यथास्मदादिशरीरविलक्षणं तच्छरीरमभ्युपगम्यते तथा घटादिकार्यविलक्षणं भूरुहादिकार्यं कार्यत्वाविशेषेप्यभ्युपगम्यताम्। तथा चानेन प्रकृतो हेतुर्व्यभिचारी। तथास्मदादेः शरीरसम्बन्धमात्रेणैव तदवयवानां प्रेरकत्वोपपत्तेर्नापरशरीरसम्बन्धस्तत्रोपयोगी 'तत्सम्बन्धमन्तरेण हि चेतनस्य स्वशरीरावयवेष्वन्यत्र वा कार्यकारित्वं नास्त्यनुपलम्भात्' इत्येतावन्मात्रमेव नियम्यत इति महेश्वरस्यापि शरीरसम्बन्धेनैव कर्तृत्वमभ्युपगन्तव्यम्।

तच्छरीरं च तत्कृतं यद्यभ्युपगम्यते; तर्हि शरीरान्तरं तस्याभ्युपगन्तव्यमित्यनवस्थातः

यौग–वृक्ष की शाखा भंग होना आदि में पिशाचादि कर्ता तथा अपने शरीर के अवयवों की प्रेरणा में आत्मा कर्ता शरीर रहित होकर भी उपलब्ध होता है।

जैन–यह कथन ठीक नहीं है, पिशाचादि के शरीर का सम्बन्ध नहीं रहेगा तो वे कार्य को नहीं कर सकते, जैसे मुक्तात्मा शरीर रहित होने से कोई कार्य नहीं करते हैं। कुम्भकारादि में शरीर सम्बन्ध से कार्यकारित्व देखा जाता है अन्यथा नहीं। यदि ईश्वर के शरीर का सम्बन्ध मानते हैं तो वह दृश्य बन जायगा जैसे कुम्हार आदि कर्ता दृश्य है।

यौग–कुम्हारादि का शरीर दृश्य है अतः वे दृश्यमान हैं, किंतु पिशाचादि इससे विपरीत हैं अर्थात् उनके शरीर दृश्य नहीं है।

जैन–तो शरीरपना उभयत्र समान होते हुए भी जैसे हमारे शरीर से विलक्षण ईश्वर का शरीर मान लिया जाता है वैसे कार्यपना समान होते हुए भी वृक्षादि कार्य घटादि कार्य से विलक्षण है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ? इस प्रकार सिद्ध होने पर इसी वृक्षादि कार्यत्व द्वारा प्रकृत कार्यत्व हेतु व्यभिचारी होता है। तथा आत्मा में शरीर के सम्बन्ध बिना स्वशरीर के अवयवों में अथवा अन्यत्र कार्यकारीपना नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा उपलब्ध नहीं होता है इतना सिद्धांत निश्चित किया जाता है इसलिये महेश्वर के भी शरीर का सम्बन्ध होकर ही कार्यकारीपना होता है ऐसा मानना चाहिये।

अब यदि उस ईश्वर के शरीर को ईश्वरकृत मानते हैं तो उसके लिये अन्य शरीर स्वीकार करना होगा, इस तरह अनवस्था होने से प्रकृत कार्य में (पृथ्वी आदि

प्रकृतकार्ये तस्याऽव्यापारोऽपरापरशरीरनिर्वर्त्तने एवोपक्षीणशक्तिकत्वात् । तदनिष्पाद्यं चेत्; तत्किं कार्यम्, नित्यं वा ? प्रथमपक्षे तेनैव हेतोर्व्यभिचारस्तस्य कार्यत्वेप्यबुद्धिमत्पूर्वकत्वात् । बुद्धिमत्कारणान्तरपूर्वकत्वे चानवस्था, तच्छरीरस्याप्यपरबुद्धिमत्कारणान्तरपूर्वकत्वात् । नित्यं चेत्; तर्हि तच्छरीरस्य शरीरत्वाविशेषेपि नित्यत्वलक्षणः स्वभावातिक्रमो यथाभ्युपगम्यते, तथा भूरुहादेः कार्यत्वे सत्यप्यकर्तृपूर्वकत्वलक्षणोप्यभ्युपगम्यताम् इति स एव तैर्व्यभिचारः कार्यत्वादेः । तन्न प्रतिबन्धप्रतिपत्तिलक्षणा व्युत्पत्तिस्तेषाम् ।

अथ तद्व्यतिरिक्ता व्युत्पत्तिः; सा स्वदुरागमाहितवासनावतां भवतु, न पुनस्तावन्मात्रेण कार्यत्वादेः साध्यं प्रति गमकत्वम् । अन्यथा वेदे मीमांसकस्य वेदाध्ययनवाच्यत्वादेरपौरुषेयत्वं प्रति गमकत्वं स्यात् ।

के निर्माण में) उसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी क्योंकि अन्य अन्य शरीर के निर्माण में ही उसकी शक्ति समाप्त हो जायगी । यदि कहा जाय कि वह शरीर अनिष्टपाद्य होता है तो वह कार्यरूप है अथवा नित्य है ? प्रथम पक्ष माने तो उसीसे कार्यत्व हेतु व्यभिचारी होगा क्योंकि कार्य रूप होते हुए भी उसको अबुद्धिमान पूर्वक स्वीकार कर लिया । यदि उस शरीर को बुद्धिमान कारण पूर्वक माने तो अनवस्था आती है क्योंकि वह शरीर भी अन्य बुद्धिमान हेतु पूर्वक होगा यदि उस शरीर को नित्य मानते हैं तो जैसे ईश्वर के शरीर में शरीरपना समान रूप से होते हुए भी नित्य रूप स्वभाव का अतिक्रम स्वीकार करते हैं वैसे वृक्ष आदि में कार्यपना समान रूप से होते हुए भी अकर्तृत्व रूप स्वभाव का अतिक्रम स्वीकार करना चाहिये, इस प्रकार कार्यत्वादि हेतु में वही पूर्वोक्त व्यभिचार दोष आता है । इसलिये व्युत्पन्न पुरुषों की व्युत्पत्ति अविनाभाव सम्बन्ध को जानने रूप होती है ऐसा पक्ष सिद्ध नहीं हो पाता है । वह व्युत्पति अविनाभाव सम्बन्धी प्रतिपत्ति से अतिरिक्त स्वभाव वाली है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो इस तरह की व्युत्पत्ति अपने कुशास्त्र की वासना से संसक्त हुए यौग के ही रह आवे, इस व्युत्पत्ति द्वारा कार्यत्व आदि हेतु का साध्य के प्रति गमकपना कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता है अन्यथा वेद में मीमांसक द्वारा प्रयुक्त हुआ वेदाध्ययन वाच्यत्वादि हेतु भी अपौरुषेयत्व साध्य के प्रति गमक होंगे ।

भावार्थ—अपने आगमादि को जानने मात्र से व्युत्पन्न मति होते हैं उसी से अनुमान हेतु आदि को सिद्ध कर सकते हैं ऐसा मानें तो बहुत गड़बड़ी मचेगी, सभी वादी प्रतिवादी अपने अपने आगमादि से अपना मत स्थापित कर सकेंगे, मीमांसक वेद

यच्चोक्तम्-'साध्याभावेपि प्रवर्त्तमानो हेतुर्व्यभिचारीत्युच्यते। न च तत्र कर्त्रभावो निश्चितः किन्त्वग्रहणम्' इति; तदुक्तिमात्रम्; प्रमाणाविषयत्वेपि स्थावरादौ कर्त्रऽभावानिश्चये गगनादौ रूपाद्यभावानिश्चयः स्यात्। तत्र रूपादीनां बाधकप्रमाणसद्भावेनाभावनिश्चये अत्रापि तथा कर्त्रभावनिश्चयोस्तु। न चास्यानुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वादभावानिश्चयः; शरीरसम्बन्धेन हि कर्तृत्वं नान्यथा मुक्तात्मवत्, तत्सम्बन्धे चोपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वप्रसङ्गः कुम्भकारादिवत्। तस्य हि शरीरसम्बन्ध एव दृश्यत्वं नान्यत्, स्वरूपेणात्मनोऽदृश्यत्वात् पिशाचादिशरीरवत्। तच्छरीरस्यादृश्यत्वोपगमे च किञ्चित्कार्यमप्यबुद्धिपूर्वकं स्यादित्युक्तम्।

यत्तूक्तम्-क्षित्याद्यन्वयव्यतिरेकानुविधानात्तेषामेव कारणत्वे धर्माधर्मयोरपि तन्न स्यात्; तन्न

को अपौरुषेय सिद्ध करता है उसमें वेदाध्ययन वाच्यत्व हेतु देता है किन्तु वह हेतु अपने अपौरुषेयत्व रूप साध्य को सिद्ध नहीं कर पाता है, ऐसा स्वयं यौग कहते हैं। कहने का अभिप्राय यही है कि स्व आगम के ज्ञान मात्र से व्युत्पन्न मति नहीं होता, अनुमान के विषय में तो बिल्कुल नहीं होता वहाँ तो अनुमान सम्बन्धी साध्य, पक्ष, हेतु अविनाभाव सम्बन्ध आदि विषयों में ज्ञान प्राप्त करना होगा। हेत्वाभास आदि दोषों की जानकारी भी प्राप्त करनी होगी तभी वह अनुमान में व्युत्पन्न मतिवाला कहलायेगा। जो हेतु साध्य के अभाव में भी रहता है उसे व्यभिचारी कहते हैं, वहां पृथ्वी आदि के विषय में कर्ता का अभाव नहीं है किंतु वह ग्रहण में नहीं आता है इत्यादि पूर्वोक्त कथन बकवास मात्र है, वृक्ष आदि स्थावरों का कर्ता प्रमाण का अविषय होते हुए भी उसके अभाव का अनिश्चय मानेंगे तो आकाश आदि में रूपादि के अभाव का अनिश्चय है ऐसा मानना होगा।

यौग-आकाश में रूपादि के अभाव का निश्चय तो बाधक प्रमाण के सद्भाव से हो जाता है।

जैन-इसी तरह पृथ्वी आदि में कर्ता के अभाव का निश्चय होवे।

यौग-पृथ्वी आदि में कर्ता के अभाव का अनिश्चय इसलिये रहता है कि वह कर्ता अनुपलब्धि लक्षण वाला है।

जैन-यह बात बिल्कुल असत्य है, शरीर के सम्बन्ध से ही कर्तापन हो सकता है अन्यथा नहीं जैसे मुक्तात्मा के नहीं है। अतः यदि ईश्वर के शरीर का सम्बन्ध है तो कुंभकारादि के समान वह उपलब्धि लक्षण वाला ही सिद्ध होता है। उसके दृश्यत्व

सूक्तम्; जगद्वैचित्र्यान्यथानुपपत्त्या तयोस्तत्कारणत्वप्रसिद्धेः। भूम्यादेः खलु सकलकार्यं प्रति साधारणत्वात् अदृष्टाख्यविचित्रकारणमन्तरेण तद्वैचित्र्यानुपपत्तिः सिद्धा।

यदप्युक्तम्-तत्र बुद्धिमतोऽभावादग्रहणं भावेप्यनुपलब्धिलक्षणप्राप्तत्वाद्वेति सन्दिग्धव्यतिरेकित्वे सकलानुमानोच्छेदः। यया सामग्र्या धूमादिर्जन्यमानो दृष्टस्तां नातिवर्तत इत्यन्यत्रापि समानम्; तदप्ययुक्तम्; यादृग्भूतं हि घटादिकार्यं यादृग्भूतसामग्रीप्रभवं दृष्टं तादृग्भूतस्यैव तदतिक्रमाभावो नान्यादृग्विधस्य धूमादिवदेवेत्युक्तं प्राक्।

का अर्थ शरीर का सम्बन्ध होना ही है अन्य नहीं। क्योंकि आत्मा तो स्वरूप से ही अदृश्य है ! यदि ईश्वर के शरीर को अदृश्य मानते हैं तो कोई कोई कार्य बुद्धिमान कर्ता के बिना भी होता है ऐसा भी मानना चाहिये। पूर्व में कहा गया था कि यदि पृथ्वी आदि का अन्वय व्यतिरेक पृथ्वी आदि के साथ ही है अतः वे ही कारण हैं ऐसा मानने पर तो धर्म अधर्म भी पृथ्वी आदि के कारण सिद्ध नहीं हो सकेंगे इत्यादि, सो वह कथन अयुक्त है, धर्म अधर्म के कारणपने की सिद्धि तो जगत विचित्रता के अन्यथानुपपत्ति से हो जाती है। पृथ्वी कारण तो सकल कार्य के प्रति सर्व साधारण है, अदृष्ट नामक विचित्र कारण के बिना जगत वैचित्र्य की सिद्धि नहीं हो सकती, अर्थात् संपूर्ण कार्य के प्रति पृथ्वी आदि पदार्थ सामान्य कारण हैं और धर्म अधर्म विशेष कारण है। कार्यों की विभिन्नता देखकर ही धर्म अधर्म की सिद्धि होती है। यौग ने पहले कहा था कि बुद्धिमान कर्ता का अभाव है अथवा सद्भाव होने पर भी अनुपलब्धि लक्षण वाला है अतः अग्रहण होता है। इस प्रकार कहकर कार्यत्व हेतु को संदिग्ध व्यतिरेकी माना जाय तो सकल अनुमानों का उच्छेद हो जायगा। जिस सामग्री से धूमादि हेतु उत्पन्न हुआ देखा जाता है वह उसका उल्लंघन नहीं करता ऐसा कहे तो कार्यत्वादि हेतु में भी यही बात है इत्यादि सो यह यौग का कथन अयुक्त है जिस तरह का घटादि कार्य जिस तरह की सामग्री से जायमान है वह उसी प्रकार की सामग्री का ही अतिक्रमण नहीं करता है, उसमें अन्य प्रकार की सामग्री का तो अतिक्रमण होता ही है, जैसे धूमादि कार्य हेतु होता है, इस विषय में पहले कह चुके हैं।

और जो कहा था कि "ज्ञान, चिकीर्षा और प्रत्यन आधारता, ये तीन प्रकार की कर्तृता है, इस कर्तृत्व के लिये शरीर होना या नहीं होना जरूरी नहीं है सो यह अयुक्त है, शरीर के अभाव में कर्तृत्व का आधार होना असंभव है, जैसे मुक्तात्मा में

यच्चेदमुक्तम्-ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारता हि कर्तृता न सशरीरेतरता; इत्यप्यसङ्गतम्; शरीराभावे तदाधारत्वस्याप्यसम्भवान्मुक्तात्मवत्। तेषां खलूत्पत्तौ आत्मा समवायिकारणम् आत्म-मनःसंयोगोऽसमवायिकारणम्, शरीरादिकं निमित्तकारणम्। न च कारणत्रयाभावे कार्योत्पत्तिरन-भ्युपगमात्। अन्यथा मुक्तात्मनोपि ज्ञानादिगुणोत्पत्तिप्रसङ्गात् "नवानां गुणानामत्यन्तोच्छेदो मुक्तिः" [ ] इत्यस्य व्याघातः। निमित्तकारणमन्तरेणाप्येषामुत्पत्तौ च बुद्धिमत्कारणमन्त-रेणाप्यंकुरादेः किं नोत्पत्तिः स्यात्? नित्यत्वाभ्युपगमात्तेषामदोषोयमित्ययुक्तम्; प्रमाणविरोधात्। तथाहि-नेश्वरज्ञानादयो नित्यास्तत्त्वादस्मदादिज्ञानादिवत्। तज्ज्ञानादीनां दृष्टस्वभावातिक्रमे भूरु-हादीनामपि स स्यात्।

शरीर नहीं होने से कर्तृत्वाधार नहीं है। कार्यों की उत्पत्ति में आत्मा समवायी कारण है, आत्मा और मन का संयोग होना असमवायी कारण है और शरीरादिक निमित्त कारण हैं, इन तीन कारणों के अभाव में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती ऐसा आपने स्वयं स्वीकार किया है। यदि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति मानेंगे तो मुक्तात्मा के ज्ञानादि गुण उत्पन्न होने का प्रसंग आता है फिर ज्ञानादि नव गुणों का अत्यन्त विच्छेद होना मुक्ति है ऐसा आपका आगम वाक्य खण्डित हो जाता है। यदि निमित्त कारण के बिना कार्यों की उत्पत्ति होना स्वीकार करते हैं तो बुद्धिमान कारण के बिना अंकुर आदि पदार्थों की उत्पत्ति होना क्यों स्वीकार नहीं करते।

यौग—ईश्वर के ज्ञान चिकीर्षा आदि को नित्य माना है अतः कोई दोष नहीं आता ?

जैन—यह बात प्रमाण से विरुद्ध है, ईश्वर के ज्ञानादिक नित्य नहीं है, क्योंकि वे ज्ञानादि रूप है, जैसे हमारे ज्ञानादिक नित्य नहीं है। तुम कहो कि "ईश्वर के ज्ञानादि में दृष्ट स्वभाव का अतिक्रम है अर्थात् उनमें अतिशय है या हमारे ज्ञानादि से पृथक् स्वभाव रूप है" तो वृक्ष आदि में भी दृष्ट स्वभावातिक्रम मानो, अर्थात् घटादि में बुद्धिमान कर्तृत्व और वृक्षादि में अबुद्धिमान कर्तृत्व है ऐसा मानना पड़ेगा।

यौग—अचेतन पदार्थ चेतन से अधिष्ठित हुए बिना कार्य में प्रवृत्ति नहीं कर सकते, जैसे वसूला आदि अचेतन पदार्थ नहीं करते, अचेतन पदार्थ यदि कार्य करेंगे तो ज्ञान शून्य होने के कारण निश्चित स्थान, समय आदि में कार्य नहीं कर सकेंगे किन्तु ऐसा नहीं है, अचेतन पदार्थों का कार्य भी समय पर सम्पन्न होता हुआ देखा जाता है

न चाऽचेतनस्य चेतनानधिष्ठितस्य वास्यादिवत्प्रवृत्त्यसम्भवात्, सम्भवे वा निरभिप्रायाणां देशादिनियमाभावप्रसङ्गात् तदधिष्ठातेश्वरः सकलजगदुपादानादिज्ञाताभ्युपगन्तव्यः इत्यभिधातव्यम्; तज्ज्ञत्वेनास्याद्याप्यसिद्धेः। न चास्य तत्कर्त्तृत्वादेव तज्ज्ञत्वम्; इतरेतराश्रयानुषङ्गात्-सिद्धे हि सकलजगदुपादानाद्यभिज्ञत्वे तत्कर्त्तृत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तदभिज्ञत्वसिद्धिः। अचेतनवच्चेतनस्यापि चेतनान्तराधिष्ठितस्य विष्टिकर्मकरादिवत् प्रवृत्त्युपलम्भात्, महेश्वरेप्यधिष्ठातृ चेतनान्तरं परिकल्पनीयम्। स्वामिनोऽनधिष्ठितस्यापि प्रवृत्त्युपलम्भोऽकृष्टोत्पन्नांकुराद्युपादाने समानः। घटाद्युपादानस्यानधिष्ठितस्याप्रवृत्त्युपलम्भात् तथांकुराद्युपादानस्यापि कल्पने विष्टिकर्मकरादेः स्वाम्यनधिष्ठितस्याप्रवृत्तेर्महेश्वरेपि तथा स्यात्, तथा चानवस्था। चेतनस्याप्यपरचेतनाधिष्ठितस्य प्रवृत्त्यभ्युपगमे च

अतः इन पृथ्वी आदि का अधिष्ठाता ईश्वर माना है जिसको जगत के उपादान आदि कारणों का भले प्रकार से ज्ञान है।

जैन–ऐसा कथन ठीक नहीं है, सकल जगत का ज्ञान ईश्वर को है यह अभी तक सिद्ध नहीं हो पाया है। जगत का कर्ता होने से ही ईश्वर के सकल ज्ञातृत्व सिद्ध होता है ऐसा माने तो इतरेतराश्रय दोष आता है–ईश्वर के सकल जगत के उपादान आदि कारणों का ज्ञान है ऐसा सिद्ध होने पर उस जगत का कर्तापन सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर सकल जगत ज्ञातृत्व सिद्ध होगा। आप अचेतन को चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य करना मानते हो सो वैसे चेतन को भी अन्य चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य करना मानना चाहिये ? देखा भी जाता है कि पालकी चलाने वालों को स्वामी की प्रेरणा रहती है अतः महेश्वर में भी अन्य प्रेरक की कल्पना करनी होगी। यदि कहा जाय कि स्वामी की प्रेरणा के बिना भी कार्य होता है ? सो यही बात बिना बोये धान्यांकुर आदि की उत्पत्ति में माननी होगी, यदि घट आदि उपादान की चेतन अधिष्ठान के बिना प्रवृत्ति नहीं होती है अतः अंकुरादि में भी चेतन अधिष्ठान की कल्पना करते हैं, तो कर्मचारी आदि की स्वामी के बिना प्रवृत्ति नहीं होती अतः महेश्वर में भी अन्य चेतन अधिष्ठायक की कल्पना करनी होगी, इस तरह अनवस्था आती है। तथा चेतन की प्रवृत्ति भी अन्य चेतन से अधिष्ठित होकर होती है तो आपके अनुमान प्रयोग में जो पक्ष है कि "अचेतन पदार्थ चेतन से अधिष्ठित होते हैं" इसमें धर्मी का अचेतन विशेषण और हेतु का अचेतनत्वात् विशेषण व्यर्थ होगा, क्योंकि व्यवच्छेद्य का अभाव है अर्थात् मात्र अचेतन को ही चेतनाधिष्ठान की जरूरत

'अचेतनं चेतनाधिष्ठितम्' इत्यत्र प्रयोगेऽचेतनमिति धर्मिविशेषणस्याचेतनत्वादिति हेतोश्चापार्थकत्वम्, व्यवच्छेद्याभावात्। स्वहेतुप्रतिनियमाच्च अचेतनस्यापि देशादिनियमो ज्यायान्, तस्य भवताप्यवश्याभ्युपगमनीयत्वात्, अन्यथा सर्वत्र सर्वदा सर्वकार्याणामुत्पत्तिः स्यात्, चेतनस्याधिष्ठातुर्नित्यव्यापित्वाभ्यां सर्वत्र सर्वदा सन्निधानात्।

न च कारकशक्तिपरिज्ञानाविनाभावि तत्प्रयोक्तृत्वम्, तस्यानेकधोपलम्भात्। किञ्चित्खलूपादानाद्यपरिज्ञानेपि प्रयोक्तृत्वं दृष्टम्, यथा स्वापमदमूर्च्छाद्यवस्थायां शरीरावयवानाम्। किञ्चित्पुनः कतिपयकारकपरिज्ञाने; यथा कुम्भकारादेः करादिव्यापारेण दण्डादिप्रयोक्तृत्वम्। न खलु तस्याखिलकारकोपलम्भोस्ति; धर्माधर्मयोस्तद्धेतुभूतयोरनुपलम्भात्। उपलम्भे वा तयोर्देशादिनियतेषु कार्ये-

---

होती तो कह सकते थे कि अचेतन चेतनाधिष्ठान के बिना कार्य नहीं करते, किंतु यहां चेतन को भी अन्य चेतनाधिष्ठान की जरूरत पड़ती हैं तो दोनों में क्या विशेषता हुई? कुछ भी नहीं। फिर तो अचेतन पदार्थ भी अपने कार्य के उपादान कारणादि के नियमित होने से प्रतिनियत देश काल आदि में कार्यों को करते हैं उन्हें कोई चेतन कर्ता की जरूरत नहीं है ऐसा आपको अवश्य मानना चाहिये, अन्यथा सर्वत्र हमेशा सभी कार्यों की उत्पत्ति होने लगेगी। क्योंकि आपका चेतनाधिष्ठाता ईश्वर नित्य तथा व्यापक है सर्वत्र हमेशा मौजूद है।

यह भी बात नहीं है कि कारक शक्ति का ज्ञान होने पर ही उनको प्रयुक्त किया जाता है कार्य के प्रयोक्ता अनेक प्रकार के होते हैं, कोई प्रयोक्ता तो उपादान आदि कारणों का ज्ञान नहीं होते हुए भी प्रेरक होता है, जैसे निद्रा, मद, मूर्च्छा आदि अवस्था में शरीर के अवयवों का हिलना, करवट लेना आदि होता है। कोई प्रयोक्ता ऐसे होते हैं कि उनको कतिपय कारकों का परिज्ञान रहता है, जैसे कुंभकार आदि प्रयोक्ता के हाथ की क्रिया से दण्डे को चलाना, चाक पर मिट्टी का पिण्ड रखना इत्यादि कार्य कतिपय कारणों के परिज्ञान से होता है। उस कुंभकार को अखिल कारकों का ज्ञान नहीं होता है क्योंकि उसको घट के धर्म अधर्म रूप कारणों का ज्ञान नहीं है, यदि होता तो प्रतिनियत देश, काल आदि में होने वाले कार्यों में इच्छा का व्याघात नहीं होता, अर्थात् इस व्यक्ति के अदृष्ट से यह कार्य निष्पन्न अवश्य होगा, इसका नहीं होगा क्योंकि इसका भाग्य नहीं है इत्यादि ज्ञान कुंभकार को नहीं होता। तथा यदि कार्य प्रयोक्ता कुंभकार आदि को कारकों का पूरा पूरा ज्ञान है, ऐसा माने तो संसार के सभी जीव अतीन्द्रिय ज्ञानी हो जायेंगे। ऐसा कोई बुद्धिमान नहीं है जो

त्विषच्छाव्याघातो न स्यात्, सर्वश्चाऽतीन्द्रियार्थदर्शी स्यात्। न हि कश्चित्ताद्दशो बुद्धिमानस्ति यो न किञ्चित्करोति कार्यं वा ताद्दशं विद्यते यत्राऽद्दष्टं नोपयुज्यते। कारणशक्तेश्चातीन्द्रियत्वात्तदपरिज्ञानं सर्वप्राणिनां सुप्रसिद्धम्। यथास्थानं चास्याः सद्भावो निवेदितः। अन्यत्तु शरीराऽनायासतो वाग्व्यापारमात्रेण; यथा स्वामिनः कर्मकरादिप्रयोक्तृत्वम्। अस्तु वा कारकप्रयोक्तृत्वस्य परिज्ञानेनाविनाभावः, तथाप्यशरीरेश्वरे तस्यासम्भवः, सर्वत्र शरीरसम्बन्धे सत्येवास्योपलम्भात्।

यदप्यभ्यधायि-बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वमात्रस्य साध्यत्वान्न विशेषविरुद्धता कार्यत्वस्य, अन्यथा धूमाद्यनुमानोच्छेदः; तदप्यभिधानमात्रम्, कार्यमात्राद्धि कारणमात्रानुमाने विशेषविरुद्धताऽसम्भवस्तस्य तेन व्याप्तिप्रसिद्धेः, न पुनर्बुद्धिमत्कारणानुमाने तस्य तेनाव्याप्तेः प्रतिपादितत्वात्। व्याप्तौ वा

कुछ नहीं करता हो, तथा वैसा कोई कार्य भी नहीं है जहां अदृष्ट नहीं होता हो। इससे सिद्ध होता है कि कारकों का ज्ञान नहीं होते हुए भी कर्ता कार्य को करता है। कारकों की शक्ति अतीन्द्रिय होती है इसलिये उनका ज्ञान सर्व प्राणियों को नहीं हो सकता यह बात भी प्रसिद्ध ही है।

भावार्थ–कार्य कर्ता किसी कार्य को करते हैं किंतु वह कह देते हैं कि भाई! प्रयत्न तो कर रहे किन्तु सफलता होना भाग्याधीन है, विद्यार्थी विद्यालय में पढ़ते हैं सफलता होना जरूरी नही है, दुकानदार दुकान खोलता है किन्तु लाभ होना निश्चित नहीं है, अनेकों उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि प्रयोक्ता को कारकों का पूरा ज्ञान नहीं होता है।

पदार्थो में अतीन्द्रिय शक्ति होती है इस बात का निश्चय इस ग्रंथ के प्रथम भाग में "शक्ति स्वरूप विचार" नामा प्रकरण में भली प्रकार हो चुका है। कोई प्रयोक्ता ऐसे भी होते हैं जो शरीर के प्रयास के बिना वचन मात्र से ही कार्य करते हैं, जैसे स्वामी अपने सेवक को वचन से कार्य में लगाते हैं। दुर्जन संतोष न्याय से मान लेवे कि कारक प्रयोक्तृ का ज्ञान के साथ अविनाभाव है तो भी अशरीरी ईश्वर में उसका होना संभव है क्योंकि सर्वत्र शरीर सम्बन्ध होने पर ही कारक प्रयोक्तृत्व होता है। आपने कहा था कि हमने बुद्धिमान कारण पूर्वकत्व सामान्य को ही साध्य बनाया है अतः कार्यत्व हेतु विशेष विरुद्ध नामा दोष संयुक्त नहीं होता अन्यथा धूमादि हेतु वाले अनुमानों का उच्छेद होवेगा। किन्तु यह कथन अयुक्त है, कार्यमात्र से कारण मात्र का अनुमान होना मानते तब तो विशेष विरुद्ध नहीं होता, कारण मात्र की

अनीश्वरासर्वज्ञत्वादिधर्मकलापोपेत एव कर्त्तात्र सिद्ध्येत्, तथाभूतेनैव घटादौ व्याप्तिप्रसिद्धेः, न पुनरीश्वरत्वादिविरुद्धधर्मोपेतः, तस्य तद्व्यापकत्वेन स्वप्नेप्यप्रतिपत्तेः। तथाप्यस्य तं प्रति गमकत्वे महानसप्रदेशे वन्हिव्याप्तो धूमः प्रतिपन्नो गिरिशिखरादौ प्रतीयमानो वन्हिविरुद्धधर्मोपेतोदकं प्रति गमकः स्यात्। धूमाद्यनुमानोच्छेदासम्भवश्च प्राक्प्रबन्धेन प्रतिपादितः।

यच्चान्यदुक्तम्–'सर्वज्ञता चाशेषकार्यकारणात्' इत्यादि; तदप्ययुक्तम्; कार्यकारित्वस्य कारणपरिज्ञानाविनाभावासम्भवस्योक्तत्वात्। एकस्याशेषकार्यकारिणो व्यवस्थापकप्रमाणाभावात्, कार्यत्वादेश्च कृतोत्तरत्वात्कथमतः सर्वज्ञतासिद्धिः?

यच्चोक्तम्–'तथा विश्वतश्चक्षुः' इत्यागमादप्यसौ सिद्धः; तदप्युक्तिमात्रम्; अन्योन्याश्रयानुषङ्गात्–प्रसिद्धप्रामाण्यो ह्यागमस्तत्प्रसाधको नान्यथातिप्रसङ्गात् ततस्तत्प्रामाण्यप्रसिद्धौ महेश्वर-

---

कार्यमात्र के साथ व्याप्ति तो प्रसिद्ध ही है। किन्तु आपके अनुमान में ऐसी बात नहीं है वहां तो बुद्धिमान कारण पूर्वकत्व साध्य है इस साध्य की कार्यत्व हेतु के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है इस विषय का भी पहले प्रतिपादन कर दिया है। यदि बुद्धिमान कारण के साथ कार्यत्व की व्याप्ति माने तो वह बुद्धिमान कारण, अनीश्वर, असर्वज्ञ आदि स्वभाव वाला ही सिद्ध होगा, क्योंकि घट आदि में वैसा ही दिखायी देता है उसी के साथ कार्यत्व की व्याप्ति है, ईश्वर आदि विरुद्ध स्वभाव वाले के साथ नहीं है। कर्तृत्व की ईश्वर आदि के साथ व्याप्ति होते हुए स्वप्न में भी प्रतीत नहीं होता, व्याप्ति नहीं होते हुए भी इस कार्यत्व हेतु को साध्य का गमक मानो तो, महानस में अग्नि के साथ व्याप्त धूम को देखा था, फिर पर्वत शिखर पर प्रतीति में आया सो अब अग्नि से विरुद्ध धर्मवाला जो जल है उसका गमक बन जाय? किन्तु बनता तो नहीं। परवादी ने कहा था कि "यदि हमारे कार्यत्व हेतु को गलत सिद्ध करेंगे तो सारे ही धूमादि हेतु वाले अनुमानों का उच्छेद हो जावेगा सो इस विषय में विस्तार से कह दिया हैं। पहले कहा था कि "ईश्वर में सर्वज्ञता संपूर्ण कार्यों को करने से आती है, यह बात अयुक्त है, हमने सिद्ध कर दिया है कि कार्यकर्ता को कारणों का परिज्ञान होना जरूरी नहीं है, तथा एक ही कर्ता अशेष कार्यों को करता है यह बात भी प्रमाण सिद्ध नहीं है। कार्यत्वादि हेतु सदोष है इसके लिये बहुत कुछ कह दिया है इसलिये उससे सर्वज्ञता कैसे सिद्ध हो सकती है। ईश्वर की सर्वज्ञता को सिद्ध करने के लिये आगम प्रमाण "विश्वतश्चक्षुः" इत्यादि उपस्थित किये थे, किन्तु

सिद्धिः, तत्सिद्धौ च तत्प्रणीतत्वेनागमप्रामाण्यप्रसिद्धिः। अन्येश्वरप्रणीतागमात्तत्सिद्धौ तस्याप्यन्येश्वरप्रणीतागमात्सिद्धावीश्वरागमानवस्था। पूर्वेश्वरप्रणीतागमात्तत्सिद्धौ परस्पराश्रयः। स्वप्रणीतागमात्तत्सिद्धौ चान्योन्यसंश्रयः। नित्यस्य त्वागमस्य परैः प्रामाण्यं नेष्यते महेश्वरकल्पनानर्थक्यप्रसङ्गात्, प्रामाण्यस्योत्पत्तौ ज्ञप्तौ चेश्वरसद्भावस्याकिञ्चित्करत्वात्।

यदप्युक्तम्–कारुण्याच्छरीरादिसर्गे प्राणिनां प्रवर्त्तते; तदप्ययुक्तम्; सुखोत्पादकस्यैव शरीरादिसर्गस्योत्पादकस्य प्रसङ्गात्। न हि करुणावतां यातनाशरीरोत्पादकत्वेन प्राणिनां दुःखोत्पादकत्वं युक्तम्। धर्माधर्मसहकारिणः कर्त्तृत्वात्सुखवद्दुःखस्याप्युत्पादकोऽसौ, फलोपभोगेन हि तयोः प्रक्षयादपवर्गः प्राणिनां स्यात् इति करुणयापि तद्विधाने प्रवृत्त्यविरोधः; इत्यप्यसङ्गतम्; तयोरीश्वरा-

---

वे ठीक नहीं हैं, इससे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है क्योंकि प्रमाण प्रसिद्ध आगम ही ईश्वर का प्रसाधक हो सकता है, अन्यथा अति प्रसंग होगा। ईश्वर द्वारा रचित होने के कारण आगम में प्रामाण्य है ऐसा कहो तो अन्योन्याश्रय होगा–आगम प्रामाण्य की सिद्धि होने पर महेश्वर की सिद्धि होगी और उसके सिद्ध होने पर उसके द्वारा प्रणीत होने के कारण आगम प्रामाण्य की सिद्धि होगी। इस दोष से बचने के लिये अन्य ईश्वर द्वारा प्रणीत आगम से इस ईश्वर की सिद्धि करते हैं तब तो अनवस्था खड़ी होगी। पूर्व ईश्वर प्रणीत आगम से इस ईश्वर की सिद्धि होना भी अन्योन्याश्रय दोष के कारण असंभव है। तथा खुद के रचे आगम से ही ईश्वर में सर्वज्ञता सिद्ध होना कहें तो वही अन्योन्याश्रय दोष होता है। आप यौग मीमांसक के समान नित्य आगम को प्रामाणिक नहीं मानते हैं, अन्यथा महेश्वर की कल्पना करना व्यर्थ है, क्योंकि नित्य आगम के प्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति होने में ईश्वर के सद्भाव की आवश्यकता नहीं रहती है।

आपने कहा था कि "ईश्वर करुणा बुद्धि से प्राणियों के शरीरादि की रचना करता है" किन्तु यह असत् है, यदि करुणा से करता तो सुखदायक शरीरादि को ही रचता? क्योंकि करुणाशाली पुरुष प्राणियों को यातना पहुंचाने वाले शरीरादि को निर्माण कर दुःख को उत्पन्न नहीं कराते हैं।

यौग–ईश्वर धर्म तथा अधर्म दोनों की सहकारिता से कार्य करता है अतः सुख और दुःख दोनों का उत्पादक है, जब इन धर्म अधर्म का फल भोग करके नाश होता है तब प्राणियों को मोक्ष होता है, अतः ईश्वर करुणा से भी सुख दुःख को करा सकता है?

नायत्तत्वे कार्यत्वे च ग्राभ्यामेव कार्यत्वादेरनैकान्तिकत्वप्रसङ्गात्, तदुत्पत्तौ तस्याव्यापारे च विनाशेप्यव्यापारोस्तु, कारणान्तरोत्पन्नसुखदुःखलक्षणफलोपभोगेनानयोः प्रक्षयसम्भवात्। न हीश्वरस्यापि तत्फलोत्पादनादन्यत्तयोः क्षयकर्त्तृत्वम्।

किञ्च, धर्माधर्मौ निष्पाद्य पुनस्तयोः क्षयकरणे किमुत्पत्तिकरणप्रयासेन? न हि प्रेक्षाकारी खात्वा पुनः समीकरणन्यायेनात्मानमायासयति "प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" [ ] इति प्रसिद्धेश्च। अन्यथा प्रक्षालिताशुचिमोदकपरित्यागन्यायानुसरणप्रसङ्गः।

अपवर्गविधानार्थं चास्य प्रवृत्तौ कथमपूर्वकर्मसञ्चयकर्त्तृत्वम्? तत्सहकारिणश्चास्य सुखदुःखोत्पादकशरीरोत्पादकत्वे वरं तत्फलोपभोक्तृप्राणिगणस्यैव तत्सव्यपेक्षस्य तदुत्पादकत्वमस्तु किम-

---

जैन—यह कथन अयुक्त है, यदि वे धर्म, अधर्म ईश्वराधीन न होकर के भी कार्य है तो उन्हीं के साथ कार्यत्व हेतु अनैकांतिक हो जायगा। तथा धर्म अधर्म की उत्पत्ति में ईश्वर कारण नहीं है तो उनके नाश में भी ईश्वर को कारण नही मानना चाहिये, क्योंकि विभिन्न कारणों से उत्पन्न हुए सुख दुःख रूप फलों का उपभोग करके उन धर्माधर्म का नाश होना संभव है। यह विषय विचारणीय है कि पहले धर्म अधर्म को उत्पन्न कराना फिर उनका नाश करना यह प्रयास किसलिये किया जाता है? प्रेक्षावान पुरुष "खात्वा पुनः समीकरण न्यायः" जमीन में गड्ढा खोदकर पुनः उसको भर देने के समान व्यर्थ के कार्य में प्रवृत्ति नहीं करते हैं लोकोक्ति भी है कि "प्रक्षालनात् हि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" अन्यथा प्रक्षालिता शुचि मोदक परित्याग न्यायानुसरण प्रसंगः। अर्थात् कीचड़ में पैर देकर धोने की अपेक्षा पहले पैर नहीं देना ही श्रेष्ठ है वरना वह व्यक्ति हंसी का पात्र होगा जैसे कोई व्यक्ति हाथ में लड्डू ले जा रहा था वह नाली में गिर गया लोभ के कारण उसको निकालकर धोया फिर ग्लानि आने से या लोगों के हंसने से उसको फेंक दिया वैसे धर्म अधर्म को पहले बताना फिर उनको नष्ट करना व्यर्थ का कार्य है।

यदि कहा जाय कि अपवर्ग के विधान के लिये ईश्वर की प्रवृत्ति हुआ करती है तो वह अपूर्व कर्मो के संचय का कारण किस प्रकार हो सकता है? तथा यदि सुख दुःख के उत्पादन में और शरीर के उत्पादन में ईश्वर को सहकारी माना तो उससे अच्छा यह होता कि उन धर्मादि के फलों को भोगने वाले प्राणी गण स्वयं ही उनकी अपेक्षा लेकर सुखादि के उत्पादक होते हैं, व्यर्थ के अप्रसिद्ध ईश्वर की परिकल्पना से

दृष्टेश्वरपरिकल्पनया ? सर्वत्र कार्येऽदृष्टस्य व्यापारात्। तथाहि–यद्यदुपभोग्यं तत्तददृष्टपूर्वकम् यथा सुखादि, उपभोग्यं च प्राणिनां निखिलं कार्यमिति।

ननु यथा प्रभुः सेवामेदानुरोधात्फलप्रदो नाप्रभुस्तथेश्वरोपि कर्मापेक्षः फलप्रदो नान्यः; इत्यपि मनोरथमात्रम्; राज्ञो हि सेवायत्तफलप्रदस्य यथा रागादियोगो नैर्घृण्यं सेवायत्तता च प्रतीता तथेशस्याप्येतत्सर्वं स्यात्, अन्यथाभूतस्य अन्यपरिहारेण क्वचिदेव सेवके सुखादिप्रदत्वानुपपत्तेः।

अथ यथा स्थपत्यादीनामेकसूत्रधारनियमितानां महाप्रासादादिकार्यकरणे प्रवृत्तिः, तथात्राप्येकेश्वरनियमितानां सुखाद्यनेककार्यकरणे प्राणिनां प्रवृत्तिः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; नियमाभावात्। न ह्ययं नियमः–निखिलं कार्यमेकेनैव कर्त्तव्यम्, नाप्येकनियतैर्बहुभिरिति; अनेकधा कार्यकर्त्तृत्वो-

---

क्या प्रयोजन है ? क्योंकि सब कार्य में धर्मादि का ही व्यापार होता हुआ देखा जाता है। जगत का कार्य प्राणियों के अदृष्ट से होता है, क्योंकि वह उन्हीं के द्वारा उपभोग्य है, जो जिसके द्वारा उपभोग्य होता है वह उसी के अदृष्ट से निर्मित है, जैसे सुखादिक प्राणियों का अखिल कार्य उपभोग्य है, अतः अदृष्ट निर्मित है।

शंका–जिस प्रकार स्वामी नौकर को सेवा विशेष के अनुसार फल देता है, उस सेवा फल को अस्वामो नहीं दे सकता है, उसी प्रकार ईश्वर कर्म के अनुमार फल देता है, अन्य नही दे सकता है ?

समाधान–यह कथन मनोरथ मात्र है राजा सेवानुसार फल देता है किन्तु उसमें रागद्वेष है, कृपणता है वह सेवा के अधीन भी हो जाता है, ऐसे रागद्वेष आदि अवगुण ईश्वर में भी मानने होंगे। रागद्वेषादि नहीं होते तो अन्य का परिहार करके किसी सेवक विशेष को ही सुखादि को देने की बात नहीं बनती है।

यौग–जैसे स्थपति आदि शिल्पिकार एक सूत्रधार के नियम में बद्ध होकर महाप्रासाद आदि कार्य को करते हैं, उसी प्रकार एक ईश्वर के नियम में बद्ध होकर सुख दुःख आदि अनेक कार्य करने में प्राणीगण प्रवृत्त होते हैं ?

जैन–यह कथन असत् है, ऐसा नियम नहीं है कि अशेष कार्य एक ही व्यक्ति करे, तथा ऐसा भी नियम नहीं है कि अनेक व्यक्ति एक से अनुबद्ध होकर ही कार्यों को करे, किन्तु कार्यों का कर्तापना अनेक प्रकार से उपलब्ध होता है, इसी को बताते हैं कहीं पर एक कार्य को एक ही व्यक्ति करता है, जैसे जुलाहा वस्त्र रूप कार्य को करता है। कहीं पर एक कर्ता अनेक कार्यों को करता है, जैसे एक ही कुंभकार घट, सुरई,

पलम्भात् । तथाहि–क्वचिदेक एवैककार्यस्य कर्त्तोपलभ्यते यथा कुविन्दः पटस्य । क्वचिदेकोप्यनेककार्याणाम् यथा घटघटीशरावोदञ्चनादीनां कुलालः । क्वचिदनेकोप्यनेककार्याणाम् यथा घटपटमकुटशकटादीनां कुलालादिः । क्वचिदनेकोप्येककार्यस्य यथा शिबिकोद्वहनादिकार्यस्यानेकपुरुषसंघातः । न चानेकस्थपत्यादिनिष्पाद्ये प्रासादादिकार्येऽवश्यतयैकसूत्रधारनियमितानां तेषां तत्र व्यापारः; प्रतिनियताभिप्रायाणामप्येकसूत्रधाराऽनियमितानां तत्करणाविरोधात् ।

किञ्च, अदृष्टापेक्षस्यास्य कार्यकर्तृत्वे तत्कृतोपकारोऽवश्यंभावी अनुपकारकस्यापेक्षायोगात् । तस्य चातो भेदे सम्बन्धासम्भवः । सम्बन्धकल्पनायां चानवस्था । अभेदे तत्करणे महेश्वर एव कृत इत्यदृष्टकार्यतास्य । नाऽस्यादृष्टेन किञ्चित्क्रियते सम्भूय कार्यमेव विधीयते सहकारित्वस्यैककार्यकारि-

---

सकोरा, झारी आदि अनेक कार्यों को करता है, तथा कहीं पर अनेकों कर्ता अनेकों कार्यों को करते हैं, जैसे घट, पट, मुकुट, शकट आदि को क्रमशः कुम्हार, जुलाहा, सुनार और बढ़ई करते हैं । कहीं पर अनेक पुरुष मिलकर एक ही कार्य करने में संलग्न हो जाते हैं, जैसे शिविका ढोना आदि एक कार्य में अनेक पुरुष लग जाते हैं । अनेक बढ़ई आदि के द्वारा जिसका निर्माण होना है ऐसे प्रासाद आदि कार्य एक सूत्रधार से नियमित होकर ही होवे सो भी बात नहीं है अपने अपने कार्य में नियमित अभिप्राय वाले बढ़ई आदि पुरुष एक सूत्रधार के नियम में बंधे बिना भी अपना अपना कार्य सम्पन्न कर सकते हैं, कोई विरोध की बात नहीं है ।

जैन का यौग के प्रति प्रश्न है कि ईश्वर अदृष्ट की अपेक्षा लेकर कार्यों को करता है उसमें अदृष्टकृत उपकार जरूर रहता होगा, क्योंकि अनुपकारक की अपेक्षा नहीं हुआ करती है, अब यदि उस उपकार को ईश्वर से भिन्न मानते हैं तो दोनों का सम्बन्ध नहीं बनता है और सम्बन्ध की कल्पना करें तो अनवस्था आती है तथा उस उपकार को ईश्वर से अभिन्न मानते हैं तो उसके करने में ईश्वर को किया ऐसा अर्थ होता है और इस तरह ईश्वर अदृष्ट का कार्य है ऐसा सिद्ध होता है ।

यौग–अदृष्ट द्वारा ईश्वर का कुछ नहीं किया जाता सिर्फ ये दोनों मिलकर कार्य को करते हैं सहकारी कारण उसीको कहते हैं जो मिलकर एक ही कार्य को करें ?

जैन–यह कथन असत् है, सहकारी की अपेक्षा लेकर कार्यों को उत्पन्न करना यह ईश्वर का स्वभाव है, अब यदि वह स्वभाव अदृष्ट आदि सहकारी के मिलने के

स्वलक्षणत्वात्; इत्यप्यसाम्प्रतम्; सहकारिसव्यपेक्षो हि कार्यजननस्वभावः तस्यादृष्टादिसहकारिसन्निधानाद्यदि प्रागप्यस्ति तदोत्तरकालभाविसकलकार्योत्पत्तिस्तदैव स्यात् । तथाहि–यद्यदा यज्जननसमर्थं तत्तदा तज्जनयत्येव यथान्त्यावस्थाप्राप्तं बीजमंकुरम्, प्रागप्युत्तरकालभाविसकलकार्यजननसमर्थश्चैकस्वभावतयाभ्युपगतो महेश्वर इति । तदा तदजनने वा तज्जननसामर्थ्याभावः, यद्धि यदा यन्न जनयति न तत्तदा तज्जननसमर्थस्वभावम् यथा कुसूलस्थं बीजमंकुरमजनयन्न तज्जननसमर्थस्वभावम्, न जनयति चोत्तरकालभावि सकलं कार्यं पूर्वकार्योत्पत्तिसमये महेश्वर इति ।

तज्जननसमर्थस्वभावोप्यसौ सहकार्यऽभावात्तथा तन्न जनयति; इत्यपि वार्त्तम्; समर्थस्वभावस्यापरापेक्षाऽयोगात् । 'समर्थस्वभावश्चापरापेक्षश्च' इति विरुद्धमेतत्, अनाधेयाऽप्रहेयातिशयत्वात्तस्य ।

पहले भी है, तो आगामी काल में होने वाले जितने कार्य हैं वे सारे उसी समय हो जायेंगे इसका खुलासा–जो जिस समय जिसको उत्पन्न करने में समर्थ होता है वह उस समय उस कार्य को अवश्य करता है, जैसे–अंतदशा को प्राप्त हुआ बीज अंकुर को उत्पन्न करा देता है, ईश्वर में पहले से ही उत्तरकालीन सकल कार्यों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य रहती है, क्योंकि वह सदा एक सा स्वभाव वाला है, यदि उस समय सकल कार्यों को उत्पन्न नही करता है तो ईश्वर में कार्योत्पत्ति के सामर्थ्य का अभाव हो जायगा । क्योंकि जो जिस समय जिसको उत्पन्न नहीं करता है उस समय उसके वह सामर्थ्य नहीं रहती है, जैसे कुशूल में रखा हुआ बीज अंकुर को उत्पन्न नहीं करता है तो उसके सामर्थ्य का अभाव ही है, ईश्वर भी पूर्व कार्योत्पत्ति के समय उत्तरकालीन सकल कार्यों को नहीं करता है अतः उसमें उन कार्यों को उत्पन्न कराने की सामर्थ्य नहीं है ।

यौग–ईश्वर में सकल कार्योत्पत्ति की सामर्थ्य रहती है किन्तु सहकारी का अभाव होने से उत्पन्न नहीं करता है ।

जैन–यह बात असंगत है, जो स्वयं समर्थ स्वभाव वाला है वह पर की अपेक्षा नहीं रखता है, समर्थ स्वभावी हो और पर की अपेक्षा भी रखने वाला हो यह विरुद्ध बात है । ईश्वर तो अनाधेय और अप्रहेय अतिशयवान है । [अर्थात् आरोपित करने में नहीं आना अनाधेयता है और भेद नहीं कर सकना अप्रहेय है, यौग मत में ईश्वर को ऐसे अतिशय से युक्त माना जाता है] तथा ये अदृष्टादिक सहकारी ईश्वर के अधीन होकर उत्पन्न होते हैं या बिना अधीन हुए उत्पन्न होते हैं ? प्रथम पक्ष कहो तो

किञ्च, एते सहकारिणः किं तदायत्तोत्पत्तयः, अतदायत्तोत्पत्तयो वा ? प्रथमपक्षे किं नैकदैवो-त्पद्यन्ते ? तदुत्पादकान्यसहकारिवैकल्याच्चेदनवस्था। तथा चास्यापरापरसहकारिजनने एवोपक्षीण-शक्तिकत्वान्न प्रकृतकार्ये व्यापारः। बीजांकुरादिवदनादित्वात्तत्प्रवाहस्य नानवस्था दोषायेत्यभ्युपगमे महेश्वरकल्पनावैयर्थ्यम्, स्वसामग्र्यधीनोत्पत्तितया पूर्वपूर्वसामग्रीविशेषवशादपरापराखिलकार्योत्पत्ति-प्रसिद्धेः। अथातदायत्तोत्पत्तयः; तर्हि तैरेव कार्यत्वादिहेतवोऽनैकान्तिकाः इति।

एतेन 'महाभूतादि व्यक्तं चेतनाधिष्ठितं प्राणिनां सुखदुःखनिमित्तं रूपादिमत्त्वात्तुर्यादिवत्' इत्यादीनि वार्तिककारादिभिरुपन्यस्तप्रमाणानि निरस्तानि; यादृशं हि रूपादिमत्त्वमनित्यत्वं च चेतनाधिष्ठितं वास्यादौ प्रसिद्धं तादृशस्य क्षित्यादावसिद्धेः। रूपादिमत्त्वमात्रस्य च चेतनाधिष्ठितत्वेन

एक काल में ही सबकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती है ? उनके उत्पादक अन्य सहकारी कारण नहीं रहने से एक काल में सबकी उत्पत्ति नहीं होती ऐसा कहे तो अनवस्था आती है, तथा इस प्रकार ईश्वर अन्य अन्य सहकारी को उत्पन्न करने में ही क्षीण शक्ति वाला होने से प्रकृत कार्य में व्यापार नहीं कर सकता है।

यौग—बीज और अंकुर के समान अनादि प्रवाह रूप सहकारी कारणों का मिलने की और कार्य होने की परंपरा चलती है अतः कोई दोष नहीं है ?

जैन—फिर महेश्वर को मानना ही व्यर्थ है, सभी कार्यों की उत्पत्ति अपनी सामग्री के अधीन है, पूर्व पूर्व सामग्री विशेष से उत्तर उत्तर अखिल कार्य होते रहते हैं ऐसा सिद्ध होता है, यदि दूसरे पक्ष की बात करें कि वे सहकारी कारण ईश्वर के अधीन न होकर कार्योत्पत्ति करते हैं, तब तो उन्हीं सहकारी कारणों के साथ कार्यत्व आदि हेतु व्यभिचरित होते हैं। [अर्थात् सब कार्य ईश्वर ही करता है ऐसा यौग का कहना था किन्तु यहां सहकारी की उत्पत्ति होना रूप कार्य बिना ईश्वर के होना स्वीकार किया अतः पूर्वोक्त कथन अनैकांतिक होता है]

इस प्रकार ईश्वर को जगतकर्ता सिद्ध करने में दिये गये कार्यत्वादि हेतु का निरसन हुआ इसी प्रकार महाभूतादि व्यक्त प्रधान चेतन से अधिष्ठित होकर प्राणियों के सुख दुःखादि का निमित्त होता है, क्योंकि वह रूपादि मान है, जैसे वादित्र आदिक, इत्यादि वार्तिककार द्वारा प्रयुक्त हुए अनुमान भी निराकृत हुए समझना चाहिये, क्योंकि वादित्र, वसूला आदि में जिस प्रकार का रूपादिमत्व एवं अनित्यत्व चैतन्य से अधिष्ठित है उस प्रकार का पृथ्वी आदि में नहीं है तथा रुपादिमत्व हेतु का चेतना-

प्रतिबन्धासिद्धेः आशङ्कितविपक्षवृत्तितयाऽनैकान्तिकत्वम् । प्रतिबन्धाभ्युपगमे चेष्टविपरीतसाधनाद्विरुद्धमित्यादि पूर्वोक्तं सर्वमत्रापि योजनीयम् ।

किञ्च, ईश्वरबुद्धे रनित्यत्वप्रसाधनात्तदभिन्नस्येश्वरस्यानित्यत्वप्रसिद्धे स्तस्याप्यपरबुद्धिमदधिष्ठितत्वप्रसङ्गः स्यादित्यनवस्था । तदनधिष्ठितत्वे वा तेनैवानेकान्तो हेतोः ।

यच्चोक्तम्–'सर्गादौ पुरुषाणां व्यवहारः' इत्यादि; तत्रोत्तरकालं प्रबुद्धानामित्येतद्विशेषणमसिद्धम् । न खलु प्रलयकाले प्रलुप्तज्ञानस्मृतयो वितनुकरणाः पुरुषाः सन्ति, तस्यैव सर्वथाऽप्रसिद्धेः । सिद्धौ वा स्वकृतकर्मवशाद्विशिष्टज्ञानान्तरेषु (न्तरो)त्पत्तेस्तेषां कथं वितनुकरणत्वं प्रलुप्तज्ञानस्मृतित्वं वा ? सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादनैकान्तिकश्च हेतुः ।

धिष्ठित के साथ अविनाभाव सिद्ध नहीं है अतः इसमें शंकित विपक्ष वृत्ति होने से अनैकांतिक हेत्वाभासपना भी है । यदि चेतन के साथ रूपादिमत्व हेतु का अविनाभाव मानेंगे तो इष्ट साध्य से विपरीत साध्य सिद्ध होने के प्रसंग प्राप्त होना इत्यादि पूर्वोक्त दोष इस अनुमान में भी आते हैं ।

दूसरी बात यह है कि यदि ईश्वर की बुद्धि को अनित्य सिद्ध करेंगे तो उस बुद्धि से अभिन्न रहने वाला ईश्वर भी अनित्य सिद्ध होता है फिर अनित्य ईश्वर का अन्य कोई बुद्धिमान अधिष्ठायक मानना होगा क्योंकि जो अनित्य होता है वह बुद्धिमान द्वारा ही निर्मित होता है ऐसा यौग के यहां नियम है अतः अनवस्था आती है । अनित्य ईश्वर रूप कार्य को अन्य बुद्धिमान से अधिष्ठित (निर्मित) नही मानते हैं तब तो पूर्वोक्त कार्यत्वादि हेतु स्पष्ट रूप से अनैकांतिक सिद्ध होते हैं ।

पहले जो कहा था कि सर्ग के आदि में पुरुषों का व्यवहार अन्योपदेश पूर्वक होता है इत्यादि इस कथन में "उत्तर कालं प्रबुद्धानां" ऐसा जो विशेषण है वह असिद्ध है, क्योंकि प्रलयकाल में ज्ञान, स्मृति, शरीर और इन्द्रियां जिनकी लुप्त हुई हैं ऐसे पुरुष नहीं हैं, क्योंकि प्रलय की सर्वथा असिद्धि है यदि सिद्ध भी हो तो प्रलयकाल के अनंतर तत्काल ही पुरुषों के अपने कर्मानुसार ज्ञानांतर की उत्पत्ति हो जाती है, अतः उनके शरीर रहितपना, विलुप्तज्ञान, स्मृतिपना मानना कैसे सिद्ध होवेगा ? नहीं हो सकता है, तथा हेतु संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्त वाला होने से अनेकांतिक भी है [अर्थात् सर्ग के आदि में अन्य उपदेश पूर्वक ही कार्य में प्रवृत्ति होती है क्योंकि वह कार्य है, इस अनुमान का कार्यत्व हेतु साध्य से विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि संसारी कार्य अन्य

किञ्च, अन्योपदेशपूर्वकत्वमात्रे साध्ये सिद्धसाध्यता; अनादेर्व्यवहारस्याशेषपुरुषाणामन्योपदेशपूर्वकत्वेनेष्टत्वात्। ईश्वरोपदेशपूर्वकत्वे तु साध्येऽनैकान्तिकता, अन्यथापि तत्सम्भवात्। साध्यविकलता च दृष्टान्तस्य। न चास्योपदेष्टृत्वसम्भवो विमुखत्वान्मुक्तात्मवत्। तच्च वितनुकरणतयोपगमात्प्रसिद्धम्।

'स्थित्वा प्रवृत्तेः' इति चेश्वरेणैवानैकान्तिकम्, स हि क्रमवत्कार्येषु स्थित्वा प्रवर्त्तते न च चेतनान्तराधिष्ठितोऽनवस्थाप्रसङ्गात् इति।

अनयैव दिशा 'सप्तभुवनान्येकबुद्धिमन्निर्मितानि एकवस्त्वन्तर्गतत्वादेकावसथान्तर्गतापवरकवत्' इत्यादिपरकीयप्रयोगोऽभ्यूह्यः। न ह्येकावसथान्तर्गतानामपवरकादीनामेकसूत्रधारनिर्मितत्वनियमः येनेश्वरः सकलभुवनैकसूत्रधारः सिद्ध्येत्, अनेकसूत्रधारनिर्मितत्वस्याप्युपलम्भात्।

उपदेश पूर्वक ही होवे सो बात नहीं है चोरी आदि असत् कार्यों में बिना परोपदेश के भी प्रवृत्ति होती है] तथा यौग को इतना ही इष्ट हो कि कार्य में पुरुष की प्रवृत्ति अन्य उपदेश पूर्वक ही होती है, तो यह सिद्ध साध्यता है। क्योंकि व्यवहार अनादि कालीन है, सभी पुरुषों की कार्य में प्रवृत्ति सामान्यतः अन्य किसी के उपदेश पूर्वक होती है यह बात तो इष्ट है, किन्तु आप अन्योपदेश का अर्थ ईश्वर पूर्वक ही करें और उसी को साध्य बनावे तब तो साध्य में अनैकान्तिकता होगी, क्योंकि अन्य प्रकार से भी उपदेश संभव है, दृष्टांत भी साध्य विकल है। ईश्वर का उपदेश देना भी शक्य नहीं है, क्योंकि वह विमुख है जैसे मुक्तात्मा विमुख होने से उपदेशक नहीं है, उसका विमुखपना शरीर एवं इन्द्रिय रहित स्वीकार करने से प्रसिद्ध ही है। जगत के कार्य चेतानान्तर से अधिष्ठित होकर ही प्रवर्तते हैं ऐसा सिद्ध करते समय 'उद्योत करने' "स्थित्वा प्रवृत्तेः" यह हेतु दिया है किन्तु वह ईश्वर से ही व्यभिचरित है, ईश्वर क्रमिक कार्यों में ठहरकर प्रवृत्ति करता है, किन्तु अन्य चेतन से अधिष्ठित होकर नहीं करता अन्यथा अनवस्था का प्रसंग आयेगा। यहां तक अन्य अन्य ग्रंथकारों द्वारा रचित ईश्वर सिद्धि सम्बन्धी आगम वाक्यों का खंडन हुआ, इसी तरह "सातों भुवन एक बुद्धिमान के द्वारा निर्मित हैं" क्योंकि वे एक वस्तु के अन्तर्गत हैं, जैसे महल के अन्तर्गत कमरे होते है, इत्यादि अनुमान वाक्य भी निराकृत समझना। एक महल के अन्तर्गत जो अनेक कमरे हैं उनको एक सूत्रधार ने ही बनाया हो सो बात नहीं है अतः उसके समान ईश्वर भी सकल भुवन का एक सूत्रधार है ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता, महल के कमरे अनेक सूत्रधार निर्मित भी हो सकते हैं।

एकाधिष्ठाना ब्रह्मादयः पिशाचान्ताः परस्परातिशयवृत्तित्वात्, इह येषां परस्परातिशयवृत्तित्वं तेषामेकायत्तता दृष्टा यथेह लोके गृहग्रामनगरदेशाधिपतीनामेकस्मिन्सार्वभौमनरपतौ, तथा भुजगरक्षोयक्षप्रभृतीनां परस्परातिशयवृत्तित्वं च, तेन मन्यामहे तेषामेकस्मिन्नीश्वरे पारतन्त्र्यम्; इत्यसम्यक्; अत्र हि 'ईश्वराख्येनाधिष्ठायकेनैकाधिष्ठानाः' इति साध्येऽनैकान्तिकता हेतोर्विपर्यये बाधकप्रमाणाभावात् प्रतिबन्धासिद्धेः। दृष्टान्तस्य च साध्यविकलता। 'अधिष्ठायकमात्रेण साधिष्ठानाः' इति साध्ये सिद्धसाध्यता, स्वर्निकायस्वामिनः शक्रादेर्भवान्तरोपात्तादृष्टस्य चाधिष्ठायकतयाभ्युपगमात्।

यौग–ब्रह्मा से लेकर पिशाच तक जितनी देवयोनि हैं वे सब एकाधिष्ठान स्वरूप ईश्वराधिष्ठित हैं, क्योंकि परस्पर में अतिशय वृत्ति वाले हैं इह लोक में जिनका परस्पर में अतिशयितपना होता है वे एक प्रमुखाधीन देखे जाते हैं, जैसे गृहपति, ग्रामपति, नगरपति आदि एक सार्वभौम (चक्रवर्ती के) अधीन हैं, ऐसे ही नागेन्द्र, राक्षस, यक्ष आदि में परस्पर में अतिशयपना है, इसलिये एक ईश्वर में अधिष्ठित हैं ऐसा हम मानते हैं ?

जैन–यह कथन अयुक्त है इस अनुमान में एक ईश्वर नाम के अधिष्ठाता से अधिष्ठित ब्रह्मादिक होते हैं ऐसा जो साध्य है, उसमें हेतु की अनैकांतिकता है, क्योंकि इस हेतु के साथ अविनाभाव नहीं होने से विपक्ष में जाना सम्भावित है, कोई बाधक प्रमाण नहीं है। तथा ब्रह्मादिक अधिष्ठान मात्र से अधिष्ठित हैं ऐसा साध्य बनाते हैं तो सिद्ध साध्यता है क्योंकि हम लोग स्वर्ग के देवों का स्वामी इन्द्र को पूर्वभव के पुण्यरूप अधिष्ठायक से अधिष्ठित मानते ही हैं इस प्रकार ईश्वर ही अकेला सकल जगत का कर्ता है ऐसा कथन किसी भी निर्दोष प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है अतः ईश्वर के अनादि मुक्तपना किस प्रकार सिद्ध हो सकता है जिससे कि उसको सर्वज्ञ माना जाय।

अब यहां जगत कर्तृत्व का निरसन करने वाला अनुमान उपस्थित करते हैं– पृथ्वी, पर्वत आदिक पदार्थ एक एक स्वभाव पूर्वक नहीं होते हैं, क्योंकि विभिन्न देश, विभिन्न काल एवं विभिन्न आकार वाले हैं जो इस प्रकार हैं वे ऐसे ही होते हैं, जैसे– घट, पट, मुकुट, शकट विभिन्न विभिन्न देश आदि विशेष रूप रहते हैं, अतः एक स्वभाव पूर्वक नहीं होते हैं, पृथ्वी पर्वत आदि पदार्थ भी भिन्न भिन्न देश, काल और आकार से युक्त हैं अतः ये भी एक स्वभाव पूर्वक नहीं हैं। यह विभिन्न देश काल आकारत्व हेतु असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि इन पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष आदि पक्ष में, भिन्न

ततो महेश्वरस्याशेषजगत्कर्तृत्वप्रसाधकस्यानवद्यप्रमाणस्यासम्भवात् कुतोऽनादिमुक्तत्वसिद्धिर्यतोऽनाद्यशेषज्ञत्वमस्य स्यात्? प्रयोगः—क्षित्यादिकं नैकैकस्वभावभावपूर्वकं विभिन्नदेशकालाकारत्वात्, यदित्थं तदित्थम् यथा घटपटमकुटशकटादि, विभिन्नदेशकालाकारं चेदम्, तस्मान्नैकैकस्वभावभावपूर्वकमिति। न चेदमसिद्धं साधनम्; उर्वीपर्वततर्वादौ धर्मिणि विभिन्नदेशकालाकारत्वस्य सुप्रसिद्धत्वात्। नाप्यनैकान्तिकं विरुद्धं वा; विपक्षस्यैकदेशे तत्रैव वा वृत्तेरभावात्।

नन्वेकस्याप्यनेककार्यकरणकुशलस्य कर्तुर्विचित्रसहकारिसान्निध्ये विचित्रकार्यकारित्वं दृश्यते, अतोऽनेकान्तः; इत्यप्यनुपपन्नम्; तत्राप्येकस्वभावत्वस्यासिद्धेः, स्वरूपमभेदयतां सहकारित्वस्यासम्भवप्रतिपादनात्। नापि कालात्ययापदिष्टम्; प्रत्यक्षागमाभ्यां पक्षस्याबाध्यमानत्वात्। न हि क्षित्यादौ विचित्रकार्ये प्रत्यक्षेणैकैकस्वभावः कर्त्तोपलभ्यते, तस्यातीन्द्रियतया प्रत्यक्षागोचरत्वस्य प्रागेव प्रतिपादनात्, आगमस्यापि तत्प्रतिपादकस्य प्रागेव प्रतिषेधात्। नापि सत्प्रतिपक्षम्; विपरीतार्थोपस्थापकस्यानुमानान्तरस्याभावात्, कार्यत्वादिहेतूनां चात्रैवानेकदोषदुष्टत्वप्रतिपादनादिति।

भिन्न देश, काल आकारत्व प्रत्यक्ष से ही प्रसिद्ध है। तथा यह हेतु अनैकांतिक भी नहीं है और विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि विपक्ष के देश में रहना या मात्र विपक्ष में रहना इत्यादि हेतु सम्बन्धी दोषों से रहित है।

यौग—एक पुरुष भी अनेक कार्य करने में कुशल होता है, उसको जब विचित्र विचित्र सहकारी कारण मिलते हैं तब वह अनेक कार्य करता ही है, अतः आपके अनुमान अनेकान्तिक दोष आता है।

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, एक पुरुष में एक स्वभाव नहीं है किन्तु अनेक स्वभाव हैं, तथा यह भी बात है कि जिसके स्वरूप में सर्वथा अभेद (एकत्व) रहता है उसमें सहकारी कारणों की सम्भावना होना अशक्य है ऐसा पहले सिद्ध कर चुके हैं। यह विभिन्न देश काल आकारत्व हेतु कालात्यापादिष्ट भी नहीं है, क्योंकि इस हेतु के पक्ष में प्रत्यक्ष और आगम प्रमाण से बाधा नहीं आती है। पृथ्वी आदि अनेक कार्यों का कर्ता एक ईश्वर है, ऐसा प्रत्यक्ष से प्रतीत नहीं होता है क्योंकि अतीन्द्रिय होने से ईश्वर प्रत्यक्ष के अगोचर है ऐसा पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं, और ईश्वर का प्रतिपादन करने वाले आगम का खण्डन हो चुका है। यह हेतु सत्प्रतिपक्षी भी नहीं है, क्योंकि साध्य से विपरीत अर्थ को सिद्ध करने वाला कोई अनुमान नहीं है कार्यत्वादि हेतु वाले अनुमान अनेक दोषों से युक्त है ऐसा पहले ही सिद्ध कर दिया है। इस प्रकार जगत् कर्तृत्वरूप ईश्वर की सिद्धि नहीं होती है।

॥ ईश्वरवाद समाप्त ॥

ईश्वरवाद का सारांश

पूर्वपक्ष—नैयायिक वैशेषिक सृष्टि कर्ता को मानते हैं उनका कहना है कि सर्वज्ञ कर्मों का नाश करके बनता हो ऐसी बात नहीं है, एक अनादि महेश्वर है वही सर्वज्ञ है, उसकी सर्वज्ञता जगत की रचना से सिद्ध होती है पृथ्वी, पर्वत, वृक्षादि सभी पदार्थ किसी बुद्धिमान के द्वारा निर्मित है, क्योंकि वे कार्य हैं, जैसे घटादि कार्य हैं, यह अनुमान हमारे अनादि ईश्वर को सिद्ध कर देता है, पृथ्वी आदि हमेशा से रहते हैं तो उसका निर्माता भी हमेशा से रहना चाहिये। कोई जैनादि कहे कि घटादि का कर्ता सशरीरी है वैसे ही ईश्वर होना चाहिये सो बात नहीं, कार्य करने के लिये शरीर की जरूरत नहीं होती वहां तो ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न की जरूरत होती है पृथ्वी आदि कार्य है यह बात उनके अवयव युक्त होने के कारण सिद्ध होती है, जो सावयव होता है वह कार्य है जैसे प्रासाद। पृथ्वी आदि का सावयव पना और महल आदि का सावयवपना भिन्न भिन्न है ऐसा भी नहीं समझना। यदि कहे कि अकृष्ट प्रभव तृणादि का कर्ता नही है, सो बात भी नहीं, इनमें जो कर्ता का ग्रहण नहीं होता उसका कारण वह अतीन्द्रिय है। आप पृथ्वी आदि के परमाणुओं को कर्त्ता मानते हैं किन्तु ऐसा करने से इन पृथ्वी आदि का अदृष्ट नामा कारण असिद्ध हो जाता है। स्थावरादि पदार्थों का बुद्धिमान कर्त्ता नहीं है इसलिये दिखायी नहीं देता है अथवा कर्त्ता है तो भी वह अनुपलब्धि लक्षण वाला है (अदृश्य) इसलिये दिखाई नहीं देता है इस तरह कर्ता के बारे में संशय रहने से कार्यत्व हेतु संदिग्ध अनेकान्तिक सिद्ध करोगे तो सभी अनुमान के हेतु इसी दोष के शिकार बन जायेंगे, जहां कहीं भी अग्नि न दिखकर धूम दिखेगा तो शंका होगी कि क्या मालूम यहां पर अग्नि नहीं दिखायी देती वह नहीं है इसलिये अथवा अनुपलब्धि स्वभाव वाली है इसलिये ? इत्यादि रूप से प्रसिद्ध हेतु भी गलत ठहरेंगे। यह सर्वज्ञ करुणा के सागर है अतः जगत को रचता है तो सुखी प्राणी को बनाते दुखी को काहे को बनाया ? सो उसमें बड़ा रहस्य छिपा हुआ है प्राणिओं का जो अदृष्ट पुण्य पाप है उनको भोगे बिना मोक्ष नहीं मिलता अर्थात् पुण्य पापादि भोग कर ही नष्ट हो सकते हैं अन्यथा नहीं, इसीलिये तो जल्दी से वे प्राणी उन्हें भोग कर नष्ट करें इस हेतु से ईश्वर भोग के साधनभूत पदार्थों को दोनों सुख दुख के रूप

से निर्माण करता है (यदि सुख साधन ही बनाता तो दुख रूप पाप अदृष्ट का नाश न होता फिर मोक्ष भी कैसे मिलता) यह जैन का कहना भी ठीक नहीं कि सारा काम अदृष्ट ही करे क्योंकि अदृष्ट अचेतन है, वार्तिकाकार अविद्धकर्ण, प्रशस्तमति, उद्योतकर इत्यादि महान व्यक्तियों ने भी उस ईश्वर का अनादि सर्वज्ञपना स्वीकार किया है।

उत्तरपक्ष–जैन इनके मंतव्य का निरसन करते हैं, आप यौग के कार्यत्व और सावयवत्व हेतु सदोष हैं। पहले आपने कार्यत्व हेतु से बुद्धिमान कर्ता को सिद्ध किया, फिर कार्यत्व को भी सावयवत्व के द्वारा सिद्ध किया अब यह बता दो कि सावयवत्व किसे कहते हैं ? अवयवों के साथ रहना या अवयवों से उत्पन्न होना ? अवयवों के साथ रहना कहो तो सामान्य के साथ व्यभिचार है क्योंकि वह अवयवों के साथ रहकर भी किसी का कार्य नहीं है, इस तरह दूसरा पक्ष भी बेकार है। आप ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न को ही कार्य का कर्ता मानते हैं किन्तु वह आपको ही घातक होगा। मुक्तात्मा में ज्ञानादि हैं वे भी सृष्टि रचना शुरू कर देगें ? तथा ऐसा बिना शरीर के कार्य करते हुए जगत में देखा भी नहीं जाता है। बुद्धिमान में बुद्धि व्याप्त होकर रहती है या अव्याप्त यह भी एक जटिल प्रश्न है ? आपने कहा कि अदृष्ट की सहायता से कार्य करता है सो उनके परतंत्रता का ही सूचक है, धूमादि सभी हेतुओं को संदिग्धानैकान्तिक बताना अज्ञानता है, धूमादि हेतु सामान्य अग्नि को ही सिद्ध करते हैं, न कि विशेष किसी अग्नि को, सारांश यह है कि सामान्य हेतु विशेष साध्य को सिद्ध नहीं करता। आपने कार्यत्व सामान्य तो हेतु दिया और उससे विशेष बुद्धि-मान कारण रूप (ईश्वर) साध्य को सिद्ध करना चाहा सो कैसे संभव हो ? कार्यत्व सामान्य तो सामान्य कारण मात्र को सिद्ध करता है, इसी तरह का कार्य कारण भाव सभी वादी प्रतिवादिओं ने स्वीकार किया है। ईश्वर की बुद्धि को क्षणिक कहते हो तो उसको बनाने वाला कौन है ? अन्य बुद्धिमान है तो अनवस्था होगी और स्वतः ही बुद्धि पैदा होती है कहो तो उसी से कार्यत्व हेतु व्यभिचारी हुआ ? क्योंकि बुद्धि, कार्यरूप होते हुए भी अपने आप उत्पन्न हुई ! फिर तो सारे ही पृथ्वी आदि पदार्थ स्वतः क्यों न होवे। यदि बुद्धि को अक्षणिक मानों तो शब्द को क्षणिक सिद्ध करने वाला अनुमान गलत ठहरेगा अर्थात् "शब्द क्षणिक है, हमारे प्रत्यक्ष होकर अमूर्त्त द्रव्य का विशेष गुण है" यह जो अनुमान है इसका हेतु अनेकान्तिक है क्योंकि इसमें तो जो

हमारे प्रत्यक्ष होकर अमूर्त द्रव्य का विशेष गुण होता है उसे क्षणिक सिद्ध किया है और ईश्वर की बुद्धि अमूर्त्त द्रव्य का विशेष गुण होते हुए भी उसे नित्य मान दिया सो व्यभिचार हुआ।

अचेतन द्रव्य चेतन से अधिष्ठित होकर ही कार्य करें ऐसा नियम नहीं है चेतन भी चेतन से अधिष्ठित होकर कार्य करते हैं जैसे पालकी ढोने वाले पुरुष अपने स्वामी के अधिष्ठित रहते हैं यह भी कोई जरूरी नहीं कि कारण सामग्री का पूरा ज्ञान होने के बाद ही कार्य करते हैं, हम लोगों को तो पूरी सामग्री का बोध होना ही संभव नहीं, क्योंकि कारण सामग्री से परमाणु अदृष्टादि तो कभी हमारे ज्ञान के विषय हो ही नहीं सकते। तुमने कहा था कि ईश्वर परम दयालु है, किन्तु वह क्या करे जीवों के अदृष्ट के अनुसार उन्हें सुख दुख आदि सामग्री को पैदा करना पड़ता है सो ऐसे क्यों? क्या ईश्वर आधीन वह अदृष्ट नहीं है? उस अदृष्ट को ही पाप रूप क्यों बनावें? सभी कार्य को एक ही करें सो भी हटाग्रह गलत है, एक कार्य को एक व्यक्ति भी करता है जैसे वस्त्र को जुलाहा बनाता है एक व्यक्ति अनेक कार्यों को भी जैसे कुंभकार घड़ा मटकी सकोरादि को बनाता है, अनेक मिलकर एक कार्य करना भी कहा है जैसे चार पुरुष एक पालकी ढोने का कार्य करते है। तथा ईश्वर यदि कार्य करने में स्वतः समर्थ है तो एक क्षण में ही सारे कार्य कर डालेगा, किन्तु ऐसा है नहीं, सहकारी की अपेक्षा लेता है तो वे सहकारी कारण ईश्वर निर्मित हैं अथवा नहीं? ईश्वर निर्मित हैं तो वही एक साथ कार्य करना रूप आपत्ति खड़ी है और ईश्वर के द्वारा निर्मित नहीं है तो वही कार्यत्व हेतु व्यभिचारी हुआ क्योंकि सहकारी तो कार्य होते हुए भी ईश्वर कृत नहीं है। इस प्रकार ईश्वर अनादि निधन सिद्ध नहीं हुआ, वह तो आवरण कर्म के नाश करने से ही सिद्ध होता है वह कोई एक नहीं, न अनादि है जो कोई भी अन्य जीव अपने पुरुषार्थ से कर्म को नष्ट करेगा वह सर्वज्ञ बनेगा। इस तरह सृष्टि रचना और उसका कर्त्ता ईश्वर दोनों ही खण्डित हुए। सृष्टि तो अपने आप स्वभाव से अनादि निधन है और ईश्वर (भगवान सर्वज्ञ) कर्मों का नाश करके होते हैं यह बात निर्विवाद सिद्ध हुई।

।। ईश्वरवाद का सारांश समाप्त ।।

ननु साधूक्तमावरणापाये सर्वज्ञत्वमिति । तत्तु प्रकृतेरेव अत्रैवावरणसम्भवात्, नात्मनस्तस्यावरणाभावात् "प्रधानपरिणामः शुक्लं कृष्णं च कर्म" [ ] इत्यभिधानात् । निखिलजगत्कर्तृत्वाच्चास्या एवाशेषज्ञत्वमस्तु; तदेतदप्यसमीक्षिताभिधानम्; कर्मणः प्रधानपरिणामताप्रतिषेधात् सकलजगत्कर्तृत्वस्य चासिद्धेः । ननु प्रकृतिप्रभवैवेयं जगतः सृष्टिप्रक्रिया, तत्कथं तस्यास्तत्कर्तृत्वासिद्धिः ? तथा हि—

> "प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः ।
> तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥"

[सांख्यका० २१]

सांख्य–जैन ने उचित ही कहा कि आवरण के अपाय होने पर सर्वज्ञता प्रगट होती है । किन्तु वह प्रकृति के होती है, क्योंकि इसी पर आवरण आना संभव है, आत्माके नहीं, उसका भी कारण यह है कि आत्माके आवरण होना असंभव है । कहा भी है कि प्रकृति के परिणाम कर्म कहते हैं, उसके कृष्ण कर्म और शुक्ल कर्म ऐसे दो भेद हैं । तथा सकल जगत का कर्त्ता होने से प्रकृति के ही सर्वज्ञता सिद्ध होती है ।

जैन–यह कथन अविचार पूर्ण है, कर्म में प्रधान परिणाम होने का प्रतिषेध कर चुके हैं, तथा इसके सकल जगत के कर्त्तापन की भी असिद्धि है ।

सांख्य–यह सृष्टि की प्रक्रिया प्रधान से ही प्रसृत है, उसके कर्त्तृत्वकी असिद्धि किसप्रकार कर सकते हैं ? सृष्टि के विषयमें कहा है कि—

> प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्चषोडशकः ।
> तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंच भूतानि ॥१॥

अर्थ–प्रकृति से महान् (बुद्धि) महानसे अहंकार, अहंकार से सोलह गण सोलह गण से पंचभूत प्रादुर्भूत होते हैं । अर्थात् सर्व प्रथम प्रकृति से विषय का

प्रथमं हि प्रकृतेर्महान्–विषयाध्यवसायलक्षणा बुद्धिरुत्पद्यते। बुद्धेश्चाहंकारोऽहं सुभगोऽहं दर्शनीय इत्याद्यभिमानलक्षणः। अहङ्कारात्पञ्च तन्मात्राणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकानि, इन्द्रियाणि चैकादश पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणलक्षणानि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणि-पादपायूपस्थसंज्ञानि, मनश्च सङ्कल्पलक्षणम्–'भोजनार्थं हि तत्र गृहे यास्यामि किं दधि भविष्यति गुडो वा भविष्यति' इत्येवं सङ्कल्पवृत्तिर्मनः। पञ्चभ्यश्च तन्मात्रेभ्यः पञ्च भूतानि—शब्दादाकाशं, स्पर्शाद्वायु, रूपात्तेजः, रसादापः, गन्धात्पृथ्वीति। पुरुषश्चेति। पञ्चविंशतितत्त्वानि।

प्रकृत्यात्मकाश्चैते महदादयो भेदा; न त्वऽतोऽत्यन्तभेदिनो लक्षणभेदाभावात्। तथाहि—

"त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्॥"

[सांख्यका० ११]

अध्यवसाय करने वाली बुद्धि (ज्ञान) उत्पन्न होती है, उससे अहंकार होता है, वह अहंकार मैं सुभग हूं, इत्यादि अभिमान स्वरूप हुआ करता है। अहंकार से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधात्मक पांच तन्मात्राएँ, श्रोत्र, स्पर्शन, चक्षु, जिह्वा, घ्राण ये पांच बुद्धी-न्द्रियां, वचन, हस्त, पाद, पायु (जननेन्द्रिय) उपस्थ (योनि) ये पांच कर्मेन्द्रियां, संकल्प स्वरूप मन जो संकल्प कराता है कि भोजनके लिये उस घरमें जाऊंगा उसमें भोजन में गुड़ होगा या दही होगा इत्यादि, ये सब एकादश इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं। पांच तन्मात्राओंसे पंचभूत पैदा होते हैं शब्द तन्मात्रासे आकाश, स्पर्शसे वायु, रूपसे अग्नि, रससे जल, एवं गंधसे पृथिवी आविर्भूत होती है। ये प्रधान स्वरूप २४ तत्त्व हैं पच्चीसवां पुरुषतत्त्व है।

ये महान आदि भेद प्रकृत्यात्मक हैं इनमें लक्षण भेद का अभाव होने से अत्यन्त भिन्नता नहीं पायी जाती है, आगे इसीको स्पष्ट करते हैं–प्रधान त्रिगुणात्मक होता है अर्थात् सत्व रज और तमोगुणयुक्त होता है, तथा यह प्रधान अविवेकी अर्थात् प्रकृतिसे अभिन्न हैं, क्योंकि कारण से कार्य अभिन्न ही होता है, तथा विषय अर्थात् ज्ञानका विषय है, सामान्य है अर्थात् सर्व पुरुषोंका भोग्य है, अचेतन अर्थात् जड़ है, प्रसवधर्मी अर्थात् बुद्धि आदिको उत्पन्न करने वाला है, किन्तु पुरुष (आत्मा) इससे विपरीत है अर्थात् सत्वादि गुण रहित, विवेकी इत्यादि स्वभाव वाला है।

लोके हि यदात्मकं कारणं तदात्मकमेव कार्यमुपलभ्यते यथा कृष्णैस्तन्तुभिरारब्धः पटः कृष्णः। एवं प्रधानमपि त्रिगुणात्मकम्, तथा बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रेन्द्रियभूतात्मकं व्यक्तमपि। तथाऽविवेकि—'इमे सत्वादय इदं च महदादि व्यक्तम्' इति पृथक्कर्तुं न शक्यते। किन्तु 'ये गुणास्तद्व्यक्तं यद्व्यक्तं ते गुणाः' इति। तथा व्यक्ताव्यक्तद्वयमपि विषयो भोग्यस्वभावत्वात्। सामान्यं च सर्वपुरुषाणां भोग्यत्वात्पण्यस्त्रीवत्। अचेतनात्मकं च सुखदुःखमोहावेदकत्वात्। प्रसवधर्मि तथाहि–प्रधानं बुद्धिं जनयति, बुद्धिरप्यहङ्कारम्, अहङ्कारोपि तन्मात्राणीन्द्रियाणि चैकादश, तन्मात्राणि च महाभूतानीति।

प्रकृतिविकृतिभावेन परिणामविशेषाल्लक्षणभेदोप्यविरुद्धः। यथोक्तम्—

"हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्।
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्॥"

[सांख्यका० १०]

लोकमें देखा जाता है कि जिसरूप कारण होता है उसीरूप कार्य उपलब्ध होता है, जिसप्रकार कृष्ण तंतुओंसे बना हुआ पट कृष्ण रहता है। इसीप्रकार प्रधान भी त्रिगुणात्मक है, तथा व्यक्त प्रधान भी बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रायें, इन्द्रियां पंचभूत इन रूप है। ये सत्वादि गुण हैं और यह महदादि व्यक्त है ऐसा विभाग करना अशक्य होनेसे प्रधान को अविवेकी कहते हैं। प्रधानमें जो गुण है वही व्यक्त है और जो व्यक्त है वही गुण है अतः विवेचना रहित होनेके कारण यह अविवेकी है। सर्व पुरुषोंको भोग्य होनेसे पण्य स्त्री (वेश्या) के समान प्रधान को सामान्य कहा जाता है। सुख, दुःख एवं मोह का वेदन नहीं करने से प्रधान अचेतन है। प्रधान प्रसव धर्मी भी है, अर्थात् प्रधान बुद्धिको उत्पन्न करता है, बुद्धि अहंकारको, अहंकार तन्मात्राओं को और ग्यारह इन्द्रियोंको उत्पन्न करता है, और तन्मात्रायें ही पंच महाभूतों को [पृथ्वी जल वायु अग्नि आकाश को] उत्पन्न करती हैं।

इन महदादिमें प्रकृतिका विकृतिभाव होनेके कारण परिणाम विशेषसे लक्षणों का भेद होना भी अविरुद्ध है, जैसा कि कहा है—व्यक्त प्रधान हेतुमत् है, अनित्य, अव्यापि, क्रियावान, अनेक, आश्रित, लिंग, सावयव, एवं परतन्त्र है, इससे विपरीत अव्यक्त प्रधान है। व्यक्त प्रधान ही कारणवान् [हेतुमान] है, आगे इसीको स्पष्ट करते हैं—प्रधानसे हेतुमान बुद्धि आविर्भूत होती है, बुद्धिसे अहंकार, अहंकार से पंच

व्यक्तमेव हि कारणवत्; तथाहि–प्रधानेन हेतुमती बुद्धिः, बुद्ध्या चाहङ्कारः, अहङ्कारेण पञ्च तन्मात्राण्येकादश चेन्द्रियाणि, भूतानि तन्मात्रैः। न त्वेवमव्यक्तम्–तस्य कुतश्चिदनुत्पत्तेः। तथा व्यक्तमनित्यम् उत्पत्तिधर्मकत्वात्, नाव्यक्तम् तस्यानुत्पत्तिमत्त्वात्। यथा च प्रधानपुरुषौ दिवि चान्तरिक्षेऽत्र सर्वत्र व्यापितया वर्तेते न तथा व्यक्तम्। यथा च संसारकाले त्रयोदशविधेन बुद्ध्यऽहङ्कारेन्द्रियलक्षणेन संयुक्तं सूक्ष्मशरीरादिकं व्यक्तं संसरति, नैवमव्यक्तं तस्य विभुत्वेन सक्रियत्वायोगात्। बुद्ध्यहङ्कारादिभेदेन चानेकविधं व्यक्तम्, नाव्यक्तम् तस्यैकस्यैव सतो लोकत्रयकारणत्वात्। आश्रितं च व्यक्तम्, यद्यस्मादुत्पद्यते तस्य तदाश्रितत्वात्। न त्वेवमव्यक्तम् तस्याकार्यत्वात्। लिङ्गं च 'लयं गच्छति' इति कृत्वा, प्रलयकाले हि भूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तन्मात्राणीन्द्रियाणि चाहङ्कारे, अहङ्कारो बुद्धौ, बुद्धिश्च प्रधाने। न चाव्यक्तं क्वचिदपि लयं गच्छतीति तस्याविद्यमानकारणत्वात्। सावयवं च व्यक्तम् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धात्मकैरवयवैर्युक्तत्वात्। न त्वेवमव्यक्तम् प्रधानात्मनि शब्दा-

---

तन्मात्रायें और ग्यारह इन्द्रियां एवं उन्हीं तन्मात्राओंसे पंचभूत होते हैं, अतः उत्तरोत्तर हेतुमान होनेसे प्रधानको हेतुमान कहते हैं। अव्यक्त प्रधान इस तरह का नहीं है, क्योंकि उसकी किसी से उत्पत्ति नहीं हुई है। तथा उत्पत्ति धर्मवाला होनेसे व्यक्त प्रधान तो अनित्य है और अव्यक्त प्रधान उत्पत्तिमान नहीं होनेसे नित्य है। तथा जिसप्रकार प्रधान और पुरुष स्वर्गमें आकाशमें, यहां पर सर्वत्र व्याप्त होकर रहते हैं उस प्रकार व्यक्त नहीं रहता। जिसप्रकार संसार कालमें बुद्धि अहंकार एवं एकादश इन्द्रियां इन तेरह प्रकार के लक्षण से संयुक्त सूक्ष्म शरीरादि को व्यक्त प्रधान प्राप्त होता है उसप्रकार अव्यक्त प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वह व्यापक होनेसे सक्रिय नहीं हो सकता। बुद्धि अहंकारादि के भेद से व्यक्त अनेक विध है, अव्यक्त ऐसा नहीं है वह एक ही लोकत्रयका कारण है। व्यक्त आश्रित रहता है, क्योंकि जो जिससे उत्पन्न होता है वह उसके आश्रित रहता ही है। अव्यक्त अकार्य होने से ऐसा नहीं है। व्यक्त लिंग भी कहलाता है, "लयं गच्छति इति लिंगं" अर्थात् प्रलय कालमें पंचभूत तन्मात्राओंमें विलीन हो जाते हैं, तन्मात्रायें और इन्द्रियां अहंकारमें विलीन होते हैं, अहंकार बुद्धि में और बुद्धि प्रधानमें विलीन होती है अतः व्यक्त को लिंग कहते हैं। किन्तु अव्यक्त किसी में भी विलीन नहीं होता क्योंकि उसका कारण अविद्यमान है। व्यक्त अवयव सहित होता है, क्योंकि वह शब्द स्पर्श रूप रस गंधात्मक अवयवों से युक्त हुआ करता है। अव्यक्तमें अवयव नहीं होते, क्योंकि अव्यक्त प्रधान में शब्दादि की उपलब्धि नहीं पायी जाती है। जिसप्रकार पिताके जीवित रहते हुए पुत्र स्वतंत्र

दीनामनुपलब्धेः। यथा च पितरि जीवति पुत्रो न स्वतन्त्रो भवति तथा व्यक्तं सर्वदा कारणायत्तत्वात्परतन्त्रम्। न त्वेवमव्यक्तं तस्य नित्यमकारणाधीनत्वात्।

ननु प्रधानात्मनि कुतो महदादीनां सद्भावसिद्धिर्यतः प्रागुत्पत्तेः सदेव कार्यमिति चेत्;

"असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥"

[सांख्यका० ९]

इति हेतुपञ्चकात्। यदि हि कारणात्मनि प्रागुत्पत्तेः कार्यं नाभविष्यत्तदा तन्न केनचिदकरिष्यत। यदसत्तन्न केनचित्क्रियते यथा गगनाम्भोरुहम्, असच्च प्रागुत्पत्तेः परमते कार्यमिति। क्रियते च तिलादिभिस्तैलादिकार्यम्, तस्मात्तच्छक्तितः प्रागपि सत्, व्यक्तिरूपेण तु कापिलैरपि प्राक् सत्वस्यानिष्टत्वात्।

नहीं होता उसप्रकार व्यक्त सर्वदा कारणाधीन होनेसे परतंत्र रहता है। अव्यक्त ऐसा नहीं है, क्योंकि वह नित्य होनेसे कारणाधीन नहीं है।

शंका–प्रधान स्वरूप में महदादिके सद्भावकी सिद्धि किस हेतु से होती है जिससे उत्पत्तिके पहले कार्य सद् रूप ही कहा जाता है ?

समाधान–पांच हेतु से सद्रूपकार्यकी सिद्धि होती है, अर्थात् असत् की उत्पत्ति नहीं की जा सकती है, प्रतिनियत कार्यके लिये प्रतिनियत कारण को ग्रहण किया जाता है, सभी कारणोंसे सभी कार्योंकी उत्पत्ति नहीं देखी जाती है, समर्थ कारण ही शक्य कार्यको करता है अशक्यको नहीं, और पदार्थोंमें कार्यकारणभाव देखा जाता है। यदि उत्पत्तिके पहले कारणमें कार्य नहीं होगा तो वह किसी के द्वारा किया नहीं जा सकता। जो असत् होता है वह किसीके द्वारा नहीं किया जाता जैसे आकाश का पुष्प, जैनादिप्रवादीके यहां उत्पत्तिके पहले कार्यको असत् माना है अतः वह किसीके द्वारा नहीं किया जा सकता। किन्तु तिल आदिके द्वारा तैलादिकार्य किया जाता है अतः वह शक्तिसे पहले भी सद्रूप रहता है, हां व्यक्तिरूपसे पहले उसका सत्व मानना तो हम सांख्यको भी अनिष्ट है।

यदि कार्य असत् होता तो पुरुषों द्वारा प्रतिनियत उपादानका ग्रहण नहीं होता। क्योंकि जिसप्रकार शालि आदि का असत्व शालि आदि के बीजादि में है उस

यदि चासद्भवेत्कार्यं तर्हि पुरुषाणां प्रतिनियतोपादानग्रहणं न स्यात् । यथाहि–शालिबीजादिषु शाल्यादीनामसत्त्वं तथा कोद्रवबीजादिष्वपि । तथा च कोद्रवबीजादयोपि शालिफलार्थिभिरुपादीयेरन् । न चैवम्, तस्मात्तत्र तत्कार्यमस्तीति गम्यते ।

यदि चासदेव कार्यं सर्वस्मात्तृणपांशुलोष्ठादिकात्सर्वं सुवर्णरजतादि कार्यं स्यात्, तादात्म्यविगमस्य सर्वस्मिन्नविशिष्टत्वात् । न च सर्वं सर्वतो भवति तस्मात्तत्रैव तस्य सद्भावसिद्धिः ।

ननु कारणानां प्रतिनियतेष्वेव कार्येषु प्रतिनियताः शक्तयः । तेन कार्यस्यासत्त्वाविशेषेपि किञ्चिदेव कार्यं कुर्वन्ति; इत्यप्यनुत्तरम्; शक्ता अपि हि हेतवः शक्यक्रियमेव कार्यं कुर्वन्ति नाशक्यक्रियम् । यच्चासत्तन्न शक्यक्रियं यथा गगनाम्भोरुहम्, असच्च परमते कार्यमिति ।

प्रकार कोद्रव आदि के बीजादि में भी है इसलिये शालि धान्यके इच्छुक पुरुष कोद्रव आदिके बीजोंको भी ग्रहण कर सकते हैं ? किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता, अतः शालि बीजमें शालि अंकुर रूप कार्य है ऐसा निश्चित होता है ।

तथा यदि कार्यको असत् ही माना जाय तो तृण, धूल, लोष्ट आदि सभीसे सुवर्ण रजत आदि सभी कार्य सम्पन्न होगा, क्योंकि तादात्म्यका अभाव होनेसे सब कारणमें समानता रहेगी । किन्तु सब कारणसे सब कार्य नहीं होता अतः उसी एक कारणमें उसके कार्यका सद्भाव सिद्ध होता है ।

शंका–कारणोंकी प्रतिनियतकार्योंमें ही प्रतिनियत शक्तियां हुआ करती है अतः कार्यके असत् रहते हुए भी कोई एक कारण किसी एक कार्यको ही करता है ?

समाधान–यह कथन अयुक्त है, शक्त कारण शक्य कार्यको ही करते हैं, अशक्य कार्यको नहीं, जो असत् होता है वह अशक्य कार्य है जैसे गगनकुसुम, परवादी के यहां कार्यको असत् माना है अतः वह अशक्यकार्य है ।

बीजादिके कारणभावसे भी सत्कार्यवादकी सिद्धि होती है, क्योंकि कार्यका असत्व होता तो बीजादिमें कारण भाव नहीं देखा जाता । इसीको स्पष्ट करते हैं, कार्य अविद्यमान रहनेसे बीजादिमें कारणपना नहीं है, जैसे खरविषाण अविद्यमान रहनेसे किसीमें उसका कारणभाव नहीं देखा जाता । अतः उत्पत्तिके पहले कारणमें कार्य रहता है ऐसा सिद्ध होता है ।

बीजादेः कारणभावाच्च सत्कार्यं कार्यासत्त्वे तद्योगात् । तथाहि—न कारणभावो बीजादेः अविद्यमानकार्यत्वात्खरविषाणवत् । तत्सिद्धमुत्पत्तेः प्राक्कारणे कार्यम् ।

तच्च कारणं प्रधानमेवेत्यावेदयति हेतुपञ्चकात्—

"भेदानां परिमाणात्समन्वयाच्छक्तितः प्रवृत्तेश्च ।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूप्यस्य ।।"

[सांख्यका० १५]

लोके हि यस्य कर्त्ता भवति तस्य परिमाणं दृष्टम् यथा कुलालः परिमितान्मृत्पिण्डात्परिमितं प्रस्थग्राहिणमाढकग्राहिणं च घटं करोति । इदं च महदादि व्यक्तं परिमितं दृष्टम्—एका बुद्धिः, एकोऽहङ्कारः, पञ्च तन्मात्राणि, एकादशेन्द्रियाणि, पञ्चभूतानीति । अतो यत्परिमितं व्यक्तमुत्पादयति तत्प्रधानमित्यवगमः ।

वह कारण प्रधान ही है ऐसा पांच हेतुओंसे प्रतिपादन करते हैं—महदादि भेदोंका परिमाण होनेसे, भेदोंका समन्वय होनेसे शक्तिके अनुसार प्रवृत्ति होनेसे, कार्य-कारणका विभाग होनेसे एवं वैश्वरूपका अविभाग होनेसे कारणमें कार्यका सद्भाव सिद्ध होता है । लोकमें देखा जाता है कि जो जिस कार्यका कर्त्ता होता है वह उसके परि-माणका होता है, जैसे कुंभकार परिमित मृत् पिंडसे परिमित ही प्रस्थग्राही या आढक ग्राही घटको बनाता है । यह महदादि व्यक्त भी परिमित है, एक बुद्धि है, एक अहं-कार है, पांच तन्मात्रायें हैं, ग्यारह इन्द्रियां हैं एवं पंचभूत हैं । अतः निश्चय होता है कि जो परिमित व्यक्तको उत्पन्न कराता है वह प्रधान है ।

भेदोंका समन्वय दिखायी देनेसे भी प्रधान तत्व का अस्तित्व जाना जाता है, जो जिस जातिसे समन्वित उपलब्ध होता है वह तन्मयकारणसे उत्पन्न होता है, जैसे घट, सकोरा आदि भेद मिट्टीरूप जातिसे समन्वित उपलब्ध होते हैं अतः मिट्टी स्वरूप कारणसे उत्पन्न हुए माने जाते हैं यह व्यक्त भी सत्व रज तमो गुण रूप जातिसे समन्वित उपलब्ध होता है अतः तन्मय कारणसे संभूत है । सत्वगुणका कार्य प्रसाद, लाघव, उत्सव, प्रीति आदिक है, रजोगुणका ताप, शोष, उद्वेगादि कार्य है, तमोगुण का कार्य दैन्य, बीभत्स, गौरवादि है । अतः महदादिका प्रसाद, दैन्य, ताप आदि कार्य उपलब्ध होनेसे उनकी प्रधानके साथ अन्वयपनेके सिद्धि होती है ।

इतश्चास्ति प्रधानं भेदानां समन्वयदर्शनात् । यज्जातिसमन्वितं हि यदुपलभ्यते तत्तन्मयकारणसम्भूतम् यथा घटशरावादयो भेदा मृज्जातिसमन्विता मृदात्मककारणसम्भूताः, सत्त्वरजस्तमोजातिसमन्वितं चेदं व्यक्तमुपलभ्यते । सत्त्वस्य हि प्रसादलाघवोद्धर्षप्रीत्यादयः कार्यम् । रजसस्तु तापशोषोद्वेगादयः । तमसश्च दैन्यबीभत्सगौरवादयः । अतो महदादीनां प्रसाददैन्यतापादिकार्योपलम्भात्प्रधानान्वितत्वसिद्धिः ।

इतश्चास्ति प्रधानं शक्तितः प्रवृत्तेः । लोके हि यो यस्मिन्नर्थे प्रवर्त्तते स तत्र शक्तः यथा तन्तुवायः पटकरणे, प्रधानस्य चास्ति शक्तिर्यया व्यक्तमुत्पादयति, सा च निराधारा न सम्भवतीति प्रधानास्तित्वसिद्धिः ।

कार्यकारणविभागाच्च; दृष्टो हि कार्यकारणयोर्विभागः, यथा मृत्पिण्डः कारणं घटः कार्यम् । स च मृत्पिण्डाद्विभक्तस्वभावो घटो मद्योदकादिधारणाहरणसमर्थो न तु मृत्पिण्डः । एवं महदादि कार्यं दृष्ट्वा साधयामः–'अस्ति प्रधानं यतो महदादिकार्यमुत्पन्नम्' इति ।

शक्तिके अनुसार प्रवृत्ति होनेसे भी प्रधानका अस्तित्व सिद्ध होता है, क्योंकि लोकमें देखा जाता है कि जो जिस अर्थमें प्रवृत्त होता है वह उसमें शक्त रहता है, जैसे जुलाहा वस्त्र बुननेमें शक्त रहता है, जिसके द्वारा व्यक्त को उत्पन्न करता है वह शक्ति प्रधानके अवश्य है वह निराधार नहीं रहती, इस तरह प्रधान का अस्तित्व सिद्ध होता है । कार्य कारणके विभागसे भी प्रधान तत्त्व सिद्ध होता है, क्योंकि कार्य और कारणमें विभाग दृष्टिगोचर हो रहा है, जैसे मिट्टीका पिंड कारण है घट कार्य है । वह घट स्वभाव मृत पिंडसे विभिन्न स्वभाव युक्त है, इसीलिये घट मद्य, जल आदिको धारणा ग्रहण करने की सामर्थ्य युक्त होता है किन्तु मृत् पिंड उस सामर्थ्य युक्त नहीं होता, इसप्रकार महदादि कार्यको देखकर सिद्ध करते हैं कि प्रधान तत्व है, क्योंकि महदादि कार्य उत्पन्न हुआ है ।

वैश्व रूप्यका अविभाग होनेसे भी प्रधानका अस्तित्व ज्ञात होता है तीन लोकको वैश्वरूप्य कहते हैं, वह प्रलयकालमें कहीं अविभावको प्राप्त होता है, जैसा कि कहा है–पहले पंचभूत पंच तन्मात्राओं मेंअविभाग को प्राप्त होते हैं, यहां अविभागका अर्थ अविवेक है, जैसे दुग्ध अवस्थामें दुग्ध अन्य है और दही अन्य है ऐसा विवेक करना शक्य नहीं, वैसे प्रलयकालमें यह व्यक्त है और यह अव्यक्त है ऐसा विवेक करना शक्य नहीं है । अतः हम मानते हैं कि प्रधान है जिसमें कि महदादि अविभाग को प्राप्त होते हैं ।

इतश्चास्ति प्रधानं वैश्वरूप्यस्याविभागात्। वैश्वरूप्यं हि लोकत्रयमभिधीयते। तच्च प्रलयकाले क्वचिदविभागं गच्छति। उक्तं च प्राक्–'पंचभूतानि पंचसु तन्मात्रेष्वविभागं गच्छन्ति' इत्यादि। अविभागो हि नामाविवेकः। यथा क्षीरावस्थायाम् 'अन्यत्क्षीरमन्यद्दधि' इति विवेको न शक्यते कर्तुं तद्वत्प्रलयकाले व्यक्तमिदमव्यक्तं चेदमिति। अतो मन्यामहेऽस्ति प्रधानं यत्र महदाद्यऽविभागं गच्छतीति।

अत्र प्रतिविधीयते–प्रकृत्यात्मकत्वे महदादिभेदानां कार्यतया ततः प्रवृत्तिविरोधः। न खलु यद्यस्मात्सर्वथाऽव्यतिरिक्तं तत्तस्य कार्यं कारणं वा युक्तं भिन्नलक्षणत्वात्तयोः। अन्यथा तद्व्यवस्था सङ्कीर्येत। तथा च यद्भवद्भिर्मूलप्रकृतेः कारणत्वमेव, भूतेन्द्रियलक्षणषोडशकगणस्य कार्यत्वमेव, बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्राणां पूर्वोत्तरापेक्षया कार्यत्वं कारणत्वं चेति प्रतिज्ञातं तन्न स्यात्। तथा चेदमसङ्गतम्–

"मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥"

[सांख्यका० ३] इति।

जैन–यहां उपर्युक्त सांख्यके मंतव्यका निराकरण किया जाता है, महदादि भेदोंको प्रकृति स्वरूप माननेपर कार्यपनेसे प्रकृतिसे प्रवृत्ति होनेमें विरोध आता है, क्योंकि जो जिससे सर्वथा अभिन्न होता है वह उसका कारण या कार्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कार्य और कारण भिन्न भिन्न लक्षण वाले होते हैं, अन्यथा उनको व्यवस्थामें सांकर्य होगा, और इस प्रकार सांकर्य होने पर आपने जो मूल प्रकृतिको कारण ही माना है एवं पंचभूत, एकादश इन्द्रियां रूप सोलह गणको कार्य ही माना है, तथा बुद्धि अहंकार और तन्मात्राओंको पूर्वोत्तरकी अपेक्षा कार्य कारण दोनों रूप माना है वह असिद्ध होगा, तथा यह भी असंगत होगा–मूल प्रकृति अविकृति रहती है, महदादि सात भेद प्रकृतिकी [व्यक्तके] विकृतियां हैं एवं सोलह विकार हैं, पुरुष तत्व न प्रकृति है और न विकृति है। तथा सभी पदार्थोंका परस्परमें अव्यतिरेक स्वीकार करते हैं तो वे कार्यरूप या कारण रूप ही सिद्ध होंगे, क्योंकि कार्य कारणभाव आपेक्षिक होता है, किन्तु रूपांतर स्वरूप अपेक्षणीय वस्तुका अभाव होनेसे सभी पदार्थोंके पुरुषके समान प्रकृतिका विकृतिपना होनेका अभाव हो जाता है, अन्यथा पुरुषको भी प्रकृतिके विकृतिको संज्ञा प्राप्त होगी।

और जो कहा कि व्यक्त हेतुमत् अनित्य आदि धर्म युवत है और अव्यक्त इससे विपरीत धर्म युक्त है, वह भी बाल प्रलाप है, क्योंकि जो जिससे अभिन्न स्वभावी

सर्वेषामेव हि परस्परमव्यतिरेके कार्यत्वं कारणत्वं वा प्रसज्येत । आपेक्षिकत्वाद्वा तद्भावस्य, रूपान्तरस्य चापेक्षणीयस्याभावात्सर्वेषां पुरुषवत्प्रकृतिविकृतित्वाभावः । अन्यथा पुरुषस्यापि प्रकृति-विकृतिव्यपदेशः स्यात् ।

यच्चेदम्–हेतुमत्त्वादिधर्मयोगि व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम्; तदपि बालप्रलापमात्रम्; न हि यद्यस्मादभिन्नस्वभावं तत्तद्विपरीतं युक्तं भिन्नस्वभावलक्षणत्वाद्विपरीतत्वस्य । अन्यथा भेदव्यवहारो-च्छेद्य:(दः) स्यात् । सत्त्वरजस्तमसां चान्योन्यं भिन्नस्वभावनिबन्धनो भेदो न स्यादिति विश्वमेकरूप-मेव स्यात् । ततो व्यक्तरूपाव्यतिरेकादव्यक्तमपि हेतुमत्त्वादिधर्मयोगि स्यात् व्यक्तस्वरूपवत् । व्यक्तं वाऽहेतुमत्त्वादिधर्मयोगि स्यादव्यक्तस्वरूपाव्यतिरेकात्तत्स्वरूपवदित्येकान्तः ।

किञ्च, अन्वयव्यतिरेकनिश्चयसमधिगम्यो लोके कार्यकारणभावः प्रसिद्धः । न च प्रधाना-दिभ्यो महदाद्युत्पत्तिनिश्चयेऽन्वयो व्यतिरेको वा प्रतीतोस्ति येन प्रधानान्महान्महतोऽहङ्कार इत्यादि सिद्धयेत् ।

होता है वह उससे विपरीत नहीं होता, क्योंकि भिन्न स्वभावी होना ही विपरीतका लक्षण है । यदि ऐसा न हो तो भेद का व्यवहार ही समाप्त होगा । तथा विपरीत [भिन्न स्वभावी] न हो तो सत्व रज और तमका परस्परमें भिन्न स्वभावके निमित्तसे होने वाला भेद नहीं रहेगा और संपूर्ण विश्व एक रूप हो जावेगा । अतः व्यक्तरूपसे अभिन्न जो अव्यक्त है उसके भी व्यक्त स्वरूपके समान हेतुमत्व, अनित्यत्वादि धर्मोंका योग स्वीकार करना होगा । अथवा व्यक्तके अहेतु मत्व आदि धर्मोका योग स्वीकार करना होगा, क्योंकि वह अव्यक्त स्वरूपसे अव्यतिरिक्त है जैसे उसका स्वरूप अव्यतिरिक्त है, इसप्रकार एक ही व्यक्त अथवा अव्यक्त रूप प्रधानको माननेका प्रसंग आता है ।

तथा लोकमें कार्यकारण भाव अन्वय व्यतिरेक द्वारा ज्ञात होता है, किन्तु प्रधानादि से महदादिके उत्पत्ति के निश्चयमें अन्वय अथवा व्यतिरेक प्रतीत नहीं होता है जिससे प्रधानसे महान उत्पन्न होना, महानसे अहंकार उत्पन्न होना इत्यादि सिद्ध हो सके ।

कूटस्थ नित्य पदार्थ में कारणभाव भी असिद्ध है, क्योंकि नित्यमें क्रम अथवा अक्रमसे अर्थ क्रिया होनेमें विरोध है ।

शंका–जिसप्रकार कुंडलादि आकारका [आंटी देकर समेटकर बैठना] कारण सर्प है ऐसा कहा जाता है उसप्रकार महदादिरूपसे परिणामको प्राप्त होते हुए

न च नित्यस्य कारणभावोऽस्ति, क्रमाऽक्रमाभ्यां तस्यार्थक्रियाविरोधात्। ननु नित्यमपि प्रधानं कुण्डलादौ सर्पवन्महदादिरूपेण परिणामं गच्छत्तेषां कारणमित्युच्यते, ते च तत्परिणामरूपत्वात्तत्कार्यतया व्यपदिश्यन्ते। परिणामश्चैकवस्त्वऽधिष्ठानत्वादभेदेपि न विरुध्यते; इत्यप्यनेकान्तावलम्बने प्रमाणोपपन्नं नित्यैकान्ते परिणामस्यैवासिद्धेः। स हि तत्र भवन् पूर्वरूपत्यागाद्वा भवेत्, अत्यागाद्वा? यद्यत्यागात्; तदाऽवस्थासाङ्कर्यं वृद्धाद्यवस्थायामपि युवाद्यवस्थोपलब्धिप्रसङ्गात्। अथ त्यागात्; तदा स्वभावहानिप्रसङ्गः।

किञ्च, सर्वथा तत्त्यागः, कथञ्चिद्वा? सर्वथा चेत्; कस्य परिणामः? पूर्वरूपस्य सर्वथा त्यागादपूर्वस्य चोत्पादात्। कथञ्चित् चेत्; न किञ्चिद्विरुद्धम्, तस्यैवार्थस्य प्राच्यरूपत्यागेनान्यथाभावलक्षणपरिणामोपपत्तेः। नित्यैकान्तता तु तस्य व्याहन्येत। अत्र हि नैकदेशेन तत्त्यागो निरंशस्यैकदेशाभावात्। नापि सर्वात्मना; नित्यत्वव्याघातात्।

उन महदादिका कारण प्रधान है ऐसा कहा जाता है एवं वे महदादि उसके परिणाम स्वरूप होनेसे उसके कार्य कहलाते हैं। और परिणाम एक वस्तुमें अधिष्ठित होनेसे अभेदमें भी हो सकता है, कोई विरोध नहीं है।

समाधान—यह कथन अनेकांतका अवलम्बन लेनेपर प्रामाणिक हो सकता है, क्योंकि नित्य एकांत में परिणामका होना ही असिद्ध है। नित्यमें परिणामका होना माना जाय तो वह पूर्वरूपके त्यागसे होगा या बिना त्यागके होगा? यदि बिना त्यागके होगा तो अवस्थाओंका सांकर्य होनेसे वृद्धादि अवस्थामें भी युवादि अवस्थाकी उपलब्धि का प्रसंग आता है। और यदि पूर्वावस्थाका त्याग करके परिणाम होता है तो स्वभाव हानिका प्रसंग आता है।

दूसरी बात यह भी है कि पूर्वरूपका त्याग भी कथंचित् होता है या सर्वथा होता है। सर्वथा कहो तो किसका परिणाम होगा? क्योंकि पूर्वरूपका तो सर्वथा त्याग हो चुका है और अपूर्वका उत्पाद हुआ है। पूर्वरूपका कथंचित् त्याग होता है ऐसा कहो तो कुछ भी विरुद्ध नहीं है, क्योंकि उसी अर्थके पूर्व रूपके त्यागसे अन्यथा भाव लक्षणस्वरूप परिणाम उपपन्न होता है। किन्तु ऐसा होने पर उसकी नित्य एकांतता नष्ट हो जाती है। क्योंकि नित्य एकांत में एक देशसे पूर्व रूपका त्याग होना अशक्य है, क्योंकि निरंश वस्तुमें एक देशका अभाव है। सर्व देशसे पूर्वरूपका त्याग होता है ऐसा कहो तो नित्यपनेका व्याघात होता है।

किंच, प्रवर्त्तमानो निवर्त्तमानश्च धर्मो धर्मिणोऽर्थान्तरभूतो वा स्यात्, अनर्थान्तरभूतो वा ? यद्यर्थान्तरभूतः; तर्हि धर्मी तदवस्थ एवेति कथमसौ परिणतो नाम ? न ह्यर्थान्तरभूतयोर्धर्मयोरुत्पाद-विनाशे सत्यविचलितात्मनो वस्तुनः परिणामो भवति, अन्यथाऽऽत्मापि परिणामी स्यात्। तत्सम्बद्ध-योर्धर्मयोरुत्पादविनाशात्तस्य परिणामः; इत्यप्यसुन्दरम्; धर्मिणा सदसतोः सम्बन्धाभावात्। सम्बन्धो हि धर्मस्य सतो भवेत्, असतो वा ? न तावत्सतः; स्वातन्त्र्येण प्रसिद्धाशेषस्वभावसम्पत्तेर-नपेक्षतया क्वचित्पारतन्त्र्यासम्भवात्। नाप्यसतः; तस्य सर्वोपाख्याविरहलक्षणतया क्वचिदप्या-श्रितत्वानुपपत्तेः। न खलु खरविषाणादिः क्वचिदाश्रितो युक्तः। न च प्रवर्त्तमानाप्रवर्त्तमानधर्मद्वय व्यतिरिक्तो धर्मी उपलब्धिलक्षणप्राप्तो दर्शनपथप्रस्थायी कस्यचिदिति। अतः स तादृशोऽसद्व्यवहार-

---

किंच, प्रवर्त्तमान और निवर्त्तमान धर्म धर्मीसे भिन्न है कि अभिन्न है ? यदि भिन्न है तो धर्मी तदवस्थ ही रहेगा अतः वह परिणमित हुआ ऐसा किसप्रकार कह सकते हैं ? क्योंकि अर्थान्तरभूत वस्तुओं का उत्पाद और विनाश होनेपर नित्य वस्तुका परिणाम हुआ ऐसा नहीं कहते हैं, अन्यथा आत्मा भी परिणामी होवेगा।

शंका–नित्य वस्तुमें संबद्ध हुए धर्मोंका उत्पाद और विनाश होनेसे नित्यका परिणाम माना जाता है।

समाधान–यह कथन असुन्दर है, धर्मीके साथ सत् असत् का सम्बन्ध होना असंभव है, सम्बन्ध सत् रूप धर्मका होता है या असत् रूप धर्मका होता है ? सत्का होना शक्य नहीं, क्योंकि जो स्वतंत्रतासे प्रसिद्ध अशेष स्वभावों की संपत्तिसे युक्त है वह अनपेक्ष होनेके कारण कहीं पर परतंत्र नही हो सकता। असत् रूप धर्मका सम्बन्ध होता है ऐसा कहना भी अयुक्त है, असत् संपूर्ण धर्मोंसे रहित होनेसे कहीं पर भी आश्रित नहीं हो सकता, जैसे कि असत् भूत खरविषाणादि कहीं आश्रित नहीं होता है। तथा उपलब्धि लक्षण वाला धर्मी प्रवर्त्तमान और अप्रवर्तमान दो धर्मोंसे अतिरिक्त किसीके दृष्टिगोचर नहीं होता है। अतः उसप्रकार का धर्मी विद्वानोंके लिये असत् व्यवहारका ही विषय है। प्रवर्त्तमानादि धर्म धर्मीसे अभिन्न है ऐसा माने तो भी एक धर्मी स्वरूपसे अभिन्न होनेके कारण उन दोनोंमें एकपना ही होवेगा अतः धर्मीका परिणाम किसप्रकार सिद्ध हो सकता है ? अथवा धर्मोका विनाश और प्रादुर्भाव भी किसप्रकार हो सकता है, क्योंकि धर्मीके स्वरूपके समान वे भी उससे अभिन्न होनेसे एक रूप है। अथवा उन उभय धर्मोके साथ धर्मीका अनन्यपना होनेसे धर्मोके स्वरूपके

विषय एव विदुषाम्। अथानर्थान्तरभूतः; तथाप्येकस्माद्धर्मिस्वरूपादव्यतिरिक्तत्वात्तयोरेकत्वमेवेति कथं परिणामो धर्मिणः, धर्मयोर्वा विनाशप्रादुर्भावौ धर्मिस्वरूपवत्? धर्माभ्यां च धर्मिणोऽनन्यत्वाद्धर्मस्वरूपवदपूर्वस्योत्पादः पूर्वस्य विनाश इति नैव कस्यचित्परिणामः सिध्यति। तस्मान्न परिणामवशादपि भवतां कार्यकारणव्यवहारो युक्तः।

यच्चेदमुत्पत्तेः प्राक्कार्यस्य सत्त्वसमर्थनार्थमसदकरणादिहेतुपञ्चकमुक्तम्; तद् असत्कार्यवादपक्षेपि तुल्यम्। शक्यते ह्येवमप्यभिधातुम्–'न सदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्।' न सत्कार्यमिति सम्बन्धः।

किञ्च, सर्वथा सत्कार्यम्, कथंचिद्वा? प्रथमपक्षोऽसम्भाव्यः; यदि हि क्षीरादौ दध्यादिकार्याणि सर्वथा विशिष्टरसवीर्यविपाकादिना विभक्तरूपेण मध्यावस्थावत्सन्ति, तर्हि तेषां किमुत्पाद्यमस्ति येन तानि कारणैः क्षीरादिभिर्जन्यानि स्युः? तथा च प्रयोगः– यत्सर्वाकारेण सत्तन्न केनचिज्जन्यम् यथा प्रधानमात्मा वा, सच्च सर्वात्मना परमते दध्यादीति न महदादेः कार्यता। नापि प्रधानस्य

समान अपूर्वका उत्पाद एवं पूर्वका विनाश होनेसे किसीका भी परिणाम होना सिद्ध नहीं होता, इसलिये आपके यहां परिणामके निमित्तसे भी कार्य कारणका व्यवहार सिद्ध नहीं है।

उत्पत्तिके पहले कार्यके सत्वका समर्थन करनेके लिये असत् अकरणात् इत्यादि पांच हेतु कहे थे वे असत् कार्यवादके पक्षमें भी समान रूपसे घटित होते हैं। क्योंकि ऐसा कह सकते हैं कि सत्को न कर सकनेसे, उपादानका ग्रहण होनेसे, सर्वमें सर्व संभव न होनेसे, शक्तका शक्य करण होनेसे और कारणभाव होनेसे उत्पत्तिके पहले कार्य सत् नहीं था, इसप्रकार "सत्कार्यं न" ऐसा सम्बन्ध जोड़कर प्रतिपादन कर सकते हैं।

दूसरी बात यह कि आपके यहां कार्यको सर्वथा सत् माना है या कथंचित् सत् माना है? प्रथमपक्ष असंभव है, क्योंकि यदि दूध आदिमें दही आदि कार्य विशिष्ट रस, वीर्य, विपाक आदि विभक्त रूपसे मध्य अवस्थाके समान विद्यमान है तो अब उनका कौनसा धर्म उपाद्य रह जाता है जिससे वे दूध आदि कारणों द्वारा उत्पन्न किये जा सकते हैं? अतः निश्चय होता है कि जो सर्वाकारसे सत् है वह किसीके द्वारा जन्य नहीं होता, जैसे प्रधान अथवा आत्मा किसीके द्वारा जन्य नहीं होता, पर मतमें दही आदि पदार्थ सत्रूप है अतः किससे जन्य नहीं है, इसप्रकार महदादिमें कार्यपना सिद्ध नहीं होता। तथा प्रधानके कारणपना भी सिद्ध नहीं होता, क्योंकि कार्यपना ही अवि-

कारणता; अविद्यमानकार्यत्वात् । यदविद्यमानकार्यं तन्न कारणम् यथात्मा, अविद्यमानकार्यं च प्रधान मिति । क्षीराद्यवस्थायामपि दध्यादीनां पश्चादिवोपलम्भप्रसंगश्च । अथ कथंचिच्छक्तिरूपेण सत्कार्यम्; ननु शक्तिर्द्रव्यमेव, तद्रूपतया सतः पर्यायरूपतया चासतो घटादेरुत्पत्त्यभ्युपगमे जिनपतिमतानुसरणप्रसङ्गः ।

किंच, तच्छक्तिरूपं दध्यादेर्भिन्नम्, अभिन्नं वा ? भिन्नं चेत्; कथं कारणे कार्यसद्भावसिद्धिः? कार्यव्यतिरिक्तस्य शक्त्याख्यपदार्थान्तरस्यैव सद्भावाभ्युपगमात् । आविर्भूतविशिष्टरसादिगुणोपेतं हि वस्तु दध्यादि कार्यमुच्यते । तच्च क्षीराद्यवस्थायामुपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलब्धेर्नास्ति । यच्चास्ति शक्ति

द्यमान है । जिसका कार्य अविद्यमान होता है वह कारण नहीं कहलाता, जैसे आत्माके कारणपना नहीं है, प्रधानका कार्य भी अविद्यमान है अतः वह कारण नहीं है । तथा यदि कारणमें कार्य मौजूद रहता है तो दुग्धादि अवस्थामें भी दही आदि पश्चात् के समान उपलब्ध होने चाहिये ।

शंका–कथंचित् शक्तिकी अपेक्षा कार्यको सत् माना जाय ?

समाधान–शक्ति तो द्रव्य ही है, उस द्रव्यरूपसे सत् और पर्याय रूपसे असत् ऐसे घटादि कार्यकी उत्पत्ति होना स्वीकार करे तो जिनेन्द्र मतका अनुसरण हो जाता है ।

और वह शक्ति दही आदि से भिन्न है कि अभिन्न है ? भिन्न है तो कारणमें कार्यका सद्भाव किसप्रकार सिद्ध होगा ? क्योंकि कार्यसे अतिरिक्त शक्ति नामके पदार्थांतर का ही सद्भाव स्वीकार किया गया । जिसमें विशिष्ट रसादिगुण प्रगट हुआ है ऐसी दही आदि वस्तु कार्य कहलाती है, और वह कार्य दुग्धादि अवस्थामें उपलब्धि लक्षण प्राप्त होकर भी अनुपलब्ध रहता है तो वह नहीं है, तथा जो शक्तिरूप है उसे कार्य ही नहीं कहते हैं, क्योंकि अन्यके सद्भावमें अन्य किसीका होना सिद्ध नहीं होता, अन्यथा अतिप्रसंग आता है । शक्तिका रूप उससे अभिन्न है ऐसा द्वितीयपक्ष लेते हैं तो दही आदिका नित्यपना सिद्ध होनेसे उनके लिये कारण व्यापार की आवश्यकता नहीं रहती है ।

शंका–सत्कार्यकी अभिव्यक्ति करनेमें कारणोंका व्यापार होना आवश्यक है अतः वह व्यर्थ नहीं होता ।

रूपं तत्कार्यमेव न भवति। न चान्यस्य भावेऽन्यदस्त्यतिप्रसङ्गात्। अथाभिन्नम्; तर्हि दध्यादेर्नित्यत्वात्कारणव्यापारवैयर्थ्यम्।

अभिव्यक्तौ कारणानां व्यापारान्न वैयर्थ्यम्; इत्यप्यसत्; यतोऽभिव्यक्तिः पूर्वं सती, असती वा? सती चेत्; कथं क्रियेत? अन्यथा कारकव्यापारानुपरमः स्यात्। अथासती; तथाप्याकाशकुशेशयवत्कथं क्रियेत? असदकरणादित्यभ्युपगमाच्च।

सर्वस्य सर्वथा सत्त्वेन च कार्यत्वासम्भवादुपादानपरिग्रहोपि न प्राप्नोति। सर्वसम्भवाभावोपि प्रतिनियतादेव क्षीरादेर्दध्यादीनां जन्मोच्यते। तच्च सत्कार्यवादपक्षे दूरोत्सारितम्। शक्तस्य शक्यकरणादिति चात्रासम्भाव्यम्; यदि हि केनचित् किंचिन्निष्पाद्येत तदा निष्पादकस्य शक्तिर्व्यवस्थाप्येत निष्पाद्यस्य च करणं नान्यथा। कारणभावोप्यर्थानां न घटते कार्यत्वाभावादेव।

समाधान—यह कथन अयुक्त है, इसमें प्रश्न होता है कि अभिव्यक्ति पूर्वमें सत् थी अथवा असत् थी? सत् थी तो उसको किसप्रकार किया जाय? यदि सत्को भी किया जाता है तो कारकों को व्यापार किसी कालमें भी नहीं रुक पायेगा। यदि अभिव्यक्ति पूर्वमें असत् थी तो आकाश पुष्पके समान उसको किसप्रकार किया जा सकता है? असत् को नहीं किया जाता ऐसा आपने माना भी है।

दूसरी बात यह भी है कि सब पदार्थ सर्वथा सत् रूप हैं तो उनमें कार्यपना असंभव होनेसे उपादान कारण का ग्रहण होना भी नहीं बनता है। सबसे सब संभव नहीं है ऐसा जो कहा उसका अर्थ यही है कि प्रतिनियत दुग्धादिसे दही आदिकी उत्पत्ति होना, किन्तु यह सत्कार्य वादके पक्षमें घटित नहीं होता है। तथा सत्कार्यवादमें शक्तका शक्य करण भी असंभव है, क्योंकि यदि किसीके द्वारा कोई निष्पादन करने योग्य होवे तो निष्पादककी शक्ति व्यवस्थापित की जा सकती है एवं निष्पाद्यको किया जा सकता है, किन्तु निष्पाद्य आदिके अभावमें शक्तका शक्य करण कौनसा होगा, अर्थात् सत्कार्यवादमें पहलेसे ही सब निष्पन्न होनेसे शक्यका करना आदि नहीं बनता। और कार्यत्वका अभाव होनेसे पदार्थोंमें कारण भाव भी सिद्ध नहीं होता है।

तथा आपके यहांपर असत् अकरणात् आदि हेतु दिये जाते हैं वे प्रवृत्त होकर क्या करते हैं? क्योंकि अपने विषयमें प्रवृत्त हुआ हेतु दो कार्योंको करता है एक तो प्रमेयार्थ विषयमें उत्पन्न हुए संशय और विपर्यास को दूर करता है और दूसरे निश्चय को उत्पन्न करता है। किन्तु यह सब सत्कार्यवादमें संभव नहीं है। क्योंकि आपके

किञ्च, एते हेतवो भवत्पक्षे प्रवृत्ताः किं कुर्वन्ति ? स्वविषये हि प्रवृत्तं साधनं द्वयं करोति–प्रमेयार्थविषये प्रवृत्तौ संशयविपर्यासौ निवर्त्तयति, निश्चयं चोत्पादयति। तच्च सत्कार्यवादे न सम्भवति। संशयविपर्यासौ हि भवतां मते चैतन्यात्मकौ, बुद्धिमनःस्वभावौ वा ? पक्षद्वयेपि न तयोर्निवृत्तिः सम्भवति; चैतन्यबुद्धिमनसां नित्यत्वेनानयोरपि नित्यत्वात्। नापि निश्चयस्योत्पत्तिः; तस्यापि सदा सत्त्वात्, इति साधनोपन्यासवैयर्थ्यम्। तस्मात्साधनोपन्यासस्यार्थवत्त्वमिच्छता निश्चयोऽसन्नेव साधनेनोत्पाद्यत इत्यङ्गीकर्त्तव्यम्। तथा चासदकरणादेर्हेतुगणस्यानेनैवानैकान्तिकता। यथा चासतोपि निश्चयस्य करणम्, तन्निष्पत्तये च यथा विशिष्टसाधनपरिग्रहः, यथा चास्य न सर्वस्मात्साधनाभासादेः सम्भवः, यथा चासावसन्नपि शक्तैर्हेतुभिः क्रियते, तत्र च हेतूनां कारणभावोस्ति तथान्यत्रापि भविष्यति।

मतमें संशय और विपर्यासको चैतन्यात्मक माना है अथवा बुद्धि और मनका स्वभाव माना है ? दोनों पक्षमें भी उन संशय विपर्यासका प्रादुर्भाव होना असंभव है, क्योंकि चैतन्य, बुद्धि और मन नित्य होनेसे संशय विपर्यास भी नित्य सिद्ध होते हैं। असत् अकरणात् आदि हेतु निश्चयको उत्पन्न करते हैं ऐसा पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि निश्चय भी सदा सत्‌रूप होता है। इसप्रकार आपके मतमें हेतुओंका उपन्यास व्यर्थ होता है, अतः हेतुके उपन्यास की सार्थकताको चाहने वाले आपको निश्चय असत् है और वह हेतु द्वारा उत्पन्न किया जाता है ऐसा स्वीकार करना होगा। और ऐसा स्वीकार करने पर असदकरणात् आदि हेतु पंचक की इसीके साथ अनेकान्तिकता आती है, क्योंकि जिसप्रकार निश्चय असत् था और उसको किया गया एवं उसकी निष्पत्तिके लिये जैसे विशिष्ट साधनका ग्रहण हुआ, तथा जैसे इस निश्चयका सभी साधनाभास आदिसे होना संभव नहीं है, तथा जैसे यह निश्चय असत् होकर भी शक्त हेतु द्वारा किया जाता है एवं उसमें हेतुओंका कारणभाव भी है, ठीक इसीप्रकारसे अन्यत्र भी असत्‌को किया जा सकना, विशिष्ट उपादान ग्रहण आदि आदि सब संभव हो सकेगा।

शंका–यद्यपि साधन प्रयोगके पहले निश्चय सत् ही रहता है फिर भी उसके लिये साधनका प्रयोग व्यर्थ नहीं जाता, क्योंकि निश्चयकी अभिव्यक्ति के लिये उसका व्यापार होता है ?

समाधान–अभिव्यक्ति किसे कहते हैं स्वभावमें अतिशयकी उत्पत्ति होना या तद्विषयक ज्ञान होना अथवा उसके उपलब्धिके आवरणका अपगम होना ? स्वभाव

अथ यद्यपि साधनप्रयोगात्प्राक्सन्नेव निश्चयः, तथापि न तत्प्रयोगवैयर्थ्यं तदभिव्यक्तौ तस्य व्यापारात्। तत्र केयमभिव्यक्तिः-किं स्वभावातिशयोत्पत्तिः, तद्विषयज्ञानं वा, तदुपलम्भावरणापगमो वा ? न तावत्स्वभावातिशयः; स हि निश्चयस्वरूपादभिन्नः भिन्नो वा ? यद्यभिन्नः; तर्हि निश्चयस्वरूपवत् सर्वदा सत्त्वान्नोत्पत्तिर्युक्ता। अथ भिन्नः; तस्यासाविति सम्बन्धाभावः। स ह्याधाराधेयभावलक्षणो वा, जन्यजनकभावलक्षणो वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; परस्परमनुपकार्योपकारकयोस्तदसम्भवात्। उपकारे वा तस्याप्यर्थान्तरत्वे सम्बन्धासिद्धिरनवस्था च। अनर्थान्तरत्वे साधनप्रयोगवैयर्थ्यं निश्चयादेवोपकाराऽनर्थान्तरस्यातिशयस्योत्पत्तेः। अमूर्त्तत्वाच्चातिशयस्याधोगमनाभावान्न तस्य कश्चिदाधारो युक्तः, अधोगतिप्रतिबन्धकत्वेनाधारस्यावस्थितेः। नापि जन्यजनकभावलक्षणः; सर्वदैव निश्चयाख्यकारणस्य सन्निहितत्वेन नित्यमतिशयोत्पत्तिप्रसङ्गात्। न च साधनप्रयोगापेक्षया निश्चयस्यातिशयोत्पादकत्वं युक्तम्; अनुपकारिण्यपेक्षाऽयोगात्। उपकारित्वे वा पूर्ववद्दोषोऽनवस्था च।

में अतिशय होनेको अभिव्यक्ति कहते हैं ऐसा प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि वह स्वभावातिशय निश्चयके स्वरूपसे अभिन्न है कि भिन्न है ? यदि अभिन्न है तो निश्चयके स्वरूपके समान सर्वदा सत्व रहनेसे उसकी उत्पत्ति मानना अयुक्त है। और यदि वह स्वभावातिशय भिन्न है तो उसका यह स्वभावातिशय है ऐसा सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। यदि सम्बन्ध माना भी जाय तो वह कौनसा होगा, आधार आधेयभाव सम्बन्ध, अथवा जन्य जनकभाव सम्बन्ध ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि परस्परमें अनुपकार्य-अनुपकारक स्वरूप निश्चय और स्वभावातिशयमें आधार आधेयभाव सम्बन्ध का होना असंभव है। यदि निश्चय द्वारा अतिशयका उपकार होना माने तो वह उपकार भी भिन्न होनेके कारण सम्बन्ध नहीं हो सकेगा तथा इस तरह अनवस्था भी होगी। यदि निश्चय द्वारा किये जाने वाले अतिशयके उपकार को अभिन्न माना जाय तो साधनका प्रयोग व्यर्थ होता है, क्योंकि निश्चय द्वारा ही उपकार से अभिन्नभूत अतिशय की उत्पत्ति हो जाती है। तथा यह भी बात है कि स्वभावातिशय अमूर्त्त होनेसे अधोगमन तो कर नहीं सकता अतः उसका आधार मानना ही युक्त नहीं है। क्योंकि आधार अधोगमनका प्रतिबन्धक होता है। निश्चय और स्वभावातिशयमें जन्यजनकभाव सम्बन्ध मानना भी गलत है, क्योंकि निश्चय नामका कारण सर्वदा सन्निहित रहता है अतः सर्वदा अतिशयकी उत्पत्ति होनेका प्रसंग आता है। साधन प्रयोग की अपेक्षा लेकर निश्चय अतिशयका उत्पादक होता है ऐसा कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि अनुपकारकको अपेक्षा नहीं होती है। यदि निश्चयको उपकारक माना जाय तो उसके द्वारा

अपि चायमतिशयः सन्, असन्वा क्रियेत ? असत्त्वे पूर्ववत्साधनानामनैकान्तिकत्वापत्तिः। सत्त्वे च साधनवैयर्थ्यम्। तत्राप्यभिव्यक्तावनवस्था। तन्न स्वभावातिशयोत्पत्तिरभिव्यक्तिः।

नापि तद्विषयज्ञानम्; सत्कार्यवादिनो मते तस्यापि नित्यत्वात्, द्वितीयज्ञानस्यासम्भवाच्च। एकमेव हि भवतां मते विज्ञानम्–"आसर्गप्रलयादेका बुद्धिः" [ ] इति सिद्धान्त-स्वीकारात्।

तदुपलम्भावरणापगमोप्यभिव्यक्तिर्न युक्ता; तदावरणस्य नित्यत्वेनापगमासम्भवात्। तिरोभावलक्षणोप्यपगमो न युक्तः; अत्यक्तपूर्वरूपस्य तिरोभावासम्भवात्। द्वितीयोपलम्भस्य चासम्भवात्कथं तदावरणसम्भवो येनास्यापगमोभिव्यक्तिः स्यात्? न ह्यावरणमसतो युक्तं सद्वस्तु-विषयत्वात्तस्य।

किया जाने वाला उपकार उससे भिन्न है कि अभिन्न इत्यादि पूर्वोक्त दोष एवं अनवस्था आती है।

और यह स्वभावका अतिशय सत् होकर किया जाता है या असत् होकर किया जाता है ? असत् होकर कहो तो पहले के समान हेतुओंका अनैकान्तिक होना रूप दोष आता है। यदि वह अतिशय सत् होकर किया जाय तो सत् के लिये साधन का उपन्यास व्यर्थ होता है। तथा उसमें अभिव्यक्ति का पक्ष स्वीकार किया जाय कि साधन द्वारा अतिशयको अभिव्यक्त किया जाता है तो भी पूर्वोक्त अनवस्था दोष आता है अतः स्वभावके अतिशय की उत्पत्ति होने को अभिव्यक्ति कहते हैं, ऐसा प्रथम पक्ष सिद्ध नहीं होता।

निश्चयविषयक ज्ञान का होना अभिव्यक्ति कहलाती है ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि सत्कार्यवादी के मतमें उस ज्ञानको भी नित्य माना है [अतः उसकी अभिव्यक्ति के लिये हेतु के व्यापार की आवश्यकता नहीं हो सकती] तथा दूसरा ज्ञान असंभव भी है, क्योंकि आपके मतमें ज्ञान एक ही माना है। विश्व को प्रादुर्भूति से लेकर प्रलय तक बुद्धि एक होती है ऐसा सिद्धांत आपने स्वीकार किया है।

निश्चय की उपलब्धिका आवरण दूर होने को अभिव्यक्ति कहना भी अयुक्त है क्योंकि वह आवरण भी नित्य है अतः उसका दूर होना अशक्य है। तिरोभाव होने को दूर करना कहते हैं ऐसा माने तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जिसने पूर्व स्वरूप

बन्धमोक्षाभावश्च सत्कार्यवादिनोऽनुषज्यते । बन्धो हि मिथ्याज्ञानात्, तस्य च सर्वदावस्थितत्वेन सर्वदा सर्वेषां बद्धत्वात्कुतो मोक्षः ? प्रकृतिपुरुषयोः कैवल्योपलम्भलक्षणतत्त्वज्ञानाच्च मोक्षः, तस्य च सदावस्थितत्वेन सर्वदा सर्वेषां मुक्तत्वात्कुतो बन्धः ? सकलव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गश्च; लोकः खलु हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थं प्रवर्तते । सत्कार्यवादपक्षे तु न किञ्चिदप्राप्यमहेयं चास्तीति निरीहमेव जगत्स्यात् ।

यदसत्तन्न केनचित्क्रियते इति चासङ्गतम्; हेतोर्विपक्षे बाधकप्रमाणाभावेनानैकान्तात् । कारणशक्तिप्रतिनियमाद्धि किञ्चिदेवासत्क्रियते यस्योत्पादकं कारणमस्ति । यस्य तु गगनाम्भोरुहादे-

---

छोड़ा नहीं है उसका तिरोभाव होना भी असंभव है, और दूसरे प्रकार की उपलब्धि होना भी असंभव है अतः उसका आवरण भी किसप्रकार होवेगा जिससे कि उसके अपगम हो जाने को अभिव्यक्ति कह सकेंगे ? क्योंकि असत् का आवरण मानना अयुक्त है, उसका भी कारण यह है कि आवरण सत् रूप वस्तुका होता है । सत्कार्यवादी सांख्यके यहां बंध और मोक्ष के अभाव का प्रसंग भी आता है क्योंकि मिथ्याज्ञान से बन्ध होता है और उसके सदा अवस्थित रहने के कारण हमेशा सभी प्राणियों की बद्ध अवस्था होने से मोक्ष किस प्रकार हो सकता है ? तथा प्रकृति और पुरुष के विवेक की उपलब्धि स्वरूप तत्त्व ज्ञान के होने से मोक्ष होता है ऐसा आप मानते हैं सो वह तत्त्वज्ञान सदा अवस्थित रहने के कारण हमेशा सभी प्राणियों का मुक्तपना होने से बन्ध किस प्रकार हो सकता है ? संपूर्ण लोक व्यवहार का उच्छेद होने का प्रसंग भी आता है, क्योंकि लोक हित प्राप्ति और अहित परिहार के लिये ही प्रवृत्ति किया करते हैं, किन्तु सत्कार्यवाद के पक्षमें न कोई अप्राप्य है और न कोई अहेय है अतः अखिल विश्व निरीह हो जायगा ।

जो असत् होता है वह किसी के द्वारा नहीं किया जाता ऐसा कहना भी असंगत है, क्योंकि इस हेतु का विपक्षमें जानेमें बाधा करने वाला प्रमाण नहीं है अतः यह अनैकान्तिक है । असत् को करने की बात ऐसी है कि कारण के शक्ति का प्रतिनियम हुआ करता है उसके नियमानुसार किसी किसी असत् को ही किया जा सकता है जिसका कि उत्पादक कारण मौजूद है, किन्तु जिस आकाश पुष्प आदिका कारण नहीं है उसको नहीं किया जाता । हम जैन सबको सबका कारण नहीं मानते हैं, न हमारे यहां ऐसा नियम है कि जो जो असत् हो वह वह किया ही जाता हो, किन्तु जो किया जाता है वह उत्पत्तिके पहले कथंचित् असत् ही रहता है ऐसा हमारा सिद्धांत है ।

नास्ति कारणं तन्न क्रियते। न हि सर्वं सर्वस्य कारणमिष्टम्। नापि 'यद्यदसत्तत्तत्क्रियते एव' इति व्याप्तिरिष्टा। किं तर्हि? 'यत्क्रियते तत्प्रागुत्पत्तेः कथञ्चिदसदेव' इति। ननु तुल्येप्यसत्कारित्वे कारणानां किमिति सर्वं सर्वस्यासतः कारणं न स्यादित्यन्यत्रापि समानम्। समाने हि सत्कारित्वे किमिति सर्वं सर्वस्य सतः कारणं न स्यात्? कारणशक्तिप्रतिनियमात् 'सदप्यात्मादि न क्रियते' इत्यन्यत्रापि समानम्। प्रतिपादितप्रकारेण सर्वथा सतः कार्यत्वासम्भवात्कथञ्चिदसत्कार्यवादे एव चोपादानग्रहणादित्यादेर्हेतुचतुष्टयस्य विरुद्धता साध्यविपर्ययसाधनात्। तन्नोत्पत्तेः प्राक्कारण(णे) कार्यसद्भावसिद्धिः।

सांख्य–कारणों का असत्कारीपना [असत् को करना] तुल्य होते हुए भी सभी कारण सभी असत् को करने वाले क्यों नहीं होते?

जैन–यह प्रश्न आपके प्रति भी है, सत्कार्यपना समान होने पर भी सभी कारण सभी सत्को करने वाले क्यों नहीं होते हैं?

सांख्य–कारण शक्तिका प्रतिनियम होने से सत् होते हुए भी आत्मा आदि को नहीं किया जाता?

जैन–यह बात असत् कार्यवाद में भी समान रूपसे सुघटित होती है, अर्थात् कारण शक्तिका प्रतिनियम होने से असत् होते हुए भी किसी खरविषाणादि को तो नहीं किया जाता और घटादि को किया जाता है। तथा अभी तक जैसा हमने प्रतिपादन किया है तदनुसार यह निश्चित होता है कि सर्वथा सत् पदार्थ के कार्यपना असंभव है, कथंचित् असत् कार्यवाद में ही कार्यपना संभव है, और उपादान ग्रहण आदि शेष चार हेतुओं का विरुद्धपना भी होता है, क्योंकि ये हेतु आपके साध्यसे विपरीत जो असत् कार्यत्व है उसको सिद्ध करते हैं। अतः उत्पत्ति के पहले कारण में कार्यका सद्भाव मानना सिद्ध नहीं होता है।

और जो सांख्य ने कहा था कि भेदों का परिमाण इत्यादि हेतु से एक प्रधान रूप कारण ही सिद्ध होता है, वह भी प्रलाप मात्र है, क्योंकि "भेदों के परिमाण से" यह जो हेतु है उसका एक कारण पूर्वकत्व के साथ अविनाभाव नहीं है, भेदों के परिमाणका अनेक कारण पूर्वक होने में भी अविरोध है, क्योंकि इनका तो मात्र कारण पूर्वक होनेके साथ ही अविनाभाव है, यदि उसीको सिद्ध करना है तो सिद्ध साधन है, अर्थात् ऐसा हम मानते ही हैं।

यच्चोक्तम्-भेदानां परिमाणादित्यादिहेतोः कारणं च प्रधानमेवैकं सिद्ध्यति; तदप्युक्तिमात्रम्; 'भेदानां परिमाणात्' इत्यस्यैककारणपूर्वकत्वेनाविनाभावासिद्धेः, अनेककारणपूर्वकत्वेप्यस्याविरोधात्। कारणमात्रपूर्वकत्वेनैव हि तस्याविनाभावः, तत्साधने च सिद्धसाधनम्।

'भेदानां समन्वयदर्शनात्' इति चासिद्धम्; न खलु सुखदुःखमोहसमन्वितं प्रमाणतः प्रसिद्धम्, शब्दादिव्यक्तस्याचेतनतया चेतनसुखादिसमन्वयविरोधात्। प्रयोगः-ये चैतन्यरहिता न ते सुखादिसमन्वयाः यथा गगनाम्भोजादयः, चैतन्यरहिताश्च शब्दादय इति।

ननु चैतन्येन सुखादिसमन्वयस्य यदि व्याप्तिः प्रसिद्धा, तदा तन्निवर्त्तमानं शब्दादिषु सुखादिसमन्वयत्वं निवर्त्तयेत्। न चासौ सिद्धा, पुरुषस्य चेतनत्वेपि सुखादिसमन्वयासिद्धेः; इत्यप्यपेशलम्; स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे सुखादिस्वभावतयात्मनः प्रसाधनात्।

भेदों का समन्वय होने से एक प्रधान कारण ही सिद्ध होता है ऐसा हेतु भी असिद्ध है, क्योंकि प्रधान का सुख दुःख मोह से समन्वितपना प्रमाणसे सिद्ध नहीं होता, शब्दादि व्यक्त प्रधान का अचेतनपना होने से चेतन के धर्मरूप सुख दुःखादिसे समन्वय होने में विरोध आता है, अनुमान प्रमाणसे सिद्ध होता है कि-जो चेतन रहित होते हैं, वे सुखादि से समन्वित नहीं होते हैं, जैसे आकाश पुष्पादि वस्तु, शब्द आदि व्यक्त भी चैतन्य से रहित हैं अतः सुखादि से समन्वित नहीं हो सकते।

सांख्य-यदि चैतन्य के साथ सुखादि के समन्वयकी व्याप्ति सिद्ध होती तब तो उस चैतन्य के निवर्त्तित होने से शब्द आदि में सुखादि का समन्वयत्व निवर्त्तित होता, किन्तु वह व्याप्ति सिद्ध नहीं है, क्योंकि पुरुषके चेतनपना होते हुए भी सुखादि के साथ समन्वयपना नहीं है ? अभिप्राय यह है कि चैतन्य के साथ सुखादि का अविनाभाव नहीं है।

जैन-यह कथन असत् है, हम जैन ने स्वसंवेदन सिद्धि के प्रकरण में यह भली भांति सिद्ध कर दिया है कि सुखादि स्वभाव चैतन्य आत्मा के ही हैं।

और जो कहा कि प्रसाद ताप दैन्य आदि कार्यों की उपलब्धि होने के कारण प्रधानसे अन्वितपना सिद्ध होता है, इत्यादि, सो यह अयुक्त है, क्योंकि इस कथन में अनैकान्तिक दूषण आता है, इसीको स्पष्ट करते हैं-पुरुषको प्रकृतिसे भिन्नरूप भावना करने वाले कापिल योगियों के पुरुषका अवलम्बन लेकर जब अभ्यस्त योग हो जाता है तब प्रसाद और प्रीति होती है, जो अनभ्यस्त योगी हैं उनको शीघ्रता से आत्माका

यच्चान्यदुक्तम्-प्रसादतापदैन्यादिकार्योपलम्भात्प्रधानान्वितत्वसिद्धिः; तदप्ययुक्तम्; अनेकान्तात्, कापिलयोगिनां हि पुरुषं प्रकृतिविभक्तं भावयतां पुरुषमालम्ब्य स्वभ्यस्तयोगानां प्रसादो भवति प्रीतिश्च, अनभ्यस्तयोगानां क्षिप्रतरमात्मानमपश्यतामुद्वेगः, प्रकृत्या जडमतीनां मोहो जायते, न चासौ पुरुषः प्रधानान्वितः परैरिष्टः। सङ्कल्पात्प्रीत्याद्युत्पत्तिर्न पुरुषादिति शब्दादिष्वपि समानम्। सङ्कल्पमात्रभावित्वे च प्रीत्यादीनामात्मरूपताप्रसिद्धिः, सङ्कल्पस्य ज्ञानरूपत्वात्, ज्ञानस्य चात्मधर्मतया स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे प्रतिपादितत्वात् इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

अस्तु वा प्रीत्यादिसमन्वयो व्यक्ते, तथापि न प्रधानप्रसिद्धिः, साधनस्यान्वयासिद्धेः। न खलु यथाभूतं त्रिगुणात्मकमेकं नित्यं व्यापि चास्य कारणं साधयितुमिष्टं तथाभूतेन क्वचिद्धेतोः प्रतिबन्धः सिद्धः। नापि यदात्मकं कार्यमुपलभ्यते कारणेनाप्यवश्यं तदात्मना भाव्यम्, अन्यथा महदादौ हेतुमत्त्वानित्यत्वाव्यापित्वादिधर्मोपलम्भात् प्रधानेपि तादृूप्यप्रसिद्धिप्रसङ्गाद्धेतोर्विरुद्धतानुषङ्गः।

दर्शन न होने के कारण उद्वेग होता है, और जो प्रकृतिसे जडबुद्धि हैं उनको मोह होता है, सो यह प्रसाद आदि का अनुभवन करने वाला पुरुष [आत्मा] प्रधान से अन्वित है ऐसा मानना आप स्वयं को इष्ट नहीं है। यदि कहा जाय कि प्रीति आदि की उत्पत्ति संकल्प से होती हैं न कि पुरुष से ? सो यह शब्दादि में भी समान रूप से घटित होता है। तथा प्रीति आदिको संकल्पमात्रसे उत्पन्न होना माने तो वे आत्मारूप सिद्ध होंगे, क्योंकि संकल्प ज्ञानरूप होता है और ज्ञान आत्माका धर्म है ऐसा स्वसंवेदन सिद्धि के प्रस्ताव में प्रतिपादन कर आये हैं, अब अधिक कहने से बस हो।

प्रीति आदि का समन्वय व्यक्त में होता है ऐसा मान लेवे तो भी प्रधान की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि समन्वय दर्शनात् इत्यादि हेतु का अन्वय असिद्ध है, आपको इस प्रधान में जिस प्रकार का त्रिगुणात्मक एक, व्यापि और नित्य कारणपना सिद्ध करना इष्ट है उस प्रकारका कारणपना कहीं पर हेतु के अविभाव रूपसे प्रसिद्ध नहीं है। तथा कार्य जिस रूप उपलब्ध होता है उस रूप कारण को भी होना आवश्यक नहीं है, यदि ऐसा माने तो महदादिमें हेतु मत्त्व, अनित्यत्व, अव्यापित्व आदि धर्म उपलब्ध होने से प्रधान में भी हेतुमत्व आदि की सिद्धि होने का प्रसंग आता है और इस तरह प्रधान को नित्य आदि रूप सिद्ध करने के लिये दिये गये सत्वादि हेतु विरुद्धपनेको प्राप्त होते हैं।

यच्चेदं निदर्शनमुक्तम्-'यथा घटशरावादयो मृज्जातिसमन्विताः' इति; तदप्यसङ्गतम्; साध्यसाधनविकलत्वादस्य। न हि मृत्त्वसुवर्णत्वादिजातिर्नित्यनिरंशव्याप्येकरूपा प्रमाणतः प्रसिद्धा येन तदात्मककारणसम्भूतत्वं तत्समन्वितत्वं च प्रसिद्ध्येत्, प्रतिव्यक्ति तस्याः प्रतिभासभेदाद्भेदसिद्धेः। विस्तरेण चास्याः सिद्ध्यभावं सामान्यविचारप्रस्तावे प्रतिपादयिष्याम इत्यलमतिविस्तरेण।

तथा 'समन्वयात्' इत्यस्यानेकान्तः; चेतनत्वभोक्तृत्वादिधर्मैः पुरुषाणाम्, प्रधानपुरुषाणां च नित्यत्वादिधर्मैः समन्वितत्वेपि तथाविधैककारणपूर्वकत्वानभ्युपगमात्।

एतेन शक्तितः प्रवृत्तेरित्याद्यप्यनैकान्तिकत्वादिदोषदुष्टत्वादेककारणपूर्वकत्वासाधनमित्यवसातव्यम्। तथा हि-प्रेक्षावत्कारणमेतेभ्यः प्रसाध्यते, कारणमात्रं वा? प्रथमविकल्पे अनेकान्तः, विनापि हि प्रेक्षावता कर्त्रा स्वहेतुसामर्थ्यप्रतिनियमात्प्रतिनियतकार्यस्योत्पत्त्यविरोधात्। न च प्रधानं

और जो दृष्टांत दिया था कि जिस प्रकार घट सकोरा आदि मिट्टीरूप जाति से समन्वित हैं इत्यादि वह असंगत है, क्योंकि यह दृष्टांत साध्य और साधन से विकल है, मिट्टीरूप जाति या सुवर्णरूप जाति नित्य, निरंश, व्यापी एक रूप हो ऐसा प्रमाण से सिद्ध नहीं है, जिससे कि नित्य आदि धर्म युक्त उस जातिरूप कारण से उत्पन्न होना और उससे कार्यों का समन्वित होना सिद्ध हो सके, प्रत्येक व्यक्ति में प्रतिभासका भेद होने से उस जाति का भिन्न भिन्नपना ही सिद्ध होता है। नित्य, एक रूप इस जाति का आगे सामान्य विचार प्रकरणमें विस्तार पूर्वक निरसन करने वाले हैं अतः अब अधिक कथनसे विराम लेते हैं।

समन्वयात् इस हेतु में भी अनेकांत दूषण हैं, क्योंकि चेतनत्व भोक्तृत्वादि धर्मों के साथ पुरुषों का [आत्माओं का] तथा नित्यत्वादि धर्मों के साथ प्रधान और पुरुषों का समन्वय होने पर भी उस प्रकार के एक कारण पूर्वकपना उनमें नहीं माना है। अर्थात् जिनमें भेदों का समन्वय है वे सब एक नित्य कारण से होते हैं अथवा भेदों का समन्वय होने से सबका कारण एक ही है ऐसा जो कहा था वह व्यभिचरित होता है। भेदानां परिमाणात् और समन्वयात् इन दो हेतुओं के निरसन से ही शक्तितः प्रवृत्तेः इत्यादि हेतुओंका निरसन हुआ समझना, क्योंकि इनमें भी अनैकान्तिक आदि अनेक दोष हैं अतः एक कारण पूर्वक साध्यको सिद्ध करने में ये सब असाधन हैं। आगे इसीको स्पष्ट करते हैं-इन हेतुओं द्वारा बुद्धिमानकारणको सिद्ध किया जाता है कि सामान्य से कारण मात्रको सिद्ध किया जाता है? प्रथम विकल्प कहो तो अनै-

प्रेक्षावद्युक्तं तस्याचेतनत्वात् प्रेक्षायाश्च चेतनापर्यायत्वात् । अथ कारणमात्रं साध्यते, तर्हि सिद्धसाध्यता । न ह्यस्माकं कारणमन्तरेण कार्यस्योत्पादोऽभीष्टः । कारणमात्रस्य च 'प्रधानम्' इति संज्ञाकरणे न किञ्चिद्विरुध्यतेऽर्थभेदाभावात् ।

किंच, शक्तितः प्रवृत्तेरित्यनेन यदि कथञ्चिदव्यतिरिक्तशक्तियोगिकारणमात्रं साध्यते; तदा सिद्धसाध्यता । अथ व्यतिरिक्तविचित्रशक्तियुक्तमेकं नित्यं कारणम्; तदानैकान्तिकता हेतोः । तथाभूतेन क्वचिदन्वयासिद्धेरसिद्धता च, न खलु व्यतिरिक्तशक्तिवशात् कस्यचित्कारणस्य क्वचित्कार्ये प्रवृत्तिः प्रसिद्धा, शक्तीनां स्वात्मभूतत्वात् ।

कान्तिक दोष आयेगा, क्योंकि प्रेक्षावान कर्त्ताके बिना भी अपने हेतुके सामर्थ्य के प्रतिनियमसे प्रतिनियत कार्य की उत्पत्ति होनेमें अविरोध है । दूसरी बात यह भी है कि आप प्रधानको कारण मानते हैं किन्तु प्रधान अचेतन होने से बुद्धिमान कारण नहीं हो सकता, बुद्धि तो चेतन की पर्याय है । यदि कहे कि कारण मात्रको सिद्ध किया जाता है तब तो सिद्धसाध्यता है । क्योंकि हम जैन को भी कारण के बिना कार्यकी उत्पत्ति मानना इष्ट नहीं है । यदि आप इस कारण मात्र को ही प्रधान ऐसा नामकरण करते हैं तो कोई विरोध नहीं है, क्योंकि अर्थमें भेद भाव नहीं है ।

किंच, शक्तितः प्रवृत्तेः इस हेतु द्वारा यदि कथंचित् अव्यतिरिक्त शक्ति योगी कारण मात्र को सिद्ध किया जाता है तब तो सिद्धसाध्यता है, और यदि व्यतिरिक्त [भिन्न] शक्ति युक्त एक नित्य कारणको सिद्ध किया जाता है तो हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त होता है, क्योंकि उस प्रकारके हेतु का कहीं पर अन्वय सिद्ध नहीं होने से असिद्धता होती है, क्योंकि अपने से अतिरिक्त अर्थात् भिन्न शक्ति से किसी कारण की कार्य में प्रवृत्ति होती हुई नहीं देखी जाती, शक्तियां तो स्वात्मभूत हुआ करती हैं ।

और भी जो कहा था कि वैश्वरूप्यका अविभाग होने से सब कार्यका एक कारण है ऐसा भी अयुक्त है, क्योंकि वैश्वरूप्यके अविभाग [अन्तर्लीन] का कारण जो प्रलयकाल बताया उसकी ही असिद्धि है, यदि कदाचित् वह सिद्ध हो जाय तो भी महदादिका लय पूर्व स्वभाव से प्रच्युत होने पर होता है अथवा अप्रच्युत रहते हुए होता है ? यदि प्रच्युत होने पर होता है तो सांख्य को अनिष्ट ऐसे विनाश की सिद्धि होवेगी, क्योंकि स्वभाव की प्रच्युति होना ही विनाश कहलाता है । और यदि

यच्चेदमुक्तम्-अविभागाद्वैश्वरूप्यस्य; तदप्यसाम्प्रतम्; प्रलयकालस्यैवाप्रसिद्धेः। सिद्धौ वा तदासौ महदादीनां लयो भवन् पूर्वस्वभावप्रच्युतौ भवेत्. अप्रच्युतौ वा ? यदि प्रच्युतौ; तर्हि तेषां तदा विनाशसिद्धिः स्वभावप्रच्युतेर्विनाशरूपत्वात् । अथाप्रच्युतौ; तर्हि लयानुपपत्तिः; नहि अविकलमात्मनस्तत्त्वमनुभवतः कस्यचिल्लयो युक्तोऽतिप्रसङ्गात् । परस्परविरुद्धं चेदम् 'अविभागो वैश्वरूप्यम्' इति च । वैश्वरूप्यं च प्रधानपूर्वत्वे नोपपद्यत एव, तन्मयत्वेन सर्वस्य जगतस्तत्स्वरूपवदेकत्वप्रसङ्गात्, इति कस्याऽविभागः स्यादिति ? तन्न प्रधानस्य सकलजगत्कर्तृत्वं सिद्धम्, यतस्तत्सिद्धौ प्रधानस्य सर्वज्ञता, कर्तृत्वस्य कारणशक्तिपरिज्ञानाविनाभावासिद्धेरित्युक्तं प्रागीश्वरनिराकरणे, तदलमतिप्रसङ्गेन ।

एतेन सेश्वरसाङ्ख्यैर्यदुक्तम्–'न प्रधानादेव केवलादमी कार्यभेदाः प्रवर्त्तन्ते तस्याचेतन-

---

अप्रच्युतिमें होता है तो लयकी असिद्धि होती है, क्योंकि पूर्णरूपसे अपने स्वरूपका अनुभवन करते हुए किसी वस्तुका लय मानना सर्वथा अयुक्त है, अन्यथा अतिप्रसंग होगा । तथा यह परस्पर विरुद्ध है कि अविभाग है पुनश्च वैश्वरूप्य है, तथा प्रधान पूर्वत्वमें वैश्वरूप्य बनता ही नहीं, क्योंकि प्रधानसे तन्मय होनेके कारण संपूर्ण जगत को उसके स्वरूपके समान एक रूप होने का प्रसंग आता है और इस प्रकार जगतके एक रूप हो जानेसे किसका अविभाव होवेगा ? अतः प्रधानका सकल जगत् कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता है जिससे यह माना जा सके कि प्रधान जगतका कर्त्ता होनेसे सर्वज्ञ है ? अर्थात् जगत कर्तृत्व हेतुसे प्रधानमें सर्वज्ञता सिद्ध करना असंभव है क्योंकि कर्तृत्वका कारणकी शक्तिके परिज्ञानके साथ अविनाभाव सिद्ध नहीं है अर्थात् कर्त्ताको कारणकी शक्तिका ज्ञान अवश्य होना चाहिये ऐसा नियम नहीं है, इस विषय में पहले ईश्वरवाद का निराकरण करते समय बहुत कुछ प्रतिपादन हो चुका है, अतः अधिक नहीं कहते हैं ।

इस निरीश्वर सांख्यके प्रकृतिकर्तृत्ववादके निराकरणसे ही सेश्वरवादी सांख्य द्वारा जो कहा गया है उसका भी निराकरण होता है । उनका कहना है कि केवल प्रधानसे ये महदादि कार्यभेद नहीं हो सकते हैं, क्योंकि प्रधान अचेतन है, अचेतन पदार्थ अधिष्ठायकके बिना कार्यको प्रारंभ करते हुए नहीं देखे जाते । ईश्वरसे अन्य सामान्य आत्माको अधिष्ठायक माने तो भी युक्त नहीं, क्योंकि सृष्टि कालमें वह अज्ञानी रहता है, कहा भी है कि बुद्धि द्वारा संसर्गित होकर ही आत्मा पदार्थ को जानता है । बुद्धिके संसर्ग होनेके पूर्व तो यह आत्मा अज्ञ ही रहता है अतः किसी भी

त्वात्। न ह्यचेतनोऽधिष्ठायकमन्तरेण कार्यमारभमाणो दृष्टः। न चान्यात्माऽधिष्ठायको युक्तः; सृष्टिकाले तस्याज्ञत्वात्। तथा हि-बुद्ध्यध्यवसितमेवार्थं पुरुषश्चेतयते। बुद्धिसंसर्गाच्च पूर्वमसावज्ञ एव, न जातु किञ्चिदर्थं विजानाति न चाज्ञातमर्थं कश्चित्कर्त्तुं शक्तः। अतो नासौ कर्त्ता। तस्मादीश्वर एव प्रधानापेक्षः कार्यभेदानां कर्त्ता, न केवलः। न खलु देवदत्तादिः केवलः पुत्रम्, कुम्भकारो वा घटं जनयति' इति; तदपि प्रतिव्यूढम्; प्रत्येकं तयोः कर्तृत्वस्यासम्भवे सहितयोरप्यसम्भवात्, अन्यथा प्रत्येकपक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गः।

अथोच्यते-यदि नाम प्रत्येकं तयोः कर्तृत्वासम्भवस्तथापि सहितयोः कथं तदभावः? न हि केवलानां चक्षुरादीनां रूपादि ज्ञानोत्पत्तिसामर्थ्याभावे सहितानामप्यसौ युक्तः; तदप्युक्तिमात्रम्; यतः

पदार्थको नहीं जानता। यह बात निश्चित है कि अज्ञात पदार्थको करनेके लिये कोई भी पुरुष समर्थ नहीं हो सकता, अतः सामान्य आत्मा कार्योंका कर्त्ता सिद्ध नहीं होता है, इसप्रकार यह निश्चय हुआ कि प्रधानकी अपेक्षा रखते हुए ईश्वर ही कार्यभेदोंका कर्त्ता है। अकेला आत्मा नहीं। लोक व्यवहारमें भी देखते हैं कि अकेले देवदत्तादि पुरुष पुत्रको उत्पन्न कर देते हो या अकेला कुम्हार घटको बना देता हो ऐसा नहीं होता। सो यह सेश्वर सांख्यका कथन असत् है, जब प्रधान और ईश्वर इनमेंसे प्रत्येक में सृष्टिका कर्तृत्व संभव नहीं है दोनों सम्मिलित अवस्थामें भी उस कार्यको नहीं कर सकते, यदि सम्मिलित अवस्थामें कर्तृत्व संभव है ऐसा माने तो प्रत्येकके पक्षमें दिये गये अखिल दोष आ जायेंगे।

सांख्य-प्रधान और ईश्वर अकेले रहकर कार्यको नहीं कर सकते तो न सही किन्तु दोनों सम्मिलित होकर क्यों नहीं कर सकेंगे? चक्षु आदि इन्द्रियां अकेली रहकर रूपादि विषयोंमें ज्ञानको नहीं कर सकती तो [कमजोर होनेके कारण] क्या उनके सहायक प्रकाश नेत्रांजनादिके सम्मिलित अवस्थामें भी नही करती? अर्थात् अवश्य कर सकती है, इसीप्रकार अकेले प्रधान और ईश्वर भले ही सृष्टि कार्यको न करें किन्तु दोनों मिलकर तो कर सकते हैं?

जैन-यह कथन अयुक्त है, सम्मिलित होकर करना, सहित होकर करना इस वाक्यका अर्थ होता है एक दूसरेका सहकारी बनना, अब बताइये कि प्रधान और ईश्वरमें किसप्रकारका सहकारीपना है परस्परमें अतिशयत्व लाना या एकमेक होकर कार्य करना? प्रथमपक्ष श्रेयस्कर नहीं है क्योंकि प्रधान और ईश्वर दोनों ही नित्य हैं

साहित्यं नामानयोरन्योन्यं सहकारित्वम् । तच्चान्योन्यातिशयाधानाद्वा स्यात्, एकार्थकारित्वाद्वा ? न तावदाद्यकल्पना युक्ता; नित्यत्वेनानयोर्विकाराभावात् । नापि द्वितीयकल्पना युक्ता; कार्याणां यौगपद्य-प्रसङ्गात् । अप्रतिहतसामर्थ्यस्येश्वरप्रधानाख्यकारणस्य सदा सन्निहितत्वेनाविकलकारणत्वात्तेषाम् । तथाहि–यद्यदाऽविकलकारणं तत्तदा भवत्येव यथाऽन्त्यक्षणप्राप्तायाः सामग्रीतोऽङ्कुरः, अविकलकारणं चाशेषं कार्यमिति ।

ननु यद्यपि कारणद्वयमेतन्नित्यं सन्निहितं तथापि क्रमेणैवामी कार्यभेदाः प्रवर्त्तिष्यन्ते । महेश्वरस्य हि प्रधानगताः सत्त्वादयस्त्रयो गुणाः सहकारिणः, तेषां च क्रमवृत्तित्वात्कार्याणामपि क्रमः । तथाहि–यदोद्भूतवृत्तिना रजसा युक्तो भवत्यसौ तदा सर्गहेतुः प्रजानां भवति प्रसवकार्यत्वा-द्रजसः, यदा तु सत्त्वमुद्भूतवृत्ति संश्रयते तदा लोकानां स्थितिकारणं भवति सत्त्वस्य स्थितिहेतुत्वात्, यदा तमसोद्भूतशक्तिना समायुक्तो भवति तदा प्रलयं सर्वजगतः करोति तमसः प्रलयहेतुत्वात् । तदुक्तम्—

अतः उनमें अतिशयरूप विकृति होना असंभव है । दूसरा पक्ष भी अयुक्त है, इस तरह मानने पर सभी कार्य युगपत् उत्पन्न हो जानेका प्रसंग आता है, जिनकी सामर्थ्य अप्रतिहत हैं ऐसे प्रधान और ईश्वर रूप कारणोंके सदा विद्यमान रहनेसे वे कार्य अविकल कारण वाले सिद्ध ही हो जाते हैं । अनुमान सिद्ध बात है कि जब जिसका अविकल [संपूर्ण] कारण मौजूद रहता है तब उसकी उत्पत्ति हो ही जाती है, जैसे अन्त्यक्षणको प्राप्त सामग्रीसे अंकुर उत्पन्न हो जाता है, जगत्के अशेषकार्य भी अविकल कारण सहित हैं अतः उनकी उत्पत्ति भी युगपत् हो जानी चाहिये ।

सांख्य–यद्यपि दोनों कारण नित्य एवं सन्निहित [निकटवर्त्ती] हैं तथापि नाना कार्यभेद तो क्रम से ही सम्पन्न होते हैं, आगे इसीका खुलासा करते हैं–महेश्वर के सहकारी कारण प्रधानमें होने वाले सत्व आदि तीन गुण हैं, ये गुण क्रमसे होने वाले हैं अतः इन गुणोंकी सहायतासे होने वाले कार्य भी क्रमिक सिद्ध होते हैं । आगे इसीका विवरण किया जाता है—जब यह ईश्वर आविर्भूत रजोगुणसे युक्त होता है तब वह प्रजाके उत्पत्तिका कारण होता है, क्योंकि रजोगुणका कार्य उत्पत्ति कराना है । और जब वह ईश्वर सत्वगुणका आश्रय लेता है तब लोकोंकी स्थितिका कारण होता हैं, क्योंकि सत्वगुण स्थितिका हेतु है, तथा जब वही ईश्वर तमोगुणसे युक्त होता है तब संपूर्ण जगतका प्रलय कर डालता है, क्योंकि तमोगुण प्रलयका हेतु माना गया है । यही कथन कादंबरी ग्रंथमें पाया जाता है कि जब ईश्वर रजोगुणसे युक्त होता है

"रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमःस्पृशे।
अजाय सर्गस्थितिनाशहेतवे त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः ॥१॥"
[कादम्बरी पृ० १]

इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतः प्रकृतीश्वरयोः सर्गस्थितिप्रलयानां मध्येऽन्यतमस्य क्रियाकाले तदपरकार्यद्वयोत्पादने सामर्थ्यमस्ति, न वा ? यद्यस्ति; तर्हि सृष्टिकालेपि स्थितिप्रलयप्रसङ्गोऽविकलकारणत्वादुत्पादवत्। एवं स्थितिकालेप्युत्पादविनाशयोः, विनाशकाले च स्थित्युत्पादयोः प्रसङ्गः, न चैतद्युक्तम्। न खलु परस्परपरिहारेणावस्थितानामुत्पादादिधर्माणामेकत्र धर्मिण्येकदा सद्भावो युक्तः। अथ नास्ति सामर्थ्यम्; तदैकमेव स्थित्यादिनां मध्ये कार्यं सदा स्यात् यदुत्पादने तयोः सामर्थ्यमस्ति,

---

तब प्रजाके उत्पत्तिका हेतु होता है, सत्वगुण युक्त होनेपर स्थितिका एवं तमोगुण युक्त होनेपर प्रलयका हेतु होता है, इसप्रकार उत्पत्ति स्थिति और नाशका हेतु, त्रिवेदमूर्त्ति, त्रिगुणात्मक अज नाम संयुक्त ईश्वरके लिये नमन हो ॥१॥ [कादंबरी पृष्ठ १]

जैन–यह संपूर्ण कथन युक्तिशून्य है, उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय इन तीनोंमें से किसी एक क्रियाका संपादन करते समय प्रधान और ईश्वरमें अन्य दो कार्योंको संपन्न करनेका सामर्थ्य है अथवा नहीं ? यदि है तो जगतकी उत्पत्तिके समयमें ही स्थिति और नाश भी हो जाना चाहिये ? क्योंकि उत्पत्तिके समान उनका भी अविकल कारण मौजूद है। इसीप्रकार स्थितिकालमें उत्पत्ति और विनाशका तथा नाशकालमें स्थिति और उत्पत्ति हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है, किन्तु यह सब युक्त नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति आदि धर्म परस्परका परिहार करके रहने वाले धर्म हैं, इनका एक धर्मीमें एक कालमें सद्भाव पाया जाना असंभव है। यदि यह माना जाय कि ईश्वरादिमें उत्पत्ति आदिकी क्रिया करते समय अन्य दो कार्योंके सपादनकी सामर्थ्य नही होती तो उन स्थिति आदि कार्योंमें से कोई एक ही कार्य सदा ही होता रहेगा, जिसका कि सामर्थ्य उन ईश्वरादि दोनों कारणोंमें मौजूद है, शेष दो कार्य तो कभी भी नहीं हो सकेंगे, क्योंकि उनके उत्पादनकी सामर्थ्यका सदा ही अभाव है। तथा प्रधान और ईश्वर दोनों ही अविकारी पदार्थ हैं इनमें नयी सामर्थ्य उत्पन्न होना तो अशक्य अन्यथा इनकी नित्य एक स्वभावताका व्याघात हो जानेका प्रसंग प्राप्त होगा।

सांख्य–यद्यपि ईश्वर और प्रधान नित्य एक स्वभाव वाले हैं तो भी प्रधानमें सत्व आदि गुणोंमेंसे जो भी आविर्भूत वृत्तिक होता है वही कारणपने को प्राप्त होता

नापरं कदाचनापि तदुत्पादने तयोः सदा सामर्थ्याभावात्। अविकारिणोश्च प्रकृतीश्वरयोः पुनः सामर्थ्योत्पत्तिविरोधात्, अन्यथा नित्यैकस्वभावताव्याघातः।

अथ तत्स्वभावेपि प्रधाने सत्त्वादीनां मध्ये यदेवोद्भूतवृत्ति तदेव कारणतां प्रतिपद्यते नान्यत्, तत्कथं स्थित्यादीनां यौगपद्यप्रसङ्ग इति? अत्रोच्यते–तेषामुद्भूतवृत्तित्वं नित्यम्, अनित्यं वा? न तावन्नित्यम्; कादाचित्कत्वात्, स्थित्यादीनां यौगपद्यप्रसङ्गाच्च। अथानित्यम्; कुतोऽस्य प्रादुर्भावः? प्रकृतीश्वरादेव, अन्यतो वा हेतोः, स्वतन्त्रो वा? प्रथमपक्षे सदास्य सद्भावप्रसङ्गः, प्रकृतीश्वराख्यस्य हेतोर्नित्यरूपतया सदा सन्निहितत्वात्। न चान्यतस्तत्प्रादुर्भावो युक्तः; प्रकृतीश्वरव्यतिरेकेणापरकारणस्यानभ्युपगमात्। तृतीयपक्षे तु कादाचित्कत्वविरोधोऽस्य स्वातन्त्र्येण भवतो देशकालनियमा-

---

है अन्य नहीं, अतः स्थिति उत्पत्ति आदि एक साथ हो जायेंगे ऐसा अति प्रसंग दोष किसप्रकार आ सकता है?

जैन–उन सत्वादि गुणोंका आविर्भूत वृत्तिपना नित्य है या अनित्य है? नित्य तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह वृत्तिपना कदाचित् ही होता है, तथा उन गुणों का आविर्भूतपना नित्य माना जाय तो उत्पत्ति स्थिति आदिके युगपत् हो जाने का प्रसंग उपस्थित होता है। यदि उन गुणोंकी आविर्भूत वृत्तिको अनित्य माना जाय तो प्रश्न होता है कि वह किस कारणसे प्रादुर्भूत हुई? प्रकृति और ईश्वरसे अथवा अन्य किसी हेतुसे, या स्वतंत्रतासे? प्रथमपक्ष माने तो इस वृत्तिका सदा ही सद्भाव मानना होगा क्योंकि प्रकृति और ईश्वर नामके हेतु नित्य होनेसे सदा सन्निहित ही रहेंगे। द्वितीयपक्ष–ईश्वर और प्रधानसे पृथक् अन्य किसी हेतुसे उन गुणोंकी वृत्ति प्रादुर्भावित होती है ऐसा मानना भी अयुक्त है, प्रधान और ईश्वर इन दोनोंको छोड़कर अन्य किसीको आपके यहां कारण रूपसे स्वीकार नहीं किया गया है। तीसरापक्ष स्वतंत्रता का है सो स्वतंत्रतासे होने वाली उद्भूतवृत्ति कभी कदाचित् होनेमें विरोध आता है, क्योंकि जो कार्य स्वतंत्रतासे होता है उसमें अमुक क्षेत्र और कालमें ही होना ऐसा नियम नहीं बन सकता, जो पदार्थ स्वभावसे स्वभावांतरको प्राप्त होते हैं वे कादाचित्क होते हैं, क्योंकि स्वभावांतरके होनेपर ही कादाचित्क संभव है स्वभावांतरके न होनेपर कादाचित्क संभव नहीं है, दूसरे शब्दोंमें यों कहिये कि जो पदार्थ कारणोंके अधीन होते हैं वे ही कादाचित्क होते हैं स्वतंत्रतासे होने वाले पदार्थ कारणोंके अधीन नहीं होते, क्योंकि स्वतंत्रतासे जायमान पदार्थमें अपेक्ष करने योग्य कोई वस्तु ही नहीं है।

योगात् । स्वभावान्तरायत्तवृत्तयो हि भावाः कादाचित्काः स्युः तद्भावाभावप्रतिबद्धत्वात्तत्सत्त्वासत्त्वयोः, नान्ये तेषामपेक्षणीयस्य कस्यचिदभावात् ।

किञ्च, आत्मानं जनयति भावो निष्पन्नः, अनिष्पन्नो वा ? न तावन्निष्पन्नः; तस्यामवस्थायामात्मनोपि निष्पन्नरूपाव्यतिरेकितया निष्पन्नत्वान्निष्पन्नस्वरूपवत् । नाप्यनिष्पन्नः; अनिष्पन्नस्वरूपत्वादेव गगनाम्भोजवत् । तस्मात्प्रकारान्तरेणाशेषज्ञत्वासिद्धेरावरणापाये एवाशेषविषयं विज्ञानम् । तच्चात्मन एवेति परीक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम् । तच्च विज्ञानमनन्तदर्शनसुखवीर्याविनाभावित्वादनन्तचतुष्टयस्वभावत्वमात्मनः प्रसाधयतीति सिद्धो मोक्षो जीवस्यानन्तचतुष्टयस्वरूपलाभलक्षणः, तस्यापेतप्रतिबन्धकस्यात्मस्वरूपतया जीवन्मुक्तिवत्परममुक्तावप्यभावासिद्धेः ॥

दूसरी बात यह है कि अपने स्वरूपको उत्पन्न करने वाले वह पदार्थ निष्पन्न है अथवा अनिष्पन्न है ? निष्पन्न तो नहीं हो सकता, क्योंकि उस पदार्थके निष्पन्न अवस्थामें होनेपर उसका स्वरूप भी निष्पन्न रूपसे अभिन्न होनेके कारण निष्पन्न ही रहेगा, जैसा कि स्वयंका रूप निष्पन्न है । अपने स्वरूपको उत्पन्न करने वाला पदार्थ अनिष्पन्न है ऐसा दूसरापक्ष स्वीकार करे तो भी ठीक नहीं, क्योंकि अनिष्पन्न पदार्थ आकाश पुष्पकी तरह स्वयंके स्वरूपसे अनिष्पन्न है [स्वरूप रहित है]

इसप्रकार सर्वज्ञत्वके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये सांख्यादि द्वारा प्रदत्त प्रकृतिकर्तृत्व आदि हेतु सदोष सिद्ध होते हैं, अतः सर्वज्ञ सिद्धिके लिये प्रकारांतरका अभाव होनेसे आवरणका अपायरूप हेतु द्वारा उसकी सिद्धि होती है अर्थात् संपूर्ण विषयोंको जानने वाला ज्ञान आवरणके नष्ट होनेपर ही उत्पन्न होता है ऐसा निश्चय हुआ । तथा ऐसा संपूर्ण विषयोंका जानने वाला ज्ञान आत्माके ही होता है ऐसा परीक्षादक्ष पुरुषोंको स्वीकार करना चाहिये । इसप्रकारका संपूर्ण विषयोंका जानने वाला जो ज्ञान है वह अनंतदर्शन, अनंतसुख, और अनंतवीर्यका अविनाभावी होनेसे अनंतचतुष्टयस्वरूप आत्माको सिद्ध कर देता है, अतः निश्चित होता है कि इस जीवके अनंतचतुष्टय स्वरूप स्वभावका लाभ होना मोक्ष है । यह अनंत चतुष्टय स्वरूपका लाभ प्रतिबंधक कर्मोंसे अपेत है अपना निजी शाश्वत स्वरूप होनेके कारण जीवन्मुक्त दशाके समान [अरिहंत अवस्थाके समान] परममुक्त दशामें [सिद्धोंमें] भी सदा विद्यमान रहता है, उसका परममुक्त दशामें अभाव नहीं होजाता है ।

। इति प्रकृतिकर्तृत्ववाद समाप्त ॥

प्रकृति कर्तृत्ववाद के खण्डन का सारांश

सांख्य के निरीश्वर सांख्य और सेश्वर सांख्य ऐसे दो भेद हैं, निरीश्वर सांख्य प्रकृति को जगत कर्त्ता मानते हैं और सेश्वर सांख्य ईश्वर और प्रकृति दोनों को कर्त्ता मानते हैं पहले निरीश्वर सांख्य का पूर्वपक्ष रखकर आचार्य ने सविस्तार खंडन किया है। सांख्य सम्पूर्ण जगत का कर्त्ता प्रकृति है अतः वही सर्वज्ञ है, सारी सृष्टि प्रकृति से निर्मित है, ऐसा मानते हैं, आगे इसीको कहते हैं—

प्रकृते र्महांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडकात् पंचभ्यः पंच भूतानि ॥१॥

प्रकृति से विषय का निश्चय कराने वाली बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धि से मैं सुभग हूं इत्यादि अहंकार पैदा होता है, अहंकार से शब्द रस गन्ध रूप स्पर्श ये पंच तन्मात्रायें एवं ग्यारह इन्द्रियां प्रादुर्भूत होती हैं, पांच तन्मात्रा से पांच भूत होते हैं, शब्द से आकाश, स्पर्श से वायु, रस से जल, रूप से तेज, गन्ध से पृथ्वी इसप्रकार ये सब प्रधान के २४ भेद हैं और पुरुष मिलाने से २५ तत्व होते हैं। प्रकृति के दो भेद है व्यक्त और अव्यक्त, व्यक्त प्रकृति त्रिगुणात्मक, अविवेकी, विषय, सामान्य, अचेतन, प्रसवधर्मी होता है तथा हेतुमत्व, अनित्य, अव्यापि सक्रिय, अनेक, आश्रित, लिंग, सावयव एवं परतंत्र होता है। और अव्यक्त प्रकृति इससे विपरीत है। इस प्रकार महान् अहंकार पंचभूत आदि सभी तत्व प्रकृतिसे प्रादुर्भूत होने के कारण सृष्टि का कर्त्ता प्रकृति है ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता है। जैन—यह सांख्य का कथन प्रमाण से सिद्ध नहीं होता है, आपने महान् आदि को प्रकृत्यात्मक माना है, फिर वे प्रकृति के कार्य कैसे हो सकते हैं? जो जिसरूप तन्मय होता है वह उसका कार्य या कारण नहीं होता, क्योंकि कारण और कार्य भिन्न भिन्न लक्षण वाले होते हैं तथा आप प्रत्येक वस्तु को नित्य मानते हैं नित्य वस्तु में कार्य कारण भाव होना शक्य नहीं, क्योंकि बिना परिणमन हुए कोई वस्तु किसी का कारण नहीं बन सकती तथा अचेतन स्वभाव वाली प्रकृति से बुद्धि अहंकार आदि चेतन स्वभाव रूप कार्य प्रादुर्भूत होना असंभव है, मूर्तिक शब्द से अमूर्तिक आकाश होना भी असंभव है। शब्द अमूर्तिक है ऐसा कहना भी अशक्य है, क्योंकि मूर्तिक पर्वत वायु आदि से शब्द का अभिघात होने से निश्चित

होता है कि शब्द अमूर्तिक नहीं है इस विषय का आगे प्रतिपादन होने वाला है। इस प्रकार प्रकृति को सृष्टि का कर्त्ता मानना सिद्ध नहीं होता है। सेश्वर सांख्य—ईश्वर और प्रकृति दोनों सृष्टि को करते हैं क्योंकि प्रकृति अचेतन होने से अकेली कार्य को नहीं कर सकती। अकेला ईश्वर भी नहीं कर सकता क्योंकि प्रकृति के संसर्ग बिना वह अज्ञ है, दोनों मिलकर सृष्टि के कार्य को करते हैं जैसे–पुत्र को माता पिता दोनों करते हैं। सत्व, तम, रज इन गुणों की अपेक्षा लेकर ईश्वर जगत की स्थिति, नाश तथा उत्पत्ति को करता है अर्थात् ईश्वर में जब प्रकृति के रजो गुण का संसर्ग होता है तब वह प्रजा को उत्पन्न करता है जब सत्व का संसर्ग होता है तब स्थिति और जब तमो गुण का संसर्ग होता है तब प्रलय कर देता है इसीलिये दोनों मिलकर सृष्टि कार्य करते हैं। सो सेश्वर सांख्य का यह कथन भी चारु नहीं है सतत् रूप से कार्य होने की आपत्ति आती है, क्योंकि ईश्वर और प्रधान ये दोनों ही समर्थ कारण मौजूद हैं तो सभी कार्य एक साथ होने में कोई बाधा नहीं रहती। ईश्वर और प्रधान दोनों ही कारण नित्य हैं फिर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और नाश क्रम से क्यों होता है। एक साथ ही होना चाहिये। इस प्रकार सेश्वर सांख्य का सुधारा हुआ पक्ष भी बाधित होता है इस तरह प्रकृति को सृष्टि का कर्त्ता मानना या ईश्वर और प्रकृति उभय को कर्ता मानना बाधित हुआ।

॥ प्रकृतिकर्तृत्ववाद का सारांश समाप्त ॥

६

कवलाहारविचारः

ये त्वात्मनो जीवन्मुक्तौ कवलाहारमिच्छन्ति तेषां तत्रास्यानन्तचतुष्टयस्वभावाभावोऽनन्तसुख-विरहात्। तद्विरहश्च बुभुक्षाप्रभवपीडाक्रान्तत्वात्। तत्पीडाप्रतीकारार्थो हि निखिलजनानां कवला-हारग्रहणप्रयासः प्रसिद्धः। ननु भोजनादेः सुखाद्यनुकूलत्वात्कथं भगवतोऽतोऽनन्तसुखाद्यभावः? दृश्यते ह्यस्मदादौ क्षुत्पीडिते निश्शक्तिके च भोजनसद्भावे सुखं वीर्यं चोत्पद्यमानम्; इत्यप्ययुक्तम्; अस्मदादि-

---

जीवन मुक्ति और परम मुक्ति इसप्रकार परमात्माओंकी दोनों अवस्थाओंमें अनंतचतुष्टय विद्यमान रहते हैं, जीवन मुक्तको अरहंत भगवान कहते हैं और परम मुक्तको सिद्ध भगवान कहते हैं। श्वेतांबर जैन जीवन्मुक्त अरहंतके कवलाहारका सद्भाव मानते हैं जैसे सामान्य संसारीजीव कवल [ग्रासवाला] आहार करते हैं वैसे अरहंत भगवान भी करते हैं ऐसा श्वेतांबर मानते हैं, इस मान्यता में यह बाधा है कि अरहंतके अनंतचतुष्टय गुणोंमेंसे अनंतसुख नामा गुणका अभाव होनेका प्रसंग आता है, जब चारोंमेंसे एकका अभाव स्वीकार करेंगे तो शेष तीनोंका भी अभाव होवेगा, क्योंकि इन चारोंका परस्परमें अविनाभाव है। केवलीके कवलाहार माननेसे अनंतसुखका अभाव कैसे हो जाता है ऐसा प्रश्न होनेपर उसका उत्तर यह है कि वे क्षुधा वेदनासे पीड़ित होकर भोजन करते हैं, अतः अरहंत भोजन करते हैं तो उनको पीड़ा होती है ऐसा स्वतः सिद्ध होता है। क्षुधाकी पीड़ा दूर करनेके लिये ही सभी जीव कवलाहार ग्रहण करते हैं यह सुप्रसिद्ध ही है।

श्वेतांबर जैन–भोजनादिके द्वारा तो सुख होता है, भोजन सुखके अनुकूल है न कि प्रतिकूल! फिर उस भोजनका सद्भाव माननेसे अरहंतके अनंत सुखादिका अभाव कैसे हो सकता है? देखा जाता है कि हम जैसे व्यक्ति भूखसे पीड़ित होते हैं शक्ति हीन हो जाते हैं तो भोजनके मिलने पर सुखी और शक्तिमान हो जाते हैं?

सुखादेः कादाचित्कतया विषयेभ्य एवोत्पत्तिसम्भवात्। भगवत्सुखादेश्च तत्सम्भवेऽनन्तताव्याघातः। तथाहि–क्षुत्क्षामकुक्षिर्निश्शक्तिकश्चासौ यदा कवलाहारग्रहणे प्रवृत्तस्तदैव तदीयसुखवीर्ययोर्नष्टत्वात्कुतोऽनन्तता? वीतरागद्वेषत्वाच्चास्य तद्ग्रहणप्रयासायोगः। प्रयोगः–केवली न भुंक्ते रागद्वेषाभावानन्तवीर्यसद्भावान्यथानुपपत्तेः। ननु सममित्रशत्रूणां साधूनां भोजनादिकं कुर्वतामपि वीतरागद्वेषत्वसम्भवादनैकान्तिको हेतुः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; मोहनीयकर्मणः सद्भावे भोजनादिकं कुर्वतां प्रमत्तगुणस्थानप्रवृत्तीनां साधूनां परमार्थतो वीतरागत्वासम्भवात्। तन्नानैकान्तिकोयं हेतुः। नापि विरुद्धो विपक्षे वृत्तेरभावात्।

कवलाहारित्वे चास्य सरागत्वप्रसङ्गः। प्रयोगः–यो यः कवलं भुंक्ते स स न वीतरागः यथा रथ्यापुरुषः, भुंक्ते च कवलं भवन्मतः केवलीति। कवलाहारो हि स्मरणाभिलाषाभ्यां भुज्यते,

---

दिगंबर जैन–यह कथन अयुक्त है, हम जैसे जीवोंको तो बाह्य पंचेन्द्रियोंके विषयों द्वारा सुख होता है, वह भी कदाचित् होता है, सतत रूपसे नहीं, ऐसा सुख अरहंतके माने तो वह अनंत नहीं रहा, क्षुधासे पीड़ित शक्तिहीन ऐसा यह भगवान जब कवलाहार ग्रहण करनेमें प्रवृत्त होगा तब उसके सुख और वीर्य नष्ट ही हो जाता है तो सुखादिमें अनंतता कहां रही? तथा अरहंत भगवान रागद्वेषसे रहित होते हैं अतः कवलाहारको ग्रहण करनेका प्रयास ही नहीं कर सकते। अनुमानसे सिद्ध होता है कि केवली भगवान आहार नहीं करते, क्योंकि उनके रागद्वेषका अभाव है एवं अनंतवीर्य के सद्भावकी अन्यथानुपपत्ति है।

श्वेतांबर–जो शत्रु और मित्रमें समान भाव रखते हैं ऐसे वीतरागी साधुओं के भोजन करते हुए भी वीतरागता रहती है अतः उपर्युक्त हेतु अनैकान्तिक है।

दिगम्बर–यह कथन असत् है, जिनके मोहनीय कर्म विद्यमान है ऐसे प्रमत्तसंयत नामा गुणस्थानमें वर्त्तमान साधुओंके परमार्थभूत वीतरागता नहीं होती है, अतः वीतरागत्वकी अन्यथानुपपत्ति नामा हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त नहीं है, तथा विरुद्ध दोष युक्त भी नहीं है, क्योंकि विपक्षमें [अन्य सामान्य कवलाहार करनेवाले जीवोंमें] नहीं जाता है।

केवलीके कवलाहार मानते हैं तो उनके सरागी बननेका प्रसंग आता है–जो जो पुरुष कवलवाला आहार करता है वह वह वीतरागी नहीं होता, जैसे रथ्या पुरुष

भुक्तवता च कण्ठोष्ठप्रमाणतस्तृप्तेनाऽरुचितस्त्यज्यते । तथा चाभिलाषाऽरुचिभ्यामाहारे प्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वात्कथं वीतरागत्वम् ? तदभावाद्वाप्तता । अथाभिलाषाद्यभावेप्याहारं गृह्णात्यसौ तथाभूतातिशयत्वात्, ननु चाहाराभावलक्षणोप्यतिशयोऽस्याभ्युपगन्तव्योऽनन्तगुणत्वाद्गगनगमनाद्यतिशयवत् ।

अथाहाराभावे देहस्थितिरेवास्य न स्यात्; तथाहि–भगवतो देहस्थितिः आहारपूर्विका देहस्थितित्वादस्मदादिदेहस्थितिवत् । नन्वनेनानुमानेनास्याहारमात्रम्, कवलाहारो वा साध्येत ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता, 'आसयोगकेवलिनो जीवा आहारिणः' इत्यभ्युपगमात्, तत्र च कवलाहाराभावेप्यन्यस्य कर्मनोकर्मादानलक्षणस्याविरोधात् । षड्विधो ह्याहारः—

"णोकम्म कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो ।
ओज मणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥" [ ]

भोजन करता है अतः वीतरागी नहीं है । आपके मतमें केवली भगवान कवलाहार करने वाले माने हैं अतः वे वीतरागी सिद्ध नहीं होते ।

तथा कवल आहारको अभिलाषा और स्मरणके बिना ग्रहण नहीं कर सकते, अभिलाषा और स्मरण पूर्वक ही भोजन होता है, एवं जब भोजन हो जाता है तब कंठौष्ठ तक पूर्ण कुक्षि हुआ पुरुष अरुचिसे उस भोजनको छोड़ देता है । इसप्रकार अभिलाषासे आहारका ग्रहण और अरुचिसे त्याग हुआ करता है, फिर उस आहारको ग्रहण करने वालेके वीतराग भाव कैसे हो सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते, वीतरागत्वके अभावमें उस पुरुषमें [केवलीमें] आप्तपना भी संभव नहीं है ।

शंका–केवली भगवानके अभिलाषा आदि विकार नहीं होते तो भी वे आहार ग्रहण करते हैं, उनमें ऐसा अतिशय ही रहता है ।

समाधान–यदि अतिशयपने की बात है तो आहार ग्रहण नहीं करना रूप अतिशय ही माना जाय ? क्योंकि उनमें तो अनंतगुण विद्यमान हैं, जैसे गगनगमन आदि अतिशय स्वीकार करते हैं वैसे आहार नहीं करना यह भी एक अतिशय है ।

शंका–आहारके अभावमें अरहंतके देहस्थिति नहीं रह सकती अनुमानसे सिद्ध करते हैं–अरहंतके शरीरकी स्थिति आहार द्वारा होती है, क्योंकि वह शरीर स्थिति है जैसे हम मनुष्योंकी शरीरकी स्थिति आहार द्वारा हुआ करती है ?

समाधान–ठीक है, किन्तु इस अनुमान द्वारा सामान्य आहार सिद्ध करना है या कवलाहार ? सामान्य आहार कहो तो सिद्ध साध्यता है, क्योंकि हम भी प्रथम

इत्यभिधानात्। न खलु कवलाहारेणैवाहारित्वं जीवानाम्; एकेन्द्रियाण्डजत्रिदशानामभुञ्जान-तिर्यग्मनुष्याणां चानाहारित्वप्रसङ्गात्। न चैवम्—

"विग्गहगइमावण्णा केवलिणो समुहदो अजोगी य।
सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारिणो जीवा॥"

[जीवकाण्ड गा० ६६५, श्रावकप्रज्ञ० गा० ९८]

इत्यभिधानात्। द्वितीयपक्षे तु त्रिदशादिभिर्व्यभिचारः; तेषां कवलाहाराभावेपि देहस्थिति-सम्भवात्। अथ 'औदारिकशरीरस्थितित्वात्' इति विशेष्योच्यते। तथाहि-या या औदारिकशरीर-

---

गुणस्थानसे लेकर तेरहवें गुणस्थानतकके जीवोंको आहारी मानते हैं, यह बात अवश्य है कि तेरहवें गुणस्थानवालेके [केवलीके] कवलाहार तो नहीं है किन्तु कर्म नोकर्म आहार है। आहारके छह भेद हैं कर्माहार, नोकर्माहार, कवलाहार, लेपाहार, ओज आहार, मानसिकाहार। कवलाहार करनेसे ही जीव आहारी होवे सो बात नहीं है, यदि ऐसा एकांत मानेंगे तो एकेन्द्रिय जीव, अंडेमें स्थित जीव, देव और उपवास आदिके कारण भोजन नहीं करने वाले मनुष्य तिर्यंच इन सबके अनाहारी बन जानेका प्रसंग आता है, परन्तु ये जीव अनाहारी नहीं हैं। अनाहारी जीव तो ये हैं—विग्रह-गतिमें स्थित, कार्माण काययोगमें समुद्घात केवली, अयोगी जिन और सिद्ध। इनसे अवशेष जीव आहारी है, इसप्रकार सिद्धांतमें कथन है।

देहस्थितिके लिये जो आहार होता है वह कवलाहार ही है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो हेतु देवादिके साथ अनैकान्तिक होता है, क्योंकि देवोंके कवलाहार नहीं होते हुए भी शरीरकी स्थिति बनी रहती है।

शंका—औदारिक शरीर की स्थिति आहारके बिना नहीं होती ऐसा विशेष्य जोड़कर हेतुका प्रयोग करनेसे दोष नहीं आयेगा, जो जो औदारिक शरीरकी स्थिति है वह वह कवलाहार पूर्वक होती है, जैसे हम लोगोंके शरीरकी स्थिति कवलाहारसे होती है, भगवानके भी औदारिक शरीरकी स्थिति है अतः वह कवलाहार पूर्वक होनी चाहिये इसप्रकार विशेष्य जोड़कर हेतुका प्रयोग करनेसे देवोंके शरीर स्थितिके साथ व्यभिचार नहीं आता है।

समाधान—यह कथन असार है, भगवानके शरीरकी स्थिति परम औदारिक है वह हम जैसे लोगोंके औदारिक शरीर स्थितिसे विलक्षण हुआ करती है परम औदा-

स्थितिः सा सा कवलाहारपूर्विका यथास्मदादीनाम्, औदारिकशरीरस्थितिश्च भगवतः, इति न त्रिदशशरीरस्थित्या व्यभिचारः; इत्यप्यसारम्; तदीयौदारिकशरीरस्थितेः परमौदारिकशरीरस्थितिरूपतयाऽस्मदाद्यौदारिकशरीरस्थितिविलक्षणत्वात्। तस्याश्च केवलावस्थायां केशादिवृद्ध्यभाववद्भुक्त्यभावोप्यविरुद्ध एव।

कथं चैवं वादिनो भगवत्प्रत्यक्षमतीन्द्रियं स्यात् ? शक्यं हि वक्तुम्–तत्प्रत्यक्षमिन्द्रियजं प्रत्यक्षत्वादस्मदादिप्रत्यक्षवत्। तथा सरागोऽसौ वक्तृत्वात्तद्वदेव। न ह्यस्मदादौ दृष्टो धर्मः कश्चित्तत्र साध्यः कश्चिन्नेति वक्तुं युक्तम्, स्वेच्छाकारित्वानुषङ्गात्। तथा च न कश्चित्केवली वीतरागो वा, इति कस्य भुक्तिः प्रसाध्यते ? यदि चैकत्र तच्छरीरस्थितेः कवलाहारपूर्वकत्वोपलम्भात्सर्वत्र तथाभावः

रिक शरीर स्थिति केवलज्ञान अवस्थामें अविरुद्ध ही है, अर्थात् बिना भोजन शरीर स्थिति रह सकती है। जैसे नख और केशोंकी वृद्धि नहीं होना केवलीमें अविरुद्ध माना जाता है वैसे ही आहार बिना शरीर स्थिति का रहना भी अविरुद्ध है।

श्वेताम्बर भगवानके कवलाहारका ग्रहण करना मानते हैं सो ऐसे भगवानके अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान कैसे संभव है ? कोई कह सकता है कि केवलीका ज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है, क्योंकि वह प्रत्यक्षज्ञान, जैसे हम लोगोंका प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रिय प्रत्यक्ष है। तथा वे केवली सरागी भी क्योंकि बोलते हैं, जिसप्रकार हम लोग बोलते हैं। ऐसा तो कहना नहीं कि हमारे लोगोंमें पाया जाने वाला कोई धर्म तो केवलीमें होता है और कोई धर्म नहीं होता, इसतरह तो स्वेच्छाकारिपना सिद्ध होता है। इसप्रकारके सरागी एवं इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान वाले पुरुष केवली भगवान नहीं कहला सकते। फिर तो इस विश्वमें न कोई वीतरागी है और न कोई केवली ही है ? अतः कवलाहार भी किसके सिद्ध किया जाय ? यदि आप कहीं पर सप्तधातुमय औदारिक शरीर की स्थिति आहार पूर्वक देखकर सभी शरीरोंमें वैसे ही स्थिति सिद्ध करते हैं तो घटादिमें रचना विशेषको बुद्धिमान पूर्वक देखकर तनु, तरु, पर्वतादि की रचनाको भी बुद्धिमान पूर्वक सिद्ध करना मान्य होगा ? अर्थात् सृष्टि कर्तृत्वको स्वीकार करना होगा ? तथा तिमिर रोगी को एक चंद्रमें दो चंद्रका प्रतिभास होता है वह निरालंब [विना दो चंद्रके] होता हुआ देख सभी प्रतिभासोंको निरालंब मानना होगा।

भावार्थ–हम जैसे सामान्य जीवोंका औदारिक शरीर आहारके विना नहीं रह सकता वैसे केवली भगवानका परम औदारिक शरीर भी आहारके विना नहीं रह

साध्यते; तर्हि घटादौ सन्निवेशादेर्बुद्धिमत्पूर्वकत्वोपलम्भात्तन्वादीनामप्यतो बुद्धिमत्पूर्वकत्वसिद्धिः स्यात्। द्विचन्द्रादिप्रत्ययस्य निरालम्बनत्वोपलम्भाच्चाखिलप्रत्ययानां निरालम्बनत्वप्रसङ्गः स्यात्। अथ यादृशं बुद्धिमत्कारणव्याप्तं सन्निवेशादि घटादौ दृष्टं तादृशस्य तन्वादिष्वभावान्नातस्तेषां तत्पूर्वकत्वसिद्धिः; तर्हि यादृशमौदारिकशरीरस्थितित्वमस्मदादौ तद्भुक्तिपूर्वकं दृष्टं तादृशस्य भगवत्परमौदारिकशरीरस्थितावभावान्नातस्तस्यास्तद्भुक्तिपूर्वकत्वसिद्धिः। यथा च प्रत्ययत्वाविशेषेपि कस्यचिन्निरालम्बनत्वमन्यस्यान्यत्वम्, तथा च तच्छरीरस्थितेस्तत्वाविशेषेपि निराहारत्वमितरच्चेष्यतामविशेषात्।

सकता ऐसा सर्व सामान्य नियमको विशेषमें घटित किया जाय तो ईश्वर वादी नैयायिक आदिका कथन भी घटित होगा कि घटादि पदार्थोंका कर्त्ता कोई बुद्धिमान चेतन व्यक्ति होता है अतः सभी वृक्ष पर्वत पृथ्वी आदिका कर्त्ता भी बुद्धिमान चेतन व्यक्ति [ईश्वर] होना चाहिये [अर्थात् सृष्टिका रचयिता मानना चाहिये] इत्यादि। तथा शून्यवादीकी मान्यता है कि द्वि चन्द्रादिरूप प्रतिभास यदि विना आलंबनके [दो चंद्रके नहीं होते हुए भी दो चन्द्र दिखायी देना] होते हैं तो सभी प्रतिभास [ज्ञान] बिना आलंबनके होना चाहिये। बाह्य पदार्थकी सत्ता ही नहीं है सब शून्य रूप है इत्यादि। ये ईश्वरवादी तथा शून्यवादी भी आप श्वेताम्बर के समान एक जगहका देखा गया धर्म सर्वत्र घटित करते हैं अतः यह सब सिद्धांतको भी स्वीकार करनेका प्रसंग आता है।

शंका—ईश्वरवादी आदि एकांतमतीका कथन मान्य नहीं हो सकता क्योंकि जिसप्रकार की बुद्धिमान कारण पूर्वक रचना घटादिमें व्याप्त हुई दिखायी देती है उस प्रकारकी वृक्ष, पर्वत, पृथ्वी आदिमें दिखायी नहीं देती अतः इन वृक्षादि में बुद्धिमान कारणपना सिद्ध नहीं कर सकते।

समाधान—यही बात केवली भगवानके विषयमें हैं, जिसप्रकारका हमारा औदारिक शरीर है वह भोजन पूर्वक स्थित रहता है उसप्रकारका भगवानका परम औदारिक शरीर नहीं है, वह तो भोजनके अभावमें ही स्थित रहता है, अर्थात् हम जैसे सामान्य मनुष्योंके शरीरकी स्थिति भोजन पूर्वक होती है, वैसे भगवानके परमौदारिक शरीर की स्थिति नहीं है, अतः उनके शरीर स्थिति को भोजन पूर्वक सिद्ध नहीं कर सकते। जिसप्रकार प्रतिभासकी अपेक्षा समानता होते हुए भी किसी द्विचंद्रादि प्रतिभासको तो निरालंब मानते हैं और किसी घटादि के प्रतिभासको अवलंबन सहित मानते हैं, यही सिद्धांत शरीर स्थितिका है अर्थात् शरीर स्थितिपना समान होते हुए

अथ 'अन्यादृशमौदारिकशरीरस्थितित्वमन्यादृशाश्च पुरुषा न सन्ति' इत्युच्यते तर्हि मीमांसकमतानुप्रवेशः। अतो यथान्यादृशाः सन्ति पुरुषास्तथा तत्स्थितित्वमपि। कथमन्यथा सप्तधातुमलापेतत्वं तच्छरीरस्य स्यात्? तत्सम्भवे तत्स्थितेरतद्भुक्तिपूर्वकत्वमपि स्यात्।

तपोमाहात्म्याच्चतुरास्यत्वादिवच्चाभुक्तिपूर्वकत्वे तस्याः को विरोधः? दृश्यते च पञ्चकृत्वो भुञ्जानस्य यादृशी तच्छरीरस्थितिस्तादृश्येव प्रतिपक्षभावनोपेतस्य चतुस्त्रिद्व्येकभोजनस्यापि। तथा प्रतिदिनं भुञ्जानस्य यादृशी सा तादृश्येवैकद्वयादिदिनान्तरितभोजिनोपि। श्रूयते च बाहुबलिप्रभृतीनां संवत्सरप्रमिताहारवैकल्येपि विशिष्टा शरीरस्थितिः। आयुःकर्मैव हि प्रधानं तत्स्थितेर्निमित्तम्, भुक्त्यादिस्तु सहायमात्रम्। तच्छरीरोपचयोपि लाभान्तरायविनाशात्प्रतिसमयं तदुपचयनिमित्तभूतानां

भी केवलीके वह स्थिति निराहार पूर्वक है और हम जैसे जीवोंकी स्थिति आहारपूर्वक है ऐसी न्याय संगत मान्यता होनी चाहिये।

शंका—ऐसा परम औदारिक नामा शरीर और ऐसे शरीरके धारक केवलीका अस्तित्व ही नहीं होता?

समाधान—इसतरहकी मान्यतासे मीमांसक मतमें प्रवेश होवेगा, जैसे वे सर्वज्ञ को नहीं मानते वैसा स्वीकार करना होगा? अतः जिसप्रकार हमारेसे विलक्षण कोई महापुरुष सर्वज्ञ भगवान है यह बात हमें इष्ट है उसीप्रकार उन सर्वज्ञके हमारेसे विलक्षण परम औदारिक शरीरकी स्थिति भी बिना आहारके रहती है ऐसा मानना ही होगा, अन्यथा उनको सप्तधातु रहित शरीर वाले भी कैसे मान सकते हैं? जैसे केवलीका शरीर सप्तधातु तथा मलोंसे रहित है वैसे भोजन रहित भी है ऐसा स्वतः सिद्ध होता है।

केवली भगवानके तपोमाहात्म्यसे चतुर्मुख दिखायी देते हैं, उनके शरीरकी परछाई नहीं पड़ती, ऐसे ही विना भोजनके शरीर बना रहता है, इसमें कोई विरोध नहीं है। कोई व्यक्ति पांच बार खाता है उसका जैसा शरीर रहता है वैसा ही विरक्त भावसे चार बार, तीन बार, दो बार, अथवा एक बार खाने वालोंका शरीर भी उतना ही स्वस्थ बना रहता हुआ दिखायी देता है, तथा कोई व्यक्ति प्रतिदिन भोजन करता है और उसका शरीर जैसा बना रहता है वैसे ही एक दिन बाद भोजन करने वालेका, दो दिन बाद आदि रूपसे भोजन करनेवालेका शरीर भी बना रहता है, इस प्रकारकी साक्षात् उपलब्धि है। शास्त्रमें सुना जाता है कि बाहुबली जैसे महान् पुरुषों

दिव्यपरमाणूनां लाभाद् घटते। एवं छद्मस्थावस्थावच्च केवल्यवस्थायामप्यस्य भुक्त्यऽभ्युपगमे अक्षिपक्ष्मनिमेषो नखकेशवृद्ध्यादिश्चाभ्युपगम्यताम् । तदभावातिशयाभ्युपगमे वा भुक्त्यभावातिशयोप्यभ्युपगन्तव्यो विशेषाभावात् ।

ननु मासं वर्षं वा तदभावे तत्स्थितावपि नाऽऽकालं तत्स्थितिः पुनस्तदाहारे प्रवृत्त्युपलम्भादिति चेत्; कुत एतत् ? आकालं तत्स्थितेरनुपलम्भाच्चेत्; सर्वज्ञवीतरागस्याप्यत एवासिद्धे र्लाभमिच्छतो मूलोच्छेदः स्यात् । दोषावरणयोर्हान्यतिशयोपलम्भेन क्वचिदात्यन्तिकप्रक्षयसिद्धे स्तत्सिद्धौ क्वचिच्छरीरिण्यात्यन्तिको भुक्तिप्रक्षयोपि प्रसिध्येत् तदुपलम्भस्यात्राप्यविशेषात् । तन्न शरीरस्थितेर्भगवतो भुक्तिसिद्धिः ।

के एक वर्ष पर्यन्त विना भोजनके शरीर बना रहा इत्यादि । शरीरकी स्थितिमें प्रमुख हेतु आयु कर्म है, भोजनादिक उसके सहायक हैं । भगवानका शरीर लाभांतराय कर्म का सर्वथा नाश हो जानेसे प्रतिसमय आनेवाले दिव्य परमाणुओंसे परिपुष्ट एवं स्वस्थ बना रहता है, अर्थात् केवली भगवान आहार तो नहीं करते किन्तु नोकर्माहार द्वारा उनका शरीर पुष्ट रहता है । क्योंकि लाभांतराय कर्मका नाश हो चुका है । यदि श्वेतांबर भगवानके भी छद्मस्थ जीवोंके समान भोजन करना स्वीकार करते हैं तो नेत्रकी पलकें लगना, नख केशोंका बढ़ना आदिको भी स्वीकार करना होगा किन्तु आप नख केशोंकी वृद्धि नहीं होना इत्यादिको अतिशय मानते हैं, अतः भोजनका अभावरूप अतिशय भी अवश्य मानना चाहिये, दोनोंमें कोई विशेषता नहीं है ।

श्वेतांबर—यद्यपि मनुष्योंका शरीर महिनों तक या वर्ष तक विना भोजनके रह सकता है किन्तु मरणकाल पर्यन्त तो नहीं रह सकता । महिना आदि के बाद तो अवश्य भोजन करना पड़ता है ?

दिगम्बर—इस बातको आप किस हेतुसे सिद्ध करेंगे ? मरण काल तक शरीर की स्थिति विना भोजनके दिखायी नहीं देती अतः ऐसा सिद्ध करते हैं, ऐसा कहो तो इसी हेतु द्वारा सर्वज्ञ वीतरागकी असिद्धि होनेसे लाभके बजाय मूलका ही नाश होना जैसी उक्ति चरितार्थ होगी ? [अर्हंतसर्वज्ञके कवलाहार माननेसे उनके सर्वज्ञपनेका ही अभाव सिद्ध होगा] यदि कहा जाय कि "किसी पुरुष विशेषमें आवरणकर्म और रागादि दोष अत्यंत नाशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि उन आवरणादिमें हीयमानपना देखा जाता है, इस सुप्रसिद्ध अनुमान द्वारा सर्वज्ञ वीतरागका सद्भाव सिद्ध होता है ? तो

अथोच्यते-वेदनीयकर्मणः सद्भावात्तत्सिद्धिः; तथाहि-भगवति वेदनीयं स्वफलदायि कर्मत्वा-दायुःकर्मवत्; तदप्युक्तिमात्रम्; यतोऽतोप्यनुमानात्तत्फलमात्रं सिद्ध्येन्न पुनर्भुक्तिलक्षणम्। अथ क्षुदादिनिमित्तवेदनीयसद्भावाद्भुक्तिसिद्धिः; ननु तन्निमित्तं तत्रास्तीति कुतः? क्षुदादिफलाच्चे-दन्योन्याश्रयः-सिद्धे हि भगवति तन्निमित्तकर्मसद्भावे तत्फलसिद्धिः, तस्याञ्च तन्निमित्तकर्म-सद्भावसिद्धिरिति।

अथाऽसातवेदनीयोदयात्तत्र तत्सिद्धिः; न; सामर्थ्यवैकल्यात् तस्य। अविकलसामर्थ्यं ह्यसाता-दिवेदनीयं स्वकार्यकारि, सामर्थ्यवैकल्यं च मोहनीयकर्मणो विनाशात्सुप्रसिद्धम्। यथैव हि पतिते सैन्यनायकेऽसामर्थ्यं सैन्यस्य तथा मोहनीयकर्मणि नष्टे भगवत्यसामर्थ्यमघातिकर्मणाम्। यथा च

यही बात कवलाहारके अभाव की है अर्थात् किसी पुरुष विशेषमें कवलाहार [भोजन का] सर्वथा अभाव हो जाता है, क्योंकि उसमें हीयमानपना देखा जाता है" इस अनुमान द्वारा अर्हंत सर्वज्ञके कवलाहार का अभाव सिद्ध होता ही है। उभयत्र अनुमानों में कोई विशेषता नहीं है [दोनों ही स्वसाध्यको भलीभांति सिद्ध करने वाले हैं] अतः शरीर स्थितिका हेतु देकर भगवानके कवलाहारको सिद्ध करना असंभव है।

श्वेताम्बर–वेदनीयकर्मका सद्भाव होनेके कारण केवलीमें कवलाहार स्वीकार किया है, भगवानका वेदनीयकर्म अपनाफल [सुख दुःख, भूख प्यासादिको] देनेवाला है, क्योंकि वह कर्म है, जैसे उनका आयुकर्म अपना फल देनेवाला है।

दिगम्बर–यह कथन अयुक्त है, उपर्युक्त अनुमानसे वेदनीयकर्मका सामान्यसे फल देना तो सिद्ध होगा किन्तु भूख लगना आदि रूप विशेष फल तो सिद्ध नहीं होगा। क्षुधादि वेदना निमित्त भूत वेदनीय कर्म मौजूद है अतः केवलीके भोजनकी सिद्धि होती है ऐसा कथन भी असत् है, केवलीमें वेदनाका निमितभूत वेदनीयकर्म है यह किस हेतुसे सिद्ध करेंगे? क्षुधादि वेदना रूप फलको देखकर सिद्ध करें तो अन्योन्या-श्रय दोष होगा–भगवानमें क्षुधादि निमित्तक वेदनीय कर्मका सद्भाव सिद्ध होनेपर उसके फलकी सिद्धि होगी, और फलके सिद्ध होनेपर तन्निमित्तक वेदनीय कर्मकी सिद्धि होगी, इस तरहके अन्योन्याश्रय कारण दोनों भी असिद्धिकी कोटिमें आयेंगे।

श्वेताम्बर–अरंहतके असाता वेदनीय कर्मका उदय पाया जाता है अतः उनके क्षुधा बाधाका सद्भाव है।

मन्त्रेण निर्विषीकरणे कृते मन्त्रिणोपभुज्यमानमपि विषं न दाहमूर्च्छादिकं कर्त्तुं समर्थम्, तथा असातादिवेदनीयं विद्यमानोदयमप्यसति मोहनीये निःसामर्थ्यत्वान्न क्षुद्दुःखकरणे प्रभु सामग्रीतः कार्योत्पत्तिप्रसिद्धेः ।

मोहनीयाभावश्च प्रसिद्धो भगवतः, तीव्रतरशुक्लध्यानानलनिर्दग्धघनघातिकर्मेन्धनत्वात् । यदि च तदभावेपि तदुदयः स्वकार्यकारी स्यात्; तर्हि परघातकर्मोदयात्परान् यष्ट्यादिभिस्ताडयेत् स एव वा परैस्ताड्येत । परघातोदयोपि हि संयतानामर्हदवसानानामस्ति । अथ परमकारुणिकत्वात्तदुदयेपि न परांस्ताडयति उपसर्गाभावाच्च न च तैस्ताड्यते; तर्ह्यनन्तसुखवीर्यत्वाद्बाधाविरहाच्चासातादिवेदनीयोदये सत्यपि भोजनादिकं न कुर्यात् । मोहकार्यत्वाच्च करुणायाः कथं तत्क्षये परमकारुणिकत्वं तस्य स्यात् ?

दिगम्बर–ऐसी बात नहीं है, उनका असाता कर्म सामर्थ्य रहित है, जिसमें पूर्ण सामर्थ्य होती है वही असाता कर्म अपना कार्य कर सकता है, मोहनीय कर्मके नाश होनेसे वेदनीय कर्मकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है यह बात सिद्धांत प्रसिद्ध है ही । जिसप्रकार सेनानीके नष्ट हो जाने पर सेनाका सामर्थ्य नष्ट हो जाता है उसीप्रकार मोहनीय कर्मके नष्ट होने पर असाता वेदनीयादि अघाती कर्मोंकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है । जैसे मंत्र द्वारा जिसका विषैलापन नष्ट कर दिया है ऐसे विषको मंत्रवादी भक्षण कर जाता है किन्तु अब वह विष मूर्च्छा, दाह आदि विकारको नहीं कर सकता, वैसे ही असाता वेदनीय कर्मका उदय होते हुए भी मोहनीय कर्मके नष्ट हो जाने से वह उदय क्षुधादि दुःखरूप फलको देनेवाला नहीं हो सकता, क्योंकि कार्य तो पूर्ण सामग्रीके मिलने पर ही होता है, केवली भगवानके मोहनीय कर्म नष्ट हो चुका है यह बात तो सर्व सम्मत ही है, उन्होंने तो तीव्रतर शुक्ल ध्यानरूपी अग्निद्वारा घातिया कर्मरूपी ईंधनको भस्मसात् कर दिया है । यदि मोहनीय कर्मके अभावमें भी वेदनीय कर्मके उदयको कार्यकारी मानते हैं तब तो परघातनामा नामकर्म के उदय होनेसे केवली भगवान अन्य जीवोंको लाठी आदिसे ताडित करें अथवा अन्य जीव द्वारा ये ताडित किये जा सकते हैं ? क्योंकि परघात नामकर्मका उदय अर्हन्त केवली पर्यन्तके संयतोंको भी होता ही है ।

श्वेताम्बर–केवली भगवान परम कारुणिक हैं अतः परघात नामा कर्मका उदय होते हुए भी वे अन्य जीवोंको ताडित नही करते, तथा उनके उपसर्गका अभाव हो चुका है अतः अन्य जीव उन्हे ताडित नहीं कर सकते ?

किञ्च, कर्मणां यद्युदयो निरपेक्षः कार्यमुत्पादयति; तर्हि त्रिवेदानां कषायाणां वा प्रमत्तादिषूदयोस्तीति मैथुनं भ्रूकुट्यादिकं च स्यात्। ततश्च मनसः संक्षोभात्कथं शुक्लध्यानादिः क्षपकश्रेण्यारोहणं वा ? तदभावाच्च कथं कर्मक्षपणादि घटेत ?

नन्वेवं नामाद्युदयोपि तत्र स्वकार्यकारी न स्यात्; इत्यप्यसङ्गतम्; शुभप्रकृतीनां तथाप्रतिबद्धत्वेन स्वकार्यकारित्वसम्भवात्। यथा हि बलवता राज्ञा स्वमार्गानुसारिणा लब्धे देशे दुष्टा जीवन्तोपि न स्वदुष्टाचरणस्य विधातारःसुजनास्त्वप्रतिहततया स्वकार्यस्य विधातारस्तथा प्रकृतमपि। कथं पुनरशुभप्रकृतीनामेवार्हति प्रतिबद्धं सामर्थ्यम् न पुनः शुभप्रकृतीनामिति चेत्; उच्यते-अशुभ-

---

दिगम्बर–बिलकुल ठीक है, यही बात वेदनीय कर्मके विषयमें है अनंतसुख, अनंतवीर्य गुण युक्त होनेके कारण तथा बाधा रहित होनेके कारण असाताकर्मका उदय होते हुए भी भगवान आहार नहीं करते हैं, ऐसा मानना ही चाहिये। आपने कहा कि भगवान परम कारुणिक हैं किन्तु करुणा तो मोहनीयकर्मका कार्य है, भगवानका मोहनीयकर्म सर्वथा नष्ट हो चुका है अतः वे परमकारुणिक नहीं कहला सकते।

आप यदि कर्मोंके उदयको विना अन्यकी अपेक्षा लिये कार्य करनेमें समर्थ मानते हैं तो स्त्रीवेद, पुरुषवेद तथा नपुंसकवेद एवं कषायोंका उदय प्रमत्तादि गुणस्थानोंमें रहता है अतः उन कर्मोंका कार्य मैथुन सेवन भ्रूकुटि चढाना आदि भी उन गुणस्थानवर्त्ती साधुओंके मानना होगा ? फिर तो मनमें क्षोभको एवं विकारको प्राप्त उन साधुओंके शुक्ल ध्यानादि कैसे हो सकते हैं ? अथवा क्षपक श्रेणिमें आरोहण कैसे होगा ? और इनके अभाव कर्मका क्षय होना भी कैसे घटित होगा।

श्वेताम्बर–वेदनीय कर्मका उदय होते हुए भी वह यदि कार्यकारी नहीं होता तो नाम कर्मका उदय भी स्वकार्यकारी नहीं होना चाहिये।

दिगम्बर–ऐसी बात है कि जो शुभकर्मकी प्रकृतियां हैं उनका उदय विना रुकावटके भगवानमें कार्य करता रहता है, इस विषयमें दृष्टांत है कि दुष्टोंका निग्रह और शिष्ट पुरुषों पर अनुग्रह करने वाले बलवान राजा के देशमें दुष्ट जीव रहते हुए भी अपना दुष्टपूर्ण कार्य करनेमें असमर्थ हुआ करते हैं और शिष्ट–सज्जन अपने परोपकार आदि कार्यको विना रुकावट करते हैं। इसीप्रकार केवली भगवानके शुभ और अशुभ दोनों कर्म रहते हुए भी अशुभ तो स्वकार्यको नहीं कर सकता और शुभ

प्रकृतीनामर्हन्ननुभावं घातयति न तु शुभानाम्, यतो गुणघातिनां दण्डो नाऽदोषाणाम् । यदि च प्रतिबद्धसामर्थ्यमप्यसातादिवेदनीयं स्वकार्यकारि स्यात्; तर्हि दण्डकवाटप्रतरादिविधानं भगवतो व्यर्थम् । तद्धि यदा न्यूनमायुर्वेदनीयादिकमधिकस्थितिकं भवति तदाऽनेन कर्मणां समस्थित्यर्थं विधीयते । न चाधिकस्थितिकत्वेन फलदानसमर्थं कर्म उपायशतेनाप्यन्यथा कर्त्तुं शक्यमिति न कश्चिन्मुक्तः स्यात् । अथ तपोमाहात्म्यान्निर्जीर्णमधिकस्थितिकत्वेन फलदानासमर्थम् आयुःकर्मसमानं क्रियते; तथा वेद्यमपि क्रियतामविशेषात् ।

कर्म अपना कार्य करता रहता है । कोई पूछे कि अर्हंतके मात्र अशुभ कर्मका सामर्थ्य ही रुकता है शुभकर्मका नहीं यह किसप्रकार जाना जाय ? तो उस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि अर्हंत भगवान अशुभकर्म प्रकृतियोंका ही अनुभाग नष्ट करते हैं शुभप्रकृतियोंका नहीं, क्योंकि "गुणोंका घात करनेवालेको दंड दिया जाता है, निर्दोषको दंड नहीं देते" इस न्यायके अनुसार अशुभकर्म गुणोंका घातक होनेके कारण उन्हीं का अनुभाग नष्ट किया जाता है, शुभका नहीं, क्योंकि शुभ गुणोंका घातक नहीं है । इसप्रकारका सामर्थ्य विहीन वेदनीय कर्म भी यदि स्वकार्यको करता ही है ऐसा माने तो दंड, कपाट, प्रतरादि समुद्घात क्रिया करना भगवानके व्यर्थ ठहरता है । यह समुद्घात क्रिया तो तब होती है जब आयुकर्म कम स्थितिवाला हो और नाम वेदनीय आदि कर्म अधिक स्थितिवाले हों, कर्मकी ऐसी स्थितिके रहनेपर समुद्घात क्रियासे उनको समान किया जाता है । जो अधिक स्थिति रूपसे फल देनेमें समर्थ है उसको सैंकडों उपायोंसे भी अन्यथा नहीं कर सकता यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो कोई भी जीव कर्ममुक्त नहीं हो सकता ।

श्वेताम्बर–शुक्ल ध्यानरूपी तपो माहात्म्यसे कर्म निर्जीर्ण होता है वह अधिक स्थितिरूपसे फल देनेमें समर्थ नहीं रहता उसको आयु कर्मके समान स्थिति वाला किया जाता है ।

दिगम्बर–यही बात वेदनीयकर्म में होती है, वह भी तपो माहात्म्यसे निर्जीर्ण हो जाने से फलदानमें असमर्थ होता है, और समुद्घात द्वारा उसको आयु कर्मके समान स्थिति वाला किया जाता है ऐसा मानना चाहिये । यहां तक के विवेचनसे अग्रिम मंतव्य भी खंडित हुआ समझना चाहिये कि दिगम्बर वेदनीय कर्मको केवलीमें फल देनेमें असमर्थ मानते हैं तो उसकर्मका उनमें सत्व ही नहीं रहता ऐसा मानना चाहिये ?

एतेनेदमप्यपास्तम्-यदि वेदनीयमफलम् तत्र तन्नास्त्येव ज्ञानावरणादिवत्, तथा च कर्मपञ्चकस्याभावस्तत्र प्राप्नोतीति। कथम् ? यद्यायुरधिकानि वेद्यादीनि स्वफलदानसमर्थानि; तर्हि मुक्त्यभावः। नो चेन्न तेषां कर्मत्वमिति तदपनयनाय योगिनो लोकपूरणादिप्रयासो व्यर्थः। अनुष्ठानविशेषेणापहृतसामर्थ्यानामवस्थानं वेद्येपि समानम्। न च कारणमस्तीत्येतावतैव कार्योत्पत्तिः अन्यथेन्द्रियादिकार्यस्याप्यनुषङ्गाद्भगवतो मतिज्ञानस्य रागादीनां च प्रसङ्गः। अथावरणक्षयोपशमस्य मोहनीयकर्मणश्च सहकारिणो विरहान्नेन्द्रियादि स्वकार्ये व्याप्रियते; अत एव वेदनीयमपि न व्याप्रियेत। न ह्यत्यन्तमात्मनि परत्र वा विरतव्यामोहस्तदर्थं किञ्चिदादातुं हातुं वा प्रवर्त्तते। प्रयोगः-यो यत्रात्यन्तं व्यावृत्तव्यामोहः स तदर्थं किञ्चिदादातुं हातुं वा न

जैसे ज्ञानावरणादि कर्म नष्ट हुए हैं फिर तो केवलीके पांच कर्मोंका अभाव होना स्वीकार करना होगा ? अब उपर्युक्त मंतव्य कैसे खंडित होता है सो बताते हैं-केवली भगवानके आयुकर्मसे अधिक स्थिति वाले वेदनीयादि कर्म अपना फल देनेमें समर्थ होते हैं तो उन केवलीको कभी भी मुक्ति नहीं होगी, और यदि वे कर्म फलदानमें असमर्थ हैं तो उन कर्मोंका अस्तित्व नहीं रहनेसे लोक पूरण समुद्घात होना व्यर्थ ठहरता है।

श्वेताम्बर-यद्यपि अरहंत केवलीके कर्मोंका अस्तित्व है किन्तु वह अनुष्ठान विशेष के कारण सामर्थ्यहीन हो गये हैं ?

दिगम्बर-यही बात वेदनीय कर्ममें घटित होती है, उसकी सामर्थ्य भी अनुष्ठान विशेष द्वारा नष्ट हो चुकी है, कारणके होने मात्रसे कार्यकी उत्पत्ति होवे ही ऐसा नियम नहीं है, यदि ऐसा मानेंगे तो भगवानके स्पर्शनादि इन्द्रियां होनेसे उनका कार्य जो मति ज्ञान उत्पन्न करना है वह भी मानना पड़ेगा, तथा रागकी उत्पत्ति भी माननी होगी, किन्तु यह सब नहीं होता है, ऐसे ही असाता रूप कारणके रहते हुए भी भोजनरूप कार्य नहीं होता ऐसा स्वीकार करना ही होगा।

श्वेताम्बर-आवरण कर्मके क्षयोपशम रूप सहकारी कारणके नहीं होनेसे तथा मोहनीयकर्मरूप सहकारीके नहीं होनेसे अरहंत की इन्द्रियां स्वकार्यको करनेमें प्रवृत्त नहीं हो पाती एवं रागादि उत्पन्न नहीं होते।

दिगम्बर-वेदनीयकर्मकी भी यही बात है वह भी मोहनीयकर्मके अभाव में स्वकार्यके करनेमें प्रवृत्त नहीं हो पाता। जो व्यक्ति अपनेमें या परमें अत्यन्त विरक्तचित्त हो जाता है वह आदान प्रदान रूप कुछ भी कार्य नहीं करता है, अनुमान प्रसिद्ध

प्रवर्त्तते यथा व्यावृत्तव्यामोहा माता पुत्रे, व्यावृत्तात्यन्तव्यामोहश्च भगवान्, ततः सोपि भोजनमादातुं क्षुदादिकं वा हातुं न प्रवर्त्तते। प्रवृत्तौ वा मोहवत्त्वप्रसङ्गः; तथाहि-यस्तदादातुं हातुं वा प्रवर्त्तते स मोहवान् यथाऽस्मदादिः, तथा चायं श्वेतपटाभिमतो जिन इति। तथा च कुतोऽस्याप्तता रथ्यापुरुषवत् ?

न चेयं बुभुक्षा मोहनीयानपेक्षस्य वेदनीयस्यैव कार्यम्, येनात्यन्तव्यावृत्तव्यामोहेप्यस्याः सम्भवः। भोक्तुमिच्छा हि बुभुक्षा, सा कथं वेदनीयस्यैव कार्यम् ? इतरथा योन्यादिषु रन्तुमिच्छा रिरंसा तत्कार्यं स्यात्। तथा च कवलाहारवत् स्त्र्यादावपि तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गान्नेश्वरादस्य विशेषः। यथा

बात है कि जो जिसमें अत्यन्त मोहरहित हो जाता है वह उसके लिये ग्रहण या त्याग रूप कार्य नहीं करता, जैसे जिसकी ममता हटगयी है ऐसी माता पुत्रके प्रति ग्रहणादिका व्यवहार नहीं करती है। भगवान भी अत्यन्त विरक्त हैं निर्मोह हैं अतः वे भोजनादिको ग्रहण करना व क्षुधादिको दूर करना आदि कार्य नहीं करते हैं, यदि करेंगे तो मोहवान बन जायेंगे जो व्यक्ति भोजनादिका ग्रहण या क्षुधादिका परिहार रूप कार्यको करता है वह मोहवान है जैसे हम संसारी जीव मोहवान हैं, श्वेताम्बर का मान्य जिनेन्द्रदेव भी भोजनादि कार्य करता है अतः वह निर्मोही सिद्ध नहीं होता फिर उसमें आप्तपना कैसे संभव है ? अर्थात् रथ्यापुरुषके समान वह भी आप्त नहीं कहलावेगा।

मनुष्योंको जो भूख लगती है मोहनीय की अपेक्षाके विना सिर्फ वेदनीयकर्म के निमित्तसे नहीं लगती, जिससे कि आप मोहसे सर्वथा रहित ऐसे भगवानके भी क्षुधा का सद्भाव सिद्ध कर रहे हैं ? भोजनकी इच्छाको बुभुक्षा कहते हैं, इच्छा मोहनीय कर्मका कार्य है, वह वेदनीयका कार्य कैसे हो सकता है ? अन्यथा योनि आदिमें रमने की इच्छा रूप रिरंसा भी वेदनीय का ही कार्य कहलायेगा ? क्योंकि इच्छारूप कार्य को वेदनीयका संभावित कर लिया और ऐसा होनेपर जैसे केवली भोजन करते हैं वैसे स्त्री संभोग भी करने वाले बन जायेंगे, फिर ईश्वर [शंकर] आदिसे केवलीमें कोई विशेषता नहीं रहेगी। जिसप्रकार आप केवलीमें प्रतिपक्षी वैराग्य भावना द्वारा रिरंसा का अभाव होना मानते हैं उसीप्रकार भोजनकी इच्छाका अभाव भी मानना चाहिये। अनुमानसे सिद्ध होता है कि भोजनकी इच्छा प्रतिपक्ष भावनासे नष्ट होती है क्योंकि वह आकांक्षा है, जैसे स्त्रीकी आकांक्षा प्रतिपक्षभावनासे नष्ट होती है। यदि कहा जाय कि जब प्रतिपक्ष भावना होती है तब बुभुक्षा नहीं रहती किन्तु उसके अभावमें

च रिरंसा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते तथा बुभुक्षापि। प्रयोगः-भोजनाकांक्षा प्रतिपक्षभावनातो निवर्त्तते आकांक्षात्वात् स्त्र्याद्याकांक्षावत्। नन्वस्तुतद्भावनाकाले तन्निवृत्तिः, पुनस्तदभावे प्रवृत्तिरित्येतत् स्त्र्याद्याकांक्षायामपि समानम्। यथा चास्याश्चेतसः प्रतिपक्षभावनामयत्वादत्यन्तनिवृत्तिस्तथा प्रकृताकांक्षाया अपि।

अथाकांक्षारूपा क्षुन्न भवति, तेन वीतमोहेप्यस्याः सम्भवः; तदप्ययुक्तम्; अनाकांक्षारूपत्वेप्यस्या दुःखरूपतयाऽनन्तसुखे भगवत्यसम्भवात्। तथाहि-यत्र यद्विरोधि बलवदस्ति न तत्राभ्युदितकारणमपि तद्भवति यथाऽत्युष्णप्रदेशे शीतम्, अस्ति च क्षुद्दुःखविरोधि बलवत् केवलिन्यनन्तसुखम्। तथा यत्कार्यविरोध्यनिवर्त्त्यं यत्रास्ति तत्र तदविकलमपि स्वकार्यं न करोति यथा श्लेष्मादिविरुद्धानिवर्त्यपित्तविकाराक्रान्ते न दध्यादि श्लेष्मादि करोति, वेद्यफलविरुद्धाऽनिवर्त्यसुखं च भगवतीति।

तो बुभुक्षा होती ही है? सो यह नियम स्त्री संबंधी आकांक्षामें भी घटित होगा, अर्थात् जब वैराग्य भावना रहती है तब रिरंसा नहीं होती और जब वह भावना नहीं रहती तब उन केवलीके स्त्री अभिलाषा हो जाती है ऐसा अनिष्ट एवं विपरीत माननेका प्रसंग उपस्थित होता है। अतः जिसप्रकार भगवानमें प्रतिपक्ष भावनाद्वारा रिरंसाका अत्यन्ताभाव स्वीकार करते हैं उसीप्रकार भोजन इच्छाका भी अत्यन्ताभाव स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

श्वेताम्बर-आकांक्षारूप क्षुधा तो केवलीके नहीं होती किन्तु अनाकांक्षा रूप क्षुधा होती है, ऐसी क्षुधा वीतरागीमें भी संभव है?

दिगम्बर-यह बात असत् है, अनाकांक्षारूप क्षुधा माने तो वह भी दुःखरूप होनेके कारण अनंत सुख स्वरूप भगवानमें होना असंभव है, जहांपर जिसका विरोधी बलवान हो जाता है वहां पर कारणके रहते हुए भी वह धर्म नहीं होता, जैसे अति उष्ण प्रदेशमें शीतलता नहीं रहती। केवली भगवानमें भी क्षुधाका बलवान विरोधी अनंत सुख विद्यमान है अतः क्षुधा बाधा नहीं हो सकती। दूसरा अनुमान प्रमाण भी है कि जिसके कार्यका विरोधी अनिवर्त्य रहता है वह अविकल रहते हुए भी स्वकार्यको नहीं कर पाता, जैसे श्लेष्मा आदिका जो विरोधी है एवं अनिवर्त्य है [हटाने योग्य नहीं है] ऐसा पित्तका विकार जब किसी व्यक्तिके हो जाता है तब उस व्यक्ति को दही आदि पदार्थ श्लेष्माकारक नहीं हो पाते हैं, वैसे ही वेदनीय कर्मके फलका विरोधी

अस्तु वा वेद्यं तत्र बुभुक्षाफलप्रदायि, तथापि-बुभुक्षातः समवसरणस्थित एवासौ भुंक्ते, चर्यामार्गेण वा गत्वा ? प्रथमपक्षे मार्गस्तेन नाशितः स्यात्। कथं च बुभुक्षोदयानन्तरमाहारासम्पत्तौ ग्लानस्य यथावद्बोधहीनस्य मार्गोपदेशो घटेत ? अथ तदुदयानन्तरं देवास्तत्राहारं सम्पादयन्ति; न; अत्र प्रमाणाभावात्। 'आगमः' इति चेन्न; उभयप्रसिद्धस्यास्याप्यभावात्। स्वप्रसिद्धस्य भावेपि नातस्तत्सिद्धिः, 'भुक्त्युपसर्गाभावः' इत्यादेरपि प्रमाणभूतागमस्य भावात्। अथ चर्यामार्गेण गत्वासौ भुंक्ते; तत्रापि किं गृहं गृहं गच्छति, एकस्मिन्नेव वा गृहे भिक्षालाभं ज्ञात्वा प्रवर्त्तते ? तत्राद्यपक्षे भिक्षार्थी गृहं गृहं पर्यटतो जिनस्याज्ञानित्वप्रसङ्गः। द्वितीयपक्षे तु भिक्षाशुद्धिस्तस्य न स्यात्। कथं चासौ मत्स्यादीन् व्याधलुब्धकप्रभृतिभिः सर्वत्र सर्वदा व्याहन्यमानान्प्राणिनस्तेषां पिशितानि च तथाऽशुच्यादींश्चार्थान् साक्षात्कुर्वन्नाहारं गृह्णीयात् ? अन्यथा निष्करुणः स्यात्। जीवानां हि बधं

एवं अनिवर्त्य ऐसा अनंत सुख केवली भगवानके हुआ करता है अतः उनके क्षुधा बाधा नहीं होती।

यदि माना जाय कि केवलीमें वेदनीय कर्म बुभुक्षा रूप फलको देता ही है तो प्रश्न होता है कि वे भगवान भूख लगने पर समवशरणमें बैठकर भोजन करते हैं, अथवा चर्यासे जाकर गृहस्थके यहां भोजन करते हैं ? प्रथम पक्ष माने तो केवली स्वयं ही मार्गका [मोक्षमार्गका] नाश करनेवाले कहलाये ! तथा भूख लगने पर यदि आहार प्राप्त नहीं हुआ तो शक्तिहीन हुए उन भगवानके वास्तविक बोध-सुधबुध तो रहेगी नहीं, फिर वे मोक्षमार्गका उपदेश किसप्रकार दे सकेंगे।

श्वेताम्बर-भगवानके भूख लगते ही देवगण वहां आहार को करा देते हैं।

दिगम्बर-ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि इसको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, आगम प्रमाण है ऐसा कहो तो वह भी अपन दोनों को मान्य हो ऐसा नहीं है, स्वमान्य आगमके होनेपर भी उससे उक्त विषय सिद्ध नहीं होता, क्योंकि हमारे यहां "केवली भगवानके भोजन और उपसर्ग नहीं होता" ऐसा प्रामाणिक आगम मौजूद है। दूसरा पक्ष-चर्यासे जाकर भोजन करते हैं सो उसमें प्रश्न होता है कि घर घरमें भिक्षाके लिये घूमते हैं अथवा जिसमें भिक्षा लाभ होना है उसी एक घरमें जाते हैं प्रथम विकल्प कहो तो घर घरमें भिक्षाके लिये घूमते हुए उन भगवान के अज्ञानी होनेका प्रसंग आता है। दूसरा विकल्प कहो तो केवलीके भिक्षाशुद्धि नहीं रहेगी, क्योंकि जहां आहार बढ़िया मिलेगा वहीं चले जाते हैं। तथा केवलज्ञानी तो

विष्ठादिकं च साक्षात्कुर्वन्तो व्रतशीलविहीना अपि न भुञ्जते, भगवांस्तु व्रतादिसम्पन्नस्तत्साक्षात्कुर्वन् कथं भुञ्जीत ? अन्यथा तेभ्योप्यसौ हीनसत्त्वः स्यात् ।

यदप्युच्यते-यत्किञ्चिद्दृष्टं शुद्धमशुद्धं तत्स्मरन्तो यथास्मदादयो भोजनं कुर्वन्ति तथा केवली साक्षात्कुर्वन्निति; तदप्युक्तिमात्रम्; न ह्यस्मदादीनां परमचारित्रपदप्राप्तेनाशेषज्ञेन भगवता साम्यमस्ति। अस्मदादयोपि हि यथा(यदा)कथञ्चित्किञ्चिदशुद्धं वस्तु दृष्टं स्मरन्तो भोजनपरित्यागेऽसमर्थास्तद्भुञ्जते तदा तद्दोषविशुद्ध्यर्थं गुरुवचनादात्मानं निन्दन्तः प्रायश्चित्तं कुर्वन्ति । ये तु तत्त्यागे समर्थाः पिण्डविशुद्धावुद्यतमनसो निर्वेदस्य परां काष्ठामापन्नास्त्यक्तशरीरापेक्षा जितजिव्हा अन्तरायविषये निपुणमतयस्ते स्मरन्तोपि न भुञ्जते ।

सकल चराचर जगतको जानते हैं अतः मत्स्यादिको मारते हुए धीवरादिको देखकर एवं उनके मांसको देखकर तथा अशुचि विष्ठा आदि मलोंको देखकर किसप्रकार आहार को कर सकेंगे ? अर्थात् नहीं कर सकते । यदि करते हैं तो वे निर्दयी कहलायेंगे । हम साक्षात अनुभव करते हैं कि जो पुरुष व्रत शील आदिका पालन भी नहीं करते किन्तु जीवोंका वध होता देख या विष्ठादिको देखकर भोजन नहीं करते फिर भगवान तो व्रत शील संपन्न हैं, वे उन पदार्थोंको साक्षात् देखते हुए भोजन कैसे करेंगे, नहीं कर सकते । अन्यथा उन जीवोंसे भी हीन शक्तिक कहलायेंगे ।

श्वेताम्बर-जिसप्रकार हम लोग जो कुछ शुद्ध या अशुद्ध वस्तुका स्मरण करते हुए भोजन को कर लेते हैं उसीप्रकार केवली उनको साक्षात् देखते हुए भोजन कर लेते हैं ।

दिगम्बर-यह कथन असत् है, हम जैसे रागी छद्मस्थ जीवोंके और परम चारित्र पदको प्राप्त सर्वज्ञ भगवानके समानता नहीं हो सकती । हम लोगोंमें भी बहुत से संयमी महानुभाव जब किसी प्रकारसे किसी अशुद्धवस्तुका स्मरण हो आता है तब भोजनका त्याग करनेमें असमर्थ होनेसे उसे कर तो लेते हैं किन्तु फिर उस दोषकी शुद्धिके लिये गुरुके समक्ष अपनी निंदा करते हुए प्रायश्चित लेते हैं । तथा बहुतसे महानुभाव साधु भोजन त्यागमें समर्थ हैं, पिंडशुद्धि अर्थात् एषणा समितिके पालन करनेमें दक्ष, वैराग्यकी चरम काष्ठाको प्राप्त, शरीरकी उपेक्षा करनेवाले, जिन्होंने रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त की है, तथा बत्तीस अंतराय पालनेमें कुशल हैं वे साधु उन विष्ठा आदि अशुचि पदार्थका स्मरण आनेपर आहार नहीं करते, अंत कर लेते हैं ।

किञ्च, असौ भोजनं कुर्वाणः किमेकाकी करोति, शिष्यैर्वा परिवृतः ? यदि एकाकी; पश्चा-ल्लग्नान् शिष्यान्विनिवार्य श्रावकानां गृहे गत्वा भुंक्ते तर्हि दीनः स्यात्। अथ तैः परिवृतः; तर्हि सावद्यप्रसङ्गः।

किञ्च, असौ भुक्त्वा प्रतिक्रमणादिकं करोति वा, न वा ? करोति चेत्; अवश्यं दोषवान् सम्भाव्यते, तत्करणान्यथानुपपत्तेः। न करोति चेत्; तर्हि भुजिक्रियातः समुत्पन्नं दोषं कथं निरा-कुर्यात् ? आहारकथामात्रेणापि ह्यप्रमत्तोपि सन् साधुः प्रमत्तो भवति, नार्हन्भुञ्जानोपीति श्रद्धा-मात्रम्। प्रमत्तत्वे चास्य श्रेणितः पतितत्वान्न केवलभाक्त्वम्।

किमर्थं चासौ भुंक्ते-शरीरोपचयार्थम्, ज्ञानध्यानसंयमसंसिद्ध्यर्थं वा, क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थं

तथा श्वेताम्बर सम्मत केवली भोजन करते हैं सो अकेले करते है अथवा शिष्योंसे परिवृत होकर करते हैं ? अकेले करते हैं तो अपने पीछे लगे हुए शिष्योंको रोककर एकाकी श्रावकके घर जाकर भोजन करनेसे दीन जैसे कहे जायेंगे। तथा शिष्योंसे परिवृत्त होकर भोजन करते हैं तो सावद्य दोष का प्रसंग आता है। केवली भगवान आहारके अनंतर प्रतिक्रमणादि करते हैं या नहीं ? करते हैं तो सदोष सिद्ध हुए। क्योंकि दोष युक्त व्यक्ति ही प्रतिक्रमण करते हैं। यदि कहे कि वे प्रतिक्रमण तो नहीं करते तो भोजन क्रियासे संजात दोषको किसप्रकार दूर कर सकेंगे ? जब कि भोजन कथाको करनेमात्रसे अप्रमत्त गुणस्थानवर्त्ती साधु प्रमत्त गुणस्थानमें आजाते हैं तब अर्हत केवली साक्षात् भोजन करते हुए भी प्रमत्त नहीं होते, यह कहना तो श्रद्धा मात्र है यदि आहार करते हुए केवली प्रमत्त हो जाते हैं ऐसा मानते हैं तब तो वे श्रेणिसे भी नीचे गिर गये ? फिर केवलज्ञानी कैसे रहे। तथा केवली भगवान किस लिये भोजन करते है ? शरीर पुष्टिके लिये, ज्ञान ध्यान एवं संयमकी सिद्धिके हेतु, क्षुधावेदनाके परिहारके लिये, अथवा प्राणरक्षाके लिये ? शरीर पुष्टिके लिये भोजन करना आवश्यक नहीं, क्योंकि लाभांतराय कर्मका सर्वथा क्षय हो जानेसे प्रतिक्षण दिव्य विशिष्ट परमाणुओंका लाभ भगवानके होता ही रहता है, उन्हींसे शरीर पुष्ट बना रहता है। तथा शरीर पुष्टि हेतु भगवान आहार करते हैं तो वे निर्ग्रन्थ कहां रहे ? वे तो प्राकृत (हीन) पुरुष सदृश हो गये। ज्ञानादिकी सिद्धिके लिये आहार करना भी बनता नहीं, उनके तो सकल पदार्थ विषयक अक्षय अनंतज्ञान प्राप्त हो चुका है, संयम भी यथाख्यात चारित्र नामा प्राप्त है, और ध्यान तो उनके होता नहीं

वा, प्राणत्राणार्थं वा ? न तावच्छरीरोपचयार्थम्; लाभान्तरायप्रक्षयात्प्रतिसमयं विशिष्टपरमाणुलाभतस्तत्सिद्धेः । तदर्थं तद्ग्रहणे चासौ कथं निर्ग्रन्थः स्यात् प्राकृतपुरुषवत् ? नापि ज्ञानादिसिद्ध्यर्थम्; यतो ज्ञानं तस्याखिलार्थविषयमक्षयस्वरूपम् संयमश्च यथाख्यातः सर्वदा विद्यते । ध्यानं तु परमार्थतो नास्ति निर्मनस्कत्वात्, योगनिरोधत्वेनोपचारतस्तत्रास्य सम्भवात् । नापि प्राणत्राणार्थम्; अपमृत्युरहितत्वात् । नापि क्षुद्वेदनाप्रतीकारार्थम्; अनन्तसुखवीर्ये भगवत्यस्याः सम्भवाभावस्योक्तत्वात् ।

ननु भगवतो भोजनाभावे कथम् 'एकादश जिने परीषहाः' इत्यागमविरोधो न स्यात् ? तदसत्; तेषां तत्रोपचारेणैव प्रतिपादनात्, उपचारनिमित्तं च वेदनीयसद्भावमात्रम् । परमार्थतस्तु तत्र तेषां सद्भावे क्षुदादिपरीषहसद्भावाद्बुभुक्षावद् रोगवधतृणस्पर्शपरीषहसद्भावान्महद्दुःखं

क्योंकि भावमन नहीं है । सिर्फ योग निरोधादि को देखकर ध्यानको उपचारसे माना है । प्राणरक्षाके लिये भोजन करना भी आवश्यक नहीं वे तो अपमृत्यसे रहित हैं । क्षुधा की पीड़ाको दूर करनेके लिये भोजन करते हैं ऐसा कहना भी व्यर्थ है क्योंकि वे अनंत सुखी हैं, अनंतसुख अनंतवीर्य वाले भगवानके क्षुधाकी पीड़ा होती ही नहीं ऐसा अभी सिद्ध हो चुका है ।

श्वेताम्बर—भगवानके भोजन नहीं होता ऐसा माने तो उनके "एकादश परिषह होती हैं" ऐसे आगम वाक्यसे विरोध प्राप्त होगा ?

दिगम्बर—ऐसा नहीं होगा, केवलीके ग्यारह परीषह उपचारसे कही है, उपचार भी इसलिये किया है कि वेदनीयकर्म का सद्भाव है, परमार्थसे वैसा माना जाय तो जैसे क्षुधा परीषहके सद्भावमें भूख लगती है वैसे रोग, वध, तृणस्पर्श आदि परीषहों के होनेसे तज्जन्य पीड़ा भी होगी ? इसतरह उनके महान दुःखोंका सद्भाव सिद्ध होगा । ऐसे दुःखित पुरुष केवली भगवान नहीं कहला सकते, वे तो हमारे सदृश सिद्ध हुए ।

यदि भगवान भोजन करते हैं, स्पर्शनेन्द्रियादि द्वारा शीतादि वस्तुओंका अनुभव करते हैं तो वे मतिज्ञानी कहलाये, केवलज्ञानी कहां सिद्ध हुए ? केवलज्ञानी केवलज्ञान द्वारा भोजनादिका अनुभव करते हैं ऐसा कहे तो जगतके यावन्मात्र भोजनादि पदार्थोंका एवं पराये व्यक्ति द्वारा अनुभूत पदार्थोंका अनुभोक्ता बन जायेंगे ।

स्यात्, तथा च दुःखितत्वान्नासौ जिनोऽस्मदादिवत्। तथा भोजनं रसनेन शीतादिकं च स्पर्शनादिनेन्द्रियेण यद्यसावनुभवेत्; तर्हि भगवतो मतिज्ञानानुषङ्गः। अथ केवलज्ञानेन; तत्रापि सर्वं भोजनादिकं परशरीरस्थमप्यस्यानुषज्यते। न चात्मशरीरस्थमेवास्य तन्नान्यदित्यभिधातव्यम्; भगवतो वीतमोहस्य स्वपरशरीरमतिविभागाभावात्।

यच्चोपचारतोप्यस्यैकादश परीषहा न सम्भाव्यन्ते तत्र तन्निषेधपरत्वात् सूत्रस्य, 'एकेनाधिका न दश परीषहा जिने एकादश जिने' इति व्युत्पत्तेः। प्रयोगः-भगवान् क्षुदादिपरीषहरहितोऽनन्तसुखत्वात्सिद्धवत्।

किञ्च, भोजनं कुर्वाणो भगवान् किल लोकैर्नावलोक्यते चक्षुषेत्यभिधीयते भवता। तत्रादर्शनेऽयुक्तसेवित्वादेकान्तमाश्रित्य भुंक्त इति कारणम्, बहलान्धकारस्थितभोजनं वा, विद्याविशेषेण स्वस्य तिरोधानं वा? तत्राद्यपक्षे पारदारिकवद्दीनवद्वा दोषसम्भावनाप्रसङ्गः। अन्धकारस्तु न सम्भाव्यते, तद्देहदीप्त्या तस्य निहतत्वात्। विद्याविशेषोपयोगे चास्य निर्ग्रन्थत्वाभावः। कथं चादृश्याय

भगवान सिर्फ स्वशरीर संबद्ध भोजन का अनुभव करते हैं अन्यके शरीर संबद्ध भोजन का नहीं, ऐसा कहना भी असत् है, वीतरागी भगवानके स्वका शरीर और परका शरीर ऐसा भेद होता नहीं।

जिनेन्द्रदेवके उपचारसे भी एकादश परीषह नहीं होती ऐसा अभिप्राय होवे तो "एकादश जिने" इस तत्वार्थ सूत्रका अर्थ निषेधपरक होगा। एकसे अधिक दस परीषह केवलीके नहीं होती ऐसी व्युत्पत्ति होगी।

अनुमान प्रमाण–भगवान क्षुधादि परीषहों से रहित हैं, क्योंकि वे अनंतसुखके भोक्ता हैं, जैसे कि सिद्ध भगवान हैं।

किंच, केवली भोजन करते हुए अन्य लोगोंको दिखायी नहीं देते ऐसा आपका कहना है, सो क्या कारण है, अयुक्त भोजन करने के कारण एकांतका आश्रय लेकर खाते हैं अथवा गाढ अंधकारमें स्थित होकर खाते हैं अतः दिखायी नहीं देते? अथवा विद्या विशेष द्वारा स्वयंको तिरोभूत कर खाते हैं? प्रथम पक्ष माने तो परदारासेवी सदृश नीच या दीन पुरुष सदृश केवलीके भी दोषकी संभावना हुई? तभी तो एकांत में अभोज्यका भक्षण किया। दूसरापक्ष अंधकारमें स्थित होकर खानेकी बात असंभव है, क्योंकि केवली जिनेन्द्रके स्वयंके शरीरकांति द्वारा अंधकार नष्ट हो चुका है। तीसरा पक्ष–विद्या द्वारा स्वको तिरोभूत कर भोजन क्रिया माने तो उनके निर्ग्रन्थता समाप्त होती है। तथा ऐसे अदृश्य भगवानको दातार आहार को कैसे देंगे? इन सब दोषोंको

तस्मै दानं दातृभिर्दीयते ? अथातिशयविशेषः । कश्चित्तस्य येन भुञ्जानो नावलोक्यते; तर्हि भोजनाभावलक्षण एवास्यातिशयोस्तु किं मिथ्याभिनिवेशेन ? ततो जीवन्मुक्तस्यात्मनोऽनन्तचतुष्टयस्वभावत्वमिच्छता कवलाहाररहितत्वमेवेष्टव्यमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

दूर करनेके लिये कहा जाय कि जिनेन्द्रका ऐसा अतिशय विशेष है कि वे खाते हुए किसीको दिखायी नहीं देते, तब तो विषय व्यवस्थित होगा, जिसप्रकार भोजन करते हुए दिखायी नहीं देनारूप अतिशय मान सकते हैं उसीप्रकार भोजनका अभावरूप अतिशय क्यों न मान सकते ? अवश्य ही मान सकते हैं, व्यर्थके हटाग्रह से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा । इसलिये जीवन्मुक्त अवस्थामें भगवान जिनेन्द्रके अनंत चतुष्टय रूप स्वभाव स्वीकार करते हैं तो वे कवलाहार रहित हैं ऐसा मानना भी अत्यावश्यक है अब इस विषयसे विराम लेते हैं ।

।। इति कवलाहारविचार समाप्त ।।

कवलाहार विचार का सारांश

पूर्वपक्ष—श्वेताम्बर जैन केवलज्ञान होने के अनंतर भी भगवान भोजन करते हैं ऐसा मानते हैं, उनका कहना है कि जैसे हमारा औदारिक शरीर है वैसे भगवान का भी औदारिक शरीर है अतः उसकी आहार के बिना स्थिति नहीं रह सकती है। इस कथनमें देवों के साथ व्यभिचार भी नहीं आता है क्योंकि उनका शरीर वैक्रियिक है महाशास्त्र तत्वार्थसूत्रमें कहा है कि "एकादश जिने" जिनेन्द्रदेव के ग्यारह परीषह होती है, इनमें भूख प्यास आदि अन्तर्भू त है, इत्यादि सो इस आगम प्रमाण से भगवान के आहार सिद्ध होता है।

उत्तरपक्ष—यह कथन युक्ति युक्त नहीं है, भगवान आहार करते है तो उनके अनंतसुख का अभाव होने से अनंत चतुष्टय स्वभाव का नाश होता है, आप कहो कि हमको भोजन करने से जैसे सुख होता है तथा शक्ति आती है वैसे भगवान के होता है सो यह कथन अनुचित है, भगवान के तो अनंत सुख और शक्ति है अतः आहारादि की जरूरत नहीं है। तथा भगवान के रागद्वेष न होने के कारण भोजन नही करते हैं साधु लोग भी भोजन करते हैं सो वास्तविक वीतरागी नही हैं अतः करते हैं क्योंकि उनके तो मोहनीय कर्म मौजूद है। आप केवली के सामान्य आहार मानते हो या कवलाहार हो ? सामान्य आहार मानो तो कोई बाधा नहीं, क्योंकि केवली के (कर्म) नो कर्माहार होना माना ही है। आहार छः तरह का है, कर्माहार, नोकर्माहार, ओजाहार, लेपाहार, मानसिकाहार और कवलाहार, इनमें से भगवान के नोकर्माहार है। भोजन का अभाव, उपसर्ग का अभाव यह अतिशय भगवान के केवलज्ञान होते ही प्रगट होते हैं ऐसा आगम है, वेदनीय कर्मका सद्भाव होने से आप केवली के भोजन का होना मानते हो किन्तु यह अयुक्त है, क्योंकि वेदनीय कर्म मोहनीय के बिना फल देने में समर्थ नहीं है अन्यथा स्त्री भोगादि भी मानने पडेंगे। भगवान भोजन करते हैं सो किस प्रकार करते हैं ? घर घर में भोजन के लिये घूमते हैं या एक घर में भिक्षा लाभ जानकर सीधे चले जाते हैं ? घर घर में घूमते हैं तो अज्ञानी दीन हुए, और जानकर एक जगह ही जाते हैं तो भिक्षा शुद्धि नहीं रही। समवशरणमें बैठकर भोजन

करेंगे तो मार्ग का नाश हुआ जबकि गृहस्थ भी आयतनों में भोजनादि नहीं करते तो भगवान किस तरह करेंगे। देव भोजन देते हैं इस बात को पुष्ट करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। तथा भगवान भोजन करने के अनन्तर प्रतिक्रमण करते हैं या नहीं ? करते हैं तो सदोष सिद्ध हुए ? जब साधु भोजनकथा करने मात्र से प्रायश्चित के भागी बनते हैं तो भगवान साक्षात भोजन करते हुए भी निर्दोष हैं यह बात श्रद्धा मात्र है। भगवान भोजन करते समय किसी को दिखत नहीं ऐसी आपकी युक्ति विचार करने पर शतधा जीर्ण हो जाती है इत्यादि अनेक दोषों से बचने के लिये केवली कवलाहार रहित ही हैं ऐसा निर्दोष पक्ष स्वीकार करना चाहिये।

।। कवलाहारविचार का सारांश समाप्त ।।

७

मोक्षस्वरूपविचारः

ननु च 'अनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभो मोक्षः' इत्ययुक्तम्; बुद्ध्यादिविशेषगुणोच्छेदरूपत्वात्तस्य। तदुच्छेदे च प्रमाणम्-नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोऽत्यन्तमुच्छिद्यते सन्तानत्वात् प्रदीपसन्तानवत्। न चायमसिद्धो हेतुः; पक्षे प्रवर्त्तमानत्वात्। नापि विरुद्धः; सपक्षे प्रदीपादौ सत्त्वात्। नाप्यनैकान्तिकः; पक्षसपक्षवद्विपक्षे परमाण्वादावप्रवृत्तेः। नापि कालात्ययापदिष्टः; विपरीतार्थोपस्थापकयोः प्रत्यक्षागमयोरसम्भवात्। नापि सत्प्रतिपक्षः; प्रतिपक्षसाधनाभावात्।

सर्वज्ञ सिद्धि के अनंतर जैनाचार्य ने प्रतिपादन किया था कि सर्वज्ञ भगवान के अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख एवं अनंतवीर्य इसप्रकार अनंत चतुष्टय स्वरूप स्वभावका लाभ होता है इसी स्वरूप लाभको मोक्ष कहते हैं, इसतरह मोक्षका स्वरूप प्रतिपादित होने पर वैशेषिक अपना पक्ष उपस्थित करता है—

वैशेषिक–अनंत चतुष्टय स्वरूप आत्माका लाभ होना मोक्ष है ऐसा मोक्षका लक्षण अयुक्त है, मोक्ष तो बुद्धि आदि नौ विशेष गुणोंका होने से होता है। गुणोंका नाश कैसे होता है इस बातको अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध करते हैं–बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और संस्कार इन गुणोंके संतानका सर्वथा उच्छेद हो जाता है, क्योंकि ये सब संतानरूप है [इनमें संतानपना इसप्रकार होता है–धर्म अधर्म से बुद्धि उत्पन्न होती है, बुद्धिसे संस्कार, संस्कारसे इच्छा और द्वेष, इच्छाद्वेष से प्रयत्न, प्रयत्नसे सुख दुःख उत्पन्न होते हैं] जैसे प्रदीपकी संतान नष्ट होती है। यह संतानत्व हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि पक्षमें विद्यमान है, विरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि सपक्ष दीपक आदिमें विद्यमान है। पक्ष और सपक्ष रहते हुए भी विपक्षभूत परमाणु आदिमें नहीं रहन से अनैकान्तिक भी नहीं है। इस संतानत्व हेतुके अर्थको विपरीत

ननु सन्तातोच्छेदरूपेपि मोक्षे हेतुर्वाच्यो निर्हेतुकविनाशानभ्युपगमात्; इत्यप्यचोद्यम्; तत्त्वज्ञ नस्य विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण निःश्रेयसहेतुत्वोपपत्तेः। दृष्टं च सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानोच्छेदे शुक्तिकादौ सामर्थ्यम्। ननु चातत्त्वज्ञानस्यापि तत्त्वज्ञानोच्छेदे सामर्थ्यं दृश्यते, ज्ञानस्य ज्ञानान्तरविरोधित्वेन मिथ्याज्ञानोत्पत्तौ सम्यग्ज्ञानोच्छेदप्रतीतेः; इत्यप्ययुक्तम्; यतो नानयोरुच्छेदमात्रमभिप्रेतम्। किं तर्हि ? सन्तानोच्छेदः। यथा च सम्यग्ज्ञानान्मिथ्याज्ञानसन्तानोच्छेदो नैवं मिथ्याज्ञानात्सम्यग्ज्ञानसन्तानस्य, अस्य सत्यार्थत्वेन बलीयस्त्वात्। निवृत्ते च मिथ्याज्ञाने तन्मूला रागादयो न सम्भवन्ति कारणाभावे कार्यानुत्पादात्। रागाद्यभावे तत्कार्या मनोवाक्कायप्रवृत्तिर्व्यावर्त्तते। तदभावे च धर्मा-

---

सिद्ध करनेवाला प्रत्यक्ष या आगम प्रमाण न होनेके कारण कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है एवं प्रतिपक्ष साधक अन्य हेतुके नहीं होनेसे सत्प्रतिपक्ष दोष युक्त भी नहीं है।

शंका—संतानका नाश होना मोक्ष है ऐसा मोक्षका स्वरूप मानना तो ठीक है किन्तु उस मोक्षके होनेमें कारण कौनसा है, कारणके विना नाशका होना स्वीकृत नहीं है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, तत्त्वज्ञानको मोक्षका कारण माना है तत्वज्ञानसे विपरीतज्ञानका नाश होता है और क्रम से मोक्ष प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होनेपर मिथ्याज्ञान नष्ट होता है, उसके नष्ट होनेसे रागादि भावका अभाव हो जाता है, उससे मन वचन कायका प्रयत्न [क्रिया] नष्ट होता है और प्रयत्नके नष्ट होते ही धर्म अधर्म समाप्त हो जाते हैं, इसप्रकार संतान उच्छेद का क्रम है। व्यवहारमें भी देखा जाता है कि सीप आदिमें चांदीका भ्रम रूप मिथ्याज्ञान होता है वह सम्यज्ञानद्वारा नष्ट होता है।

शंका—जैसे सम्यग्ज्ञानसे मिथ्याज्ञान नष्ट होता है वैसे मिथ्याज्ञानसे सम्यग्ज्ञान भी नष्ट होते हुए देखा जाता है, अर्थात् सम्यग्ज्ञानमें मिथ्याज्ञानका नाश करनेकी सामर्थ्य है तो मिथ्याज्ञानमें सम्यग्ज्ञानका नाश करनेकी सामर्थ्य है, ज्ञान तो ज्ञानांतर का विरोधी होता ही है, अतः मिथ्याज्ञानके उत्पन्न होनेपर सम्यग्ज्ञानका नाश होना भी शक्य है ?

समाधान—यह कथन असत् है, हमको यहां पर दोनोंका उच्छेदमात्र सिद्ध नहीं करना है किन्तु संतानोच्छेद सिद्ध करना है। सम्यग्ज्ञानद्वारा मिथ्याज्ञानका

धर्मयोरनुत्पत्तिः। आरब्धशरीरेन्द्रियविषयकार्ययोस्तु सुखदुःखफलोपभोगात्प्रक्षयः। अनारब्धतत्कार्ययोरप्यवस्थितयोस्तत्फलोपभोगादेव प्रक्षयः। तथा चागमः—

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" [ ] इति।

अनुमानं च, पूर्वकर्माण्युपभोगादेव क्षीयन्ते कर्मत्वात् प्रारब्धशरीरकर्मवत्। न चोपभोगात्प्रक्षये कर्मान्तरस्यावश्यं भावात्संसारानुच्छेदः; समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यावगतकर्मसामर्थ्योत्पादितयुगपदशेषशरीरद्वारावाप्ताशेषभोगस्योपात्तकर्मप्रक्षयात्; भाविकर्मोत्पत्तिनिमित्तमिथ्याज्ञानजनितानुसन्धानविकलत्वाच्च संसारोच्छेदोपपत्तेः। अनुसन्धानं हि रागद्वेषौ 'अनुसन्धीयते गतं चित्तमाभ्याम्' इति व्युत्पत्तेः। न च मिथ्याज्ञानाभावेऽभिलाषस्यैवासम्भवाद्भोगानुपपत्तिः; तदुपभोगं विना

संतानोच्छेद तो संभव है किन्तु मिथ्याज्ञानद्वारा सम्यग्ज्ञानका संतानोच्छेद होना संभव नहीं है, उसका कारण यह है कि सम्यग्ज्ञान बलशाली है।

जब मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है तब तन्निमित्तक रागद्वेष भी उत्पन्न नहीं हो पाते, क्योंकि कारणके अभावमें कार्य नहीं होता, रागादिके अभावमें मन वचन कायका प्रयत्न समाप्त होता है उसके अभावमें धर्म अधर्म नष्ट हो जाते हैं। वर्त्तमान में जो धर्म अधर्मका कार्यरूप शरीर इन्द्रियादि हैं उनका सुखदुःख रूप फल भोगकर नाश हो जाता है। वर्त्तमानमें जिनका कार्य प्रारंभ नहीं हुआ है ऐसे धर्म अधर्म आत्मा में अवस्थित रहते हैं, उनका नाश तो फल भोगनेके अनंतर होगा "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्प कोटि शतै रपि" ऐसा आगम वाक्य भी पाया जाता है। इसका समर्थक अनुमान प्रमाण—पूर्व संचित कर्म उपभोग द्वारा ही नष्ट होता है, क्योंकि वह कर्मरूप है, जैसे जिसने शरीर आदिरूप फल देना प्रारंभ कर दिया है वह कर्म भोगकर नष्ट होता है। कर्म उपभोग द्वारा ही नष्ट होता है ऐसा एकांत माने तो जब उपभोग करते हैं तब अन्य कर्म अवश्य बंधता है अतः संसार भ्रमणका नाश कैसे होगा? ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये, अन्य कर्म नहीं बंधनेका कारण यह होता है कि प्रथम तो समाधि के बलसे जिसको तत्त्वज्ञान प्राप्त हुआ है ऐसा पुरुष कर्मकी सामर्थ्यको जानकर युगपत् संपूर्ण शरीरोंका निर्माण करके अखिल कर्मोंका भोग कर लेता है, उस क्रियासे पूर्वकृत कर्म नष्ट होते हैं और आगामी कर्मोंकी उत्पत्तिका कारण जो मिथ्याज्ञान एवं तज्जन्य अनुसंधान [विकार] है वह तत्वज्ञानके सद्भावमें रहता नहीं, इसप्रकार उस पुरुषके संसार का उच्छेद हो जाता है। यहां अनुसंधान शब्दका अर्थ रागद्वेष है, "अनुसंधीयते

हि कर्मणां प्रक्षयानुपपत्तेः तत्त्वज्ञानिनोपि कर्मक्षयार्थितया प्रवृत्ते वैद्योपदेशेनातुरवदौषधाचरणे। यथैव ह्यातुरस्यानभिलषितेप्यौषधाचरणे व्याधिप्रक्षयार्थं प्रवृत्तिः, तद्व्यतिरेकेण तत्प्रक्षयानुपपत्तेस्तथात्रापि।

ननु तत्त्वज्ञानिनां तत्त्वज्ञानादेव सञ्चितकर्मप्रक्षय इत्यप्यागमोस्ति—

"यथैधांसि समिद्धोग्निर्भस्मसात्कुरुते क्षणात्।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा"

[भगवद्गी० ४।३७] इति।

गतं चित्तमाभ्यां इति अनुसंधानं" इसप्रकार अनुसंधान शब्दकी निरुक्ति है, इसका अर्थ जिनके द्वारा चित्त नाना विकल्पोंमें उलझा रहता है उसको अनुसंधान कहते हैं। मिथ्याज्ञानका अभाव हो जाने पर अभिलाषा समाप्त होती है अतः तत्त्वज्ञानीके उपभोग होना असंभव है ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिये, उपभोग किये बिना कर्मों का नाश नहीं होता अतः तत्वज्ञानी पुरुष कर्मक्षयार्थ फलोपभोगमें प्रवृत्त होते हैं, जैसे रोगको दूर करनेका इच्छुक रोगी वैद्यके कथनानुसार औषधिका उपभोग करता है, जिस तरह उस रोगीको औषधिकी रुचि नहीं है फिर भी रोगके परिहारार्थ उसका सेवन करता है उसके सेवन विना रोग नष्ट नहीं होता, ठीक इसीप्रकार तत्त्वज्ञानीके कर्मोंका नाश उसके फल भोगे विना नहीं होता अतः विराग भावसे फलोपभोग करके उनको निर्जीर्ण करते हैं।

शंका—तत्त्वज्ञानियोंके तत्वज्ञानमात्रसे ही कर्मोंका नाश होता है ऐसा आगम में लिखा है, जैसे—प्रदीप्त हुई अग्नि ईंधनोंको क्षणमात्रमें भस्मसात् कर देती है, वैसे तत्त्वज्ञान रूपी अग्नि सकल कर्मेन्धनको भस्मसात् करती है यह आगम वाक्य और पूर्वोक्त नाभुक्तं क्षीयते कर्म, इत्यादि वाक्य इनमें परस्पर विरुद्ध अर्थका प्रतिपादन होनेसे एक ही विषयमें वे आगम वाक्य प्रमाणभूत कैसे हो सकते हैं?

समाधान—यह शंका अयुक्त है, तत्त्वज्ञान कर्मोंका नाश करनेमें साक्षात् प्रवृत्ति नहीं करता, वह तो कर्मोंकी शक्ति ज्ञात कराता है, कर्मशक्तिको ज्ञात कर लेनेसे अखिल शरीरोंकी उत्पत्ति होकर फलोपभोग होता है, फिर कर्मोंका विध्वंस हो पाता है। अतः तत्त्वज्ञानके लिये अग्निकी उपमा उपचारसे है। इसप्रकारका पूर्वोक्त आगम वाक्योंका व्याख्यान करनेसे विरोध समाप्त होता है। इन आगम वाक्योंका अर्थ कोई

तथा च विरुद्धार्थत्वादुभयोरेकत्रार्थे कथं प्रामाण्यम् ? इत्ययुक्तम्; तत्त्वज्ञानस्य साक्षात्तद्विनाशे व्यापाराभावात्। तद्धि कर्मसामर्थ्यविगमतोऽशेषशरीरोत्पत्तिद्वारेणोपभोगात्कर्मणां विनाशे व्याप्रियते इत्यग्निरिवोपचर्यते ज्ञानमित्यागमव्याख्यानादविरोधः। न चैतद्वाच्यम्–तत्त्वज्ञानिनां कर्मविनाशस्तत्त्वज्ञानादितरेषां तूपभोगात्' इति; ज्ञानेन कर्मविनाशे प्रसिद्धोदाहरणाभावात्, फलोपभोगात्तु तत्प्रक्षये तत्सद्भावात्।

अन्ये तु मिथ्याज्ञानजनितसंस्कारस्य सहकारिणोऽभावाद्विद्यमानान्यपि कर्माणि न जन्मान्तरे शरीराद्यारम्भकाणीति मन्यन्ते; तेषामनुत्पादितकार्यस्यादृष्टस्याप्रक्षयान्नित्यत्वसङ्गः। अनागतयोर्धर्माधर्मयोरुत्पत्तिप्रतिषेधे तत्त्वज्ञानिनो नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं किमर्थमिति चेत् ? प्रत्यवायपरिहारार्थम्।

इसप्रकार करते हैं कि तत्त्वज्ञानी पुरुषके तो तत्वज्ञान द्वारा कर्मोका नाश होता है और तत्त्वज्ञान रहित पुरुषके फलोपभोग द्वारा कर्मों का नाश होता है, सो यह अर्थ अयुक्त है। तत्त्वज्ञान मात्रसे कर्मनाश हो जाता है ऐसा कथन किसी उदाहरण द्वारा पुष्ट नहीं हो पाता, जिससे वह सिद्ध हो। फलोपभोगद्वारा कर्म नाश होनेमें तो आगम तथा दृष्टांत दोनों प्रसिद्ध हैं।

कोई महानुभाव इसतरह प्रतिपादन करते हैं–मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुए संस्कार जिसमें सहकारी थे उनका जब अभाव हो जाता है तब विद्यमान रहते हुए भी वे कर्म अन्य जन्ममें शरीर इन्द्रिय आदिको उत्पन्न नहीं कर पाते हैं। किन्तु यह प्रतिपादन अयुक्त है, यदि कर्म अपने कार्यको उत्पन्न नही करते तो उनका नाश होना असंभव होनेसे नित्य ही अवस्थित रह जायेंगे।

शंका–तत्त्वज्ञानियोंके आगामी धर्म अधर्म उत्पन्न नहीं होते हैं तो वे नित्य नैमित्तिक क्रियानुष्ठान किसलिये करते हैं ?

समाधान–विघ्न बाधायें उपस्थित न हो एवं दुष्कर्म न हो इस हेतुसे तत्त्वज्ञानी क्रियानुष्ठान किया करते हैं।

शंका–तत्त्वज्ञानीके मिथ्याज्ञानका अभाव होनेसे दुष्कर्म भी नहीं है फिर किसका परिहार करना है ?

समाधान–ऐसी शंका ठीक नहीं, तत्त्वज्ञानीके मिथ्याज्ञानके अभावमें मात्र निषिद्ध आचरण निमित्तक प्रत्यवाय नहीं होते किन्तु विहित अनुष्ठान निमित्तक

न च मिथ्याज्ञानाभावे दुष्कर्मणोऽभावात् कस्य परिहारार्थं तदित्यभिधातव्यम्; यतो मिथ्याज्ञानाभावे निषिद्धाचरणनिमित्तस्यैव प्रत्यवायस्याभावो न विहितानुष्ठाननिमित्तस्य,

"अकुर्वन्विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते" [ ] इत्यागमात्। ततस्तदनुष्ठानं तत्परिहारार्थं युक्तम्। तदुक्तम्—

"नित्यनैमित्तिके कुर्यात्प्रत्यवायजिहासया।
मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ॥ १ ॥
[मी० श्लो० सम्बन्धा० श्लो० ११०]
नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत् ॥ २ ॥
अभ्यासात्पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः।
काम्ये निषिद्धे च परं प्रवृत्तिप्रतिषेधतः ॥ ३ ॥" [ ]

प्रत्यवाय तो संभावित है। "अकुर्वन् विहितं कर्म प्रत्यवायेन लिप्यते" अर्थात् विहित अनुष्ठानको नहीं करने वाले व्यक्ति दुष्कर्मसे बंध जाते हैं। ऐसा आगम वाक्य है, अतः प्रत्यवायके परिहारार्थ विहितानुष्ठान करना आवश्यक है। कहा भी है ज्ञानी पुरुष नित्य नैमित्तिक क्रिया प्रत्यवायके परिहार हेतु करता है, मोक्षार्थी काम्य तथा निषिद्ध अर्थात् होम आदि शुभ क्रिया तथा ब्राह्मण वध आदि अशुभ क्रिया इनको सर्वथा न करें ॥१॥ मोक्षाभिलाषी ज्ञानी नित्य नैमित्तिक क्रिया द्वारा दुरितका क्षय करें, तथा ज्ञानको निर्मल करते हुए उसको विस्तृत करे ॥२॥ अभ्यास द्वारा उसका ज्ञान हो जाता है और वह मोक्षको प्राप्त कर लेता है, उस तत्त्वज्ञानीके प्रथमतः ही काम्य और निषिद्ध क्रियाका प्रतिषेध किया गया है ॥३॥ स्वर्गका अभिलाषी इसप्रकार की क्रिया करे इत्यादि आगम वाक्यके श्रवणसे हो गयी है यागकी इच्छा जिसके ऐसे पुरुष द्वारा अग्निष्टोम आदि क्रिया की जाती है उसे 'काम्य' कहते हैं। संपूर्ण विशेष गुणोंका उच्छेद होकर विशिष्ट आत्म स्वरूप जो निर्वाण होता है उसे कैवल्य कहते हैं।

शंका—मिथ्याज्ञानका नाश होनेसे रागादिका नाश होता है इत्यादि क्रमसे होनेवाला विशिष्ट आत्मस्वरूप निर्वाण तत्त्वज्ञानका कार्य होनेसे अनित्य है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, आपने अनित्य किसको कहा विशेष गुणोंके उच्छेदको या उस उच्छेदसे विशिष्ट आत्माको ? विशेष गुणोंके उच्छेदको अनित्य कहना तो ठीक

'स्वर्गकामः' इत्याद्यागमजनितकामेन यागाभिलाषेण निर्वर्त्यं हि काम्यमग्निष्टोमादि। कैवल्यं तु सकलविशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूपं निर्वाणम्। न च विपर्ययज्ञानप्रध्वंसादिक्रमेण तद्विशिष्टात्मस्वरूपनिर्वाणस्य तत्त्वज्ञानकार्यत्वादनित्यत्वं वाच्यम्; यतो विशेषगुणोच्छेदस्यानित्यत्वमापाद्यते, तद्विशिष्टात्मनो वा ? न तावद्विशेषगुणोच्छेदस्य; अस्य प्रध्वंसाभावरूपत्वात्। कार्यवस्तुनो ह्यनित्यत्वं प्रसिद्धम्। तद्विशिष्टात्मनश्च वस्तुत्वेपि कार्यत्वाभावान्नानित्यत्वम्। न च बुद्ध्यादिविनाशे गुणिनस्तथाभावो युक्तः; तयोरत्यन्तभेदात्। तत्तादात्म्ये त्वयं दोषः स्यादेव।

अथ मोक्षावस्थायां चैतन्यस्याप्युच्छेदान्न कृतबुद्धयस्तत्र प्रवर्त्तन्ते इत्यानन्दरूपो मोक्षोऽभ्युपगन्तव्य :—

"आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते" [ ] इत्यागमात्। आत्मा सुखस्वभावोऽत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वात्, अनन्यपरतयोपादीयमानत्वाच्च। यद्यदेवंविधं तत्तत्सुखस्वभावम् यथा

नहीं, क्योंकि वह प्रध्वंसाभाव रूप होनेसे निःस्वरूप है जो कार्यरूप वस्तु होती है उसी के अनित्यपना संभव है। उच्छेदसे विशिष्ट आत्माको अनित्य कहना भी अयुक्त है, क्योंकि वह विशिष्ट आत्मा वस्तुरूप होते हुए भी किसीका कार्य नहीं होनेसे अनित्य नहीं है। तथा बुद्धि आदि गुणोंका नाश होनेसे गुणी आत्मा नष्ट हो जाय सो बात नहीं है, क्योंकि गुणीसे गुण अत्यन्त भिन्न होता है। गुण गुणीका तादात्म्य स्वीकार करते तो उक्त दोषकी संभावना थी। इसप्रकार वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्ष का स्वरूप है।

वेदांती—वैशेषिक द्वारा मान्य मोक्षावस्थामें बुद्धि आदि गुणोंका ही अभाव है किन्तु हमारा कहना है कि वहांपर चैतन्य भी अभाव होता है इसी कारणसे प्रेक्षावान उस अवस्थाके लिये प्रवृत्ति नहीं करते। मोक्ष तो आनंदरूप है ऐसा स्वीकार करना चाहिये। कहा भी है—"आनंद परम ब्रह्म का स्वरूप है और वह मोक्षमें अभिव्यक्त होता है" इस आगम वाक्यके समान अनुमान भी इसी मोक्ष स्वरूपको सिद्ध करता है—आत्मा सुख स्वभाववाला है, क्योंकि वह अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय है तथा अनन्य रूपसे ग्राह्य है, जो जो इसप्रकारका होता है वह वह अत्यन्त सुखस्वभाव वाला होता है, जैसे विषय सम्बन्धी सुख अत्यन्त प्रिय होता है, आत्मा अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय है ही अतः सुख स्वभावी है। इसप्रकार आत्मा सुख स्वभावी है यह भलीभांति सिद्ध हुआ।

वैषयिकं सुखम्, तथा चात्मा एवंविधः तस्मात्सुखस्वभावः' इत्यनुमानाच्चास्यानन्दस्वभावताप्रतीतिः; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतस्तत्सुखं नित्यम्, अनित्यं वा ? न तावदनित्यम्; तत्स्वभावतयात्मनोप्यनित्यत्व-प्रसङ्गात् । नित्यं चेत्; तत्संवेदनमपि नित्यम्, अनित्यं वा ? यदि नित्यम्; मुक्तेतरावस्थयोरविशेष-प्रसङ्गः तत्सुखसंवेदनयोर्नित्यत्वेनोभयत्र सत्त्वाविशेषात् । स्मरणानुपपत्तिश्च; अनुभवस्यैवावस्थानात् । संस्कारानुपपत्तिश्च; अनुभवस्य निरतिशयत्वात् । करणजन्यसुखेन चास्य संसारावस्थायां साहचर्य-ग्रहणप्रसङ्गात् सुखद्वयोपलम्भः सदा स्यात् ।

अथ धर्माधर्मफलेन सुखादिना शरीरादिना वा नित्यसुखसंवेदनस्य प्रतिबद्धत्वेनानुभवाभावान्न मुक्तेतरावस्थयोरविशेषः सदा सुखद्वयोपलम्भो वा; तदयुक्तम्; शरीरादेः सुखार्थत्वेन तत्प्रतिबन्धक-त्वायोगात् । न हि यद्यदर्थं तत्तस्यैव प्रतिबन्धकं युक्तम् । नापि वैषयिकसुखाद्यनुभवेन तत्प्रतिबन्धः ।

वैशेषिक–यह वेदांतीका कथन ठीक नहीं है, आत्माका सुख अनित्य है या नित्य, अनित्य मानना अशक्य है, क्योंकि आत्माके सुखस्वभावको अनित्य स्वीकार करनेपर आत्मा भी अनित्य होवेगा । उस सुखको नित्य स्वीकार करे तो प्रश्न होता है कि उस सुखका अनुभव नित्य ही होता है या अनित्य ? नित्य होनेपर मुक्त और संसार इन दोनों अवस्थाओंमें भेद नहीं रहेगा, क्योंकि सुख और सुखानुभव दोनों नित्य होनेसे उभयत्र अवस्थाओंमें उनका अस्तित्व समान ही है । अब यदि संसार अवस्थामें भी सुखानुभव सदा हो रहा है तो उसका स्मृति रूप ज्ञान कैसे होवेगा ? क्योंकि अनु-भवरूप प्रत्यक्षज्ञान सदा विद्यमान है । संस्कार रूप ज्ञान भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि अनुभवमें निरतिशयता है [सदा एकता है] किन्तु संसारी जीवोंमें धारणा रूप संस्कार अवश्य पाया जाता है । संसार अवस्था इन्द्रिय जन्य सुख विद्यमान रहनेसे नित्यसुखके साथ इसका ग्रहण भी अवश्यंभावी है अतः सदा दो सुखोंकी उपलब्धि होनेका अनिष्ट प्रसंग प्राप्त होता है ।

शंका–धर्म अधर्मके फल स्वरूप सुखादि एवं शरीरादिके द्वारा नित्य सुखका संवेदन प्रतिहत होता है अतः उसके अनुभव का अभाव होनेसे मुक्तावस्था और संसारा-वस्थामें समानताका प्रसंग या सदा दो सुखानुभवका प्रसंग प्राप्त नहीं होता ?

समाधान–यह कथन अयुक्त है, शरीरादिक तो सुखके सहायभूत है "भोगाय-तनशरीरम्" अतः शरीरादिको सुखका प्रतिबंधक कहना असत् है । जो जिसके लिये है वह उसका प्रतिबंधक नहीं होता । विषय जन्य सुखादिके अनुभव द्वारा नित्य सुखका

तेन हि नित्यसुखस्य तदनुभवस्य वा प्रतिबन्धोऽनुत्पत्तिलक्षणो विनाशलक्षणो वा न युक्तः; द्वयोरपि नित्यत्वाभ्युपगमात्। न च संसारावस्थायां बाह्यविषयव्यासङ्गाद्विद्यमानस्याप्यनुभवस्यासंवेदनम्, तदभावात्तु मोक्षावस्थायां संवेदनमित्यभिधातव्यम्; तदनुभवस्य नित्यत्वेन व्यासङ्गानुपपत्तेः। आत्मनो हि व्यासङ्गो रूपादौ विषये ज्ञानोत्पत्तौ विषयान्तरे ज्ञानानुत्पत्तिः, इन्द्रियस्याप्येकस्मिन्विषये ज्ञानजनकत्वेन प्रवृत्तस्य विषयान्तरे ज्ञानाजनकत्वम्। स चात्रानुपपन्नः; सुखवत्तज्ज्ञानस्यापि सदा सत्त्वात्। शरीरादेस्तु प्रतिबन्धकत्वे तदपहन्तुर्हिंसाफलं न स्यात्, प्रतिबन्धकविघातकारकस्योपकारकत्वेन लोके प्रतीतेः।

अथानित्यं तत्संवेदनम्; तदोत्पत्तिकारणं वाच्यम्। अथ योगजधर्मापेक्षः पुरुषान्तःकरणसंयोगोऽसमवायिकारणम्। ननु योगजधर्मस्य मुक्तावसम्भवात् कथमसौ तत्संयोगेनापेक्ष्येत यतस्तत्र

प्रतिबन्ध होना भी अशक्य है। नित्य सुख और उसका अनुभव दोनोंका अनुत्पत्ति रूप प्रतिबन्ध अथवा विनाशरूप प्रतिबन्ध हो नहीं सकता, क्योंकि सुख और अनुभव नित्य है।

शंका–संसार अवस्थामें यह जीव बाह्य विषयमें आसक्त रहता है अतः नित्य सुखानुभवके विद्यमान रहते हुए भी उसका संवेदन नहीं हो पाता, और मोक्ष अवस्था में बाह्य विषयासक्ति नहीं होनेसे नित्य सुखका संवेदन होता है?

समाधान–ऐसा कहना ठीक नहीं, सुखानुभव नित्य होनेसे आत्मादिके विषय व्यासंग या आसक्ति नहीं होना अशक्य है। रूपादि विषयमें ज्ञानकी उत्पत्ति होनेपर अन्य विषयमें ज्ञान उत्पन्न नहीं होना आत्माका व्यासंग कहलाता है, तथा एक विषय में ज्ञानको उत्पन्न करनेमें प्रवृत्त होनेपर अन्य विषयमें ज्ञानको उत्पन्न नहीं करना इन्द्रियका व्यासंग कहलाता है, ऐसा व्यासंग नित्यसुखमें अनुपपन्न है, क्योंकि सुखके समान उसका ज्ञान भी सदा विद्यमान रहता है। शरीरादिको नित्य सुखका प्रतिबंधक माने तो शरीरका घात करनेवाले हिंसकको हिंसाका फल [पापका दुःख रूप फल] नहीं मिलेगा, उस हिंसकने सुखका प्रतिबंधक स्वरूप शरीरको नष्ट किया है अतः वह उपकारक ही कहलायेगा। लोकमें भी यही उक्ति प्रसिद्ध है। नित्य सुखका संवेदन अनित्य हुआ करता है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो उस अनित्य संवेदनकी उत्पत्तिमें हेतु कौन है यह प्रश्न होगा ? योगज धर्मकी अपेक्षा लेकर होनेवाला आत्मा और मनका संयोग उस संवेदनकी उत्पत्तिका असमवायी कारण है ऐसा उत्तर ठीक नहीं है, मुक्त

ततस्तदुत्पत्तिः स्यात् ? अथाद्यं योगजधर्मापेक्षान्तः–करणसंयोगो विज्ञानं जनयति तच्चापेक्ष्योत्तरोत्तरं ज्ञानम्; तदप्ययुक्तम्; न हि शरीरसम्बन्धानपेक्षं विज्ञानमेवान्तःकरणसंयोगस्य ज्ञानोत्पत्तौ सहकारिकारणं दृष्टम्। न च दृष्टविपरीतं शक्यं कल्पयितुमतिप्रसङ्गात्। आकस्मिकं तु कार्यं न भवत्येव, अहेतोः सर्वत्र सर्वदा भावप्रसङ्गात्।

किञ्च, यथा मुक्तावस्थायामनित्यसुखमतिक्रम्य नित्यं परिकल्प्यते, तथा नित्यत्वधर्माधिकरणं शरीरादिकमपि परिकल्पनीयम्। कार्यत्वात् तस्य कथं नित्यत्वधर्माधिकरणत्वम् दृष्टविरोधादप्रमाणकत्वाच्च ? इत्यन्यत्रापि समानम्। न खलु नित्यसुखसाधकत्वेन प्रत्यक्षानुमानागमानां मध्ये किञ्चि-

---

अवस्थामें योगज धर्मका अभाव होनेसे आत्मा और मनके संयोगके लिये उसकी अपेक्षा किसप्रकार हो सकती है जिससे कि मुक्तिमें नित्यसुखके संवेदनकी उत्पत्ति हो सके।

शंका–योगज धर्मकी अपेक्षा लेकर होनेवाला मनका संयोग आदिके संवेदन को उत्पन्न करता है फिर उसकी अपेक्षा लेकर उत्तरोत्तर ज्ञान उत्पन्न होते हैं ?

समाधान–यह कथन अयुक्त है, क्योंकि शरीर के सम्बन्धकी अपेक्षा से रहित अकेला विज्ञान ज्ञानोत्पत्तिमें मनःसंयोग का सहकारी कारण बनता हुआ कहीं पर देखा नहीं है। देखे हुए पदार्थसे विपरीत की कल्पना करना अशक्य है अन्यथा अतिप्रसंग होगा। आकस्मिक कार्य तो होता नहीं, यदि कार्यको अहेतुक माने तो सर्वत्र सर्वदा उसका सद्भाव स्वीकार करना पड़ेगा।

किंच, जिसप्रकार आप वेदांती मुक्तावस्थामें अनित्य सुखका अतिक्रम होकर नित्य सुखका होना स्वीकार करते हैं, उसप्रकार वहांपर नित्य धर्मके अधिकरणभूत शरीरादिको भी स्वीकार करना चाहिये।

शंका–शरीरादिक कार्यरूप है अतः वह नित्य धर्मका आधार किसप्रकार हो सकता है ? क्योंकि दृष्ट विरोध एवं अप्रमाणत्वका प्रसंग आता है ?

समाधान–यही दृष्ट विरोध एवं अप्रमाणत्वका प्रसंग संसारावस्थामें नित्यसुखको माननेमें आता है, क्योंकि प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इनमेंसे कोई भी प्रमाण नित्य सुखका साधक नहीं है, हमारे इन्द्रिय प्रत्यक्षकी तो इस विषयमें प्रवृत्ति ही नहीं होती, और योगी प्रत्यक्ष इसप्रकारसे प्रवृत्त होता है या अन्यथा प्रवृत्त होता है [नित्य-

प्रवर्त्तते, अस्मदादीन्द्रियजप्रत्यक्षस्यात्र व्यापारानुपलम्भात्। 'योगिप्रत्यक्षं त्वेवं प्रवर्त्ततेऽन्यथा वा' इत्यद्यापि विवादपदापन्नम्।

यच्चात्मा सुखस्वभाव इत्यनुमानं तदपि न नित्यसुखस्वभावतासाधकम्; सुखस्वभावतामात्रस्यैवातः प्रसिद्धेः।

किञ्च, सुखस्वभावत्वं सुखत्वजातिसम्बन्धित्वम्; तन्नात्मनि सम्भाव्यते गुणे एवास्योपलम्भात्। न ह्येका काचिज्जातिर्द्रव्यगुणयोः साधारणोपलभ्यते। अथ सुखाधिकरणत्वम्; तन्न; अस्य नित्यानित्यविकल्पानुपपत्तेः। तथा सुखत्वस्य सुखस्य वाधिकरणतायां तज्ज्ञानस्यापि नित्यानित्यविकल्पः समानः।

सुखके ग्राहक रूपसे या अग्राहक रूपसे प्रवृत्त होता है] यह अद्यादि विवादके कोटीमें है।

आत्मा सुख स्वभावी है इत्यादि रूपसे वेदांती द्वारा उपस्थित किया गया अनुमान प्रमाण भी नित्य सुखके स्वभावताका साधक नहीं है उससे तो मात्र सुख स्वभावता की सिद्धि हो सकती है।

तथा सुखत्व जातिका सम्बन्ध होना सुखस्वभावत्व कहलाता है वह आत्मामें संभावित नहीं हो सकता, गुणमें ही संभावित होता है, कोई ऐसी एक जाति नहीं है जो गुण और द्रव्य दोनोंमें संभावित हो। आत्मा सुखका अधिकरणभूत है ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि इस पक्षमें भी नित्य ही अधिकरणभूत है अथवा अनित्य अधिकरणभूत है इत्यादि विकल्प होकर कुछ भी सिद्ध नहीं होता। आत्मा सुख या सुखत्व सामान्यका अधिकरण है ऐसा स्वीकार करनेमें दूसरा दोष यह आता है कि उस सुखका संवेदन नित्य होता है अथवा अनित्य इत्यादि विकल्पोंका समाधान नहीं होता है।

आत्माको सुखस्वभावी सिद्ध करनेके लिये दिये गये अनुमानमें अत्यन्त प्रिय बुद्धि विषयत्व और अनन्यपरतया उपादीय मानत्व हेतु भी अनैकांतिक होनेसे हेत्वाभासरूप हैं, क्योंकि अत्यन्त प्रियबुद्धि विषयत्वरूप हेतु दुःखके अभावमें भी पाया जाता है, इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—आत्मा सुख स्वभावी है, क्योंकि वह अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय है ऐसा आप वेदांती द्वारा अनुमान प्रयुक्त हुआ था सो इस अनुमानका अत्यन्त प्रियबुद्धि विषयत्वनामा हेतु सुखस्वभावी साध्यके समान दुःखाभावरूप

साधनं च अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमनन्यपरतयोपादीयमानत्वं चानैकान्तिकत्वादसाधनम्; दुःखाभावेपि भावात्। अनन्यपरतयोपादीयमानत्वं चासिद्धम्; न ह्यात्माऽन्यार्थं नोपादीयते; सुखार्थमस्योपादानात्। अत्यन्तप्रियबुद्धिविषयत्वमप्यसिद्धम्; दुःखितायामप्रियबुद्धेरपि भावात्।

'आनन्दं ब्रह्मणो रूपम्' इत्याद्यागमो नित्यसुखसद्भावावेदकः; इत्यप्यसमीचीनम्; तस्यैतदर्थत्वासिद्धेः। आनन्दशब्दो ह्यात्यन्तिकदुःखाभावे प्रयुक्तत्वाद्गौणः। दृष्टश्च दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगः, यथा भाराक्रान्तस्य ज्वरादिसन्तप्तस्य वा तदपाये।

असाध्यमें भी पाया जाता है, अर्थात् दुःखका अभाव होना भी अत्यन्त प्रिय बुद्धिका विषय है, किन्तु यह दुःखाभाव निःस्वभावरूप होनेसे आत्माका स्वभाव नहीं बन सकता, इस तरह साध्य और असाध्य दोनोंमें रहनेसे यह हेतु अनैकान्तिक दोष युक्त है। अनन्यपरतया उपादीय मानत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—आत्मा सुखस्वभावी है क्योंकि वह अनन्यपरतया उपादीयमान है अर्थात् आत्माका आत्मामें लीन होना रूप ग्राह्यपना है, अन्यके द्वारा उपादीयमानत्व नहीं है, सो यह अयुक्त है, क्योंकि आत्मा अन्यके लिये उपादीयमान न होवे सो बात नहीं है, सुखके लिये वह उपादीयमान होता ही है। अत्यन्त प्रिय बुद्धि विषयत्व हेतुमें अनैकान्तिक दोषके समान असिद्ध दोष भी आता है, क्योंकि आत्मा सिर्फ प्रिय बुद्धिविषय ही हो सो बात नहीं है दुःखित अवस्थामें वह अप्रिय बुद्धिका विषय भी होता है।

"आनंदो ब्राह्मणो रूपं" इत्यादि आगम वाक्य नित्य सुखके अस्तित्वको सिद्ध करते हैं ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योंकि उस वाक्यका इसतरहका अर्थ होना असिद्ध है, वहांपर आनंदशब्दका प्रयोग आत्यन्तिक रूपसे दुःखका अभावरूप अर्थमें हुआ है अतः गौण है, देखा भी जाता है कि दुःखके अभाव होनेपर सुख शब्दका प्रयोग है जैसे भारसे आक्रांत पुरुषका भार कम होनेपर या ज्वरयुक्त रोगीका ज्वर कम होनेपर सुख हुआ इसप्रकार सुख शब्दका प्रयोग होता है।

दूसरी बात यह है कि नित्य सुख आत्माके स्वरूपसे अपृथक् है या पृथक् है? प्रथमपक्ष माने तो जिसप्रकार आत्मस्वरूपका सतत् रूपसे अनुभव होता है उसप्रकार सुखका अनुभव भी सतत् रूपसे होनेके कारण बद्ध और मुक्त अवस्थाका भेद समाप्त हो जाता है।

किञ्च, आत्मस्वरूपात्तन्नित्यसुखमव्यतिरिक्तम्, तद्व्यतिरिक्तं वा ? प्रथमपक्षे आत्मस्वरूपवत् सर्वदा सुखसंवित्तिप्रसङ्गाद्बद्धमुक्तयोरविशेषप्रसङ्गः।

अनाद्यविद्याच्छादितत्वान्न स्वप्रकाशानन्दसंवित्तिः संसारिणः; इत्यप्यपेशलम्; आच्छाद्यते ह्यप्रकाशस्वरूपं वस्तु, यत्तु प्रकाशस्वरूपं तत्कथमन्येनाच्छाद्येत ? मेघादिना त्वादित्यादेराच्छादनं युक्तम् तस्यातोऽर्थान्तरत्वात्, मूर्त्तस्य मूर्त्तेनाच्छादनापत्तेः (दनोपपत्तेः) । अविद्यायास्तु सत्त्वान्यत्वाभ्यामनिर्वचनीयतया तुच्छस्वभावत्वात् न स्वप्रकाशानन्दाच्छादकत्वम् । तन्नाद्यः पक्षो युक्तः ।

द्वितीयपक्षोऽप्ययुक्तः; नित्यसुखस्यात्मनोऽर्थान्तरस्य प्रत्यक्षादेः प्रतिपादकस्य प्रतिषिद्धत्वाद्बाधकस्य च प्रदर्शितत्वात् । तन्नपरमानन्दाभिव्यक्तिर्मोक्षः ।

वेदांती—अनादि कालकी अविद्या द्वारा नित्य सुखका आच्छादन होनेके कारण संसारी जीवोंको उसका अनुभव नहीं हो पाता ।

वैशेषिक—यह कथन असमीचीन है अप्रकाश स्वरूप वस्तुका आच्छादन होना संभव है जो प्रकाशस्वरूप वस्तु है उसका अन्य द्वारा आच्छादन किसप्रकार हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता, नित्य सुखानुभव तो प्रकाश स्वरूप है । मेघ आदि से प्रकाश स्वरूप सूर्यका आच्छादन कैसे होता है ? ऐसी आशंका भी नहीं करना क्योंकि सूर्यसे मेघादि पदार्थ एक तो पृथक् हैं दूसरे मूर्त्तका मूर्त्तद्वारा आच्छादन होना संभव भी है । किन्तु अविद्या सत्व और असत्व दोनों प्रकारसे ही कथन योग्य नहीं है, अतः तुच्छ स्वभावरूप होनेसे उस अविद्या द्वारा स्वप्रकाशरूप आनंद का आच्छादन हो नहीं सकता । अतः आत्मस्वरूपसे नित्य सुख अपृथक् है ऐसा प्रथम पक्ष सिद्ध नहीं होता ।

दूसरा पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि आत्माके इस पृथक्भूत नित्यसुखका प्रतिपादन करनेवाला प्रत्यक्षादि कोई भी प्रमाण नहीं है ऐसा सिद्ध हो चुका है और बाधक कारण भी कह चुके हैं । अतः परम आनंद की अभिव्यक्ति होना मोक्ष है ऐसा वेदांती का कथन सिद्ध नहीं होता है ।

विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति होना मोक्ष है ऐसा बौद्ध अभिमत मोक्षका स्वरूप भी अयुक्त है, क्योंकि संसार अवस्थाके राग युक्त विज्ञानसे रागरहित विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति होना अशक्य है । जैसे ज्ञानसे ज्ञानांतरमें ज्ञानत्व आता है वैसे रागादिसे रागांतरमें रागत्व भी अवश्य आता है क्योंकि रागादि और ज्ञानका तादात्म्य होता है,

नापि विशुद्धज्ञानोत्पत्तिः; रागादिमतो विज्ञानात्तद्रहितस्यास्योत्पत्तेरयोगात्। यथैव हि बोधाद्बोधरूपता ज्ञानान्तरे तथा रागादेरपि स्यात्तादात्म्यात्, अन्यथा तादात्म्याभावः स्यात्। न च 'बोधादेव बोधरूपता' इति प्रमाणमस्ति; विलक्षणादपि कारणाद्विलक्षणकार्यस्योत्पत्तिदर्शनात्। बोधस्य च बोधान्तरहेतुत्वे पूर्वकालभावित्वं समानजातीयत्वमेकसन्तानत्वं वा न हेतुः; व्यभिचारात्; तथाहि–पूर्वकालभावित्वं तत्समानक्षणैः, समानजातीयत्वं च सन्तानान्तरज्ञानैर्व्यभिचारि, तेषां हि पूर्वकालभावित्वे तत्समानजातीयत्वे च सत्यपि न विवक्षितज्ञानहेतुत्वम्।

एकसन्तानत्वं च अन्त्यज्ञानेन व्यभिचारि। अथ नेष्यत एवान्त्यज्ञानं सर्वदाऽऽरम्भात्; तथाहि–मरणशरीरज्ञानमपि ज्ञानान्तरहेतुर्जाग्रदवस्थाज्ञानं च सुषुप्तावस्थाज्ञानस्येति। नन्वेवं मरणशरीर-

---

यदि सराग ज्ञानसे ज्ञानांतरमें सरागत्व आना नहीं मानते तो राग और ज्ञानका तादात्म्य मानना असंभव होगा। ज्ञानसे ही ज्ञानत्व आता है ऐसा कथन भी सर्वथा प्रमाणभूत नहीं है, विलक्षणकारणसे अन्य विलक्षणभूतकार्यकी उत्पत्ति होना भी संभव है, जैसे विभिन्न आकार वाले बीजसे विभिन्न आकारवाला अंकुर उत्पन्न होता है। विवक्षितज्ञान उत्तर कालीन ज्ञानका कारण है ऐसा माननेमें क्या हेतु है? पूर्व काल भावित्व है अथवा समान जातियत्व है या एक संतानत्व है? तीनों हेतु व्यभिचार दोष युक्त हैं, कैसे सो बताते हैं–पूर्वकालीन ज्ञान उत्तर ज्ञानका हेतु है, क्योंकि वह पूर्वमें हुआ है, ऐसा माने तो समान क्षणोंके साथ अनैकान्तिकता होगी, अर्थात् अन्य अनेक पुरुषोंके ज्ञान भी उस विवक्षित पूर्वकालीन ज्ञानक्षणके साथ थे अतः पूर्वकालीनज्ञान ही कहलाते थे, किन्तु वे इस विवक्षित उत्तर कालीन ज्ञानके हेतु नहीं हैं, अतः पूर्वकाल भावी होने मात्रसे वह उसका हेतु है ऐसा अनुमान वाक्य अयुक्त है। समान जातीय होनेसे ज्ञानका हेतु ज्ञान है ऐसा कहना भी युक्ति संगत नहीं, अन्य व्यक्तिके ज्ञान भी समान जातीय होते हैं किन्तु वे इस विवक्षित ज्ञानके हेतु तो नहीं होते।

एक संतानत्व होनेसे ज्ञान ज्ञानका हेतु है ऐसा तीसरा हेतुवाला अनुमान भी अप्रमाण है, क्योंकि इस हेतुका अंतिम ज्ञानके साथ व्यभिचार आता है, अर्थात् जो एक संतान रूप है वह उत्तर ज्ञानको उत्पन्न करे ही ऐसा नियम नहीं है, योगीका अंतिम ज्ञान उत्तरज्ञानको उत्पन्न नहीं करता है।

बौद्ध–उत्तरोत्तरज्ञान सदा उत्पन्न होते रहनेसे अंतका ज्ञान है ऐसा माना ही नहीं, मरण समयके शरीरका ज्ञान अन्य जन्मके ज्ञानका हेतु होता है एवं जाग्रद अवस्थाका ज्ञान सुप्त अवस्थाके ज्ञानका हेतु होता है।

ज्ञानस्यान्तराभवशरीरज्ञानहेतुत्वे गर्भशरीरज्ञानहेतुत्वे वा सन्तानान्तरेपि ज्ञानजनकत्वं किन्न स्यान्नियतहेतोरभावात् ? अथेष्यते एव उपाध्यायज्ञानं शिष्यज्ञानस्य हेतुः । अन्यस्य कस्मान्न भवति ? कर्मवासना नियामिका चेन्न; तस्या ज्ञानव्यतिरेकेणासम्भवात् । तत्तादात्म्ये हि विज्ञानं बोधरूपतया अविशिष्टं बोधाच्च बोधरूपतेत्यविशेषेण ज्ञानं विदध्यात् ।

सुषुप्तावस्थाज्ञानस्य जाग्रदवस्थाज्ञानं कारणम्; इत्यप्यसम्भाव्यम्; सुषुप्तावस्थायां च ज्ञानाभ्युपगमे जाग्रदवस्थातो विशेषो न स्यादुभयत्रापि स्वसंविदितज्ञानसद्भावाविशेषात् । मिद्धेनाभिभूतत्वं विशेषः; इत्यप्यसत्; तस्यापि तद्धर्मतया तादात्म्येनाभिभावकत्वायोगात् । तद्व्यतिरेके तु रूपवेद-

---

वैशेषिक–मरणकालके शरीरका ज्ञान मध्यके शरीरके ज्ञानका हेतु है अथवा गर्भस्थ शरीरके ज्ञानका हेतु है ऐसा स्वीकार करे तो वह ज्ञान अन्य व्यक्तिके शरीरके ज्ञान हेतु भी हो सकेगा ? क्योंकि हेतु नियत तो रहा नहीं ?

बौद्ध–अन्यव्यक्तिके शरीरके ज्ञानका हेतु होना भी संभव है, क्योंकि उपाध्याय का ज्ञान शिष्यके ज्ञानका हेतु होता हुआ देखा जाता है ?

वैशेषिक–उपाध्यायका ज्ञान शिष्यके ज्ञानका हेतु होता है वैसे अन्य किसी व्यक्तिके ज्ञानका हेतु क्यों नहीं होता अथवा शिष्यका ज्ञान उपाध्यायके ज्ञानका हेतु क्यों नहीं होता है ?

बौद्ध–कर्म वासनाके नियमके कारण ऐसा नहीं होता ?

वैशेषिक–यह उत्तर अयुक्त है, ज्ञान ही वासनारूप होता है ज्ञानके अतिरिक्त वासनाका होना असंभव है, क्योंकि विज्ञान बोधरूपतासे अविशिष्ट [साधारण] रहता है एवं संतानांतरमें ज्ञानसे ज्ञानरूपताको अविशेषरूपसे धारता है ऐसा कथन ज्ञान और वासनाका तादात्म्य स्वीकार करनेपर ही सिद्ध हो सकता है ।

दूसरी बात यह है कि जाग्रत अवस्थाका ज्ञान सुप्त अवस्थाके ज्ञानका हेतु है ऐसी पूर्वोक्त मान्यता भी असंभव है । सुप्त अवस्थामें ज्ञानको स्वीकार करनेपर जाग्रत अवस्थासे उसमें अंतर ही नहीं रहेगा, क्योंकि दोनोंमें संविदित ज्ञानका सद्भाव समान रूपसे है ? निद्राद्वारा ज्ञान अभिभूत होता है अतः दोनों अवस्थाओंमें समानज्ञान नहीं है ऐसा कहना भी असत् है, आपके मतमें अभिभव [निद्रा] आदिको भी ज्ञानका धर्म माना है अतः उस तादात्म्यरूप अभिभवद्वारा ज्ञानका अभिभूत होना बनता ही नहीं, यदि निद्रादि अभिभव ज्ञानसे पृथक् सत्ता वाले हैं तो रूप, वेदना आदि पदार्थोंसे पृथक्

नादिपदार्थस्वरूपव्यतिरिक्तं तत्स्वरूपं निरूप्यताम्। अभिभवश्च यदि विनाशः; कथं तत्र ज्ञानस्य सत्त्वं विनाशस्य वा निर्हेतुकत्वम्? अथ तिरोभावः; न; विज्ञानसत्त्वैव संवेदनमित्यभ्युपगमे तस्यानुपपत्तेः। अतः सुषुप्तावस्थायां विज्ञानासत्त्वेनान्त्यज्ञानसद्भावादेकसन्तानत्वं व्यभिचारीति।

यच्चोच्यते–विशिष्टभावनाभ्यासवशाद्रागादिविनाशः; तदप्यसङ्गतम्; निर्हेतुकत्वाद्विनाशस्य अभ्यासानुपपत्तेश्च। अभ्यासो ह्यवस्थिते ध्यातर्यतिशयाधायकत्वेन स्यान्न क्षणिकज्ञानमात्रे। न च सन्तानापेक्षयाऽतिशयो युक्तः; तस्यैवासत्त्वात्, अविशिष्टाद्विशिष्टोत्पत्तेरयोगाच्च। अविशिष्टाद्धि पूर्व-

---

इनका क्या स्वरूप है यह कहना होगा। तथा अभिभवका अर्थ यदि विनाश होना करते हैं तो उस सुप्तावस्थामें ज्ञानका अस्तित्व किसप्रकार सिद्ध करेंगे, एवं विनाश निर्हेतुक होता है यह भी किसप्रकार सिद्ध होगा? तिरोभाव होनेको ज्ञानका अभिभव कहते हैं ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि आपने ज्ञानकी सत्ताको ही संवेदन माना है अतः उसका तिरोभाव होना अशक्य है। इसप्रकार सुप्त अवस्थामें ज्ञान असत्व ही सिद्ध होता है, एवं अंतिम ज्ञानका सद्भाव सिद्ध होता है अतः एक संतानत्व नामा पूर्वोक्त हेतु व्यभिचारी ही है।

भावार्थ–बौद्धने ज्ञानका संवेदन और ज्ञानकी सत्ता इनमें अंतर नहीं माना है ज्ञान चाहे प्रगट हो या अप्रगट दोनों अवस्थाओंमें समान है, सो ऐसे ज्ञानका तिरोभाव और आविर्भावरूप भेद नहीं हो सकता, अतः सुप्त दशामें ज्ञान अभिभूत होनेके कारण सुप्तावस्था और जाग्रदवस्था इनमें भेद है ऐसा बौद्धका कहना सिद्ध नहीं होता, इसी-लिये हम वैशेषिकके मान्यतानुसार सुप्तावस्थामें ज्ञानका अभाव होना सिद्ध होता है। तथा एक संतानपना होनेसे पूर्व ज्ञान उत्तर ज्ञानको उत्पन्न करता है ऐसा कहना भी असिद्ध है क्योंकि निर्वाणके संमुख योगीका ज्ञान एक संतानरूप होते हुए भी अग्रिम उत्तर ज्ञानको उत्पन्न नहीं करता है, अतः बौद्ध द्वारा प्रयुक्त एक संतानत्व हेतु व्यभिचार दोष युक्त है।

बौद्धोंके यहां मान्यता है कि विशिष्टभावना और अभ्यासके बलसे रागादि का नाश हो जाता है, सो यह भी असत् है, क्योंकि आप नाशको निर्हेतुक मानते हैं। अभ्यास होना तो क्षणिकमतमें सर्वथा असंभव है, क्योंकि ध्याता पुरुष अवस्थित होने पर ही उसमें अभ्यास द्वारा अतिशयत्व आ सकता है, क्षणिक ज्ञानमात्रमें अतिशय किसप्रकार संभव है?

ज्ञानादुत्तरोत्तरं सातिशयं कथमुत्पद्येत ? तत्कथं योगिनां सकलकल्पनाविकलज्ञानसम्भव इति ?

यच्च 'सन्तानोच्छित्तिर्निःश्रेयसम्' इति मतम्; तत्र निर्हेतुकतया विनाशस्योपायवैयर्थ्य-प्रयत्नसिद्धत्वादिति।

अन्ये त्वनेकान्तभावनातो विशिष्टप्रदेशेऽक्षयशरीरादिलाभो निःश्रेयसमिति मन्यन्ते। तथाहि-नित्यत्वभावनायां ग्रहोऽनित्यत्वे च द्वेष इत्युभयपरिहारार्थमनेकान्तभावना; इत्यप्यपरीक्षिताभिधानम्; मिथ्याज्ञानस्य निःश्रेयसकारणत्वायोगात्। अनेकान्तज्ञानं मिथ्यैव विरोधवैयधिकरण्याद्यनेकबाधकोपनिपातात्। स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिषु चासत्त्वम् इतरेतराभावादिष्यते एव। स्वकार्येषु कर्तृत्वं कार्यान्तरेषु चाकर्तृत्वं न प्रतिषिध्यते, यद्यस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामुत्पत्तौ व्याप्रियमाणमुपलब्धं तत्तस्य

बौद्ध—एक ज्ञानमें अभ्यास द्वारा अतिशय नहीं आता किन्तु उत्तरोत्तरज्ञानमें आता है, संतानकी अपेक्षा अतिशयाधायकत्व होना बन जाता है।

वैशेषिक—यह कथन भी ठीक नहीं, संतानका अस्तित्व ही सिद्ध नहीं होता, तथा अविशिष्ट ज्ञानसे [सराग ज्ञानसे] विशिष्ट ज्ञान [विशुद्ध ज्ञान] उत्पन्न होना भी अशक्य है, सामान्यरूप पूर्वज्ञानसे उत्तरोत्तर विशेषरूप सातिशय ज्ञान किसप्रकार उत्पन्न किये जा सकते हैं ? अर्थात् नहीं किये जा सकते। अतः संपूर्ण कल्पना जालसे रहित ऐसा विशुद्धज्ञान योगियोंके होता है ऐसा कहना असिद्ध है।

बौद्धमतमें ही कोई विद्वान् संतानकी व्युच्छित्ति [नाश] होना मोक्ष है ऐसा कहते हैं उसमें भी विशिष्ट भावनारूप अभ्यास होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि नाशको निर्हेतुक माननेसे उसके उपायभूत अभ्यासका करना व्यर्थ ही ठहरता है, वह तो विना प्रयत्नके स्वतः ही होता है।

जैनमतमें अनेकान्तकी भावनासे विशिष्ट प्रदेशमें [सिद्ध शिलापर] ज्ञानरूप शरीरादिका लाभ होना मोक्ष है ऐसा मोक्षका स्वरूप माना गया है, उनका कहना है कि नित्यधर्ममें आग्रह और अनित्यधर्ममें द्वेष ये दोनों ही अयुक्त हैं अतः दोनोंका परिहार करके अनेक धर्मरूप अनेकांत माना है और उस तात्विक अनेकांतकी भावनासे मोक्षकी प्राप्ति होना स्वीकार किया गया है। किन्तु यह अभिमत भी असत् है, मिथ्याज्ञान मोक्षका हेतु हो नहीं सकता, अनेकांतका ज्ञान मिथ्या ही है क्योंकि उसमें विरोध, वैयधिकरण आदि अनेक बाधक कारण हैं। जैन एक ही वस्तुमें सत्व और

कारणं नान्यस्येत्यभ्युपगमात् । तथा मुक्तावप्यनेकान्तो न व्यावर्तत इति 'स एव मुक्तः संसारी च' इति प्रसक्तम् । तथाऽनेकान्तेप्यनेकान्तप्रसङ्गात् सदसन्नित्यानित्यादिरूपव्यतिरिक्तं रूपान्तरमपि प्रसज्येतेति ।

अन्ये त्वात्मैकत्वज्ञानात्परमात्मनि लयः सम्पद्यते इति ब्रुवते । तथाहि-आत्मैव परमार्थसंस्ततोऽन्यत्र भेदे प्रमाणाभावात् । प्रत्यक्षं हि पदार्थानां सद्भावस्यैव ग्राहकं न भेदस्येत्यविद्यासमारोपितो भेदः; तेप्यतत्त्वज्ञाः; आत्मैकत्वज्ञानस्य मिथ्यारूपतया निःश्रेयसाऽसाधकत्वात् । तन्मिथ्यात्वं चार्थानां प्रमाणतो वास्तवभेदप्रसिद्धेः ।

एवं शब्दाद्वैतज्ञानमपि मिथ्यारूपतया निःश्रेयसाप्रसाधकं द्रष्टव्यम् । निरस्तं चात्माद्वैतं शब्दाद्वैतं च प्राक्प्रबन्धेनेत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

असत्व मानते हैं अतः उसमें विरोधादि दोष आते हैं, हम वैशेषिकने तो इतरेतराभाव से स्वप्रदेशादिमें सत्व और पर प्रदेशादिमें असत्व स्वीकार किया है । वस्तुके स्वकार्योंमें कर्तृत्व और कार्यांतरोंमें अकर्तृत्व रूप धर्म भी निषिद्ध नहीं है, क्योंकि जिसकी उत्पत्तिमें अन्वय और व्यतिरेकपनेसे जो प्रवृत्त होता है वह उसका कारण माना जाता है अन्यका नहीं, ऐसा माना गया है ।

जैन मुक्तिमें भी अनेकांतकी व्यावृत्ति नहीं मानते अतः वही जीव मुक्त और संसारी होनेका प्रसंग आता है । सब अनेकांतरूप है तो अनेकांतमें भी अनेकांत स्वीकार करने का प्रसंग आता है, एवं सत् असत् नित्य अनित्यादिसे भिन्न किसी अन्य रूप होनेका प्रसंग भी आता है ।

ब्रह्माद्वैतवादी आत्माके एकत्वका ज्ञान होनेसे परमात्मामें लय होना मोक्ष है ऐसा कहते हैं, एक आत्मा ही परमार्थभूत वस्तु है इससे भिन्न अन्य वस्तुको सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है, प्रत्यक्ष प्रमाण पदार्थोंके सद्भावमात्रका ग्राहक है न कि भेद का अतः निश्चित होता है कि अविद्याके द्वारा ही भेदभावका आरोप होता है । सो यह मोक्षका स्वरूप भी अयुक्त है, एक आत्मा नामा पदार्थ ही है अन्य नहीं ऐसा आत्म एकत्वका ज्ञान मिथ्या होनेके कारण मोक्षका असाधक है, घट पटादि पदार्थोंके भेद वास्तविक हैं अविद्याकल्पित नहीं हैं ऐसा प्रमाणसे सिद्ध होता है अतः आत्म एकत्वका ज्ञान मिथ्या है ।

प्रकृतिपुरुषविवेकोपलम्भः स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानलक्षणनिःश्रेयसस्य साधनमित्यन्ये। तथाहि-पुरुषार्थसम्पादनाय प्रधानं प्रवर्त्तते। पुरुषार्थश्च द्वेधा-शब्दादिविषयोपलब्धिः, प्रकृतिपुरुषविवेकोपलम्भश्च। सम्पन्ने हि पुरुषार्थे चरितार्थत्वात्प्रधानं न शरीरादिभावेन परिणमते, विज्ञानं(तं) वा दुष्टतया कुष्टिनीस्त्रीवद्भोगसम्पादनाय पुरुषं नोपसर्पति; इत्यप्यसाम्प्रतम्; प्रधानासत्त्वस्य प्रागेवोक्तत्वात्। सति हि प्रधाने पुरुषस्य तद्विवेकोपलम्भः स्यात्। अस्तु वा तत्; तथापि पुरुषस्थं निमित्तमनपेक्ष्य तत्प्रवर्त्तेत, अपेक्ष्य वा ? न तावदनपेक्ष्य; मुक्तात्मन्यपि शरीरादिसम्पादनाय तत्प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। अथापेक्ष्य प्रवर्त्तते; किं तदपेक्ष्यम् ? विवेकानुपलम्भः, अदृष्टं वा ? न तावद्विवेकानुपलम्भः;

ब्रह्माद्वैतके ज्ञानके समान शब्दाद्वैतका ज्ञान भी मिथ्या होनेके कारण मोक्ष का प्रसाधक नहीं है ऐसा समझना चाहिये। तथा आत्मद्वैत [ब्रह्माद्वैत] और शब्दाद्वैतका निरसन भी पहले कर चुके हैं अतः अब अधिक कथन नहीं करते।

प्रकृति और पुरुषके भेदका ज्ञान चैतन्यका स्वरूपमें अवस्थान होना रूप मोक्ष का कारण है ऐसा सांख्य कहते हैं, प्रधान पुरुषार्थको संपादित करनेके लिये प्रवृत्ति करता है, पुरुषार्थके दो भेद हैं, शब्दादि विषयोंकी उपलब्धि होना और प्रधान तथा पुरुषके विवेक की उपलब्धि होना। पुरुषार्थके संपन्न हो जानेपर कृतकृत्य होनेके कारण प्रधान शरीरादि रूपसे परिणमन नहीं करता, जिसप्रकार किसी पुरुष द्वारा दुष्ट रूपसे कुट्टिनी स्त्रीके ज्ञात होनेपर वह कुट्टिनी पुरुषके उपभोगके लिये निकट नहीं आती भयसे दूर ही रहती है उसीप्रकार प्रधान और पुरुषके भेदकी उपलब्धि होनेपर वह प्रधान शरीरादि कार्यमें प्रवृत्ति नहीं करता और इसतरह संसार समाप्त होकर चैतन्यका स्वरूप में अवस्थान होता है इसीको मोक्ष कहते हैं। इसप्रकार का सांख्यका मंतव्य भी अयुक्त है। प्रधानका अस्तित्व नहीं है ऐसा पहले ही कह दिया है प्रधान नामा तत्त्व होवे तो उसका और पुरुषका विवेक उपलब्ध होसकता है। प्रधानके अस्तित्व को माने तो भी प्रश्न होता है कि वह प्रधान पुरुषमें स्थित निमित्तकी अपेक्षा किये विना प्रवृत्ति करता है अथवा अपेक्षा लेकर प्रवृत्ति करता है ? विना अपेक्षा किये तो प्रवृत्ति कर नहीं सकता, अन्यथा मुक्तात्मामें भी शरीरादिके संपादनके लिये प्रवृत्ति करने लगेगा। अपेक्षा लेकर प्रवृत्ति करता है ऐसा द्वितीय पक्ष माने तो पुनः प्रश्न होता है कि पुरुष में स्थित निमित्तकी अपेक्षा लेकर प्रधान की प्रवृत्ति होती है सो वह निमित्त कौनसा है, विवेकका अनुपलंभ या अदृष्ट ? विवेकका अनुपलंभ कहो तो ठीक नहीं क्योंकि विवेक

तस्य विवेकोपलम्भविनष्टत्वेन मुक्तात्मन्यपि सम्भवात्। न चानुत्पत्तिविनाशयोरसत्त्वेन विशेषं पश्यामः। द्वितीयविकल्पोऽप्ययुक्तः; अदृष्टस्यापि प्रधाने शक्तिरूपतया व्यवस्थितस्यो भयत्राविशेषात्।

दुष्टतया च विज्ञातं प्रधानं पुरुषं नोपसर्पतीति चायुक्तम्; तस्याचेतनतया 'अहमनेन दुष्टतया विज्ञातम्' इति ज्ञानासम्भवात्। ततः पूर्ववत्प्रवृत्तिरविशेषेणैव स्यात् इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानं मोक्षः' इति चाभ्युपगतमेव, विशेषगुणरहितात्मस्वरूपे तस्यावस्थानाभ्युपगमात्। 'चिद्रूपेऽवस्थानम्' इत्येतत्तु न घटते; अनित्यत्वेन चिद्रूपताया विनाशात्। न

की उपलब्धि नष्ट होना विवेकका अनुपलंभ है और यह मुक्तात्मामें भी संभावित है, क्योंकि विवेककी अनुत्पत्ति और विवेकका विनाश इन दोनोंमें असत्वकी अपेक्षा तो कुछ भी भेद दिखायी नहीं देता।

भावार्थ–सांख्य यदि कहे कि संसार अवस्थामें प्रकृति और पुरुषमें विवेकके उपलब्धिकी अनुत्पत्ति है और मुक्त अवस्थामें विवेक उपलब्धिका विनाश है सो इनमें सत्व की अपेक्षा कोई भेद दिखायी नहीं देता, विवेक उत्पन्न नहीं हुआ और विवेकका नाश हुआ सो अभावकृत भेद नहीं होनेसे कोई विशेषता नहीं है। पुरुषमें स्थित जो निमित्त है वह अदृष्ट है और उसकी अपेक्षा लेकर शरीरादिके संपादनमें प्रधान की प्रवृत्ति होती है ऐसा द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, अदृष्ट भी प्रधानमें शक्तिरूपसे उभय अवस्थाओंमें [संसारावस्था और मुक्तावस्था] विद्यमान है कोई विशेषता नहीं है।

दुष्टरूपसे ज्ञात हुआ प्रधान पुरुषके निकट नहीं जाता ऐसा पूर्वोक्त कथन तो युक्ति संगत नहीं होता, क्योंकि प्रधान अचेतन है, अतः "मैं इसके द्वारा दुष्टपनेसे ज्ञात हो चुका हूं" ऐसा ज्ञान होना असंभव है, इसलिये वह तो ज्ञात होनेपर भी पहले के समान प्रवृत्ति करता ही रहेगा। इसप्रकार सांख्य परिकल्पित मोक्षका स्वरूप असिद्ध है, इस विषयमें अब अधिक नहीं कहते।

दृष्टा आत्माका स्वस्वरूपमें अवस्थित होना मोक्ष है ऐसा मोक्षका स्वरूप मानना हमको [नैयायिक–वैशेषिक को] भी इष्ट है विशेष गुण रहित आत्माके स्वरूपमें स्थित होना रूप मोक्ष हम भी स्वीकार करते हैं, किन्तु चैतन्य स्वरूपमें अवस्थित होना रूप मोक्षका विशेषण घटित नहीं होता, क्योंकि चैतन्यत्व अनित्य होनेके कारण नष्ट होता है। इन्द्रियादिके साथ अन्वय व्यतिरेक होनेके कारण चैतन्य

चाक्षाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायिन्यास्तस्या नित्यत्वे प्रमाणमस्ति। आत्मस्वरूपतास्तीति चेत्; ननु चिद्रूपतात्मनोऽभिन्ना, भिन्ना वा स्यात्? अभेदे पर्यायमात्रम् 'आत्मा, चिद्रूपता च' इति, तस्य च नित्यत्वाभ्युपगमात् सिद्धसाध्यता। भेदे तु संयोगादिभिरनैकान्तिकत्वम्; तेषामात्मधर्मत्वेपि नित्यत्वाभावात्। गुणगुणिनोश्च तादात्म्यविरोधादिरुपरम्यते। ततो बुद्धयादिविशेषगुणोच्छेदविशिष्टात्मस्वरूप एव मोक्षस्तत्त्वज्ञानादिति स्थितम्।

अत्र प्रतिविधीयते। यत्तावदुक्तम्-नवानामात्मविशेषगुणानां सन्तानोत्यन्तमुच्छिद्यते; तत्रात्मनो भिन्नानां बुद्ध्यादिविशेषगुणानामात्मन्येव समवायादिना वृत्त्यसिद्धेः प्रागेवोक्तत्वात् कथमात्म-

---

नित्य है ऐसा कहना भी प्रमाणद्वारा सिद्ध नहीं होता। आत्मरूपता होना यही प्रमाण है अर्थात् चैतन्यत्व तो आत्मरूपता ही है और वह नित्य है ही ? ऐसा कहो तो प्रश्न होता है कि चैतन्यरूपता आत्मासे भिन्न है कि अभिन्न ? अभिन्न कहो तो नाममात्रका भेद रहा आत्मा और चिद्रूपता, ऐसी आत्मरूपताको नित्यपनेसे स्वीकार करने के कारण सिद्ध साध्यता है। आत्मासे भिन्न होकर भी चिद्रूपता नित्य है क्योंकि वह आत्माका धर्म है ऐसा भिन्नताका द्वितीयपक्ष स्वीकार करे तो संयोगादिके साथ अनैकांतिकदोष आता है, क्योंकि संयोगादिक आत्माके धर्म होते हुए भी नित्य नहीं हैं। गुण और गुणीमें तादात्म्य माननेमें विरोध भी आता है, इस विषयमें अब अधिक नहीं कहना है, अतः सिद्ध होता है कि बुद्धि आदि विशेष गुणोंका उच्छेद होकर विशिष्ट आत्म स्वरूप रहना ही मोक्ष है और वह तत्त्व ज्ञानसे प्राप्त होता है।

जैन-अब यहां पर वैशेषिकके संपूर्ण मंतव्यका निरसन किया जाता है, आत्माके विशेष नौ गुणोंकी संतान अत्यन्त उच्छिन्न होती है ऐसा वैशेषिकने कहा किन्तु बुद्धि आदि विशेष गुण आत्मासे भिन्न नहीं हैं उनका समवायादि संबंधसे आत्मामें रहना सिद्ध नहीं होता ऐसा पहले ही निश्चित किया है, अतः आत्माके विशेष गुणोंकी संतान किसप्रकार सिद्ध हो सकती है जिससे कि उक्त संतानत्व हेतु आश्रयासिद्ध दोष मुक्त न हो ? तथा आपने इन विशेष गुणोंको अस्वसंविदित [स्वयंके अनुभवसे रहित] माना है अतः संतानत्व हेतु फिर भी आश्रयसे रहित हो जाता है।

विशेषार्थ-वैशेषिक गुणीसे गुणोंको भिन्न मानते हैं, समवाय सम्बन्ध द्वारा उन भिन्न गुणोंका गुणीमें सम्बन्ध होता है, बुद्धि आदि विशेषगुण आत्मामें समवाय सम्बन्धसे रहते हैं, ऐसा इनका कहना है किन्तु यह असत् है क्योंकि बुद्धि

विशेषगुणानां सन्तानः सिद्धो यतः हेतोराश्रयासिद्धिर्न स्यात् ? तथा तेषां परेणास्वसंविदितत्वेनाभ्युपगमात् । ज्ञानान्तरग्राह्यत्वे चानवस्थादिदोषप्रसक्तेः, अज्ञानस्य च सत्त्वाप्रसिद्धेः पुनरप्याश्रयासिद्धत्वम् । आत्मनोऽभिन्नानां तत्साधने तु तस्याप्यत्यन्तोच्छेदप्रसङ्गात् कस्यासौ मोक्षः ? कथञ्चिद्भेदस्तु नाभ्युपगम्यते । अभ्युपगमे वा नात्यन्तोच्छेदसिद्धिः इत्यनन्तरं वक्ष्यामः ।

सन्तानत्वं च हेतुः सामान्यरूपम्, विशेषरूपं वा ? सामान्यरूपं चेत्; परसामान्यरूपम्, अपरसामान्यरूपं वा ? प्रथमपक्षे गगनादिनानेकान्तः; अत्यन्तोच्छेदाभावेप्यत्र हेतोर्वर्तनात् । सत्तासामान्यरूपत्वे च सन्तानत्वस्य सत् सत्' इति प्रत्ययहेतुत्वमेव स्यात् न पुनः सन्तानप्रत्ययहेतुत्वम् । अथ

आदि गुण आत्मासे सर्वथा पृथक् हैं तो उनका सम्बन्ध आत्मामें ही हो अन्य आकाशादि द्रव्योंमें न हो ऐसा नियम नहीं बन सकता, जब आत्माके विशेषगुण ही सिद्ध नहीं होते तो उनके संतानका उच्छेद होना रूप मोक्ष भी किसप्रकार सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् नहीं होता । अतः वैशेषिक द्वारा प्रयुक्त अनुमान असत् है कि बुद्धि आदि विशेष गुणों की संतान अत्यन्त नष्ट हो जाती है क्योंकि वह संतानरूप हैं । यह संतानत्व हेतु पूर्वोक्त रीत्या आश्रयासिद्ध [आश्रय रहित] ठहरता है क्योंकि विशेषगुण ही सिद्ध नहीं है तो उनकी संतान किस आश्रयमें रहेगी ? बुद्धि आदि गुणोंको वे लोग अस्वसंविदित मानते हैं, सो इस विषयमें पहले स्वसंवेदन ज्ञानवाद प्रकरणमें [प्रथम भागमें] विशदरीत्या प्रतिपादन कर चुके हैं कि बुद्धि आदि गुण स्वयंके द्वारा आबाल गोपलोंको संवेदनमें आ रहे हैं ।

उन गुणोंको अन्य ज्ञान द्वारा ग्राह्य माने तो अनवस्था आदि दोषोंका प्रसंग आता है, इस तरह अज्ञानरूप उन गुणोंकी सत्ता ही सिद्ध नहीं हो पाती, इसीलिये संतानत्व हेतु आश्रयासिद्ध है । यदि उन गुणोंको आत्मासे अभिन्न सिद्ध किया जाय तो गुणोंके अत्यन्त उच्छेदसे आत्माका भी अत्यन्त उच्छेद हो जायगा फिर यह मोक्ष किसके होगा ? बुद्धि आदि गुण आत्मासे कथंचित् अभिन्न हैं ऐसा तो आप मानते नहीं, यदि मान लेवें तो भी गुणोंका अत्यन्त उच्छेद तो कथमपि सिद्ध नहीं होता ऐसा इसी प्रकरणमें आगे सिद्ध करेंगे ।

पूर्वोक्त संतानत्व हेतु सामान्यरूप है या विशेषरूप है ? सामान्यरूप है तो परसामान्यरूप है अथवा अपर सामान्यरूप है ? प्रथमपक्ष मानो तो आकाशादिके साथ अनैकांतिकता आती है, क्योंकि आकाशादिमें अत्यन्त उच्छेद होनारूप साध्यके नहीं

विशेषगुणाश्रिता जातिः सन्तानत्वम्; तर्हि द्रव्यविशेषे प्रदीपदृष्टान्ते तस्याऽसम्भवात्साधनविकलो दृष्टान्तः । न च सन्तानत्वं परमपरं वा सामान्यं सर्वथा भिन्नं बुद्ध्यादिषु वृत्तिमत्प्रसिद्धम्; तद्वृत्तेः समवायस्य प्रतिषिद्धत्वात् इति स्वरूपासिद्धत्वम् ।

अथ विशेषरूपम्; तत्राप्युपादानोपादेयभूतबुद्ध्यादिलक्षणक्षणविशेषरूपम्, पूर्वापरसमानजातीयक्षणप्रवाहमात्ररूपं वा ? प्रथमपक्षे सन्तानत्वस्यासाधारणानैकान्तिकत्वं तथाभूतस्यास्या-

---

होते हुए भी परसामान्यरूप संतानत्व हेतु रहता है । दूसरी बात यह है कि इस हेतुको सामान्यरूप स्वीकार करे तो यह हेतु "सत् है सत् है" इतना ही ज्ञान करा सकेगा यह संतान है ऐसा ज्ञान नहीं करा सकता । विशेष गुणोंके आश्रित रहने वाले अपरसामान्य रूपको संतानत्व कहते हैं ऐसा द्वितीय विकल्प माने तो उक्त अनुमान में दिया गया दृष्टांत साधन विकल [हेतुसे रहित] होता है अर्थात् संतानपना होनेके कारण बुद्धि आदि गुणोंकी संतान नष्ट होती है, जैसे दीपककी संतान नष्ट होती है, इस दीपकके दृष्टांतमें हेतुका अभाव है क्योंकि संतानत्वका अर्थ विशेषगुणके आश्रयमें रहनेवाला अपर सामान्यरूप किया है, सो ऐसा अपर सामान्यरूप विशेष गुणाश्रित संतानत्व दीपकरूप द्रव्यमें नहीं रहता । दूसरी बात यह है कि सर्वथा भिन्न पर सामान्यरूप संतानत्व अथवा अपर सामान्यरूप संतानत्व बुद्धि आदिमें रहना असिद्ध भी है, समवाय से बुद्धि आदिमें रहना भी अशक्य है क्योंकि समवायका निरसन हो चुका है, इसप्रकार संतानत्व हेतु स्वरूपासिद्ध दोष युक्त भी होता है ।

भावार्थ–जिस हेतुका स्वरूप सिद्ध न हो उसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास कहते हैं, प्रकृतमें संतानत्व हेतुका स्वरूप भी सिद्ध नहीं है, क्योंकि पर सामान्य या अपर सामान्यरूप संतानत्व बुद्धि आदि गुणोंमें समवाय सम्बन्धसे रहता है ऐसा वैशेषिक ने कहा, किन्तु समवाय नामा पदार्थका पहले खंडन हो चुका है, जब समवायका ही अस्तित्व नहीं है तब उसके द्वारा संतानत्वका बुद्धि आदि गुणमें रहना भी किसप्रकार संभव है ? अतः यह हेतु स्वरूपासिद्ध दोष युक्त है ।

संतानत्व हेतु विशेषरूप है ऐसा द्वितीय विकल्प माने तो वह विशेष कौनसा है उपादान उपादेय भूत बुद्धि आदि लक्षण वाले क्षण विशेष रूप है अथवा पूर्वापर समान जातीय क्षणोंका प्रवाह रूप है ? प्रथम पक्ष माने तो संतानत्व हेतु असाधारण अनैकान्तिक दोष युक्त होगा, क्योंकि ऐसा हेतु अन्यत्र [प्रदीप दृष्टांतमें] नहीं पाया

न्यश्चामनुवृत्तेः। अभ्युपगमविरोधश्च; न खलु परेण बुद्ध्यादिक्षणोपादानोऽपरोऽखिलो बुद्ध्यादिक्षणोऽभ्युपगम्यते। अन्यथा मुक्त्यऽवस्थायामपि पूर्वपूर्वबुद्ध्याद्युपादानक्षणादुत्तरोत्तरोपादेयबुद्ध्यादिक्षणोत्पत्तिप्रसङ्गान्न बुद्ध्यादिसन्तानस्यात्यन्तोच्छेदः स्यात्। द्वितीयपक्षे तु पाकजपरमाणुरूपादिनानेकान्तः; तथाविधसन्तानत्वस्यात्र सद्भावेप्यत्यन्तोच्छेदाभावात्।

जाता। आपके मान्यतामें भी विरोध होगा, क्योंकि बुद्धि आदि क्षणोंका उपादान अन्य अखिल बुद्धि क्षण है ऐसा आपने माना ही नहीं। यदि ऐसा हटाग्रहसे मान लेंगे तो मुक्तावस्थामें भी पूर्व पूर्व बुद्धि आदि उपादान भूत क्षणसे उत्तरोत्तर उपादेयभूत बुद्धि आदि क्षण की उत्पत्ति होनेका प्रसंग आता है, फिर बुद्धि आदिके संतानका अत्यन्त उच्छेद होना मोक्ष है ऐसा आपका अभिमत सिद्ध नहीं हो सकता। पूर्वापर समान जातीय क्षणोंका प्रवाहरूप विशेषको संतानत्व कहते हैं ऐसा द्वितीयपक्ष माने तो पाकज-परमाणुओंके रूपादिगुणोंके साथ संतामत्व हेतु व्यभिचरित होता है, क्योंकि उनमें पूर्वापर समान जातीय क्षणोंका प्रवाह रूप संतानत्व तो पाया जाता है किन्तु उस संतानत्वका अत्यन्त उच्छेद नहीं होता।

भावार्थ—आत्माके बुद्धि आदि नौ विशेष गुणोंकी संतान सर्वथा नष्ट होती है, क्योंकि वह संतानरूप है, जैसे दीपककी संतान नष्ट होती है। मुक्तावस्थामें आत्मीक गुणोंका अभाव सिद्ध करनेके लिये वैशेषिक यह अनुमान प्रमाण उपस्थित करते हैं, इसमें संतानत्व हेतु है और गुणोंकी संतान सर्वथा नष्ट होना साध्य है एवं प्रदीप का दृष्टांत है। संतानके भावको संतानत्व कहते हैं 'संतानस्य भावः संतानत्वम्', किसी पदार्थके वाचक शब्दमें त्व प्रत्यय आता है तो वह उस पदार्थमें होनेवाले सामान्य धर्म का उल्लेख करता है और वह सामान्य धर्म सामान्य नामा एक पदार्थसे समवाय नामा सम्बन्ध द्वारा सम्बद्ध होता है ऐसा वैशेषिक सिद्धांत है। सामान्य नामा पदार्थके दो प्रकार हैं पर सामान्य और अपर सामान्य, संतानत्व हेतुमें कौनसा सामान्य पाया जाता है ऐसा जैनने प्रश्न किया तब उसका कोई भी समाधान कारक उत्तर नहीं मिल सका, क्योंकि परसामान्यको हेतु मानते हैं तो आकाशादिके साथ व्यभिचार आता है, आकाशादिमें परसामान्य तो पाया जाता है किन्तु उसका सर्वथा नाश नहीं होता अतः जो परसामान्य रूप संतान हो वह सर्वथा नष्ट होती है ऐसा कथन व्यभिचरित हुआ। संतानत्व हेतुको अपर सामान्य रूप मानते हैं तो प्रदीप

विरुद्धश्चायं हेतुः; कार्यकारणभूतक्षणप्रवाहलक्षणसन्तानत्वस्य एकान्तनित्यवदनित्येप्यसम्भवात्, अर्थक्रियाकारित्वस्यानेकान्ते एव प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् ।

शब्दविद्युत्प्रदीपादीनामप्यत्यन्तोच्छेदासम्भवात् साध्यविकलो दृष्टान्तः । न च ध्वस्तस्यापि प्रदीपादेः परिणामान्तरेण स्थित्यभ्युपगमे प्रत्यक्षबाधा; वारि स्थिते तैजसि भासुररूपाभ्युपगमेपि तत्प्रसङ्गात् । अथोष्णस्पर्शस्य भासुररूपाधिकरणतेजोद्रव्याभावेऽसम्भवात् तत्रानुद्भूतस्यास्य परिकल्पनमनुमानतः; तर्हि 'प्रदीपादेरप्यनुपादानोत्पत्तेरिव अन्त्यावस्थातोऽपरापरपरिणामाधारत्वमन्तरेण सत्वकृतकत्वादिकं न सम्भवति' इत्यनुमानतस्तत्सन्तत्यनुच्छेदः किन्न कल्प्यते ? तथाहि–पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामवान् प्रदीपादिः सत्त्वात् कृतकत्वाद्वा घटादिवत् ।

दृष्टांत हेतुसे विकल होता है, क्योंकि अपर सामान्यका अर्थ विशेष गुणके आश्रित रहनेवाला धर्म किया है, ऐसा अपर सामान्य प्रदीपमें नहीं है, प्रदीप तो द्रव्य है, अतः संतानत्व हेतु साधन विकल होनेके कारण सदोष है । इसीप्रकार इस हेतुको विशेष रूप माने तो भी अनेक दोष आते हैं ।

संतानत्व हेतु विरुद्ध दोष युक्त भी है, क्योंकि कार्यकारणभूत क्षणोंका प्रवाह रूप लक्षणवाला संतानत्व एकांत नित्यके समान अनित्यमें पाया जाना भी असंभव है, अर्थात् कार्य कारणभाव सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्यरूप पदार्थमें होना असंभव है। अर्थक्रियाकारीपना कथंचित् नित्यानित्यात्मक वस्तुमें होना ही शक्य है ऐसा हम आगे प्रतिपादन करने वाले हैं ।

संतानका सर्वथा उच्छेद सिद्ध करनेके लिये दीपकका दृष्टांत प्रयुक्त किया है, वह साध्य विकल है, क्योंकि विद्युत्, शब्द, प्रदीपादि की संतान सर्वथा उच्छिन्न नहीं होती । दीपक आदिके नष्ट होनेपर भी वे अन्य परिणामरूपसे अवस्थित रहते हैं और ऐसा माननेमें प्रत्यक्ष बाधा भी नहीं आती, यदि बाधा आना माने तो उष्ण जलमें स्थित अग्निमें भासुररूपको आपने माना है उसमें भी बाधा आयेगी ।

वैशेषिक–भासुर रूपका अधिकरणभूत अग्नि द्रव्यके अभावमें उष्णस्पर्श होना असंभव है अतः उष्ण जलमें अप्रगटभूत भासुर रूपका सद्भाव अनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं ?

जैन–तो फिर दीपक आदिमें भी अंतिम अवस्थामें अन्य अन्य परिणाम का आधारपना स्वीकार किये विना सत्त्व कृतकत्व आदि धर्मका होना असंभव है उन

सत्प्रतिपक्षश्च; तथाहि–बुद्ध्यादिसन्तानो नात्यन्तोच्छेदवान्, अखिलप्रमाणानुपलभ्यमानत थोच्छेदत्वात्, य एवं स न तत्त्वेनोपेयो यथा पाकजपरमाणुरूपादिसन्तानः, तथा चायम्, तस्मान्नात्यन्तोच्छेदवानिति। न च प्रस्तुतानुमानत एव सन्तानोच्छेदप्रतीतेः सर्वप्रमाणानुपलभ्यमानतथोच्छेदत्व-

---

दीपकादिकी बिना उपादानके उत्पत्ति होनेका प्रसंग भी अवश्यंभावी है, इन प्रत्यक्ष बाधाओंके कारण दीपकादिके संतानका सर्वथा उच्छेद नहीं होता ऐसा क्यों न माना जाय ? अनुमान प्रमाण द्वारा भलीभांति सिद्ध होता है कि प्रदीप आदि पदार्थ पूर्व स्वभावका त्याग और उत्तर स्वभावकी प्राप्ति एवं स्थिति रूप परिणमन वाले हैं, क्योंकि वे सत्तारूप एवं कृतक रूप हैं, जैसे घट पट आदि पदार्थ सत्तारूप अथवा कृतक रूप होनेसे परिणमन वाले हैं ?

विशेषार्थ–वैशेषिक पृथ्वी, जल, अग्नि एवं वायुको सर्वथा पृथक् द्रव्य मानते हैं इन द्रव्योंके परमाणु कभी भी परस्पर रूप परिणमन नहीं करते, इन पृथ्वी आदि द्रव्योंके धारण द्रवन आदि गुणधर्म भी अपनेमें समाविष्ट हैं। अग्निके जलमें स्थित होनेपर उसका उष्णधर्म तो प्रगट रहता है किन्तु भासुर धर्म [चमकीलापन] मात्र तिरोभूत होता है, नष्ट नहीं होता, यदि इसका नाश माने तो उसका साथी उष्ण धर्म एवं इन दोनोंका आधारभूत अग्निद्रव्य के नाश होनेका प्रसंग आता है। इस वैशेषिक सिद्धांतको लेकर आचार्यने कहा कि विद्युत्, प्रदीप आदि पदार्थकी संतान भी सर्वथा नष्ट नहीं होती न इनकी उत्पत्ति बिना उपादानके होती। जिसप्रकार उष्ण जलमें भासुरपना मानना प्रत्यक्ष विरुद्ध है तो भी उसे स्वीकार करते हैं उसीप्रकार दीपकके बुझ जानेपर उसका अस्तित्व अन्य परिणामरूपसे रहता है ऐसा स्वीकार करना चाहिये, किसी भी सत्तामूलक पदार्थका सर्वथा नाश नहीं होता यह अटल सिद्धांत है, अतः बुद्धि आदि गुणोंका अत्यन्त उच्छेद होना सिद्ध नहीं होता।

संतानत्व हेतु सत्प्रतिपक्ष दोष युक्त भी है, यथा–बुद्धि आदि गुणोंकी संतान अत्यन्त उच्छिन्न होनेवाली नहीं है, क्योंकि किसी भी प्रमाण द्वारा वैसा उच्छेद होना सिद्ध नहीं होता, जो इसप्रकार प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता उसे वास्तविक रूपसे स्वीकार नहीं करते, जैसे पाकज परमाणुओंके रूपादि गुणोंकी संतान अत्यन्त उच्छिन्न होना नहीं मानते, बुद्धि आदि गुणों की संतान भी प्रमाण द्वारा उच्छिन्न होना सिद्ध नहीं होती अतः वह अत्यन्त उच्छेद होनेवाली नहीं है। वैशेषिक द्वारा प्रस्तुत किये गये

असिद्धम्; सन्तानत्वसाधनस्यासत्प्रतिपक्षत्वासिद्धेः, तत्सिद्धौ हि हेतोर्गमकत्वम्। कालात्ययापदिष्टत्वं च, अनेनैवानुमानेन बाधितपक्षनिर्देशानन्तरं प्रयुक्तत्वात्।

यच्च तत्त्वज्ञानस्य विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण निःश्रेयसहेतुत्वमित्युक्तम्; तदप्युक्तिमात्रम्; ततो विपर्ययज्ञानव्यवच्छेदक्रमेण धर्माधर्मयोस्तत्कार्यस्य च शरीरादेरभावेपि अनन्तातीन्द्रियाखिलपदार्थविषयसम्यग्ज्ञानसुखादिसन्तानस्याभावासिद्धेः। इन्द्रियजज्ञानादिसन्तानोच्छेदसाधने च सिद्धसाधनम्। इन्द्रियाद्यपाये ज्ञानादिसन्तानसद्भावश्चाशेषज्ञसिद्धिप्रस्तावे प्रतिपादितः। कथं चातीन्द्रियज्ञानाद्यनभ्यु-

---

संतानत्व हेतुवाले अनुमानसे संतानका सर्वथा उच्छेद होना सिद्ध होता है अतः "सर्व प्रमाण द्वारा वैसा उच्छेद होना असिद्ध है" ऐसा हमारे द्वारा प्रयुक्त हुआ हेतु असिद्ध दोष युक्त है ऐसी आशंका भी नहीं करना, क्योंकि वैशेषिकके संतानत्व हेतुका असत्प्रतिपक्षपना असिद्ध है, हेतुका असत् प्रतिपक्षत्व सिद्ध होनेपर ही वह अपने साध्यका गमक होता है अन्यथा नहीं। संतानत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष युक्त भी है, क्योंकि इसी अनुमान द्वारा [बुद्धि आदि गुणोंकी संतान अत्यन्त उच्छिन्न होनेवाली नहीं है—इत्यादि अनुमान द्वारा] संतानत्व हेतुका पक्ष बाधित होता है, जिस हेतुका पक्ष प्रमाण द्वारा बाधित होता है उसको कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास कहते हैं। इसप्रकार संतानत्व हेतु असिद्ध, विरुद्ध, अनैकांतिक, सत्प्रतिपक्ष और कालात्ययापदिष्ट इन पांचों ही दोषों से युक्त होनेके कारण स्वसाध्यको [बुद्धि आदिगुणोंका अत्यन्त नाश होना] कथमपि सिद्ध नहीं कर सकता ऐसा निश्चय हुआ।

तत्त्वज्ञानसे विपरीतज्ञान का नाश होता है और क्रमसे धर्मादिका नाश होकर मोक्ष होता है, अतः तत्त्वज्ञान मोक्षका हेतु है ऐसा पूर्वोक्त कथन भी अयुक्त है, तत्त्वज्ञानद्वारा विपरीत ज्ञानका व्यवच्छेद एवं क्रमसे धर्माधर्म तथा उनके कार्यभूत शरीरादिका नाश होनेपर भी अनंत अतीन्द्रिय अखिल पदार्थोंको विषय करने वाला सम्यग्ज्ञान तथा सुखादि संतानोंका नाश होना असिद्ध है। यदि इन्द्रियजन्य ज्ञानादि संतान का उच्छेद करना इष्ट हो तो यह संतानत्व हेतु सिद्ध साधन है, सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरण में हम इसका प्रतिपादन कर चुके हैं कि सर्वज्ञ अवस्था एवं मुक्तावस्थामें इन्द्रियादिके नहीं रहनेपर भी ज्ञानादि संतानका सद्भाव पाया जाता है। यदि अतीन्द्रिय ज्ञानादि को न माना जाय तो महेश्वर में उसका अस्तित्व किसप्रकार सिद्ध होगा? ईश्वर का ज्ञान नित्य है इस मान्यताका निरसन तो ईश्वर का निराकरण करते समय हो चुका

पगमे महेश्वरे तत्सद्भावः स्यात् ? नित्यत्वं चेश्वरज्ञानस्येश्वरनिराकरणे प्रतिषिद्धम् । शरीराद्यपायेप्यस्य ज्ञानाद्यभ्युपगमेऽन्यात्मनोपि सोस्तु तत्स्वभावत्वात् । न च स्वभावापाये तद्वतोऽवस्थानमतिप्रसङ्गात् ।

यत्तूक्तम्–ग्रारब्धकार्ययोश्चोपभोगात्प्रक्षयः; तदपि न सूक्तम्; उपभोगात्कर्मणः प्रक्षये तदुपभोगसमये अपरकर्मनिमित्तस्याभिलाषपूर्वकमनोवाक्कायव्यापारादेः सम्भवात् अविकलकारणस्य प्रचुरतरकर्मणो भवतः कथमात्यन्तिकः प्रक्षयः ? सम्यग्ज्ञानस्य तु मिथ्याज्ञानोच्छेदक्रमेण बाह्याभ्यन्तरक्रियानिवृत्तिलक्षणचारित्रोपबृंहितस्यागामिकर्मानुत्पत्तिसामर्थ्यवत् सञ्चितकर्मक्षयेपि सामर्थ्यं सम्भाव्यत एव । यथोष्णस्पर्शस्य भाविशीतस्पर्शानुत्पत्तौ सामर्थ्यवत् प्रवृत्ततत्स्पर्शादिध्वंसेपि सामर्थ्यं प्रतीयते । किन्तु परिणामिजीवाजीवादिवस्तुविषयमेव सम्यग्ज्ञानम्, न पुनरेकान्तनित्यानित्यात्मादि-

---

है । तथा महेश्वरके शरीरादिके नहीं रहने पर भी ज्ञानादि गुणोंका सद्भाव स्वीकार किया जाता है तो अन्य आत्माके ज्ञानादि गुणोंका सद्भाव भी मुक्तदशामें स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि अन्य आत्मा भी ज्ञान स्वभावरूप हैं, यदि उस स्वभावका अभाव माना जाय तो स्वभाववान् आत्माका अभाव माननेका अतिप्रसंग उपस्थित होगा ।

धर्माधर्मका कार्य प्रारंभ हो चुकनेपर उनका उपभोग होकर क्षय हो जाता है ऐसा पूर्वोक्त कथन भी ठीक नहीं है, मात्र उपभोगसे ही कर्मका क्षय होता है ऐसा मानने पर उन कर्म फलोंका उपभोग करते समय अन्य नवीन कर्मके निमित्तभूत अभिलाषा पूर्वक मन वचन कायकी क्रियाका सद्भाव होनेसे जिसका अविकल कारण मौजूद है ऐसे प्रचुरतर नवीनकर्म उत्पन्न होते ही रहेंगे, अतः उनका अत्यन्त क्षय किस प्रकार हो सकेगा ? सम्यग्ज्ञान द्वारा कर्मोंका सर्वथा क्षय होना तो भलीभांति सिद्ध होता है, हां वह सम्यग्ज्ञान बाह्य क्रिया-हिंसादि पाप रूप एवं अभ्यंतर क्रिया-राग द्वेषादि कषाय की निवृत्ति होना रूप चारित्र द्वारा वृद्धिगत होना चाहिये, ऐसे सम्यग् ज्ञानमें जैसे आगामी कर्मोंको उत्पन्न नहीं होने देना [संवर] रूप सामर्थ्य है वैसे पूर्व संचित कर्मोंका क्षय करादेनारूप सामर्थ्य भी अवश्य ही रहती है । जैसे उष्ण स्पर्शमें भावीशीत स्पर्श को उत्पन्न नहीं होने देना रूप सामर्थ्य है वैसे वर्त्तमानके शीतस्पर्शको नष्ट करना रूप सामर्थ्य भी रहती है । किन्तु सम्यग्ज्ञान वही कहलाता है जो कथंचित् परिणमनशील जीव, अजीव आदि वस्तुभूत पदार्थोंको विषय करता हो । सर्वथा नित्य या अनित्यरूप कल्पित पदार्थोंको विषय करनेवाला ज्ञान सम्यग् नही कहलाता, क्योंकि विपरीत अर्थका ग्राहक होनेके कारण उसमें मिथ्यापना है ऐसा आगे प्रतिपादन करने

विषयम्; तस्य विपरीतार्थग्राहकत्वेन मिथ्यात्वोपपत्तेरित्यग्रे निवेदयिष्यते। अतो यदुक्तम्-'यथै-धांसि' इत्यादि; तत्सर्वं संवररूपचारित्रोपबृंहितसम्यग्ज्ञानाग्नेरशेषकर्मक्षये सामर्थ्याभ्युपगमा-त्सिद्धसाधनम्।

यच्चाभ्यधायि-समाधिबलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्येत्यादि; तदप्यभिधानमात्रम्; अभिलाषरूपरागा-द्यभावेऽङ्गनाद्युपभोगासम्भवात्। तत्सम्भवे वावश्यंभावी गृद्धिमतो भवदभिप्रायेण योगिनोपि प्रचुर-तरधर्माधर्मसम्भवो नृपत्यादेरिवातिभोगिनः। वैद्योपदेशादातुरोप्यौषधाद्याचरणे नीरुग्भावाभिलाषेणैव प्रवर्त्तते, न पुनर्ज्ञानमात्रात्। तन्नाशेषशरीरद्वारावाप्ताशेषभोगस्य कर्मान्तरानुत्पत्तिः। किं तर्हि? परिपूर्णसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्य, इत्यलं विवादेन, जीवन्मुक्तेरपि त्रितयात्मकादेव हेतोः सिद्धेः। संसारकारणं हि मिथ्यादर्शनादित्रयात्मकं न पुनर्मिथ्याज्ञानमात्रात्मकम्, तच्च कस्मात्सम्यग्ज्ञानमात्रा-त्कथं व्यावर्त्तेत इत्युक्तं सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे।

वाले हैं। ज्ञान रूपी अग्नि कर्मरूपी ईंधनको जलाती है इत्यादि जो पूर्वमें कहा था वह भी हमारे लिये सिद्ध साधन है, संवररूप चारित्र द्वारा बढ़ी हुई सम्यग्ज्ञानरूपी अग्नि संपूर्ण कर्मोंका क्षय करनेकी सामर्थ्य रखती है ऐसा हम मानते ही हैं।

वैशेषिक ने कहा था कि समाधिके बलसे उत्पन्न हुआ है तत्त्वज्ञान जिनके ऐसे पुरुष अनेक शरीरोंको एक साथ उत्पन्न कर कर्मोंका उपभोग कर डालते हैं इत्यादि, वह सब प्रलाप मात्र है, अभिलाषारूप रागादि विकार भावके नहीं होनेपर स्त्री आदि पदार्थका उपभोग होना असंभव है, यदि संभव है तो उस उपभोगके सद्भावमें गृद्धियुक्त उस तत्त्वज्ञानी योगीके भी आपके अभिप्रायानुसार प्रचुरतर धर्माधर्म [पुण्य पाप] का सद्भाव सिद्ध होता है, फिर तो वे योगी राजाके समान अतिभोगी ही कहलाये। वैद्यके कथनानुसार रोगी औषधि आदिका सेवन बिना आसक्ति के करता है वैसे योगीजन बिना आसक्तिके उपभोग करते हैं ऐसा भी नहीं कहना, रोगी के निरोग होनेकी अभि-लाषा अवश्य होती है, उस अभिलाषाके बिना ज्ञान मात्रसे औषधि सेवन नहीं होता। अतः अशेष शरीर द्वारा संपूर्ण कर्म फलोंका उपभोग होनेसे अन्य कर्मोंकी उत्पत्ति होना नहीं रुकता, किन्तु परिपूर्ण प्रकृष्ट सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होनेसे अन्य कर्मोंकी उत्पत्ति होना रुकता है, अब अधिक विवादसे बस हो, परममुक्ति स्वरूप मोक्षके समान जीव-न्मुक्तिके प्राप्तिका कारण भी यही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप तीन रत्न है ऐसा निश्चित होता है। संसारका कारण भी मिथ्यादर्शन-ज्ञान, चारित्ररूप त्रितयात्मक

यच्चान्यदुक्तम्–नित्यनैमित्तिकानुष्ठानं केवलज्ञानोत्पत्तेः प्राक्काम्यनिषिद्धानुष्ठानपरिहारेण ज्ञानावरणादिदुरितक्षयनिमित्तत्वेन केवलज्ञानप्राप्तिहेतुः; तदिष्टमेवास्माकम्।

आनन्दरूपता तु मोक्षस्याभीष्टैव। एकान्तनित्यता तु तस्याः प्रतिषिध्यते। चिद्रूपतावदानन्दरूपताप्येकान्तनित्या; इत्यप्ययुक्तम्; चिद्रूपताया अप्येकान्तनित्यत्वासिद्धेः, सकलवस्तुस्वभावानां परिणामिनित्यत्वेनाग्रे समर्थयिष्यमाणत्वात्।

अथानित्यत्वे तस्याः तत्संवेदनस्य चोत्पत्तिकारणं वक्तव्यम्; ननूक्तमेव प्रतिबन्धापायलक्षणं तत्कारणं सर्वज्ञसिद्धिप्रस्तावे। आत्मैव हि प्रतिबन्धकापायोपेतो मोक्षावस्थायां तथाभूतज्ञानसुखादि-

---

ही है न कि एक मिथ्याज्ञान रूप। जब संसारका कारण भी मिथ्यादर्शनादि तीनरूप है तो उनका नाश केवल सम्यग्ज्ञान द्वारा किसप्रकार संभव है? अर्थात् संभव नहीं है, इस विषयमें सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणमें कथन कर आये हैं।

केवल ज्ञानोत्पत्तिके पहले तत्त्वज्ञानी नित्य नैमित्तिक क्रियाका अनुष्ठान करता है ऐसा कहा था सो हम लोगों को भी इष्ट है क्योंकि काम्य और निषिद्ध अनुष्ठान [अभिलाषा युक्त शुभ-अशुभ आचरण] को छोड़कर नित्य नैमित्तिक क्रिया [आवश्यक क्रिया] का अनुष्ठान ज्ञानावरणादि घातिया कर्मोंके क्षयका निमित्त होनेसे केवलज्ञान की प्राप्तिका हेतु है।

ब्रह्मवादीका आनंदरूप मोक्षका लक्षण भी हम जैनको कथंचित् इष्ट है, परंतु उस आनंदरूपताको एकांतसे सर्वथा नित्य मानना निषिद्ध है। चैतन्यरूपताके समान आनंदरूपता भी एकांतसे नित्य है ऐसा कहना भी अयुक्त है, हम स्याद्वादी चैतन्यरूपता को भी एकांतसे नित्य नहीं मानते, जगत्के यावन्मात्र पदार्थोंके स्वभाव परिणामी नित्य हैं ऐसा आगे प्रतिपादन करनेवाले हैं।

शंका–यदि आनंदरूपको अनित्य मानते हैं तो उसके एवं उसके संवेदनके उत्पत्तिका कारण बताना चाहिये?

समाधान–सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरणमें उस आनंदरूपता आदिके उत्पत्तिका कारण कह दिया है कि प्रतिबंधक कर्मोंके नष्ट हो जानेसे अनंत सुखादिरूप आनंदरूपतादिकी उत्पत्ति होती है। मोक्ष अवस्थामें प्रतिबंधक कर्मोंसे रहित आत्मा ही अतीन्द्रिय ज्ञान सुख आदि का कारण होता है, जिसप्रकार घट आदि आवरणसे रहित प्रदीपक्षण

कारणम्, घटाद्यावरणापायोपेतप्रदीपक्षणवत् स्वपरप्रकाशकापरप्रदीपक्षणोत्पत्तौ, तदुत्पादन[स्व] भावस्यान्यापेक्षायोगात्। यद्धि यदुत्पादनस्वभावं न तत्तदुत्पादनेऽन्यापेक्षम् यथान्त्या कारणसामग्री स्वकार्योत्पादने, तदुत्पादनस्वभावश्चातीन्द्रियज्ञानसुखाद्युत्पत्तौ प्रतिबन्धकापायोपेत आत्मेति। संसारावस्थायामप्युपलभ्यते-वासीचन्दनकल्पानां सर्वत्र समवृत्तीनां विशिष्टध्यानादिव्यवस्थितानां सेन्द्रियशरीरव्यापाराऽजन्यः परमाल्हादरूपोऽनुभवः। अस्यैव भावनावशादुत्तरोत्तरावस्थामासादयतः परमकाष्ठा गतिः सम्भाव्यत एव।

स्वपर प्रकाशक अपर प्रदीपक्षणकी उत्पत्तिका कारण है, क्योंकि उसको उत्पन्न करनेका जो स्वभाव है वह अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता है। आत्मा अतीन्द्रिय सुखादिकी उत्पत्ति में अन्यकी अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि उसको उत्पन्न करनेका उसका स्वभाव ही है, जो जिसके उत्पादनके स्वभावभूत होता है वह उसके उत्पादनके लिये अन्यकी अपेक्षा नहीं करता है, जैसे अंत्यक्षणकी कारण सामग्री स्वकार्यके उत्पादनमें अन्यकी अपेक्षा नहीं रखती, प्रतिबंधक कर्मसे रहित आत्मा भी अतीन्द्रिय ज्ञानसुखादिके उत्पादनमें तदुत्पादन स्वभावभूत है, अतः अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं करता। इस अतीन्द्रिय सुखादिकी झलक उन पुरुषों को संसार अवस्थामें भी आती है जो वासी और चंदनमें समान भाव धारते हैं [कुठार द्वारा घात करने वाले और चंदन द्वारा लेप करने वाले इन दोनोंमें समता भाव] विशिष्ट ध्यानादिमें संलग्न हैं, ऐसे साम्यभावधारक वीतराग साधुओंको इन्द्रिय एवं शरीरकी क्रियासे जो उत्पन्न नहीं हुआ है ऐसा परम आह्लादरूप सुखानुभव होता है, यही अनुभव शुद्धात्माके भावनाके वशसे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त होता हुआ चरम सीमापर पहुंचना संभव ही है।

विशेषार्थ—शुद्धात्माके ध्यानमें लीन परम वीतराग महासाधुओंको जो अकथनीय आनंद प्राप्त होता है उसका आध्यात्मिक ग्रंथोंमें वर्णन पाया जाता है, वह शुद्धात्म भावना या सिद्धांतानुसार शुक्ल ध्यान वृद्धिगत होते हुए संपूर्ण कर्मोंके नाशमें हेतु होता है। अतः आनंदरूपताको मोक्षका स्वरूप मानना जैनको इष्ट ही है। किन्तु ब्रह्मवादी इसको सर्वथा नित्य मानते हैं इसलिये उन्हें शंका हुई कि आत्माकी आनंदरूपता यदि अनित्य है तो उसके उत्पत्ति कारण कौन होगा? तब जैनने समाधान किया कि प्रतिबंधक कर्मका अभाव होना आनंदरूपताका कारण है। मुक्तावस्थामें केवल आनंद ही नहीं रहता अपितु ज्ञान दर्शन आदि गुणोंका सद्भाव भी रहता है, अब यहां इन गुणोंके आविर्भावके कारण क्रमशः बताते हैं—ज्ञानावरण कर्मके क्षयसे

आनन्दरूपताभिव्यक्तिश्चानाद्यविद्याविलयात्; इत्यभीष्टमेव; अष्टप्रकारपारमार्थिककर्मप्रवाहरूपाऽनाद्यविद्याविलयाद् अनन्तसुखसंज्ञानादिस्वरूपप्रतिपत्तिलक्षणमोक्षावाप्तेरभीष्टत्वात् ।

विशुद्धज्ञानसन्तानोत्पत्तिलक्षणोऽप्यसौ मोक्षोऽभ्युपगम्यते । स तु चित्तसन्तानः सान्वयो युक्तः । बद्धो हि मुच्यते नाबद्धः । न च निरन्वये चित्तसन्ताने बद्धस्य मुक्तिः तत्र ह्यन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यते ।

अनंत केवलज्ञान, दर्शनावरण कर्मके नाशसे अनंत केवल दर्शन, मोहनीय कर्मके क्षयसे अनंतसुख या आनंद, अंतरायकर्मके विनाशसे अनंतवीर्य । जीवन्मुक्तिमें ये गुण प्रगट होते हैं । परममुक्तिमें वेदनीयके क्षयसे अव्याबाधत्व, नामकर्मके अभावसे सूक्ष्मत्व, गोत्र के नाशसे अगुरुलघुत्व एवं आयुकर्मके विनाशसे अवगाहनत्व गुण प्रगट होते हैं । वैशेषिक मुक्तावस्थामें किसी भी गुणका सद्भाव नहीं मानते, बुद्धि, सुख जैसे सर्वथा आत्मीक गुणोंका अभाव भी मुक्तिमें होता है ऐसा उनका कहना है, यह सर्वथा प्रतीतिविरुद्ध है, यदि आत्मारूपी गुणीका सद्भाव मुक्तिमें है तो उसके ज्ञानादिगुण अवश्य ही विद्यमान रहेंगे, क्योंकि गुणी और गुणका तादात्म्य है । तथा जहां पर अपने गुणोंका ही नाश हो वहां पर जाना कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा ? एक कविने व्यंग करते हुए कहा है कि:—

वरं वृंदावनेऽरण्ये शृगालत्वं भजाम्यहम् ।
न पुन र्वैशेषिकीं मुक्तिं प्रार्थयामिकदाचन ।।२८।। [सर्वसिद्धांतसंग्रह]

अनादिकालीन अविद्याके विलय होनेपर आनंदरूपता अभिव्यक्त होती है ऐसा ब्रह्मवादी मंतव्य भी हमें इष्ट है, किन्तु वह अविद्या मायारूप या काल्पनिक न होकर वास्तविक है, आठ प्रकारके ज्ञानावरणदि कर्मप्रवाहरूप अनादि अविद्याके विलय हो जानेसे अनंतज्ञान, अनंतसुखादिकी प्राप्ति होना रूप मोक्ष मानना हम जैनको अभीष्ट ही है ।

हम लोग बौद्धाभिमत विशुद्ध ज्ञानसंतानकी उत्पत्ति होना रूप मोक्षको भी स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु वह ज्ञान संतान अन्वययुक्त होती है [द्रव्य सहित पर्याय होती है न केवल पर्याय] बौद्धोंके समान निरन्वय नहीं, क्योंकि जो बंधा था वह छूटता है न कि अबंधक, बौद्ध ज्ञानसंतानको निरन्वय [मूल-आधारभूत द्रव्यसे रहित] मानते हैं अतः जो बद्ध था उसकी मुक्ति हुई ऐसा सिद्ध होना असंभव है, उनके यहां तो अन्य ही कोई बद्ध होता है और अन्य कोई मुक्त होता है ।

सन्तानैक्याद्बद्धस्यैव मुक्तिरपीति चेत्; ननु यदि सन्तानार्थः परमार्थसन्; तदात्मैव सन्तान-शब्देनोक्तः स्यात्। अथ संवृतिसन्; तदैकस्य परमार्थसतोऽसत्त्वात् 'अन्यो बद्धोऽन्यश्च मुच्यते' इति मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिर्न स्यात्। अथात्यन्तनानात्वेपि दृढतरैकत्वाध्यवसायाद् 'बद्धमात्मानं मोचयिष्यामि' इत्यभिसन्धानवतः प्रवृत्तेर्नायं दोषः; न तर्हि नैरात्म्यदर्शनम्, इति कुतस्तन्निबन्धना मुक्तिः? अथास्ति तद्दर्शनं शास्त्रसंस्कारजम्; न तर्ह्येकत्वाध्यवसायोऽस्खलद्रूप इति कुतो बद्धस्य मुक्त्यर्थं प्रवृत्तिः स्यात्? तथा च—

"मिथ्याध्यारोपहानार्थं यत्नोऽसत्यपि मोक्तरि" [प्रमाणवा० २।१९२] इति प्लवते। तस्मात्सान्वया चित्तसन्ततिरभ्युपगन्तव्या, सकलविज्ञानक्षणत्वेपि जीवाभावे बन्धमोक्षयोस्तदर्थं वा

संतान एक रूप होनेके कारण बद्ध की ही मुक्ति होती है ऐसा कहना भी शक्य नहीं, आप संतानको यदि परमार्थभूत मानते हैं तो आत्माका ही संतान शब्द द्वारा उल्लेख हुआ। और यदि काल्पनिक मानते हैं तो एक वास्तविक सत्ताभूत पदार्थ के नहीं होनेसे वही दोष आता है कि अन्य बद्ध था और अन्य कोई मुक्त हुआ, इस तरह तो मुक्तिके लिये प्रयत्न शील हो ही नहीं सकता, क्योंकि जिसने प्रयत्न किया वह मुक्त न होकर अन्य कोई होता है।

बौद्ध—संतानमें अत्यन्त नानापना होनेपर भी दृढतर एकपनेका अध्यवसाय [अभ्यास] होनेके कारण बद्ध हुए आत्माको विमुक्त करूंगा इसप्रकारके अभिप्राय युक्त पुरुष मोक्षके लिये प्रयत्न करते ही हैं। अतः कोई दोष नहीं?

जैन—तो फिर आपका नैरात्म्य दर्शन समाप्त होता है, अर्थात् प्रदीप निर्वाण-वत् आत्मनिर्वाणम्—दीपकके समान आत्माका निरन्वय नाश होता है और वही मोक्ष है ऐसे शून्यस्वरूप नैरात्म्य भावनासे मोक्ष होता है ऐसी मान्यता नष्ट होती है फिर उस भावनाके निमित्तसे होनेवाला मोक्ष भी किसप्रकार सिद्ध होगा? नैरात्म्य दर्शनका अस्तित्व है और वह शास्त्र संस्कार से होता है ऐसा कहो तो उक्त एकत्वका अध्यव-साय सत्यार्थ नहीं रहता [क्योंकि नैरात्म्य भावना आत्म-अभावरूप है और आत्म-एकत्वकी भावना आत्म सद्भाव रूप है अतः एकको सत्यभूत स्वीकार करनेपर दूसरी स्वतः असत्य ठहरती है] फिर बद्ध पुरुषके आत्म एकत्वका अध्यवसाय हो जानेसे मुक्तिके लिये प्रवृत्ति होती है ऐसा कथन किस तरह सिद्ध होगा? इसतरह मुक्तिके लिये प्रवृत्ति होना सिद्ध नहीं होनेपर मुक्त होनेवाले आत्माके नहीं होनेपर भी मिथ्या

प्रवृत्तेरनुपपत्तेः । न चान्योन्यविलक्षणाऽपरापरचित्तक्षणानामनुयायिजीवाभावो विरोधात्; इत्यभिधातव्यम्; स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण तत्रानुयायिरूपतया तस्य प्रतीतेः । प्रतीयमानस्य च कथं विरोधो नाम अनुपलम्भसाध्यत्वात्तस्य ?

तद्व्यापारे चासति आत्मनि प्रत्यभिज्ञानप्रत्ययस्य प्रादुर्भावो न स्यात् । अथात्मन्यप्यारोपितैकत्वविषयत्वादस्य प्रादुर्भावः; न; अस्यारोपितैकत्वविषयत्वे स्वात्मन्यनुमानात्क्षणिकत्वं निश्चिन्वतो निवृत्तिप्रसङ्गात्, निश्चयारोपमनसोर्विरोधात् । निवर्तत एवेति चेत्; तर्हि सहजस्याभिसंस्कारिकस्य च

अध्यारोपको दूर करनेके लिये प्रयत्न करते हैं इत्यादि कथन नष्ट होता है । इसलिये ज्ञान संतानको सान्वय [द्रव्याधारभूत] स्वीकार करना ही युक्ति संगत है, सकल विज्ञानके क्षणभूत संतानके होनेपर भी जीवके अभावमें बंध मोक्ष एवं उनके लिये प्रवृत्ति दोनों ही घटित नहीं होते ।

बौद्ध–परस्परमें अत्यन्त विलक्षण ऐसे अन्य अन्य ज्ञान क्षणोंका अन्वय हो नहीं सकता अतः इनमें रहने वाले अनुयायी जीवका अभाव ही है यदि उसको माने तो विरोध होगा ?

जैन–ऐसा कहना असत् है मैं पहले दुःखी था अब सुखी हो गया इत्यादि स्वयंके प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञानक्षणों का अन्वय एवं अनुयायीकी प्रतीति हो रही है, प्रतीयमान वस्तुका विरोध किसप्रकार हो सकता ? विरोध तो अनुपलंभ साध्य है ।

इसप्रकार संतान एकत्वकी सिद्धि नहीं होनेसे मुक्तिके लिये प्रयत्न करना सिद्ध नहीं होता तथा आत्माका अस्तित्व भी स्वीकृत नहीं किया जाता अतः प्रत्यभिज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्षणिक आत्मामें कल्पित किया गया जो एकत्व है उसको विषय करनेसे प्रत्यभिज्ञानका प्रादुर्भाव होता है ऐसा कहना भी गलत है, प्रत्यभिज्ञानका विषय कल्पित एकत्व माने तो अपनेमें अनुमानसे क्षणिकपनेका निश्चय करने वाले पुरुषके वह प्रत्यभिज्ञान निवृत्त हो जायगा [नष्ट होवेगा] क्योंकि निश्चित ज्ञान और कल्पित विषयक ज्ञानका एकत्र रहनेमें विरोध है ।

बौद्ध–आत्माके क्षणिकपनेका निश्चय हो जानेपर एकत्व विषयक प्रत्यभिज्ञान निवृत्त होता ही है ।

सत्वदर्शनस्याभावात्तदैव तन्मूलरागादिनिवृत्तेर्मुक्तिः स्यात्। भ्रान्तत्वे चास्य प्रत्यक्षस्याशेषस्यापि भ्रान्तत्वप्रसङ्गः, बाह्याध्यात्मिकभावेष्वेकत्वग्राहकत्वेनैवाशेषप्रत्यक्षाणां प्रवृत्तिप्रतीतेः। तथा च

जैन–तो फिर ग्राम्यजन और सुशिक्षितजनका जीवस्तित्वसंबंधी प्रत्यभिज्ञान समाप्त होते ही तत्काल एकत्व ज्ञान मूलक रागादि विकार भी नष्ट होना चाहिये और मुक्ति होना चाहिये ?

विशेषार्थ–बौद्ध मतमें आत्मा आदि पदार्थोंको सर्वथा क्षणिक माना है, जब आत्मा क्षणिक है तब उसकी क्रमसे होनेवाली बद्ध और मुक्त अवस्था किसप्रकार सिद्ध हो सकती है ? जो पहले बद्ध था उसीके मुक्ति हुई ऐसा कहना अशक्य है, यदि अन्य बंधा और अन्य मुक्त हुआ तो ऐसे अन्यके मुक्तिके लिये प्रयत्न भी नहीं हो सकेगा, तथा आत्माको क्षणिक मानने पर प्रत्यभिज्ञान होना अशक्य है, क्योंकि पदार्थके कथंचित् नित्य होनेपर ही उस ज्ञानका विषय एवं प्रादुर्भाव संभव है। आत्मामें काल्पनिक एकत्वका आरोप करके उसको प्रत्यभिज्ञान विषय करता हैं, और जब अनुमान द्वारा आत्माके क्षणिकपनेका निश्चय होता है तब वह काल्पनिक प्रत्यभिज्ञान नष्ट होता है ऐसा बौद्धके कहनेपर आचार्य कहते हैं कि आत्माके क्षणिकपनेका ज्ञान होते ही एकत्व विषयक प्रत्यभिज्ञान नष्ट होगा, राग द्वेष आदि विकार भी तत्काल नष्ट हो जायेंगे, क्योंकि राग द्वेष आदि आत्माके नित्य रहनेपर ही संभव है अर्थात् अंतरंग आत्मामें किसीके प्रति राग तब होता है जब कुछ समय पहले उसने हमारे लिये इष्ट प्रवृत्ति की हो जैसे पुत्रका माताके प्रति सद्व्यवहार होनेपर माताका पुत्रके प्रति स्नेहाधिक्य हो जाता है, ऐसे ही द्वेष की प्रवृत्ति है अतः निश्चित है कि राग द्वेषका उद्भव आत्माके नित्य रहनेपर ही [कथंचित् नित्य] सभव है। बौद्ध मतानुसार आत्मा क्षणिक है, उसमें एकपनेका भ्रांत प्रत्यभिज्ञान होने से राग द्वेष होते हैं "सर्व क्षणिकं सत्वात्" इत्यादि अनुमान द्वारा आत्माके क्षणिकपनेका निश्चय होनपर वह प्रत्यभिज्ञान नष्ट होता है। यदि ऐसा माने तो क्षणिकत्वका ज्ञान होनेके साथ ही प्रत्येक बौद्धमतानुयायीको मुक्ति हो जानी चाहिये ? क्योंकि ग्रामीण जन हो चाहे शिक्षित जन हो सभी बौद्धोंको आत्मक्षणिकत्वका ज्ञान होता है उसके होते ही राग द्वेष नष्ट होंगे और रागादिके नष्ट होते ही मुक्ति होगी ? किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं होता अतः प्रत्यभिज्ञान को काल्पनिक मानना असिद्ध है।

प्रत्यक्षस्याभ्रान्तत्वविशेषणमसम्भाव्यमेव स्यात्। समर्थयिष्यते च प्रत्यभिज्ञानप्रत्ययस्यानारोपितार्थग्राहकत्वमभ्रान्तत्वं च। तन्न करवाभावः। अनुभूयमानस्यापि चैकत्वस्यानेकत्वेन विरोधे ग्राह्यग्राहकसंवित्तिलक्षणविरुद्धरूपत्रयाध्यासितज्ञानस्य, अर्थस्वलक्षणस्य चैकदा स्वपरकार्यकर्तृत्वाकर्तृत्वलक्षणविरुद्धधर्मद्वयाध्यासितस्य एकत्व विरोधः स्यात्।

प्रत्यभिज्ञानको भ्रांत माननेपर सभी प्रत्यक्षज्ञानको भी भ्रांत माननेका प्रसंग आता है, क्योंकि सभी प्रत्यक्ष प्रमाण बाह्य अभ्यंतर पदार्थों [चेतन अचेतन] में एकत्व ग्रहण द्वारा ही प्रवृत्त होते हुए प्रतीतिमें आ रहे हैं। इसप्रकार प्रत्यभिज्ञानके समान प्रत्यक्षज्ञान भी एकत्वको विषय करनेवाला सिद्ध होता है अतः उस प्रत्यक्षका अभ्रांतत्व विशेषण [कल्पनापोढं अभ्रांतं–प्रत्यक्षम्] असिद्ध हो जाता है। प्रत्यभिज्ञान वास्तविक पदार्थका ग्राहक है एवं अभ्रांत है ऐसा हम जैन आगे सिद्ध करनेवाले हैं, अतः आत्मादि पदार्थोंके एकत्वधर्मका अभाव करना असंभव है। दूसरी बात यह है कि एकत्वका साक्षात् अनुभव न होते हुए भी सुखदुःखादि अनेक धर्मोंके साथ उसका रहना विरुद्ध माना जाय तो बौद्ध संमत ग्राह्य ग्राहक और संवित्ति [पदार्थ ज्ञान एवं उसकी प्रतीति] इन तीन विरुद्ध धर्मोंका ज्ञापन करानेवाले ज्ञानमें एकत्व मानना विरुद्ध होगा, तथा एक नीलादि स्वलक्षणभूत पदार्थमें एक ही कालमें स्वकार्यके प्रति *कर्तृत्व और परकार्यके प्रति अकर्तृत्व ऐसे विरुद्ध दो धर्मोंका अस्तित्व स्वीकार किया* है उसमें विरोध होगा।

विशेषार्थ–बौद्धका कहना था कि प्रत्यभिज्ञान एकत्वको विषय करता है अतः असमीचीन है, क्योंकि वस्तुमें अनेक धर्म होनेसे वह अनेक रूप है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान उन अनेक धर्मोंमें भी एकपनेका बोध कराता है अर्थात् आत्मा सुखक्षण, दुःखक्षण आदि अनेक धर्मरूप है उन सब धर्मोंमें प्रतिक्षणकी आत्मा पृथक् होते हुए भी प्रत्यभिज्ञान सबमें एकत्वकी प्रतीति कराता है, अतः असत् है, इस कथनका जैनने उन्हींका सिद्धांत लेकर निरसन किया कि आपके यहां ज्ञानक्षण और अर्थक्षण ऐसे दो वस्तुभूत पदार्थ माने हैं, ग्राह्य–जानने योग्य पदार्थ, ग्राहकज्ञान और संवित्ति इनका वेदन ये तीन धर्म एक ही ज्ञानमें संवेदित होते हैं, सो विरुद्ध तीन धर्मोंका एकत्व अनुभवन करानेवाला ज्ञान प्रत्यभिज्ञानके समान किसप्रकार विरोधको प्राप्त नहीं होगा? अवश्य होगा। तथा नील स्वलक्षण पीत स्वलक्षण आदि अर्थक्षणके भेद हैं एक नील स्वलक्षण

यच्चान्यत्–रागादिमतो विज्ञानान्न तद्रहितस्यास्योत्पत्तिरित्याद्युक्तम्; तदप्यसाम्प्रतम्; रागादिरहितस्याखिलपदार्थविषयविज्ञानस्याशेषज्ञसाधनप्रस्तावे प्रतिपादितत्वात्। न च बोधाद्बोधरूपतेति प्रमाणमस्ति; इत्यप्ययुक्तम्; विलक्षणकारणाद्विलक्षणकार्यस्योत्पत्त्यभ्युपगमे अचेतनाच्छरीरादेश्चैतन्योत्पत्तिप्रसङ्गाच्चार्वाकमतानुषङ्गः। प्रसाधितश्च परलोकी प्रागित्यलमतिप्रसङ्गेन।

यच्चाभ्यधायि–सुषुप्तावस्थायां विज्ञानसद्भावे जाग्रदवस्थातो न विशेषः स्यात्; तदप्यभिधान-

---

में एक ही समयमें अपने उत्तरक्षणवर्त्ती नीलक्षणको उत्पन्न करनेरूप कर्तृत्व धर्म रहता है और उसीमें उसीक्षण पीतक्षणको उत्पन्न नहीं करनेरूप अकर्तृत्व धर्म भी रहता है, ऐसे कर्तृत्व अकर्तृत्वरूप विरुद्ध धर्मोंके रहते हुए भी उस नीलक्षणमें एकत्व माना है सो यह मान्यता उक्त प्रत्यभिज्ञानके समान विरोधको क्यों नहीं प्राप्त होगी ? अतः जिसप्रकार नीलक्षणमें अनेक धर्मोंके रहते हुए भी एकत्व मानना अविरुद्ध है उसीप्रकार सुखक्षण आदि अनेक धर्मोंके रहते हुए भी उन सब धर्मोंमें एक ही आत्मा है और उस आत्म एकत्वको जानने वाला प्रत्यभिज्ञान भी समीचीन है ऐसा स्वीकार करना ही होगा।

बौद्धाभिमत मोक्षके लक्षणका निरसन करते हुए वैशेषिकने कहा था कि राग-युक्तज्ञानसे रागरहित विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती इत्यादि वह सब अयुक्त है, सर्वज्ञ सिद्धि प्रकरणमें संपूर्ण पदार्थोको विषय करनेवाला ज्ञान रागरहित ही होता है ऐसा हम जैन निर्विवाद प्रतिपादन कर आये हैं। ज्ञानसे ही ज्ञानपना आने की मान्यता प्रमाणभूत नहीं है ऐसा कथन भी अयुक्त है, सर्वथा विलक्षणभूत कारणसे अन्य विलक्षणकार्य की उत्पत्ति स्वीकार करे तो अचेतनभूत शरीर आदिसे चैतन्यकी उत्पत्ति माननेका प्रसंग आता है, और इसतरह विलक्षण कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार वाले वैशे-षिकका चार्वाकमतमें प्रवेश हो जाता है, हम जैनने इस चार्वाकमतका निरसन करते हुए पहले ही सिद्ध कर दिया है कि परलोकमें गमन वाला ज्ञानादिसे तादात्म्य संबंध ऐसा आत्मा अचेतनभूत चतुष्टयसे सर्वथा पृथक् है। अब यहांपर अधिक नहीं कहते।

सुप्त दशामें ज्ञानका सद्भाव मानेंगे तो जाग्रत् दशासे उसकी विशेषता नहीं रहती ऐसा मंतव्य भी असत् है, सुप्तदशामें ज्ञानके रहते हुए भी अतिनिद्रा द्वारा वह अभिभूत हो जाता है इसलिये जाग्रत् दशासे उस दशामें समानता नहीं होती, जिसप्रकार मत्त मूच्छित आदि दशामें मदिरा आदिके द्वारा उत्पन्न किये गये मद वेदना आदिसे हमारा ज्ञान अभिभूत हो जाता है। अभिप्राय यह है कि सुप्त उन्मत्त आदि दशामें

मात्रम्; यतस्तदा विज्ञानसद्भावेपि अतिनिद्रयाभिभूतत्वान्न जाग्रदवस्थातोऽविशेषः, मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायां मदिराद्युत्पादितमदवेदनाद्यभिभूतविज्ञानवत् ।

ननु कोयं मिद्धेनाभिभवः ? ज्ञानस्य नाशश्चेत्; कथं तस्य सत्त्वम् ? तिरोभावश्चेत्; न; स्वपरप्रकाशरूपज्ञानाभ्युपगमे तस्याप्यसम्भवात्; इत्यप्यचर्चिताभिधानम्; मणिमन्त्रादिनाग्न्यादिप्रतिबन्धे शरावादिना प्रदीपादिप्रतिबन्धे च समानत्वात् । न हि तत्राप्यग्न्यादेर्नाशः प्रतिबन्धः; प्रत्यक्षविरोधात् । नापि तिरोभावः; स्वपरप्रकाशस्वभावस्य स्फोटादिकार्यजननसमर्थस्य तिरोभावस्याप्यसम्भवात् । प्रतीत्यनतिक्रमेणात्र स्वरूपसामर्थ्यप्रतिबन्धाभ्युपगमोऽन्यत्रापि समानः । मिद्धादि-

---

ज्ञानका अभाव न होकर केवल अभिभव होता है, अभिभवके कारण जाग्रत दशासे इन दशाओंमें विषमता होती है, वैशेषिक सुप्तादि दशामें ज्ञानका अभाव मानते हैं वह सर्वथा असत् है ।

वैशेषिक–निद्रा द्वारा ज्ञानका अभिभव होना मायने क्या ? ज्ञानका नाश होना अभिभव है ऐसा माने तो सुप्तादि दशामें उसकी सत्ता माननेका सिद्धांत नष्ट होता है और उस अभिभवका अर्थ तिरोभाव होना करे तो स्वपरके प्रकाशक ऐसे जैनाभिमत ज्ञानका तिरोभाव होना भी असंभवसा दिखाई देता है ?

जैन–यह कथन असम्यक् है, स्वपर के प्रकाशक ऐसे अग्निका मणिमंत्रादिसे प्रतिबंध होता है तथा शराव आदिसे स्वपर प्रकाशक दीपकका प्रतिबंध [तिरोभाव] होता है उसमें उपर्युक्त प्रश्न होगा कि स्वपरका प्रकाशन करने वाले इन पदार्थोंका तिरोभाव होना असंभव है, मंत्रादिसे अग्निका नाश होना प्रतिबंध है ऐसा कहे तो प्रत्यक्ष विरोध आता है, तथा उस मंत्रादिसे अग्निका तिरोभाव होनेको प्रतिबंध कहे तो स्वपर प्रकाशक एवं स्फोट आदि कार्य करनेमें समर्थ ऐसे अग्निका तिरोभाव होना असंभवसा दिखाई देता है ।

वैशेषिक–प्रतीतिके अनुसार वस्तु व्यवस्था होती है अतः मंत्रादि द्वारा अग्नि के स्वरूप सामर्थ्यका प्रतिबंध होना स्वीकार करते हैं ?

जैन–प्रतीतिका यही क्रम ज्ञानके विषयमें सुघटित होता है निद्राद्वारा ज्ञानका केवल अभिभव होता है न कि अभाव ऐसा उभयत्र समान न्याय स्वीकार करना होगा । सुप्तादिदशामें निद्रादि सामग्रीके वशसे ज्ञान बाह्याभ्यंतर पदार्थके विषयमें

सामग्रीविशेषवशाद्धि बाह्याध्यात्मिकार्थविचारविधुरं गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानसमानं सुषुप्तावस्थायां ज्ञानमास्ते।

न हि स्वपरप्रकाशस्वभावत्वमात्रेणैवास्य तन्निरूपणसामर्थ्यम्; सर्वत्रानभिभूतस्यैवार्थस्य स्वकार्यकारित्वप्रतीतेः; अन्यथा दहनादिस्वभावस्याग्नेः सदा दाहकत्वप्रकाशकत्वप्रसङ्गः, गच्छत्तृणस्पर्शसंवेदनस्य वा तदर्थनिरूपकत्वानुषङ्गः। अथात्र मनोऽन्यासङ्गोऽस्मरणकारणम्; अन्यत्र मिद्धादिकमित्यविशेषः। अस्ति चात्र स्वापलक्षणार्थनिरूपणम्-'एतावत्कालं निरन्तरसुप्तोहमेतावत्कालं सान्तरम्' इत्यनुस्मरणप्रतीतेः। न च स्वापलक्षणार्थाननुभवेपि सुप्तोत्थानानन्तरं 'गाढोहं तदा सुप्तः' इत्यनुस्मरणं घटते; तस्यानुभूतवस्तुविषयत्वेनानुभवाविनाभावित्वात्, अन्यथा घटाद्यर्थाननुभवेपि

विचारशक्तिसे रहित हो जाता है, जैसे चलते हुए व्यक्तिके तृण स्पर्श विषयक ज्ञान विचार शक्तिसे रहित होता है।

ज्ञान स्व और परका प्रकाशक स्वभाव युक्त होने मात्रसे उनके निरूपणकी सामर्थ्य उसमें सदा बनी रहे सो बात नहीं है, कोई भी पदार्थ हो वह अभिभूत न हो तभी अपने कार्यको कर सकता है, अभिभूत दशामें नहीं। अभिभूत दशामें भी कार्यकारी माने तो दहनादि स्वभाव वाली अग्नि सदा ही [प्रतिबंध दशामें भी] दाहक प्रकाशक होनी चाहिये, चलते हुए पुरुषके तृण स्पर्शका ज्ञान उस अर्थका निरूपक होना चाहिये इत्यादि अतिप्रसंग दोष आता है।

वैशेषिक—चलते हुए पुरुषका मन अन्य कार्यमें संलग्न होता है इसलिये तृण स्पर्शका निरूपण स्मरण आदि नहीं हो पाता।

जैन—यही बात सुप्तदशाकी है निद्राके कारण ही ज्ञान स्वपर प्रकाशनमें असमर्थ हो जाता है। किञ्च, सुप्तदशामें भी निद्रित अर्थका प्रकाशन तो होता ही है, "इतनेकालतक निरंतर सोया हूँ और इतनेकालतक सांतर सोया हूँ" इसप्रकारका स्मृतिरूपज्ञान अन्यथा हो नहीं सकता। निद्रारूप अर्थका अनुभवन नहीं होता तो शयनकरके उठनेके बाद "उस उक्त मैं गाढ सो गया था" ऐसा स्मृतिज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि स्मृतिज्ञान अनुभूत विषयमें ही प्रवृत्त होता है उसका अनुभवके साथ अविनाभाव ही है। अन्यथा घट आदि पदार्थका अनुभव नहीं होनेपर भी उसका स्मरण होना शक्य होगा, फिर अनुभव की सिद्धि भी किस हेतुसे होगी?

तत्रानुस्मरणासम्भवात्कुतस्तदनुभवोपि सिद्धयेत् ? न च मत्तमूर्च्छिताद्यवस्थायामपि विज्ञानाभावाद् दृष्टान्तस्य साध्यविकलता; इत्याशङ्कनीयम्; तदवस्थातः प्रच्युतस्योत्तरकालं 'मया न किञ्चिदप्यनुभूतम्' इत्यनुभवाभावप्रसङ्गात्, स्मृतेरनुभवपूर्वकत्वात्। अतो येनानुभवेन सतात्मा निखिलानुभवविकलोऽनुभूयते तस्यामवस्थायां सोऽवश्याम्युपगन्तव्यः।

किञ्च, सुप्ताद्यवस्थायां विज्ञानाभावं स एवात्मा प्रतिपद्यते, पार्श्वस्थो वा ? स एव चेत्; तत एव ज्ञानात्, तदभावाद्वा, ज्ञानान्तराद्वा ? न तावत्तत एव; अस्यासत्त्वात्, 'तदेव नास्ति तत्र, तत एव चाभावगतिः' इत्यन्योन्यं विरोधात्। ज्ञानाभावात्तत्र तदभावपरिच्छित्तिः इत्ययुक्तम्; परिच्छेदस्य ज्ञानधर्मतयाऽभावेऽसम्भवात्, अन्यथा ज्ञानस्यैव 'अभावः' इति नामकृतं स्यात्।

अथ ज्ञानान्तरात्तत्र तदभावगतिः; किं तत्कालभाविनः, जाग्रत्प्रबोधकालभाविनो वा ? प्रथम

वैशेषिक–निद्रित अवस्थाके समान मत्त एवं मूर्च्छित आदि अवस्थामें भी विज्ञानका अभाव स्वीकार करते हैं अतः निद्रितदशा में ज्ञानका सद्भाव सिद्ध करनेके लिये मत्तदशाका दृष्टांत प्रयोग साध्य विकल है ?

जैन–यह कथन असत् है, यदि मत्तादि अवस्थामें ज्ञानका अभाव माने तो उस अवस्थाके समाप्त होनेके अनंतर समयमें "मैंने उस समय कुछ भी अनुभव नहीं किया" इसतरह की स्मृति नहीं हो सकती, क्योंकि स्मृति ज्ञान अनुभव पूर्वक ही होता है। इसलिये जिस अनुभव द्वारा आत्मा निखिल अनुभवसे विकल रूप अनुभवमें आता है उस अवस्थामें [सुप्त मत्त आदिमें] उस अनुभव ज्ञानका सद्भाव अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

तथा सुप्तादि दशामें ज्ञानका अभाव है ऐसा आप मानते हैं सो उस दशामें ज्ञानका अभाव था इस बातको कौन जानता है वही आत्मा या पासमें स्थित कोई अन्य व्यक्ति ? वही जानता है तो किस ज्ञानसे जानेगा। उसी ज्ञानसे या उसके अभाव से अथवा ज्ञानांतरसे ? उसी ज्ञानसे जानना अशक्य है, क्योंकि उसका तो सत्त्व ही नहीं है, निद्रित दशामें वही ज्ञान नहीं है और उसी ज्ञानसे ज्ञानका अभाव जाना ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं। उस ज्ञानाभावसे सुप्तदशाके ज्ञानका अभाव जाना जाता है ऐसा कथन भी हास्यास्पद है, जानना तो ज्ञानका धर्म है जब ज्ञानका अभाव है तो जानना भी असंभव है, यदि ज्ञानके अभावमें जानना होता है तो ज्ञानका ही "अभाव" ऐसा नामकरण हुआ।

पक्षे कथं सुषुप्ताद्यवस्थायां सर्वथा ज्ञानाभावः ? अथ जाग्रत्प्रबोधकालभाविज्ञानाभ्यामन्तराले ज्ञानाभावोऽवसीयते; ननु तद्दशाभाविज्ञानयोः सुषुप्ताद्यवस्थाभाविज्ञानं नोपलब्धिलक्षणप्राप्तम्, तत्कथं ताभ्यां तदभावोऽवसीयेत ? अन्यथाऽदृष्टस्यापि परलोकादेरभावोऽध्यक्षत एव स्यात्। तथा च "प्रमाणेतरसामान्यस्थितेः" [ ] इत्याद्यसङ्गतम्।

नापि पार्श्वस्थोन्यस्तत्र तदभावं प्रतिपद्यते; कारणस्वभावव्यापकानुपलब्धेर्विरुद्धविधेर्वा

सुप्त दशाके ज्ञानाभावको ज्ञानांतर जानता है ऐसा तीसरा विकल्प कहो तो वह ज्ञानांतर कौनसा है तत्कालभावी है या जाग्रद् प्रबोध कालभावी है ? प्रथमपक्ष माने तो सुप्तादिदशामें सर्वथा ज्ञानका अभाव है ऐसी मान्यता किसप्रकार सिद्ध होगी ? दूसरापक्ष-जाग्रत प्रबोध कालभावी अर्थात् जाग्रद्दशाका ज्ञान और प्रबोधदशा-शयनानंतर अवस्थाका ज्ञान इन दोनों ज्ञानोंसे अंतरालमें ज्ञानका अभाव था ऐसा जाना जाता है इसतरह माने तो भी ठीक नहीं, क्योंकि सुप्तादि दशाका ज्ञान उपलब्ध होने योग्य [इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करने योग्य] नहीं है अतः जाग्रत् एवं प्रबोध दशावाले ज्ञानों द्वारा उस ज्ञानके अभावको जानना किसप्रकार शक्य है ? जो उपलब्ध होने योग्य नहीं है ऐसे पदार्थके अभावको भी यदि प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है तो अदृष्टभूत परलोक आदिका अभाव भी प्रत्यक्ष द्वारा हो जायगा, फिर निम्न कारिकांश असंगत होवेगा कि प्रमाण और अप्रमाण की व्यवस्था होनेसे, अन्यकी बुद्धि का ज्ञान होनेसे तथा किसी का अभाव किया जा सकनेसे प्रत्यक्षसे भिन्न प्रमाणांतरका अस्तित्व सिद्ध होता है। इस कारिकासे यह सिद्ध होता है कि किसीका अभाव ज्ञात करना प्रत्यक्ष द्वारा न होकर अनुमानादि अन्य प्रमाण द्वारा होता है।

विशेषार्थ–प्रमाणेतर सामान्य स्थिते रन्यधियो गतेः।
प्रमाणांतर सद्भावः प्रतिषेधाच्च कस्यचित् ॥१॥

यह कारिका चार्वाकके एक प्रत्यक्ष प्रमाणवादका निरसन करने हेतु बौद्ध ग्रंथमें आयी है इसका अर्थ–प्रमाण और अप्रमाणकी व्यवस्था, अन्यके बुद्धिका अवगम एवं किसीका प्रतिषेध प्रत्यक्ष द्वारा न होकर प्रमाणांतरसे होता है अतः उस प्रमाणांतर का सद्भाव मानना आवश्यक है। जो पदार्थ अनुपलब्धि लक्षण वाले हैं उनको जानना तथा किसी वस्तुके अभावको जानना प्रत्यक्षके [इन्द्रिय प्रत्यक्षके] वशकी बात नहीं है, अतः सुप्त आदि दशामें ज्ञानका अभाव था ऐसा जानना जाग्रत् एवं प्रबोध दशाके

तदभावाविनाभाविनो लिङ्गस्यात्रानुपलब्धेः। न तत्र विज्ञानसद्भावेपि लिङ्गाभावः समान इत्यभिधातव्यम्, स्वात्मनि स्वसंविदितज्ञानाविनाभावित्वेनाऽवधारितस्य प्राणापानशरीरोष्णताकारविशेषादेस्तत्सद्भावावेदिनो; लिङ्गस्यात्रोपलब्धेः, जाग्रद्दशायामप्यन्यचेतोवृत्तेस्तद्वयतिरेकेणान्यतोऽप्रतीतेः।

ननु द्विविधोत्र प्राणादिः चैतन्यप्रभवो जाग्रद्दशायाम्, प्राणादिप्रभवश्च सुषुप्ताद्यवस्थायामिति। तत्र चैतन्यप्रभवप्राणादेर्जाग्रद्दशायां चैतन्यानुमानं युक्तम्, न पुनः प्राणादिप्राणादेः। न खलु गोपाल-

---

ज्ञानोंद्वारा शक्य नहीं है, क्योंकि ये ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इसप्रकार प्रत्यक्षद्वारा सुप्तादिदशा का ज्ञानका अभाव नहीं जाना जाता यह सिद्ध हुआ, अनुमानादि अन्य प्रमाण द्वारा भी उस ज्ञानके अभावको नहीं जान सकते, क्योंकि उसके लिये हेतु आदिकी आवश्यकता होती है। अतः निद्रित मूर्च्छित आदि अवस्थाओंमें आत्मा ज्ञान शून्य हो जाता है वहां ज्ञानका सर्वथा अभाव ही हो जाता है ऐसा बौद्ध एवं वैशेषिक आदि परवादी की मान्यता कथमपि सिद्ध नहीं होती।

सुप्त आदि दशामें ज्ञानका अभाव है ऐसा पासमें बैठा हुआ व्यक्ति जानता है ऐसा दूसरा विकल्प माने तो भी ठीक नहीं, पासमें स्थित व्यक्ति प्रत्यक्षसे तो उस ज्ञानाभावको जान नहीं सकता, क्योंकि उसका वह विषय ही नहीं है, अनुमान द्वारा उसके ज्ञानाभावको जानना चाहे तो उसके लिये अविनाभावी हेतुका होना आवश्यक है किन्तु यहां कारणानुपलब्धि, स्वभावानुपलब्धि व्यापकानुपलब्धि एवं विरुद्ध की विधिरूप कोई भी हेतु उपलब्ध नहीं होता।

वैशेषिक—जिसप्रकार सुप्तादि दशामें ज्ञानका अभाव सिद्ध करनेके लिये कोई हेतु उपलब्ध नहीं होता उसीप्रकार उक्त दशामें ज्ञानका सद्भाव सिद्ध करनेके लिये भी कोई हेतु उपलब्ध नहीं है।

जैन—यह कथन असत् है, पासमें स्थित पुरुष अपने आत्मामें स्वसंविदित ज्ञान के साथ जिनका अविनाभाव है ऐसे श्वासोच्छ्वास लेना, शरीर उष्ण रहना, ओज युक्त आकार होना इत्यादि हेतुसे ज्ञानका सत्व जानता है अतः उन्हीं हेतुओंसे निद्रित हुए उस अन्य व्यक्तिमें ज्ञानके अस्तित्व को भलीभांति जान लेता है। जाग्रद् दशामें भी अन्य की चित्तवृत्ति का जानना इन्हीं हेतुओंसे होता है, किसी अन्य हेतुसे तो वह चित्तवृत्ति प्रतीत नहीं होती।

घटादौ धूमप्रभवधूमादग्न्यनुमानं दृष्टम्, अग्निप्रभवधूमादेव तद्दर्शनात्; इत्यप्यसङ्गतम्; सुषुप्तेतरावस्थयोः प्राणादेर्विशेषाऽप्रतीतेः। यथैव हि सुषुप्तः प्राणिति तथेतरोपि, अन्यथा 'किमयं सुषुप्तः किं वा जागर्ति' इति सन्देहो न स्यात्। यदि चैते सुषुप्तस्य चैतन्यप्रभवा न स्युः किन्तु प्राणादिप्रभवाः; तर्हि जाग्रतः परवञ्चनाभिप्रायेण सुषुप्तव्याजेनावस्थितस्य तादृशामेव तेषां भावो न स्यात्। न ह्यग्नेर्जायमानो

भावार्थ–मेरे आत्मामें स्वसंविदित ज्ञानके साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाले श्वासोच्छ्वास, शरीर उष्णता आदि कार्य हैं अर्थात् आत्मासे तादात्म्य सम्बन्ध वाले ज्ञानके होनेपर ही श्वास आदि क्रिया होती है ऐसा निश्चय किये हुए पुरुष निद्रा युक्त अन्य पुरुषमें श्वासादि क्रिया द्वारा ही ज्ञानका एवं आत्माका सद्भाव जान लेते हैं, अन्य किसी हेतुसे नहीं। अतः सिद्ध होता है कि सुप्त दशामें ज्ञानके सद्भावका आवेदन करने वाले प्राणापान शरीर उष्णता आदि हेतु मौजूद हैं।

शंका–आत्माके जाग्रद् आदि दशाओंमें दो प्रकारके प्राण आदि होते हैं, चैतन्य प्रभवप्राणादि और प्राणादिप्रभव प्राणादि, इनमेंसे चैतन्य प्रभव प्राणादि जाग्रद् दशामें और प्राणादि प्रभव प्राणादि सुप्तादि दशाओंमें पाये जाते हैं, इनमें जो चैतन्य प्रभव प्राणादि है उससे जाग्रद् दशामें चैतन्यका अनुमान करना तो युक्त है किन्तु प्राणादि प्रभव प्राणादिसे सुप्त आदि दशामें चैतन्यका अनुमान करना युक्त नहीं, जैसे गोपाल घटादि [इन्द्रजालियाके घटमें] धूमसे प्रादुर्भूत धूमद्वारा अग्निका अनुमान करना युक्ति संगत नहीं होता अपितु अग्निसे प्रादुर्भूत धूमद्वारा ही अग्निका अनुमान करना युक्त होता है। अभिप्राय यह है कि सुप्त दशाके प्राण चैतन्यसे उत्पन्न नहीं हुए है अतः उनके द्वारा चैतन्यका अनुमान करना अयुक्त है?

समाधान–यह शंका असत् है, सुप्तादिदशा और जाग्रद् दशा इनमें प्राणादि भिन्न भिन्न हो ऐसा प्रतीत नहीं होता, जिसप्रकार सुप्त पुरुष श्वासको ग्रहण करते हुए जीवित रहता है उसीप्रकार जाग्रद् पुरुष भी श्वासको ग्रहण करते हुए जीवित रहता है, यदि दोनोंमें श्वासादिकी विशेषता होती तो क्या यह व्यक्ति सुप्त है अथवा जाग्रद् है ऐसा संदेह नहीं होता। दूसरी बात यह भी है कि यदि सुप्त व्यक्ति के ये प्राणापानादि चैतन्यप्रभव न होकर प्राणादि प्रभव हैं ऐसा माने तो कोई जाग्रत् पुरुष परको ठगनेके अभिप्रायसे सुप्तके समान पड़ा रहता है उसके प्राणापानादि सुप्त दशाके प्राणादि सदृश प्रतीत नहीं हो सकेंगे, अर्थात् जाग्रत व्यक्ति छलसे सुप्त जैसा बहाना

धूमः प्रयत्नशतैरपि धूमादन्यतो वा जायते धूमप्रभवो वाग्नेरिति । दृश्यन्ते च ते यादृशा एव सुषुप्तस्य तादृशा एवास्यापि । तन्न ते भिन्नकारणप्रभवाः । चैतन्येतरप्रभवांश्च प्राणादीन् विवेचयन्वीतरागेतरप्रभवव्यापारादीनपि विवेचयतु । तथा च

"सरागा अपि वीतरागवच्चेष्टन्ते वीतरागाश्च सरागवदिति वीतरागेतरविभागो निश्चेतुमशक्यः ।" [ ] इति प्लवते ।

धूमश्चाग्नेर्धूमाच्चोत्पद्यमानो यथा प्रतिपन्नस्तथा प्राणादिश्चैतन्यात्तदभावाच्चोत्पद्यमानः स्वात्मनि परत्र चानेन प्रत्येतुं न शक्यते क्वचित्तदभावस्य निश्चेतुमशक्यत्वादित्युक्तम् । धूमे च

करता है उसके प्राणादि चैतन्य प्रभव होनेसे सुप्त जैसे प्रतीत नहीं होने चाहिये किन्तु सुप्त जैसे ही प्रतीत होते हैं । अग्निसे प्रादुर्भूत धूम सैंकड़ों प्रयत्न द्वारा भी धूम से या अन्यसे प्रादुर्भूत नहीं होता और धूम प्रभव धूम कभी अग्निसे प्रादुर्भूत नहीं होता, किन्तु यहां जिसतरह के ही प्राणादि सुप्तके होते हैं उसीतरहके ही छलसे सुप्त हुए जाग्रत पुरुषके दिखाई देते हैं, अतः ये प्राणादि भिन्न भिन्न कारणसे प्रादुर्भूत नहीं हैं । तथा चैतन्य प्रभव प्राण और प्राणादि प्रभव प्राण इनमें पृथक्करण करना इष्ट है तो आपको सरागप्रभव व्यापार [वचनादिकी क्रिया] और वीतराग प्रभव व्यापार इन दोनोंमें भी पृथक्करण करना होगा और ऐसा करने पर आपका निम्न आगम वाक्य असत् ठहरेगा कि "सराग पुरुष भी वीतराग सदृश क्रिया करते हैं और वीतराग पुरुष भी सराग सदृश क्रिया करते हैं अतः सराग और वीतरागका विभाग निश्चित करना अशक्य है" इत्यादि ।

किञ्च, जिसप्रकार धूमके दो भेद–अग्नि प्रभव धूम और धूमप्रभव धूम उत्पन्न होते हुए पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं उसप्रकार प्राणादि के दो भेद चैतन्यप्रभव प्राणादि और प्राणादिप्रभव प्राणादि पृथक् पृथक् चैतन्य एवं चैतन्याभावसे उत्पन्न होते हुए अपनी आत्मामें या परमें इस सौगत द्वारा प्रतीतिमें लाना शक्य नहीं है क्योंकि कहीं पर [सुप्तादिमें] प्राणादिके अभावका निश्चय करना अशक्य है ऐसा सिद्ध हो चुका है । धूमके विषयमें तो निश्चय हो जाता है, यह धूम अग्निसे उत्पन्न हुआ है अथवा धूमांतरसे उत्पन्न हुआ है ऐसा संदेह होनेपर अग्निके देखने और नहीं देखनेसे वह संदेह दूर होता है किन्तु प्राणादि विषय में यह सब संभव नहीं है, यह प्राणादि अनंतर चैतन्य से उत्पन्न हुए हैं अथवा भूतभावी चैतन्यसे उत्पन्न हुए हैं ऐसा संदेह होनेपर

'किमयं धूमोऽग्नेः, धूमान्तराद्वा' इति सन्देहः प्रवृत्तस्याग्निदर्शनेतराभ्यां निवर्त्तते। प्राणादौ तु 'किमयमनन्तरचैतन्यप्रभवः, किं वा भूतभाविजन्मान्तरचैतन्यप्रभवः' इति सन्देहः कुतो निवर्त्तेत परचैतन्यस्य द्रष्टुमशक्यत्वात्? ततोस्य न निश्शङ्कं परप्रतिपादनार्थं शास्त्रप्रणयनं युक्तम्। सन्देहात्तु तत्प्रणयनं चार्वाकस्याप्यविरुद्धम्, इत्ययुक्तमुक्तम्–"अन्यधियो गतेः" [ ] इति।

उसको दूर करना अशक्य है क्योंकि पर चैतन्यको देखना शक्य नहीं है। इसप्रकार परके चैतन्यका अस्तित्व संदेहास्पद हो जाता है, जब पर चैतन्यका अस्तित्व ही निश्चित नहीं है तो आपके बुद्धदेव निश्शंकरीत्या परजीवोंको संबोधन करनेके लिये शास्त्र रचना किसप्रकार कर सकते हैं अर्थात् नहीं कर सकते। यदि कहा जाय कि पर चैतन्यके अस्तित्वका संदेह रहते हुए भी वे शास्त्र रचना कर लेते हैं तब तो चार्वाकमतमें भी शास्त्र रचना अविरुद्ध सिद्ध होगी? इसतरह सिद्ध होनेपर परके बुद्धि का निश्चय अनुमान प्रमाण द्वारा होता है अतः प्रत्यक्ष प्रमाणके समान अनुमान प्रमाण को मानना भी आवश्यक है इत्यादिरूपसे चार्वाक के प्रति बौद्ध द्वारा किया गया प्रतिपादन अयुक्त ठहरता है।

भावार्थ–बौद्ध आदि परवादी निद्रितादिदशामें चैतन्यके धर्मस्वरूप ज्ञानका अस्तित्व नहीं मानते हैं, किन्तु निद्रितादिदशामें श्वास लेना आदिरूप चैतन्यके अस्तित्वके बाह्य चिह्न दिखायी देते हैं, जैसे कि जाग्रद् दशामें दिखायी देते हैं, अतः यदि उन चिह्नोंके रहते हुए भी निद्रितादि दशामें चैतन्यका अस्तित्व एवं उसके ज्ञान धर्मको नहीं माना जाय तो जाग्रद् दशामें भी ज्ञानका तथा चैतन्यका अस्तित्व सिद्ध नहीं होगा। इस तरह किसी भी पर व्यक्तिमें ज्ञानादिका निश्चय नहीं हो सकनेसे उसको उपदेश देना भी अशक्य है फिर परोपदेशके हेतुसे बुद्धका शास्त्र प्रणयन करना विरुद्ध ही पड़ता है। यदि बौद्ध इस बातको स्वीकार कर लेवे कि पर व्यक्तिके ज्ञानका निश्चय नहीं होता तो उन्हींके द्वारा अनुमान प्रमाणको सिद्ध करनेके लिये कहा गया है कि पर व्यक्तिके बुद्धिका ग्रहण अनुमान प्रमाणसे होता है अतः अनुमान प्रमाणका सद्भाव है इत्यादि सो वह कथन विरुद्ध हो जाता है, इसलिये पर व्यक्तिके ज्ञानका निश्चय नहीं होता ऐसा बौद्ध स्वीकार कर ही नहीं सकते। ज्ञानका निश्चय प्राणापान आदि से होता है अर्थात् श्वास लेना आदि जीवित चिह्न द्वारा चैतन्य एवं ज्ञानका अस्तित्व जाना जाता है ये चिह्न जाग्रद् दशाके समान सुप्तादि दशामें भी अवस्थित हैं अतः सुप्तादि दशामें ज्ञानका अभाव है ऐसा कहना आगम एवं तर्क विरुद्ध पड़ता है।

सुषुप्तादौ चाद्यः प्राणादिः कुतो जायताम् ? जाग्रद्विज्ञानसहकारिणोजाग्रत्प्राणादेरिति चेत्; न; एकस्माज्जाग्रद्विज्ञानादनन्तरभावीप्राणादिः कालान्तरभावि च प्रबोधज्ञानमित्यस्यासम्भाव्यमानत्वात् । न ह्येकस्मात्सामग्रीविशेषात् क्रमभाविकार्यद्वयसम्भवो नाम, अन्यथा नित्यादप्यक्रमात्क्रमवत्कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः । तथाच "नाऽक्रमात्क्रमिणो भावाः" [प्रमाणवा० १।४५] इत्यस्य विरोधः । तस्मात्तत्कालभाविन एव ज्ञानात् प्राणादिप्रभवोऽभ्युपगन्तव्यः । तत्कथं तत्र ज्ञानाभावसिद्धिः ?

स्वापसुखसंवेदनं चात्र सुप्रतीतम्-'सुखमहमस्वापम्' इत्युत्तरकालं तत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्तेः । न ह्यननुभूते वस्तुनि स्मरणं प्रत्यभिज्ञानं चोपपद्यते । न च तदा स्वापसुखनिरूपणाभावात्तत्संवेदना-

---

सुप्त दशामें प्राणापान आदि प्राणादिप्रभव होते हैं ऐसा परवादी मानते हैं इस मान्यतामें प्रश्न होता है कि सुप्तादि दशामें शुरुका प्राणापान किससे उत्पन्न होगा ? जाग्रद् दशाके ज्ञानके साथ रहने वाले जाग्रद् प्राणादिसे उक्त प्राणापान उत्पन्न होता है ऐसा कहो तो युक्त नहीं, एक ही जाग्रद् ज्ञानसे अनंतर भावी प्राणादि और कालांतरभावी प्रबोधज्ञान इसतरह दो कार्योका होना असंभव है, क्योंकि एक सामग्री विशेषसे क्रमभावी दो कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती, अन्यथा नित्य एवं अक्रमवर्त्ती कारणसे भी क्रमिक कार्यकी उत्पत्ति होनेका प्रसंग प्राप्त होगा, और ऐसा स्वीकार करनेपर "अक्रमभूत कारणसे क्रमवर्त्ती पदार्थ उत्पन्न नहीं हो सकता" ऐसा बौद्धाभिमत प्रमाण वार्त्तिक ग्रंथका कथन विरुद्ध हो जायगा । इसलिये सुप्तादि दशामें तत्कालभावी ज्ञानसे ही प्राणादिकी उत्पत्ति होती है ऐसा स्वीकार करना चाहिये । अतः सुप्तादि अवस्थामें ज्ञानका अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

दूसरी बात यह है कि सुप्तादि दशामें निद्रा सम्बन्धी सुखका संवेदन होता है "मैं सुख पूर्वक सोया था" इसप्रकार उत्तर कालमें होनेवाली प्रतीति की अन्यथानुपपत्तिसे ही ज्ञात होता है कि सुप्त दशामें संवेदनका अस्तित्व था । क्योंकि जिसका अनुभव नहीं हुआ है ऐसे वस्तुमें स्मृति और प्रत्यभिज्ञान उत्पन्न नहीं होता है । सुप्त दशाके समय निद्रा सुखका निरूपण नहीं होनेसे उस संवेदनका अभाव है ऐसा कहना भी अयुक्त है, उसी दिन जन्मे हुए बालक के मुखमें प्रक्षिप्त स्तनके दूधके पीनेसे उत्पन्न

भावः; तदहर्जातबालकस्य मुखप्रक्षिप्तस्तन्यजनितसुखसंवेदनेन व्यभिचारात्। न खलु तत्तेन 'इदमित्थम्' इति निरूप्यते।

न च दुःखाभावात्सुखशब्दप्रयोगोऽत्र गौणः; अभावस्य प्रतियोगिभावान्तरस्वभावतया व्यवस्थितेः इत्यलमतिप्रसङ्गेन।

यच्चोक्तम्-अनेकान्तज्ञानस्य बाधकसद्भावेन मिथ्यात्वोपपत्तेर्न निःश्रेयससाधकत्वम्; तदप्युक्ति मात्रम्; तज्ज्ञानस्यैवाबाधिततया सम्यक्त्वेन वक्ष्यमाणत्वात्। नित्यानित्यत्वयोर्विधिप्रतिषेधरूपत्वादभिन्ने धर्मिण्यभावः; इत्याद्यप्ययुक्तम्; प्रतीयमाने वस्तुनि विरोधासिद्धेः। न च येन रूपेण

हुआ सुख उस बालक द्वारा निरूपित नहीं होता तो भी उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं अतः निरूपण नहीं होनेसे निद्रित दशामें संवेदनादिका अभाव है ऐसा कहना व्यभिचरित होता है।

निद्रित अवस्थामें दुःखका अभाव होनेसे "सुख पूर्वक सोया था" इत्यादि प्रतीतिमें सुख शब्दका प्रयोग होता है अतः गौण है इसप्रकार कहना भी अशक्य है, अभाव भी भावांतर स्वभाववाला होता है ऐसा पूर्वमें निश्चय कर आये हैं, अतः अब सुप्तादि दशामें ज्ञानका सद्भाव करनेसे बस हो वह सर्वथा सुप्रसिद्ध ही है।

जैनके मोक्ष स्वरूपमें दोष उपस्थित करते हुए वैशेषिकने कहा था कि जैन अनेकांतके ज्ञानसे मोक्ष होना मानते हैं किन्तु उस ज्ञानमें बाधाका सद्भाव होनेके कारण मिथ्यापना है अतः वह मोक्षका हेतु नहीं हो सकता, सो यह उक्ति मात्र है, अनेकांत स्वरूप ज्ञान ही सर्वथा अबाधित होनेसे सम्यग् है ऐसा हम आगे प्रतिपादन करनेवाले हैं।

शंका-नित्य और अनित्य धर्म परस्परमें विधि और प्रतिषेध रूप होनेसे एक धर्मीमें उनका अभाव है?

समाधान-यह शंका असत् है, जो वस्तु प्रतीतिमें आ रही है उसमें विरोध मानना असिद्ध है। तथा वस्तुमें जिसरूपसे नित्यपनेकी विधि होती है उसी रूपसे अनित्यपनेकी विधि नहीं होती है जिससे कि उनका एकत्र रहना विरुद्ध हो जाय, अनुवृत्त रूपसे तो नित्यत्वकी विधि होती है और व्यावृत्तरूपसे अनित्यत्वकी विधि होती है ऐसा हमारा अविरुद्ध सिद्धांत है। तथा विभिन्न धर्मोंके निमित्तसे होनेवाले विधि

नित्यत्वविधिस्तेनैवानित्यत्वविधिः; येनैकत्र विरोधः स्यात्; अनुवृत्त-व्यावृत्ताकारतया नित्यानित्यत्व-विधेरभ्युपगमात्। विभिन्नधर्मनिमित्तयोश्च विधिप्रतिषेधयोर्नैकत्र प्रतिषेधः अतिप्रसङ्गात्। न चानुवृत्तव्यावृत्ताकारयोः सामान्यविशेषरूपतयाऽऽत्यन्तिको भेदः; पूर्वोत्तरकालभाविस्वपर्यायतादात्म्येनावस्थितस्यानुगताकारस्य बाह्याध्यात्मिकार्थेषु प्रत्यक्षप्रतीतौ प्रतिभासनादित्यग्रे प्रपञ्चयिष्यते।

स्वदेशादिषु सत्त्वं परदेशादिष्वसत्त्वं च वस्तुनोऽभ्युपगम्यते एवेतरेतराभावात्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; इतरेतराभावस्य घटादभेदे तद्विनाशे पटोत्पत्तिप्रसङ्गात् पटाभावस्य विनष्टत्वात्। अथ घटाद्भिन्नोऽसौ; तर्हि घटादीनामन्योन्यं भेदो न स्यात्। यथैव हि घटस्य घटाभावाद्भिन्नत्वाद् घटरूपता तथा पटादेरपि स्यात्। नाप्येषां परस्पराभिन्नानामभावेन भेदः कर्त्तुं शक्यः; भिन्नाभिन्न-

---

प्रतिषेधोंका एकत्र रहना निषिद्ध भी नहीं है अन्यथा अतिप्रसंग होगा अर्थात् स्वकार्यके प्रति कर्तृत्व और पर कार्यके प्रति अकर्तृत्व जैसे दो धर्म भी एकत्र वस्तुमें रहना दुर्लभ होगा जो कि सभी परवादीको अभीष्ट है। अनुवृत्ताकार सामान्यरूप है और व्यावृत्ताकार विशेषरूप है अतः इनमें अत्यन्त भेद है ऐसा कहना भी अशक्य है, बाह्य और आध्यात्मिक [अचेतन और चेतन] सभी पदार्थोंमें पूर्व उत्तर कालभावी स्व स्व पर्यायोंके साथ तादात्म्य रूपसे रहनेवाला अनुगताकार [अनुवृत्ताकार] प्रत्यक्षज्ञानमें साक्षात् ही प्रतिभासित हो रहा है, इस विषयमें आगे विस्तार पूर्वक कथन करेंगे।

वस्तुका स्वदेशादिमें सत्व और परदेशादिषु असत्व इतरेतराभावसे होता है ऐसा वैशेषिक का स्वीकार करना भी असमीक्षकारी है, यदि आपके इतरेतराभावको पदार्थसे अभिन्न माने तो घटके नष्ट होनेपर उससे अभिन्न इतरेतराभावका नाश होगा और पटकी उत्पत्ति का प्रसंग आयेगा क्योंकि पटका अभाव विनष्ट हो चुका है। यदि इस इतरेतराभावको घटसे भिन्न स्वीकार करे तो घट पट आदि पदार्थोंका परस्परमें भेद नहीं रहेगा, क्योंकि जैसे भिन्न घटाभावसे घटकी घटरूपता हो सकती है वैसे पट आदिकी भी हो सकती है। तथा परस्पर अभिन्नभूत घट पट आदि पदार्थोंका अभाव द्वारा [इतरेतराभाव द्वारा] भेद करना भी शक्य नहीं, क्योंकि यदि अभाव ने भिन्न रूप भेदको किया तो उक्त पदार्थोंका सांकर्य बन बैठेगा और यदि अभिन्नरूप भेदको किया तो पदार्थको ही किया ऐसा अर्थ होनेसे अभावकी अकिंचित्करता सिद्ध होती है। पदार्थोंमें भेदका व्यवहार इतरेतराभाव मूलक हो ऐसी बात भी नहीं है, जगत्के यावन्मात्र पदार्थ अपने अपने कारणोंद्वारा असाधारण स्वरूपसे उत्पन्न हुए हैं उनका प्रत्यक्षमें साक्षात् प्रतिभासन हो रहा है उसीसे भेद व्यवहार की सिद्धि हो जाती है।

भेदकरणे तस्याकिञ्चित्करत्वप्रसङ्गात् । नापि भेदव्यवहारः; स्वहेतुभ्योऽसाधारणतयोत्पन्नानां सकलभावानां प्रत्यक्षेप्रतिभासनादेव भेदव्यवहारस्यापि प्रसिद्धेः । प्रतिक्षिप्तश्चेतरेतराभावः प्रागेवेति कृतं प्रयासेन ।

कार्यान्तरेषु चाऽकर्तृत्वं न प्रतिषिध्यते; इत्याद्यप्यसारम्; एकान्तपक्षे कार्यकारित्वस्यैवासम्भवात् ।

यच्च मुक्तावप्यनेकान्तो न व्यावर्त्तते; तदिष्यते एव । अनेकान्तो हि द्वेधा–क्रमानेकान्तः, अक्रमानेकान्तश्च । तत्र क्रमानेकान्तापेक्षया य एव प्रागमुक्तः स एवेदानीं मुक्तः संसारी चेत्यविरोधः । अनेकान्तेऽनेकान्ताभ्युपगमोप्यदूषणमेव; प्रमाणपरिच्छेद्यस्यानेकधर्माध्यासितवस्तुस्वरूपानेकान्तस्य नयपरिच्छेद्यैकान्ताविनाभावित्वात् ।

इस इतरेतराभावका प्रथम भागके "अभावस्य प्रत्यक्षादावंतर्भावः" इस प्रकरणमें भलीभांति निरसन भी हो चुका है अतः यहां अधिक नहीं कहते ।

स्वकार्यमें कर्तृत्व और कार्यांतरमें अकर्तृत्वका निषेध नहीं करते इत्यादि रूपसे वैशेषिक का पूर्वोक्त कथन भी असार है, एकांत पक्षमें कार्यकारी पना होना ही सर्वथा असंभव है ।

पहले वैशेषिक ने कहा था कि जैन मुक्तिमें भी अनेकांत की व्यावृत्ति नहीं मानते सो बात ठीक ही हैं, अनेकांत दो प्रकारका है क्रम अनेकांत और अक्रमअनेकांत, इनमेंसे क्रम अनेकांतकी अपेक्षा देखा जाय तो जो ही पहले अमुक्त था वही इससमय मुक्त हुआ है, और संसारी भी है, इसप्रकार द्रव्यदृष्टिसे संसारी और मुक्तका एकत्र अविरोध है । अनेकांतमें भी अनेकांत मानना होगा इत्यादि कहना भी हमारे लिये दूषणरूप नहीं है, प्रमाणद्वारा परिच्छेद्य एवं अनेकधर्मोंसे अध्यासित ऐसा जो वस्तु स्वरूप अनेकांत है उसका नयद्वारा परिच्छेद्य रूप एकांतके साथ अविनाभावपना होने के कारण अनेकांतमें अनेकांत सुघटित ही होता है ।

विशेषार्थ–"अनेके अन्ताः धर्माः वर्त्तन्ते यस्मिन् पदार्थे सोयं अनेकान्तः" इसप्रकार अनेकान्त शब्दका व्युत्पत्ति सिद्धि अर्थ है अर्थात् अनेक धर्म गुण या स्वभाव जिसमें पाये जाते हैं उस वस्तुको अनेकांत नामसे कहा जाता है, वस्तुमें यह जो अने-

'आत्मैकत्वज्ञानात्' इत्यादिग्रन्थस्तु सिद्धसाध्यतया न समाधानमर्हति ।

कांत या गुणधर्म समूह पाया जाता है वह दो प्रकारका है क्रम अनेकांत और अक्रम अनेकांत, प्रत्येक वस्तुमें क्रम प्रवाह रूपसे अवस्थायें अथवा पर्यायें (हालतें) प्रादुर्भूत होती रहती हैं उन्हें क्रम अनेकांत कहते हैं, जैसे मिट्टीरूप वस्तुमें घट, कपाल आदि अवस्थायें होती रहती हैं। उसी वस्तुमें युगपत् अनेक गुणधर्मोंका जो अस्तित्व दिखाई दे रहा है उन्हें अक्रम अनेकांत कहते हैं। इन्हीं क्रम अक्रम अनेकांतको अन्यत्र पर्याय तथा गुण नामसे कहा है अर्थात् क्रम अनेकांत मायने पर्याय और अक्रम अनेकांत मायने गुण। गुण हो चाहे पर्याय दोनों ही एक एक नहीं है अपितु अनेक अनेक हैं इसीलिये गुणपर्याय युक्त वस्तुका सार्थक नाम 'अनेकांत' है। इस अनेकांत रूप वस्तुका सर्वांगीन युगपत् ज्ञान प्रमाण द्वारा [सकल प्रत्यक्ष द्वारा] होता है अतः यहां पर अनेकांत को प्रमाण परिच्छेद्य कहा है। वस्तुके एक एक गुणधर्मका ज्ञान नय द्वारा होता है अतः एकान्त नय परिच्छेद्य है। जो वस्तु प्रमाण द्वारा परिच्छेद्य है वह अवश्यमेव नय द्वारा भी परिच्छेद्य होती है इसीलिये अनेकांत के साथ एकान्त का अविनाभावीपना है। वस्तु के उक्त गुणधर्मोंमें नित्य अनित्य, सत् असत् आदि प्रतिपक्षी धर्म भी समाविष्ट है ऐसे प्रतिपक्षभूत धर्मों का सद्भाव एक ही वस्तुमें किस प्रकार हो सकता है ? ऐसी आशङ्का होने पर स्याद्वाद सप्तभंगीका अवतरण होता है कि ये नित्य अनित्य आदि धर्म भिन्न भिन्न अपेक्षाके साथ एकत्र वस्तुमें युगपत् संभावित हो जाते हैं अर्थात् स्यात् कथंचित् द्रव्यदृष्टिसे वस्तुमें नित्यता है, स्यात् पर्यायदृष्टिसे अनित्यता है इत्यादि, इस स्याद्वादका विवरण आगे इसी ग्रन्थमें [तृतीय भाग में] होनेवाला है। प्रत्येक वस्तुमें यह स्याद्वाद प्रक्रिया अवश्यंभावी है, अतः परवादी की आशंका थी कि सभीमें अनेकांत स्याद्वादका अस्तित्त्व है तो स्वयं अनेकान्तमें भी अनेकान्त होना ही चाहिये। इसका समाधान यह है कि जैन अनेकान्त में भी अनेकान्त मानते हैं; कैसे सो बताते हैं—अनेकान्त में स्यात् कथंचित् एकान्त है तथा स्यात् अनेकान्त है, एकान्त दो प्रकार का है सम्यग्एकान्त और मिथ्या एकान्त, वस्तु के एक देशको सापेक्ष ग्रहण करनेवाला सम्यग्एकान्त है और एक धर्मका सर्वथा अवधारण करके अन्य सब धर्मोंका निराकरण करनेवाला मिथ्या एकान्त है, सम्यग् नयके विषयभूत सम्यग्एकांत का ही इस अनेकांतके स्याद्वादमें ग्रहण समझना, मिथ्या एकान्त तो काल्पनिक शून्यरूप वचन

न च गुणपुरुषान्तरविवेकदर्शनं निःश्रेयससाधनं घटते; प्रकर्षपर्यन्तावस्थायामप्यात्मनि शरीरेण सहावस्थानान्मिथ्याज्ञानवत् ।

अथ फलोपभोगकृतोपात्तकर्मक्षयापेक्षं तत्त्वज्ञानं परनिःश्रेयसस्य साधनम्, तदनपेक्षं चाऽपरनिःश्रेयसस्येत्युच्यते; तदप्युक्तिमात्रम्; फलोपभोगस्यौपक्रमिकानौपक्रमिकविकल्पानतिक्रमात् । तस्यौपक्रमिकत्वे कुतस्तदुपक्रमोऽन्यत्र तपोतिशयात्, इति तत्त्वज्ञानं तपोतिशयसहायमन्तर्भूततत्त्वार्थश्रद्धानं परनिःश्रेयसकारणमित्यनिच्छतोप्यायातम् । तस्यानौपक्रमिकत्वे तु सदा सद्भावानुषङ्गः ।

प्रलाप मात्र है । इस प्रकार अनेकान्तरूप वस्तु एवं अनेकांत ग्राहक प्रमाण की सिद्धि निर्बाधरूपसे होती है ।

आत्मा के एकत्व ज्ञानसे मोक्ष होता है इत्यादि कथन तो सिद्धसाध्यता रूप होनेसे उसमें समाधान की आवश्यकता नहीं है ।

प्रधान और पुरुषका भेद दर्शन [भेद ज्ञान] मोक्षका हेतु है ऐसा कहना भी घटित नहीं होता, आत्मामें उस भेद दर्शनकी चरम प्रकर्ष अवस्था होने पर भी शरीर के साथ वह अवस्थित रहता है जैसे कि मिथ्याज्ञान शरीरके साथ स्थित रहता है, अभिप्राय यह है कि प्रधान और पुरुषके भिन्नताका ज्ञान होने मात्रसे मोक्ष होता तो जिस किसीको वह ज्ञान होनेके साथ मोक्ष हो जाना था किन्तु ऐसा नहीं होता भेद ज्ञान होने पर भी कितने ही समय तक योगीजन निःश्रेयसको प्राप्त नहीं करते अतः केवल भेद ज्ञान मोक्षका कारण है ऐसा सिद्ध नहीं होता ।

सांख्य—जो तत्त्वज्ञान प्राप्त कर्मोंके फलोंका उपयोग करके होने वाले क्षयकी अपेक्षा रखता है वह पर निःश्रेयस [जीवन्मुक्ति] का कारण है और जो उक्त क्षयकी अपेक्षा नहीं रखता वह तत्त्वज्ञान अपर निःश्रेयस [परममुक्ति] का कारण है ऐसा हम मानते हैं ।

जैन—यह कथन अयुक्त है, कर्मफलोंका उपभोग दो विकल्परूप है औपक्रमिक फलोपभोग और अनौपक्रमिक फलोपभोग, इनमेंसे उक्त फलोपभोग औपक्रमिक रूप माने तो वह उपक्रम भी तपोतिशयको छोड़कर अन्य कौन-सा होगा ? अर्थात् तपोतिशयरूप उपक्रम ही होगा । अतः तपोतिशयकी सहायतासे जो युक्त है जिसके अंतर्भूत तत्त्वार्थ श्रद्धान है ऐसा तत्त्वज्ञान परनिःश्रेयस का कारण है ऐसा नहीं चाहते हुए भी सांख्यादि

यच्च स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानं मोक्ष इत्युक्तम्; तदयुक्तम्; चैतन्यविशेषेऽनन्तज्ञानादिस्वरूपेऽवस्थानस्य मोक्षत्वसाधनात्। न ह्यनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूपं सर्वज्ञत्वादिविरोधात्। प्रधानस्य सर्वज्ञत्वादिस्वरूपं नात्मन इत्यसत्; तस्याचेतनत्वेनाकाशादिवत्तद्विरोधात्। ज्ञानादेरप्यचेतनत्वात् प्रधानस्वभ(भा)वत्वाविरोधश्चे त्; कुतस्तदचेतनत्वसिद्धिः? 'अचेतना ज्ञानादय उत्पत्तिमत्त्वाद् घटादिवत्' इत्यनुमानाच्चेत्; न; हेतोरनुभवेनानेकान्तात्, तस्य चेतनत्वेप्युत्पत्तिमत्त्वात्। न चोत्पत्तिमत्त्वमसिद्धम्; परापेक्षत्वाद्बुद्ध्यादिवत्। परापेक्षोसौ बुद्ध्यध्यवसायापेक्षत्वात् "बुद्ध्यध्यवसि त मर्थं पुरुषश्चेतयते" [ ] इत्यभिधानात्।

परवादी को मानना होगा। यदि उक्त फलोपभोगको अनौपक्रमिक स्वीकार करे तो वैसा फलोपभोग सदा होनेसे मोक्षका सद्भाव भी सदा मानना होगा।

चैतन्यमात्र स्वरूपमें अवस्थान होना मोक्ष है ऐसा पूर्वोक्त कथन भी अयुक्त है, चैतन्यमात्र में नहीं अपितु अनन्तज्ञान दर्शन आदि चैतन्यके विशेष स्वरूपमें अवस्थान होना मोक्ष है। अदि अनंतज्ञान आदिको आत्माका स्वरूप नहीं माना जायगा तो उसके सर्वज्ञपना आदि धर्मोंके साथ विरोध प्राप्त होगा।

सांख्य–सर्वज्ञपना आदि धर्म प्रधानका स्वरूप है, आत्माका नहीं।

जैन–यह कथन असत् है, प्रधान तत्त्व अचेतन होनेसे उसमें सर्वज्ञत्व आदि धर्म पाये जाना विरुद्ध है जैसे अचेतन आकाशादि पदार्थोंमें सर्वज्ञत्वादि पाये जाना विरुद्ध है।

सांख्य–ज्ञानादि धर्मोंको भी अचेतन स्वीकार किया है अतः वे प्रधानके स्वभाव हो सकनेसे विरोध नहीं आता।

जैन–ज्ञानादि धर्म अचेतन हैं ऐसा किस हेतुसे सिद्ध होगा?

सांख्य–ज्ञानादि गुणधर्म अचेतन हैं, क्योंकि उत्पत्तिमानरूप हैं, जैसे घट पट आदि उत्पत्तिमान होनेसे अचेतन हैं। इस अनुमान द्वारा ज्ञानादि का अचेतनपना सिद्ध होता है।

जैन–यह अनुमान असत् है क्योंकि हेतु अनुभव [दर्शन] के साथ अनेकान्तिक हो जाता है, अनुभवमें चेतनपना होते हुए भी उत्पत्तिमत्व है, अनुभवका उत्पत्ति मानपना असिद्ध है ऐसा भी नहीं समझना, क्योंकि यह बुद्धि आदिकी तरह परापेक्षी

कालात्ययापदिष्टश्चायं हेतुः; ज्ञानादीनां स्वसंवेदनप्रत्यक्षाच्चेतनत्वप्रसिद्ध रध्यक्षबाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तत्वात्। चेतनसंसर्गात्तेषां चेतनत्वप्रसिद्धिः; इत्यप्यचर्चिताभिधानम्; शरीरादेरपि तत्प्रसिद्धिप्रसङ्गात् चेतनप्र(त्व)संसर्गाविशेषात्। शरीराद्यसम्भवी तेषां संसर्गविशेषोस्तीति चेत्; स कोन्योऽन्यत्र कथञ्चित्तादात्म्यात्? तददृष्टकृतकत्वादेः शरीरादावपि भावात्। ततो नाचेतना ज्ञानादयः स्वसंवेद्यत्वादनुभववत्। स्वसंवेद्यास्ते परसंवेदनान्यथानुपपत्तेरिति स्वसंवेदनसिद्धिप्रस्तावे प्रति-

---

है, बुद्धिके अध्यवसायकी अपेक्षा रखनेसे अनुभव पर सापेक्ष ही है, कहा भी है "बुद्ध्यध्वसितमर्थ पुरुषश्चेतयते"। यह उत्पत्तिमत्व हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष युक्त भी है क्योंकि ज्ञानादि धर्म स्वसंवेदन प्रत्यक्ष द्वारा ही चेतन रूप प्रसिद्ध हो रहे हैं, प्रत्यक्ष प्रमाणसे पक्षके बाधित होने पर इस उत्पत्तिमत्व हेतुका प्रयोग हुआ है इसीलिये उक्त दोषसे दुष्ट है।

सांख्य–चेतनका संसर्ग होनेके कारण ज्ञानादि धर्म चेतनरूप प्रसिद्ध होते हैं?

जैन–यह कथन चर्चा योग्य नहीं है, चेतनका संसर्ग होने मात्रसे कोई चेतन रूप प्रसिद्ध हो तो शरीरादिको भी चेतनरूप प्रसिद्ध होना चाहिये क्योंकि चेतनका ससंर्ग तो इनके भी है?

सांख्य–शरीरादिमें असंभव ऐसा चेतन का विशेष संसर्ग उन ज्ञानादिमें पाया जाता है अतः वे ही चेतनरूप प्रसिद्ध होते हैं।

जैन–वह विशेष संसर्ग भी कथंचित् तादात्म्यको छोड़कर अन्य कोई नही हो सकता अर्थात् ज्ञानादिधर्म और चेतनधर्मी इनका परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध है ऐसा आपके उक्त संसर्ग शब्दका अर्थ है। अदृष्ट द्वारा [पुण्य पाप द्वारा] किये गये संसर्ग को संसर्ग विशेष कहना तो पूर्ववत् सदोष होगा, क्योंकि अदृष्टकृत संसर्ग विशेष शरीरादिमें भी है। अतः अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि ज्ञान दर्शनादि गुणधर्म अचेतन नहीं हैं, क्योंकि वे स्वसंवेद्य हैं, जैसे अनुभव स्वसंवेद्य होनेसे अचेतन नहीं है। ज्ञान आदिका स्वसंवेद्यपना भी तर्क संगत है, ज्ञानादि धर्म अपने द्वारा अनुभवन करने योग्य [जानने योग्य] होते हैं, क्योंकि पर संवेदनको अन्यथानुपपत्ति है अर्थात् यदि ये ज्ञानादिक स्वद्वारा संवेद्यमान नहीं होते तो वे परका संवेदन भी नहीं कर सकते थे, इस विषयका प्रतिपादन पहले स्वसंवेदनज्ञानवादमें [प्रथम भाग में] कर चुके हैं।

पादितम् । तथा चात्मस्वभावास्ते चेतनत्वादनुभववत् । सुखमप्यात्मस्वभाव एव मोक्षेऽभिव्यज्यमानत्वाद् ज्ञानवत् । अनात्मस्वभावत्वे तत्र तदभिव्यक्तिर्नस्याद्दुःखवत् ।

तथा सुखात्मको मोक्षश्चेतनात्मकत्वे सत्यखिलदुःखविवेकात्मकत्वात् संहृतसकलविकल्पध्यानावस्थावत् । तथानन्तं तत् आत्मस्वभावत्वे सत्यपेतप्रतिबन्धत्वात् ज्ञानवदेव । अपेतप्रतिबन्धत्वं तु मोहनीयादेः प्रतिबन्धकस्य कर्मणोऽपायात्प्रसिद्धमेव । इति सिद्धमनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेऽवस्थानं पुंसो मोक्ष इति ।

इसप्रकार ज्ञानादि धर्मोमें चेतनत्व सिद्ध होता है अतः वे आत्माके स्वभाव हैं क्योंकि चैतन्यरूप हैं, जैसे अनुभव चेतनरूप है । ज्ञानके समान सुख भी आत्माका ही स्वभाव है, क्योंकि ज्ञानके समान वह भी मोक्षमें अभिव्यक्त होता है, यदि सुख आत्माका स्वभाव नहीं होता तो मोक्षमे उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, जैसे दुःख आत्माका स्वभाव नही होनेके कारण उसकी मोक्षमे अभिव्यक्ति नही होती ।

मोक्ष सुखात्मक होता है, क्योंकि चेतनात्मक होकर सम्पूर्ण दुःखोंसे विविक्तरूप हो चुका है, जिसप्रकार निरुद्ध होगये हैं सकल विकल्पजाल जिसमें ऐसी ध्यान की अवस्था सुखात्मक हुआ करती है । वह मोक्षका सुख अंत रहित अनन्त है, क्योंकि आत्माका स्वभाव होकर प्रतिबन्धसे रहित है, जैसे ज्ञान आत्माका स्वभाव है पुनश्च प्रतिबन्ध रहित है अतः अनन्त होता है [कभी भी नाश नही होता] ज्ञान सुख आदि आत्मीक गुणों का प्रतिबन्ध रहितपना इसलिये हुआ है कि मोहनीय ज्ञानावरणीय इत्यादि प्रतिबन्धक स्वरूप कर्मोंका सर्वथा अभाव [नाश] हो गया है । इस प्रकार जैन द्वारा प्रतिपादित पूर्वोक्त मोक्षका लक्षण अबाधित सिद्ध होता है कि आत्मा का अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य रूप चैतन्यविशेषमें सदा शाश्वत रूपेन अवस्थान हो जाना मोक्ष है ।

।। इति मोक्षस्वरूपविचार समाप्त ।।

मोक्ष स्वरूप विचार का सारांश

पूर्व पक्ष—जैन लोगोंने अनन्त अनादि गुणोंकी प्राप्ति होना मोक्ष माना है सो युक्त नहीं है, मोक्षमें तो बुद्धि आदि नौ विशेष गुण नष्ट हो जाते हैं, अनुमानसे यह बात सिद्ध होती है। बुद्धि आदिक आत्माके विशेष नौ गुणोंकी सन्तान अत्यन्त नष्ट हो जाती है क्योंकि वह सन्तान रूप है जैसे दीपककी सन्तान। यह सन्तानत्व हेतु असिद्धादि पांचों दोषोंसे रहित है। उस बुद्धि आदिके अभाव होनेरूप मोक्षका कारण तत्त्वज्ञान है। सर्व प्रथम तत्त्वज्ञान होता है उसके होते ही मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है, फिर क्रमसे रागादि विकार पार कर जाते हैं रागादिके अभावमें मन, वचन, काय की चेष्टायें शांत होती हैं, पुनश्च पुण्य पाप रूप धर्म अधर्म भी उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार नये कर्मोंके आगमनके कारण हट जाने पर संचित हुए जो धर्म अधर्म हैं उनका सुख दुःखादि रूप फल भोग करके नाश होता है। कोई पूछे कि यदि कर्म बिना भोगे छूटते नहीं तो नित्य नैमित्तिक क्रिया किसलिये की जाती है? तो उसका समाधान यह है कि मोक्षमार्गमें आयी हुई बाधाओंको रोकनेके लिये क्रियानुष्ठान किया जाता है। इस तरह हमारा मोक्षका स्वरूप निर्दोष है।

अब क्रमसे अन्यके मोक्षका विचार करते हैं—वेदान्ती आनन्दरूपताको मोक्ष मानते हैं, सो उन्हें पूछते हैं कि आनन्द सुख रूप है, सो वह सुख नित्य है या अनित्य? नित्य है तो उसका संवेदन सदा होता रहनेसे संसारावस्थामें भी मोक्ष का आनन्द प्राप्त होनेका प्रसंग आता है। यदि वह आनन्द अनित्य है तो मोक्षमें उसकी किस कारणसे उत्पत्ति होगी? योगज धर्मके अनुग्रहसे युक्त हुआ मन उस सुख को उत्पन्न करता है ऐसा आपने माना है किन्तु ऐसा मन मोक्षमें नहीं है। तथा यदि मोक्षमें सुख है तो उसके लिये शरीरादिकी कल्पना करनी पड़ेगी। बौद्ध विशुद्ध ज्ञान उत्पन्न होनेको मोक्ष मानते हैं, सो सराग ज्ञानसे विशुद्ध वीतराग ज्ञान उत्पन्न होना असम्भव है। यदि कहा जाय कि अभ्यास विशेषसे रागादि नष्ट होकर शुद्ध ज्ञान हो जायगा सो भी युक्त नहीं, आपके यहां विनाश निर्हेतुक माना है, तथा क्षणिक पक्षमें अभ्यास होना अशक्य है।

जैन अनेकान्तकी भावनासे विशिष्ट जगह पर अक्षय ज्ञानरूप शरीर आदि की प्राप्ति होनेको मोक्ष कहते हैं, वह भी अयुक्त है, अनेकान्त ज्ञान ही मिथ्या है क्योंकि उसमें विरोधादि दोष आते हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मवादी का परमात्मा में लीन होना रूप मोक्ष भी असिद्ध है, क्योंकि उनके यहां सभी वस्तु ब्रह्मरूप है अतः कौन किसमें लीन होगा। सांख्य प्रकृति और पुरुषमें विवेक होना मोक्ष है ऐसा कहते हैं वह भी ठीक नहीं, मोक्षके लिये पुरुषार्थ प्रधान करे और उसका लाभ पुरुष भोगे, ऐसा सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार सभी परवादीके मोक्षका लक्षण सत्य नहीं है।

उत्तर पक्ष—वैशेषिकने मोक्षके विषयमें सब मतका खण्डन कर अपना पक्ष सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है किन्तु उसमें वे सफल नहीं हुए, क्योंकि उनके स्वयं के मोक्षका लक्षण भी असम्भव है। बुद्धि आदि गुणोंका नाश सिद्ध करने के लिये दिया हुआ हेतु सदोष है, क्योंकि किसी भी वस्तुका सर्वथा उच्छेद नहीं देखा गया है, दीप की सन्तान भी सर्वथा नष्ट नहीं होती किन्तु प्रकाश अवस्थाको छोड़कर अन्धकार रूप होती है। बुद्धि आदि गुणोंका सर्वथा नाश होगा तो गुणी आत्मा भी नष्ट हो जायगा। आपने कहा कि तत्त्वज्ञानसे विपरीत ज्ञानका नाश होता है फिर क्रमसे धर्मादिका नाश होता है अतः तत्त्व ज्ञान मोक्षका कारण है सो उस पर हमारा कहना है कि यद्यपि तत्त्वज्ञान, धर्मादिको नष्ट करता है तो भी अतीन्द्रिय ज्ञान, सुख इत्यादि गुणोंको नष्ट नहीं कर सकता है। आपने उदाहरण दिया कि जैसे रोगी बिना इच्छाके औषधि का सेवन करता है वैसे योगीजन बिना इच्छा के कर्म से प्राप्त उपभोग को करते हैं सो यह दृष्टान्त गलत है रोगी भी निरोग होने की इच्छा से औषधि सेवन करता है।

वेदान्तीके आनन्द स्वरूप मोक्षका खण्डन किया था सो क्या मोक्षमें आनंद नहीं रहता तो शोक विषाद रहता है ? अर्थात् नहीं। हां वेदान्तीका नित्य एक कूटस्थ रूप जो आनन्द है वह ठीक नहीं हैं। वेदान्ती कहे कि आनन्दको अनित्य मानेंगे तो उसके उत्पत्तिका कारण भी मानना होगा सो कर्मोंका नाश होना रूप कारण अनंत सुख रूप आनन्दको उत्पन्न करता है ऐसा जैन ने माना है। विशुद्ध ज्ञानकी उत्पत्ति होना मोक्ष है ऐसा बौद्धका कथन भी कुछ ठीक है किन्तु बौद्धको जिसमें विशुद्ध ज्ञान

उत्पन्न होता है उस आत्माको नित्य मानना होगा तभी उसके पहलेका अशुद्ध ज्ञान नष्ट होकर विशुद्ध ज्ञान होना रूप मोक्ष सिद्ध हो सकेगा। जैनके मोक्षका समर्थन तो आगे कर ही रहे हैं अतः उसका खण्डन करना अशक्य है।

ब्रह्माद्वैतवादके मोक्षका निरसन तो ठीक ही है क्योंकि जब ब्रह्म स्वरूप एक ही तत्त्व सर्वत्र व्याप्त है तब उसमें अवस्थासे अवस्थान्तर होना इत्यादि रूप मोक्ष सिद्ध नहीं होता।

सांख्यके द्वारा माना गया चैतन्यमें अवस्थान होना रूप मोक्षका खण्डन उचित है क्योंकि वह मोक्षका लक्षण असत्य है, सांख्य भी वैशेषिकके समान अकेले तत्त्वज्ञानसे मोक्ष होना कहते हैं उसमें वही प्रश्न है कि तत्त्वज्ञान होनेके बाद पूर्व संचित कर्मका क्रमसे भोग करके मोक्ष होता है या अक्रम से भोग करके ? क्रमसे होना तो शक्य नहीं क्योंकि क्रमसे भोग करनेमें नये नये कर्म बन्ध होते जायेंगे इत्यादि पहलेके दोष आते हैं, और अक्रमसे कहो तो उसमें तप आदि कारण अवश्य मानने होंगे। तथा सांख्य भी मोक्षमें ज्ञानका अभाव मानते हैं अतः उनके मोक्षका स्वरूप असिद्ध है।

जैन के मोक्ष स्वरूपका खण्डन होना असम्भव है, क्योंकि वह निर्दोष है। वैशेषिकने कहा था कि अनेकान्त की भावनासे मोक्ष होता है तो उस अनेकांतको मोक्ष अवस्थामें भी मानना पड़ेगा ? सो हमें इष्ट ही है। अतः अनेकांतका जो तत्त्वज्ञान है उस तत्त्वज्ञानके द्वारा जिसको सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र आदिकी सहायता है ऐसे ज्ञानके द्वारा आत्माका अवस्थान्तर होता है वही मोक्ष है, मोक्षमें अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य, इस प्रकार अनंत चतुष्टय स्वरूप आत्मा रहता है, वहां वैशेषिक सांख्यादिके समान ज्ञानका अभाव नहीं है, तथा आत्मा से उत्पन्न होने वाला सुख या आनन्द भी रहता है अन्यथा ज्ञान और सुख रहित ऐसे वैशेषिकादि की मुक्तिके लिये कौन पुरुष प्रयत्न करेगा ? अर्थात् नहीं करेगा। अनंत सुखादि गुण उनके प्रतिबंधक कर्मोंके नष्ट होनेसे प्राप्त होते हैं, कर्मोंका अस्तित्व तथा उनका नाश ये दोनों मुख्य प्रत्यक्षका लक्षण करते समय सिद्ध हो चुका है, इस प्रकार अनंत चतुष्टय स्वरूप मोक्ष है यह मोक्षका लक्षण निर्दोष सिद्ध होता है।

॥ मोक्षस्वरूपविचार का सारांश समाप्त ॥

८
स्त्रीमुक्तिविचार:

ननु पुंस एवानन्तज्ञानादिस्वरूपलाभलक्षणो मोक्ष इत्ययुक्तम्; स्त्रीणामप्यस्योपपत्तेः। तथाहि–अस्ति स्त्रीणां मोक्षोऽविकलकारणत्वात् पुरुषवत्; तदसत्; हेतोरसिद्धेः, तथाहि–मोक्षहेतुर्ज्ञानादिपरमप्रकर्षः स्त्रीषु नास्ति परमप्रकर्षत्वात् सप्तमपृथ्वीगमनकारणापुण्यपरमप्रकर्षवत्। यदि नाम तत्र तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षाभावो मोक्षहेतोः परमप्रकर्षाभावे किमायातम्? कार्यकारणव्याप्यव्यापकभावाभावे हि तयोः कथमन्यस्याभावेऽन्यस्याभावोऽतिप्रसङ्गात् इति चेत्; सत्यम्; अयं हि तावन्नि-

---

श्वेताम्बर–अभी सांख्य मतके मुक्तिका खण्डन करते हुए जैन ने कहा था कि अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय रूप मोक्ष पुरुषके ही होता है, सो ऐसा आग्रह ठीक नहीं है, मोक्ष तो स्त्रियों को भी होता है, इसीको अनुमानसे सिद्ध करते हैं कि स्त्रियोंको मोक्ष होता है, क्योंकि मोक्षके अविकल कारण उनके भी होते हैं, जैसे पुरुष के होते हैं?

दिगम्बर–यह कथन अयुक्त है, "अविकल कारणत्वात्" हेतु असिद्ध है, कैसे सो बताते हैं, मोक्ष के कारणभूत जो ज्ञानादि गुण हैं उनका परम प्रकर्ष स्त्रियोंमें नहीं होता है, क्योंकि वह परम प्रकर्षरूप है, जैसे सप्तम पृथ्वीमें जाने के कारणभूत पापका परम प्रकर्ष स्त्रियोंमें नहीं पाया जाता है।

श्वेताम्बर–नरक का कारण पापकर्म का परम प्रकर्ष स्त्रियोंमें नहीं होता तो उससे मोक्षके कारणका परम प्रकर्ष होने में क्या बाधा आयी? जिससे उसके अभाव में मोक्ष कारण का भी अभाव माना जाय? मोक्ष के कारणभूत ज्ञानादि का परम प्रकर्ष और नरकके कारणभूत पापका परमप्रकर्ष इन दोनोंमें कारण कार्यभाव या

यमोस्ति-यद्वेदस्य मोक्षहेतुपरमप्रकर्षस्तद्वेदस्य तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षोप्यस्त्येव, यथा पुंवेदस्य। न च चरमशरीरेण व्यभिचारः; पुंवेदसामान्यापेक्षयोक्तेः। विपरीतस्तु नियमो न सम्भवत्येव; नपुंसकवेदे तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षे सत्यप्यन्यस्यानभ्युपगमात् पुंस्यभ्युपगमाच्च, अनित्यत्वस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वेतरत्ववत्। ततश्च स्त्रीवेदस्यापि यदि मोक्षहेतुः परमप्रकर्षः स्यात्, तदा तदभ्युपगमादेवापरोप्यनिष्टोऽवश्यमापद्यते, अन्यथा पुंस्यपि न स्यात्। सिद्धे च प्रतिबन्धद्वयाभावेपि कृतिकोदयादिवदुक्तप्रकर्षयोरविनाभावे स्त्रीणां तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षप्रतिषेधेन मोक्षहेतुपरमप्रकर्षो निषिध्यते।

व्याप्य व्यापक भाव तो नहीं है फिर इनमेंसे एकके अभाव में अन्यका भी अभाव कैसे कर सकते हैं? अतिप्रसंग होगा।

दिगम्बर-आपने ठीक कहा, किन्तु यह तो नियम है कि जिस वेद में मोक्ष के कारणों का परमप्रकर्ष है उस वेदमें पाप कारणोंका परम प्रकर्ष भी है, जैसे पुरुषवेद में दोनों उपलब्ध हैं, इस कथनमें चरम शरीरीके साथ व्यभिचार भी नहीं होता क्योंकि हमने पुरुषवेद सामान्य की अपेक्षा से कथन किया है। ऐसा विपरीत नियम तो सम्भव नहीं है कि मोक्षहेतुका प्रकर्ष व्यापक (साध्य हो) और नरक के कारणभूत पाप का प्रकर्ष व्याप्य हो, (हेतु) क्योंकि नपुंसकवेद में नरक का कारणभूत पाप का प्रकर्ष है किन्तु मोक्ष के कारण ज्ञानादि का प्रकर्ष तो नहीं है, पुरुष में दोनोंको स्वीकार किया है। जिस प्रकार अनित्यत्व को हेतु और प्रयत्नानंतरीयकत्व या अप्रयत्नानंतरीयकत्व को साध्य बनाने में विपरीत क्रम होता है उसी प्रकार नरक गमन के कारण का जो प्रकर्ष है उसको हेतु और मोक्ष के कारण के प्रकर्ष को साध्य बनावे तो विपरीत क्रम होता है। इस तरह का क्रम माने तो स्त्रीवेद में यदि मोक्ष के कारण का प्रकर्ष आप श्वेताम्बर मानते हैं तो उसके साथ आपको अनिष्ट ऐसा जो पाप का प्रकर्ष है वह भी अवश्य मानना पड़ेगा, अन्यथा पुरुष में भी पाप का प्रकर्ष नहीं रहेगा? पाप का प्रकर्ष और मोक्ष के कारण का प्रकर्ष इन दोनों में तादात्म्य सम्बंध या तदुत्पत्ति सम्बन्ध रूप अविनाभाव नहीं है किन्तु कृतिका नक्षत्र का उदय और रोहिणी नक्षत्र का उदय इन दोनोंका जिस जातिका अविनाभाव है उस जातिका पाप प्रकर्ष और मोक्ष हेतु प्रकर्षमें अविनाभाव है अतः जहां स्त्रियोंके लिये पाप प्रकर्ष का निषेध किया जाता है साथ ही मोक्ष हेतुके प्रकर्ष का भी निषेध होता है।

न च 'नपुंसकस्य मोक्षहेतुपरमप्रकर्षोस्ति तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षसद्भावात् पुंवत्। पुंसो वा नास्त्यत एव नपुंसकवत्। तत्कारणाऽपुण्यपरमप्रकर्षो वा नपुंसके नास्ति परमप्रकर्षत्वात् स्त्रीवदित्यप्यनिष्टापत्तिः उभयप्रसिद्धाद्धेतोरुभयप्रसिद्धस्य निषेधेनोभयोस्तुल्यत्वात्' इत्यभिधातव्यम्; उभयाभिप्रेतागमेन बाधनात्। स्त्रीणां तु तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षं पराभ्युपगतेनैव मोक्षहेतुपरमप्रकर्षेणापाद्य तत्प्रतिषेधेन तद्धेतुरेव प्रतिषिध्यत इत्यस्ति विशेषः।

यद्वा नोक्तानुमाने तत्कारणापुण्यपरमप्रकर्षाभावाद्धेतोर्मोक्षहेतुपरमप्रकर्षः स्त्रीषु निषिध्यते,

---

शंका—नपुंसक के मोक्षके कारणोंका प्रकर्ष है, क्योंकि उनके नरकके कारण भूत पापका प्रकर्ष होता है, जैसे पुरुषके होता है। अथवा नपुंसक के समान पुरुष के भी मोक्षहेतु का प्रकर्ष नहीं है क्योंकि नपुंसक के समान इसके पाप प्रकर्ष का अभाव है। अथवा नपुंसक में नरक के कारणभूत पाप का प्रकर्ष नहीं है, क्योंकि वह परम प्रकर्ष है, जैसे स्त्रीवेदी के वह पाप प्रकर्ष नहीं होता है। इस तरह दोनों जगह प्रसिद्ध हेतु से दोनों के (दिगम्बर श्वेताम्बर) साध्यका निषेध समान रूपसे हो जाता है। अर्थात् श्वेताम्बर स्त्रीमें मोक्ष हेतुका प्रकर्ष सिद्ध करना चाहते हैं और दिगम्बर स्त्री में उसका अभाव सिद्ध करना चाहते हैं किंतु उभयत्र समान हेतु होनेसे दोनोंका साध्य सिद्ध नहीं होता है ?

समाधान—ऐसा नहीं कह सकते, दिगम्बर और श्वेताम्बर में इष्ट जो आगम है, उसके द्वारा स्त्री मुक्ति में बाधा आती है, श्वेताम्बर मतमें स्त्रियों में नरक का कारणभूत पापका प्रकर्ष मानते नहीं हैं अतः जब एक प्रकर्ष नहीं माना तो मोक्ष हेतुका प्रकर्ष भी उसीसे निषिद्ध हो जाता है, इसलिये दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों मतमें समान हेतु और निषेध नहीं है, हम दिगम्बर तो पुरुषमें दोनोंका प्रकर्ष देखकर उसके मुक्ति होना स्वीकार करते हैं, और तुम लोग स्त्रियोंमें पापका प्रकर्ष नहीं मानकर भी मोक्षहेतु का प्रकर्ष मानते हो सो यह युक्ति संगत नहीं है।

अथवा हमने शुरूमें जो अनुमान उपस्थित किया था कि स्त्रियोंमें मोक्ष हेतुका परम प्रकर्ष नहीं होता है क्योंकि वह परम प्रकर्ष है, जैसे उनके सप्तम नरकमें गमन के कारण पापका परम प्रकर्ष नहीं होता है, पाप प्रकर्षके अभावरूप हेतुवाले इस अनुमान द्वारा स्त्रियोंमें मोक्ष हेतुके प्रकर्षका निषेध नहीं करते हैं अपितु दृष्टान्त में सप्तम नरक गमन हेतु प्रकर्ष अभाववत्) परमप्रकर्ष हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति

अपि तु परमप्रकर्षत्वाद् दृष्टान्ते दृष्टसाध्यव्याप्तिकात्। न चात्र केनचिद्व्यभिचारः; स्त्रीसम्बन्धिनः कस्यचित्परमप्रकर्षस्यासम्भवात्। मायापरमप्रकर्षोऽस्तीति चेत्; न; स्त्रीणां मायाबाहुल्यमात्रस्यैवागमे प्रसिद्धेः। अन्यथा पुंवत्सप्तमपृथिवीगमनानुषङ्गः। 'मायापरमप्रकर्षादन्यत्वे सति' इति विशेषणाद्वा न दोषः। तन्न ज्ञानादिपरमप्रकर्षो मोक्षहेतुस्तत्रास्तीत्यसिद्धो हेतुः। न खलु ज्ञानादयो यथा पुरुषे प्रकृष्यमाणाः प्रमाणतः प्रतीयन्ते तथा स्त्रीष्वपि, अन्यथा नपुंसके ते तथा स्युः, तथा चास्याप्यपवर्गप्रसङ्गः।

संयमस्तु तद्धेतुस्तत्रासम्भाव्य एव; तथाहि-स्त्रीणां संयमो न मोक्षहेतुः नियमेनर्द्धिविशेषाहेतुत्वान्यथानुपपत्तेः। यत्र हि संयमः सांसारिकलब्धीनामप्यहेतुः तत्रासौ कथं निःशेषकर्मविप्रमोक्ष-

---

देखकर इसके द्वारा स्त्रियोंमें मोक्षके हेतु का प्रकर्ष निषिध्य किया जाता है। इस परम प्रकर्षत्वात् हेतुका किसीके साथ व्यभिचार भी नही है अर्थात् स्त्रियोंमें किसीका भी परमप्रकर्ष नहीं होता है। स्त्रियोंमें मायाका प्रकर्ष होता है अतः हेतु व्यभिचारी है ऐसा भी नहीं कहना, स्त्रियोंमें मायाका बाहुल्य होता है इतना ही आगम वाक्य है, यदि माया का प्रकर्ष स्त्रियोंमें होता तो वह पुरुषके समान सातवें नरकमें जा सकती थीं। यदि किसीका जबरदस्त आग्रह हो कि, नहीं स्त्रियोंमें तो माया का परमप्रकर्ष होता ही है, तब तो हम "परम प्रकर्षत्वात्" इस हेतुमें "माया परम प्रकर्षादन्यत्वेसति" इतना विशेषण जोड़ देंगे, अर्थात् माया प्रकर्षको छोड़कर अन्य किसी प्रकार का परमप्रकर्ष स्त्रियोंमें नहीं होता है, ऐसा कथन करनेसे अनुमान निर्दोष होता है। इस प्रकार स्त्रियोंमें ज्ञानादि गुणों का परमप्रकर्ष जो कि मोक्ष का हेतु है वह नहीं है यह भली प्रकार निश्चित हुआ, अतः श्वेताम्बरका "अविकल कारणत्वात्" हेतु असिद्ध ही रहा। पुनश्च-ज्ञानादि गुण पुरुषमें जिस प्रकार से प्रकृष्ट होते हुए दिखाई देते हैं उस प्रकारसे स्त्रियोंमें नही दिखाई देते, यदि स्त्रियोंमें इन गुणोंकी उत्कृष्टता होती तो नपुंसकमें भी होती? फिर तो स्त्रियोंके समान नपुंसक के भी मुक्ति होनेका प्रसंग आता है।

तथा मोक्ष के कारणों में अन्तर्भूत हुआ जो संयम है उसका स्त्रियोंमें होना असम्भव है, अब इसीको बताते हैं-स्त्रियों का संयम मोक्ष का हेतु नहीं है, क्योंकि स्त्रियोंमें नियमसे ऋद्धि विशेषके अहेतुत्वकी अन्यथानुपपत्ति है, अर्थात् ऋद्धिके कारणभूत संयम भी स्त्रियों के नहीं है तो मोक्षका कारणभूत संयम कैसे हो सकता है?

लक्षणमोक्षहेतुः स्यात् ? नियमेन च स्त्रीणामेव ऋद्धिविशेषहेतुः संयमो नेष्यते, न तु पुरुषाणाम्। यदि हि नियमेन लब्धिविशेषस्याजनकः संयमः क्वचिदन्यत्राविवादास्पदीभूते मोक्षहेतुः प्रसिद्ध्येत् तदा तद्दृष्टान्तावष्टम्भेनात्राप्यसौ तथा प्रत्येतुं शक्येत, नान्यथातिप्रसङ्गात्। संयममात्रं तु सदप्यासां न तद्धेतुः तिर्यग्गृहस्थादिसंयमवत्।

सचेलसंयमत्वाच्च नासौ तद्धेतुर्गृहस्थसंयमवत्। न चायमसिद्धो हेतुः; न हि स्त्रीणां निर्वस्त्रः संयमो दृष्टः प्रवचनप्रतिपादितो वा। न च प्रवचनाभावेपि मोक्षसुखाकांक्षया तासां वस्त्रत्यागो युक्तः; अर्हत्प्रणीतागमोल्लंघनेन मिथ्यात्वाराधनाप्राप्तेः। यदि पुनर्नृणामचेलोसौ तद्धेतुः स्त्रीणां तु सचेलः; तर्हि कारणभेदान्मुक्तेरप्यनुषज्येत भेदः स्वर्गादिवत्। देशसंयमिनश्चैवं मुक्तिः

जहां पर सांसारिक लब्धियां भी जिससे नहीं हो पाती वहां वह संयम सम्पूर्ण कर्मोंका सदा के लिये नाश होने रूप मोक्षका कारण कैसे हो सकेगा? स्त्रियोंके ऋद्धि का कारणभूत संयम नहीं होता किन्तु पुरुषों के विषय में ऐसा नियम नही है, उनके तो ऐसा संयम होता है, यदि नियम से लब्धिका अजनक संयम विवाद रहित किसी पुरुष विशेषमें मोक्ष का कारण होता हुआ उपलब्ध होता तो उस दृष्टान्तके बल से स्त्रियोंमें उसी रूपसे निश्चय करते किन्तु ऐसा नहीं है। तथा स्त्रियोंके मोक्ष होना मानेंगे तो गृहस्थके भी मुक्ति होनेका अतिप्रसंग आता है। स्त्रियों के सामान्यतः संयम (देश संयम) तो है किन्तु वह संयम मोक्ष का कारण नहीं है, जैसे तिर्यंच का संयम या गृहस्थ का संयम मोक्षका कारण नही है।

स्त्रियों के सवस्त्र संयम है अतः मोक्षका हेतु नहीं है जैसे गृहस्थ का संयम नहीं है। "सचेल संयमत्वात्" यह हेतु असिद्ध नहीं है, क्योंकि स्त्रियों में वस्त्र रहित संयम कहीं पर देखा नहीं गया है, और न शास्त्र में ही उसका प्रतिपादन है। शास्त्रमें वस्त्र रहित संयम स्त्रियोंको नहीं बताया है तो भी मोक्ष सुखकी अभिलाषिणी स्त्रियां वस्त्रका त्याग करेगी तो गलत क्रिया कहलायेगी, क्योंकि अर्हन्त भगवानके शास्त्रका उल्लंघन करनेसे तो मिथ्यात्व हो जाता है। कोई कहे कि पुरुषके तो वस्त्र रहित संयम मोक्षका हेतु है, और स्त्रियोंके वस्त्र सहित संयम मोक्षका कारण है तो यह कथन ठीक नहीं है। जहां कारण भेद होता है वहां कार्य जो मुक्ति है उसमें भी भेद होवेगा, जैसे स्वर्गादिके कारणों में भेद होनेसे स्वर्ग जाने में भेद पड़ता है। तथा सवस्त्रके मुक्ति होती है तो देशसंयमीको हो सकेगी? फिर तो दीक्षा लेना ही

प्रसज्यते। तथा च लिङ्गग्रहणमनर्थकम्। सचेलसंयमश्च मुक्तिहेतुरिति कुतोऽवगतम्? स्वागमाच्चेत्; न; अस्यास्मान् प्रत्यागमाभासत्वाद् भवतो यज्ञानुष्ठानागमवत्।

स्त्रियो न मोक्षहेतुसंयमवत्यः साधूनामवन्द्यत्वाद् गृहस्थवत्। न चात्रासिद्धो हेतुः;

"वरिससयदिक्खियाए अज्जाए अज्ज दिक्खिओ साहू।
अभिगमणवंदणणमंसणविणएण सो पुज्जो॥" [ ]

इत्यभिधानात्।

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहवत्त्वाच्च न तास्तद्वत्यस्तद्वत्। न चायमसिद्धो हेतुः; प्रत्यक्षेणावगतो हि वस्त्रग्रहणादिबाह्यपरिग्रहोऽभ्यन्तरं स्वशरीरानुरागादिपरिग्रहमनुमापयति। न च शरीरोष्मणा वातकायिकादिजन्तूपघातनिवारणार्थं स्वशरीरानुरागाद्यभावेप्यसावुपादीयते इत्यभिधेयम्; पुंसामाचेलक्यव्रतस्य हिंसात्वानुषङ्गात्। तथा चार्हदादयो मुक्तिभाजस्तदुपदेष्टारो वा न स्युः; किन्तु सवस्त्रा एव गृहस्था मुक्तिभाजो भवेयुः। न चाचेलक्यं नेष्यते।

बेकार होगा। आपने सचेल संयम मोक्षका कारण है ऐसा किस प्रमाण से जाना है? अपने आगमसे जाना है कहो तो ठीक नहीं, हम दिगम्बर के लिये वह आगमाभास है, जैसे आपको यज्ञानुष्ठानादि प्रतिपादक मीमांसकका आगम आगमाभास रूप है। स्त्रियां मुक्त नहीं होती इस विषयमें और भी अनुमान हैं, स्त्रियां मोक्ष के कारणभूत संयमवाली नहीं हो सकती क्योंकि वे साधुओं के लिये वन्दनीय नहीं हुआ करती हैं, जैसे गृहस्थ वन्दनीय नहीं होते हैं। कहा भी है–सैकड़ों वर्षोंकी दीक्षित आर्यिकायें आज के दीक्षित साधु को नमस्कार करती हैं साधु उनके द्वारा वन्दनीय, आदरणीय होता है, विनय करने योग्य होता है, सन्मुख जाने योग्य होता है॥१॥

स्त्रियां बाह्य अभ्यन्तर परिग्रह युक्त भी होती हैं अतः मोक्ष के योग्य संयम को नहीं धार सकतीं। यह बाह्याभ्यन्तर परिग्रहत्व हेतु भी असिद्ध नहीं है प्रत्यक्ष से दिखता है कि वस्त्र ग्रहणादि बाह्य परिग्रह तथा स्वशरीरका अनुरागादि रूप अभ्यंतर परिग्रह स्त्रियोंके होता है। श्वेताम्बर कहे कि शरीरकी गरमी से वायुकायिक आदि जीवोंको बाधा न होवे इसलिये शरीरका राग नहीं रहते हुए भी स्त्रियां वस्त्र को धारण करती हैं ऐसा कथन गलत है, इस तरह तो पुरुषोंके आचेलक्य (वस्त्र त्याग) नामा व्रत हिंसाका कारण बन जायगा? फिर तो अर्हंत, गणधर आदिक मुक्तिके पात्र नहीं रहेंगे, न आचेलक्य का उपदेश देने वाले मुक्तिके पात्र होंगे, अपितु वस्त्रधारी

"आचेलक्कुद्देसिय सेज्जाहररायपिंडकिदिकम्म" [जीतकल्प-भा० गा० १९७२] इत्यादेः पुरुषं प्रति दशविधस्य स्थितिकल्पस्य मध्ये तदुपदेशात् ।

किञ्च, गृहीतेपि वस्त्रे जन्तूपघातस्तदवस्थः, तेनानावृतपाणिपादादिप्रदेशोष्मणा तदुपघातस्य परिहर्त्तुमशक्तेः । वस्त्रस्य यूकालिक्षाद्यनेकजन्तुसम्मूर्च्छनाधिकरणत्वाच्च । तथाविधस्यापि स्वीकरणे मूर्द्धजानां लुञ्चनादिक्रिया न स्यात् । वस्त्राकुञ्चनादेर्जातवातेनाकाशप्रदेशावस्थितजन्तूपपीडनाच्च व्यजनादिवातवत् ।

किञ्च, एवमनेक प्राण्युपघातनिवारणार्थमविहारोप्यनुष्ठेयो वस्त्रग्रहणवदविशेषात् । प्रयत्नेन गच्छतो जन्तूपघातेप्यहिंसा निश्चेलेपि समा । यथा च यज्ञानुष्ठानं पशुहिंसाङ्गत्वेनाऽश्रेयस्करत्वात् त्याज्यं तथा वस्त्रग्रहणमप्यविशेषात् ।

गृहस्थ मुक्तिके पात्र होंगे ? किन्तु आचेलक्य आपको इष्ट न हो सो बात नहीं है। आचेलक्य, औद्देशिक, शय्याघर आदि दश प्रकारका स्थिति कल्प साधुओंके लिये आगममें बतलाया है, सो उसमें साधुका आचेलक्य गुण आया है ।

आपने कहा कि संयमके लिये वस्त्र धारण किया जाता है, सो वस्त्र ग्रहणमें भी जीवोंका घात तो होता ही है, वस्त्रसे नहीं ढके हुए ऐसे शरीरके अवयव हाथ पैर आदि की गरमीसे जीवोंका होने वाला घात रुक नहीं सकता है । तथा वस्त्र स्वयं जूं, लिक्षा आदि अनेक सम्मूर्च्छन जीवोंका आधारभूत है, ऐसे वस्त्र को भी ग्रहण किया जाय तो केशोंका लोंच आदि क्रिया भी जरूरी नहीं रहेगी ? तथा वस्त्र को फैलाना, समेटना आदि व्यापारसे वायु संचार होकर आकाश प्रदेशमें स्थित जीवोंका घात होता है, जैसे पंखा आदि से हवा करनेमें जीवों का घात होता है ।

दूसरी बात यह है कि यदि जीवों का बचाव करने के लिये वस्त्र ग्रहण करते हैं तो विहारमें अनेक जीवोका घात होता है अतः साधुको विहार नहीं करना चाहिये ? तुम कहो कि प्रयत्न पूर्वक ईर्या समितिसे विहार करनेमें जीवोंका घात होते हुए भी साधुको अहिंसक माना है, सो यही बात वस्त्र त्यागमें है अर्थात् वस्त्रका त्याग करने पर शरीर की गरमी से जीवोंका घात कभी भी हो जाय तो साधु प्रमाद रहित होने से अहिंसक कहलाता है । जैसे यज्ञानुष्ठान पशु हिंसाका कारण होनेसे अकल्याणकारी होनेसे त्याज्य है, वैसे वस्त्र भी हिंसाका कारण होनेसे त्यागने योग्य है, दोनों में समानता है ।

एतेन संयमोपकरणार्थं तदित्यपि निरस्तम् ।

किञ्च, बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहपरित्यागः संयमः । स च याचनसीवनप्रक्षालनशोषणनिक्षेपादानचौरहरणादिमनः संक्षोभकारिणिवस्त्रे गृहीते कथं स्यात् ? प्रत्युत संयमोपघातकमेव तत् स्याद्बाह्याभ्यन्तरनैर्ग्रन्थ्यप्रतिपन्थित्वात् ।

ह्रीशीतार्तिनिवृत्त्यर्थं वस्त्रादि यदि गृह्यते ।
कामिन्यादिस्तथा किन्न कामपीडादिशान्तये ? ॥ १ ॥
येन येन विना पीडा पुंसां समुपजायते ।
तत्तत्सर्वमुपादेयं लावकादिपलादिकम् ॥ २ ॥
वस्त्रखण्डे गृहीतेपि विरक्तो यदि तत्त्वतः ।
स्त्रीमात्रेपि तथा किन्न तुल्याक्षेपसमाधितः ॥ ३ ॥

"जीवों की रक्षा के हेतु वस्त्र है" यह बात जैसे खण्डित होती है वैसे संयम का उपकरण वस्त्र होने से ग्रहण करते हैं, यह कथन भी खण्डित होता है ।

बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रहका त्याग करना संयम कहलाता है, वस्त्र ग्रहण करने पर उसको सीना, धोना, सुखाना, रखना, उठाना तथा चोरके ले जाने पर मन में क्षोभ होना इत्यादि असंयमकी बातें हो जाने से संयम किस प्रकार पल सकता है ? वस्त्र ग्रहण से उल्टे संयम का नाश होता है वस्त्र तो बाह्याभ्यन्तर निर्ग्रन्थता का प्रतिपक्षी है ।

वस्त्र को लज्जा, शीत की पीड़ा आदिका निवारण करनेके लिये ग्रहण करते हैं ऐसा कहा जाय तो स्त्री आदि को भी काम पीड़ाका निवारण करने के लिये ग्रहण करना दोषास्पद नहीं होगा ? ॥१॥ फिर तो जिस जिस कारणसे पीड़ा दूर हो वह वह सब पदार्थ पक्षी आदिका मांस आदि भी ग्रहण करने योग्य होंगे ? ॥२॥ श्वेतांबर कहते हैं कि थोड़ा-सा वस्त्र लेने पर भी वास्तविक दृष्टिसे वह साधु विरागी ही बना रहता है ? तब ऐसा हो सकता है कि स्त्री को ग्रहण करने पर भी साधु विरागी ही है, इसमें भी प्रश्न उत्तर समान रहेंगे । राग सहित ही स्त्री का ग्रहण होता है ऐसा कहो तो वस्त्रमें भी यही दोष है कि वह भी राग सहित होकर ही ग्रहणमें आता है । तथा वस्त्र ग्रहण मात्रसे राग नहीं आता है तो स्त्री मात्र ग्रहणसे भी राग नहीं आता

नापि तन्वीमनःक्षोभनिवृत्त्यर्थं तदाहृतम् ।
तद्वाञ्छाऽहेतुकत्वेन तन्निषेधस्य सम्भवात् ।। ४ ।।
चक्षुरुत्पाटनं पट्टबन्धनं च प्रसज्यते ।
लोचनादेस्तदुत्पत्तौ निमित्तत्वाविशेषतः ।। ५ ।।
चलचित्ताङ्गना काचित्संयतं च तपस्विनम् ।
यदीच्छति भ्रातृवत्किं दोषस्तस्य मतो नृणाम् ।। ६ ।।
बीभत्सं मलिनं साधुं दृष्ट्वा शवशरीरवत् ।
अङ्गना नैव रज्यन्ते विरज्यन्ते तु तत्त्वतः ।। ७ ।।
स्त्रीपरीषहभग्नैश्च बद्धरागैश्च विग्रहे ।
वस्त्रमादीयते यस्मात्सिद्धं ग्रन्थद्वयं ततः ।। ८ ।।

न चैवं जन्तुरक्षागण्डादिप्रतीकारार्थं पिच्छौषधादौ गृह्यमाणेप्ययं दोषः समानः; त्रिचतुरपिच्छग्रहणस्य जन्तुरक्षार्थत्वात्, शरीरे ममेदम्भावाऽसूचकत्वाच्च, औषधस्यापि प्रतिपन्नसामर्थ्यस्य

है ऐसा स्वीकार करना पड़ेगा ।।३।। यदि नग्न रहते हैं तो स्त्री विकारी होती है अतः स्त्री के मन का क्षोभ दूर करने के लिये वस्त्र को ग्रहण करते हैं, ऐसा कहना भी असत् है, स्त्री के मन में क्षोभ तो साधु ने कराया नहीं, न नग्नता ही वांछा को कराती है नग्नता वाञ्छा की अहेतु होने से उसका निषेध संभव है ।।४।। यदि स्त्रियों को देखकर मन में क्षोभ होता है अथवा साधु को देखने से स्त्री विकार को प्राप्त होती है तब तो अपनी या उसकी आंख को फोड़ डालना या आंखों पर पट्टी बांधना भी जरूरी होगा ? क्योंकि आंख आदिक भी क्षोभ का अविशेष रूप से कारण है ? ।।५।। यदि कदाचित् कोई चंचल स्वभाव वाली स्त्री संयमी की वांछा करती भी है तो वह साधु भाई के समान होने से कुछ भी आपत्ति नहीं हो सकती, अतः नग्नता दोष युक्त नहीं है ।।६।। प्रथम तो बात यह है कि नग्न साधु को देखकर स्त्री को विकार आ नहीं सकता क्योंकि उसका शरीर, बीभत्स, मैला, शव के समान रहता है ऐसे शरीर को देखकर स्त्रियां उनसे विरक्त ही होती हैं आसक्त नहीं हो सकती ।।७।। इस प्रकार यहां तक के विवेचन से स्पष्ट होता है कि जो विषयासक्त हैं, स्त्री परीषह सहन नहीं कर सकते, शरीर में राग युक्त हैं, वे ही वस्त्र को ग्रहण करते हैं, इसीलिये बाह्याभ्यंतर परिग्रह धारी कहलाते हैं ।।८।। यहां पर शंका हो सकती है कि इस तरह वस्त्र ग्रहण में दूषण बतायेंगे तो जीव रक्षा के लिये मयूर पिच्छिका ग्रहण एवं रोग निवृत्ति के लिये औषधि ग्रहण करने से भी यही दूषण आता है ? सो यह शंका

गण्डादेर्व्यावृत्तिहेतुत्वात् नाग्न्याविरोधित्वाच्च, वस्त्रे तु विपर्ययात्, परमनैर्ग्रन्थ्यसिद्ध्यर्थं पिच्छस्याप्यग्रहणाच्चौषधवत्। पिण्डौषध्यादयो हि सिद्धान्तानुसारेणोद्गमादिदोषरहिता रत्नत्रयाराधनहेतवो गृह्यमाणा न कस्यापि मोक्षहेतोः हन्तारः। न हि तद्ग्रहणे रागादयोऽन्तरङ्गा बहिरङ्गा वा स्वभूषावेषादयो ग्रन्था जायन्ते, अतस्ते मोक्षहेतोरुपकर्त्तार एव। पिण्डग्रहणमन्तरेण ह्यपूर्णकालेपि विपत्तेरापत्तेरात्मघातित्वं स्यात्, न तु वस्त्रे। षष्ठाष्टमादिक्रमेण च मुमुक्षुभिः पिण्डोपि त्यज्यते, न तु स्त्रीभिः कदाचिद्वस्त्रम्।

अथ वस्त्रादन्यस्याखिलस्य त्यागात्साकल्येनासां बाह्यं नैर्ग्रन्थ्यम्; तर्हि लोभादन्यकषायत्यागादेवात्राह्यमपि स्यात्। न च गृहीतेपि वस्त्रे ममेदम्भावस्याभावान्तदवतिष्ठते; विरोधात्–

ठीक नहीं है, तीन चार पंखों का ग्रहण तो जीव रक्षा के लिए किया जाता है, तथा यह ममकार भाव का सूचक भी नहीं है। पके हुए फोड़ा फुन्सी आदि का प्रतिकारक होने से एवं नग्नता का अविरोधक होने से औषधि का ग्रहण होता है। किन्तु वस्त्र ग्रहण में ऐसी बात नही है। दूसरी बात यह है कि परम निर्ग्रन्थता की सिद्धि के लिये तो महाश्रमण पीछी भी ग्रहण नहीं करते हैं जिस प्रकार कि औषधि का ग्रहण नहीं करते हैं। सिद्धान्तानुसार उद्गम, उत्पादन आदि ४६ दोषों से रहित आहार औषधि आदि को ग्रहण करते हैं ये पदार्थ रत्नत्रय की आराधना के कारण हैं अतः मोक्षमार्ग में किसी के भी बाधक नहीं हैं। पीछी आदि ग्रहण करने से अंतरंग रागादि परिग्रह और बहिरंग वसन, भूषण आदि परिग्रह नहीं होते है, अतः ये पदार्थ परिग्रह नहीं हैं प्रत्युत मोक्ष के हेतु के उपकारक हैं। इसी का खुलासा करते हैं, साधु आहार को ग्रहण नहीं करेगा तो अकाल में मरण होने से आत्मघाती कहलायेगा किन्तु वस्त्र में ऐसी बात नहीं है। समर्थ अभ्यासी साधु तो आहार को भी दो दिन तीन दिन आदि के क्रम से छोड़ देता है, किंतु स्त्रियों द्वारा वस्त्र नहीं छोड़ा जा सकता है।

श्वेताम्बर—स्त्रियां वस्त्र को छोड़कर अन्य संपूर्ण परिग्रहों का त्याग कर लेती हैं, अतः उनको बाह्य में निर्ग्रन्थ ही मानना चाहिए ?

दिगम्बर जैन—ऐसी बात है तो लोभ कषाय को छोड़कर अन्य अभ्यंतर परिग्रह का त्याग होने से अन्तरंग में उन्हें निर्ग्रन्थ ही मानना चाहिए ? तुम कहो कि वस्त्र को ग्रहण करने पर भी ममत्व बुद्धि नहीं होने से निर्ग्रन्थता बनी रहेगी ? सो भी बात नहीं है, इस तरह के कथन में विरोध आता है यदि बुद्धिपूर्वक अपनी इच्छा

'बुद्धिपूर्वकं हि हस्तेन पतितवस्त्रमादाय परिदधानोपि तन्मूर्च्छारहितः' इति कश्चेतनः श्रद्दधीत ? तन्वीमाश्लिष्यतोपि तद्रहितत्वप्रसङ्गात् । ततो वस्त्रग्रहणे बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहप्राप्तेर्नैर्ग्रन्थ्यद्वयासम्भवान्न स्त्रीणां मोक्षः । स हि बाह्याभ्यन्तरकारणजन्यः कार्यत्वान्माषपाकादिवत् । तच्च बाह्यमभ्यन्तरं च कारणमाकिञ्चन्यम्, तदभावे कथं स स्यात् ? इति परहेतोरसिद्धेर्नानुमानात् स्त्रीमुक्तिसिद्धिः।

नाप्यागमात्; तन्मुक्तिप्रतिपादकस्यास्याभावात् ।

"पुंवेदं वेदंता जे पुरिसा खवगसेढिमारूढा ।
सेसोदयेण वि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ।।" [ ]

से स्वहस्त से वस्त्र को पहिनता है, गिरे वस्त्र को सम्हालता है, ठीक करता है, ठीक करके पुनः धारण करता है इत्यादि क्रिया करते हुए भी वह वस्त्र की इच्छा से रहित है, ऐसा कौन विश्वास कर सकता है ? यदि ऐसा माना जाय तो साधु स्त्री का आलिंगन करता हुआ भी उसके ममत्व से रहित हैं, ऐसा मानना चाहिए ? अतः निश्चित होता है कि वस्त्र को ग्रहण करने से स्त्रियों को बाह्याभ्यंतर परिग्रह का दोष आता ही है इसलिये स्त्रियों के बाह्याभ्यंतर निर्ग्रन्थपना संभव नहीं होने से मोक्ष नहीं होता है। मोक्ष की प्राप्ति बाह्यकारण और अंतरंग कारण मिलने पर होती है, क्योंकि वह कार्य है, जिस प्रकार उड़द आदि धान्य बाह्याभ्यंतर अग्नि, स्वशक्ति आदि कारण के मिलने पर ही पकते हैं, मोक्ष का कारण तो बाह्य में आकिंचन रहना अर्थात् संपूर्ण वस्त्र, पात्र आदि से रहित होना है और अंतरंग आकिंचन्य रागादि से रहित होना है, ये दोनों आकिंचन्य धर्म स्त्रियों में नहीं हो सकते तो मोक्ष किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है। इस प्रकार परवादी श्वेताम्बर का दिया हुआ "अविकल कारणत्वात्" हेतु असिद्ध होने के कारण अनुमान द्वारा स्त्री मुक्ति सिद्ध नहीं होती है।

आगम से भी स्त्री मुक्ति सिद्ध नहीं होती है क्योंकि स्त्री मुक्ति के प्रतिपादक आगम का अभाव है। पुरुषवेद का अनुभव करने वाले जो पुरुष हैं वे क्षपक श्रेणी पर आरूढ होकर ध्यान लीन होते हुए सिद्ध बन जाते हैं, तथा शेष स्त्रीवेद तथा नपुंसक वेद वाले भी इसी प्रकार मोक्ष जाते हैं ।।१।। यह जो आगम कथित गाथा है इससे भी स्त्रीमुक्ति का प्रतिपादन नहीं होता है, पुरुषवेद के समान अन्य वेदों के उदय होने पर भी पुरुष ही मोक्ष जाते हैं। दोनों जगह पुरुष का संबंध हैं, उदय होता है वह भाव का होता है न कि द्रव्य का।

इत्यादेरप्यागमस्य स्त्रीमुक्तिप्रतिपादकत्वाभावः । स हि पुंवेदोदयवत् शेषवेदोदयेनापि पुंसामेवापवर्गविदक उभयत्रापि 'पुरुषाः' इत्यभिसम्बन्धात् । उदयश्च भावस्यैव न द्रव्यस्य ।

स्त्रीत्वान्यथानुपपत्तेश्चासां न मुक्तिः । आगमे हि जघन्येन सप्ताष्टभिर्भवैः उत्कर्षेण द्वित्रैर्जीवस्य रत्नत्रयाराधकस्य मुक्तिरुक्ता । यदा चास्य सम्यग्दर्शनाराधकत्वम् तत्प्रभृति सर्वासु स्त्रीषूत्पत्तिरेव न सम्भवतीति कथं स्त्रीमुक्तिसिद्धिः ।

ननु चानादिमिथ्यादृष्टिरपि जीवः पूर्वभवनिर्जीर्णाशुभकर्मा प्रथमतरमेव रत्नत्रयमाराध्य भरतपुत्रादिवन्मुक्तिमासादयत्यतः स्त्रीत्वेनोत्पन्नस्यापि मुक्तिरविरुद्धेति; तदप्ययुक्तम्; पूर्वं निर्जीर्ण-

---

भावार्थः— स्त्रीवेद आदि मोहनीय कर्म के होने पर जीव के भाव स्त्रीरूप आदि होते हैं मोहनीय का उदय भावों की सृष्टि करता है स्त्री के शरीराकार या पुरुष के शरीराकार बनना तो नामकर्म के आधीन है अतः द्रव्यवेद नामकर्म का कार्य है, किंतु जो बाह्य में पुरुष रूप द्रव्यवेद वाले हैं, और अंतरंग में स्त्रीवेद के उदय का अथवा पुरुषवेद के उदय का अनुभव कर रहे हैं ऐसे पुरुष ही क्षपक श्रेणी पर चढ़कर मोक्ष को प्राप्त करते हैं । जो बाह्य में स्त्रीरूप शरीर वाले हैं या नपुंसकरूप शरीर वाले हैं अर्थात् द्रव्यस्त्री और द्रव्य नपुंसक हैं वे मनुष्य मोक्ष नहीं जा सकते । जहां भी स्त्रीवेद के उदय वाले मोक्ष जाते हैं ऐसा कथन है वहां स्पष्टतया मोहनीय का उदय संबंधित है, क्योंकि भाव तो मोह कर्म से होते हैं । स्त्रियो में स्त्रीत्व अवश्य रहता है अतः उनके मोक्ष नहीं हो सकता है । आगम में रत्नत्रय की आराधना करने वाले जीव जघन्य से सात आठ भवों में और उत्कृष्टता से दो तीन भवों में मोक्ष जाते हैं, ऐसा कहा है, जब से यह जीव मात्र सम्यग्दर्शन की आराधना करता है तब से किसी भी स्त्री पर्याय में (देवी, मनुष्यनी, तिर्यचनी में) उत्पन्न ही नहीं होता है, जब सम्यग्दृष्टि के स्त्रीपर्याय होना संभव नहीं है तो मुक्ति कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती ।

श्वेतांबर— जिसने पूर्व भव में अशुभ कर्मों को निर्जीर्ण कर दिया है ऐसा कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव है वह पहली बार ही रत्नत्रय की भावना कर भरत चक्रवर्ती के पुत्रों के समान मुक्ति को प्राप्त करता है ऐसे जीव के स्त्रीपने से उत्पन्न होने पर भी मुक्ति होना अविरुद्ध है ?

शुभकर्मणः स्त्रीवेदेनोत्पत्तेरसम्भवात्, तस्याप्यशुभकर्मत्वेन निर्जीर्णत्वात्। कथं पुनः स्त्रीवेदस्याशुभकर्मत्वमिति चेत्; सम्यग्दर्शनोपेतस्य तत्त्वेनोत्पत्तेरयोगात्।

ततो नास्ति स्त्रीणां मोक्षः पुरुषादन्यत्वात् नपुंसकवत्। अन्यथाऽस्याप्यसौ स्यात्। न चैतद्वाच्यम्–नास्ति पुंसो मोक्षः स्त्रीतोन्यत्वात् नपुंसकवत्; उभयवादिसम्मतागमेन बाधितत्वात्, भवदागमस्य चास्मान्प्रति अप्रमाणत्वात्।

तथा स्त्रीणां मोक्षो नास्ति उत्कृष्टध्यानफलत्वात् सप्तमपृथ्वीगमनवत्। अतोपि न तासां मुक्तिसिद्धिः। ततोऽनन्तचतुष्टयस्वरूपलाभलक्षणो मोक्षः पुरुषस्यैवेति प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्।

दिगम्बर—यह कथन अयुक्त है, जिसके पूर्व में अशुभ का नाश हुआ है वह जीव स्त्रीपर्याय में उत्पन्न ही नहीं होता है, क्योंकि स्त्रीवेद एक अशुभकर्म है वह भी अशुभ कर्म के साथ निर्जीर्ण हो जाता है। स्त्रीवेद को अशुभकर्म क्यों कहते हैं? ऐसा प्रश्न होवे तो उसका उत्तर यह है कि सम्यग्दृष्टि स्त्रीवेद को लेकर उत्पन्न नहीं होता है इसी से निश्चित होता है कि स्त्रीवेद अशुभ है।

इस प्रकार स्त्रियों के मोक्ष नहीं होता है क्योंकि वह पुरुषवेद से अन्यवेद युक्त है। जैसे नपुंसक। इस अनुमान द्वारा स्त्रीमुक्ति का निषेध हो जाता है। यदि स्त्रियों को मोक्ष होना मानते हैं तो नपुंसक के भी मानना पड़ेगा। कोई कहे कि पुरुष के मोक्ष नहीं होता, क्योंकि वह स्त्री से अन्यरूप है, जैसे नपुंसक के नहीं होता है? सो यह कथन सर्वथा विपरीत है यह अनुमान उभयवादी में (श्वेतांबर और दिगम्बरों में) प्रसिद्ध आगम द्वारा बाधित है, श्वेताम्बर का जो आगम स्त्रीमुक्ति का प्रतिपादन करता है वह हमारे लिये अप्रमाणभूत है अतः उससे स्त्रीमुक्ति की सिद्धि नहीं होती है। अनुमान प्रमाण से पुनः सिद्ध करते हैं कि स्त्रियों के मोक्ष नहीं होता है, क्योंकि वह उत्कृष्ट ध्यान का फल है स्त्रियों के उत्कृष्ट ध्यान नही होता है, जैसे सातवें नरक में गमन नहीं होता है। इस अनुमान से स्त्रीमुक्ति का निषेध हो जाता है। इसलिये बुद्धिमान मनुष्यों को अनंत चतुष्टयत्वरूप का लाभ होता है लक्षण जिसका ऐसा मोक्ष पुरुषों को ही होता है अन्य को नहीं, ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार स्त्रीमुक्ति का निषेध सिद्ध हुआ। साथ ही प्रत्यक्ष परिच्छेद नामा दूसरा परिच्छेद भी समाप्त होता है। अंत में उपसंहाररूप श्लोक कहते हैं।

मुख्यं सांव्यवहारिकं च गदितं भानुप्रदीपोपमम्,
प्रत्यक्षं विशदस्वरूपनियतं साकल्यवैकल्यतः ।
निर्बाधं नियतस्वहेतुजनितं मिथ्येतरैः कल्पितम्,
तल्लक्ष्मेति विचारचारुधिषणैश्चेतस्यलं चिन्त्यताम् ॥१॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रविरचिते प्रमेयकमलमार्त्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे
द्वितीयः परिच्छेदः समाप्तः ॥२॥

मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष ऐसे प्रत्यक्ष के दो भेद इस अध्याय में कहे गये हैं, मुख्य प्रत्यक्षप्रमाण सूर्य के समान पदार्थों का प्रकाशक है, पूर्णरूप से विशद है, निर्बाध है, अपने सामग्री विशेष से उत्पन्न होता है । तथा सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण दीपक के समान पदार्थों का प्रकाशक है । एकदेशविशद, निर्बाध, इंद्रियादि से जनित है । अन्य परवादी के द्वारा परिकल्पित प्रत्यक्षादि प्रमाणों का लक्षण सिद्ध नहीं होता है अतः मिथ्या है, इस प्रकार विचार करने में चतुर पुरुष अपने मन में निश्चय करें । अब इस विषय को समाप्त करते हैं । अलं विस्तरेण ।

इस प्रकार श्री प्रभाचंद्राचार्य विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्ड ग्रन्थ का
दूसरा परिच्छेद पूर्ण हुआ ।

स्त्री मुक्ति विचार के खंडन का सारांश

पूर्वपक्ष - पुरुष के ही अनंत चतुष्टय गुणों का लाभ रूप मोक्ष हो ऐसा नहीं है, स्त्री के भी मोक्ष होता है, स्त्रियों के अनंत ज्ञानादि की प्राप्ति रूप मोक्ष का लाभ होता है, क्योंकि उनके अविकल कारणों का सद्भाव है। तथा आगम में स्त्री मुक्ति प्रतिपादक वाक्य मौजूद है—

पुंवेद वेदंता जे पुरिसा खवग सेढि मारूढा ।
सेसोदयेणवि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झंति ।।

अर्थात् पुरुषवेद का अनुभव करते हुए जो पुरुष क्षपक श्रेणी का आरोहण करते हैं तथा अन्य वेदों का अनुभव करते हुए जो जीव ध्यान युक्त होते हैं वे सिद्ध हो जाते हैं। स्त्री वस्त्र धारण करती है अतः उसके मुक्ति नहीं होती ऐसा भी नहीं कहना क्योंकि जिस प्रकार रागादि के अभाव में भी पीछी आदि धारण की जाती है वैसे ही स्त्रियां वस्त्र को धारण करती हैं, तथा शरीर की गर्मी से वायुकायिकादि जीवों का घात न हो इसलिये भी वस्त्र धारण किया जाता है इस प्रकार अनुमान, आगम और युक्ति से स्त्री के मुक्ति की सिद्धि हो जाती है ?

उत्तरपक्ष—यह श्वेताम्बर का मंतव्य ठीक नहीं है. सर्व प्रथम आपने अनुमान से स्त्री मुक्ति का जो समर्थन किया है वह ठीक नहीं है क्योंकि उसका अविकल कारणत्व हेतु असिद्ध है, स्त्रियों के मुक्ति साधक संपूर्ण हेतु की प्राप्ति होना अशक्य है जैसे स्त्रियों के सातवें नरक जाने योग्य पुण्य का परम प्रकर्ष भी नहीं होता है, अतः हेतु असत् ठहरने से उस अनुमान के द्वारा स्त्री मुक्ति सिद्ध नहीं होती, स्त्रियां सातवें नरक नहीं जाती यह बात तो उभय प्रवादी को इष्ट है।

शंका—महिला सातवें नरक के योग्य पाप का प्रकर्ष न करें किंतु मोक्ष होवे तो क्या बाधा है? मोक्ष हेतु का परम प्रकर्ष और सप्तम नरक हेतु का परम प्रकर्ष इनका कोई अविनाभाव नहीं है, यदि मानो तो सप्तम नरक को योग्यता रखने वाले सभी पुरुष मोक्ष जा सकेंगे तथा नपुंसक भी मोक्ष जा सकेंगे ?

उत्तर—मोक्ष हेतु का प्रकर्ष और सप्तम नरक हेतु का प्रकर्ष इनमें विषम व्याप्ति है, जहां मोक्ष हेतु का प्रकर्ष है वहां नरक योग्य पाप के प्रकर्ष की योग्यता

अवश्य है किंतु जहां नरक हेतु का प्रकर्ष है वहां मोक्ष कारण का प्रकर्ष हो और नहीं भी हो ऐसा है।

आपका आगम वाक्य भी स्त्री मुक्ति का प्रतिपादन न करके पुरुषवेदी के मुक्ति का ही प्रतिपादन करता है, अर्थात् पुरुषवेद का अनुभव करते हुए और अन्य वेदों का अनुभव करते हुए जीव श्रेणी चढ़कर मोक्ष जाते हैं ऐसा जो वाक्य है उसका अर्थ यह है कि चाहे जिस वेद का उदय हो उस वेद के उदय से सहित पुरुष ही श्रेणी आरोहण कर सिद्ध होते हैं। तथा आपकी स्त्री मुक्ति के लिये दी गई युक्तियां असत्य हैं, जैसे पीछी आदि जीव रक्षा के लिये सहायक है वैसे वस्त्र नहीं हैं उल्टे उसमें अनेक जीवों का घात होता है। वस्त्र को धोना, सुखाना, फटकारना, समेटना इत्यादि क्रियाओं में हिंसा होती है, याचना वृत्ति भी होगी। जब अति उच्च श्रेणी का परम नैर्ग्रन्थ होता है तब पीछी आदि का भी त्याग होता है तो वस्त्र की बात ही क्या? यदि कहे कि संयमी को वस्त्र धारण में राग नहीं होता सो असंभव है, बुद्धिपूर्वक हाथ से ओढना आदि करते हुए भी उस पर राग नही है ऐसा माने तो स्त्रियों का आलिंगन आदि करते हुए भी राग नहीं है ऐसा भी मानना होगा, इस तरह तो आप और वैशेषिकादि में कुछ भी अंतर नहीं रहेगा (क्योंकि वे भी स्त्री वस्त्रादि से युक्त होकर मोक्ष होना मानते हैं)

तथा जब सम्यग्दर्शन होने के अनन्तर यह जीव स्त्री पर्याय में जन्म नहीं लेता है तो मोक्ष कैसे जायगा? अनादि मिथ्यादृष्टि के कर्मोपशम होने पर स्त्री अवस्था में ही कर्म काट मोक्ष जाने की बात कहना हास्यास्पद है क्योंकि यदि अनादि मिथ्यादृष्टि के कर्म का उपशम हुआ है तो उसका स्त्री पर्याय में जन्म ही नही होगा, स्त्रियों के उत्कृष्ट ध्यान भी नहीं होता है, संयम भी अच्छी तरह नहीं पलता वह स्वभाव से ही भीरु रहती है इत्यादि अनेक युक्तियों से स्त्री मुक्ति का निरसन हो जाता है।

तृतीय खण्ड

३
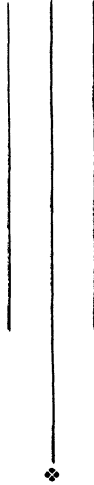
अथ तृतीयः परोक्षपरिच्छेदः

अथेदानीं परोक्षप्रमाणस्वरूपनिरूपणाय—

परोक्षमितरत् ॥१॥

इत्याह। प्रतिपादितविशदस्वरूपविज्ञानाद्यदन्यदऽविशदस्वरूपं विज्ञानं तत्परोक्षम्। तथा च प्रयोगः—अविशदज्ञानात्मकं परोक्षं परोक्षत्वात्। यन्नाऽविशदज्ञानात्मकं तन्न परोक्षम् यथा मुख्येतरप्रत्यक्षम्, परोक्षं चेदं वक्ष्यमाणं विज्ञानम्, तस्मादविशदज्ञानात्मकमिति।

तन्निमित्तप्रकारप्रकाशनाय प्रत्यक्षेत्याद्याह—

प्रत्यक्षादिनिमित्तं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम् ॥२॥

अब यहां पर श्री माणिक्यनंदी आचार्य परोक्ष प्रमाण के स्वरूप का सूत्रबद्ध निरूपण करते हैं—

"परोक्षमितरत्"

सूत्रार्थ—पहले प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण कहा था उससे पृथक् लक्षण वाला परोक्ष प्रमाण होता है। विशद ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा प्रतिपादन कर चुके हैं—उससे अन्य अर्थात् अविशद ज्ञान परोक्ष प्रमाण है। इसी को अनुमान प्रयोग द्वारा बतलाते हैं—परोक्ष प्रमाण अविशद ज्ञान रूप है, क्योंकि वह परोक्ष है, जो अविशद ज्ञान रूप नहीं है वह परोक्ष नहीं कहलाता जैसे—मुख्य प्रत्यक्ष और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण, परोक्ष नहीं कहलाता है यह वक्ष्यमाण ज्ञान परोक्ष है, अतः अविशद-ज्ञान रूप है। उस परोक्ष प्रमाण के कारण और भेद अग्रिम सूत्र में कहते हैं—"प्रत्यक्षादि निमित्तं स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्कानुमानागम भेदम्" ॥२॥

प्रत्यक्षादिनिमित्तं यस्य, स्मृत्यादयो भेदा यस्य तथोक्तम्। तत्र स्मृतेस्तावत्संस्कारेत्यादिना कारणस्वरूपे निरूपयति—

संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ॥३॥

संस्कारः सांव्यवहारिकप्रत्यक्षभेदो धारणा। तस्योद्बोधः प्रबोधः। स निबन्धनं यस्याः तदित्याकारो यस्याः सा तथोक्ता स्मृतिः।

विनेयानां सुखावबोधार्थं दृष्टान्तद्वारेण तत्स्वरूपं निरूपयति—

यथा स देवदत्त इति ॥४॥

यथेत्युदाहरणप्रदर्शने। स देवदत्त इति। एवंप्रकारं तच्छब्दपरामृष्टं यद्विज्ञानं तत्सर्वं स्मृतिरित्यवगन्तव्यम्। न चासावप्रमाणं संवादकत्वात्। यत्संवादकं तत्प्रमाणं यथा प्रत्यक्षादि, संवादिका च स्मृतिः, तस्मात्प्रमाणम्।

सूत्रार्थ—जिसमें प्रत्यक्ष प्रमाण आदिक निमित्त हैं वह परोक्ष प्रमाण है। इसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, व आगम ऐसे पांच भेद हैं। अब इन भेदों का वर्णन करते हुए सबसे पहले स्मृति प्रमाण का कारण तथा स्वरूप बतलाते हैं—

"संस्काराद्बोध निबंधना तदित्याकारा स्मृतिः" ॥३॥

सूत्रार्थ—जो ज्ञान संस्कार से होता है जिसमें "वह" इस प्रकार का आकार (प्रतिभास) रहता है वह स्मृति प्रमाण है। संस्कार का अर्थ धारणा ज्ञान है जो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का भेद है, उस धारणा ज्ञान का उद्बोध होना स्मृति है।

यहां पर शिष्यों को सरलता से समझ में आने के लिये दृष्टांत द्वारा स्मृति का स्वरूप बतलाते हैं— "सः देवदत्तो यथा" ॥४॥

सूत्रार्थ—यथा "वह देवदत्त" इस प्रकार का प्रतिभास होना स्मृति है। सूत्र में "यथा" शब्द उदाहरण का प्रदर्शन करता है। "वह देवदत्त" इस प्रकार का तत् शब्द का परामर्श करने वाला जो ज्ञान है वह सब स्मृति रूप है ऐसा समझना। यह ज्ञान अप्रमाण नहीं है क्योंकि संवादक है। जो ज्ञान संवादक होता है वह प्रमाण है जैसे— प्रत्यक्षादि ज्ञान है। स्मृति भी संवादक है अतः प्रमाण है।

ननु कोयं स्मृतिशब्दवाच्योर्थः—ज्ञानमात्रम्, अनुभूतार्थविषयं वा विज्ञानम्? प्रथमपक्षे प्रत्यक्षादेरपि स्मृतिशब्दवाच्यत्वानुषङ्गः। तथा च कस्य दृष्टान्तता? न खलु तदेव तस्यैव दृष्टान्तो भवति। द्वितीयपक्षेपि देवदत्तानुभूतार्थे यज्ञदत्तादिज्ञानस्य स्मृतिरूपताप्रसङ्गः। अथ 'येनैव यदेव पूर्वमनुभूतं वस्तु पुनः कालान्तरे तस्यैव तत्रैवोपजायमानं ज्ञानं स्मृतिः' इत्युच्यते ननु 'अनुभूते जायमानम्' इत्येतत् केन प्रतीयताम्? न तावदनुभवेन; तत्काले स्मृतेरेवासत्त्वात्। न चासती विषयीकर्त्तुं शक्या। न चाविषयीकृता 'तत्रोपजायते' इत्यधिगतिः। न चानुभवकालेऽर्थस्यानुभूततास्ति, तदा तस्यानुभूयमानत्वात्, तथा च 'अनुभूयमाने स्मृतिः' इति स्यात्। अथ 'अनुभूते स्मृतिः' इत्येतत्स्मृतिरेव प्रतिपद्यते; न; अनयाऽतीतानुभवार्थयोरविषयीकरणे तथा प्रतीत्ययोगात्। तद्विषयीकरणे वा निखिलातीतविषयीकरणप्रसङ्गोऽविशेषात्। यदि चानुभूतता प्रत्यक्षगम्या स्यात्; तदा स्मृतिरपि जानीयात्

सौगत—स्मृति शब्द का वाच्य अर्थ क्या है? ज्ञान मात्र को स्मृति कहते हैं तो प्रत्यक्षादि प्रमाण भी स्मृति शब्द के वाच्य होवेंगे फिर उपर्युक्त अनुमान में दृष्टांत किसका होगा? वही उसका दृष्टान्त तो नहीं हो सकता। दूसरा पक्ष—अनुभूत विषय वाले ज्ञान को स्मृति कहते हैं ऐसा कहे तो देवदत्त के द्वारा अनुभूत विषय में यज्ञदत्त आदि के ज्ञान को स्मृतिपना होने का प्रसंग आयेगा। यदि कहें कि जिसके द्वारा जो विषय पूर्व में अनुभूत हैं पुनः कालान्तर में उसी का उसी में ज्ञान उत्पन्न होना स्मृति है सो यह कथन असत् है "अनुभूत में उत्पन्न हुआ है" इस तरह से किसके द्वारा प्रतीत होगा? अनुभव द्वारा तो नहीं हो सकता, क्योंकि उस वक्त स्मृति का ही असत्व है, जो नहीं है उसको विषय नहीं कर सकते और अविषय के बारे में उसमें "उत्पन्न होती है" ऐसा निश्चय नहीं कर सकते। तथा वस्तु के अनुभवन काल में वस्तु की अनुभूतता नहीं होती किंतु उस समय उसकी अनुभूयमानता होती है। जब ऐसी बात है तो अनुभूयमान म स्मृति होती है ऐसा मानना होगा।

"अनुभूत विषय में स्मृति होती है" इस बात का निश्चय तो स्वयं स्मृति ही कर लेती है ऐसा कहो तो गलत है क्योंकि स्मृति के द्वारा अतीतार्थ और अनुभवार्थ का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि वैसा प्रतीत नहीं होता है। तथा यदि स्मृति अतीतार्थ और अनुभवार्थ को ग्रहण करती है तो सम्पूर्ण अतीत विषयों को ग्रहण करने का प्रसंग आता है क्योंकि उक्त विषय में अतीतपने की अविशेषता है। तथा यदि अनुभूतपना प्रत्यक्षगम्य होता तो स्मृति भी जान सकती है कि "मैं अनुभूत विषय में उत्पन्न हुई हूँ,

'अहमनुभूते समुत्पन्ना' इति अनुभवानुसारित्वात्तस्याः। न चासौ प्रत्यक्षगम्येत्युक्तम्; इत्यप्यसमीक्षिताभिधानम्; स्मृतिशब्दवाच्यार्थस्य प्रागेव प्ररूपितत्वात्। 'तदित्याकारानुभूतार्थविषया हि प्रतीतिः स्मृतिः' इत्युच्यते।

ननु चोक्तमनुभूते स्मृतिरित्येतन्न स्मृतिप्रत्यक्षाभ्यां प्रतीयते; तदप्यपेशलम्; मतिज्ञानापेक्षेणात्मना अनुभूयमानाऽनुभूतार्थविषयतायाः स्मृतिप्रत्यक्षाकारयोश्चानुभवसम्भवात् चित्राकारप्रतीतिवत् चित्रज्ञानेन। यथा चाशक्यविवेचनत्वाद् युगपच्चित्राकारतैकस्याविरुद्धा, तथा क्रमेणापि अवग्रहेहावायधारणास्मृत्यादिचित्रस्वभावता। न च प्रत्यक्षेणानुभूयमानतानुभवे तदैवार्थेऽनुभूततायाअप्यनुभवोऽनुषज्यते; स्मृतिविशेषणापेक्षत्वात्तत्र तत्प्रतीतेः, नीलाद्याकारविशेषणापेक्षया ज्ञाने चित्रप्रतिपत्तिवत्।

क्योंकि स्मृति अनुभव के अनुसार हुआ करती है किन्तु अनुभूतता प्रत्यक्ष गम्य नहीं है। (इस प्रकार स्मृति ज्ञान प्रमाणभूत सिद्ध नहीं होता है)

जैन—यह सारा कथन बिना सोचे किया है, स्मृति शब्द का वाच्यार्थ पहले ही बता चुके हैं कि "वह" इस प्रकार का प्रतिभास जिसमें हो वह अनुभूत विषय वाली प्रतीति ही स्मृति कहलाती है।

शंका—"अनुभूत अर्थ में स्मृति होती है" ऐसा स्मृति और प्रत्यक्ष के द्वारा प्रतीत नहीं होता है।

समाधान—यह बात ठीक नहीं है। जिसमें मतिज्ञान की अपेक्षा है ऐसे आत्मा के द्वारा अनुभूय विषय और अनुभूतार्थ विषय का प्रत्यक्ष तथा स्मृति के आकार से अनुभव होना संभव है। जैसे—चित्र ज्ञान के द्वारा चित्राकारों का प्रतिभास होना संभव है। जिस प्रकार आप बौद्ध के यहां अशक्य विवेचन होने से एक ज्ञान की एक साथ चित्राकारता होना अविरुद्ध हैं उसी प्रकार क्रम से भी अवग्रहज्ञान, ईहाज्ञान, अवायज्ञान, धारणाज्ञान, स्मृतिज्ञान इत्यादि विचित्र ज्ञानों का एक आत्मा में होना अविरुद्ध है। कोई कहे कि प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूय मानता अनुभव में आने के साथ उसी वक्त पदार्थ में अनुभूतता का भी अनुभव हो जाना चाहिए, सो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि उस अनुभूतता में स्मृति विशेषण की अपेक्षा होती है, उससे ही अनुभूतता की प्रतीति होती है, जैसे नीलादि आकाररूप विशेषण की अपेक्षा से ज्ञान में चित्र की प्रतिपत्ति होती है।

न चानुभूतार्थविषयत्वे स्मृतेर्गृहीतग्राहित्वेनाऽप्रामाण्यम्; [प]रिच्छित्तिविशेषसम्भवात्। न खलु यथा प्रत्यक्षे विशदाकारतया वस्तुप्रतिभासः तथैव स्मृतौ तत्र तस्या (तस्य) वैशद्याऽप्रतीतेः। पुनः पुनर्भावयतो वैशद्यप्रतीतिस्तु भावनाज्ञानम्, तच्च तद्रूपतया भ्रान्तमेव स्वप्नादिज्ञानवत्। तथाप्यनुभूतार्थविषयत्वमात्रेणास्याः प्रामाण्यानभ्युपगमे अनुमानेनाधिगतेऽग्नौ यत्प्रत्यक्षं तदप्यप्रमाणं स्यात्। असत्यतीतेर्थे प्रवर्त्तमानत्वात्तदप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि तत्प्रसङ्गः, तदर्थस्यापि तत्कालेऽसत्त्वात्। तज्जन्मादेस्तत्रास्य प्रामाण्ये स्मरणेपि तदस्तु। निराकृत चार्थजन्मादि ज्ञानस्य प्रागेवेति कृतं प्रयासेन।

स्मृति प्रमाण अनुभूत विषय को जानता है अतः गृहीत ग्राही होने से अप्रमाणभूत है ऐसा भी नहीं समझना। क्योंकि इसमें परिच्छित्ति विशेष संभव है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष में विशदरूप से वस्तु का प्रतिभास होता है उस प्रकार स्मृति में नहीं होता है, उसमें तो वस्तु का अविशदरूप प्रतिभास होता है।

पुनः पुनः भावना करने वाले मनुष्य को यदि किसी विषयमें विशदता प्रतीत होती है तो वह भावना ज्ञान है स्मृति ज्ञान नहीं है, भावना ज्ञान तो उस रूप से भ्रांत ही है जैसे स्वप्न ज्ञान भ्रान्त है। स्मृति स्वप्न ज्ञान या भावना ज्ञानके समान भ्रांत नही होती, तो भी अनुभूत विषय वाली होने मात्र से इसका प्रामाण्य स्वीकार न किया जाय तो जो अनुमान द्वारा अनुभूत हुई अग्निमें प्रवृत्ति करने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान को अप्रमाण मानने का प्रसंग आयेगा। असद्भूत अतीत पदार्थ में प्रवृत्तमान होने से स्मृति अप्रमाण है, ऐसा कहे तो प्रत्यक्ष को भी अप्रमाणता का प्रसंग आता है क्योंकि उसके विषयभूत पदार्थ का भी तत्काल में (बौद्धमत की अपेक्षा) असत्व है। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष ज्ञान उसी पदार्थ में उत्पन्न हुआ है, उसी के आकार का है अतः प्रमाण है तो यही बात स्मरण में भी होवे। किन्तु ज्ञान का पदार्थ से उत्पन्न होना आदिका पूर्व में ही निराकरण हो चुका है अतः इस विषय में अधिक कहने से बस हो। स्मृति का अविसंवादकपना असिद्ध भी नहीं है क्योंकि स्वयं के द्वारा स्थापित किये निक्षेप (धन) आदि में उसके ग्रहण करने पर प्राप्तिरूप प्रत्यक्ष प्रमाणांतर से स्मृति का अविसंवादकपना सिद्ध होता है। जहां विसंवाद होता है वह स्मरणाभास कहलाता है जैसे—प्रत्यक्षाभास होता है तथा यदि स्मृति को अप्रमाण मानते हैं तो अनुमान की प्रवृत्ति किस प्रकार होवेगी? क्योंकि स्मृति के अभाव में साध्य साधन के अविनाभाव संबंध की सिद्धि नहीं हो सकती। अविनाभावी संबंध की स्मृति हुए बिना अनुमान प्रमाण उदित नहीं हो

न चाविसंवादकत्वं स्मृतेरसिद्धम्; स्वयं स्थापितनिक्षेपादौ तद्गृहीतार्थे प्राप्तिप्रमाणान्तर-प्रवृत्तिलक्षणाविसंवादप्रतीतेः। यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा प्रत्यक्षाभासवत्। विसंवादकत्वे चास्याः कथमनुमानप्रवृत्तिः सम्बन्धस्यातोऽप्रसिद्धेः? न च सम्बन्धस्मृतिमन्तरेणानुमानमुदेत्यति-प्रसङ्गात्।

किञ्च, सम्बन्धाभावात्तस्याः विसंवादकत्वम्, कल्पितसम्बन्धविषयत्वाद्वा, सतोप्यस्याऽनया विषयीकर्त्तु मशक्यत्वाद्वा? प्रथमपक्षे कुतोऽनुमानप्रवृत्तिः? अन्यथा यतः कुतश्चित्सम्बन्धरहिताद्यत्र क्वचिदनुमानं स्यात्। कल्पितसम्बन्धविषयत्वेनास्याः विसंवादित्वे दृश्यप्राप्यैकत्वे प्राप्यविकल्प्यैकत्वे

सकता, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। बौद्ध स्मृति को विसंवादक मानते हैं सो उसका कारण क्या है? साध्य साधन के संबंध का अभाव है इसलिये? अथवा कल्पित संबंध को विषय करने से, या संबंध के रहते हुए भी स्मृति द्वारा इसको विषय करना अशक्य होने से? प्रथम पक्ष कहो तो अनुमान की प्रवृत्ति किससे होवेगी? बिना संबंध के अनुमान प्रवृत्ति करेगा तो जिस किसी संबंध रहित हेतु से जहां चाहे वहां प्रवृत्ति कर सकेगा। कल्पित संबंध को स्मृति विषय करती है अतः विसंवादक है ऐसा दूसरा पक्ष कहे तो भी ठीक नही क्योंकि इस तरह मानें तो दृश्य (स्वलक्षण) और प्राप्य में एकत्व रूप कल्पित संबंध को विषय करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण तथा प्राप्य और विकल्प में एकत्वरूप कल्पित संबंध को विषय करने वाला अनुमान प्रमाण अविसंवादक नहीं रहेगा।

भावार्थ—बौद्ध मतानुसार प्रत्येक वस्तु क्षणिक है, उस क्षणिक वस्तु का जो स्वरूप है उसे स्वलक्षण कहते हैं, स्वलक्षण को दृश्य भी कहते हैं, प्राप्त करने योग्य वस्तु को प्राप्य कहते हैं, प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय दृश्य है, वह क्षणिक होने के कारण प्राप्ति के समय तक नहीं रहता, फिर भी दृश्य और प्राप्य में एकत्व की कल्पना करके उस विषय को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण में अविसंवादकपना माना जाता है, इसी प्रकार प्राप्य और विकल्प में एकत्व की कल्पना करके उस विषय को ग्रहण करने वाले अनुमान में अविसंवादपना माना जाता है, इस तरह बौद्धमत में कल्पित संबंध को ग्रहण करने वाले ज्ञान को प्रमाणभूत स्वीकार किया है, अतः स्मृति ज्ञान को कल्पित संबंध को विषय करने वाला होने से विसंवादक है ऐसा कहना गलत है, अन्यथा उनके अभीष्ट प्रत्यक्षादि प्रमाण में भी विसंवादकपना सिद्ध होगा।

च प्रत्यक्षानुमानयोरविसंवादो न स्यात्। तत्सम्बन्धस्य कल्पितत्वे च अनुमानमप्येवंविधमेव स्यात्। तथा च कथमतोऽभीष्टतत्त्वसिद्धिः? अथ सन्नपि सम्बन्धोऽनया विषयीकर्तुं न शक्यते, यत्तु विषयीक्रियते सामान्यं तस्याऽसत्त्वात् स्मृतेर्विसंवादित्वम्; तदेतदनुमानेपि समानम्। अध्यवसितस्वलक्षणाव्यभिचारित्वं स्मृतावपि।

किञ्च, लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धः सत्तामात्रेणानुमानप्रवृत्तिहेतुः, तद्दर्शनात्, तत्स्मरणाद्वा? तत्राद्यविकल्पे नालिकेरद्वीपायातस्याप्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्यापि धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिः स्यात्। न चाविज्ञातः सम्बन्धोस्ति उपलम्भनिबन्धनत्वात्सद्व्यवहारस्य, अन्यथातिप्रसङ्गात्। तद्दर्शनमात्रेण

तथा स्मृति के द्वारा गृहीत संबंध को कल्पित माना जायगा तो अनुमान भी इसी प्रकार का सिद्ध होगा, फिर कल्पित विषय वाले उस अनुमान से अभीष्ट तत्व की सिद्धि किस प्रकार हो सकेगी?

बौद्ध—संबंध सद्रूप है किन्तु स्मृति द्वारा इसको विषय करना शक्य नहीं, स्मृति द्वारा जिसको विषय किया जाता है, वह सामान्य है और सामान्य असत्वरूप माना गया है, अतः स्मृति में विसंवादकपना सिद्ध होता है?

जैन—यह सब कथन अनुमान में भी घटित होता है, अर्थात् अनुमान द्वारा विद्यमान स्वलक्षण का विषय करना अशक्य है, उसके द्वारा तो सामान्य को विषय किया जाता है, और सामान्य असत्वरूप होता है अतः अनुमान भी विसंवादक सिद्ध होता है।

बौद्ध—प्रत्यक्ष द्वारा जाने गये स्वलक्षण के साथ अव्यभिचारीपना होने से अनुमान को विसंवाद रहित मानते हैं?

जैन—यही बात स्मृति के विषय में है, अर्थात् स्मृति भी प्रत्यक्ष के विषय के साथ अव्यभिचारी है अतः वह भी विसंवाद रहित है।

किंच, साध्य साधन के संबंध का सत्ता रूप रहना मात्र अनुमान प्रवृत्ति का हेतु है, अथवा इस संबंध को देखने से अनुमान की प्रवृत्ति होती है अथवा उस संबंध के स्मरण से अनुमान की प्रवृत्ति होती है? प्रथम विकल्प माने तो जिसने अग्नि और धूम का संबंध नहीं जाना है ऐसे नालिकेर द्वीप से आये हुए पुरुष को भी धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान हो जाना चाहिये, किन्तु ऐसा होता तो नहीं। तथा संबंध अविज्ञात नहीं होता, क्योंकि अस्तित्व का व्यवहार उपलब्धि के निमित्त से ही हुआ करता है।

तत्प्रवृत्तौ बालावस्थायां प्रतिपन्नाग्निधूमसम्बन्धस्य पुनर्वृद्धदशायां धूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिप्रसङ्गः, न चैवम्। तत्स्मृतावस्त्येवेति चेत्; कथं नासौ प्रमाणम्? को हि स्मृतिपूर्वकमनुमानमभ्युपगम्य पुनस्तां निराकुर्यात्? अनुमानस्याऽपि निराकरणानुषङ्गात्। न खलु कारणाभावे कार्योत्पत्तिर्नामाऽतिप्रसङ्गात्।

समारोपव्यवच्छेदकत्वाच्चास्याः प्रामाण्यमनुमानवत्। न च स्मृतिविषयभूते सम्बन्धादौ समारोपस्यैवासम्भवात् कस्य व्यवच्छेद इत्यभिधातव्यम्; साधर्म्यदृष्टान्ताभिधानानर्थक्यप्रसङ्गात्। तत्र स्मृतिहेतुभूतं हि तत्, अन्यथा हेतुरेव केवलोभिधीयेत। ततस्तदभिधानान्यथानुपपत्तेस्तद्विषयभूते सम्बन्धादौ विस्मरणसंशयविपर्यासलक्षणः समारोपोस्तीत्यवगम्यते। तन्निराकरणाच्चास्याः प्रामाण्यमिति।

अन्यथा अतिप्रसंग होगा साध्य साधन के संबंध को देखने मात्र से अनुमान की प्रवृत्ति होती है। ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो बाल अवस्था में जिसने धूम और अग्नि का संबंध जाना है ऐसे पुरुष के वृद्ध अवस्था आने पर धूम देखने से अग्नि का ज्ञान हो जाने का प्रसंग आता है, किन्तु इस प्रकार नहीं होता है। तुम कहो कि उस पुरुष को यदि बाल्यावस्था का धूम-अग्नि का संबंध स्मृति में रहता है तो अग्नि का ज्ञान हो जाता है सो स्मृति प्रमाणभूत कैसे नहीं कहलायेगी? ऐसा कौन बुद्धिमान व्यक्ति है कि जो स्मृतिपूर्वक होने वाले अनुमान को स्वीकार करे और स्मृति का निराकरण करे। यदि करेगा तो अनुमान का भी निराकरण होवेगा। क्योंकि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति मानने में अतिप्रसंग दोष आता है। तथा यह स्मृति ज्ञान समारोप (संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय का) व्यवच्छेदक होने से अनुमान के समान ही प्रामाणिक है।

शंका—स्मृति के विषयभूत संबंधादि में समारोप होना ही असंभव है अतः यह ज्ञान किसका व्यवच्छेद करेगा?

समाधान— ऐसा नहीं कह सकते, यदि स्मृति के विषय में समारोप नही होता तो साधर्म्य दृष्टांत का कथन व्यर्थ होता, क्योंकि अनुमान में साधर्म्य दृष्टांत स्मरण के लिये ही दिया जाता है, अन्यथा केवल हेतु का ही कथन करते। साधर्म्य दृष्टान्त का कथन करने से ही निश्चय होता है कि स्मृति के विषयभूत संबंध में विस्मरण संशय और विपर्यास लक्षण वाला समारोप होता है। और उस समारोप का निराकरण करने वाली होने से स्मृति प्रमाण भूत है ऐसा सिद्ध होता है।

॥ स्मृति प्रामाण्य विचार समाप्त ॥

अथेदानीं प्रत्यभिज्ञानस्य कारणस्वरूपप्ररूपणार्थं दर्शनेत्याद्याह—

दर्शन-स्मरणकारणकं सङ्कलनं प्रत्यभिज्ञानम् ।
तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादि ॥५॥

दर्शनस्मरणे कारणं यस्य तत्तथोक्तम् । सङ्कलनं विवक्षितधर्मयुक्तत्वेन प्रत्यवमर्शनं प्रत्यभिज्ञानम् । ननु प्रत्यभिज्ञायाः प्रत्यक्षप्रमाणस्वरूपत्वात् परोक्षरूपतयात्राभिधानमयुक्तम्; तथाहि— प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञा अक्षान्वयव्यतिरेकानुविधानात् तदन्यप्रत्यक्षवत् । न च स्मरणपूर्वकत्वात्तस्याः प्रत्यक्षत्वाभावः, सत्सम्प्रयोगजत्वेन स्मरणपश्चाद्भावित्वेप्यस्याः प्रत्यक्षत्वाविरोधात् । उक्तं च—

प्रत्यभिज्ञान प्रामाण्य का विचार

अब श्री माणिक्यनंदी आचार्य प्रत्यभिज्ञान का कारण तथा स्वरूप बतलाते हैं ।

दर्शन स्मरण कारणकं संकलनं प्रत्यभिज्ञानं, तदेवेदं, तत् सदृशं तत् विलक्षणं तत् प्रतियोगीत्यादि ॥५॥

सूत्रार्थ—प्रत्यक्ष दर्शन और स्मृति के द्वारा जो जोडरूप ज्ञान होता है उसको प्रत्यभिज्ञान कहते हैं । उसके "वही यह है" "यह उसके समान है" यह "उससे विलक्षण है" यह उसका प्रतियोगी है इत्यादि अनेक भेद हैं । जिस ज्ञान में दर्शन और स्मरण निमित्त पड़ता है वह "दर्शन स्मरण कारणक" कहलाता है । संकलन का अर्थ विवक्षित धर्म से युक्त होकर पुनः ग्रहण होना है ।

मीमांसक— यह प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण रूप है अतः यहां परोक्ष रूप से उसका कथन करना अयुक्त है, अनुमान सिद्ध बात है कि प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप है क्योंकि इसका इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है उससे अन्य जो प्रत्यक्ष है उसमें पाया जाता है । प्रत्यभिज्ञान स्मरण पूर्वक होता है अतः यहां परोक्षरूप से उसका कथन करना अयुक्त है, अनुमान सिद्ध बात है कि प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप है क्योंकि इसका इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक पाया जाता है जैसे उससे अन्य प्रत्यक्ष प्रमाण में इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक देखा जाता है प्रत्यभिज्ञान स्मरण पूर्वक होता है अतः परोक्ष है ऐसा भी नही कहना क्योंकि यह ज्ञान सत् संप्रयोगज है अतः स्मरण के पश्चात् होने पर भी उसमें प्रत्यक्षता मानने में विरोध नहीं आता । [विद्यमान अर्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होना सत् संप्रयोग कहलाता है उससे जो हो उसे सत् संप्रयोगज कहते हैं] कहा भी है जो ज्ञान स्मरण के

"न हि स्मरणतो यत्प्राक् तत् प्रत्यक्षमितीदृशम् ।
वचनं राजकीयं वा लौकिकं वापि विद्यते ॥१॥
न चापि स्मरणात्पश्चादिन्द्रियस्य प्रवर्त्तनम् ।
वार्यते केनचिन्नापि तत्तदानीं प्रदुष्यति ॥२॥
तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात्प्रागूर्ध्वं चापि यत्स्मृतेः ।
विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम् ॥३॥"

[मी० श्लो० सू० ४ श्लो० २३४-२३७]

अनेकदेशकालावस्थासमन्वितं सामान्यं द्रव्यादिकं च वस्त्वस्याः प्रमेयमित्यपूर्वप्रमेयसद्भावः । तदुक्तम्—

"गृहीतमपि गोत्वादि स्मृतिस्पृष्टं च यद्यपि ।
तथापि व्यतिरेकेण पूर्वबोधात्प्रतीयते ॥१॥

पहले हो वही प्रत्यक्ष प्रमाण हो ऐसा लौकिक या राजकीय नियम नहीं है स्मरण के पश्चात् इन्द्रियों के प्रवर्त्तन को किसी के द्वारा रोक दिया जाता हो सो भी बात नहीं है और न उस समय वे दूषित ही होती हैं। इसलिये निश्चय होता है कि जो ज्ञान इन्द्रिय और पदार्थ के संबंध से होता है वह सब प्रत्यक्ष प्रमाण है फिर चाहे वह स्मृति के प्राग्भावी हो चाहे पश्चाद्भावी हो। इस प्रत्यभिज्ञान रूप प्रत्यक्ष का विषय अनेक देश काल अवस्थाओं से युक्त सामान्य और द्रव्यादिक है, अतः इसमें अपूर्व विषयपना भी है। कहा भी है यद्यपि यह प्रत्यभिज्ञान स्मृति के पीछे होता है तथा इसका गोत्वादि विषय भी गृहीत है तथापि यह पूर्व ज्ञान से भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि विभिन्न देश काल आदि के निमित्त से उसमें भेद होता है, पहले जो अंश अवगत था वह अब प्रतीत नहीं हो रहा और इस समय का अस्तित्व पूर्व ज्ञान द्वारा अवगत नहीं हुआ है।

जैन – मीमांसक का यह कथन अयुक्त है, प्रत्यभिज्ञान में इन्द्रियों के साथ अन्वय व्यतिरेक के अनुविधान की असिद्धि है, अन्यथा पहली बार व्यक्ति के देखते समय भी प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति होती।

शंका—प्रथम बार के दर्शन से संस्कार होता है उस संस्कार के प्रबोध से उत्पन्न हुई स्मृति जिसमें सहायक है ऐसी इन्द्रिय पुनः उस वस्तु के देखने पर प्रत्यभिज्ञान को उत्पन्न करती है।

देशकालादिभेदेन तत्रास्त्यवसरो मितेः ।
यः पूर्वमवगतोंशः स न नाम प्रतीयते ॥२॥
इदानीन्तनमस्तित्वं न हि पूर्वधिया गतम् ।"

[मी० श्लो० सू० ४ श्लो० २३२-२३४]

तदप्यसमीचीनम्; प्रत्यभिज्ञानेऽक्षान्वयव्यतिरेकानुविधानस्यासिद्धेः, अन्यथा प्रथमव्यक्तिदर्शनकालेप्यस्योत्पत्तिः स्यात् । पुनर्दर्शने पूर्वदर्शनाहितसंस्कारप्रबोधोत्पन्नस्मृतिसहायमिन्द्रियं तज्जनयति; इत्यप्यसाम्प्रतम्; प्रत्यक्षस्य स्मृतिनिरपेक्षत्वात् । तत्सापेक्षत्वेऽपूर्वार्थसाक्षात्कारित्वाभावः स्यात् ।

देशकालेत्याद्यप्ययुक्तमुक्तम्; यतो देशादिभेदेनाप्यध्यक्षं चक्षुःसम्बंधमेवार्थं प्रकाशयत्प्रतीयते । न च प्रत्यभिज्ञा तं प्रकाशयति पूर्वोत्तरविवर्त्तवर्त्येकत्वविषयत्वात्तस्याः । वर्त्तमानश्चायं चक्षुःसम्बद्धः प्रसिद्धः ।

यदप्युच्यते-स्मरतः पूर्वदृष्टार्थानुसन्धानादुत्पद्यमाना मतिश्चक्षुःसम्बद्धत्वे प्रत्यक्षमिति; तदप्यसारम्; न हीन्द्रियमतिः स्मृतिविषयपूर्वरूपग्राहिणी, तत्कथं सा तत्सन्धानमात्मसात्कुर्यात् ? पूर्वदृष्टसन्धानं हि तत्प्रतिभासनम्, तत्सम्भवे चेन्द्रियमतेः परोक्षार्थग्राहित्वात् परिस्फुटप्रतिभासता न

समाधान—यह कथन ठीक नहीं है इंद्रियज प्रत्यक्ष के स्मृति की अपेक्षा नहीं होती है, यदि प्रत्यक्ष प्रमाण को स्मृति सापेक्ष मानते हैं तो उसमें अपूर्वार्थ के साक्षात्कारीपने का अभाव हो जायगा ।

मीमांसक ने कहा कि देश काल आदि के निमित्त से ज्ञान में भेद होता है सो यह कथन ठीक नही । देश आदि भेद होते हुए भी चक्षु से सम्बद्ध हुए वस्तु को ही प्रत्यक्ष प्रमाण प्रकाशित करता हुआ प्रतीत होता है । किन्तु प्रत्यभिज्ञान उसको प्रकाशित नहीं करता, क्योंकि पूर्वोत्तर पर्यायों में रहने वाला एकत्व उसका विषय है । प्रत्यक्ष का विषय चक्षु से सम्बद्ध वर्तमान रूप होता है यह प्रसिद्ध ही है । मीमांसक के यहां कहा जाता है कि स्मरण करते हुए पुरुष के पहले देखे हुए पदार्थ के अनुसंधान से उत्पद्यमान ज्ञान चक्षु से सम्बद्ध होने पर प्रत्यक्ष कहा जाता है, सो यह कथन भी असार है, इन्द्रिय ज्ञान स्मृति के विषयभूत स्वस्वरूप का ग्राहक नही होता है अतः वह किस प्रकार उस अनुसन्धान को आत्मसात् करेगा ? पूर्व में देखे हुए पदार्थ का अनुसंधान होना उसका प्रतिभासन कहलाता है, उसके होने पर तो इन्द्रियज्ञान परोक्षार्थग्राही हो जाने से उसमें परिस्पष्ट प्रतिभासता नहीं हो सकेगी । तथा यदि

स्यात्। यदि च स्मृतिविषयस्वभावतया दृश्यमानोर्थः प्रत्यक्षप्रत्ययैरवगम्येत तर्हि स्मृतिविषयः पूर्वस्वभावो वर्त्तमानतया प्रतिभातीति विपरीतख्यातिः सर्वं प्रत्यक्षं स्यात्। अव्यवधानेन प्रतिभासनलक्षणवैशद्याभावाच्च न प्रत्यभिज्ञानं प्रत्यक्षम् इत्यलमतिप्रसंगेन।

तच्च तदवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिप्रकारं प्रतिपत्तव्यम्। तदेवोक्तप्रकारं प्रत्यभिज्ञानमुदाहरणद्वारेणाखिलजनावबोधार्थं स्पष्टयति—

यथा स एवायं देवदत्तः ॥६॥

गोसदृशो गवयः ॥७॥

गोविलक्षणो महिषः ॥८॥

इदमस्माद्दूरम् ॥९॥

वृक्षोयमित्यादि ॥१०॥

दृश्यमान वर्त्तमान का पदार्थ स्मृति के विषय के स्वभाव रूप से प्रत्यक्ष ज्ञानों द्वारा अवभासित होता है तो स्मृति के विषयभूत पूर्व स्वभाव वर्तमान रूप से अवभासित होना भी मान सकते हैं, इस प्रकार सभी प्रत्यक्ष विपरीत ख्याति रूप हो जायेंगे। अव्यवधान से प्रतिभासित करना रूप वैशद्य का अभाव होने से भी प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष-प्रमाण रूप सिद्ध नहीं होता है, अब इस विषय पर अधिक नहीं कहते।

इस प्रत्यभिज्ञान के वही यह है, यह उसके समान है, यह उससे विलक्षण है, यह उसका प्रतियोगी है, इत्यादि भेद हैं। अब इन्हीं प्रत्यभिज्ञानों के उदाहरण सभी को समझ में आने के लिये दिये जाते हैं—

यथा स एवायं देवदत्तः, गो सदृशो गवयः, गोविलक्षणो महिषः इदमस्माद् दूरं वृक्षोयमित्यादि ॥६॥

सूत्रार्थ— जैसे वही देवदत्त यह है, गो सदृश रोझ होती है, गो से विलक्षण भैंस होती है, यह इससे दूर है, यह वृक्ष है इत्यादि क्रमशः एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, वैलक्षण्य प्रत्यभिज्ञान, प्रतियोगी प्रत्यभिज्ञान और सामान्य प्रत्यभिज्ञान के उदाहरण समझने चाहिये।

बौद्ध—"यह वही देवदत्त है" इत्यादि प्रत्यभिज्ञान एक ज्ञान रूप नहीं है। "वह" ऐसा उल्लेख तो स्मरण है और "यह" ऐसा उल्लेख प्रत्यक्ष ज्ञान रूप है, इन

ननु स एवायमित्यादि प्रत्यभिज्ञानं नैकं विज्ञानम्-'सः' इत्युल्लेखस्य स्मरणत्वात् 'अयम्' इत्युल्लेखस्य चाध्यक्षत्वात्। न चाभ्यां व्यतिरिक्तं ज्ञानमस्ति यत्प्रत्यभिज्ञानशब्दाभिधेयं स्यात्। नाप्यनयोरैक्यं प्रत्यक्षानुमानयोरपि तत्प्रसंगात्। स्पष्टेतररूपतया तयोर्भेदेऽत्रापि सोऽस्तु; तदसाम्प्रतम्; स्मरणप्रत्यक्षजन्यस्य पूर्वोत्तरविवर्तवर्त्त्येकद्रव्यविषयस्य संकलनज्ञानस्यैकस्य प्रत्यभिज्ञानत्वेन सुप्रतीतत्वात्। न खलु स्मरणमेवातीतवर्त्तमानविवर्त्तवर्तिद्रव्यं संकलयितुमलं तस्यातीतविवर्त्तमात्रगोचरत्वात्। नापि दर्शनम्; तस्य वर्तमानमात्रपर्यायविषयत्वात्। तदुभयसंस्कारजनितं कल्पनाज्ञानं तत्संकलयतीति कल्पने तदेव प्रत्यभिज्ञानं सिद्धम्।

प्रत्यभिज्ञानानभ्युपगमे च 'यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकम्' इत्याद्यनुमानवैयर्थ्यम्। तद्ध्येकत्वप्रतीतिनिरासार्थम् न पुनः क्षणक्षयप्रसिद्धयर्थं तस्याध्यक्षसिद्धत्वेनाभ्युपगमात्। समारोपनिषेधार्थं तत्;

दोनों से अतिरिक्त अन्य ज्ञान नहीं है जो प्रत्यभिज्ञान शब्द का अभिधेय हो, इस स्मृति और प्रत्यक्ष को एक रूप भी नहीं मान सकते है अन्यथा प्रत्यक्ष और अनुमान में भी एकत्व मानना होगा। प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रतिभास वाला है और अनुमान अस्पष्ट प्रतिभास वाला है अतः इनमें भेद सिद्ध होता है ऐसा कहो तो यही बात स्मरण और प्रत्यक्ष में है। अर्थात् स्मरण अस्पष्ट प्रतिभास वाला और प्रत्यक्ष स्पष्ट प्रतिभास वाला होने से इनमें भेद ही है।

जैन—यह कथन ठीक नही है, जो स्मरण और प्रत्यक्ष से उत्पन्न होता है, पूर्वोत्तर पर्यायों में व्यापी एक द्रव्य जिसका विषय है ऐसा जोड़ रूप प्रत्यभिज्ञान भली भांति प्रतीति में आता है। स्मरण ज्ञान अतीत और वर्तमान पर्यायों में रहने वाले द्रव्य के जोड़ रूप विषयको जानने में समर्थ नहीं है, वह तो केवल अतीत पर्याय को जान सकता है- दर्शनरूप प्रत्यक्ष भी इस विषय को ग्रहण नही कर पाता क्योंकि वह केवल वर्तमान पर्याय को जानता है। यदि कहे कि अतीत और वर्तमान पर्याय के संस्कार से उत्पन्न हुआ कल्पना ज्ञान उन दोनों पर्यायों का संकलन करता है तो वही ज्ञान प्रत्यभिज्ञान रूप सिद्ध होता है।

तथा प्रत्यभिज्ञान को स्वीकार नही करे तो "जो सत है वह सब क्षणिक है" इत्यादि अनुमान व्यर्थ हो जाता है।

सौगत—अनुमान प्रमाण एकत्व का निरसन करने के लिये दिया जाता है, क्षणिकत्व को सिद्ध करने के लिये नहीं, क्योंकि क्षणिकत्व तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध हो

इत्यप्यपेशलम्; सोयमित्येकत्वप्रतीतिमन्तरेण समारोपस्याप्यसम्भवात् । तदभ्युपगमे च 'अयं सः इत्यध्यक्षस्मरणव्यतिरेकेण नापरमेकत्वज्ञानम्' इत्यस्य विरोधः। न चाध्यक्षस्मरणे एव समारोपः; तेनानयोर्व्यवच्छेदेऽनुमानस्यानुत्पत्तिरेव स्यात् तत्पूर्वकत्वात्तस्य। कथं चास्याः प्रतिक्षेपेऽभ्यासेतरावस्थायां प्रत्यक्षानुमानयोः प्रामाण्यप्रसिद्धिः ? प्रत्यभिज्ञाया अभावे हि 'यद्दृष्टं यच्चानुमितं तदेव प्राप्तम्' इत्येकत्वाध्यवसायाभावेनानयोरविसंवादासम्भवात् । तथा च "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानम्" [प्रमाणवा० २।१] इति प्रमाणलक्षणप्रणयनमयुक्तम्। अन्यद् दृष्टमनुमितं वा प्राप्तं चान्यदित्येकत्वाध्यवसायाभावेप्यविसंवादे प्रामाण्ये चानयोरभ्युपगम्यमाने मरीचिकाचक्रे जलज्ञानस्यापि तत्प्रसङ्गः।

जाता है। उस प्रत्यक्ष में आये हुए समारोप का निषेध करने के लिये अनुमान की आवश्यकता होती है।

जैन—यह कथन अशोभन है "वह यह है" इस प्रकार की एकत्व की प्रतीति हुए बिना समारोप आना भी संभव नहीं है अतः एकत्व की प्रतीति को स्वीकार करना होगा और उसको स्वीकार करें तो आपका निम्नकथन विरोध को प्राप्त होगा कि "यह वह है" इस तरह के ज्ञान में प्रत्यक्ष और स्मरण को छोड़कर अन्य कोई एकत्व नाम का ज्ञान नहीं है। प्रत्यक्ष और स्मरण ही समारोप है ऐसा कहना भी शक्य नहीं, क्योंकि यदि इन दोनों का समारोप द्वारा व्यवच्छेद होगा तो अनुमान उत्पन्न नहीं होगा, क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षादि पूर्वक होता है। दूसरी बात यह हैं कि प्रत्यभिज्ञान का निरसन करेंगे तो अनभ्यास दशा में प्रत्यक्ष और अनुमान की प्रमाणता किस प्रकार सिद्ध होगी ? क्योंकि प्रत्यभिज्ञान के अभाव में जो देखा था अथवा जिसका अनुमान हुआ था वही पदार्थ प्राप्त हुआ है ऐसा एकत्व का निश्चय नहीं होने से प्रत्यक्ष और अनुमान में अविसंवाद सिद्ध होना असंभव है, अतः "अविसंवादी ज्ञान प्रमाण है" इस प्रकार आप बौद्ध के प्रमाण का लक्षण अयुक्त सिद्ध होता है। तथा बौद्ध के यहां प्रत्यक्ष द्वारा दृष्ट एवं अनुमान द्वारा अनुमित हुआ पदार्थ अन्य है और प्राप्त होने वाला पदार्थ अन्य है, उस दृष्ट और प्राप्त पदार्थ में एकत्व अध्यवसाय के अभाव में भी प्रत्यक्ष और अनुमान का अविसंवादपना एवं प्रामाण्यपना स्वीकार किया जाय तो मरीचिका में होने वाले जल के ज्ञान को भी अविसंवादक एवं प्रामाण्य स्वीकार करना होगा।

न चैवंवादिनो नैरात्म्यभावनाभ्यासो युक्तः फलाभावात् । न चात्मदृष्टिनिवृत्तिः फलम्; तस्या एवासम्भवात् । 'सोहम्' इत्यस्तीति चेत्; न; स्मरणप्रत्यक्षोल्लेखव्यतिरेकेण तदनभ्युपगमात् । तथा च कुतस्तन्निमित्ता रागादयो यतः संसारः स्यात् ?

ननु पूर्वापरपर्याययोरेकत्वग्राहिणी प्रत्यभिज्ञा, तस्य चासम्भवात् कथमियमविसंवादिनी यतः प्रमाणं स्यात् ? प्रत्यक्षेण हि तृद्यद्रूपयोः प्रतीतिः स्वकालनियतार्थविषयत्वात्तस्य; इत्यपि मनोरथमात्रम्; सर्वथा क्षणिकत्वस्याग्रे निराकरिष्यमाणत्वात् । प्रत्यक्षेणाऽतृद्यद्रूपतयार्थप्रतीतेश्चानुभवात् कथं विसंवादकत्वं तस्याः ? ततः प्रमाणं प्रत्यभिज्ञा स्वगृहीतार्थाविसंवादित्वात् प्रत्यक्षादिवत् । नीलाद्यनेकाकाराक्रान्तं चैकज्ञानमभ्युपगच्छतः 'स एवायम्' इत्याकारद्वयाक्रान्तैकज्ञाने को विद्वेषः ?

तथा प्रत्यभिज्ञान का निराकरण करने वाले बौद्ध के यहां नैरात्म्य भावना का अभ्यास करना भी युक्त नहीं है, क्योंकि उसका कोई फल नहीं है। अपनत्व दृष्टि दूर होना उसका फल है ऐसा कहना भी असत् है, क्योंकि अपनत्व दृष्टि का होना ही असंभव है, "सोहम्" इस प्रकार से अपनत्व की दृष्टि होना संभव है ऐसा कहो तो वह भी ठीक नहीं, क्योंकि स्मरण और प्रत्यक्ष के उल्लेख बिना "सोहम्" इस प्रकार की अपनत्व की दृष्टि का होना स्वीकार नहीं किया है, इस तरह अपनत्व दृष्टि की असिद्धि होने पर उसके निमित्त से होने वाले रागद्वेष भी कैसे उत्पन्न हो सकेंगे जिससे संसार अवस्था सिद्ध होवे ? अभिप्राय यह है कि प्रत्यभिज्ञान के अभाव में रागद्वेष उत्पन्न होना इत्यादि सिद्ध नहीं होता।

सौगत—पूर्व और उत्तर पर्यायों में एकत्व को ग्रहण करने वाला प्रत्यभिज्ञान है किन्तु उस एकत्व का होना असंभव होने से यह ज्ञान किस प्रकार अविसंवादक होगा जिससे उसको प्रमाण माना जाय। प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा नष्ट होते हुए स्वरूपों की ही प्रतीति होती है, क्योंकि स्वकाल में नियत रहने वाला पदार्थ उसका विषय है ?

जैन—यह कथन भी गलत है, सर्वथा क्षणिक वाद का हम आगे खण्डन करने वाले हैं। आपने कहा कि प्रत्यक्ष से वस्तुओं का नष्ट होता हुआ रूप ही प्रतीत होता है किन्तु यह बात असत्य है प्रत्यक्ष द्वारा तो अन्वय रूप से पदार्थ की प्रतीति होती है, अतः प्रत्यभिज्ञान के विसंवादकपना कैसे हो सकता है, अर्थात् नहीं हो सकता, इसलिये निश्चित हुआ कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाणभूत है, क्योंकि वह अपने गृहीत विषय में अविसंवादक है, जैसे प्रत्यक्षादि अविसंवादक है। आप बौद्ध भी नीलादि अनेक आकारों

ननु स एवायमित्याकारद्वयं किं परस्परानुप्रवेशेन प्रतिभासते, अननुप्रवेशेन वा ? प्रथमपक्षेऽन्यतराकारस्यैव प्रतिभासः स्यात् । द्वितीयपक्षे तु परस्परविविक्तप्रतिभासद्वयप्रसङ्गः । अथ प्रतिभासद्वयमेकाधिकरणमित्युच्यते; न; एकाधिकरणत्वासिद्धेः । न खलु परोक्षापरोक्षरूपौ प्रतिभासावेकमधिकरणं बिभ्राते सर्वसंविदामेकाधिकरणत्वप्रसङ्गात् । इत्यप्यसारम्; तदाकारयोः कथञ्चित्परस्परानुप्रवेशेनात्माधिकरणतयात्मन्येवानुभवात् । कथं चैवंवादिनश्चित्रज्ञानसिद्धिः ? नीलादिप्रतिभासानां परस्परानुप्रवेशे सर्वेषामेकरूपतानुषङ्गात् कुतश्चित्रतैकनीलाकारज्ञानवत् ? तेषां तदननुप्रवेशे भिन्नसन्ताननीलादिप्रतिभासानामिवात्यन्तभेदसिद्धेर्नितरां चित्रताऽसम्भवः । एकज्ञानाधिकरणतया तेषां प्रत्यक्षतः प्रतीतेः प्रतिपादितदोषाभावे प्रकृतेप्यसौ मा भूत्तत एव ।

से व्याप्त ऐसे एक ज्ञान को स्वीकार करते हैं तो "वही यह है" इस प्रकार के दो आकारों से व्याप्त ज्ञानको एक मानने में कौन सा विद्वेष है ?

बौद्ध—"वही यह है" ऐसे दो आकार परस्पर में मिले हुए प्रतिभासित होते हैं या बिना मिले प्रतिभासित होते हैं ? प्रथम विकल्प कहो तो दो में से कोई एक आकार ही प्रतीत हो सकेगा क्योंकि दोनों परस्पर में मिल चुके हैं । दूसरे पक्ष में परस्पर से सर्वथा पृथक् दो प्रतिभास सिद्ध होंगे । कोई कहे कि दो प्रतिभासों का अधिकरण एक है अतः एकत्व सिद्ध होगा ? सो यह कथन भी ठीक नहीं, एकाधिकरणत्व ही असिद्ध है क्योंकि परोक्ष और अपरोक्ष रूप दो प्रतिभास यदि एक अधिकरण को धारण करेंगे तो सभी ज्ञान में एक अधिकरणपना सिद्ध होगा ?

जैन—यह कथन असार है । पूर्वापर दो आकारों का कथंचित् परस्परानु प्रवेश द्वारा आत्मा अधिकरणरूप से अपने में ही प्रतीत होता है, तथा इस प्रकार एकाधिकरणत्व का निषेध करने वाले बौद्ध के यहां चित्र ज्ञान की सिद्धि किस प्रकार होगी ? क्योंकि नील पीत आदि प्रतिभासों का परस्पर में प्रवेश होने पर सभी आकारों को एक रूप हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है अतः उनमें चित्रता किससे आयेगी ? अर्थात् नहीं आ सकती, जिस प्रकार एक नील आकार वाले ज्ञान में नहीं होती । तथा नीलादि अनेक आकार परस्पर में प्रविष्ट नहीं हैं ऐसा मानते हैं तो वे आकार भिन्न भिन्न संतानों के नील पीत आदि प्रतिभासों के समान अत्यंत भिन्न सिद्ध होने से उनमें चित्रता होना नितरां असंभव है । बौद्ध कहे कि एकाधिकरणपने से नील पीतादि आकारों की प्रत्यक्ष से प्रतीति होती है अतः उपर्युक्त दोष नहीं आते हैं, तो प्रकृत

अथोच्यते—'पूर्वमुत्तरं वा दर्शनमेकत्वेऽप्रवृत्तं कथं स्मरणसहायमपि प्रत्यभिज्ञानमेकत्वे जनयेत् ? न खलु परिमलस्मरणसहायमपि चक्षुर्गन्धे ज्ञानमुत्पादयति' इति; तदप्युक्तिमात्रम्; तथा च तज्जनकत्वस्यात्र प्रमाणप्रतिपन्नत्वात्। न च प्रमाणप्रतिपन्नं वस्तुस्वरूपं व्यलीकविचारसहस्रेणाप्यन्यथाकर्त्तुं शक्यं सहकारिणां चाचिन्त्यशक्तित्वात्। कथमन्यथाऽसर्वज्ञज्ञानमभ्यासविशेषसहायं सर्वज्ञज्ञानं जनयेत् ? एकत्वविषयत्वं च दर्शनस्यापि, अन्यथा निर्विषयकत्वमेवास्य स्यादेकान्ताऽनित्यत्वस्य कदाचनाप्यप्रतीतेः। केवलं तेनैकत्वं प्रतिनियतवर्त्तमानपर्यायाधारतयार्थस्य प्रतीयते, स्मरणसहायप्रत्यक्षजनितप्रत्यभिज्ञानेन तु स्मर्यमाणानुभूयमानपर्यायाधारतयेति विशेषः।

न च लूनपुनर्जातनखकेशादिवत्सर्वत्र निर्विषया प्रत्यभिज्ञा; क्षणक्षयैकान्तस्यानुपलम्भात्। तदुपलम्भे हि सा निर्विषया स्यात् एकचन्द्रोपलम्भे द्विचन्द्रप्रतीतिवत्। लूनपुनर्जातनखकेशादौ च 'स

प्रत्यभिज्ञान में भी उपर्युक्त दोष मत होवे, क्योंकि इसमें भी एकाधिकरत्व की प्रत्यक्ष से प्रतीति आती है।

बौद्ध—पूर्व प्रत्यक्ष अथवा उत्तर प्रत्यक्ष एकत्व विषय में प्रवृत्त नहीं होता अतः स्मरण की सहायता लेकर भी वह प्रत्यभिज्ञान को किस तरह उत्पन्न कर सकेगा, सुगन्धि की सहायता मिलने पर भी क्या चक्षु गंध विषय में ज्ञान को उत्पन्न कर सकती है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है प्रत्यक्ष का एकत्व विषय में ज्ञान उत्पन्न करना प्रमाण से प्रसिद्ध है। प्रमाण से प्रतिभासित हुए वस्तु स्वरूप को झूठे हजारों विचारों द्वारा भी अन्यथा नहीं कर सकते, क्योंकि सहकारी कारणों की अचिन्त्य शक्ति हुआ करती है, यदि ऐसा नहीं होता तो असर्वज्ञ का ज्ञान अभ्यास की सहायता लेकर सर्वज्ञ ज्ञान को कैसे उत्पन्न कर सकता था ? दूसरी बात यह है कि प्रत्यभिज्ञान का ही विषय एकत्व होवे सो बात भी नहीं, प्रत्यक्ष भी एकत्व विषय का ग्राहक है अन्यथा यह ज्ञान निर्विषयक होवेगा, क्योंकि सर्वथा अनित्य की कभी भी प्रतीति नहीं होती है। प्रत्यक्ष और प्रत्यभिज्ञान में अंतर केवल यह है कि प्रत्यक्ष ज्ञान प्रतिनियत वर्तमान पर्याय के आधारभूत द्रव्य के एकत्व को ग्रहण करता है और प्रत्यभिज्ञान स्मरण तथा प्रत्यक्ष की सहायता से उत्पन्न होकर स्मर्यमान पर्याय और अनुभूयमान पर्याय इन दोनों के आधारभूत द्रव्य के एकत्व को ग्रहण करता है। जिस प्रकार काटकर पुनः उत्पन्न हुए नख केश आदि में होने वाला एकत्व का प्रतिभास निर्विषय है उसी प्रकार प्रत्यभि-

एवायं नखकेशादिः' इत्येकत्वपरामर्शिप्रत्यभिज्ञानं 'लूननखकेशादिसदृशोयं पुनर्जातनखकेशादिः' इति सादृश्यनिबन्धनप्रत्यभिज्ञानान्तरेण बाध्यमानत्वादप्रमाणं प्रसिद्धम्, न पुनः सादृश्यप्रत्यवमर्शि तत्रास्याऽबाध्यमानतया प्रमाणत्वप्रसिद्धेः। न चैकत्रैकत्वपरामर्शिप्रत्यभिज्ञानस्य मिथ्यात्वदर्शनात्सर्वत्रास्य मिथ्यात्वम्; प्रत्यक्षस्यापि सर्वत्र भ्रान्तत्वानुषङ्गान्न किञ्चित्कुतश्चित्कस्यचित्प्रसिद्ध्येत्। ततो यथा शुक्ले शङ्खे पीताभासं प्रत्यक्षं तत्रैव शुक्लाभासप्रत्यक्षान्तरेण बाध्यमानत्वादप्रमाणम्, न पुनः पीते कनकादौ तथा प्रकृतमपीति।

कथं च प्रत्यभिज्ञानविलोपेऽनुमानप्रवृत्तिः ? येनैव हि पूर्वधूमोऽग्निर्दृष्टस्तस्यैव पुनः पूर्वधूमसदृशधूमदर्शनादग्निप्रतिपत्तिर्युक्ता नान्यस्यान्यदर्शनात्। न च प्रत्यभिज्ञानमन्तरेण 'तेनेदं सदृशम्'

ज्ञान सर्वत्र निर्विषय है अर्थात् इसका कोई विषय नहीं है, ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि क्षणिक एकांत की अनुपलब्धि है, यदि क्षणिक एकांत सिद्ध होता तो प्रत्यभिज्ञान को निर्विषयी मानते, जिस प्रकार एक चन्द्र के उपलब्ध होने पर द्विचन्द्र के ज्ञान को निर्विषयी मानते हैं। कटकर पुनः उत्पन्न हुए नख केशादि में वही यह नख केशादि है ऐसी प्रतीति कराने वाला एकत्व प्रत्यभिज्ञान, कटे हुए नख केश के समान यह पुनः उत्पन्न हुए नख केशादि हैं इस तरह के होने वाले सादृश्य प्रत्यभिज्ञान से बाधित होता है अतः अप्रमाण है किन्तु सादृश्य को विषय करने वाला प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण नहीं कहलाता, क्योंकि अबाध्यमान होने से उसके प्रामाण्य की प्रसिद्धि है। तथा एक जगह एकत्व के परामर्शी प्रत्यभिज्ञान में मिथ्यापना दिखायी देने से उसमें सर्वत्र मिथ्यापना मानना गलत है अन्यथा प्रत्यक्ष के भी सर्वत्र भ्रान्त होने का प्रसंग प्राप्त होगा फिर तो कोई भी वस्तु किसी भी प्रमाण से किसी के भी सिद्ध नहीं होगी। इस बड़े भारी दोष को दूर करने के लिये जैसे-सफेद शंख में पीताभास को करने वाला प्रत्यक्ष शुक्लाभास प्रत्यक्ष से बाधित होकर अप्रमाण सिद्ध होता है और पीत सुवर्णादि में पीताभास बाधित न होकर प्रमाणभूत सिद्ध होता है वैसे ही प्रत्यभिज्ञान में बाधितपना और अबाधितपना होने से अप्रमाणपना और प्रमाणपना दोनों सिद्ध होते हैं।

यदि एकत्व और सादृश्य को विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान का लोप करेंगे तो अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति किस प्रकार हो सकेगी ?

जिसने पूर्व में धूम को देखकर अग्नि को देखा है उसी पुरुष के पुनः पूर्व के धूम सदृश धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान होना युक्त है, न कि अन्य व्यक्ति के अन्य किसी वस्तु के देखने से अग्नि का ज्ञान होना युक्त है। प्रत्यभिज्ञान के बिना "यह

इति प्रतिपत्तिरस्ति; पूर्वप्रत्यक्षेणोत्तरस्य तत्प्रत्यक्षेण च पूर्वस्याग्रहणात्, द्वयप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वादुभयसादृश्यप्रतिपत्तेः सम्बन्धप्रतिपत्तिवत्। ततः प्रत्यभिज्ञा प्रमाणमभ्युपगन्तव्या।

तदप्रामाण्यं हि गृहीतग्राहित्वात्, स्मरणानन्तरभावित्वात्, शब्दाकारधारित्वाद्वा, बाध्यमानत्वाद्वा स्यात्? न तावदाद्यविकल्पो युक्तः; न हि तद्विषयभूतमेकं द्रव्यं स्मृतिप्रत्यक्षग्राह्यमित्युक्तम्। तद्गृहीतातीतवर्त्तमानविवर्त्तमानविवर्त्ततादात्म्येनावस्थितद्रव्यस्यकथञ्चित्पूर्वार्थत्वेपि तद्विषयप्रत्यभिज्ञानस्य नाप्रामाण्यम्, लैङ्गिकादेरप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात् तस्यापि सर्वथैवापूर्वार्थत्वासिद्धेः, सम्बन्धग्राहिविज्ञानविषयसाध्यादिसामान्यात् कथञ्चिदभिन्नस्यानुमेयस्य देशकालविशिष्टस्य तद्विषयत्वात् कथञ्चित्पूर्वार्थत्वसिद्धेः। तन्न गृहीतग्राहित्वात्तत्राप्रामाण्यम्।

नापि स्मरणानन्तरभावित्वात्; रूपस्मरणानन्तरं रससन्निपाते समुत्पन्नरसज्ञानस्याप्यप्रामाण्यप्रसङ्गात्। तत्र हि रूपस्मृतेः पूर्वकालभावित्वात् समनन्तरकारणत्वं "बोधाद्बोधरूपता"

उसके समान अग्नि है" इत्यादि प्रतीति नहीं होती, क्योंकि पूर्व पर्याय को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष द्वारा उत्तर पर्याय का ग्रहण नहीं होता और उत्तरकालीन पर्याय को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष द्वारा पूर्व पर्याय का ग्रहण नहीं होता। उभय पर्यायों में होने वाले सादृश्य का ज्ञान उभय को जानने से ही होगा जैसे संबंध का ज्ञान उभय पदार्थों के जानने से होता है। इसलिये प्रत्यभिज्ञान को प्रमाणभूत स्वीकार करना चाहिए।

बौद्ध प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाणभूत किस कारण से मानते हैं? गृहीत ग्राही होने से अथवा स्मरण के अनन्तर होने से, शब्दाकार को धारण करने से अथवा बाध्यमान होने से? प्रथम विकल्प ठीक नहीं क्योंकि प्रत्यभिज्ञान का विषयभूत जो एक द्रव्य है वह स्मृति और प्रत्यक्ष द्वारा ग्राह्य नहीं होता ऐसा सिद्ध कर आये हैं। स्मरण और प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहीत अतीत और वर्तमान पर्यायों में तादात्म्य संबंध से अवस्थित हुआ द्रव्य यद्यपि कथंचित् पूर्वार्थ है तो भी उसको विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान को अप्रमाण नहीं कह सकते, अन्यथा अनुमानादि को भी अप्रमाण मानना होगा, क्योंकि इसका विषय भी सर्वथा अपूर्वार्थ नहीं है। आगे इसी को बताते हैं, संबंध को ग्रहण करने वाले तर्क ज्ञान का विषय जो साध्यादि सामान्य है उससे कथंचित् अभिन्न अनुमान का विषय होता है, जो देश और काल से विशिष्ट है उसको विषय करने से अनुमान में भी कथंचित् पूर्वार्थपना सिद्ध ही है, अतः गृहीत ग्राही होने से प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण है ऐसा कहना असिद्ध है। स्मरण के अनन्तर होने से प्रत्यभिज्ञान अप्रमाण है, ऐसा दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है इस तरह माने तो रूप

[ ] इत्यभ्युपगमात् । न चात्र बोधरूपतया समनन्तरकारणत्वमन्यत्र स्मृतिरूपतयेत्यभिधातव्यम्; स्मृतिरूप-बोधरूपयोस्तादात्म्येक्वचिद्बोधरूपतया तत्तस्य क्वचित् स्मृतिरूपतयेति व्यवस्थापयितुमशक्तेः । कथं चैवंवादिनोऽनुमानं प्रमाणम् ? तद्धि लिंगलिंगिसम्बन्धस्मरणानन्तरमेवोपजायते, अन्यथा साधर्म्यदृष्टान्तोपन्यासो व्यर्थः स्यात् ।

शब्दाकारधारित्वं च प्रागेव प्रतिषिद्धम् ।

बाध्यमानत्वं चासिद्धम्; न खलु प्रत्यक्षं तद्बाधकम्; तस्य तद्विषयप्रवृत्त्यऽसम्भवात् । यद्धि यद्विषये न प्रवर्त्तते न तत्र तस्य साधकं बाधकं वा यथा रूपज्ञानस्य रसज्ञानम्, न प्रवर्त्तते च प्रत्यभिज्ञानस्य विषये प्रत्यक्षमिति । नाप्यनुमानं तद्बाधकम्; प्रत्यभिज्ञानविषये तस्याप्यप्रवृत्तेः, क्वचिद-

---

के स्मरण के अनन्तर रस के सन्निधि में उत्पन्न हुआ रस का ज्ञान अप्रमाण सिद्ध होगा, क्योंकि उसमें भी रूप स्मृति का पूर्व काल भावीपना होने से समनन्तर कारणत्व है, बोध से बोध होना आपने स्वीकार भी किया है । इस रस ज्ञान में बोध रूपता से समनंतर कारणत्व है और अन्यत्र स्मृतिरूपता से समनंतर कारणत्व है, ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि स्मृतिरूप और बोध रूप में तादात्म्य होने से कहीं पर ज्ञान का समनंतर कारणत्व बोध रूपता से हो और कहीं पर स्मृतिरूपता से हो ऐसी व्यवस्था करना अशक्य है । तथा इस तरह प्रत्यभिज्ञान को नहीं मानने वाले बौद्ध अनुमान को किस प्रकार प्रामाणिक सिद्ध कर सकेंगे । क्योंकि हेतु और साध्य के संबंध का स्मरण होने के अनन्तर ही अनुमान उत्पन्न होता है । यदि ऐसा नहीं होता तो साधर्म्य दृष्टांत देना व्यर्थ होता ।

भावार्थ—पर्वत पर अग्नि को सिद्ध करते समय स्मरण दिलाते हैं कि "जैसे तुमने रसोई घर में अग्नि-धूम देखा था वैसे यहां है" इत्यादि दृष्टांत से मालुम होता है कि अनुमान में स्मरण की जरूरत है ।

प्रत्यभिज्ञान शब्दाकार को धारण करता है अतः अप्रमाण है ऐसा तीसरा विकल्प भी ठीक नहीं । ज्ञान में शब्दाकार का होना तो पहले शब्दाद्वैतवाद में ही खण्डित हो चुका है ।

प्रत्यभिज्ञान बाधित होने से अप्रमाण है ऐसा चौथा विकल्प भी असिद्ध है । प्रत्यभिज्ञान किससे बाधित होगा ? प्रत्यक्ष से बाधित होना अशक्य है, क्योंकि उसकी

नुमेयमात्रे प्रवृत्तिप्रसिद्धेः। तस्य तद्विषये प्रवृत्तौ वा सर्वथा बाधकत्वविरोध.। ततः प्रमाणं प्रत्यभिज्ञा सकलबाधकरहितत्वात्प्रत्यक्षादिवत्।

एतेनैव 'गोसदृशो गवयः' इत्यादि सादृश्यनिबन्धनं प्रत्यभिज्ञानं प्रमाणमावेदितं प्रतिपत्तव्यम्, तस्यापि स्वविषये बाधविधुरत्वस्य संवादकत्वस्य च प्रसिद्धेः।

ननु सादृश्यस्यार्थेभ्यो भिन्नाभिन्नादिविकल्पैर्विचार्यमाणस्यायोगात्तद्विषयप्रत्यभिज्ञानस्य बाधविधुरत्वमविसंवादकत्वं चासिद्धम्; इत्यप्यास्तां तावत्, प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयभूतत्वेनाबाधिततत्स्वरूपस्य सामान्यसिद्धिप्रक्रमे प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। न च तस्मिन्नेव स्वपुत्रादौ 'तादृशोयम्' इति प्रत्यभिज्ञानं सादृश्यनिबन्धनं 'स एवायम्' इत्येकत्वनिबन्धनप्रत्यभिज्ञानेन बाध्यमानमप्रमाणं

प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रवृत्ति नहीं होती, जो जिसके विषय में प्रवृत्त नहीं होता वह उसका साधक या बाधक नहीं होता है, जैसे रूप ज्ञान का बाधक रस ज्ञान नहीं होता, प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रत्यक्ष प्रवृत्ति नहीं करता, अतः उसका बाधक नहीं हो सकता। अनुमान प्रमाण भी बाधक नहीं है, क्योंकि वह भी प्रत्यभिज्ञान के विषय में प्रवृत्ति नहीं करता। अनुमान प्रमाण तो अपने अनुमेय (अग्नि आदि) विषय में प्रवृत्ति करता है। प्रत्यभिज्ञान के विषय में अनुमान प्रवृत्त होता है, ऐसा कदाचित् मान भी लेवें तो उसका बाधक तो सर्वथा नहीं हो सकता। अतः निश्चय हुआ कि प्रत्यभिज्ञान प्रमाणभूत है क्योंकि सम्पूर्ण बाधाओं से रहित है, जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण बाधा रहित है।

एकत्व प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि होने से ही "गो के सदृश रोझ है" इत्यादि सादृश्य के कारण से होने वाला प्रत्यभिज्ञान भी सिद्ध होता है ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि यह ज्ञान भी अपने विषय में बाधा रहित है तथा संवादक है।

शंका—सादृश्य पदार्थों से भिन्न है कि अभिन्न इत्यादि विकल्पों से विचार के अयोग्य होने से उसको विषय करने वाले प्रत्यभिज्ञान का बाधा रहितपना एवं अविसंवादपना असिद्ध है ?

समाधान—इस शंका का समाधान आगे करेंगे, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय होने से उस सादृश्य का स्वरूप अबाधित है ऐसा आगे सामान्य सिद्धि प्रकरण में प्रतिपादन करने वाले हैं। उसी एक अपने पुत्र आदि में "वैसा है" इस प्रकार का

प्रतिपाद्य स्वपुत्रादिना सदृशे पुरुषे 'तादृशोयम्' इत्यपि प्रत्यभिज्ञानमप्रमाणं प्रतिपादयितुं युक्तम्; तस्याबाध.मानत्वेन प्रमाणत्वात्।

स्यान्मतम्-प्रत्यभिज्ञानमनुमानत्वेन प्रमाणमिष्यत एव; तथाहि-पूर्वोत्तरार्थक्षणयोरनर्थान्तरभूतं सादृश्यं तत्प्रत्यक्षाभ्यां प्रतीयत एव। यस्तु तथा प्रतिपद्यमानोपि सादृश्यव्यवहारं न करोति घटविविक्तभूतलप्रतिपत्तावपि घटाभावव्यवहारवत्, स 'प्रागुपलब्धार्थसमानोयं तत्सदृशाकारोपलम्भात्' इत्युभयगतसदृशाकारदर्शनेन तथा व्यवहारं कार्यते, दृश्यानुपलम्भोपदर्शनेन घटाभावव्यवहारवत्; तदप्यसङ्गतम्; 'प्राक्प्रतिपन्नधूमसदृशोयं धूमः' इत्यादिलिङ्गप्रत्यभिज्ञाज्ञानस्य लैङ्गिकत्वे तल्लिङ्गप्रत्यभिज्ञाज्ञानस्यापि लैगिकत्वमित्यनवस्थाप्रसंगात्।

सादृश्य निमित्तक प्रत्यभिज्ञान "वही यह है" इस प्रकार के एकत्व प्रत्यभिज्ञान द्वारा बाध्यमान होने से अप्रमाण है, ऐसा प्रतिपादन करके अपने पुत्र के सदृश जो अन्य पुरुष है उसमें "वैसा है" इस तरह का होने वाला प्रत्यभिज्ञान भी अप्रमाण है ऐसा प्रतिपादन करना युक्त नहीं है, क्योंकि अबाधित होने से यह प्रमाणभूत है।

बौद्ध—हम लोग प्रत्यभिज्ञान को अनुमान रूप से प्रमाण मानते ही हैं आगे इसी को स्पष्ट करते हैं पूर्व और उत्तर अर्थ क्षणों में जो अभिन्न रूप सादृश्य है वह पूर्वोत्तर प्रत्यक्षों द्वारा प्रतीत होता ही है। किन्तु जो पुरुष उस प्रकार प्रतिपादन करते हुए भी सादृश्य का व्यवहार नहीं करता जैसे घट रहित भूतल को जान लेने पर भी घटाभाव के व्यवहार को सांख्यादि परवादी नहीं करते है, ऐसे पुरुष को "पहले देखे हुए पदार्थ के समान यह है" क्योंकि उसके समान आकार की उपलब्धि है, इस प्रकार उभयगत सदृशाकार को दिखलाकर सदृशता का व्यवहार कराया जाता है "जैसे कि उन्हीं सांख्यादि को दृश्यानुपलंभ दिखलाकर घट के अभाव का व्यवहार कराया जाता है। सारांश यह निकला कि प्रत्यभिज्ञान अनुमान में अंतर्हित है।

जैन—यह कथन असंगत है "पहले जाने हुए धूम के समान यह धूम है" इत्यादि रूप से धूम हेतु को विषय करने वाला जो प्रत्यभिज्ञान है उसको अनुमान रूप स्वीकार करेंगे तो उसके हेतु को जानने वाले प्रत्यभिज्ञान को भी अनुमानपना प्राप्त होगा और इस तरह अनवस्था आ जायेगी।

किञ्च, अर्थे सादृश्यव्यवहारस्य सदृशाकारनिबन्धनत्वे सदृशाकारेपि कुतस्तद्व्यवहारसिद्धिः ? अपरतद्गतसदृशधर्मदर्शनाच्चेत्; अनवस्था। धर्मिसादृश्यव्यवहारे चान्योन्याश्रयः। तन्नेयं सादृश्य-प्रत्यभिज्ञा लिङ्गजाभ्युपगन्तव्या।

ननु गोदर्शनाहितसंस्कारस्य पुनर्गवयदर्शनाद्गवि स्मरणे सति 'अनेन समानः सः' इत्येवमाकारस्य ज्ञानस्योपमानरूपत्वान्न प्रत्यभिज्ञानता। सादृश्यविशिष्टो हि विशेषो विशेषविशिष्टं वा सादृश्यमुपमानस्यैव प्रमेयम्। ऊक्तं च—

दूसरी बात यह है कि पदार्थ में सदृशता का व्यवहार सदृश आकार के निमित्त से होता है ऐसा मानते है, तो स्वयं सदृश आकार में किससे सदृशता का व्यवहार होवेगा ? अन्य किसी वस्तु में होने वाले सदृश धर्म के देखने से कहो तो अनवस्था आती है और धर्मी के सादृश्य से कहो तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, अत सादृश्य प्रत्यभिज्ञान अनुमान रूप है ऐसा कथन सिद्ध नहीं होता।

मीमांसक—गाय को देखने से उत्पन्न हुआ है संस्कार जिसको ऐसे पुरुष के रोझ को देखकर गाय का स्मरण होता है तब इसके समान वह है ऐसा आकार वाला ज्ञान उत्पन्न होता है वह तो उपमा प्रमाण रूप है अतः इसमें प्रत्यभिज्ञानपना सिद्ध नहीं होता। सादृश्य से विशिष्ट विशेष अथवा विशेष से विशिष्ट सादृश्य जो प्रमेय है वह उपमा ज्ञान ही है। कहा भी है उस देखी हुई वस्तु से जो स्मरण किया जाता है वह सादृश्य से विशेषित होता है अथवा उससे अन्वित जो सादृश्य है वह उपमा प्रमाण का प्रमेय है। यद्यपि प्रत्यक्ष द्वारा सादृश्य ज्ञान होता है एवं गाय की स्मृति भी होती है फिर भी उनका विशिष्टपना अन्य ज्ञान से ही जाना जाता है, जो अन्य ज्ञान है वही उपमा प्रमाण है, इस प्रकार उपमा में प्रमाणता की सिद्धि होती है। अभिप्राय यह है कि सादृश्यग्राही ज्ञान उपमा प्रमाण है न कि प्रत्यभिज्ञान।

जैनः—यह कथन बिना सोचे किया है, एकत्व और सादृश्य की प्रतीति संकलन ज्ञान रूप होने से प्रत्यभिज्ञान का अतिक्रमण नहीं करती, "वही यह है" ऐसा आकार वाला ज्ञान जैसे उत्तर पर्याय का पूर्व पर्याय के साथ एकता की प्रतीति स्वरूप प्रत्यभिज्ञान है वैसे ही इसके समान वह है ऐसी सादृश्य की प्रतीति कराने वाला ज्ञान प्रत्यभिज्ञान कहलाता है क्योंकि संकलनता दोनों में समान है, कोई विशेषता नहीं है। जैसे—पूर्वोत्तर प्रत्ययों से वेद्य जो एकत्व है उसको जानने वाला होने से उस ज्ञान के

"तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम् ।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम् ॥१॥
प्रत्यक्षेणावबुद्धे पि सादृश्ये गवि च स्मृते ।
विशिष्टस्यान्यतः सिद्ध रुपमानप्रमाणता ॥२॥"

[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३७-३८] इति ।

तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; एकत्वसादृश्यप्रतीत्यो सङ्कलना (न) ज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानतानतिक्रमात् । 'स एवायम्' इति हि यथोत्तरपर्यायस्य पूर्वपर्यायेणैकताप्रतीति. प्रत्यभिज्ञा, तथा सादृश्यप्रतीतिरपि 'अनेन सदृश.' इत्यविशेषात् । पूर्वोत्तरप्रत्ययवेद्यैकत्वगोचरत्वात्तस्याः प्रत्यभिज्ञानत्वे सादृश्यप्रतीतावपि तत्स्यात् । न हि तत्ताभ्यां न परिच्छिद्यते—

प्रत्यभिज्ञानपना है, वैसे ही सादृश्य प्रतीति वाला ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञान ही है । यह सादृश्य पूर्वोत्तर प्रत्ययों से [स्मरण तथा प्रत्यक्ष ज्ञानों से] नहीं जाना जाता हो सो भी बात नहीं है । आप मीमांसक के ग्रन्थ में ही कहा है कि इस सादृश्य का वस्तुपना सिद्ध होने पर तथा चक्षु द्वारा संबंधपना सिद्ध होने पर उसका दोनों जगह (गाय और रोझ में) अथवा एकत्र (रोझ में) प्रत्यक्ष होना सिद्ध ही होता है, अतः सादृश्य का प्रत्यक्ष होना रोका नहीं जा सकता, अर्थात् सादृश्य प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है ॥१॥ यह सादृश्य सामान्य के समान एक–एक पदार्थ में परिसमाप्त होकर रहता है, और प्रतियोगी के नहीं देखने पर भी प्रत्यक्षादि से उपलब्ध होता है ॥२॥ इन उपर्युक्त दोनों श्लोकार्थ से सिद्ध होता है कि सादृश्य प्रत्यक्षादि से जाना जाता है । आप जिस प्रकार गाय और रोझ का विशिष्ट सादृश्य पूर्वोत्तर प्रत्ययों से प्रतीति में नहीं आकर उपमा ज्ञान से प्रतीति में आता है ऐसा मानते हैं उसी प्रकार पूर्वोत्तर पर्यायों से विशिष्ट ऐसा एकत्व प्रत्यभिज्ञान द्वारा प्रतीति में आता है ऐसा भी मानना चाहिये । यदि एकत्व का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है और सादृश्य का ज्ञान उपमा प्रमाण है ऐसा मानेंगे तो वैलक्षण्य का ज्ञान किस नाम का प्रमाण होगा ? जिस प्रकार गो को देखने से संस्कारित हुए पुरुष को रोझ को देखकर "इसके समान वह है" ऐसी प्रतीति होती है उसी प्रकार भैंस को देखकर इससे विलक्षण वह है ऐसी विलक्षणता की प्रतीति भी होती है । आपके कथनानुसार वह प्रतीति प्रत्यभिज्ञान और उपमान में से किसी रूप तो हो नहीं सकती, क्योंकि यह प्रतीति एकत्व और सादृश्य को विषय करने वाले ज्ञानों

"वस्तुत्वे सति चास्यैवं सम्बद्धस्य च चक्षुषा ।
द्वयोरेकत्र वा दृष्टौ प्रत्यक्षत्वं न वार्यते ॥१॥
सामान्यवच्च सादृश्यमेकैकत्र समाप्यते ।
प्रतियोगिन्यदृष्टेपि तत्तस्मादुपलभ्यते ॥२॥"

[मी० श्लो० उपमान० श्लो० ३४-३५]

इत्यस्य विरोधानुषंगात्। यथा च पूर्वोत्तरप्रत्ययाभ्यां गवयगवादिविशिष्टमप्रतिपन्नं सादृश्यमनेन प्रतीयते तथा पूर्वोत्तरपर्यायविशिष्टमेकत्वं प्रत्यभिज्ञानेन ।

यदि च 'एकत्वज्ञानमेव प्रत्यभिज्ञा सादृश्यज्ञानं तूपमानम्' इत्यभ्युपगमः; तर्हि वैलक्षण्यज्ञानं किन्नाम प्रमाणं स्यात् ? यथैव हि गोदर्शनाहितसंस्कारस्य गवयदर्शिनः 'अनेन समानः सः' इति प्रतिपत्तिस्तथा महिष्यादिदर्शिनः 'अनेन विलक्षणः सः' इति वैलक्षण्यप्रतीतिरप्यस्ति । सा च न प्रत्यभिज्ञोपमानयोरन्यतरा तदेकत्वसादृश्याविषयत्वात्, अतः प्रमाणान्तरं प्रमाणसंख्यानियमविघातकृद्भवेत्परस्य ।

ननु सादृश्याभावो वैलक्षण्यम्, तस्याभावप्रमाणविषयत्वान्न प्रमाणसंख्यानियमविघातः; तर्हि वैलक्षण्याभावः सादृश्यमिति स एव दोषः । नन्वनेकस्य समानधर्मयोगः सादृश्यम्, तत्कथं वैलक्षण्याभावमात्रं स्यादिति चेत्; तर्हि वैलक्षण्यमपि विसदृशधर्मयोगः, तत्कथं सादृश्याभावमात्रं स्यादिति समानम् ?

का अविषय है, अतः प्रमाणांतर स्वरूप प्रत्यभिज्ञान अवश्य ही परवादी (मीमांसक) के प्रमाणों की संख्या का व्याघात करता है ।

मीमांसक—सादृश्य का अभाव ही वैलक्षण्य है और वह अभाव प्रमाण के द्वारा जाना जाता है । अतः हमारे छह प्रमाण संख्या का व्याघात नहीं होता है ।

जैन— तो वैलक्षण्य का अभाव सादृश्य है ऐसा भी कह सकते हैं इस तरह सादृश्य के अभाब होने से उसको ग्रहण करने वाला उपमा प्रमाण का भी अभाव हो जाता है और प्रमाण संख्या का व्याघात होना रूप वही दोष तदवस्थ रहता है ।

मीमांसक—अनेक गो रोझ आदि के समान धर्म का योग होना सादृश्य कहलाता है वह वैलक्षण्य का अभाव रूप कैसे हो सकता है ?

जैन—तो वैलक्षण्य भी विसदृश धर्म का योग स्वरूप है, उसको सादृश्याभाव रूप किस प्रकार मान सकते हैं ? इस प्रकार समान ही प्रश्नोत्तर है । इस प्रकार मीमांसक के प्रत्यभिज्ञान को उपमा में अंतर्भाव करने के अभिप्राय का निराकरण करने से

एतेन 'गौरिव गवयः' इत्युपमानवाक्याहितसंस्कारस्य पुनर्वने गवयदर्शनात् 'अयं गवयशब्द-वाच्यः' इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानमिति नैयायिकमतमपि प्रत्युक्तम्। यथैव ह्येकदा घट-मुपलब्धवतः पुनस्तस्यैव दर्शने 'स एवायं घटः' इति प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा, तथा 'गोसदृशो गवयः' इति संकेतकाले गोसदृशगवयाभिधानयोर्वाच्यवाचकसम्बन्धं प्रतिपद्य पुनर्गवयदर्शनात्तत्प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा किन्नेष्यते ? न खलु पूर्वमप्रतिपन्नेऽपूर्वदर्शनात्स्मृतिर्युक्ता, यतस्तथा प्रतिपत्तिः स्यात्।

गोविलक्षणमहिष्यादिदर्शनाच्च 'अयं गवयो न भवति' इति तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धप्रतिषेधप्रति-पत्तिश्च यद्युपमानम्–"प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्" [न्यायसू० १।१।६] इति व्याहन्येत। अथ प्रसिद्धार्थवैधर्म्यादपीष्यते; तर्हि 'प्रसिद्धार्थवैधर्म्याच्च साध्यसाधनमुपमानम्' इत्युपख्यानं सूत्रे कर्त्तव्यम्।

किञ्च, प्रसिद्धार्थैकत्वात्साध्यसाधनमुपमानमित्यप्यभ्युपगम्यताम्। तथा च प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षेन्तर्भावोऽयुक्तः।

"गाय के समान गवय होती है" इस प्रकार के उपमा वाक्य का हुआ है संस्कार जिसको ऐसे पुरुष के वन में गवय को देखकर यह गवय शब्द का वाच्य है इस प्रकार संज्ञा और संज्ञी के संबंध का ज्ञान होना उपमा प्रमाण है ऐसे नैयायिक के मत का भी निराकरण हुआ समझना चाहिए। क्योंकि जिस प्रकार एक दिन घट को जानने के अनंतर पुनः उसी घट के दृष्टि गोचर होने पर वही यह घट है इस प्रकार के प्रतिभास को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं, उसी प्रकार गो के सदृश गवय होती है ऐसा संकेत काल में गाय का सदृश धर्म और गवय का नाम इनके वाच्य वाचक संबंध को जानकर पुनः गवय के देखने से होने वाला सदृशता का ज्ञान प्रत्यभिज्ञान क्यों न माना जाय ? क्योंकि जो पूर्व में नहीं जाना है उसके अपूर्वदर्शन से स्मृति होना तो युक्त नहीं, जिससे प्रतीति हो सके। यदि नैयायिक कहे कि गाय से विलक्षण भैंसादि को देखकर "यह रोझ नहीं है" इस प्रकार का संज्ञा संज्ञी संबंध के निषेध का ज्ञान होता है वह भी उपमा प्रमाण है, तो "प्रसिद्ध साधर्म्य से साध्य साधन का ज्ञान होना उपमा प्रमाण है" यह न्याय सूत्र खण्डित होता है।

शंका– प्रसिद्ध वैधर्म्य से भी उपमा प्रमाण हो सकता है ?

समाधान—तो "प्रसिद्धार्थ वैधर्म्याच्च साध्य साधन मुपमानम्" ऐसा न्याय सूत्र में उपसंख्यान करना चाहिये था। तथा प्रसिद्धार्थ एकत्व से साध्य साधन का ज्ञान

तथा स्वसमीपवर्त्तिप्रासादादिदर्शनोपजनितसंस्कारस्य तत्प्रतियोगिभूधराद्युपलम्भात् 'इदमस्माद्दूरम्' इति प्रतिपत्तिः, आमलकदर्शनाहितसंस्कारस्य बिल्वादिदर्शनात् 'अतस्तत्सूक्ष्मम्' इति, ह्रस्वदर्शनाविर्भूतसंस्कारस्य तद्विपरीतार्थोपलम्भात् 'अतोयं प्रांशुः, इति च प्रतिपत्तिः किं नाम मानं स्यात् ?

तथा वृक्षाद्यनभिज्ञो यदा कश्चित्कञ्चित्पृच्छति कीदृशो वृक्षादिरिति ? स तं प्रत्याह–'शाखादिमान्वृक्ष एकशृङ्गो गण्डकोऽष्टपादः शरभः चारुसटान्वितः सिंह.' इत्यादि। तद्वाक्याहितसंस्कारः प्रष्टा यदा शाखादिमतोर्थान् प्रतिपद्य 'अयं स वृक्षशब्दवाच्यः' इत्यादिरूपतया तत्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यते तदा किं नाम तत्प्रमाणं स्यात् ? उपमानम्; इत्यसम्भाव्यम्; सर्वत्रोक्तप्रकारप्रतिपत्तौ प्रसिद्धार्थसाधर्म्यासम्भवात्। ततः प्रतिनियतप्रमाणव्यवस्थामभ्युपगच्छता प्रतिपादितप्रकारा प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञैवेत्यभ्युपगन्तव्यम्।

होना उपमा प्रमाण है ऐसा भी नैयायिक को स्वीकार करना चाहिए, [क्योंकि यह भी प्रसिद्ध वैधर्म्य जैसे प्रतिभास वाला है] और इस तरह स्वीकार करने पर प्रत्यभिज्ञान का प्रत्यक्ष में अंतर्भाव करना अयुक्त सिद्ध होता है। तथा अपने निकटवर्ती महल आदि को देखकर जिसको संस्कार उत्पन्न हुआ है उस पुरुष के उस महल के प्रतियोगी पर्वत आदि को देखने से "यह इससे दूर है" इस प्रकार की प्रतीति होती है एवं आंवला को देखने से उत्पन्न हुआ है संस्कार जिसके उस पुरुष के बेल आदि को देखकर "इससे वह छोटा था" इत्यादि ज्ञान होता है तथा वामन पुरुष को देखकर संस्कारित हुए व्यक्ति के उससे विपरीत ऊँचे पुरुष के देखने से इससे यह ऊँचा है, इत्यादि ज्ञान होता है, ये सब कौन से प्रमाण कहलायेंगे ? तथा कोई पुरुष वृक्षादि को नहीं जानता है वह जब किसी को पूछता है कि वृक्षादि कैसे होते हैं ? तब वह उसको समझाता है कि शाखा आदि से युक्त वृक्ष होता है, एक सीग वाला गेंडा होता है, आठ पैरों वाला अष्टापद होता है, सुन्दर सटायुक्त सिंह होता है, इत्यादि। इन वाक्यों को सुनकर जिसके संस्कार हो चुका है ऐसा वह प्रश्न कर्त्ता जब शाखा युक्त वृक्ष को देखता है, तब यह वृक्ष शब्द का वाच्य पदार्थ है, इत्यादि संज्ञा और संज्ञी का संबध जान लेता है। इस प्रकार के ज्ञानों को कौन सा प्रमाण माना जाय ? उपमा कहना तो असंभव है क्योंकि सबमें उपर्युक्त प्रसिद्धार्थ साधर्म्य का अभाव है। इसलिये प्रतिनियत प्रमाण की व्यवस्था चाहने वाले परवादी को सादृश्य आदि भेद वाली प्रतीति को प्रत्यभिज्ञान रूप ही स्वीकार करना चाहिये।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान की सिद्धि का प्रकरण समाप्त हुआ।

स्मृति और प्रत्यभिज्ञान की प्रमाणता का सारांश

बौद्ध—हम स्मृति को प्रमाण नहीं मानते हैं ज्ञान मात्र को स्मृति कहे तो प्रत्यक्षादि सभी ज्ञान स्मृति शब्द से कहे जायेंगे। अनुभूत पदार्थ को जानने वाले ज्ञान को स्मृति माने तो भी जिस किसी देवदत्त के द्वारा अनुभूत की गई वस्तु जिस किसी यज्ञदत्त आदि को याद आनी चाहिए क्योंकि वह अनुभूत तो हो चुकी ? यदि कहे कि जिसने अनुभव किया है वही याद करेगा सो भी ठीक नहीं, मेरा यह स्मरण अनुभूत में ही हो रहा है ऐसा कौन निर्णय कर सकता है ? प्रत्यक्ष तो नहीं कर सकता और स्मृति अभी प्रामाणिक सिद्ध नहीं हुई है ?

जैन—यह कथन ठीक नहीं है, ज्ञान मात्र को स्मृति नहीं कहते किन्तु "वह" इस प्रकार के प्रतिभास को स्मृति कहते हैं, "अनुभूत की याद आ रही है" इस बात का निर्णय तो खुद आत्मा करता है क्योंकि वही अनुभव और स्मरण इन दोनों अवस्था में व्यापक रहता है, आप लोग सभी वस्तु को क्षणिक मानते हैं अतः कुछ व्यवस्था नहीं दिखाई देती है, अनुभूत वस्तु को जानने वाली होने से स्मृति को गृहीत ग्राही भी नहीं मानना क्योंकि अनुभूत पदार्थ का जब साक्षात् अनुभव हुआ था तब वह भिन्न ही था और अब वह सिर्फ यादगारी रूप है। तथा अनुभव किये हुए को जानने से स्मरण को अप्रमाण कहे तो अनुमान ज्ञान की सिद्धि नहीं होती, तथा प्रत्यक्ष भी अप्रमाणिक हो जायगा। जब कभी दूर से पर्वत पर धुआं देखकर अग्नि को जाना पुनः पहाड़ पर गये तो वही अग्नि प्रत्यक्ष होती है तो क्या उस प्रत्यक्ष को अप्रमाण कहेंगे ? अतीत विषय वाली होने से स्मृति को असत्य मानते हैं तो प्रत्यक्ष को भी असत्य मानना होगा, क्योंकि क्षणिकवादी के यहां पर जब ज्ञान होता है तब पदार्थ नहीं होता जब पदार्थ होता है तब ज्ञान नहीं होता, सबसे बड़ी आपत्ति तो यह है कि स्मृति को अप्रमाण मानने पर अनुमान की सिद्धि नहीं हो सकती।

बौद्ध आदि के प्रमाण की संख्या का विघटन करने वाला प्रत्यभिज्ञान भी एक पृथक् प्रमाण मौजूद है, इसको प्रत्यक्षादि में अंतर्भूत करना असम्भव है। प्रत्यभिज्ञान के एकत्व, सदृश, आदि विषय को न प्रत्यक्ष ग्रहण करता है और न स्मरण ही "यह वही है जिसको मैंने कल देखा था" इस ज्ञान में 'यह' इस प्रकार की झलक तो वर्तमान प्रत्यक्ष रूप है और "वही है" इस प्रकार की झलक अतीत स्मरण रूप है, इन

दोनों का जोड़ प्रत्यभिज्ञान ही कर सकता है। भिन्न भिन्न वस्तु की भिन्न भिन्न शक्ति हुआ करती है। बौद्धादि परवादी यदि प्रत्यभिज्ञान को नहीं मानेंगे तो सभी के इष्ट मत की सिद्धि नहीं होगी, क्योंकि स्वतत्व का प्रतिपादन अनुमान के द्वारा किया जाता है और अनुमान बिना प्रत्यभिज्ञान के उत्पन्न ही नहीं हो सकता है। प्रत्यभिज्ञान के बिना तो जगत का व्यवहार ही समाप्त होगा जो पहले दिया था उसको वापस दो ऐसा कह नहीं सकेंगे विवाह मंगल, मित्रता, शत्रुता, किये हुए कार्यों की सफलता, ऋण चुकाना, बीमा उतारना, आदि कार्य ठप्प हो जायेंगे, क्योंकि पहले और अभी के अवस्था के कार्यों का मिलान करने वाला कोई ज्ञान हमारे पास नहीं है। जिसके सहारे कह सकें कि यह पुत्री विवाहित है, यह मेरा शत्रु या मित्र है इत्यादि। इस ज्ञान में दो आकार हैं अर्थात् यह वही है ऐसे दो आकार प्रतीत हैं अतः अप्रमाण है ऐसा भी नहीं कह सकते। अनेक आकारों को एक साथ प्रतीत कराना तो ज्ञान की महिमा है उसे कौन रोकेगा? आप बौद्ध खुद ही चित्र ज्ञान को मानते हैं उसमें भी अनेक आकार हैं? कटे हुए नख केश आदि में यह वही है ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता है वह असत्य है अतः जोडरूप ज्ञान अप्रामाणिक है ऐसा कहना भी ठीक नही वह ज्ञान सादृश्य प्रत्यभिज्ञान रूप है न कि एकत्व रूप। तथा प्रत्यभिज्ञान को न माने तो अनुमान प्रमाण सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि अनुमान में जोडरूप ज्ञान की भी आवश्यकता है। नैयायिक प्रत्यभिज्ञान को उपमा प्रमाण में अन्तर्भूत करते हैं, किन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि उपमा में एकत्व, वैलक्षण्य, प्रतियोगी आदि प्रत्यभिज्ञानों का अन्तर्भाव होना अशक्य है। अतः प्रत्यभिज्ञान एक पृथक् प्रमाण सिद्ध होता है।

।। समाप्त ।।

१०

तर्कस्वरूपविचारः

अथेदानीमूहस्योपलम्भेत्यादिना कारणस्वरूपे निरूपयति—

उपलम्भानुपलम्भनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥११॥

उपलम्भानुपलम्भौ साध्यसाधनयोर्यथाक्षयोपशमं सकृत पुनः पुनर्वा दृढतरं निश्चयानिश्चयौ न भूयोदर्शनादर्शने । तेनातीन्द्रियसाध्यसाधनयोरागमानुमाननिश्चयानिश्चयहेतुकसम्बन्धबोधस्यापि सङ्ग्रहान्नाव्याप्तिः । यथा 'अस्त्यस्य प्राणिनो धर्मविशेषो विशिष्टसुखादिसद्भावान्यथानुपपत्तेः' इत्यादौ, 'आदित्यस्य गमनशक्तिसम्बन्धोऽस्ति गतिमत्त्वान्यथानुपपत्तेः' इत्यादौ च । न खलु

अब यहां पर तर्क प्रमाणके कारणका तथा स्वरूपका वर्णन करते हैं—

उपलंभानुपलंभनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ॥११॥

सूत्रार्थ—उपलंभ [साध्यके होने पर साधन का होना] तथा अनुपलंभ [साध्य के अभाव में साधन का नहीं होना] के निमित्त से होने वाले व्याप्ति ज्ञानको तर्क कहते हैं ।

व्याप्ति ज्ञानके दो कारण हैं—एक प्रत्यक्ष उपलंभ और एक अनुपलंभ । अग्नि के होने पर धूमके होने का ज्ञान प्रत्यक्ष है और अग्निके अभाव में धूम के अभाव का ज्ञान अनुपलंभ है । इन अग्नि और धूमादि रूप साध्य साधनों का क्षयोपशम के अनुसार एक बार में अथवा अनेक बार में दृढ़तर निश्चय अनिश्चय होना उपलंभ अनुपलंभ कहलाता है, अर्थात् इस अग्निरूप साध्य के होने पर ही यह धूमरूप साधन होता है और साध्य के न होने पर साधन भी नहीं होना ऐसा दृढ़तर ज्ञान होना उपलंभ अनुपलंभ है । साध्य साधन का बार बार प्रत्यक्ष होना उपलंभ है और उनका प्रत्यक्ष न

धर्मविशेषः प्रवचनादन्यतः प्रतिपत्तुं शक्यः, नाप्यतोनुमानादन्यतः कुतश्चित्प्रमाणादादित्यस्य गमनशक्तिसम्बन्धः साध्यत्वाभिमतः, साधनं वा गतिमत्त्वं देशाद्देशान्तरप्राप्तिमत्त्वानुमानादन्यत इति। तौ निमित्तं यस्य व्याप्तिज्ञानस्य तत्तथोक्तम्। व्याप्तिः साध्यसाधनयोरविनाभावः, तस्य ज्ञानमूहः।

न च बालावस्थायां निश्चयानिश्चयाभ्यां प्रतिपन्नसाध्यसाधनस्वरूपस्य पुनर्वृद्धावस्थायां तद्विस्मृतौ तत्स्वरूपोपलम्भेप्यविनाभावप्रतिपत्तेरभावात्तयोस्तद्हेतुत्वम्; स्मरणादेरपि तद्धेतुत्वात्।

होना अनुपलंभ है ऐसा उपलंभ अनुपलंभ शब्दों का अर्थ यहां इष्ट नहीं है, इसीलिये जो साध्य साधन इन्द्रिय गम्य नहीं है जिनका उपलंभ अनुपलंभ [साध्य साधन के अविनाभाव का ज्ञान] आगम एवं अनुमान प्रमाण द्वारा होता है उनके व्याप्ति ज्ञान का भी तर्क प्रमाण में संग्रह हो जाता है, अतः सूत्रोक्त तर्क प्रमाण लक्षण अव्याप्ति दोष युक्त नहीं है। जिस साध्य साधन का अविनाभाव आगम द्वारा गम्य है उसका उदाहरण—इस प्राणी के धर्म विशेष [पुण्य] है क्योंकि विशिष्ट सुखादि के सद्भावकी अन्यथानुपपत्ति है। जिस साध्य साधन की व्याप्ति अनुमान गम्य होती है उसका उदाहरण-सूर्य के गमन शक्ति सद्भाव है क्योंकि गतिमानकी अन्यथानुपपत्ति है इत्यादि। प्राणी के पुण्य विशेष को जानने के लिये आगम को छोड़कर अन्य कोई प्रमाण नहीं है तथा अनुमान प्रमाण को छोड़कर अन्य किसी प्रमाणसे सूर्य के गमन शक्ति को जानना भी शक्य नहीं है, अर्थात् गमन शक्तिका संबंध रूप साध्य और गतिमत्व रूप साधन देश से देशांतर की प्राप्ति रूप हेतु वाले अनुमान द्वारा ही उक्त व्याप्ति का ज्ञान होता है। इस प्रकार वे उपलंभ और अनुपलंभ हैं निमित्त जिस व्याप्ति ज्ञानके उसे कहते हैं "उपलंभानुपलंभ निमित्तं" यह इस पद का समास है। साध्य और साधनके अविनाभावको व्याप्ति कहते हैं और उसके ज्ञान को तर्क कहते हैं।

बाल अवस्था में जिस साध्य साधन का स्वरूप उपलंभ अनुपलंभ द्वारा निश्चित किया था वह वृद्धावस्थामें विस्मृत होजाने पर उस स्वरूप के उपलब्ध होते हुए भी अविनाभाव का ज्ञान नहीं होता अतः उक्त उपलंभ अनुपलंभ व्याप्ति ज्ञान के हेतु नहीं हैं ? ऐसी आशंका भी नहीं करना चाहिये, उपलंभादि के समान स्मरणादि ज्ञानोंको भी व्याप्ति ज्ञान का हेतु माना गया है, साध्य के होने पर ही साधन होता है साध्य के अभाव में साधन होता ही नहीं इस प्रकार के स्वरूप वाले निश्चय अनिश्चय को बार बार स्मरण करते हुए और प्रत्यभिज्ञान करते हुए जीव के व्याप्ति का ज्ञान होता ही है अतः

भूयो निश्चयानिश्चयौ हि स्मर्यमाणप्रत्यभिज्ञायमानौ तत्कारणमिति स्मरणादेरपि तन्निमित्तत्वप्रसिद्धिः। मूलकारणत्वेन तूपलम्भादेरत्रोपदेशः, स्मरणादेस्तु प्रकृतत्वादेव तत्कारणत्वप्रसिद्धेरनुपदेश इत्यभिप्रायो गुरूणाम् ।

तच्च व्याप्तिज्ञानं तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिभ्यां प्रवर्त्तत इत्युपदर्शयति-इदमस्मिन्नित्यादि ।

इदमस्मिन् सत्येव भवति असति तु न भवत्येवेति च ।।१२।।

स्मरणादिमें भी व्याप्ति ज्ञानका हेतुपना सिद्ध है। व्याप्ति ज्ञान का मूल निमित्त उपलंभादि होने से उनका सूत्र में उपदेश किया है, स्मरणादि तो प्रस्तुत होने से ही तर्क के निमित्तरूप से सिद्ध है अतः उनका सूत्र में उल्लेख नहीं किया है, इस तरह गुरुदेव माणिक्यनन्दी आचार्य का अभिप्राय है ।

विशेषार्थ— तर्क प्रमाणके निमित्त का प्रतिपादन करते हुए प्रभाचन्द्राचार्य ने सबसे पहले यह खुलासा किया कि—साध्य साधन के व्याप्ति का ज्ञान केवल प्रत्यक्ष निमित्तक नही है अपितु आप्त पुरुष के [यो यत्र अवचंकः स स्तत्र आप्तः] वाक्यों को सुनकर और अनुमान द्वारा भी व्याप्ति ज्ञान होता है। यदि साध्य साधन के अविनाभाव का निश्चय केवल प्रत्यक्ष द्वारा होना माने तो अतीन्द्रिय रूप साध्य साधनका अविनाभाव ज्ञात नहीं हो सकेगा। इस पुरुषके पुण्य का सद्भाव पाया जाता है, क्योंकि विशिष्ट सुखादिको अन्यथानुपपत्ति है। सूर्य के गमन शक्ति का अविनाभाव भी प्रत्यक्ष व गम्य नहीं होता। अतः जो परवादी व्याप्ति का ग्रहण केवल प्रत्यक्ष द्वारा होना मानते हैं वह असत् है। तर्क में स्मरणादि ज्ञान भी निमित्त हुआ करते हैं, यदि साध्य साधन के अविनाभाव का ज्ञान विस्मृत हो जाय तो तर्क प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता प्रत्यभिज्ञान भी इस ज्ञान में निमित्त होता है किन्तु मुख्य कारण उपलंभ अनुपलंभ है अतः इन्हीं को सूत्र बद्ध किया है।

उस तर्क प्रमाण की प्रवृत्ति तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति द्वारा होती है ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

इदमस्मिन् सत्येव भवति असति तु न भवत्येवेति च ।।१२।।

इदं साधनत्वेनाभिप्रेतं वस्तु, अस्मिन्साध्यत्वेनाभिप्रेते वस्तुनि सत्येव सम्भवतीति तथोपपत्तिः। अन्यथा साध्यमन्तरेण न भवत्येवेत्यन्यथानुपपत्तिः। वाशब्द उभयप्रकारसूचकः।

तावेवोभयप्रकारौ सुप्रसिद्धव्यक्तिनिष्ठतया सुखावबोधार्थं प्रदर्शयति—

यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।।१३।।

ननु चास्याऽप्रमाणत्वात्किं कारणस्वरूपनिरूपणप्रयासेन; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतोस्याप्रामाण्यं गृहीतग्राहित्वात्, विसंवादित्वाद्वा स्यात्, प्रमाणविषयपरिशोधकत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे साध्यसाधनयोः साकल्येन व्याप्तिः प्रत्यक्षात् प्रतीयते, अनुमानाद्वा ? न तावत्प्रत्यक्षात्; तस्य सन्निहितमात्रगोचरतया देशादिविप्रकृष्टाशेषार्थालम्बनत्वानुपपत्तेः, तत्रास्य वैशद्यासम्भवाच्च। न खलु सत्त्वानित्यत्वादयोऽ-

---

सूत्रार्थ—यह इसके होने पर ही होता है और नहीं पर नहीं होता। 'इदं' इस पद से साधन रूप से अभिप्रेत वस्तु का ग्रहण होता है तथा 'अस्मिन्' इस पद से साध्य रूप से अभिप्रेत वस्तु का ग्रहण होता है, यह साधन इस साध्य के होने पर ही होता है यह तथोपपत्ति कहलाती है, साध्य के विना साधन नहीं होता, यह अन्यथानुपपत्ति कहलाती है। सूत्रोक्त वा [तु] शब्द उभय प्रकार का सूचक है।

इस तथोपपत्ति और अन्यथानुपपत्ति रूप उभय प्रकार को सुप्रसिद्ध दृष्टांत द्वारा सुख पूर्वक अवबोध कराने के लिये कहते हैं—

यथाग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।।१३।।

सूत्रार्थ—जिस प्रकार धूम अग्नि के होने पर ही होता है और अग्नि के अभाव में नहीं होता।

शंका—तर्क ज्ञान अप्रमाण है अतः इसके कारण और स्वरूप का प्रतिपादन करना व्यर्थ है ?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं, तर्क अप्रमाणभूत किस कारण से है गृहीत ग्राही होने से, विसंवादित्व होने से या प्रमाण के विषय का परिशोधक होने के कारण ? प्रथम पक्ष—गृहीत ग्राही होने से तर्क ज्ञान अप्रामाणिक है ऐसा माने तो कौनसे प्रमाण से उसका विषय ग्रहण हुआ है। साध्य साधन की साकल्य रूपसे व्याप्ति प्रत्यक्षसे प्रतीत होती है या अनुमानसे ? केवल सन्निहित पदार्थका ग्राहक होनेके कारण प्रत्यक्ष ज्ञान देशादिसे विप्रकृष्ट [दूरवर्त्ती] भूत अशेष पदार्थोंका ग्राहक नहीं हो सकता तथा उन विषयों में इसका वैशद्यधर्म भी असंभव है। सत्व नित्यत्व आदि तथा अग्नि धूम आदि सभी पदार्थ

ग्निधूमादयो वा सर्वे भावाः सन्निधानवत् प्रत्यक्षे विशदतया प्रतिभान्ति, प्राणिमात्रस्य सर्वज्ञतापत्तेरनुमानानर्थक्यप्रसङ्गाच्च। अविचारकतया चाध्यक्षं 'यावान् कश्चिद्धूमः स सर्वोपि देशान्तरे कालान्तरे वाग्निजन्माऽन्यजन्मा वा न भवति' इत्येतावतो व्यापारान् कर्त्तुमसमर्थम्। पुरोऽव्यवस्थितार्थेषु प्रत्यक्षतो व्याप्तिं प्रतिपद्यमानः सर्वोपसंहारेण प्रतिपद्यते; इत्यप्यसुन्दरम्; अविषये सर्वोपसंहारायोगात्।

प्रत्यक्षपृष्ठभाविनो विकल्पस्यापि तद्विषयमात्राध्यवसायत्वात् सर्वोपसंहारेण व्याप्तिग्राहकत्वाभावः, तथा चानिश्चितप्रतिबन्धकत्वाद्देशान्तरादौ साधनं साध्यं न गमयेत्।

ननु कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितो विशिष्टप्रत्यक्षानुपलम्भाभ्यां निश्चितः, स देशान्तरादौ तदभावेपि भवंस्तत्कार्यतामेवातिवर्त्तेत, इत्याकस्मिकोऽग्निनिवृत्तौ न क्वचिदपि निवर्त्तेत,

---

विशदरूपसे प्रतीत होते हुए दिखायी नहीं देते, यदि प्रतीत होते तो अशेष प्राणी सर्वज्ञ होने की आपत्ति आयेगी तथा अनुमान प्रमाण भी व्यर्थ ठहरेगा क्योंकि सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हो चुके हैं तो अनुमानकी क्या आवश्यकता? तथा परमतानुसार प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्प होने से 'जितना भी धूम है वह सब देशान्तर तथा कालांतरमें भी अग्नि से ही प्रादुर्भूत है अन्य से प्रादुर्भूत नहीं होता' इतने अधिक प्रतीति के कार्यको करने में असमर्थ है, वह तो केवल सामने उपस्थित हुए पदार्थो का ही ग्राहक है।

शंका—सामने उपस्थित पदार्थोंमें पहले प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति को ग्रहण कर लेते हैं और फिर क्रमशः सर्वोपसंहार रूपसे ग्रहण करते हैं?

समाधान—यह कथन असुंदर है, जो अपना विषय नहीं है उस अविषय भूत पदार्थ में सर्वोपसंहार रूपसे जानना अशक्य है।

प्रत्यक्ष के पश्चात् प्रादुर्भूत हुए विकल्प ज्ञान द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होना भी असंभव है, क्योंकि वह भी सन्निहितका ही ग्राहक है अतः सर्वोपसंहार से व्याप्ति का ग्राहक होना शक्य नहीं, इस तरह प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का अनिश्चय होने से देशांतरादिमें वह साधन स्वसाध्यका गमक नहीं हो सकता।

यहां पर कोई कहता है कि—कार्य धर्मकी अनुवृत्ति होनेसे प्रत्यक्ष एवं अनुपलंभ द्वारा धूम अग्निका कार्य है ऐसा निश्चित हो जाता है, यदि वह देशान्तरमें अग्निके अभावमें भी उपलब्ध होता है तो उसका कार्य कहाता, इस तरह अकारण रूप सिद्ध होने से कहीं पर अग्निके निवृत्त होने पर भी निवृत्त नहीं होगा तथा उसके सद्भाव होने पर नियमितपने से सद्भाव रूप भी नहीं रहेगा, इस प्रकार खरविषाण के समान उस

नाप्यवश्यंतया तत्सद्भावे एव स्यादिति, अहेतोः खरविषाणवत्तस्यासत्त्वात् क्वचिदप्युपलम्भो न स्यात्, सर्वत्र सर्वदा सर्वाकारेण वोपलम्भः स्यात्। स्वभावश्च 'तद्वतोर्थस्याभावेपि यदि स्यात्तदार्थस्य निःस्वभावत्वं स्वभावस्य वाऽसत्त्वं स्यात्, तत्स्वभावतया चास्य कदाचिदप्युपलम्भो न स्यात्। उक्तञ्च—

"कार्यं धूमो हुतभुजः कार्यधर्मानुवृत्तितः।
सम्भवंस्तदभावेपि हेतुमत्तां विलङ्घयेत्॥"

[प्रमाणवा० १।३५]

"स्वभावेप्यविनाभावो भावमात्रानुबन्धिनि।
तदभावे स्वयं भावस्याभावः स्यादभेदतः॥"

[प्रमाणवा० १।४०] इति।

अहेतुक धूमकी असत्व होने से कहीं पर भी उपलब्धि नहीं हो सकेगी अथवा सर्वत्र सर्वदा सर्वाकार से उपलब्धि होने लगेगी। कार्य हेतु के समान स्वभाव हेतु की भी बात है, यदि स्वभाव भी स्वभाववान् अर्थ के अभावमें रहेगा तो स्वभाववान् अर्थ निःस्वभाव बन जायगा अथवा स्वभाव का ही असत्व हो जायगा, फिर तो पदार्थ के स्वभावरूप से इसकी कहीं भी उपलब्धि नहीं हो सकेगी। कहा भी है—अग्नि के कार्य धर्म की अनुवृत्ति होनेसे धर्म उसका कार्य कहाता है, यदि वह अग्नि के अभाव में होता तो उसका कार्य नहीं कहा जाता ॥१॥ स्वभाव हेतु की भी यही बात है भाव मात्र का अनुकरण करने वाले स्वभाव में अविनाभाव होता है अर्थात् स्वभाव और स्वभाववान में अभेद होने के कारण स्वभाव के अभाव में स्वभाववान का अभाव हो जाता है।

किन्तु शंकाकार का उपर्युक्त कथन ठीक नही है प्रत्यक्षादि से व्याप्ति का बोध होने पर भी केवल उस प्रत्यक्ष के काल में उपलब्ध व्यापक के साथ हो व्याप्य की व्याप्ति सिद्ध हो सकती है उसीका उस तरह से निश्चय हुआ है, तत् सदृश अन्य व्याप्यके साथ तो व्याप्ति का निश्चय नहीं हो सकता, यदि तत् सदृश अन्य व्याप्य की भी व्याप्ति गृहीत होती है ऐसा माना जाय तो उस व्याप्ति ग्राहक विकल्प रूप ज्ञानको अग्रहीतग्राहीपना कैसे नहीं होगा? यदि किसी प्रदेश विशेष में प्रत्यक्ष द्वारा साध्यके साथ हेतु की व्याप्ति जानी जाती है और उससे अनुमान प्रमाण प्रवृत्त होता है उस ज्ञान को विशेष तो दृष्ट अनुमान कहना होगा न कि तर्क प्रमाण, क्योंकि उक्त ज्ञान द्वारा अन्य देश आदिमें स्थित साध्य के साथ इस हेतु की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती।

व्याप्तिप्रतिपत्तावपि तन्निश्चयकालोपलब्धेनैव व्यापकेन व्याप्यस्य व्याप्तिः स्यात् तस्यैव तथा निश्चयात्, न तादृशस्य। तादृशस्यापि साध्यव्याप्तत्वग्रहणे तद्ग्राहिणो विकल्पस्यागृहीतग्राहित्वं कथं न स्यात्? यत्तु प्रत्यक्षेण क्वचित्प्रदेशे साध्यव्याप्तत्वेन प्रतिपन्नं ततस्तस्यानुमाने विशेषतो दृष्टानुमानं स्यात्, अन्यदेशादिस्थसाध्येनास्याव्याप्तेः।

पारिशेष्यात्तादृशेन व्यापकेनान्यत्र तादृशस्य व्याप्तिसिद्धिश्चेत्, ननु किमिदं पारिशेष्यम्–प्रत्यक्षम्, अनुमानं वा? न तावत्प्रत्यक्षम्; देशान्तरस्थस्यानुमेयस्य प्रत्यक्षेणाप्रतिपत्तेः, अन्यथानुमानानर्थक्यानुषङ्गः। नाप्यनुमानम्; तत्राप्यनुमानान्तरेण व्याप्तिप्रतिपत्तावनवस्थाप्रसङ्गात्, तेनैव तत्प्रतिपत्तावन्योन्याश्रयः।

एतेन साध्यसाधनयोः साकल्येनानुमानाद्व्याप्तिप्रतिपत्तेस्तर्कस्याप्रामाण्यमिति प्रत्युक्तम्। तन्न प्रत्यक्षानुमानयोः साकल्येन व्याप्तिप्रतिपत्तौ सामर्थ्यम्।

शंका—अन्य देशादि के साध्य में उस प्रकार के व्यापक से व्याप्य की व्याप्ति तो पारिशेष्य रूप ज्ञान द्वारा हो जाया करती है?

समाधान—अच्छा तो बताईये पारिशेष्य ज्ञान किसे कहते हैं प्रत्यक्ष को या अनुमान को? प्रत्यक्ष को तो कह नहीं सकते, क्योंकि देशांतर में स्थित अनुमेय अर्थ की प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिपत्ति होना असंभव है, यदि प्रत्यक्ष से ही उसकी प्रतिप्रत्ति होगी तो अनुमान प्रमाण मानना व्यर्थ ठहरता है। अनुमान को पारिशेष्य ज्ञान कहना भी ठीक नहीं क्योंकि उस पारिशेष्य रूप अनुमान की व्याप्ति को यदि अन्य अनुमान द्वारा ज्ञात होना स्वीकार करते हैं तो अनवस्था दूषण आता है और उसी अनुमान द्वारा ज्ञात होना स्वीकारते हैं तो अन्योन्याश्रय दूषण प्राप्त होता है। इस प्रकार यहां तक यह सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है। इसी कथन से साध्य साधन की व्याप्ति साकल्य से अनुमान द्वारा गृहीत होती है अतः तर्क अप्रमाणभूत है ऐसा कहना भी खंडित हुआ समझना चाहिए। इसलिये यह निश्चय हुआ कि प्रत्यक्ष और अनुमान में पूर्णरूपेण व्याप्ति को ग्रहण करने की सामर्थ्य नहीं है।

शंका – हम जैसे सामान्य पुरुष संबंधी प्रत्यक्ष ज्ञान में व्याप्ति प्रतिपत्ति की सामर्थ्य भले ही न हो किन्तु योगीजनोंके प्रत्यक्ष ज्ञान में तो होती है?

अथास्मदादिप्रत्यक्षस्य व्याप्तिप्रतिपत्तावसामर्थ्येपि योगिप्रत्यक्षस्य तत् स्यात्; इत्यप्यसत्; तस्याप्यविचारकतया तावतो व्यापारान् कर्तुमसमर्थत्वाविशेषात्। कुतश्चास्योत्पत्तिः–विकल्पमात्राभ्यासात्, अनुमानाभ्यासाद्वा? प्रथमपक्षे कामशोकादिज्ञानवत्तस्याप्रामाण्यप्रसङ्गः। द्वितीयपक्षेप्यन्योन्याश्रयः–व्याप्तिविषये हि योगिप्रत्यक्षे सत्यनुमानम्, तस्मिंश्च सति तदभ्यासाद्योगिप्रत्यक्षमिति। अस्तु वा योगिप्रत्यक्षम्; तथापि-तत्प्रतिपन्नार्थेष्वनुमानवैयर्थ्यम्। साध्यसाधनविशेषेषु स्पष्टं प्रतिभातेष्वपि अनुमाने सर्वत्रानुमानानुषङ्गात् स्वरूपस्याप्यध्यक्षतोऽप्रसिद्धिः।

परार्थं तस्यानुमानमिति चेत्; तर्हि योगी परार्थानुमानेन गृहीतव्याप्तिकम्, अगृहीतव्याप्तिकं वा परं प्रतिपादयेत्? गृहीतव्याप्तिकं चेत्; कुतस्तेन गृहीता व्याप्तिः? न तावत्स्वसंवेदनेन्द्रियमनो-

---

समाधान—यह शंका असत् है, योगीजनों का प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्प होने से उतना व्यापार करने में असमर्थ ही है, तथा इस योगी प्रत्यक्ष की उत्पत्ति किससे होती है विकल्प मात्र के अभ्यास से अथवा अनुमान के अभ्यास से? प्रथम पक्ष स्वीकृत हो तो काम शोकादि ज्ञान के समान उस योगी प्रत्यक्ष को भी अप्रमाणपना प्राप्त होगा। द्वितीय पक्ष कहो तो अन्योन्याश्रय होगा व्याप्ति को विषय करने वाले योगी प्रत्यक्षके होने पर अनुमान होगा और अनुमान के होने पर उसके अभ्यास द्वारा योगी प्रत्यक्ष उत्पन्न होगा। कदाचित् योगी प्रत्यक्ष ज्ञान मान लेवे तो भी उसके द्वारा ज्ञात हुए पदार्थों में अनुमान की प्रवृत्ति होना व्यर्थ ठहरता है, यदि साध्य साधनभूत पदार्थ विशेष स्पष्ट रूपेण प्रतिभासित होने पर भी उसमें अनुमान प्रवृत्त होता है तो सर्वत्र अनुमान से ही सिद्धि होगी फिर तो स्वयं के स्वरूप की प्रत्यक्ष से सिद्धि होना दुर्लभ होगा।

शंका—योगीजन का अनुमान प्रयोग परके लिये होता है?

समाधान—तो फिर वह योगी परार्थानुमान द्वारा व्याप्ति को ग्रहण करके परको समझाता है अथवा बिना व्याप्ति को ग्रहण किये परको समझाता है? यदि व्याप्ति को ग्रहण करके समझाता है तो उसने किस ज्ञान द्वारा व्याप्तिको ग्रहण किया है? स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से या इन्द्रिय प्रत्यक्ष से अथवा मानसप्रत्यक्ष से व्याप्ति को ग्रहण करना तो शक्य नहीं क्योंकि व्याप्ति उन प्रत्यक्षों का विषय नहीं है। तथा योगी प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्तिका ज्ञान होना स्वीकार करें तो अनुमान प्रमाण व्यर्थ ठहरता है ऐसा पहले ही कह दिया है। व्याप्तिको बिना ग्रहण किये योगी परको समझाता है

विज्ञानैः; तेषां तदविषयत्वात् । योगिप्रत्यक्षेण व्याप्तिप्रतिपत्तावनुमानवैयर्थ्यमित्युक्तम् । अगृहीतव्याप्तिकस्य च प्रतिपादनानुपपत्तिरतिप्रसङ्गात् ।

मानसप्रत्यक्षाद्व्याप्तिप्रतिपत्तिरित्यन्ये; तेऽप्यतत्त्वज्ञाः; प्रत्यक्षस्येन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभवत्वाभ्युपगमात् । अणुस्वभावमनसो युगपदशेषार्थैस्तत्सम्बन्धस्य च प्रागेव प्रतिविहितत्वात् कथं तत्प्रत्ययेनापि व्याप्तिप्रतिपत्तिः ?

ननु साध्यसाधनधर्मयोः क्वचिद्व्यक्तिविशेषे प्रत्यक्षत एव सम्बन्धप्रतिपत्तिः; इत्यप्ययुक्तम्; साकल्येन तत्प्रतिपत्त्यभावानुषङ्गात् । साध्यं च किमग्निसामान्यम्, अग्निविशेषः, अग्निसामान्यविशेषो वा ? न तावदग्निसामान्यम्; तदनुमाने सिद्धसाध्यतापत्तेः, विशेषतोऽसिद्धेश्च ? नाप्यग्निविशेषः;

ऐसा माने तो असत् है, क्योंकि बिना व्याप्ति ज्ञानके परको समझाना अशक्य है, अन्यथा अतिप्रसंग होगा ।

मानस प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्तिकी प्रतिपत्ति होती है ऐसा कोई प्रवादी कहते हैं वे भी अतत्त्वज्ञ हैं, क्योंकि उनके यहां प्रत्यक्षको इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्षसे उत्पन्न होना स्वीकार किया है । तथा अणु स्वभाव वाले मनके द्वारा युगपत् संपूर्ण पदार्थों के संबंध होना असंभव है ऐसा पहले ही कह चुके हैं अतः मानस ज्ञान द्वारा व्याप्ति की प्रतिपत्ति किस प्रकार संभव हो सकती है ?

शंका—किसी व्यक्ति विशेष में साध्य साधन धर्मों का संबंध प्रत्यक्ष से ही जाना जाता है ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, प्रत्यक्ष द्वारा साध्य साधन की पूर्णरूपेण प्रतिपत्ति नहीं होती, प्रत्यक्ष में इस तरह की प्रतिपत्तिका अभाव ही है । तथा साध्य साधन का संबंध प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है ऐसा माने तो उसमें साध्य किसको माना जाय अग्नि सामान्यको, अग्नि विशेष को अथवा अग्नि सामान्य विशेष को ? अग्नि सामान्यको साध्य बनाना युक्त नहीं क्योंकि उसके अनुमान करने में सिद्धसाध्यता है तथा प्रत्यक्ष द्वारा व्याप्ति का ज्ञान होना माने तो देशादि विशेष से अग्नित्व सामान्य की सिद्धि नहीं हो सकती ।

भावार्थ—सर्वत्र साध्य साधन का अविनाभाव संबंध होता है इस प्रकार का व्याप्ति ज्ञान किस प्रमाण से होता है इस विषय में विविध मत हैं अनेक बौद्धादि प्रवादी अपनी मान्यता का समर्थन कर रहे हैं इसी बीच एक ने कहा कि साध्य साधन की

तस्यानन्वयात् । अग्निसामान्यविशेषस्य साध्यत्वे तेन धूमस्य सम्बन्धः कथं सकलदेशकालव्याप्त्याध्यक्षतः सिद्ध्येत् ? तथा तत्सम्बन्धासिद्धौ च यत्र यत्र यदा यदा धूमोपलम्भस्तत्र तत्र तदा तदाग्निसामान्यविशेषविषयमनुमानं नोदयमासादयेत् । न ह्यन्यथा सम्बन्धग्रहणमन्यथानुमानोत्थानं नाम, अतिप्रसङ्गात् । ततः सर्वाक्षेपेण व्याप्तिग्राही तर्कः प्रमाणयितव्यः ।

ननु 'यावान्कश्चिद्धूमः स सर्वोप्यग्निजन्माऽनग्निजन्मा वा न भवति' इत्यूहापोहविकल्पज्ञानस्य सम्बन्धग्राहिप्रत्यक्षफलत्वान्न प्रामाण्यम्; इत्यप्यसमीचीनम्; प्रत्यक्षस्य सम्बन्धग्राहित्वप्रतिषेधात् । तत्फलत्वेन चास्याऽप्रामाण्ये विशेषणज्ञानफलत्वाद्विशेष्यज्ञानस्याप्यप्रामाण्यानुषङ्गः । हानोपादानोपेक्षाबुद्धिफलत्वात्तस्य प्रामाण्ये च ऊहापोहज्ञानस्यापि प्रमाणत्वमस्तु सर्वथा विशेषाभावात् । तन्नास्य गृहीतग्राहित्वादप्रामाण्यम् ।

व्याप्ति को किसी व्यक्ति विशेषमें प्रत्यक्ष से ही ज्ञात कर लेते हैं, तब आचार्य समझाते हैं कि प्रत्यक्ष द्वारा साकल्य रूप से व्याप्ति का ज्ञान नहीं हो सकता तथा प्रत्यक्ष द्वारा साध्य साधन का संबंध जाना जाता है ऐसा स्वीकार करे तो उस वक्त साध्य किसको बनायेंगे, यदि सामान्य अग्निको साध्य बनाते हैं तो वह सिद्ध ही है और अग्नि विशेषको बनाते हैं तो उसका सर्वत्र अन्वय नहीं रहता अतः प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सर्वोपसंहाररूप व्याप्तिका ज्ञान होना अशक्य है । यही बात आगे कह रहे हैं ।

दूसरा पक्ष—अग्नि विशेषको साध्य बनाते हैं तो उसका सर्वत्र अन्वय नहीं रह सकता । अग्नि सामान्य विशेषको साध्य बनावे तो उसके साथ धूमका संबंध संपूर्ण देश एवं काल की व्याप्ति के द्वारा प्रत्यक्षसे किस प्रकार सिद्ध होवेगा ? तथा उस सम्बन्ध के असिद्ध होने पर जहां जहां जब जब धूम उपलब्ध है वहां वहां तब तब अग्नि सामान्य विशेष को विषय करने वाला अनुमान प्रवृत्त नहीं हो सकेगा, क्योंकि सम्बन्ध को अन्यथारूप से ग्रहण करे और अनुमान अन्यथारूप से उत्पन्न होवे ऐसा नहीं होता, यदि माने तो अति प्रसंग होगा । इसलिए व्याप्तिको ग्रहण करने वाला तर्क नामा ज्ञान पृथक् ही है और वह प्रमाणभूत है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

शंका—जो कोई भी धूम होता है वह सब अग्नि से उत्पन्न होता है बिना अग्निके नहीं होता इस प्रकार का ऊहापोहरूप विकल्पज्ञान सम्बन्ध ग्राही प्रत्यक्ष प्रमाण फल है अतः वह प्रमाणभूत नहीं है ?

नापि विसंवादित्वात्; स्वविषयेऽस्य संवादप्रसिद्धेः। साध्यसाधनयोरविनाभावो हि तर्कस्य विषयः, तत्र चाविसंवादकत्वं सुप्रसिद्धमेव। कथमन्यथानुमानस्याविसंवादकत्वम्? न खलु तर्कस्यानुमाननिबन्धनसम्बन्धे संवादाभावेऽनुमानस्यासौ घटते।

ननु चास्य निश्चितः संवादो नास्ति विप्रकृष्टार्थविषयत्वात्; तदसत्; तर्कस्य संवादसन्देहे हि कथं निस्सन्देहानुमानोत्थानम्? तदभावे च कथं सामस्त्येन प्रत्यक्षस्याप्रामाण्यव्यवच्छेदेन प्रामाण्यप्रसिद्धिः? ततो निस्सन्देहमनुमानमिच्छता साध्यसाधनसम्बन्धग्राहि प्रमाणमसन्दिग्धमेवाभ्युपगन्तव्यम्।

समाधान—यह कथन असमीचीन है, प्रत्यक्ष प्रमाण संबंधग्राही नहीं होता ऐसा अभी सिद्ध कर आये हैं, तथा प्रत्यक्ष का फल होने से इस ज्ञानको अप्रमाण मानेंगे तो विशेषण ज्ञान का फल होने से विशेष्य ज्ञान को भी अप्रमाण मानना होगा। यदि कहा जाय कि हान उपादान एवं उपेक्षा बुद्धिरूप फल युक्त होने से विशेष्य ज्ञानको प्रमाण मानते हैं तो ऊहापोह ज्ञानको भी प्रमाण मानना चाहिये, क्योंकि उभयत्र कोई विशेषता नहीं है अर्थात् विशेष्य ज्ञान में हानादि बुद्धि रूप फल है तो ऊहापोह ज्ञानमें भी हानादि बुद्धि रूप फल पाया जाता है। इसलिये गृहीतग्राही होने से तर्क अप्रमाण है ऐसा सिद्ध नहीं होता है।

विसंवादक होने से तर्क अप्रमाण है ऐसा कहना भी असत् है तर्क ज्ञान तो अपने विषय में संवाद स्वरूप है साध्य और साधन का अविनाभाव इस तर्क ज्ञान का विषय है, और उसमें अविसंवादकपना सुप्रसिद्ध ही है। यदि ऐसा नहीं होता तो अनुमान प्रमाण में अविसंवादकपना कैसे होता? अनुमान के निमित्तभूत तर्क ज्ञान के विषय में यदि संवादपने का अभाव है तो वह अनुमान में भी घटित नहीं हो सकता।

शंका—तर्क में संवादपना पाया जाना निश्चित नहीं क्योंकि वह अति दूर देशादि में स्थित पदार्थ को विषय करता है?

समाधान—यह कथन असत् है, यदि तर्क ज्ञान में संवादपने का संदेह माना जायगा तो निःसंदेहरूप अनुमान की उत्पत्ति किस प्रकार होगी? और इस तरह अनुमान का अभाव होने पर प्रत्यक्ष प्रमाण में अप्रामाण्य का व्यवच्छेद करके पूर्णरूपेण प्रामाण्य प्रसिद्धि कैसे संभव होगी? अतः निःसंदेहरूप अनुमान की उत्पत्ति चाहने वाले को साध्य साधन के अविनाभाव संबंध को ग्रहण करने वाले ज्ञानको अवश्यमेव स्वीकार करना होगा।

समारोपव्यवच्छेदकत्वाच्चास्य प्रामाण्यमनुमानवत् ।

प्रमाणविषयपरिशोधकत्वान्नोहः प्रमाणम्; इत्यपि वार्त्तम्; प्रमाणविषयस्याप्रमाणेन परिशोधनविरोधात् मिथ्याज्ञानवत्प्रमेयार्थवच्च । प्रयोगः-प्रमाणं तर्कः प्रमाणविषयपरिशोधकत्वादनुमानादिवत् । यस्तु न प्रमाणं स न प्रमाणविषयपरिशोधकः यथा मिथ्याज्ञानं प्रमेयो वार्थः, प्रमाणविषयपरिशोधकश्चायम्, तस्मात्प्रमाणम् ।

तथा, प्रमाणं तर्कः प्रमाणानामनुग्राहकत्वात्, यत्प्रमाणानामनुग्राहकं तत्प्रमाणम् यथा प्रवचनानुग्राहकं प्रत्यक्षमनुमानं वा, प्रमाणानामनुग्राहकश्चायमिति । न चायमसिद्धो हेतुः, प्रमाणानुग्रहो हि प्रथमप्रमाणप्रतिपन्नार्थस्य प्रमाणान्तरेण तथैवावसायः, प्रतिपत्तिदाढर्य विधानात् । स

तर्क ज्ञान समारोपका [संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय] व्यवच्छेदक होने से प्रमाणभूत है, जैसे अनुमान ज्ञान समारोपका व्यवच्छेदक होने से प्रमाणभूत है ।

प्रमाण के विषय का परिशोधक होने से तर्क प्रमाणभूत नहीं है ऐसा कहना भी व्यर्थ है, प्रमाण के विषय का परिशोधक ज्ञान कभी अप्रमाणभूत हो ही नहीं सकता वह तो प्रमाण रूप ही होगा, अप्रमाणभूत ज्ञानमें तो परिशोधकपने का अभाव ही है जैसे कि मिथ्याज्ञान में परिशोधकता नहीं है अथवा प्रमेयार्थ में परिशोधकता नहीं, अतः निश्चित होता है कि तर्क ज्ञान प्रमाणभूत है क्योंकि प्रमाण के विषयका परिशोधक है जैसे अनुमान ज्ञान परिशोधक है, जो स्वयं प्रमाणभूत नहीं होता वह प्रमाण के विषयका परिशोधक भी नहीं होता, जिस प्रकार मिथ्याज्ञान या प्रमेयभूत अर्थ परिशोधक नहीं है, यह तर्क ज्ञान प्रमाण के विषय का परिशोधक देखा जाता है अतः प्रमाणभूत है ।

तर्क को प्रमाणभूत सिद्ध करने वाला अन्य अनुमान उपस्थित करते हैं—तर्क ज्ञान प्रमाणभूत है क्योंकि वह प्रमाणोंका अनुग्राहक है, जो ज्ञान प्रमाणोंका अनुग्राहक होता है वह प्रमाणभूत होता है जैसे प्रवचनका [आगमका] अनुग्राहक प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाणभूत होता है, तर्क प्रमाणोंका अनुग्राहक अवश्य है । इस अनुमानका अनुग्राहकत्व हेतु असिद्ध भी नहीं है क्योंकि प्रथम प्रमाण द्वारा ज्ञात हुए पदार्थको अन्य प्रमाण द्वारा वैसा ही निश्चय करना प्रमाणोंका अनुग्रह कहलाता है, यह अनुग्रह दृढ़ निश्चय के लिये हुआ करता है, ऐसा अनुग्राहकत्व तर्क ज्ञानमें अवश्य

चात्रास्ति प्रत्यक्षादिप्रमाणेनावगतस्य देशतः साध्यसाधनसम्बन्धस्य दृढतरमनेनावगमात्। ततः साध्यसाधनयोरविनाभावावबोधनिबन्धनमूहज्ञानं परीक्षादक्षैः प्रमाणमभ्युपगन्तव्यम्।

न चोहः सम्बन्धज्ञानजन्मा यतोऽपरापरोहानुसरणादनवस्था स्यात्; प्रत्यक्षानुपलम्भजन्मत्वात्तस्य। स्वयोग्यताविशेषवशाच्च प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्वं प्रत्यक्षवत्। प्रत्यक्षे हि प्रतिनियतार्थपरिच्छेदो योग्यतात एव न पुनस्तदुत्पत्त्यादेः, ततस्तत्परिच्छेदकत्वस्य प्राक्प्रतिषिद्धत्वात्। योग्यताविशेषः पुनः प्रत्यक्षस्येवास्य स्वविषयज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषः प्रतिपत्तव्यः।

ननु यथा तर्कस्य स्वविषये सम्बन्धग्रहणनिरपेक्षा प्रवृत्तिस्तथानुमानस्याप्यस्तु सर्वत्र ज्ञाने स्वावरणक्षयोपशमस्य स्वार्थप्रकाशनहेतोरविशेषात्, तथा चानर्थकं सम्बन्धग्रहणार्थं तर्कपरिकल्पनम्;

पाया जाता है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा एक देश से ज्ञात हुए साध्य साधन सम्बन्धका दृढतर निश्चय तर्क द्वारा ही होता है। इसलिये साध्य साधनके अविनाभाव सम्बन्धको जाननेमें निमित्तभूत इस तर्क ज्ञानको परीक्षामें दक्ष पुरुषों द्वारा प्रमाणरूप स्वीकार करना ही चाहिये।

अनुमान के समान यह ज्ञान सम्बन्धज्ञान से उत्पन्न नहीं होता जिससे कि उसके लिये अन्य अन्य तर्क ज्ञानकी आवश्यकता होने से अनवस्था दोष उपस्थित हो जाय, तर्कज्ञान तो प्रत्यक्ष और अनुपलंभ से उत्पन्न होता है। तथा यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञानके समान अपनी योग्यता की विशेषता से प्रतिनियत पदार्थका व्यवस्थापक हुआ करता है, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञानमें स्वयोग्यताके कारण ही प्रतिनियत अर्थका परिच्छेद (ज्ञान) होता है न कि तदुत्पत्ति तदाकार आदि के कारण। तदुत्पत्ति आदिक प्रतिनियत अर्थ के परिच्छेद में कारण नहीं है ऐसा पहले ही निषिद्ध कर आये हैं। स्वविषय संबंधी ज्ञानावरण और वीर्यांतराय कर्मका क्षयोपशम विशेष होना योग्यता विशेष का लक्षण है, यह योग्यता प्रत्यक्ष प्रमाणके समान तर्क प्रमाणमें भी होती है।

शंका—जिस प्रकार तर्कज्ञान स्वविषयमें संबंध ग्रहणकी अपेक्षा किये बिना ही प्रवृत्ति करता है उसी प्रकार अनुमान भी संबंध ग्रहणकी अपेक्षा किये बिना स्वविषय में प्रवृत्त होवे? क्योंकि सभी ज्ञानोंमें स्वार्थप्रकाशनका हेतु अपने अपने ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षयोपशम है, कोई विशेषता नहीं, अतः संबंध ग्रहण करने के लिये तर्क प्रमाणकी कल्पना करना व्यर्थ है?

तदप्यसमीचीनम्; यतोऽनुमानस्याभ्युपगम्यत एव स्वयोग्यताग्रहणनिरपेक्षमनुमेयार्थप्रकाशनम्, उत्पत्तिस्तु लिङ्गलिङ्गिसम्बन्धग्रहणनिरपेक्षा नास्ति, अगृहीततत्सम्बन्धस्य प्रतिपत्तुः क्वचित्कदाचित्तदुत्पत्त्यप्रतीतेः । न च प्रत्यक्षस्याप्युत्पत्तिः करणार्थसंबंधग्रहणापेक्षा प्रतिपन्ना; स्वयमगृहीततत्सम्बन्धस्यापि प्रतिपत्तुस्तदुत्पत्तिप्रतीतेः । तद्वदूहस्यापि स्वार्थसम्बन्धग्रहणानपेक्षस्योत्पत्तिप्रतिपत्तेर्नोत्पत्तौ संबंधग्रहणापेक्षा युक्तिमतीत्यनवद्यम् ।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, अनुमान प्रमाण अपनी योग्यता ग्रहण की अपेक्षा किये बिना अनुमेय अर्थको प्रकाशित करता है ऐसा तो हम मानते ही हैं, किन्तु अनुमान की जो उत्पत्ति होती है वह हेतु और साध्यादिका संबंध ग्रहण किये बिना नहीं होती, क्योंकि जिस पुरुष ने साध्यसाधन संबंध को ज्ञात नहीं किया उसको कहीं पर किसी काल में भी अनुमान की उत्पत्ति होती हुई प्रतीत नहीं होती है । प्रत्यक्ष की उत्पत्ति भी इन्द्रिय और पदार्थके संबंधको ग्रहण करने की अपेक्षा रखती है ऐसा भी नहीं कहना, क्योंकि इन्द्रिय आदिके संबंधको स्वयं ग्रहण किये बिना भी प्रतिपत्ता पुरुषके प्रत्यक्ष प्रमाण उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है, इसीप्रकार तर्क प्रमाण अपने उपलंभ और अनुपलंभ के संबंधको ग्रहण करने की अपेक्षा किये बिना उत्पन्न होता हुआ देखा जाता है अतः इसकी उत्पत्ति में सम्बन्ध ग्रहण की अपेक्षा बतलाना अयुक्त है, इस प्रकार तर्क प्रमाण का कारण तथा स्वरूप निर्दोष रूप से सिद्ध होता है ।

॥ तर्क प्रमाण समाप्त ॥

तर्क प्रमाण का सारांश

जिन प्रमाणों को सिर्फ जैन ही मानते हैं ऐसे प्रमाण तीन है, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और तर्क, तर्क का ही दूसरा नाम "ऊह" है स्मृति और प्रत्यभिज्ञान का कथन पहले हो चुका है, अब यहां पर तर्क प्रमाण पर विचार करते है—तर्क का लक्षण:

उपलंभानुपलंभ निमित्तं व्याप्तिज्ञानमूहः ।।

उपलंभ का अर्थ प्रत्यक्ष न होकर निश्चय है और अनुपलंभ का अर्थ प्रत्यक्ष न होकर अनिश्चय है ऐसा समझना चाहिए एक बार या पुनः पुनः साध्य और साधन को देखकर जो ज्ञान पैदा होता है वह तर्क प्रमाण है, जहां जहां साधन है वहां वहां साध्य अवश्य है ऐसा अन्वय और जहां जहां साध्य नही है वहां वहां साधन भी नहीं होता, इस प्रकार के व्यतिरेक का जो ज्ञान होता है उस ज्ञान को तर्क कहते हैं, व्याप्ति इस प्रमाण का विषय है जो किसी भी प्रमाण के द्वारा ग्रहण नहीं होता है, बौद्ध प्रत्यक्ष के बाद विकल्प ज्ञान पैदा होता है वह व्याप्ति को विषय करता है ऐसा मानते हैं किन्तु वह गलत है, क्योंकि प्रत्यक्ष के पीछे होने वाला विकल्प सिर्फ प्रत्यक्ष के विषय को ही ग्रहण करता है, उसकी सर्वोपसंहारपने से व्याप्ति का ज्ञान कराने में सामर्थ्य नहीं है योगी प्रत्यक्ष से व्याप्ति का ग्रहण होता है ऐसा मानना भी सर्वथा असत्य है क्योंकि वह निर्विकल्प है किसी की मान्यता है कि मानस प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होता है किन्तु वह भी ठीक नहीं है क्योंकि परमत में मानस प्रत्यक्ष को भी सन्निकर्ष से पैदा होना माना है और मनको अणु बराबर छोटा माना है ऐसा मन सर्वत्र रहने वाली व्याप्ति को ग्रहण नहीं कर सकता। इसी प्रकार कोई मतवाले प्रत्यक्ष के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होना मानते हैं वह भी अयुक्त है, प्रत्यक्ष वर्तमान की वस्तु को जानता है। वह सर्व देश और सर्वकाल में होने वाली व्याप्ति को कैसे ग्रहण करेगा ? तर्क प्रमाण को प्रत्यक्ष प्रमाण का फल मानने वाले देवानां प्रियः भी मौजूद है। आचार्य ने परवादी से प्रश्न किया है कि आप सब लोग तर्क को प्रमाण क्यों नहीं मानते हैं ? क्या उसका विषय ग्रहीत ग्राही है या वह विसंवाद पैदा करता है अथवा प्रमाण के विषयका परिशोधक है अतः अप्रमाण है ? ग्रहीत ग्राही तो नहीं है अभी तक यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि इस तर्क प्रमाण के विषय को कोई भी प्रमाण ग्रहण करने की

सामर्थ्य नहीं रखता है तथा तर्क विसंवादक तो बिलकुल नहीं है इससे विपरीत अनुमान आदि में संवादक अवश्य होता है। यदि तर्क प्रमाण अन्य प्रमाण के विषय का परिशोधक है तो उसमें और भी अच्छी तरह से प्रमाणता सिद्ध होती है, इस तरह तर्क प्रमाण निर्विवाद रूप से पृथक् प्रमाणभूत सिद्ध होता है।

॥ समाप्त ॥

११

हेतोस्त्रैरूप्यनिरासः

अथेदानीमनुमानलक्षणं व्याख्यातुकामः साधनादित्याद्याह—

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ॥१४॥

साध्याऽभावाऽसम्भवनियमनिश्चयलक्षणात् साधनादेव हि शक्याऽभिप्रेताप्रसिद्धत्वलक्षणस्य साध्यस्यैव यद्विज्ञानं तदनुमानम्। प्रोक्तविशेषणयोरन्यतरस्याप्यपाये ज्ञानस्यानुमानत्वासम्भवात्।

अब यहां पर अनुमान प्रमाणके लक्षणका व्याख्यान करते है—

साधनात् साध्यविज्ञान मनुमानम् ॥१४॥

सूत्रार्थ—साधनसे होने वाले साध्यके ज्ञानको अनुमान प्रमाण कहते हैं। जो साध्यके अभावमें नियमसे नहीं होता ऐसे निश्चित साधनसे शक्य अभिप्रेत एवं असिद्ध लक्षण वाले साध्य का जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते है, शक्य अभिप्रेत और असिद्ध इन तीन विशेषणों में से यदि एक भी न हो तो वह साध्य नहीं कहलाता तथा साध्यके अभाव में नियमसे नही होना रूप विशेषणसे रहित साधन भी साधन नहीं कहलाता अतः उक्त विशेषणों में से एक के भी नहीं होने पर उक्त ज्ञानका अनुमानपना असंभव है।

ननु चास्तु साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्। तत्तु साधनं निश्चितपक्षधर्मत्वादिरूपत्रययुक्तम्। पक्षधर्मत्वं हि तस्यासिद्धत्वव्यवच्छेदार्थं लक्षणं निश्चीयते। सपक्ष एव सत्त्वं तु विरुद्धत्वव्यवच्छेदार्थम्। विपक्षे चासत्त्वमेव अनैकान्तिकत्वव्यवच्छित्तये। तदनिश्चये साधनस्यासिद्धत्वादिदोषत्रयपरिहारासम्भवात्। उक्तञ्च—

"हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः॥" [प्रमाणवा० १।१६]

इत्याशङ्क्याह—

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥१५॥

असाधारणो हि स्वभावो भावस्य लक्षणमव्यभिचारादग्नेरौष्ण्यवत्। न च त्रैरूप्यस्यासाधारणता; हेतौ तदाभासे च तत्सम्भवात्पञ्चरूपत्वादिवत्। असिद्धत्वादिदोषपरिहारश्चास्य

बौद्ध—साधनसे होने वाले साध्यके ज्ञानको अनुमान प्रमाण कहते हैं यह अनुमान की व्याख्या तो सत्य है, किन्तु इसमें जो साधन (हेतु) होता है वह पक्ष धर्मत्व आदि तीन रूप संयुक्त होता है। पक्षधर्मत्व रूप हेतु का विशेषण उसके असिद्धत्व दोषका व्यवच्छेद करने के लिये प्रयुक्त किया है, सपक्ष में ही सत्त्व होना रूप लक्षण विरुद्धपने का व्यवच्छेद के लिये है, और विपक्षमें असत्त्व होना रूप लक्षण अनैकान्तिक दोषके परिहार के लिये है। यदि इन पक्ष धर्मादि का हेतु में रहना निश्चित न हो तो असिद्धादि तीन दोषोंका परिहार होना असंभव है। कहा भी है—हेतु के त्रैरूप्यका [पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व विपक्षव्यावृत्ति] निर्णय इसलिये करते हैं कि उससे असिद्ध विरुद्ध और अनैकांतिक दोष नहीं आते।

इस बौद्ध के शंका का परिहार करते हुए हेतु के सही लक्षण का वर्णन करते हैं—

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ॥१५॥

सूत्रार्थ—साध्यके साथ अविनाभावरूप से रहना जिसका निश्चित है उसको हेतु कहते हैं।

वस्तुका जो असाधारण स्वभाव होता है वह उसका लक्षण होता है, क्योंकि उस लक्षण में किसी प्रकार का व्यभिचार नहीं आता, जैसे अग्निका उष्णता स्वभाव असाधारण होनेसे उसका वह लक्षण व्यभिचार दोष रहित है। बौद्ध का पूर्वोक्त

अन्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयलक्षणत्वादेव प्रसिद्धः, स्वयमसिद्धस्यान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयासम्भवाद् विरुद्धानैकान्तिकवत् ।

किञ्च, त्रैरूप्यमात्रं हेतोर्लक्षणम्, विशिष्टं वा त्रैरूप्यम् ? तत्राद्यविकल्पे धूमवत्त्वादिवद्वक्तृत्वादावप्यस्य सम्भवात्कथं तल्लक्षणत्वम् ? न खलु 'बुद्धोऽसर्वज्ञो वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवत्' इत्यत्र हेतोः पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयसद्भावे परैर्गमकत्वमिष्यतेऽन्यथानुपपन्नत्वविरहात् । द्वितीयविकल्पे तु कुतो वैशिष्ट्यं त्रैरूप्यस्यान्यत्रान्यथानुपपन्नत्वनियमनिश्चयात्, इति स एवास्य लक्षणमक्षूणं परीक्षादक्षै-

---

त्रैरूप्य लक्षण असाधारण स्वभावरूप नहीं है क्योंकि वह हेतु और हेत्वाभास दोनों में पाया जाता है जैसे कि यौग का पंचरूपता लक्षण उभयत्र पाया जाता है । हेतु के असिद्धादि दोषों का परिहार तो अन्यथानुपपत्तिके नियम का निश्चितपने से रहनारूप लक्षण से ही हो जाता है, जो हेतु स्वयं असिद्ध है उसमें अन्यथानुपपत्ति नियम का निश्चय [साध्य के बिना नियम से नहीं होने का निश्चय] असंभव है, जैसे कि विरुद्ध एवं अनैकांतिक रूप हेतुओं में अन्यथानुपपत्ति नियमका निश्चय होना असंभव होता है ।

किञ्च, केवल त्रैरूप्य को हेतु का लक्षण मानना बौद्ध को इष्ट है अथवा विशिष्ट त्रैरूप्य को मानना इष्ट है ? प्रथम विकल्प स्वीकार करे तो धूमत्व आदि हेतुओं के समान वक्तृत्वादि हेतु में भी त्रैरूप्य सामान्य पाया जाना संभव है अतः वह किस प्रकार हेतु का लक्षण बन सकता है ? बुद्धदेव असर्वज्ञ हैं, क्योंकि वे बोलते हैं जैसे रथ्यापुरुष [पागल] बोलता है । इस अनुमान के वक्तृत्व [बोलना] हेतु में पक्ष धर्मत्व आदि त्रैरूप्य का सद्भाव होते हुए इसको आपने साध्य का गमक नहीं माना है, इसका कारण यही है कि उक्त हेतु में अन्यथानुपपत्ति का अभाव है । अभिप्राय यह हुआ कि त्रैरूप्य लक्षण के रहते हुए भी वह हेतु साध्यको सिद्ध नहीं कर पाता अतः वह लक्षण असत् है । दूसरा विकल्प – विशिष्ट त्रैरूप्यको हेतुका लक्षण बनाते हैं तो वह विशिष्ट त्रैरूप्य अन्यथानुपपत्ति के नियम के निश्चय को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं है, अर्थात् अन्यथानुपपत्व नियमको ही विशिष्ट त्रैरूप्य कहते हैं इसलिए परीक्षाचतुर पुरुषोंको उसी परिपूर्ण लक्षणको स्वीकार करना चाहिए । अन्यथानुपपन्नत्व रूप हेतुका लक्षण मौजूद होवे तब पक्षधर्मत्व आदि लक्षण का अभाव होने पर भी हेतु साध्यका गमक [सिद्ध करने वाला] होता है, जैसे एक मुहूर्त्त बाद रोहिणी नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि कृतिका नक्षत्रका उदय हो चुका है । इस अनुमान का कृतिका उदयत्व नामा

रुपलक्ष्यते । तद्भावे पक्षधर्मत्वाद्यभावेपि 'उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात्' इत्यादेर्गमकत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्, सपक्षे सत्त्वरहितस्य च श्रावणत्वादेः शब्दानित्यत्वे साध्ये गमकत्वप्रतीतेः ।

ननु नित्यादाकाशादेर्विपक्षादिव सपक्षादप्यनित्याद् घटादेः सतो व्यावृत्तत्वेन श्रावणत्वादेरसाधारणत्वादनैकान्तिकता; तदसत्यम्; असाधारणत्वस्यानैकान्तिकत्वेन व्याप्त्यऽसिद्धेः । सपक्षविपक्षयोर्हि हेतुरसत्त्वेन निश्चितोऽसाधारणः, संशयितो वा ? निश्चितश्चेत्; कथमनैकान्तिकः ? पक्षे साध्याभावेनुपपद्यमानतया निश्चितत्वेन संशयहेतुत्वाभावात् ।

हेतु पक्ष धर्मत्व आदि त्रैरूप्य से रहित है तो भी अन्यथानुपपन्नत्व [मुहूर्त्त बाद रोहिणी उदयका नहीं होना होगा तो अभी कृतिका उदय भी नहीं होता] रूप लक्षणके होनेसे यह हेतु स्वसाध्य का गमक है, ऐसा आगे कहने वाले हैं । जिस हेतुका सपक्षमें सत्त्व नहीं है ऐसे श्रावणत्व आदि हेतु शब्द के अनित्य धर्मरूप साध्यको सिद्ध करते हुए भी प्रतीति में आ रहे हैं अतः सपक्ष सत्त्व आदि त्रैरूप्य को हेतुका लक्षण मानना असत् है ।

शंका—श्रावणत्व आदि हेतुको साध्यका गमक मानना गलत है, क्योंकि यह हेतु विपक्षभूत नित्य आकाशादि से जैसे व्यावृत होता है वैसे सपक्षभूत अनित्य घटादिसे भी व्यावृत्त होता है अतः असाधारण अनैकांतिक दोष युक्त है ?

समाधान—यह कथन असमीचीन है, असाधारणत्व की अनैकांतिकत्व के व्याप्ति सिद्ध नहीं है अर्थात् जो जो असाधारण हो वह वह अनैकांतिक होता है ऐसा नियम नहीं है, बताइये कि सपक्ष और विपक्ष में असत्वरूप से निश्चित रहने वाले हेतुको असाधारण कहते है या संशयित रहने वाले हेतुको असाधारण कहते हैं ? निश्चित रहने वाले हेतुको असाधारण कहो तो वह अनैकांतिक किस प्रकार हो सकता है ? जो हेतु पक्षमें साध्य के अभाव में नहीं रहना रूप निश्चित हो चुकता है वह संशयरूप हो ही नहीं सकता ।

कर्णज्ञान द्वारा ग्राह्य होनेको श्रावणत्व कहते हैं, वह कर्णज्ञान अपने स्वरूप को शब्दसे प्राप्त करते हुए उस शब्दका ग्राहक होता है अन्यथा नहीं, क्योंकि "नाकारणं विषयः" अकारण ज्ञानका विषय नहीं होता अर्थात् ज्ञान जिस कारण से उत्पन्न हुआ है उसीको जानता है ऐसी आप बौद्धकी मान्यता है ।

श्रावणत्वं हि श्रवणज्ञानग्राह्यत्वम्, तज्ज्ञानं च शब्दादात्मानं लभमानं तस्य ग्राहकम् नान्यथा, "नाकारणं विषयः" [ ] इत्यभ्युपगमात्। शब्दश्च नित्यस्तज्जननैकस्वभावो यदि; तर्हि श्रवण-प्रणिधानात्पूर्वं पश्चाच्च तज्ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः। न ह्यविकले कारणे कार्यस्यानुत्पत्तिर्युक्ता अतत्कार्यत्वप्रसङ्गात्। प्रयोगः—यस्मिन्नविकले सत्यपि यन्न भवति न तत्तत्कार्यम् यथा सत्यप्यविकले कुलाले अभवन्पटो न तत्कार्यः, सत्यपि शब्दे पूर्वं पश्चाच्चाविकले न भवति च तज्ज्ञानमिति। ननु च श्रोत्र-प्रणिधानात्पूर्वं पश्चाच्च तज्ज्ञानजननैकस्वभावोपि शब्दस्तन्न जनयत्यावृतत्वात्; तदप्यसङ्गतम्;

भावार्थ—शब्द अनित्य है क्योंकि वह श्रवणेन्द्रियका विषय है अथवा श्रवण ज्ञान द्वारा ग्राह्य है ऐसा एक अनुमान प्रमाण है इसमें शब्द पक्ष है, अनित्यत्व साध्य है एवं श्रावणत्व हेतु है, अब यह देखना है कि बौद्धके हेतुका त्रैरूप्य [पक्षधर्मत्व सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति] लक्षण इस श्रावणत्व हेतु में है या नहीं, शब्द अनित्य है वैसे घट आदि पदार्थ भी अनित्य हैं अतः यहां पर घटादि सपक्ष कहलाये, आकाशादि नित्य होने से इसके विपक्ष हैं, इन पक्ष सपक्ष और विपक्षोंमेंसे पक्ष में रहने के कारण श्रावणत्व हेतुमें पक्षधर्मत्व तो है, किन्तु सपक्ष सत्त्व नहीं है, क्योंकि सपक्षभूत घट आदिमें श्रावणपने का अभाव है [श्रवणेन्द्रिय का विषय या श्रवणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होना नहीं है] इस तरह श्रावणत्व हेतुमें त्रैरूप्य लक्षणका अभाव है तो भी यह साध्यका [अनित्यत्वका] गमक है। इस पर बौद्ध कहता है कि यह हेतु असाधारण अनैकांतिक है क्योंकि विपक्षभूत आकाशादिके समान सपक्षसे भी यह हेतु व्यावृत्त होता है, जब कि इसे केवल विपक्षसे ही व्यावृत्त होना चाहिए? आचार्यने कहा कि साध्यके अभाव में जो नियमसे नहीं होता ऐसा यह श्रावणत्व हेतु कथमपि अनैकांतिक दोष युक्त नहीं हो सकता, क्योंकि हेतुका अन्यथानुपपन्नत्व लक्षण इसमें मौजूद है। इस श्रावणत्व हेतु का अर्थ श्रवणेन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा ग्राह्य होना है अर्थात् कर्णसे उत्पन्न हुए ज्ञानका जो विषय है उसको श्रावणत्व कहते हैं, श्रवणज्ञान शब्दसे उत्पन्न होगा क्योंकि बौद्धमतानुसार प्रत्येक ज्ञान जिस कारणसे उत्पन्न होता है उसीको जानता है अन्यको नहीं ऐसा माना है। इस श्रावणत्व हेतुके बारे में आगे और भी कहते हैं।

श्रवणज्ञान शब्दजन्य है तो वह शब्द नित्य ही उस ज्ञानको उत्पन्न करनेका स्वभाववाला यदि हो तो श्रवणेन्द्रियके प्रणिधानके [कर्ण द्वारा विषयोन्मुख होनेके] पूर्व और पश्चात् में भी उक्त श्रवणज्ञान का उत्पन्न होनेका प्रसंग आता है, अविकल कारणके रहते हुए तो कार्यकी अनुत्पत्ति युक्त नहीं अन्यथा वह उसका कार्य ही नहीं

आवरणं हि द्रष्टृदृश्ययोरन्तराले वर्तमानं वस्तु लोके प्रसिद्धम्, यथा काण्डपटादिकम् । श्रोत्रशब्दयोश्च व्यापकत्वे सर्वत्र सर्वदा तत्करणैकस्वभावयोरत्यन्तसंश्लिष्टयोः किं नामान्तराले वर्त्तेत ? वृत्तौ वा तयोर्व्यापकत्वव्याघातः, तदवष्टब्धदेशपरिहारेणानयोर्वर्तनादिति 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः' (परीक्षामु० ३।१००) इत्यत्र विस्तरेण विचारयिष्यामः । तन्नास्याऽऽवृतत्वात्तज्ज्ञानाजनकत्वं किन्त्वसत्त्वादेव, इति श्रावणत्वादेः सपक्षविपक्षाभ्यां व्यावृत्तत्वेपि पक्षे साध्याविनाभावित्वेन निश्चित-

---

ठहरेगा, अर्थात् शब्द नित्य ही श्रवणज्ञानको उत्पन्न करनेका स्वभाववाला है तो उससे सदा वह ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए कारण परिपूर्ण होवे और कार्य उत्पन्न न हो तो उसका वह कार्य ही नहीं है ? अनुमान प्रसिद्ध विषय है कि श्रवणज्ञान शब्दका कार्य नहीं है, क्योंकि शब्दके रहते हुए भी पूर्व और पश्चात् में उत्पन्न नहीं होता, जिस अविकल कारणके रहते हुए भी जो नहीं होता वह उसका कार्य नहीं है जैसे अविकल कारणभूत कुंभकार के रहते हुए भी पट [वस्त्र] उत्पन्न नहीं होता अतः उसका कार्य नहीं है । शब्दके रहते हुए भी पूर्वमें और पश्चात् में उक्त ज्ञान नहीं होता अतः उसका वह कार्य नहीं है ।

शंका—श्रोत्र प्रणिधानके [कर्ण द्वारा विषयोन्मुख होनेके] पूर्वमें एवं पश्चात् में उस ज्ञानको उत्पन्न करने रूप स्वभाववाला शब्द अवश्य है किन्तु वह आवृत्त रहनेके कारण उक्त ज्ञानको उत्पन्न नही कर पाता ?

समाधान—यह कथन असंगत है, दृष्टा और दृश्य [देखने वाला व्यक्ति और देखने योग्य पदार्थ] के अंतराल में विद्यमान वस्तुको आवरण कहते हैं जिसप्रकार कांडपटादिक [वस्त्रादि] आवरण प्रसिद्ध है । किन्तु यौगमतानुसार शब्द और श्रवणेन्द्रिय सर्वत्र सर्वदा व्यापक हैं एवं श्रवणज्ञानको उत्पन्न करने रूप स्वभाव वाले तथा अत्यंत संश्लिष्टभूत हैं, अतः इनके अंतरालमें कौनसा आवरण विद्यमान होगा ? अर्थात् सर्वथा नहीं होगा । यदि शब्द और श्रोत्र में अंतराल एवं आवरणका सद्भाव स्वीकार करेंगे तो वे दोनों–शब्द और श्रोत्रके व्यापक माननेका सिद्धान्त नष्ट होगा ? क्योंकि शब्द और श्रोत्रके आवरणभूत वस्तुके देशको छोड़कर रहनेसे अव्यापक सिद्ध होते हैं । इसका विशेष विवरण आगे "आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः" इस प्रकरणमें करेंगे । अतः शब्दआवृत होनेसे श्रवण ज्ञानको उत्पन्न करता ऐसा कथन असत् है, सत्य तो यह है कि असत्त्व होनेके कारण शब्द श्रवणज्ञानको सदा उत्पन्न नहीं कर पाता । इस प्रकार सिद्ध होता है कि श्रावणत्व हेतु सपक्ष और विपक्षसे

स्वादगमकत्वमेव । न च सपक्षविपक्षयोरसत्त्वेन निश्चितः पक्षे साध्याविनाभावित्वेन निश्चेतुमशक्यः; सर्वानित्यत्वे साध्ये सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात् । न खलु सत्त्वादिर्विपक्ष एवासत्त्वेन निश्चितः, सपक्षेपि तदसत्त्वनिश्चयात् ।

सपक्षस्याभावात्तत्र सत्त्वादेरसत्त्वनिश्चयान्निश्चयहेतुत्वम्, न पुनः श्रावणत्वादेः सद्भावेपीति चेत्; ननु श्रावणत्वादिरपि यदि सपक्षे स्यात्तदा तं व्याप्नुयादेवेति समानान्तर्व्याप्तिः । सति विपक्षे धूमादिश्चासत्त्वेन निश्चितो निश्चयहेतुर्मा भूत् । विपक्षे सत्यसति चासत्त्वेन निश्चितः साध्याविना-

---

व्यावृत्त होने पर भी पक्षमें साध्यके साथ अविनाभाव रूपसे निश्चित रहता है अतः स्वसाध्यका (अनित्यत्वका) गमक ही है । जो सपक्ष विपक्षमें असत्वरूपसे निश्चित है उस हेतुका साध्यके साथ अविनाभाव निश्चित ही हो ऐसा नियम नहीं है ? इसप्रकार बौद्ध कहे तो "सर्वं अनित्यं सत्वात्" इत्यादि अनुमान में सभी पदार्थोंको अनित्य (क्षणिक) सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त हुए सत्त्वादि हेतुको हेत्वाभास हो जाने का प्रसंग होगा । क्योंकि सत्त्वादि हेतुका विपक्ष में ही असत्व निश्चित नहीं है अपितु सपक्षमें भी असत्त्वका निश्चय है ।

बौद्ध—"सर्व क्षणिकं सत्त्वात्" इस अनुमानमें जगत के यावन्मात्र पदार्थ पक्षमें समाविष्ट होनेके कारण सपक्षभूत कोई पदार्थ शेष नहीं रहता अतः सपक्षके अभावमें सत्त्व हेतुका उसमें असत्वरूपसे रहना निश्चित ही है इसलिये यह निश्चय हेतु रूप है किन्तु श्रावणत्वादि हेतु ऐसे नही हैं उनमें सपक्षका सद्भाव है और फिर उसमें हेतुका असत्त्व निश्चय है ?

जैन—यदि श्रावणत्वादि हेतुका सपक्ष है तो वह हेतु उसमें भी व्याप्त रह जायगा और पक्ष तथा सपक्षमें समान अंतर्व्याप्ति हो जायगी । जो हेतु केवल पक्षमें व्याप्त हो उसको अंतर्व्याप्ति वाला हेतु कहते हैं, यदि इसका सपक्ष संभावित हो तो उसमें व्याप्त रहना समाना अंतर्व्याप्तिरूप हेतु कहलायेगा तथा विपक्षके रहते हुए धूमादि हेतु उसमें असत्त्वरूपसे निश्चित है तो भी उस हेतु को स्वसाध्यका निश्चायक नहीं मानो ? क्योंकि उसका विपक्ष में असत्व है ? यदि कहा जाय कि विपक्ष होवे चाहे मत होवे किन्तु हेतुका उसमें असत्त्व निश्चित है अतः वह सही हेतु कहलायेगा क्योंकि साध्यके साथ उसका अविनाभाव है ? तो सपक्ष होवे चाहे मत होवे उसमें असत्त्व निश्चित होनेसे हेतु सही (सत्य) कहलाता है क्योंकि उसका साध्यके साथ अविनाभाव है ।

भावित्वाद्धेतुरेवेति चेत्; तर्हि सपक्षे सत्यसति चासत्त्वेन निश्चितो हेतुरस्तु तत एव। नन्वेवं सपक्षे तदेकदेशे वा सन्कथं हेतुः ? 'सपक्षेऽसन्नेव हेतुः' इत्यनवधारणात्। विपक्षेपि तदसत्त्वानवधारणमस्तु; इत्ययुक्तम्; साध्याविनाभावित्वव्याघातानुषङ्गात्।

यदि पुनः सपक्षविपक्षयोरसत्त्वेन संशयितोऽसाधारण इत्युच्यते; तदा पक्षत्रयवृत्तितया निश्चितया संशयितया वाऽनैकान्तिकत्वं हेतोरित्यायातम्। न च श्रावणत्वादौ सास्तीति गमकत्वमेव। विरुद्धताप्येतेन प्रत्युक्ता। यो हि विपक्षैकदेशेपि न वर्त्तते, स कथं तत्रैव वर्त्तेत ? असिद्धता तु दूरोत्सारितैव, श्रावणत्वस्य शब्दे सत्त्वनिश्चयात्। तन्न पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं वा हेतोर्लक्षणम्।

शंका—सपक्ष या सपक्षके एक देशमें वर्त्तनेवाला हेतु किस प्रकार सही कहलायेगा ?

समाधान—यह आशंका असत् है, सपक्षमें असत्वरूप हेतु ही सही है ऐसा अवधारण नहीं किया है अतः सपक्ष या सपक्षके एक देशमें वर्त्तनेवाला हेतु सत् ही कहलाता है।

शंका—इस तरह तो विपक्ष में भी हेतुके असत्वका अवधारण नही होवे ?

समाधान—इस तरह अवधारण न हो तो साध्यके साथ अविनाभावपनेसे रहनारूप हेतुका लक्षण खंडित होनेका प्रसंग आता है। यहां बौद्धादिके साथ किये शंका समाधान से यह तात्पर्य है कि ये परवादी हेतुका असाधारण अनैकांतिक नामका दोष मानते हैं, "विपक्ष सपक्षाभ्यां व्यावर्त्तमानो हेतुरसाधारणैकान्तिकः" विपक्ष और सपक्ष से जो हेतु व्यावृत्त हो उसे असाधारण अनैकांतिक कहते हैं, किन्तु यह दोष हेतुमें घटित नहीं होता क्योंकि इसके रहते हुए भी यदि हेतु साध्याविनाभावी हो तो अवश्यमेव साध्यका गमक होता है। अस्तु।

यदि द्वितीय पक्षानुसार विचार किया जाय कि सपक्ष और विपक्षमें असत्त्वरूपसे वर्त्तनेका जिसका निश्चय न हो वह संशयित असाधारण हेतु कहलाता है तो इस कथनानुसार जो हेतु पक्षत्रय [पक्षसपक्ष और विपक्ष] में निश्चितपनेसे वर्त्तता है अथवा संशयितपनेसे वर्त्तता है वह अनैकान्तिक हेत्वाभास है ऐसा अर्थ होता है। इस प्रकारका अनैकान्तिक दोष तो पूर्वोक्त श्रावणत्वादि हेतुमें नहीं है, इसलिये वह साध्यका गमक अवश्य ही है। अनैकांतिक के समान विरुद्ध दोष भी उस हेतुमें नहीं है, क्योंकि जो हेतु विपक्षके एक देशमें भी नहीं रहता वह किस प्रकार पूर्ण विपक्षमें रह सकता है?

विपक्षे पुनरसत्त्वमेव निश्चितं साध्याविनाभावनियमनिश्चयस्वरूपमेव। इति तदेव हेतोः प्रधानं लक्षणमस्तु किमत्र लक्षणान्तरेण? न च सपक्षे सत्वाभावे हेतोरनन्वयत्वानुषङ्गः; अन्तर्व्याप्तिलक्षणस्यतथोपपत्तिरूपस्यान्वयस्य सद्भावादन्यथानुपपत्तिरूपव्यतिरेकवत्। न खलु दृष्टान्तधर्मिण्येव साधर्म्यं वैधर्म्यं वा हेतोः प्रतिपत्तव्यमिति नियमो युक्तः; सर्वस्य क्षणिकत्वादिसाधने सत्त्वादेरहेतुत्वप्रसङ्गात्।

अर्थात् नहीं रह सकता। श्रावणत्वादि हेतुमें असिद्धदोष तो दूरसे समाप्त होता है क्योंकि शब्दमें श्रावण (सुनने योग्य अथवा श्रवणज्ञान द्वारा ग्राह्य) पनेका सत्त्व निश्चितरूपसे है। अंतमें यह निष्कर्ष निकलता है कि पक्षधर्मत्व या सपक्षमें सत्त्व रहना यह कोई भी हेतुका लक्षण नहीं है।

विपक्षमें असत्व होना रूप लक्षण यही है कि साध्यके साथ अविनाभाव नियमसे हेतुका वर्त्तना। बस! यही हेतु का प्रधान लक्षण है, अन्य सपक्षसत्वादि लक्षणोंसे कुछ भी प्रयोजन नहीं सधता।

शंका—सपक्षसत्वरूप लक्षण न होवे तो हेतुमें अन्वयव्याप्तिका अभाव हो जायगा?

समाधान—ऐसा नहीं होगा, अंतर्व्याप्ति (पक्षमें साध्यसाधनकी व्याप्ति) लक्षणवाली तथोपपत्ति (साध्यके सद्भावमें साधनका होना) रूप अन्वयका सद्भाव होनेसे सपक्षसत्वके अभावमें भी हेतुका अन्वयत्व बन जाता है, जैसे कि अन्यथानुपपत्ति से व्यतिरेक बनता है। यह नियम नहीं है कि दृष्टांतधर्मीमें ही हेतुका साधर्म्य (अन्वय) या वैधर्म्य (व्यतिरेक) निश्चित हो। यदि ऐसा माने तो "सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्" इस अनुमान का सत्त्व हेतु सदोष (हेत्वाभास) होवेगा, क्योंकि इसमें दृष्टांतका अभाव होनेसे उक्त अन्वयपना संभव नहीं है। अंतमें यह निश्चय होता है कि हेतुका लक्षण त्रैरूप्य न होकर साध्याविनाभावित्व ही है। क्योंकि त्रैरूप्य के रहते हुए भी हेतु साध्य का गमक नहीं होता और त्रैरूप्य का सद्भाव हो चाहे अभाव साध्याविनाभावित्व गुण युक्त है तो वह हेतु साध्यका गमक होता है।

॥ समाप्त ॥

हेतु के त्रैरूप्य मान्यता के खंडन का सारांश

अनुमान का खास अंग हेतु है उसके लक्षण में विसंवाद है, बौद्ध हेतु का लक्षण त्रैरूप्य करते हैं पक्ष धर्मत्व, सपक्ष सत्व, और विपक्ष व्यावृत्ति इन तीन धर्मों को त्रैरूप्य कहते हैं। उनका कहना है कि असिद्ध नामा हेतु के दोष को हटाने के लिए पक्ष धर्मत्व गुण है विरुद्धता को हटाने के लिए सपक्ष सत्व है और अनेकान्तिक का निरसन करने के लिये विपक्ष व्यावृत्ति गुण है, इस पर आचार्य ने उदाहरण देकर समझाया है कि इन सबकी कोई नियामकता नहीं है, "उदेष्यति शकटं कृतिकोदयात्" इस अनुमान के हेतु में पक्ष धर्मत्व गुण नहीं है अर्थात् एक मुहूर्त के अनंतर रोहिणी का उदय होगा यह साध्य है और उसका हेतु कृतिका नक्षत्र का उदय है, इन दोनों में एक मुहूर्त का अन्तराल है अतः यह हेतु पक्ष धर्म युक्त नहीं है किन्तु वह अपने साध्य को (रोहिणी के उदय को) सिद्ध कर देता है अतः पक्ष धर्मत्व गुण की आवश्यकता नहीं है, सपक्षत्व गुण भी ऐसा ही है क्योंकि बहुत से हेतुओं के सपक्ष नहीं रहते हैं, आप बौद्ध के प्रसिद्ध अनुमान "सर्वं क्षणिकं सत्वात्" में सत्व हेतु का कोई सपक्ष नहीं है क्योंकि सभी पक्ष में आ गये हैं। हां विपक्ष व्यावृत्ति गुण ठीक है किन्तु वह भी साध्याबिनाभावित्व नामक जैन हेतु के लक्षण में पहले से ही विद्यमान है, जो साध्य का अविनाभावी होगा वह कथमपि विपक्ष में नहीं जा सकता है, इस तरह बौद्धाभिमत हेतु का लक्षण सिद्ध नहीं होता है अतः "साध्याबिनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः" यही लक्षण निर्दोष है, बुद्धिमान बौद्ध को निःपक्ष होकर इसे ही स्वीकार करना चाहिये।

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किं ॥१॥

॥ समाप्त ॥

१२

हेतोः पाञ्चरूप्यखण्डनम्

ननु त्रैरूप्यं हेतोर्लक्षणं मा भूत् 'पक्वान्येतानि फलान्येकशाखाप्रभवत्वादुपयुक्तफलवत्' इत्यादौ 'मूर्खोयं देवदत्तस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्' इत्यादौ च तदाभासेपि तत्सम्भवात्। पंचरूपत्वं तु तल्लक्षणं युक्तमेवानवद्यत्वात्, एकशाखाप्रभवत्वस्याबाधितविषयत्वासम्भवाद् आत्मताग्राहिप्रत्यक्षेणैव तद्विषयस्य बाधितत्वात्, तत्पुत्रत्वादेश्चासत्प्रतिपक्षत्वाभावात् तत्प्रतिपक्षस्य शास्त्रव्याख्यानादिलिङ्गस्य सम्भवात्।

यौग—बौद्धाभिमत हेतुका त्रैरूप्य लक्षण असिद्ध है यह बात ठीक ही है, ये फल पक्व [पके] हैं क्योंकि एक शाखासे उत्पन्न हुए हैं, जैसे उपभुक्त फल उसी एक शाखा प्रभव होनेसे पक्व थे, इत्यादि अनुमानमें प्रयुक्त "एक शाखा प्रभवत्व" हेतु सपक्ष सत्वादि त्रैरूप्यसे युक्त होते हुए भी हेत्वाभास है, तथा यह देवदत्त मूर्ख है, क्योंकि उसका पुत्र है, जैसे उसके अन्य पुत्र मूर्ख हैं। इत्यादि तत्पुत्रत्व हेतु भी त्रैरूप्य लक्षणके होते हुए भी हेत्वाभास स्वरूप है, अतः हेतुका त्रैरूप्य लक्षण सदोष है।

भावार्थ—किसी व्यक्तिने वृक्षके एक शाखाके कुछ फलोंको खाकर अनुमान किया कि इस शाखाके सभी फल पके हैं, क्योंकि एक शाखा प्रभव है जैसे खाये हुए फल पके थे इत्यादि, इस एक शाखा प्रभवत्व नामा हेतुमें पक्ष धर्म आदि त्रैरूप्य मौजूद है-उक्त शाखाके फल पके होना संभावित है अतः पक्षधर्मत्व, भुक्त फलोंमें पक्वता होनेसे सपक्ष सत्त्व एवं अन्य शाखा प्रभव फलमें पक्वताका अभाव संभावित होनेसे विपक्ष व्यावृत्ति है तो भी यह हेतु साध्यका गमक नहीं हो सकता, क्योंकि उस शाखाके फलोंको साक्षात् उपयुक्त करने पर दिखायी देता है कि कुछ फल अपक्व भी

प्रकरणसमस्याप्यसत्प्रतिपक्षत्वाभावादहेतुत्वम्। तस्य हि लक्षणम् "यस्मात् प्रकरणचिन्ता स प्रकरणसमः"। [न्यायसू० १।२ ७] इति। प्रक्रियेते साध्यत्वेनाधिक्रियेते अनिश्चितौ पक्षप्रतिपक्षौ यौ तौ प्रकरणम्। तस्य चिन्ता संशयात्प्रभृत्याऽऽनिश्चयात्पर्यालोचना यतो भवति स एव, तन्निश्चयार्थं प्रयुक्तः प्रकरणसमः। पक्षद्वयेप्यस्य समानत्वादुभयत्राप्यन्वयादिसद्भावात्। तद्यथा-'अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेर्घटादिवत्, यत्पुनर्नित्यं तन्नानुपलभ्यमाननित्यधर्मकम् यथात्मादि' एवमेकेनान्यतरानुपलब्धेरनित्यत्वसिद्धौ साधकत्वेनोपन्यासे सति द्वितीयः प्राह-यद्यनेन प्रकारेणानित्यत्वं प्रसाध्यते तर्हि

हैं। इसीप्रकार "यह देवदत्त मूर्ख है क्योंकि उस व्यक्ति पुत्र है जैसे कि उसका अन्य पुत्र मूर्ख है," इस अनुमानका तत्पुत्रत्व हेतु भी त्रैरूप्य लक्षण रहते हुए भी सदोष है-साध्यका गमक नहीं है, क्योंकि उस व्यक्तिका पुत्र होने मात्रसे देवदत्तकी मूर्खता सिद्ध नहीं होती।

हम यौगाभिमत पांचरूप्य हेतुका लक्षण तो युक्त है क्योंकि निर्दोष है, पूर्वोक्त एक शाखा प्रभवत्व हेतु इसलिये असत् हुआ कि उसमें अबाधित विषयत्व नामा लक्षण नहीं है, आत्म प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही एक शाखा प्रभवत्व हेतुका विषय [साध्य] बाधित होता है, तत्पुत्रत्वादि हेतु भी असत् प्रतिपक्षत्व नामा लक्षण के अभाव मे दोषी ठहरता है, अर्थात् देवदत्त मूर्ख है इत्यादि उक्त अनुमानके हेतुके प्रतिपक्षभूत शास्त्र-व्याख्यानादि हेतुका होना संभव है-यह देवदत्त विद्वान है क्योंकि शास्त्रका व्याख्यान करता है इत्यादि अनुमान प्रयुक्त होनेके कारण तत्पुत्रत्व हेतु सदोष है। हेतुमें प्रकरणसम नामा दोष भी असत् प्रतिपक्षत्व लक्षणके न होनेसे आता है प्रकरण समका लक्षण— "यस्मात् प्रकरण चिंता स प्रकरण समः" "प्रक्रियेते साध्यत्वेनाधिक्रियेते अनिश्चितौ पक्ष प्रतिपक्षौ यौ तौ प्रकरणम्" जिससे प्रकरणकी चिंता हो उसे प्रकरण सम कहते है, साध्यपनेसे अनिश्चित किये जाते हैं पक्ष प्रतिपक्ष जहां उसे 'प्रकरण' कहते हैं। अर्थात् वादी द्वारा जो पक्ष निश्चित है वह प्रतिवादी द्वारा अनिश्चित है और जो प्रतिवादी द्वारा निश्चित है वह वादी द्वारा निश्चित नहीं, उसे प्रकरण कहते हैं। उस प्रकरणकी चिंता— संशयके अनंतर समयसे लेकर निश्चय होने तक जिससे विचार चलता है वह हेतु ही है उसके निश्चयके लिए प्रयुक्त होना प्रकरण सम है। यह हेतु पक्ष प्रतिपक्षामें समान वर्त्तता है क्योंकि उभयत्र अन्वय आदिका सद्भाव है, इसीको स्पष्ट करते हैं— शब्द अनित्य है, क्योंकि इसमें नित्य धर्मकी अनुपलब्धि है, जैसे घट आदिमें नित्य धर्म

नित्यतासिद्धिरप्यस्त्वन्यतरानुपलब्धेस्तत्रापि सद्भावात्। तथा हि–नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेरात्मादिवत्, यत्पुनर्न नित्यं तन्नानुपलभ्यमानाऽनित्यधर्मकम् यथा घटादि;

इत्यप्यविचारितरमणीयम्; साध्याविनाभावित्वव्यतिरेकेणापरस्याबाधितविषयत्वादेरसम्भवात् तदेव प्रधानं हेतोर्लक्षणमस्तु किं पञ्चरूपप्रकल्पनया ? न च प्रमाणप्रसिद्धत्रैरूप्यस्य हेतोर्विषये बाधा सम्भवति; अनयोर्विरोधात्। साध्यसद्भावे एव हि हेतोर्धर्मिणि सद्भावस्त्रैरूप्यम्, तदभावे एव च तत्र तत्सम्भवो बाधा, भावाभावयोश्चैकत्रैकस्य विरोधः।

अनुपलब्ध है, जो नित्य होता है उसमें नित्य धर्म अनुपलब्ध नहीं रहता (अर्थात् उपलब्ध ही होता है) जैसे आत्मादि पदार्थ। इस प्रकार एक किसी वादी द्वारा अन्यतर अनुपलब्धि—नित्य अनित्यमें से एक की अनुपलब्धि हेतुसे अनित्यत्व की सिद्धि में साधन उपस्थित करने पर दूसरा प्रतिवादी कहता है—यदि इस प्रकारसे अनित्यत्व सिद्ध किया जाता है तो नित्यत्वको सिद्धि भी होवे क्योंकि उसमें भी अन्यतर अनुपलब्धि हेतुका सद्भाव है, यथा—शब्द नित्य है क्योंकि उसमें अनित्य धर्मकी अनुपलब्धि है, जैसे आत्मादिमें अनित्य धर्मकी अनुपलब्धि देखी जाती है, जो नित्य नहीं है उसका अनित्य अनुपलब्ध नहीं रहता, जैसे घटादिका अनित्य धर्म अनुपलब्ध नहीं होता। इस प्रकार हेतुमें पांच रूप्य–पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व, विपक्षव्यावृत्ति, अबाधित विषय और असत्प्रतिपक्षत्व होना आवश्यक है अन्यथा उपर्युक्तरीत्या वह हेतु बाधित विषयत्व आदि दोषोंका भागी हो जाता है।

जैन—यह कथन अविचारित रमणीय है, साध्यविनाभावित्वके बिना अन्य अबाधित विषयत्वादि हेतुके लक्षण असंभव ही है अतः वही हेतुका प्रधान लक्षण होना चाहिये पांचरूप्य लक्षणसे क्या प्रयोजन ? दूसरी बात यह है कि हेतुका त्रैरूप्य यदि प्रमाणसे सिद्ध है तो उसके विषयमें (साध्यमें) बाधा आना संभव नहीं क्योंकि प्रमाण प्रसिद्ध और बाधापन ये दोनों परस्पर विरुद्ध है। साध्यके सद्भावमें ही हेतुका पक्षमें होना त्रैरूप्य कहलाता है, इस प्रकारके हेतुके रहते हुए उसके विषयमें बाधा किस प्रकार संभव है ? बाधा तो तब संभव है जब हेतु साध्यके अभावमें धर्मीमें होता। भाव और अभावका एकत्र रहना विरुद्ध है।

किंच, अाध्यक्षागमयोः कुतो हेतुविषयबाधकत्वम् ? स्वार्थ(र्था) व्यभिचारित्वाच्चेत्; हेतावपि सति त्रैरूप्ये तत्समानमित्यसावप्यनयोर्विषये बाधकः स्यात् । दृश्यते हि चन्द्रार्कादिस्थैर्यग्राह्यध्यक्षं देशान्तरप्राप्तिलिङ्गप्रभवानुमानेन बाध्यमानम् । अथैकशाखाप्रभवत्वाद्यनुमानस्य भ्रान्तत्वाद्बाध्यत्वम् । कुतस्तद्भ्रान्तत्वम्–अध्यक्षबाध्यत्वात्, त्रैरूप्यवैकल्याद्वा ? प्रथमपक्षेऽन्योन्याश्रयः–भ्रान्तत्वेऽध्यक्षबाध्यत्वम्, ततश्च भ्रान्तत्वमिति । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; त्रैरूप्यसद्भावस्यात्र परेणाभ्युपगमात् । अनभ्युपगमे वाऽत एवास्याऽगमकत्वोपपत्तेः किमध्यक्षबाधासाध्यम् ?

भावार्थ —बौद्धाभिमत हेतुके त्रैरूप्य लक्षणको जैन द्वारा बाधित किये जाने पर यौग कहता है कि त्रैरूप्य लक्षणका निरसन तो ठीक ही हुआ क्योंकि उसमें अबाधित विषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये दो लक्षण समाविष्ट नहीं हुए ? आचार्य इस पांच रूप्य लक्षण का निरसन करते हुए कह रहे कि पांच रूप्य रहते हुए भी यदि साध्याविनाभावित्व नहीं हैं तो वह हेतु साध्यका गमक नहीं हो सकता, तथा त्रैरूप्य लक्षण यदि प्रमाणसे सिद्ध है अर्थात् उस त्रैरूप्यके साथ साध्याबिनाभावित्व है तो वह हेतु साध्यका गमक क्यों नहीं होगा ? अवश्य होगा । जब हेतुका पक्षमें सद्भाव है तब उसमें पक्षधर्मत्व है ही, तथा हेतु केवल साध्य रहते हुए ही पक्षमें रहता है तो उसका अन्वय भी प्रसिद्ध है एवं साध्य सद्भावमें ही पक्षमें रहनेके कारण उसका विपक्षमें असत्त्व स्वतः सिद्ध हो जाता है, इस प्रकारका प्रमाण प्रसिद्ध त्रैरूप्य अन्यथानुपपन्नरूप होनेके कारण अनिराकृत है । जिस हेतुका साध्य प्रमाणसे बाधित है उसे बाधित विषय कहते है जब हेतुका सारा स्वरूप प्रमाणसे सिद्ध हुआ तब उसमें किस प्रकार की बाधा ? एक ही अनुमानमें स्थित हेतुके बाधा संभव और बाधा अभाव [भाव और अभाव] मानना तो विरुद्ध है ।

किंच, प्रत्यक्ष और आगम प्रमाणमें जिस हेतुका विषय बाधित होता है वह बाधित विषयत्व दोष है इस दोषका निराकरण करनेके लिए हेतुके लक्षणमें अबाधित विषयत्वको समाविष्ट किया जाता है ऐसा आपका [यौगका] कहना है सो प्रत्यक्षादिमें हेतुका विषय किस कारणसे बाधित होता है ? स्वार्थ व्यभिचारिपना होने के कारण कहो तो हेतुमें भी त्रैरूप्यके रहने पर वह बात समान घटित होगी अर्थात् प्रत्यक्ष और आगमके विषयमें हेतु द्वारा बाधा उपस्थित की जायगी, देखा भी जाता है कि चन्द्र सूर्य आदिको स्थिर रूपसे ग्रहण करने वाला प्रत्यक्ष प्रमाण देशांतर प्राप्तिरूप हेतु वाले अनुमान द्वारा बाधित होता है ।

किञ्च, अबाधितविषयत्वं निश्चितम्, अनिश्चितं वा हेतोर्लक्षणं स्यात् ? न तावदनिश्चितम्; अतिप्रसंगात् । नापि निश्चितम्; तन्निश्चयासम्भवात् । स हि स्वसम्बन्धी, सर्वसम्बन्धी वा ? स्वसंबंधी चेत्; तत्कालीनः, सर्वकालीनो वा ? न तावत्तत्कालीनः; तस्यासम्यगनुमानेपि सम्भवात् । नापि सर्वकालीनः; तस्यासिद्धत्वात्, 'कालान्तरेप्यत्र बाधकं न भविष्यति' इत्यसर्वविदा निश्चेतुमशक्यत्वात् ।

सर्वसम्बन्धिनोपि तत्कालस्योत्तरकालस्य वा तन्निश्चयस्यासिद्धत्वम्; अर्वाग्दृशा 'सर्वत्र सर्वदा सर्वेषामत्र बाधकस्याभावः' इति निश्चेतुमशक्तेस्तन्निश्चयनिबन्धनस्याभावात् । तन्निबन्धनं

शंका—एक शाखा प्रभवत्व आदि हेतु वाले अनुमान भ्रांत हुआ करते हैं अतः वे प्रत्यक्षादिसे बाध्यमान हैं ?

समाधान—उक्त अनुमान किस कारणसे भ्रांत हैं प्रत्यक्ष द्वारा बाध्य होनेसे या त्रैरूप्य विकल होनेसे ? प्रथम पक्षमें अन्योन्याश्रय होगा—उक्त अनुमानका भ्रांतपना सिद्ध होने पर प्रत्यक्षसे बाध्यत्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर भ्रांतत्व सिद्ध होगा । दूसरा पक्ष तो अयुक्त ही है क्योंकि उक्त अनुमानके एक शाखाप्रभवत्व हेतुमें त्रैरूप्यका सद्भाव यौगने स्वयं स्वीकार किया है अतः इस हेतुमें त्रैरूप्य वैकल्प है ही नहीं । यदि इस हेतुमें त्रैरूप्यका सद्भाव स्वीकार नहीं करते तो उस त्रैरूप्यके अभाव के कारण ही एक शाखा प्रभवत्व हेतु अगमक [सदोष साध्यका असाधक] सिद्ध हुआ, उसमें फिरसे प्रत्यक्ष द्वारा बाधा उपस्थित करनेसे क्या प्रयोजन है ?

हेतुका लक्षण अबाधित विषयत्वरूप होना चाहिए सो यह अबाधित विषयत्व निश्चित है या अनिश्चित ? अनिश्चित तो कहना नहीं अतिप्रसंग होगा । निश्चित नहीं कह सकते क्योंकि इस हेतुका विषय अबाधित है ऐसा निश्चय होना असंभव है । यदि निश्चय होवे तो किसके होवे स्वसंबंधी या सर्वसंबंधी ? स्वसंबंधी कहो तो तत्कालीन [अनुमानकालीन] है अथवा सर्वकालीन है ? तत्कालीन स्वसंबंधी निश्चय है ऐसा कहना अयुक्त होगा क्योंकि ऐसा निश्चय तो मिथ्या अनुमानमें भी संभव है । सर्वकालीन निश्चय तो सर्वथा असिद्ध है । क्योंकि कालांतरमें भी इस अनुमानके विषयमें बाधा नहीं होगी ऐसा निश्चय करना अल्पज्ञ के लिए अशक्य है ।

अबाधित विषय सर्वसंबंधी निश्चित है ऐसा विकल्प माने तो वह तत्कालीन हो चाहे उत्तर कालीन हो दोनों निश्चय असिद्ध हैं, क्योंकि असर्वज्ञ पुरुषों द्वारा सर्वत्र सर्वदा सभीको इस अनुमानके विषयमें बाधा नहीं है ऐसा निर्णय किया जाना असंभव

ह्यनुपलम्भः, संवादो वा स्यात् ? न तावदनुपलम्भः; सर्वात्मसम्बन्धिनोऽस्याऽसिद्धानैकान्तिकत्वात् । नापि संवादः; प्रागनुमानप्रवृत्तेस्तस्यासिद्धेः । अनुमानोत्तरकालं तत्सिद्धयभ्युपगमे परस्पराश्रयः— अनुमानात्प्रवृत्तौ संवादनिश्चयः, ततश्चाबाधितविषयत्वावगमेऽनुमानप्रवृत्तिरिति । न चाविनाभावनिश्चयादेवाबाधितविषयत्वनिश्चयः; हेतौ पंचरूपयोगिन्यऽविनाभावपरिसमाप्तिवादिनामबाधितविषयत्वाऽनिश्चये अविनाभावनिश्चयस्यैवासम्भवात् । तन्नैकशाखाप्रभवत्वादेर्बाधितविषयत्वाद्धेत्वाभासत्वम् ।

है, अतः सर्वसंबंधी निश्चयका निमित्त असंभव है । सर्वसंबंधी निश्चय का निमित्त यदि माना जाय तो वह कौनसा होगा अनुपलंभरूप या संवादरूप ? अनुपलंभ होना अशक्य है क्योंकि सर्वसंबंधी और स्वसंबंधी अनुपलंभ क्रमशः असिद्ध और अनैकांतिक है अर्थात् सर्वको अनुपलंभ है ऐसा कहना सभीका जानना असंभव होनेसे असिद्ध है तथा स्वसंबंधी अनुपलंभ तो अनैकान्तिक होता है–स्वको अनुपलंभ होने पर भी अन्य व्यक्तिको अनुपलंभ नहीं होता ।

भावार्थ—अमुक वस्तुका अनुपलंभ [अभाव] है ऐसा किसी एक व्यक्तिको निश्चय हो जाने पर भी जगतके यावन्मात्र व्यक्ति को ऐसा निश्चय नहीं होता न उन व्यक्तियों का निश्चय अनिश्चय हमें ज्ञात ही है अतः सर्व संबंधी अनुपलंभ द्वारा किसी का निश्चय करना या अमुक वस्तुका अभाव सिद्ध करना अशक्य है अतः केवल स्वको किसी वस्तु अनुपलंभ होना सर्वथा मान्य नहीं हो सकता और सर्व व्यक्तियोंका अनुपलंभ निश्चय जानना तो असंभव ही है ।

सर्वसंबंधी निश्चयका निमित्त संवाद है ऐसा पक्ष भी ठीक नहीं, अनुमान प्रवृत्तिके पहले संवादकी असिद्धि है, अनुमान प्रवृत्तिके उत्तरकालमें संवादकी सिद्धि स्वीकार करे तो परस्वराश्रय दोष होगा - अनुमानसे प्रवृत्ति होने पर संवादका निश्चय होगा और उसके होने पर अबाधित विषयत्वका ज्ञान होकर अनुमान प्रवृत्ति होगी । यदि कहा जाय कि अविनाभावके निश्चयसे ही अबाधित विषयत्वका निश्चय हो जाता है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि पंचरूपयुक्त हेतुमें अविनाभावकी परिसमाप्ति मानने वाले आप यौगके यहां जब तक अबाधित विषयत्वका अनिश्चय है तब तक अविनाभावका निश्चय होना ही असंभव है । इस प्रकार बाधित विषयत्व होनेके कारण एक शाखा प्रभत्वादि हेतु असत् है ऐसा कहना सिद्ध नहीं होता । उक्त हेतु तो साध्याविनाभावित्व के न होनेके कारण हेत्वाभासके कोटिमें आते हैं ।

नापि तत्पुत्रत्वादे. सत्प्रतिपक्षत्वात् । यतः प्रतिपक्षस्तुल्यबलः, अतुल्यबलो वा सन् स्यात् ? न तावदाद्यः पक्षः; द्वयोस्तुल्यबलत्वे 'एकस्य बाधकत्वमपरस्य च बाध्यत्वम्' इति विशेषानुपपत्तेः। न च पक्षधर्मत्वाद्यभाव एकस्य विशेषः; तस्यानभ्युपगमात् । अभ्युपगमे वा अत एवैकस्य दुष्टत्वसिद्धेर्न किंचिदनुमानबाधया ? द्वितीयपक्षेप्यतुल्यबलत्वं तयोः पक्षधर्मत्वादिभावाभावकृतम्, अनुमानबाधाजनितं वा स्यात् ? प्रथमपक्षोनभ्युपगमादेवायुक्तः, पक्षधर्मत्वादेरुभयोरप्यभ्युपगमात् । द्वितीयोप्यसम्भाव्यः; तस्याद्यापि विवादपदापन्नत्वात् । न खलु द्वयोस्त्रैरूप्याविशेषतस्तुल्यत्वे सति 'एकस्य बाध्यत्वमपरस्य च बाधकत्वम्' इति व्यवस्थापयितुं शक्यमविशेषेणैव तत्प्रसगात् । इतरेतराश्रयश्च–अतुल्यबलत्वे सत्यनुमानबाधा, तस्यां चातुल्यबलत्वमिति ।

तत्पुत्रत्वादि हेतु भी सत्प्रतिपक्षत्वके कारण हेत्वाभास नहीं बनते [किन्तु साध्याविनाभावके न होनेके कारण हेत्वाभास बनते हैं] जिस हेतुमें प्रतिपक्षी मौजूद हो उसे सत् प्रतिपक्षत्व नामा सदोष हेतु कहते हैं सो वह प्रतिपक्ष तुल्य बल वाला है या अतुल्य बल वाला है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं यदि दोनों–पक्ष–प्रतिपक्षके हेतु तुल्य बल वाले होवे तो एकके बाधकपना और दूसरे के बाध्यपना इस प्रकार विशेष भेद बन नहीं सकता । एक हेतुमें पक्षधर्मत्वादिका अभाव होनेसे विशेष भेद हो जायगा ऐसा कहना भी अयुक्त है क्योंकि उसको आपने माना नहीं, अर्थात् पक्षधर्मत्वादिके कारण हेतुमें विशेष भेद हो ऐसा आप मानते नहीं । यदि मानते हैं तो इसी पक्षधर्मत्वादिके अभाव होनेके कारण ही दोनों में से एककी सदोषता सिद्ध हो जाती है, उसके लिये अनुमान द्वारा बाधा उपस्थित करनेसे कुछ लाभ नहीं होता । दूसरे पक्षमें भी प्रश्न होता है कि उन दोनों हेतुओंमें [तत्पुत्रत्व और शास्त्रव्याख्यानवत्व में] अतुल्य बल किस कारणसे हुआ पक्षधर्मत्वादिका सद्भाव और अभाव होनेके कारण हुआ या अनुमानद्वारा बाधा होनेके कारण हुआ ? प्रथम पक्ष स्वीकार नहीं होनेसे अयुक्त है, क्योंकि आपने पूर्वोक्त तत्पुत्रत्व और शास्त्रव्याख्यानवत्व हेतुओंमें पक्षधर्मत्वादि लक्षणों को स्वीकार किया है । द्वितीय पक्ष भी असंभव है, क्योंकि अनुमान द्वारा बाधित होना अभी तक विवादग्रस्त है, दोनों हेतुओंमें त्रैरूप्य की अविशेषता होनेके कारण तुल्यपना होते हुए भी एक हेतुके बाध्यपना और दूसरेके बाधकपना है ऐसी व्यवस्था करना शक्य नहीं, उनमें तो समानरूपसे बाध्यपना या बाधकपना ही रहेगा । अन्योन्याश्रय दोष भी होगा—अतुल्य बलत्व होने पर अनुमान बाधा आयेगी और उसके होने पर अतुल्यबलत्व होगा ।

यच्च प्रकरणसमस्यानित्यः शब्दोनुपलभ्यमाननित्यधर्मकत्वादित्युदाहरणम्; तत्रानुपलभ्यमाननित्यधर्मकत्वं शब्दे तत्त्वतोऽप्रसिद्धम्, न वा ? प्रथमपक्षे पक्षवृत्तितयाऽस्याऽसिद्धे रसिद्धत्वम्। द्वितीयपक्षे तु साध्यधर्मान्विते धर्मिणि तत्प्रसिद्धम्, तद्रहिते वा ? आद्यविकल्पे साध्यवत्येव धर्मिण्यस्य सद्भावसिद्धिः, कथमगमकत्वम् ? न हि साध्यधर्ममन्तरेण धर्मिण्यऽभवनं विहायापरं हेतोरविनाभावित्वम्। तच्चेत्समस्ति, कथं न गमकत्वम् अविनाभावनिबन्धनत्वात्तस्य ? द्वितीयपक्षे तु विरुद्धत्वम्;

विशेषार्थ—यह देवदत्त मूर्ख है, क्योंकि उस व्यक्तिका पुत्र है, इस अनुमानका तत्पुत्रत्व हेतु सत् प्रतिपक्ष दोष युक्त है क्योंकि इस हेतुके साध्यके विरुद्ध पक्षको सिद्ध करनेवाला अन्य हेतु मौजूद है–यह देवदत्त विद्वान है, क्योंकि शास्त्रका व्याख्यान करता है, यह शास्त्रव्याख्यानत्व हेतु उक्त मूर्खत्व साध्यका निरसन करता है, इस प्रकार के सत्प्रतिपक्षत्व हेतुके कारण तत्पुत्रत्व हेतु अगमक होता है ऐसा यौगका कहना है, आचार्यने कहा कि ऐसा प्रतिपक्षत्व किस कारणसे होता है ? दोनों हेतुओंमें से एकमें अतुल्य बल होनेके कारण हुआ ऐसा कहना अशक्य है एकमें अतुल्यबल भी किस कारणसे हुआ यह प्रश्न खड़ा होता है एकमें पक्षधर्मत्वादि रहते हैं और दूसरेमें (तत्पुत्रत्वादिमें) नहीं रहते इस कारण एकमें अतुल्यबल है ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि यौगने दोनों हेतुओंमें पक्षधर्मत्वादिको स्वीकार किया है। तुल्यबल होनेसे हेतु सत् प्रतिपक्षी होता है ऐसा कहना भी असत् है जब दोनोंका समान बल है तब एक बाधक बने और दूसरा उसके द्वारा बाधित (खंडित) हो जाय ऐसा असंभव है। अतः तत्पुत्रत्वादि हेतु सत् प्रतिपक्षके कारण सदोष नहीं है अपितु अन्यथानुपपन्नत्व लक्षण नहीं होनेके कारण सदोष है।

सत् प्रतिपक्षत्व हेतुका दोष है उसके निमित्तसे प्रकरणसम नामका हेत्वाभास होता है, जैसे—शब्द अनित्य है क्योंकि उसमें नित्य धर्मकी अनुपलब्धि है, ऐसा यौगने प्रकरणसम हेत्वाभास का उदाहरण दिया सो उसमें प्रश्न है कि शब्दमें अनुपलभ्यमान नित्य धर्मत्वरूप हेतु वास्तविकरूपसे असिद्ध है कि नहीं ? यदि है तो पक्षमें वर्त्तना असिद्ध होनेके कारण यह हेतु असिद्ध हेत्वाभास कहलायेगा, न कि प्रकरणसम हेत्वाभास। अनुपलभ्यमान नित्यधर्मत्व शब्दमें अप्रसिद्ध नहीं है अर्थात् प्रसिद्ध है ऐसा दूसरा पक्ष करे तो पुनः शंका होती है कि उक्त धर्मत्व साध्यधर्मान्वित धर्मीमें प्रसिद्ध है या साध्यधर्म रहित धर्मीमें प्रसिद्ध है ? प्रथम कल्पनामें साध्ययुक्त धर्मीमें ही उक्त

साध्यधर्मरहिते धर्मिणि प्रवर्त्तमानस्य विपक्षवृत्तितया विरुद्धत्वोपपत्तेः । अथ सन्दिग्धसाध्यधर्मवति तत्तत्र प्रवर्त्तते; तर्हि सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वादस्याऽनैकान्तिकत्वम् ।

नन्वेवं सर्वो हेतुरनैकान्तिकः स्यात्, साध्यसिद्धेः प्राक्साध्यधर्मिणः साध्यधर्मसदसत्त्वाश्रयत्वेन सन्दिग्धत्वात्, ततोऽनुमेयव्यतिरिक्ते साध्यधर्मवति धर्म्यन्तरे साध्याभावे च प्रवर्त्तमानो हेतुरनैकांतिकः, साध्याभाववत्येव तु पक्षधर्मत्वे सति विरुद्धः, यस्तु विपक्षाद्व्यावृत्तः सपक्षे चानुगतः पक्षधर्मो निश्चितः स्वसाध्यं गमयत्येवेत्यभ्युपगन्तव्यम्; इत्यप्यसुन्दरम्; यतो यदि साध्यधर्मिव्यतिरिक्ते धर्म्यन्तरे हेतोः

साधन धर्मका सद्भाव सिद्ध होनेसे उसे अगमक किस प्रकार माने ? क्योंकि धर्मीमें साध्यधर्म के बिना नहीं होना यही हेतु अविनाभावित्व है इसको छोड़कर अन्य किसीको अविनाभावीपना नहीं कहते, जब वह गुण-लक्षण हेतुमें है तब वह कैसे गमक नहीं होगा गमकत्वका निमित्त तो अविनाभाव ही है ? द्वितीय कल्पना साध्य रहित धर्मीमें अनुपलभ्यमान नित्यधर्मत्व हेतु रहता है ऐसा माने तो वह हेतु विरुद्ध कहलायेगा [न कि प्रकरण सम] जो हेतु साध्यधर्मरहित धर्मीमें रहता है उसका विपक्ष में वर्त्तने के कारण विरुद्धपना प्रसिद्ध ही है ।

यौग—साध्यधर्मका रहना जहां संदिग्ध है उस धर्मीमें उक्त हेतु प्रवृत्ति करता है ?

जैन—तो इस हेतुका विपक्षमें रहना भी संदिग्ध होनेके कारण अनैकांतिक दोष आयेगा (प्रकरण सम नहीं) ।

यौग—इस तरह मानने पर सभी हेतु अनैकान्तिक कहलायेंगे, क्योंकि साध्यः सिद्धिके पहले साध्यधर्मीमें साध्यका धर्म सत् और असत् रूपसे रहना संदिग्ध ही रहता है, अतः अनुमेयसे पृथक अन्य स्थान पर साध्य धर्म युक्त धर्मीमें (घटमें) प्रवृत्ति करने वाला हेतु एवं साध्यके अभावमें प्रवृति करनेवाला हेतु ही अनैकांतिक होता है ऐसा मानना चाहिए, तथा जहां साध्यका अभाव है केवल उसमें ही पक्षधर्म रूप रहता है वह हेतु विरुद्ध होता है, किन्तु जो हेतु विपक्षसे व्यावृत्त है सपक्षमें अनुगत एवं पक्ष धर्मयुक्त है वह स्वसाध्य को अवश्य ही सिद्ध करता है ऐसा स्वीकार करना चाहिए ?

स्वसाध्येन प्रतिबन्धोऽभ्युपगम्यते; तर्हि साध्यधर्मिण्युपादीयमानो हेतुः कथं साध्यं साधयेत्, तत्र साध्यमन्तरेणाप्यस्य सद्भावाभ्युपगमात् ? तद्व्यतिरिक्ते एव धर्म्यन्तरे साध्येनास्य प्रतिबन्धग्रहणात्। न चान्यत्र साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरन्यत्र साध्यं गमयत्यतिप्रसङ्गात्। ततः साध्यधर्मिण्येव हेतोर्व्याप्तिः प्रतिपत्तव्या।

ननु यदि साध्यधर्मान्वितत्वेन साध्यधर्मिण्यसौ पूर्वमेव प्रतिपन्नः, तर्हि साध्यधर्मस्यापि पूर्वमेव प्रतिपन्नत्वाद्धेतोः पक्षधर्मताग्रहणस्य वैयर्थ्यम्; तदप्यसङ्गतम्; यतः प्रतिबन्धसाधकप्रमाणेन सर्वोपसंहारेण 'साधनधर्मः साध्यधर्माभावे क्वचिदपि न भवति' इति सामान्येन प्रतिबन्धः प्रतिपन्नः। पक्षधर्मताग्रहणकाले तु 'यत्रैव धर्मिण्युपलभ्यते हेतुस्तत्रैव साध्यं साधयति' इति पक्षधर्मताग्रहणस्य विशेषविषयप्रतिपत्तिनिबन्धनत्वान्नानुमानस्य वैयर्थ्यम्। न खलु विशिष्टधर्मिण्युपलभ्यमानो हेतुस्तद्गत-

---

जैन—यह कथन असुन्दर है, साध्यधर्मी से पृथक् किसी अन्य धर्मीमें हेतुका स्वसाध्यके साथ अविनाभाव स्वीकृत किया जाय तो साध्यधर्मीमें प्रदत्त हेतु किस प्रकार साध्यको सिद्ध कर सकेगा ? क्योंकि साध्यके बिना भी वहां हेतुका रहना मान लिया, इस हेतुका साध्यके साथ अविभाव ग्रहण तो विवक्षित साध्यधर्मीके व्यतिरिक्त अन्य धर्मीमें ही हुआ है ! साध्याविनाभावपने से निश्चय तो अन्यत्र हो और वह हेतु अन्यत्र साध्यको सिद्ध करे ऐसा नहीं होता, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। अतः साध्यधर्मीमें ही हेतुका अविनाभाव जानना आवश्यक है।

यौग—साध्य धर्मीमें हेतुका साध्यधर्मसे अन्वितपना पहले ही ज्ञात है तो साध्यधर्म भी पहलेसे ज्ञात ही रहेगा, फिर हेतुके पक्षधर्मत्वको ग्रहण करना व्यर्थ ही ठहरता है ?

जैन—यह कथन असंगत है, अविनाभाव संबंध को सिद्ध करनेवाले तर्क प्रमाण द्वारा सर्वोपसंहार से "साधनधर्म साध्यके अभावमें कहीं भी नहीं होता" इस प्रकार सामान्यतः अविनाभाव ज्ञात रहता है, जब पक्षधर्म ग्रहणका समय आता है तब जहांपर ही धर्मीमें हेतु उपलब्ध होता है वहींपर साध्यको सिद्ध करता है इसलिये पक्ष धर्मताका ग्रहण विशेष विषयकी प्रतिपत्तिका निमित्त है और इसीकारणसे अनुमानकी व्यर्थता नहीं होती या पक्षधर्मता ग्रहण व्यर्थ नहीं ठहरता है। विशिष्ट धर्मीमें उपलभ्यमान हेतु उसमें होनेवाले साध्यके बिना ही हो जाता है ऐसी बात तो नहीं है अन्यथा

साध्यमन्तरेणोपपत्तिमान्, तस्य तेन व्याप्तत्वाभावप्रसङ्गात्। अत एव प्रतिपन्नप्रतिबन्धैकहेतुसद्भावे धर्मिणि न विपरीतसाध्योपस्थापकहेत्वन्तरस्य सद्भावः, अन्यथा द्वयोरप्यनयोः स्वसाध्याविनाभावित्वात्, नित्यत्वानित्यत्वयोश्चैकत्रैकदैकान्तवादिमते विरोधतोऽसंभवात्, तद्व्यवस्थापकहेत्वोरप्यसंभवः। सम्भवे वा तयोः स्वसाध्याविनाभूतत्वान्नित्यत्वानित्यत्वधर्मसिद्धिर्धर्मिणः स्यादिति कुतः प्रकरणसमस्यागमकता एकांतत्वसिद्धिर्वा? अथान्यतरस्यात्र स्वसाध्याविनाभाववैकल्यम्; तथाप्यत एवास्यागमकतेति किं तत्प्रतिपादनप्रयासेन?

किञ्च, नित्यधर्मानुपलब्धिः प्रसज्यप्रतिषेधरूपा, पर्युदासरूपा वा शब्दानित्यत्वे हेतुः स्यात्? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; तुच्छाभावस्य साध्यासाधकत्वान्निषिद्धत्वाच्च। द्वितीयपक्षे तु अनित्यधर्मोप-

---

उसका साध्यके साथ अविनाभाव संबंध नही रहने का प्रसंग आता है। इसीलिये ज्ञात है साध्याविनाभावित्व जिसका ऐसे एक हेतुके सद्भावयुक्त धर्मीमे विपरीत साध्यका उपस्थापक अन्य हेतु आ नहीं सकता अन्यथा दोनों हेतु स्व–स्वसाध्यके अविनाभावी होंगे और अविनाभावी होनेके कारण अपना अपना साध्य-नित्यत्व और अनित्यत्व धर्म को एक जगह एक ही कालमें सिद्ध कर बैठेंगे किन्तु वह एकांतमतमें विरुद्ध होनेसे असंभव है अतः उक्त नित्यत्वादिके व्यवस्थापक हेतुओंका भी अभाव हो जाता है, यदि उनका सद्भाव है तो अपने अपने साध्यके अविनाभावी होनेसे धर्मीमें नित्य और अनित्य धर्मकी सिद्धि करेंगे ही फिर 'प्रकरणसम हेतु अगमक होता है' ऐसा कहना किस प्रकार सिद्ध होगा? और सर्वथा एकांत मतकी (शब्द अनित्य ही है इत्यादिकी) सिद्धि भी किसप्रकार होगी? अर्थात् नही हो सकती।

यौग—दोनों हेतुओंमें से एकको (अनुपलभ्यमान नित्यधर्मत्व हेतुको) स्वसाध्य का अविनाभावी नहीं मानते?

जैन—तो फिर अविनाभावित्वके नहीं होनेके कारण ही उक्त हेतु अगमक ठहरा, प्रकरण सम आदिके प्रतिपादनका प्रयास तो व्यर्थ ही है।

किंच, "नित्य धर्मकी अनुपलब्धि" इस वाक्यमें अनुपलब्धि का अर्थ उपलब्धि का अभाव है सो वह प्रसज्यप्रतिषेध स्वरूप है अथवा पर्युदास स्वरूप है दोनोंमें से किसको शब्दके अनित्यत्वको सिद्ध करनेमें हेतु बनाया है? प्रसज्यप्रतिषेधरूप अनुप-

लब्धिरेव हेतुः, सा च शब्दे यदि सिद्धा कथं नानित्यतासिद्धिः ? अथ तच्चिन्तासम्बन्धिपुरुषेणासौ प्रयुज्यत इति तत्रासिद्धा; तर्हि कथं न सन्दिग्धो हेतुर्वादिनं प्रति ? प्रतिवादिनस्त्वसौ स्वरूपासिद्ध एव; नित्यधर्मोपलब्धेस्तत्रास्य सिद्धेः। तन्न पंचरूपत्वमप्यस्य लक्षणं घटते अबाधितविषयत्वादेर्विचार्यमाणस्यायोगात्पक्षधर्मत्वादिवत्।

यदि चैकस्य हेतोः पक्षधर्मत्वाद्यनेकधर्मात्मकत्वमिष्यते, तदाऽनेकान्तः समाश्रितः स्यात्। न च यदेव पक्षधर्मस्य सपक्षे एव सत्त्वम् तदेव विपक्षात्सर्वतोऽसत्त्वमित्यभिधातव्यम्; अन्वयव्यतिरेकयोर्भावाभावरूपयोः सर्वथा तादात्म्यायोगात्, तत्त्वे वा केवलान्वयी केवलव्यतिरेकी वा सर्वो हेतुः स्यात्, न त्रिरूपवान्।

लब्धि को हेतु बनानेका प्रथम पक्ष अयुक्त है, तुच्छाभावरूप प्रसज्यप्रतिषेध वाली अनुपलब्धि साध्यकी सिद्धि नहीं कर सकती तथा इस अभावका निरसन भी हो चुका है। द्वितीय पक्ष–नित्यधर्मकी अनुपलब्धिरूप अभाव पर्युदास स्वरूप है ऐसा कहे तो उसका सीधा अर्थ अनित्यधर्मकी उपलब्धि होना है उसको यदि हेतु बनाया है तो वह शब्दमें सिद्ध ही है फिर उससे अनित्य साध्यकी सिद्धि क्यों नहीं होगी ?

यौग—प्रकरण समकी चिंता करनेवाले पुरुषद्वारा उक्त हेतु प्रयुक्त होता है अतः उसमें असिद्धि है ?

जैन—तो फिर उक्त हेतु वादीके प्रति किसप्रकार संदिग्ध नहीं होगा ? अवश्य होगा। प्रतिवादीके तो यह हेतु स्वरूपसे ही असिद्ध है, क्योंकि प्रतिवादी मीमांसक को शब्दमें नित्यधर्मकी उपलब्धि होती है। इसप्रकार हेतुका पंचरूपत्व लक्षण घटित नहीं होता है, इसके अबाधित विषयत्व आदि रूपत्वका विचार करने पर अभाव ही प्रतीत होता है जैसे कि बौद्धाभिमत पक्षधर्मत्वादिका अभाव है।

तथा आप परवादी एक ही हेतुमें पक्षधर्मत्व आदि अनेक स्वभाव मानते हैं तो अनेकांतमतका आश्रय लेना सिद्ध होता है। ऐसा तो कह नहीं सकते कि जो पक्षधर्मका सपक्षमें सत्व है वही सब विपक्षसे असत्व है ? क्योंकि सपक्षसत्व भावरूप अन्वय है और विपक्ष असत्त्व अभावरूप व्यतिरेक है इनका सर्वथा तादात्म्य नहीं होता, यदि तादात्म्य माने तो सभी हेतु केवलान्वयी बन जायेंगे अथवा केवल व्यतिरेकी बन जायेंगे, कोई भी हेतु त्रिरूपवान् अवशेष नहीं रहेगा (तीसरा हेतु केवलान्वयव्यतिरेकीउभयरूप)।

व्यतिरेकस्य चाभावरूपत्वाद्धेतोस्तद्रूपत्वेऽभावरूपो हेतुः स्यात्। न चाभावस्य तुच्छरूपत्वात्स्वसाध्येन धर्मिणा सम्बन्धः। यदि च सपक्ष एव सत्त्वं विपक्षासत्त्वम् न ततो भिन्नम्; तर्हि तदेवास्यासाधारणं कथं स्यात्? वस्तुभूतान्याभावमन्तरेण प्रतिनियतस्यास्याप्यत्रासम्भवात्। अथ ततस्तदन्यधर्मान्तरम्; तर्ह्येकस्यानेकधर्मात्मकस्य हेतोस्तथाभूतसाध्याविनाभावित्वेन निश्चितस्य अनेकान्तात्मकार्थप्रसाधकत्वात् कथं न परोपन्यस्तहेतूना विरुद्धता? एकांतविरुद्धेनानेकांतेन व्याप्तत्वात्।

किंच, परैः सामान्यरूपो हेतुरुपादीयते, विशेषरूपो वा, उभयम्, अनुभयं वा? सामान्यरूपश्चेत्; तत्किं व्यक्तिभ्यो भिन्नम्, अभिन्नं वा? भिन्नं चेत्; न; व्यक्तिभ्यो भिन्नस्य सामान्यस्याऽप्रतिभासमानतयाऽसिद्धत्वात्। तथाभूतस्यास्य सामान्यविचारे निराकरिष्यमाणत्वाच्च। अथाभिन्नम्;

तथा केवल व्यतिरेक स्वरूप हेतु रहे तो व्यतिरेक अभावस्वरूप होनेसे हेतु भी अभावरूप मानना होगा, किन्तु आपका अभाव तुच्छाभावरूप होनेसे उसका स्वसाध्य से धर्मीके साथ संबंध नहीं हो सकता है। तथा सपक्षका सत्त्व ही विपक्ष असत्त्व है उससे भिन्न नहीं है तो वही धर्म इसका असाधारण कैसे होवेगा? क्योंकि विपक्षका असत्त्व वास्तविक भिन्न अभावरूप हुए विना प्रतिनियत सपक्ष सत्त्वका हेतुमें होना भी असंभव है। यदि सपक्ष सत्त्वसे विपक्षका असत्त्व भिन्न है ऐसा कहो तो एक ही हेतु अनेक धर्मात्मक है यह सिद्ध हो जाता है इस तरह का हेतु ही साध्यके साथ अविनाभाव रूपसे निश्चित होता है, इसीसे संपूर्ण पदार्थोंमें अनेक धर्मात्मकता सिद्ध हो जानेसे परवादी द्वारा उपन्यस्त हेतु किस प्रकार विरुद्ध नही होंगे अर्थात् अवश्य होंगे, क्योंकि ये हेतु एकांत पक्षके विरोधी अनेकांत के साथ व्याप्त हो रहे हैं।

आप यौगादि परवादीने सामान्यरूप हेतुको ग्रहण किया है या विशेषरूप, उभयरूप अथवा अनुभयरूप ग्रहण किया है, सामान्यरूप है तो वह व्यक्तियोंसे भिन्न है या अभिन्न? भिन्न कहना शक्य नहीं, जो व्यक्तियों से भिन्न है ऐसा सामान्य प्रतिभासित नहीं होनेसे असिद्ध है, तथा इस प्रकारके सामान्यका हम-जैन आगे सामान्य विचार नामा प्रकरणमें निराकरण करनेवाले हैं। सामान्य व्यक्तियोंसे अभिन्न है ऐसा दूसरा विकल्प माने तो कथंचित् अभिन्न है या सर्वथा अभिन्न है? सर्वथा कहना असत् है, क्योंकि व्यक्ति से [विशेष या भिन्न भिन्न अनेक वस्तुओंको व्यक्तियां कहते हैं जैसे पुस्तकें हैं, एक एक पुस्तक एक एक व्यक्ति कहलाती है संपूर्ण पुस्तकोंमें जो पुस्तकपना है उसे सामान्य कहते हैं। परवादी पुस्तक व्यक्तियोंसे पुस्तकत्व सामान्यको सर्वथा पृथक्

कथञ्चित्, सर्वथा वा ? सर्वथा चेत्; न; सर्वथा व्यक्त्यव्यतिरिक्तस्यास्य व्यक्तिस्वरूपवद्व्यक्त्यन्तराननुगमतः सामान्यरूपतानुपपत्तेः। कथञ्चित्पक्षस्त्वनभ्युपगमादेवायुक्तः। नापि व्यक्तिरूपो हेतुः; तस्यासाधारणत्वेन गमकत्वायोगात्। नाप्युभयं परस्परानुविद्धम्; उभयदोषप्रसङ्गात्। नाप्यनुभयम्; अन्योन्यव्यवच्छेदरूपाणामेकाभावे द्वितीयविधानादनुभयस्यासत्त्वेन हेतुत्वायोगात्। ततः पदार्थान्तरानुवृत्तव्यावृत्तरूपमात्मानं बिभ्रदेकमेवार्थस्वरूपं प्रतिपत्तुर्भेदाभेदप्रत्ययप्रसूतिनिबन्धनं हेतुत्वेनोपादीयमानं तथाभूतसाध्यसिद्धिनिबन्धनमभ्युपगन्तव्यम्।

किंच, एकांतवाद्युपन्यस्तहेतोः किं सामान्यं साध्यम्, विशेषो वा, उभयं वा, अनुभयं वा ? न तावत्सामान्यम्; केवलस्यास्यासम्भवादर्थक्रियाकारित्वविकलत्वाच्च। नापि विशेषः, तस्याननुयायितया

एवं एक मानते हैं, ऐसे ही मनुष्य घट पट आदि यावन्मात्र पदार्थोंमें घटित करना] अभिन्न सामान्य व्यक्तिके स्वरूप समान अन्य व्यक्तिमें गमन नहीं कर सकनेसे उस सामान्यकी सामान्यरूपता समाप्त हो जाती है। कथंचित् अभिन्न कहनेका पक्ष तो अस्वीकृत होनेके कारण अयुक्त है। हेतु व्यक्तिरूप अर्थात् विशेषरूप होता है ऐसा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यक्तिरूप हेतु असाधारण होनेके कारण साध्यका गमक नहीं हो सकता। उभयरूप हेतुको मानना भी गलत है, क्योंकि आपके यहां सामान्य और विशेष परस्परमें असंबद्ध है अतः उभयदोष–दोनों–सामान्य विशेष पक्षके दोषोंका प्रसंग आता है। हेतुको अनुभयरूप स्वीकार करनेका चौथा विकल्प भी नहीं बनता जो एक दूसरे का व्यवच्छेद करके रहनेवाले धर्म हैं उनका एकका अभावमें दूसरेका विधान अवश्य होता जाता है, अतः अनुभय [सामान्य भी नहीं और विशेष भी नहीं] रूप धर्मका असत्त्व हो है इसलिये उसमें हेतुपना नहीं हो सकता। अतः ऐसा स्वीकार करना चाहिये कि जो अन्य पदार्थोंसे अनुवृत्त तथा व्यावृत्तस्वरूप अपनेको धार रहा है तथा ज्ञातापुरुषके भेद और अभेद ज्ञानोत्पत्तिका निमित्त है उसको हेतु बनाने पर हो तथाभूत साध्यकी सिद्धि हो सकती है, अर्थात् जिस हेतुमें अनुवृत्त व्यावृत्त स्वरूप सामान्य विशेष रूप अनेकात्मक हो वही स्वसाध्यकी सिद्धि करता है।

किंच, एकांतपक्षवाले परवादी द्वारा उपस्थित किये गये हेतुका साध्य भी किस प्रकार का होगा, सामान्य या विशेष, उभय या अनुभय ? केवल सामान्यरूप साध्यका होना अशक्य है क्योंकि न इसप्रकारकी वस्तु है और न ऐसेमें अर्थक्रियाकारीपना संभव है। विशेषरूप वस्तुको साध्य बनाना भी ठीक नहीं, क्योंकि वह अन्यत्र

हेत्वऽव्यापकस्य साधयितुमशक्तेः । नाप्युभयम्; उभयदोषानतिवृत्तेः । नाप्यनुभयम्; तस्यासतो हेत्वव्यापकत्वेन साध्यत्वायोगात् ।

अनुयायी नहीं होनेसे हेतुमें अव्यापक है अतः उसको सिद्ध करना अशक्य है । उभय–सामान्य और विशेषको साध्य बनावे तो उभय पक्षके दोष आयेंगे । अनुभय तो असत् रूप ही है वह हेतुमें किसीप्रकार भी व्याप्त नहीं हो सकता, अतः उसमें साध्यपनेका अयोग ही है । इसप्रकार हेतुके लक्षणमें विचार करनेपर निश्चय हो जाता है कि जो साध्यका अविनाभावी हो वही वास्तविक हेतु है अतः साध्याविनाभावित्व ही हेतुका लक्षण है, यौगाभिमत पांचरूप्य लक्षण असमीचीन है ।

॥ समाप्त ॥

हेतु के पंचरूपता के खण्डन का सारांश

नैयायिक वैशेषिक हेतु के पांच अंग बतलाते हैं पक्ष धर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्ष व्यावृत्ति, अबाधित विषयत्व, असत्प्रतिपक्षत्व, इन पांच को न मानने से पांच दोष आते हैं पक्षधर्मत्व के अभावमें असिद्ध हेत्वाभास, सपक्षसत्व के अभाव में विरुद्ध, विपक्ष व्यावृत्ति के अभाव में अनेकान्तिक, अबाधित विषयत्व के अभाव में कालात्ययापदिष्ट और असत्प्रतिपक्षत्व के अभाव में प्रकरणसमनामक दोष आता है, किन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि हेतु में साध्याविनाभावित्व गुण एक ही ऐसा है कि उसके सद्भाव होने पर असिद्ध आदि दोष नहीं आते हैं। आपने कहा कि यदि हेतु में पक्ष धर्मत्वगुण न होवे तो असिद्ध दोष आता है यह कथन असत् है, पूर्वचरादि हेतु में पक्ष धर्मत्व नहीं है तो भी साध्य को सिद्ध करता है। ऐसे ही सपक्ष सत्व के नहीं होते हुए भी हेतु साध्य का गमक होता है। विपक्ष व्यावृत्ति नाम का गुण तो हेतु में होना आवश्यक है किन्तु जब उसमें साध्याविनाभावित्व है तो नियम से विपक्ष से व्यावृत्त गुण युक्त होता है अतः इसका पृथक् रूप से प्रतिपादन करने की आवश्यकता नहीं रहती। अबाधित विषयत्व और असत् प्रतिपक्षत्व गुण भी हेतु की महत्ता बढ़ाने वाले नहीं हैं, क्योंकि ये गुण रहते हुए भी अविनाभावत्व के बिना वह हेतु साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता। हेतु का जो अबाधित विषयत्व गुण माना है वह निश्चित है कि नहीं? निश्चित होना अशक्य है क्योंकि इसमें किसी काल में किसी स्थान पर भी बाधा नहीं आवेगी ऐसा अल्पज्ञ को ज्ञान होना अशक्य है। असत्प्रतिपक्षत्व की कल्पना करना भी व्यर्थ है, अंतिम यही निष्कर्ष होना है कि हेतु का लक्षण "साध्याबिना-भावित्व" ही है उसीसे साध्य की सिद्धि होती है।

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः॥

॥ समाप्त ॥

१३

पूर्ववदाद्यनुमानत्रैविध्यनिरासः

यच्चान्यदुक्तम्—"प्रत्यक्षपूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च।" [न्याय सू० १।१।५] इति। तत्र पूर्ववच्छेषवत्केवलान्वयि, यथा सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनमनेकत्वात् पंचांगुलवत्। पंचांगुलव्यतिरिक्तस्य सदसद्वर्गस्य पक्षीकरणादन्यस्याभावाद्विपक्षाभावः, अत एव व्यतिरेकाभावः। पूर्ववत्सामान्यतोऽदृष्टम् केवलव्यतिरेकि, यथा सात्मक जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वा-

---

अनुमान प्रमाणके विषयमें यौगका कहना है कि "प्रत्यक्ष पूर्वकं त्रिविध मनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतो दृष्टं च" अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है उसके तीन भेद हैं – पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट। वृत्तिकार इनके नामों का विभाजन इस प्रकार करते हैं— पूर्ववत् शेषवत् केवलान्वयी, पूर्ववत् सामान्यतोदृष्ट केवलव्यतिरेकी और पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टअन्वयव्यतिरेकी। इनका क्रमशः विवरण करते हैं—अनुमानमें सबसे पहले जिसका प्रयोग होता है उसे पूर्व अर्थात् पक्ष कहते है, जिसका अंतमें प्रयोग हो वह शेषवत् अर्थात् दृष्टांत है, साधनसामान्य की साध्य सामान्य के साथ व्याप्ति होना "सामान्यतो दृष्ट" कहा जाता है। पूर्ववत् शेषवत् केवलान्वयी अनुमानका उदाहरण – सद्वर्ग–सत्ताभूत द्रव्य गुणादि, असत् वर्ग–अभाव रूप प्राग भावादि ये सभी किसी एक पुरुषके ज्ञानके आलंबनरूप हैं क्योंकि अनेक हैं, जैसे पांच अंगुलियां अनेक होनेसे एक पुरुषके ज्ञानका आलंबनभूत हैं। इस अनुमान में प्रथम प्रयुक्तपक्ष शेषमें प्रयुक्त दृष्टांत एवं केवल अन्वयव्याप्ति पायी जाती है। अतः इसे पूर्ववत्शेषवत् केवलान्वयी कहते हैं। इस अनुमान में पांच अंगुलियों के अतिरिक्त सभी सत् असत् भूत पदार्थोंका पक्षमें संग्रह हो जानेसे विपक्षभूत पदार्थ शेष नहीं रहता इसीलिये व्यतिरेकका अभाव है इसी वजह से केवलान्वयी अनुमान कहलाता है।

दिति । पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोऽदृष्टमन्वयव्यतिरेकि, यथा विवादास्पदं तनुकरणभुवनादि बुद्धिमत्कारणं कार्यत्वादिभ्यो घटादिवत् । यत्पुनर्बुद्धिमत्कारणं न भवति न तत्कार्यत्वादिधर्माधारो यथात्मादिः' इति ।

तदप्येतेन प्रत्याख्यातम्; सर्वत्रान्यथानुपपन्नत्वस्यैव हेतुलक्षणतोपपत्तेः, तस्मिन्सत्येव हेतोर्गमकत्वप्रतीतेः ।

पूर्ववत् सामान्यतोदृष्ट केवलव्यतिरेकी अनुमान—जीवित शरीर आत्मा सहित है, क्योंकि श्वास आदि प्राण पाये जाते हैं । इसमें केवल व्यतिरेक ही पाया जाता है अतः केवलव्यतिरेकी अनुमान कहलाता है । पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टअन्वयव्यतिरेकी अनुमान—विवाद ग्रस्त, शरीर, पृथ्वी, पर्वतादि पदार्थ बुद्धिमान कारणयुक्त होते हैं क्योंकि कार्यत्वादि स्वरूप हैं, जैसे घट आदि पदार्थ कार्यत्वादि धर्मयुक्त होने से बुद्धिमान कारण युक्त होते हैं जो बुद्धिमान कारण पूर्वक नहीं होते वे कार्यत्वादि धर्म युक्त भी नही होते, जैसे आत्मादि पदार्थ कार्यत्वादिसे शून्य होने के कारण बुद्धिमान कारण पूर्वक नहीं हैं । इसमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों पाये जाते हैं अतः केवलान्वय व्यतिरेकी अनुमान कहलाता है ।

विशेषार्थ—न्याय दर्शनमें अनुमानके तीन भेद माने हैं—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और केवलान्वयव्यतिरेकी, इनका विस्तृत नाम विभाजन—पूर्ववत् शेषवत् केवलान्वयी, पूर्ववत् सामान्यतोदृष्ट केवलव्यतिरेकी, और पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट केवलान्वयव्यतिरेकी । अनुमान के पांच अवयवोंमें से [पक्ष, हेतु, दृष्टांत, उपनय और निगमन] सर्व प्रथम जिसका प्रयोग हो वह पक्ष "पूर्व" कहलाता है यह प्रत्येक अनुमानमें पाया जाने से सभी अनुमान पूर्ववत् हैं । शेषवत् शब्दसे यहां पर दृष्टांत अर्थ इष्ट है और "सामान्यतोदृष्ट" पदका अर्थ है साधन सामान्यका साध्यसामान्यके साथ व्याप्त रहना । जिसमें अकेली अन्वयव्याप्ति पायी जाय उसे केवलान्वयी अनुमान कहते हैं, तथा जिसमें अकेली व्यतिरेकव्याप्ति पायी जाय उसे केवल व्यतिरेकी अनुमान एवं जिसमें उभय व्याप्ति हो उसे केवलान्वयव्यतिरेकी अनुमान कहते हैं । न्याय दर्शनका प्रमुख ग्रंथ गौतम ऋषि प्रणीत न्याय सूत्र के "प्रत्यक्ष पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ।।१।१।५।। अर्थमें विविध मतभेद हैं—भाष्यकार के मतानुसार जब कारणसे कार्यका अनुमान करते हैं उस अनुमानको

केवलान्वयिनो हि यद्यन्यथानुपपन्नत्वं प्रमाणनिश्चितमस्ति, किमन्वयाभिधानेन ? अथान्वयाभावे तदभावस्तदनिश्चयो वेति तदभिधानम्; स्यादेतत् यद्यविनाभावस्तेन व्याप्तः स्यात्, अव्यापकनिवृत्तेरव्याप्यनिवृत्तावतिप्रसङ्गात्। व्याप्तश्चेत्; तर्हि प्राणादौ तन्निवृत्तावविनाभावनिवृत्तेरगमकत्वं स्यात्। न खलु यद्यस्य व्यापकं तत्तदभावे भवति वृक्षत्वाभावे शिंशपात्ववत्। गमकत्वे वास्य नान्वये-

---

"पूर्ववत्" कहते हैं, कार्यसे कारणका अनुमान करना "शेषवत्" कहलाता है, शेषका अर्थ अवशिष्ट होनेवाला, अतः परिशेष्यात् अनुमान करने पर शेषवत् माना जा सकता है, शब्द अनित्य है, क्योंकि वह सामान्य आदि नित्य पदार्थरूप नहीं है, द्रव्य तथा कर्मरूप भी प्रतीत नहीं होता अतः पारिशेष्यसे गुणरूप ही नियमित हो जाता है इत्यादि। इस प्रकार सबके अंतमें जो बाकी बचता है उसका प्रतिपादक शेषवत् अनुमान है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान वहां होता है जहां वस्तु विशेषकी सत्ताका अनुभव न होकर उसके सामान्यरूप का ही परिचय प्राप्त हो। तथा अन्वयमुखसे प्रवृत्त होनेवाला पूर्ववत्, व्यतिरेक मुखसे प्रवृत्त शेषवत् एवं उभयरूप प्रवृत्त होनेवाला सामान्यतोदृष्ट अनुमान है ऐसी उक्त न्यायसूत्रकी व्याख्या करते हैं। अस्तु।

उपर्युक्त परवादीका मंतव्य भी हेतुके पांचरूप्य या त्रैरूप्य लक्षणवत् खंडित हुआ समझना चाहिये। चाहे पूर्ववत् अनुमान नाम धरे या शेषवत् सभी अनुमान तभी सिद्ध हो सकते हैं जब अन्यथानुपपन्न हेतुका लक्षण उनमें हो, उसके होने पर ही हेतु स्वसाध्यका गमक होकर अनुमानकी प्रसिद्धि कर सकता है।

तथा केवलान्वयी अनुमान में अन्यथानुपपन्नत्व [साध्यके विना साधनका नहीं होना] प्रमाण द्वारा निश्चित है तो अन्वयका कथन करनेसे क्या प्रयोजन होगा ?

यौग—अन्वयका कथन किये विना संशय रहता है कि अविनाभावका अभाव है या उसका अनिश्चय है अर्थात् जहां जहां हेतु होता है वहां वहां साध्य अवश्य होता है इत्यादि अन्वयव्याप्ति सहित दृष्टांत के बिना अविनाभाव ज्ञात नहीं होता, अतः अन्वयका कथन करते हैं ?

जैन—ठीक है, यदि अविनाभाव अन्वयके साथ व्याप्त हो तो उक्त कथन सत्य हो सकता है, अन्यथा अव्यापककी निवृत्तिसे अव्याप्यकी निवृत्ति मानने से अतिप्रसंग प्राप्त होगा।

नासौ व्याप्तः स्यात् । यदभावे हि यन्नूवति न तत्तेन व्याप्तम् यथा रासभाभावे भवन्धूमादिर्न तेन व्याप्तः, भवति चान्वयाभावेपि तदविनाभाव इति ।

'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनमनेकत्वात्' इत्ययं च हेतुः कुतः केवलान्वयी ? व्यतिरेकाभावाच्चेद्; अयमपि कुतः ? तद्विषयस्य विपक्षस्याभावाच्चेद्; अथ कोयं विपक्षाभावः-पक्षसपक्षावेव,

---

भावार्थ—अनुमानमें अन्वयका कथन इसलिये करते हैं कि उसके बिना अविनाभावका निश्चय नहीं हो पाता ऐसा परवादी ने कहा तब आचार्य कह रहे कि अन्वयकी और अविनाभावकी परस्परमें व्याप्ति होवे तो ऐसा मान सकते हैं अन्यथा नहीं, किन्तु इन दोनोंकी वृक्षत्व और निंबत्व कारण और कार्य आदिके समान परस्परमें व्याप्ति नहीं है । वृक्षत्व रूप व्यापक के हटते ही निंबत्वरूप व्याप्य हटता है अतः इनमें व्याप्तिका रहना संमत ही है, किन्तु अन्वय और अविनाभाव तो अव्यापक अव्याप्यरूप है अर्थात् अन्वयके हटते ही अविनाभाव हट जाता हो ऐसा नहीं है फिर भी एकके निवृत्तिसे दूसरे की भी निवृत्ति व्यर्थ ही मानी जाय तो अतिप्रसंग उपस्थित होगा—चाहे जिस पदार्थके हटने पर उससे अव्याप्त असंबद्ध ऐसे चाहे किसी पदार्थका हटना भी मानना होगा घट के हटते ही पटका हटना भी मानना होगा, इस तरह अव्यापकके निवृत्तिसे अव्याप्यकी निवृत्ति माननेका अतिप्रसंग आता है ।

यदि हटाग्रह से अन्वय और अविनाभावकी व्याप्ति माने अर्थात् अन्वयके अभावमें अविनाभाव नहीं रहता ऐसा स्वीकार करे तो प्राणादिमत्व हेतुवाले अनुमानमें अन्वय नहीं होनेके कारण अविनाभावत्व भी नहीं रहेगा और इस तरह प्राणादिमत्व आदि प्रसिद्ध हेतु अगमक ठहरेंगे । अभिप्राय यह है कि यह जीवित शरीर आत्मायुक्त है क्योंकि श्वास लेना आदि प्राणादिमान है, जो प्राणादिमान नहीं होता वह आत्मयुक्त भी नहीं होता जैसे पाषाणादि । इस अनुमानमें अन्वयका लेश भी नहीं है तो भी साध्य साधनका अविनाभाव मौजूद है अतः अन्वयसे ही अविनाभाव संबंध हो ऐसा कथन असत् सिद्ध होता है । प्राणादिमत्व आदि हेतु अपने साध्यको (आत्मायुक्त होना आदिको) अवश्य हो सिद्ध करते हैं अतः ये हेतु अन्वयके नहीं रहते हुए भी गमक हैं ऐसा सभी वादी परवादी स्वीकार करते हैं, इसीलिये अन्वय और अविनाभावको परस्परमें व्याप्ति माननेसे जो हेतु अन्वय रहित हैं उनको आगमक होनेका प्रसंग आता है ।

निवृत्तिमात्रं वा ? प्रथमपक्षे परमतप्रसङ्गः अभावस्य भावान्तरस्वभावतास्वीकारात् । द्वितीयपक्षे तु स तथाविधः प्रतिपन्नः, न वा ? न प्रतिपन्नश्चेत्; तर्हि विपक्षाभावसन्देहाद्व्यतिरेकाभावोपि सन्दिग्ध इति केवलान्वयोपि तादृगेव । अथ प्रतिपन्नः; स यदि साध्यनिवृत्त्या साधननिवृत्त्याधारः प्रतिपन्नः; तर्हि स एव विपक्षः, कथं विपक्षाभावो यतो व्यतिरेकाभावः ? साध्यसाधनाभावाधारतया निश्चितस्य

जो जिसका व्यापक होता है वह उसके अभावमें होता हो ऐसा तो देखा नहीं जाता, क्या वृक्षत्वरूप व्यापकके अभावमें शिशपारूप व्याप्य होता है ? अर्थात् नहीं होता । अतः यदि वृक्षत्वादि व्यापक हेतु तथा प्राणादिमत्व आदि हेतु जो कि अन्वय रहित हैं उनको गमक मानना इष्ट है तो अविनाभावके साथ अन्वयकी व्याप्ति नहीं है ऐसा ही स्वीकार करना होगा । क्योंकि जो जिसके अभावमें होता है वह उसके साथ व्याप्त होकर नहीं रहता, जैसे गर्दभके अभावमें धूम होता है अतः उसके साथ व्याप्त नहीं है, अन्वयके अभावमें भी अविनाभाव पाया जाता है अतः उसके साथ व्याप्त नहीं है ।

सद् असद् वर्ग (सद्भावरूप पदार्थ और अभावरूप पदार्थ) किसी एक पुरुषके ज्ञानके आलंबनभूत हैं क्योंकि अनेक हैं, ऐसा केवलान्वयी अनुमान उपस्थित किया जाता है सो इसका अनेकत्वहेतु किसी कारणसे केवल अन्वय सहित है ? व्यतिरेकका अभाव होने से कहो तो व्यतिरेकका अभाव भी किस कारणसे है ? व्यतिरेकके विषयभूत विपक्षका अभाव होनेसे व्यतिरेक नहीं पाया जाता ऐसा कहे तो यह विपक्षाभाव क्या है इस पर विचार करना होगा–केवल पक्ष और सपक्ष होना विपक्षाभाव है अथवा निवृत्तिमात्र विपक्षाभाव है ? अर्थात् विपक्षका अभाव भावांतररूप है अथवा सर्वथा अभाव–तुच्छाभावरूप है ? प्रथम पक्ष कहे तो परमतका प्रसंग प्राप्त होता है (यौगको हमारे जैनमत स्वीकृतिका प्रसंग प्राप्त होता है) क्योंकि आप यौगने यहां पर हम जैनके समान अभावको भावांतर स्वभाववाला स्वीकार कर लिया । दूसरा पक्ष–तुच्छाभावरूप निवृत्तिमात्रको विपक्षाभाव माने तो प्रश्न होता है कि इस तरह का विपक्षाभाव ज्ञात है कि नहीं ? यदि ज्ञात नहीं है तो विपक्षाभावमें संदेह होनेसे व्यतिरेकमें भी संदेह बना रहेगा और इस तरह की संदिग्ध अवस्थामें केवल अन्वय भी संदेहास्पद ही रहेगा । विपक्षका अभाव ज्ञात है ऐसा माना जाय तो यहां साध्यकी निवृत्तिसे साधनकी निवृत्ति हुई इस प्रकार आधार ज्ञात हो चुका है तो इसीको विपक्ष कहते हैं ? फिर

विपक्षत्वात् । तच्च भाववदभावस्यापि न विरुध्यते, कथमन्यथा 'सदसद्वर्गः कस्यचिदेकज्ञानालम्बनम्' इत्यत्रासन् पक्षः स्यात् ? असन् पक्षो भवति न विपक्ष इति किंकृतो विभागः ? अथाऽसद्वर्गशब्देन सामान्यसमवायान्त्यविशेषा एवोच्यन्ते, नाभावः; तर्हि तद्विषयं ज्ञानं न कस्यचिदनेन प्रसाधितमिति सुव्यवस्थितम् ईश्वरस्याखिलकार्यकारणग्रामपरिज्ञानम् ! प्रागभावाद्यज्ञाने कार्यत्वादेरप्यज्ञानात् ।

विपक्षका अभाव कैसे हुआ जिससे कि व्यतिरेकाभाव सिद्ध हो सके ? क्योंकि साध्य-साधनके अभावका आधाररूपसे निश्चित हुआ ही विपक्ष है । वह विपक्ष सद्भावके समान अभावरूप भी होता है इसमें कोई विरोध नहीं अन्यथा "सद् असद् वर्ग एकके ज्ञानका आलंबनभूत है" इत्यादि अनुमानमें असद्वर्ग रूप पक्ष (पक्षका एक देश) अभावरूप कैसे हो सकता था ? पक्ष तो अभावरूप हो सकता है और विपक्ष अभावरूप नही हो सकता ऐसा विभाग किस कारणसे संभव है ?

यौग—असद्वर्ग शब्दसे यहां पर सामान्य, समवाय और अंत्यविशेषका ग्रहण किया जाता है अभाव का नहीं ?

जैन—तो फिर इस अनेकत्व हेतुवाले अनुमान द्वारा अभावरूप पदार्थका ज्ञान नहीं होता यही बात प्रसिद्ध हुई, इस तरह तो आपके ईश्वरके सकल कार्य कारण समूहका ज्ञान होना भली भांति सिद्ध होता होगा ? अर्थात् कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि प्रागभाव आदि अभावरूप पदार्थ उसके द्वारा अज्ञात है ऐसा उक्त अनुमान सिद्ध कर रहा है और प्रागभावादि अज्ञात है तो कार्यत्वादि हेतु भी अज्ञात ही रहेंगे । अभिप्राय यह है कि संपूर्ण सत् असत् पदार्थोका ज्ञान एक ईश्वरके ही है ऐसा अनेकत्व हेतुवाले अनुमान द्वारा सिद्ध करना यौगको अभीष्ट था किन्तु यहां अभावरूप पदार्थ उक्त अनुमानमें समाविष्ट नहीं है ऐसा यौगने कहा अतः आचार्य उपहास करते हैं कि इस तरह अभावके अज्ञात रहने पर कार्यकारणभाव भी अज्ञात हो जाता है और फिर आपके ईश्वरके अखिल कार्य कारणोंका परिज्ञान सुव्यवस्थित होता है, यह उभय कथन तो हास्यास्पद ही है ।

दूसरी बात यह है कि अनेकत्व हेतु वाले इस अनुमानमें अभावको पक्ष और सपक्षसे बहिर्भूत किया जाय तो इसीसे अनेकत्वादि हेतु व्यभिचरित होते हैं, क्योंकि अभावरूप पदार्थ प्रागभाव आदि अनेक भेदरूप होने पर भी किसी एकके ज्ञानका आलंबनभूत होना स्वीकार नहीं किया । यदि स्वीकार करते है तो अभावका पक्षमें

किंच, यद्यभावोऽत्र पक्षसपक्षाभ्यां बहिर्भूतः; तर्ह्यनेनानेकत्वादित्यनैकान्तिको हेतुः, तदनेकत्वेपि कस्यचिदेकज्ञानावलम्बनत्वानभ्युपगमात्। अभ्युपगमे वा कथमभावो न पक्षः? तथा विपक्षोप्यस्तु। नन्वेवं विपक्षाभावोपि तदालम्बनमिति पक्ष एव स्यात्, तथा च पुनरपि विपक्षाभाव एव इति चेत्; तर्हि पुनरपि तदेव चोद्यम्—'कोयं विपक्षाभाव इति? यदि पक्षसपक्षावेव; भावाद्भिन्नस्याभावस्याभावः।

अथ तुच्छा विपक्षनिवृत्तिस्तदभावः सोपि यद्यप्रतिपन्नस्तर्हि सन्दिग्धः। तत्सन्देहे च व्यतिरेकाभावोपि तादृगेवेति न निश्चितः केवलान्वयः' इत्यादि तदवस्थं पुनः पुनरावर्त्तते इति चक्रकप्रसंगः।

समावेश कैसे नहीं हुआ? अवश्य हुआ। तथा अभाव पक्षांतर्गत है तो जो तुच्छाभावरूप अभाव है वह विपक्ष है ऐसा भी स्वीकार करना होगा।

यौग—यदि तुच्छाभावरूप अभावको विपक्ष माना जाय तो विपक्षाभाव भी पूर्वोक्त ज्ञानका आलंबन होनेसे पक्षांतर्गत होगा और ऐसा होनेसे उक्त अनुमानमें विपक्षका अभाव फिर भी होगा ही?

जैन—ऐसी बात है तो पुनः वही प्रश्नावली उपस्थित होगी कि यह विपक्षाभाव कौन है? यदि पक्ष और सपक्षको ही विपक्षाभाव कहते हैं तो भावांतर स्वभाववाला अभाव है ऐसा निर्णय होनेसे 'अभाव सर्वथा सद्भावसे भिन्न ही है' ऐसा सिद्धांत (यौगका) विघटित हो जाता है।

यौग—विपक्षकी निवृत्ति तुच्छ है उसीको विपक्ष का अभाव कहते हैं?

जैन—यह विपक्षका अभाव भी यदि अज्ञात है तो संदेह की कोटिमें जाता है और उसके संदिग्ध रहनेपर व्यतिरेकका अभाव भी उसी जातिका ठहरता है, व्यतिरेकाभाव के अनिश्चयमें केवलान्वय भी निश्चित नहीं होता इस तरह वही वही प्रश्नका चक्कर उपस्थित होनेसे ग्रंथ चक्रक अर्थात् वही बात घूमकर बार बार आना रूप दोष आता है। अतः केवलान्वयीरूपसे स्वीकार किये हुए अनुमानमें विपक्षाभाव ही तुच्छ विपक्ष है ऐसा सिद्ध होता है, जब विपक्ष ऐसा है तो साध्य निवृत्तिसे साधन की निवृत्ति होना सिद्ध ही है फिर उक्त अनुमानमें व्यतिरेक सद्भाव किस प्रकार नहीं है? है ही। इसीलिये अविनाभावका एवं उसके परिज्ञानका प्राणादिमत्व आदि व्यतिरेकी हेतु वाले अनुमानमें सद्भाव सिद्ध होता है, फिर आपके केवलान्वयी अनुमानसे क्या

ततः केवलान्वयित्वेनाभ्युपगतस्य विपक्षाभाव एव तुच्छो विपक्षः। ततः साध्यनिवृत्त्या साधननिवृत्तिश्चेति कथं न व्यतिरेकः ? अत एवाविनाभावस्य तत्परिज्ञानस्य च प्राणादिमत्त्ववद्भावात्किमन्वयेन ?

अथ विपक्षाभावस्यापादानत्वायोगान्न ततः साध्यसाधनयोर्व्यावृत्तिः; तन्न; 'भावः प्रागभावादिभ्यो भिन्नस्ते वा परस्परतो भिन्नाः' इत्यादावप्यभावस्यापादानत्वाभावप्रसङ्गात् सर्वेषां साङ्कर्यं स्यात्।

किंच, अन्वयो व्याप्तिरभिधीयते। सा च त्रिधा-बहिर्व्याप्तिः, साकल्यव्याप्तिः, अन्तर्व्याप्तिश्चेति। तत्र प्रथमव्याप्तौ भग्नघटव्यतिरिक्तं सर्वं क्षणिकं सत्त्वात्कृतकत्वाद्वा तद्वत्, विवादापन्नाः प्रत्यया निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्स्वप्नप्रत्ययवत्, ईश्वरः किञ्चिज्ज्ञो रागादिमान्वा वक्तृत्वादिभ्यो रथ्या-

---

प्रयोजन सधता है ? अर्थात् केवलान्वयी अनुमानमें व्यतिरेकके बिना साध्य सिद्धि की शक्ति नहीं होनेसे उसकी मान्यता व्यर्थ ही ठहरती है। उपरोक्त रीत्या यह भलीभांति सिद्ध होता है कि अविनाभाव अन्वयके साथ व्याप्त नहीं है। अतः केवलान्वयी अनुमानका पृथक्करण व्यर्थ है।

यौग—विपक्षाभाव अपादान योग्य नहीं होने के कारण अर्थात् विपक्षात् व्यावृत्तिः विपक्षाभावः ऐसा विपक्षाभाव पदका अर्थ संभव नहीं, क्योंकि अभाव तुच्छ है इसलिये उससे साध्य साधनकी व्यावृत्ति होना शक्य नहीं ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, सद्भाव प्रागभावादिसे भिन्न है अथवा प्रागभावादि आपसमें भिन्न है इत्यादिरूप सिद्धांत अन्यथा असत्य साबित होगा। क्योंकि उसमें भी मानना होगा कि अभाव का अपादान शक्य नही है, और इस प्रकार अभाव अपादानके योग्य नहीं होनेसे सद्भाव और अभावरूप संपूर्ण पदार्थोंका सांकर्य हो जावेगा।

किञ्च, व्याप्तिको अन्वय कहते हैं, वह व्याप्ति तीन प्रकारकी है—बहिर्व्याप्ति साकल्यव्याप्ति और अन्तर्व्याप्ति। इन तीन व्याप्तियोंमें से अन्वयव्याप्तिका अर्थ बहिर्व्याप्ति किया जाय तो "भग्न घटके अतिरिक्त सभी पदार्थ क्षणिक हैं क्योंकि सब सत्त्वरूप हैं अन्यथा कृतक हैं, जैसे भग्न घट सत्त्वरूप था। विवादग्रस्त अखिलज्ञान निरालंब (विना पदार्थके) होते हैं क्योंकि वे ज्ञानरूप हैं जैसे स्वप्नका ज्ञान निरालंब होता है। ईश्वर अल्पज्ञ है, क्योंकि रागादिमान है अथवा बोलता है, जैसे रथ्यापुरुष

पुरुषवत्' इत्यादेर्गमकत्वं स्यात् केवलान्वयस्यात्र सुलभत्वात् । ननु सर्वं न सत्त्वादिकं क्षणिकत्वादिना व्याप्तम् आत्मादौ क्षणिकत्वाद्यसत्त्वात्; तन्न; तदसत्त्वे तत्रार्थक्रियाऽसत्त्वात् सत्त्वं न स्यात् ।

किंच, घटादिदृष्टान्ते सत्त्वादिकं क्षणक्षयादौ सति दृष्टमपि यदि क्वचित्तदभावेपि स्यान्न तर्हि बहिर्व्याप्तिरन्वयः, लक्षणयुक्ते बाधासम्भवे तल्लक्षणमेव दूषितं स्यात् ।

अथ सकलव्याप्तिरन्वयः; ननु केयं सकलव्याप्तिः ? 'दृष्टांतधर्मिणीव साध्यधर्मिण्यन्यत्र च साध्येन साधनस्य व्याप्तिः सा' इति चेत्; सा कुतः प्रतीयताम् ? प्रत्यक्षतः, अनुमानाद्वा ? प्रत्यक्षतश्चेत्; किमिन्द्रियात्, मानसाद्वा ? न तावदिन्द्रियात्; चक्षुरादेरिन्द्रियस्य सकलसाध्यसाधनार्थसन्निकर्षवैधुर्ये तदनुपपत्तेः । न हि तद्वैधुर्ये तद्युक्तम् "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमव्यपदेश्यमऽव्यभिचारि व्यवसायात्मकं

रागादिमान होनेसे अल्पज्ञ है । इत्यादि अनुमानस्थ हेतु स्व स्व साध्यके गमक हो जायेंगे ? क्योंकि इनमें बहिर्व्याप्तिवाला केवलान्वय मौजूद है ?

यौग—सभी सत्त्वादिरूप पदार्थ क्षणिकत्वके साथ व्याप्त नहीं हैं, कहीं क्षणिकत्वके बिना भी सत्त्वादिरूप पदार्थ सिद्ध है अर्थात् घट आदिकी क्षणिकत्वके साथ व्याप्ति होनेपर भी आत्मादिकी तो नही होती !

जैन—ऐसा नहीं है, यदि आत्मादि पदार्थोमें क्षणिकत्वका सर्वथा निषेध (अभाव) किया जाय तो अर्थक्रियाका अभाव होनेसे उनका अस्तित्व ही समाप्त होवेगा ।

तथा घट आदि दृष्टांतभूत पदार्थोमें सत्त्वादि हेतु क्षणक्षयादिके साथ रहते हुए दिखायी देने पर भी यदि कहीं क्षणक्षयके अभावमें भी सत्त्वादि पाया जाय तो बहिर्व्याप्तिरूप अन्वय का लक्षण घटित नहीं होगा, क्योंकि लक्षणयुक्त वस्तुमें (हेतुमें) यदि बाधा संभावित है तो उसका मतलब लक्षण ही दूषित है ।

अन्वय सकलव्याप्तिरूप होता है ऐसा दूसरा पक्ष स्वीकार करे तो प्रश्न होता है कि सकलव्याप्ति किसे कहते हैं ?

यौग—दृष्टांतभूत धर्मीके समान साध्यधर्मीमें और अन्यत्र भी साध्यके साथ साधनकी व्याप्ति घटित होना सकल व्याप्ति कहलाती है ।

जैन—अच्छा तो यह व्याप्ति किस प्रमाणसे प्रतीत होती है प्रत्यक्षसे या अनुमानसे ? प्रत्यक्षसे कहो तो इन्द्रियप्रत्यक्षसे अथवा मानसप्रत्यक्षसे, इन्द्रिय प्रत्यक्षसे

ज्ञानं प्रत्यक्षम्'' [न्यायसू० १।१।४] इत्यभिधानात्। तस्य तत्सन्निकर्षे वा प्राणिमात्रस्याशेषज्ञत्व-प्रसङ्गान्न कश्चिदीश्वराद्विशेष्येत।

ननु साध्यसाधनयोः साकल्येन ग्रहणं सकलव्याप्तिग्रहणम्। साध्यं चाग्निसामान्यं साधनं च धूमसामान्यम्, तयोश्चानवयवयोरेकत्रापि साकल्येन ग्रहणमस्ति, विशेषप्रतिपत्तिस्तु सर्वत्र पक्षधर्मता-बलादेवेति चेत्; तर्हि क्षणिकत्वादि साध्यम्, सत्त्वादि साधनम्, तयोश्चानवयवयोः प्रदीपादौ सह-दर्शनादेव सकलव्याप्तिग्रहः किन्न स्यात्? मानसप्रत्यक्षादपि व्याप्तिप्रतिपत्तावयमेव दोषः। तन्न प्रत्यक्षतः सकलव्याप्तिग्रहः। नाप्यनुमानतोऽनवस्थाप्रसंगात्।

सकल व्याप्तिको जानना शक्य नहीं, क्योंकि चक्षु आदि इन्द्रियां संपूर्ण साध्य-साधनभूत पदार्थोंके साथ सन्निकर्ष नहीं कर सकती अतः उनसे सकल व्याप्तिका ग्रहण होना बनता नहीं। इन्द्रियोंके विषयमें उक्त बात असत् भी नहीं है—न्याय सूत्रमें कहा है कि इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे उत्पन्न व्यपदेश्य रहित अव्यभिचारी एवं व्यवसायात्मक ज्ञानको प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं। यदि ऐसा इन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान अखिल साध्यसाधनभूत पदार्थोंका सन्निकर्ष करता है ऐसा माने तो संपूर्ण प्राणीको सर्वज्ञ बन जानेका प्रसंग प्राप्त होगा, फिर तो किसी भी प्राणीका ईश्वरसे पृथक्करण नहीं हो सकेगा।

यौग—साध्य-साधनका साकल्यरूपसे ग्रहण होना सकलव्याप्तिका ग्रहण कहलाता है। जैसे अग्निसामान्य साध्य है और धूमसामान्य साधन है इन दोनोंका एक अनुमानमें भी साकल्यरूपसे ग्रहण संभव है, हां यह बात जरूर है कि विशेषकी प्रतिपत्ति तो सर्वत्र हेतुके पक्षधर्मत्वरूप बलसे ही होती है?

जैन—तो फिर इस तरह क्षणिकत्वादि साध्य है और सत्त्वादि साधन है इन दोनोंका ग्रहण दीपकादिमें एक साथ ही हो जाता है अतः उसीसे सकलव्याप्ति का ग्रहण क्यों नहीं होता? इसप्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्षसे सकल व्याप्तिका ग्रहण होना सिद्ध नहीं होता, ऐसे ही मानस प्रत्यक्षसे उसका ग्रहण होना माने तो यही दोष आता है अतः प्रत्यक्षसे सकलव्याप्तिका ग्रहण संभव नहीं है। अनुमानसे भी उसका ग्रहण नहीं होगा, अनुमानकी व्याप्तिको जाननेके लिये अन्य अनुमान चाहिये तो अन्य अनुमानकी व्याप्तिको कौन जानेगा? उसके लिये पुनः अन्य अनुमान चाहिये इस तरह अनवस्था आती है।

सामान्यस्य च साध्यत्वे साधनवैफल्यम् तत्राविवादात्, व्याप्तिग्रहणकाल एवास्य प्रसिद्धेः। कथमन्यथा सामान्यधर्मयोः साकल्येन व्याप्तिर्निर्णीता स्यात् ?

साध्यत्वं चास्यासतः करणम्, सतो ज्ञापनं वा ? प्रथमपक्षे सामान्यस्यानित्यत्वाऽसर्वगतत्व-प्रसङ्गः। द्वितीयपक्षेप्यस्य दृश्यत्वे धर्मिवत्प्रत्यक्षत्वमिति किं केन ज्ञाप्यते ? अन्यथा धूमसामान्यमप्य-ग्निसामान्येन ज्ञाप्येत। अथ व्यक्तिसहायत्वाद्धूमसामान्यमेव प्रत्यक्षं नान्यत् ततोऽयमदोषः; न; अस्य सामान्यविचारे सहायापेक्षाप्रतिक्षेपात्।

दूसरी बात यह है कि सामान्यमात्रको साध्य बनाते है तो साधन व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि सामान्यमें विवाद नहीं होता, सामान्यसाध्य तो व्याप्तिग्रहण कालमें ही प्रसिद्ध हो चुकता है, अन्यथा सामान्यधर्मभूत साध्यसाधनकी साकल्यरूपसे व्याप्ति किस प्रकार निर्णीत होती ?

'साध्य' इस पदका क्या अर्थ होता है यह भी विचारणीय है, हेतु द्वारा असत् वस्तुका निष्पादन होना साध्य है अथवा उसके द्वारा सद्भूत वस्तुका ज्ञापन होना साध्य है ? प्रथमपक्षमें सामान्यको अनित्य एवं असर्वगत माननेका प्रसंग आयेगा, क्योंकि साध्य साधन सामान्यरूप होते हैं (सकल व्याप्तिके ग्रहण कालमें) ऐसा आपने कहा और असत् का निष्पादन होना साध्य है ऐसा साध्यपदका अर्थ लिया सो यदि सामान्य रूप साध्यका निष्पादन होता है तो आप यौगका सर्वगत नित्य सामान्य असर्वगत एवं नित्यरूप सिद्ध होता है। द्वितीयपक्ष—सद्भूतका ज्ञापन होनेरूप साध्य है ऐसा माने तो यह दृश्यभूत साध्य धर्मीके समान प्रत्यक्ष ही है उसे क्या ज्ञापन करना है ? यदि साक्षात् प्रत्यक्षभूत पदार्थका भी ज्ञापन करना जरूरी है तो धूमसामान्यको भी अग्नि-सामान्य द्वारा ज्ञापित करना चाहिये !

यौग—धूमविशेषकी सहायता के कारण धूम सामान्य ही प्रत्यक्ष होता है अन्य अग्नि सामान्य नहीं (क्योंकि उसके लिये विशेष सहायभूत नहीं है) अतः उक्त दोष नहीं आयेगा।

जैन— ऐसा संभव नहीं, क्योंकि आपके सामान्यको विशेष सहायक नहीं बन सकता ऐसा आगे "सामान्यविचार" नामा प्रकरणमें (तृतीयभागमें) निर्णय करनेवाले हैं। भावार्थ यह है कि परवादीका नित्य सर्वगत ऐसा सामान्य नामा पदार्थ सिद्ध नहीं होता अतः उस सामान्यरूप विशेषणसे युक्त साध्य आदि भी असत्य ठहरते हैं।

यच्चोक्तम्–विशेषप्रतिपत्तिस्तु पक्षधर्मताबलादेवेति; तत्र पक्षधर्मता धूमस्य, तत्सामान्यस्य वा ? तत्राद्यः पक्षोऽसङ्गतः; विशेषेण व्याप्तेरप्रतिपत्तितस्तद्गमकत्वायोगात् ।

द्वितीयपक्षेप्यग्निसामान्यस्यैव धूमसामान्यात्सिद्धिः स्यात् तेनैव तस्य व्याप्तेः, नाग्निविशेषस्य अनेनाव्याप्तेः । अथ साधनसामान्यात् साध्यसामान्यप्रतिपत्तेरेवेष्टविशेषप्रतिपत्तिः सामान्यस्य विशेषनिष्ठत्वात् । ननु तत्सामान्यमपि विशेषमात्रेण व्याप्तं सत्तदेव गमयेन्नान्यत् । अथ विशिष्टविशेषाधारं लिङ्गसामान्यं प्रतीयमानं विशिष्टविशेषाधिकरणं साध्यसामान्यं गमयतीत्युच्यते; तदप्युक्तिमात्रम्; तथा व्याप्तेरभावात् । अथ विपक्षे सद्भावबाधकप्रमाणवशात्तत्सिद्धिरिष्यते; तर्हि तावतैव पर्याप्तत्वात् किमन्वयेन परस्य ?

"विशेषकी प्रतिपत्ति पक्षधर्मत्वके बलसे ही हो जाती है" ऐसा आपने कहा था उसमें प्रश्न होता है कि यह पक्षधर्मता किसकी है धूमकी (हेतुकी) या साध्यसाधनभूत सामान्यकी ? प्रथम पक्ष असंगत है, विशेषरूपसे व्याप्तिकी प्रतिपत्ति नहीं होनेके कारण वह पक्षधर्मत्व साध्यका गमक होना अशक्य है ।

द्वितीयपक्ष—पक्षधर्मता साध्यसाधन सामान्यकी है ऐसा माने तो धूमसामान्यसे अग्निसामान्य ही सिद्धि हो पायेगी क्योंकि उसीके साथ धूम सामान्यको व्याप्ति है, इस धूम सामान्यसे अग्निविशेषकी सिद्धि तो अशक्य है क्योंकि उसके साथ व्याप्ति ही नहीं है ।

यौग—सामान्य साधनसे सामान्य साध्यको प्रतिपत्ति होनेको ही विशेषकी प्रतिपत्ति कहते हैं, क्योंकि सामान्य विशेषमें निष्ठ रहता है ।

जैन—तो उक्त सामान्य भी विशेष मात्रसे व्याप्त होता है अतः उसीका गमक होवेगा अन्यका नहीं ।

यौग—विशिष्ट विशेषके आधारमें प्रतीत होनेवाला साधनसामान्य (पर्वतस्थधूम) अपने विशिष्ट विशेष अधिकरणभूत साध्यसामान्यका गमक (पर्वतस्थ अग्निका गमक) होता है ऐसा हमारा कहना है !

जैन—यह भी उक्तिमात्र है, इसतरह से कथन करने पर व्याप्तिका अभाव होवेगा, अर्थात् जो यह पर्वतस्थधूम है वह पर्वतस्थ अग्नि वाला है ऐसी व्याप्ति नहीं हो सकती ।

एतेनान्तर्व्याप्तिरपि चिन्तिता। न खलु प्रत्यक्षादितः सापि प्रसिद्धयति। तन्न पूर्ववच्छेषवदिति सूक्तम्।

यच्चान्यदुक्तम्–'पूर्ववत्सामान्यतोदृष्टं चेति चशब्दो भिन्नप्रक्रमः 'सामान्यतः' इत्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यः। ततोयमर्थः-पूर्ववत्पक्षवत्सामान्यतोपि न केवलं विशेषतो दृष्टं विपक्षे। अनेन केवलव्यतिरेकी हेतुर्दर्शितः—'सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वात्' इत्यादिः; तदप्ययुक्तम्; यतः प्राणादेरन्वयाभावे कुतोऽविनाभावावगतिः ? व्यतिरेकाच्चेत्; तथाहि—यस्माद् घटादेः सात्मकत्वनिवृत्तौ प्राणादयो नियमेन निवर्त्तन्ते तस्मात्सात्मकत्वाभावः प्राणाद्यभावेन व्याप्तो धूमाभावेनेव पावकाभावः। जीव-

---

यौग—विपक्षमें बाधक प्रमाणका सद्भाव होनेसे ही व्याप्तिकी सिद्धि होती है अर्थात् अमुक हेतुका विपक्षमें जाना प्रमाणसे बाधित है इस प्रकार बाधक प्रमाणके वशसे व्याप्तिका ग्रहण हो जाता है ?

जैन—तो फिर उतनेसे पर्याप्त हो जानेसे अन्वयके प्रतिपादनसे आपका क्या प्रयोजन सधता है ? कुछ भी नहीं।

इसीप्रकार सकलव्याप्तिरूप अन्वयके निरसनसे अन्तर्व्याप्तिरूप अन्वयका निरसन भी हो जाता है, क्योंकि उसकी भी प्रत्यक्षादिप्रमाणसे सिद्धि नहीं होती। अतः पूर्ववत् शेषवत् अनुमानका प्रभेद सिद्ध नहीं होता है।

यौग—अन्य प्रतिपादन भी पाया जाता है कि—"पूर्ववत् सामान्यतो दृष्टं च" इस वाक्यमें आगत च शब्द भिन्न प्रक्रममें है उसका अर्थ "सामान्यतः" इस पदके अनंतर करना चाहिये, इस तरहकी वाक्य रचनासे यह अर्थ होता है कि पूर्ववत् (अर्थात् पक्षवत्) विपक्षमें सामान्यतः भी देखा जाता है केवल विशेषतः नहीं। इससे केवल व्यतिरेकी हेतुका प्रतिपादन होता है, इस हेतुका उदाहरण—जीवित शरीर आत्मसहित है, क्योंकि प्राणादिमान् है। इत्यादि।

जैन—यह प्रतिपादन भी अयुक्त है, प्राणादिमत्व हेतुमें अन्वयका तो अभाव है अतः वहां पर अविनाभावका बोध किससे हो सकेगा ?

यौग—व्यतिरेकसे हो जायगा, इसीको बताते हैं—जिस कारण घट आदि पदार्थसे आत्मासहितपना निवृत्त होनेपर प्राणादि नियमसे निवृत्त हो जाते हैं उसीकारण आत्मासहितपने का अभाव प्राणादिके अभावसे व्याप्त है, जैसे कि धूमके अभावसे

च्छरीरे च प्राणाद्यभावविरुद्धः प्राणादिसद्भावः प्रतीयमानस्तदभावं निवर्त्तयति। स च निवर्त्तमानः स्वव्याप्यं सात्मकत्वाभावमादाय निवर्त्तते इति सात्मकत्वसिद्धिस्तत्र; इत्यप्यसारम्; यतोनुमानान्तरेप्येवमविनाभावप्रसिद्धेः केवलव्यतिरेक्येव सर्वमनुमानं स्यात्, अन्वयमात्रेण तत्सिद्धावतिप्रसंगस्योक्तत्वात्।

किंच, साध्यनिवृत्त्या साधननिवृत्तिर्व्यतिरेकः, स च क्वचित् कदाचित्, सर्वत्र सर्वदा वा स्यात्? न तावदाद्यः पक्षः; तथा व्यतिरेकस्य साधनाभासेपि सम्भवात्। द्वितीयपक्षोप्ययुक्तः; साकल्येन व्यतिरेकप्रतिपत्तेः प्रत्यक्षादिप्रमाणतः परेषामन्वयप्रतिपत्तेरिवासम्भवात्।

एतेन पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतोदृष्टमन्वयव्यतिरेक्यनुमानं प्रत्याख्यातम्; पक्षद्वयोपक्षिप्तदोषानुषङ्गात्।

अग्निका अभाव व्याप्त है। (अर्थात् अग्निका अभाव है तो अवश्य ही धूमका अभाव होगा) जीवित शरीरमें प्राणादि अभावके विरुद्ध प्राणादिका सद्भाव प्रतीतिमें आता है, अतः वह प्राणादिके अभावकी निवृत्ति करता है, और प्राणादिका अभाव निवृत्त होता हुआ अपने व्याप्य सात्मकत्वके अभावको लेकर निवृत्त होता है इसप्रकार उक्त अनुमानमें सात्मकत्वकी (आत्मा सहितत्वकी) सिद्धि हो जाती है।

जैन—यह कथन असार है, क्योंकि इस तरह की मान्यतासे अन्वय रहित अनुमानांतरमें भी अविनाभाव प्रसिद्ध हो जानेसे सभी अनुमान केवलव्यतिरेकी ही बन जाते हैं, क्योंकि अन्वयमात्रसे अविनाभावकी सिद्धि करनेमें अतिप्रसंग आता है ऐसा कह चुके हैं।

तथा साध्यकी निवृत्तिसे साधनकी निवृत्ति होना व्यतिरेक है यह व्यतिरेक कहीं पर कदाचित होता है या सर्वत्र सदा ही होता है? प्रथम पक्ष असत् है, क्योंकि उस प्रकारका व्यतिरेक साधनाभासमें (झूठे हेतु वाले अनुमानमें) भी संभव है। द्वितीय पक्ष भी अयुक्त है, क्योंकि सर्वत्र सर्वदा पूर्णरूपसे व्यतिरेककी प्रतिपत्ति प्रत्यक्षादि प्रमाणसे होना अशक्य है, जैसे कि परवादी यौगादिके अन्वयकी प्रतिपत्ति होना असंभव है।

जिस तरह केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकीरूप पूर्ववत् आदि अनुमानोंकी सिद्धि नहीं होती उसी तरह पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट नामा केवलान्वयव्यतिरेकी अनुमान भी सिद्ध नहीं होता, उसमें भी प्रथम दो अनुमानोंमें दिये गये दोष आते हैं।

यच्च तदुदाहरणम्–विवादापन्नं तनुकरणभुवनादिकं बुद्धिमद्धेतुकं कार्यत्वादिभ्यो घटादिवदित्युक्तम्; तदपीश्वरनिराकरणप्रकरणे विशेषतो दूषितमिति पुनर्न दूष्यते।

अथ "पूर्ववत्-कारणात्कार्यानुमानम्, शेषवत्–कार्यात्कारणानुमानम्, सामान्यतो दृष्टम्–अकार्यकारणादकार्यकारणानुमानम् सामान्यतोऽविनाभावमात्रात्" [न्यायभा०, वार्त्ति० १।१।५] इति व्याख्यायते; तदप्यविनाभावनियमनिश्चायकप्रमाणाभावादेवायुक्तं परेषाम्। स्याद्वादिनां तु तद्युक्तं तत्सद्भावात् इत्याचार्यः स्वयमेव कार्यकारणेत्यादिना हेतुप्रपञ्चे प्रपञ्चयिष्यति।

यदपि–पूर्ववत्पूर्वं लिंगलिंगिसम्बन्धस्य क्वचिन्निश्चयादन्यत्रप्रवर्त्तमानमनुमानम्। शेषवत्परिशेषानुमानम्, प्रसक्तप्रतिषेधे परिशिष्टस्य प्रतिपत्तेः। सामान्यतो दृष्टं विशिष्टव्यक्तौ सम्बन्धाग्रहणात्सा-

---

केवलान्वय व्यतिरेकी अनुमानका उदाहरण था— विवादग्रस्त शरीर, इंद्रियां पृथ्वी आदि पदार्थ बुद्धिमान निमित्तक हैं, क्योंकि कार्यरूप हैं, जैसे घटादि पदार्थ कार्यरूप होनेसे बुद्धिमान निमित्तक (कुंभकारनिमित्तक) होते हैं, सो इस अनुमानको ईश्वरका निराकरण करते समय विशेषरूपसे सदोष सिद्ध कर चुके हैं अब यहां पुनः दूषित करना व्यर्थ है।

यौग—कारणसे होनेवाले कार्यके अनुमानको "पूर्ववत्" अनुमान कहते हैं, तथा कार्यसे होनेवाले कारणके अनुमानको 'शेषवत'–अनुमान कहते हैं एवं जो साध्य साधन कार्य कारणरूप नहीं है अन्यरूप है ऐसे अकार्य कारणसे होनेवाले अकार्यकारणके अनुमानको 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान कहते है। इस प्रकार पूर्वोक्त अनुमानोंकी व्याख्या भी हमारे न्याय भाष्यमें पायी जाती है ?

जैन—यह व्याख्या भी सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि आप परवादीके यहां अविनाभावके नियमको निश्चित करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। किन्तु हम स्याद्वादी के यहां उक्त अनुमान सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि अविनाभाव नियमका निश्चय करानेवाला तर्क नामा प्रमाण हमारे यहां मौजूद है, इस विषयका आगे कार्यकारण आदि हेतुओंके प्रकरणमें सविस्तार प्रतिपादन स्वयं आचार्य करने वाले हैं।

लिंग लिंगीके संबंधका (हेतु और साध्यके संबंधका) कहींपर निश्चय करने पर अन्य स्थानमें उस अनुमानकी प्रवृत्ति होना 'पूर्ववत् पूर्व' अनुमान कहलाता है। प्रसक्तका प्रतिषेध करके परिशिष्टकी प्रतिपत्ति जिससे होती है वह "शेषवत् परिशेष" अनुमान है। तथा विशिष्ट व्यक्तिमें संबंधका ग्रहण नहीं होनेसे सामान्यसे उसका ग्रहण

मान्येन दृष्टम्, यथा गतिमानादित्यो देशाद्देशान्तरप्राप्तेर्देवदत्तवदिति । तदप्येतेन प्रत्याख्यातम्; उक्तप्रकाराणां प्रमाणतः प्रसिद्धाविनाभावानां प्रतिपादयिष्यमाणहेतुप्रपञ्चत्वेन स्याद्वादिनामेव सम्भवात् ।

न चायं भेदो घटते । सर्वं हि लिंगं पूर्ववदेव; परिशेषानुमानस्यापि पूर्ववत्त्वप्रसिद्धेः-प्रसक्त-प्रतिषेधस्य परिशिष्टप्रतिपत्त्यविनाभूतस्य पूर्वं क्वचिन्निश्चितस्य विवादाध्यासितपरिशिष्टप्रतिपत्तौ

होना सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहलाता है जैसे सूर्य गतिशील है क्योंकि देशसे देशांतर में प्राप्त होता है जैसे देवदत्त प्राप्त होता है । इत्यादि पूर्ववत् पूर्व आदि अनुमान भी उक्त न्यायसे निराकृत हुए समझने चाहिये । क्योंकि उक्त प्रकार भी स्याद्वादीके यहां ही संभव है, और इसका भी कारण यह है कि हमारे यहां इनके अविनाभाव संबंधका नियम तर्क प्रमाण द्वारा भलीभांति प्रसिद्ध है, इन सबके सब अनुमानोंका आगे हेतु प्रकरण में कथन करेंगे ।

विशेषार्थ—यौगके यहां पूर्ववत् और शेषवत् आदि अनुमानोंके समान पूर्ववत् पूर्व, शेषवत् परिशेष आदि अनुमान प्रकार भी माने गये हैं । उनके उदाहरण क्रमशः उपस्थित किये जाते हैं—साध्य और साधनका अविनाभावका कहीं पर निश्चय करके अन्यत्र अनुमान लगाना पूर्ववत् पूर्वानुमान है, साध्य साधनका संबंध पूर्वमें निश्चित होना पूर्व शब्दका अर्थ है और वह जिस अनुमानमें हो उसे पूर्ववत् पूर्व कहते हैं ऐसी पूर्ववत् पूर्व शब्दकी निरुक्ति है, इसका उदाहरण—यह पर्वत अग्नियुक्त है क्योंकि धूमवाला है जैसे कि महानस (रसोई घर) है । महानसमें पहलेसे ही साध्य साधन (अग्नि-धूम) का निश्चय हो चुका था और अब पर्वत पर निश्चय होने जा रहा अतः यह पूर्ववत् पूर्वानुमान कहलाया । शेषवत् परिशेषानुमामका अर्थ एवं उदाहरण—परिशिष्ट अर्थको शेष कहते हैं और वह जिस अनुमानसे हो उसे शेषवत् परिशेषानुमान कहते हैं, जैसे शब्द कहींपर आश्रित रहता है, क्योंकि वह गुण है जैसे रूपादि गुण आश्रित रहते है । यौगकी मान्यतानुसार यह अनुमान प्रयुक्त हुआ है उनके यहां छह पदार्थ माने हैं द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय; उनका कहना है कि शब्द अनित्य होनेके कारण सामान्य और विशेष तथा समवाय नामा पदार्थरूप नहीं हो सकता क्योंकि सामान्यादि पदार्थ नित्य हैं । शब्दको द्रव्य पदार्थरूप भी नहीं मान सकते क्योंकि वह आकाशके आश्रित रहता है । तथा दूसरे शब्दके उत्पन्न होनेमें कारण होनेसे कर्म

साधनस्य प्रयोगात् । सामान्यतो दृष्टस्याऽपि पूर्ववत्त्वप्रतीतेः; क्वचिद्देशान्तरप्राप्तेर्गतिमत्त्वाविनाभाविन्या एव देवदत्तादौ प्रतिपत्तेः, अन्यथा तदनुमानाप्रवृत्तेः । परिशेषानुमानमेव वा सर्वम्; पूर्ववतोपि धूमात्पावकानुमानस्य प्रसक्ताऽपावकप्रतिषेधात्प्रवृत्तिघटनात्, तदप्रसक्तौ विवादानुपपत्तेरनुमानवैयर्थ्यं स्यात् । सामान्यतो दृष्टस्यापि देशान्तरप्राप्तेरादित्यगत्यनुमानस्य तदगतिमत्त्वस्य प्रसक्तस्य प्रतिषेधादेवोपपत्तेः । सकलं सामान्यतो दृष्टमेव वा; सर्वत्र सामान्येनैव लिंगलिंगिसम्बन्धस्य प्रतिपत्तेः, विशेष-

---

पदार्थरूप भी नहीं है, अतः परिशेष न्यायसे शेष बचे गुण नामा पदार्थमें ही शब्दका अंतर्भाव होता है इसप्रकार सामान्य पदार्थ द्रव्य पदार्थ आदि रूप होनेका प्रसंग प्राप्त था उसका प्रतिषेध करके परिशेष गुणमें शब्दका अंतर्भाव करना शेषवत् परिशेषानुमान का दृष्टांत है । सामान्यतो दृष्टानुमान—साध्य साधन धर्मकी सामान्यसे प्रतिपत्ति होना सामान्यतोदृष्ट अनुमान कहलाता है, जैसे सूर्य गमन शील है क्योंकि देशसे देशांतरमें प्राप्त होता है, जिस प्रकार देवदत्त देशांतरमें प्राप्त होनेसे गमनशील प्रसिद्ध है । यहां देवदत्तमें सामान्यपनेसे पाये जाने वाले गमनत्व और देशांतरप्राप्तत्व धर्मको देखकर उनको सूर्यमें सिद्ध किया अतः यह सामान्यतो दृष्टानुमान है । जैनाचार्यका कहना है कि ये सब अनुमान तभी प्रसिद्ध हो सकते हैं जब आप अविनाभाव संबंधका ग्राहक तर्क प्रमाणको स्वीकार करे । इन पूर्ववत् पूर्व आदि अनुमानोंका अंतर्भाव हमारे कारणकारणानुमान आदिमें हो जाता है । आगे इनका वर्णन करेंगे । अस्तु ।

दूसरी बात यह है कि यौगाभिमत अनुमानोंका प्रभेद घटित भी नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक अनुमानका हेतु (साधन या लिंग) पूर्ववत् (पूर्वमें ज्ञात) ही होता है, अतः परिशेष अनुमानमें पूर्ववत्पना है—परिशिष्ट की प्रतिपत्तिका अविनाभावी प्रसक्त-प्रतिषेध होता है वह पूर्वमें ही कहींपर निर्णीत रहता है और विवादग्रस्त परिशिष्टके प्रतिपत्तिके लिये वह साधनरूपसे प्रयुक्त होता है, इसप्रकार साधन पूर्ववत् होनेसे परिशेषानुमान भी पूर्ववत् सरीखा ही है । सामान्यतोदृष्ट अनुमानमें भी पूर्ववत्पना प्रतीत होता है–गतिमत्वकी अविनाभावीरूप देशांतर प्राप्ति नामा हेतु देवदत्तादिमें पहलेसे ही ज्ञात रहता है, अर्थात् देवदत्तमें गमन क्रियाके साथ देशांतर प्राप्तिको देखकर ही सूर्यमें गमनत्वका निश्चय करते हैं अन्यथा वह अनुमान प्रवृत्त ही नहीं होता । अथवा सभी अनुमान परिशेषरूप ही दृष्टिगोचर होते हैं, क्योंकि धूमसे होनेवाले अग्नि का अनुमान भी पूर्ववत्के समान प्रसक्त अनग्निका प्रतिषेध करके प्रवृत होता है, यदि अनग्निके प्रतिषेधका प्रसंग नहीं होवे तो विवाद ही नहीं रहे और जिसमें विवाद नहीं

तस्तत्सम्बन्धस्य प्रतिपत्तुमशक्तेः। ततोनुमानं तत्प्रभेदं चेच्छताऽविनाभाव एवैकं हेतोः प्रधानं लक्षणं प्रतिपत्तव्यम् ।

वहां अनुमान प्रयोग व्यर्थ ही है। सामान्यतोदृष्ट नामा अनुमान भी परिशेषानुमानके अंतर्गत हो सकता है, क्योंकि अगतिमत्व प्रसंगका प्रतिषेध करके ही देशांतर प्राप्तिरूप हेतुसे सूर्यकी गति सिद्ध की जाती है। अथवा सभी अनुमान सामान्यतोदृष्ट रूप ही हो सकते हैं, क्योंकि सर्वत्र अनुमानोंमें साध्यसाधनका संबंध सामान्यपनेसे ही ज्ञात रहता है, विशेषपनेसे उस संबंधको जानना तो अशक्य ही है। अतः अनुमान और उसके प्रभेदको चाहनेवाले आप यौगको हेतुका प्रधान लक्षण एक अविनाभाव ही है (साध्याविनाभावित्व) ऐसा स्वीकार करना होगा।

।। समाप्त ।।

१४

अविनाभावादीनां लक्षणानि

ननु चास्तु प्रधानं लक्षणमविनाभावो हेतोः । तत्स्वरूपं तु निरूप्यतामप्रसिद्धस्वरूपस्य लक्षणत्वायोगादित्याशंकच सहक्रमेत्यादिना तत्स्वरूपं निरूपयति—

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१६॥

सहभावनियमः क्रमभावनियमश्चाविनाभावः प्रतिपत्तव्यः ।

कयोः पुनः सहभावः कयोश्च क्रमभावो यन्नियमोऽविनाभावः स्यादित्याह—

सहचारिणोः व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥१७॥

शंका—हेतुका प्रधान लक्षण अविनाभाव है यह बात तो ठीक है किन्तु अविनाभावके स्वरूपका निरूपण भी करना होगा, क्योंकि अप्रसिद्ध स्वरूपवाली वस्तु किसीका लक्षण नहीं बन सकती ?

समाधान— अब इसी शंकाको लक्ष्य करके अविनाभावका स्वरूप बताते हैं—

सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१६॥

सूत्रार्थ— सहभाव नियम और क्रमभाव नियम ऐसे अविनाभाव के दो भेद हैं, युगपत् रहनेका नियम सहभाव अविनाभाव है और क्रमशः रहनेका नियम क्रमभाव अविनाभाव है ये दोनों अविनाभावके लक्षण या स्वरूप समझने चाहिए । किन दो पदार्थोंमें सहभाव होता है और किन दो में क्रमभाव होता है ऐसा अविनाभाव नियमके विषयमें प्रश्न होने पर कहते हैं—

सहचारिणोः व्याप्यव्यापकयोश्च सहभावः ॥१७॥

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥१८॥

सहचारिणो रूपरसादिलक्षणयोर्व्याप्यव्यापकयोश्च शिंशपात्ववृक्षत्वादिस्वभावयोः सहभावः प्रतिपत्तव्यः। पूर्वोत्तरचारिणोः कृत्तिकाशकटोदयादिस्वरूपयोः कार्यकारणयोश्चाग्निधूमादिस्वरूपयोः क्रमभाव इति।

कुतोसौ प्रोक्तप्रकारोऽविनाभावो निर्णीयते इत्याह—

तर्कात्तन्निर्णयः ॥१९॥

न पुनः प्रत्यक्षादेरित्युक्तं तर्कप्रामाण्यप्रसाधनप्रस्तावे।

ननु साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमित्युक्तम्। तत्र किं साध्यमित्याह—

पूर्वोत्तर चारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ॥१८॥

सूत्रार्थ—सहचारीरूप रसादिमें और व्याप्य व्यापक पदार्थोंमें सहभाव अविनाभाव होता है। पूर्व और उत्तर कालभावी पदार्थोंमें तथा कार्य कारणोंमें क्रम-भाव अविनाभाव होता है। रूप रसादि सहचारी कहलाते हैं, वृक्षत्व और शिंशपात्वादि व्याप्यव्यापक कहलाते हैं, इनमें सहभाव पाया जाता है। कृतिका नक्षत्रका उदय और रोहिणी नक्षत्रका उदय आदि पूर्वोत्तर चारी कहलाते हैं एवं धूम और अग्नि आदि कार्य कारण कहलाते हैं इनमें क्रमभाव पाया जाता है।

इस अविनाभावका निर्णय किस प्रमाणसे होता है ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

तर्कात् तन्निर्णयः ॥१९॥

सूत्रार्थ—अविनाभाव संबंधका निश्चय तर्क प्रमाणसे होता है। प्रत्यक्षादि प्रमाणसे अविनाभावका निर्णय नहीं होता ऐसा पहले तर्क ज्ञानकी प्रमाणता सिद्ध करते समय कह आये हैं।

शंका—साधनसे होनेवाले साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं ऐसा प्रतिपादन तो हो चुका किन्तु साध्य किसे कहना यह नहीं बताया है?

समाधान—अब इसी साध्यका लक्षण कहते हैं—

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ॥२०॥

संशयादिव्यवच्छेदेन हि प्रतिपन्नमर्थस्वरूपं सिद्धमुच्यते, तद्विपरीतमसिद्धम्। तच्च—

सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ॥२१॥

किमयं स्थाणुः पुरुषो वेति चलितप्रतिपत्तिविषयभूतो ह्यर्थः सन्दिग्धोभिधीयते। शुक्तिकाशकले रजताध्यवसायलक्षणविपर्यासगोचरस्तु विपर्यस्तः। गृहीतोऽगृहीतोपि वार्थो यथावदनिश्चितस्वरूपोऽव्युत्पन्नः। तथाभूतस्यैवार्थस्य साधने साधनसामर्थ्यात्, न पुनस्तद्विपरीतस्य तत्र तद्वैफल्यात्।

इष्टाऽबाधितविशेषणद्वयस्यानिष्टेत्यादिना फलं दर्शयति—

अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं माभूदितीष्टाबाधितवचनम् ॥२२॥

इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम् ॥२०॥

इष्ट अबाधित और असिद्धभूत पदार्थको "साध्य" कहते हैं। जो पदार्थ वादीको अभिप्रेत हो उसे इष्ट कहते हैं। किसी प्रमाणसे बाधित नहीं होना अबाधित है और अप्रतिपन्नभूत पदार्थको असिद्ध कहते हैं। संशयादिका व्यवच्छेद करके पदार्थका स्वरूप ज्ञात होना "सिद्ध" कहलाता है और इससे विपरीत असिद्ध है।

सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्य सिद्धपदम् ॥२१॥

सूत्रार्थ— संदिग्ध, विपरीत एवं अव्युत्पन्न पदार्थ साध्यरूप हो सके इस हेतुसे साध्यका लक्षण करते समय "असिद्ध पदका" ग्रहण किया है। "यह स्थाणु है या पुरुष है" इसप्रकार चलित प्रतिपत्तिके विषयभूत अर्थको "संदिग्ध" कहते हैं। सीपके टुकड़ेमें चांदीका निश्चय होना रूप विपर्यास के गोचरभूत पदार्थको "विपर्यस्त" कहते हैं। गृहीत अथवा अगृहीत पदार्थ जब यथावत् निर्णीत नहीं होता तब उसे "अव्युत्पन्न" कहते हैं। इन तीन प्रकारके पदार्थोंकी सिद्धि करनेमें ही हेतुकी सामर्थ्य होती है इनसे विपरीत पदार्थोंकी सिद्धि करनेमें नहीं। क्योंकि असंदिग्ध आदि पदार्थोंके लिये अनुमान की आवश्यकता नहीं रहती वे तो सिद्ध ही रहते हैं।

अब साध्यके इष्ट और अबाधित इन दो विशेषणोंकी सफलता दिखलाते हैं—

अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वंमाभूदितीष्टाबाधितवचनम् ॥२२॥

अनिष्टं हि सर्वथा नित्यत्वं शब्दे जैनस्य। अश्रावणत्वं तु प्रत्यक्षबाधितम्। आदिशब्देनानुमानादिबाधितपक्षपरिग्रहः। तत्रानुमानबाधितः यथा–नित्यः शब्द इति। आगमबाधितः यथा–प्रेत्याऽसुखप्रदो धर्म इति। स्ववचनबाधितः यथा–माता मे बन्ध्येति। लोकबाधितः यथा–शुचि नरशिरःकपालमिति। तयोरनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम्।

ननु यथा शब्दे कथञ्चिदनित्यत्वं जैनस्येष्टं तथा सर्वथाऽनित्यत्वमाकाशगुणत्वं चान्यस्येति तदपि साध्यमनुषज्यते। न च वादिनो यदिष्टं तदेव साध्यमित्यभिधातव्यम्; सामान्याभिधायित्वेनेष्टस्यान्यत्राप्यविशेषात्। इत्याशङ्कापनोदार्थमाह—

न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ॥२३॥

सूत्रार्थ—अनिष्ट पदार्थ एवं प्रत्यक्षादिप्रमाणसे बाधितपदार्थ साध्यरूप मत होवे एतदर्थ 'इष्ट' और 'अबाधित' ये दो विशेषण साध्य पदके साथ प्रयुक्त किये हैं। जैसे शब्दमें सर्वथा नित्यपना सिद्ध करना जैनके लिए अनिष्ट है। तथा शब्दमें अश्रावणत्व (कर्ण गोचर न होना) मानना प्रत्यक्षसे बाधित है। सूत्रोक्त 'आदि' शब्द द्वारा अनुमानादि प्रमाणसे बाधित पक्षवाले साध्यका भी ग्रहण हो जाता है, अर्थात् जो साध्य अनुमानादिसे बाध्य हो उसको भी साध्य नहीं कहते। जैसे "शब्द नित्य है" ऐसा साध्य बनाना अनुमान बाधित है। "धर्म परलोकमें दुःखदायक है" ऐसा कहना आगम बाधित है। जो साध्य अपने ही वचनसे बाधित हो उसे स्ववचन बाधित कहते हैं जैसे—मेरी माता वंध्या है। जो लोक व्यवहारमें बाधित हो उसे लोक बाधित साध्य कहते हैं जैसे मनुष्यका कपाल शुचि है। इस प्रकारके अनिष्ट एवं प्रत्यक्षादिसे बाधित वस्तुको साध्यपना न हो इस कारणसे इष्ट और अबाधित विशेषण साध्यपदमें प्रयुक्त है।

शंका—जिसप्रकार जैनको शब्दमें कथंचित् अनित्यपना मानना इष्ट है उसी प्रकार अन्य वैशेषिकादि परवादियोंको उसमें सर्वथा अनित्यत्व और आकाशगुणत्व मानना इष्ट है अतः उसको साध्यत्वका प्रसंग प्राप्त होता है। ऐसा तो कह नहीं सकते कि जो वादीको इष्ट हो वही साध्य बने, क्योंकि सामान्यरूपसे कहा गया इष्ट विशेषण अन्यत्र (प्रतिवादीमें) भी संभव है कोई विशेषता नहीं है?

समाधान—अब इसी शंकाका परिहार करते हुए श्री माणिक्यनंदी आचार्य सूत्र कहते हैं—

न चासिद्धवदिष्टं प्रतिवादिनः ॥२३॥

विशेषणम् । न हि सर्वं सर्वापेक्षया विशेषणं प्रतिनियतत्वाद्विशेषणविशेष्यभावस्य । तत्रासिद्धमिति साध्यविशेषणं प्रतिवाद्यपेक्षया न पुनर्वाद्यपेक्षया, तस्यार्थस्वरूपप्रतिपादकत्वात् । न चाविज्ञातार्थस्वरूपः प्रतिपादको नामातिप्रसङ्गात् । प्रतिवादिनस्तु प्रतिपाद्यत्वात्तस्य चाविज्ञातार्थस्वरूपत्वाविरोधात् तदपेक्षयैवेदं विशेषणम् । इष्टमिति तु साध्यविशेषणं वाद्यपेक्षया, वादिनो हि यदिष्टं तदेव साध्यं न सर्वस्य । तदिष्टमप्यध्यक्षाद्यबाधितं साध्यं भवतीति प्रतिपत्तव्यं तत्रैव साधनसामर्थ्यात् ।

तदेव समर्थयमानः प्रत्यायनाय हीत्याद्याह—

प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ॥२४॥

इच्छया खलु विषयीकृतमिष्टमुच्यते । स्वाभिप्रेतार्थप्रतिपादनाय चेच्छा वक्तुरेव ।

तस्य चोक्तप्रकारस्य साध्यस्य हेतोर्व्याप्तिप्रयोगकालापेक्षया साध्यमित्यादिना भेदं दर्शयति—

सूत्रार्थ—जिस तरह असिद्ध विशेषण प्रतिवादीके लिये प्रयुक्त हुआ है उस तरह इष्ट विशेषण प्रतिवादीके लिये प्रयुक्त नहीं हुआ । विशेष्यविशेषणभाव प्रतिनियत होता है अतः सभीके लिये सब विशेषण लागू नहीं होते । साध्यका असिद्ध विशेषण तो प्रतिवादीकी अपेक्षासे है न कि वादीकी अपेक्षासे, क्योंकि वादी तो साध्यके स्वरूपका प्रतिपादक होता है, यदि वादीको साध्य असिद्ध है तो वह उसका स्वरूप किस प्रकार प्रतिपादन करता ? क्योंकि जिसके लिये अर्थस्वरूप ज्ञात नहीं उसको प्रतिपादक माने तो अतिप्रसंग होगा । हां प्रतिवादी तो प्रतिपाद्य (समझाने योग्य) होनेके कारण अविज्ञातअर्थ स्वरूपवाला होता है, इसमें अविरोध है अतः उसकी अपेक्षासे ही असिद्ध विशेषण प्रयुक्त हुआ है । तथा साध्यका इष्ट विशेषण वादीकी अपेक्षासे है, क्योंकि वादीको जो इष्ट हो वही साध्य होता है सबका इष्ट साध्य नहीं होता । इस प्रकार साध्य इष्ट और अबाधित होता है ऐसा समझना चाहिए, ऐसे साध्यकी सिद्धिके लिए ही साधनमें सामर्थ्य होती है । आगे इसीका समर्थन करते हैं—

प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ॥२४॥

सूत्रार्थ—विषय प्रतिपादन एवं समझानेकी इच्छा वक्ताको ही हुआ करती है । अर्थात् अपने इष्ट तत्त्वके प्रतिपादन करनेके लिये वक्ताको (वादीको) ही इच्छा होती है ।

उक्त प्रकारके साध्य संबंधी हेतुके साध्यमें व्याप्तिकाल और प्रयोगकालकी अपेक्षासे भेद होता है ऐसा बतलाते हैं—

साध्यं धर्मः क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ॥२५॥

क्वचिद्व्याप्तिकाले साध्यं धर्मो नित्यत्वादिस्तेनैव हेतोर्व्याप्तिसम्भवात्। प्रयोगकाले तु तेन साध्यधर्मेण विशिष्टो धर्मी साध्यमभिधीयते, प्रतिनियतसाध्यधर्मविशेषणविशिष्टतया हि धर्मिणः साधयितुमिष्टत्वात् साध्यव्यपदेशाविरोधः।

अस्यैव पर्यायमाह—

पक्ष इति यावत् ॥२६॥

ननु च कथं धर्मी पक्षो धर्मधर्मिसमुदायस्य तत्त्वात्; तन्न; साध्यधर्मविशेषणविशिष्टतया हि धर्मिणः साधयितुमिष्टस्य पक्षाभिधाने दोषाभावात्।

स च पक्षत्वेनाभिप्रेत.—

साध्यं धर्मः क्वचित् तद्विशिष्टो वा धर्मी ॥२५॥

सूत्रार्थ—कहीं धर्मको साध्य बनाते हैं और कहीं धर्म विशिष्ट धर्मीको साध्य बनाते हैं। कहीं पर अर्थात् व्याप्तिकालमें (जहां जहां साधन होता है वहां वहां साध्य अवश्य होता है इत्यादि रूपसे साध्य साधनका अविनाभाव दिखलाते समय) नित्यत्वादि धर्म ही साध्य होता है, क्योंकि उसके साथ ही हेतुकी व्याप्ति होना संभव है। प्रयोग-कालमें (अनुमानप्रयोग करते समय) तो उस साध्य धर्मसे युक्त धर्मीको साध्य बनाया जाता है, क्योंकि धर्मी प्रतिनियत साध्यधर्मके विशेषण द्वारा विशिष्ट होनेके कारण उसको सिद्ध करना इष्ट होता है अतः साध्य व्यपदेशका उसमें अविरोध है। धर्मीका नामांतर कहते हैं—

पक्ष इति यावत् ॥२६॥

सूत्रार्थ—धर्मीका दूसरा नाम पक्ष भी है।

शंका—धर्मीको पक्ष किसप्रकार कह सकते हैं? क्योंकि धर्म और धर्मीके समुदायका नाम पक्ष है।

समाधान— ऐसा नहीं, साध्य धर्मके विशेषण द्वारा युक्त होनेके कारण धर्मीको सिद्ध करना इष्ट रहता है अतः उसको पक्ष कहनेमें कोई दोष नहीं है। पक्षरूपसे स्वीकार किया—

प्रसिद्धो धर्मी ॥२७॥

तत्प्रसिद्धिश्च क्वचिद्विकल्पतः क्वचित्प्रत्यक्षादितः क्वचिच्चोभयत इति प्रदर्शनार्थम्—'प्रत्यक्षसिद्धस्यैव धर्मित्वम्' इत्येकान्तनिराकरणार्थं च विकल्पसिद्ध इत्याद्याह—

विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये ॥२८॥

अस्ति सर्वज्ञः नास्ति खरविषाणमिति ॥२९॥

विकल्पेन सिद्धे तस्मिन्धर्मिणि सत्तेतरे साध्ये हेतुसामर्थ्यतः। यथा अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात्, नास्ति खरविषाणं तद्विपर्ययादिति। न खलु सर्वज्ञखरविषाणयोः सदसत्तायां साध्यायां विकल्पादन्यतः सिद्धिरस्ति; तत्रेन्द्रियव्यापाराभावात्।

प्रसिद्धो धर्मी ॥२७॥

सूत्रार्थ— धर्मी प्रसिद्ध होता है। उसकी प्रसिद्धि किसी अनुमानमें विकल्पसे होती है, किसीमें प्रत्यक्षादिसे होती है और किसीमें उभयरूपसे होती है ऐसा समझानेके लिये तथा "धर्मी प्रत्यक्ष सिद्ध ही होता है" ऐसे एकांतका निराकरण करनेके लिये आगेका सूत्र प्रसूत होता है।

विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये। २८॥

अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ॥२९॥

सूत्रार्थ—जब धर्मी विकल्प सिद्ध होता है तब साध्य सत्ता और असत्ता (अस्तित्व और नास्तित्व) दो रूप हो सकता है अर्थात् सत्तारूप भी होता है और कहीं असत्तारूप भी। जैसे "सर्वज्ञ है" ऐसे प्रतिज्ञारूप वाक्यमें सत्ता साध्य है, तथा "खर विषाण (गधेके सींग) नहीं हैं" ऐसे प्रतिज्ञा वाक्यमें असत्ता साध्य है।

धर्मीके विकल्पसे सिद्ध रहनेपर (अर्थात् संवाद और असंवादरूपसे अनिश्चित रहने पर) सत्ता और असत्ताको सिद्ध करने के लिए हेतुमें सामर्थ्य हुआ करता है। जैसे—सर्वज्ञ है, क्योंकि सुनिश्चितपनसे उसमें बाधक प्रमाणका अभाव है, इस अनुमान में सत्ताको साध्य बनाया। खरविषाण नहीं है क्योंकि उसके माननेमें प्रत्यक्ष प्रमाण बाधक है। इस अनुमानमें असत्ताको साध्य बनाया। सर्वज्ञकी सत्तारूप साध्यमें और खरविषाणकी असत्तारूप साध्यमें विकल्पको छोड़कर अन्य कोई प्रमाणसे सिद्धि नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ और खरविषाणमें इन्द्रिय प्रत्यक्षका व्यापार ही नहीं है।

ननु चेन्द्रियप्रतिपन्न एवार्थे मनोविकल्पस्य प्रवृत्तिप्रतीतेः कथं तत्रेन्द्रियव्यापाराभावे विकल्पस्यापि प्रवृत्तिः; इत्यप्यपेशलम्; धर्माधर्मादौ तत्प्रवृत्त्यभावानुषङ्गात्। आगमसामर्थ्यप्रभवत्वेनास्यात्र प्रवृत्तौ प्रकृतेप्यतस्तत्प्रवृत्तिरस्तु विशेषाभावात्।

शंका—इन्द्रिय द्वारा ज्ञात हुए पदार्थमें ही मनके विकल्प की प्रवृत्ति होती है अतः इन्द्रिय व्यापार से रहित सर्वज्ञादिमें विकल्पका प्रादुर्भाव किसप्रकार हो सकता है ?

समाधान—यह कथन ठीक नहीं, इस तरह की मान्यतासे तो धर्म अधर्म आदिमें विकल्पकी (मनोविचारका) प्रवृत्ति होना अशक्य होवेगा।

शंका—धर्माधर्मादि विषयमें आगमकी सामर्थ्यसे विकल्प प्रादुर्भूत होते हैं अतः उनसे धर्मादिमें प्रवृत्ति होना शक्य ही है ?

समाधान—तो फिर यही बात प्रकृत धर्मीके विषयमें है अर्थात् सर्वज्ञ आदि धर्मीमें भी आगमकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुआ विकल्प प्रवृत्ति करता है कोई विशेषता नहीं।

विशेषार्थ—जिसमें साध्य रहता है उसे पक्ष या धर्मी कहते हैं। यह पक्ष प्रत्यक्ष सिद्ध भी होता है और आगमादि से भी सिद्ध होता है। जो पदार्थ इन्द्रिय-गम्य नहीं है ऐसे पुण्य, पाप, आकाश, परमाणु आदि कोई तो आगमगम्य है और कोई अनुमानगम्य। इनमें धर्मी अर्थात् पक्ष विकल्प सिद्ध रहता है जिस पक्षका आस्तित्व और नास्तित्व किसी प्रमाण से सिद्ध न हो उसे विकल्प सिद्ध कहते हैं। शंकाकारने प्रश्न किया कि इन्द्रियसे जाने हुए पदार्थमें मनोविकल्प हुआ करते हैं जो पदार्थ इन्द्रिय गम्य नहीं हैं उनमें विकल्प नहीं होते, अतः सर्वज्ञादिको विकल्प सिद्ध धर्मी मानना ठीक नहीं। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यने कहा कि जो इन्द्रिय गोचर नहीं हैं ऐसे पदार्थ आगम ज्ञानसे विचारमें आते हैं। सभी वादी परवादी किसी ना किसी रूपसे ऐसे पदार्थ स्वीकार करते ही हैं कि जो इन्द्रियगोचर नहीं। परमाणुको सभीने इन्द्रियके अगम्य माना है। यौग धर्म अधर्म आत्मादिको अतीन्द्रिय मानते हैं, इन पदार्थोंकी सत्ता आगमसे स्वयं ज्ञात करके परके लिये अनुमान द्वारा समझाया जाता है। सर्वज्ञका विषय भी आगमगम्य है, उनको आगमके बलसे निश्चित करके जो परवादी उसकी सत्ता नहीं मानते उनको अनुमानसे सिद्ध करके बतलाते हैं।

प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्मविशिष्टता ॥३०॥

अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ॥३१॥

प्रमाणं प्रत्यक्षादिकम्, उभयं प्रमाणविकल्पौ, ताभ्यां सिद्धे पुनर्धर्मिणि साध्यधर्मेण विशिष्टता साध्या। यथाग्निमानयं देशः, परिणामी शब्द इति। देशो हि धर्मित्वेनोपात्तोऽध्यक्षप्रमाणत एव प्रसिद्धः, शब्दस्तूभाभ्याम्। न खलु देशकालान्तरिते ध्वनौ प्रत्यक्षं प्रवर्त्तते, श्रूयमाणमात्र एवास्य प्रवृत्तिप्रतीतेः। विकल्पस्य त्वऽनियतविषयतया तत्र प्रवृत्तिरविरुद्धैव।

ननु चैवं देशस्याप्यग्निमत्त्वे साध्ये कथं प्रत्यक्षसिद्धता? तत्र हि दृश्यमानभागस्याग्निमत्त्व-साधने प्रत्यक्षबाधनं साधनवैफल्यं वा, तत्र साध्योपलब्धेः। अदृश्यमानभागस्य तु तत्साधने कुतस्त-

---

प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्य धर्म विशिष्टता ॥३०॥

अग्निमानयं देशः परिणामी शब्द इति यथा ॥३१॥

सूत्रार्थ—प्रमाण धर्मीके रहते हुए एवं उभयसिद्ध धर्मीके रहते हुए साध्यधर्म विशिष्टता साध्य होती है। जैसे—यह प्रदेश अग्नियुक्त है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण सिद्ध धर्मीका उदाहरण है। शब्द परिणामी है। यह उभय सिद्ध धर्मीका उदाहरण है। प्रत्यक्षादि प्रमाण है, जिसमें प्रमाण और विकल्पसे सिद्धि हो उसे उभय सिद्ध धर्मी कहते हैं। इन धर्मियोंके रहते हुए साध्य धर्मसे विशिष्टता साध्य होती है। यथा—यह देश अग्नियुक्त है और शब्द परिणामी है ये क्रमशः प्रमाणसिद्ध और उभयसिद्ध धर्मीके उदाहरण हैं। अग्नियुक्त प्रदेश प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही सिद्ध है अतः यह धर्मी प्रमाण सिद्ध कहलाया। शब्द उभयरूपसे सिद्ध है, क्योंकि देश और कालसे अंतरित हुए शब्दमें प्रत्यक्ष प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता केवल श्रूयमाण शब्दमें ही इसकी प्रवृत्ति होती है। अनियत विषयवाला होनेसे विकल्पकी प्रवृत्ति शब्दमें होना अविरुद्ध ही है।

शंका—इसप्रकारसे शब्दको उभयसिद्ध धर्मी माने अर्थात् वर्त्तमानका शब्द प्रमाण सिद्ध और देश एवं कालसे अंतरित शब्द विकल्प सिद्ध माने तो अग्निमत्व साध्यमें प्रदेशरूप धर्मी प्रत्यक्ष सिद्ध कैसे हो सकता है? क्योंकि दृश्यमान प्रदेशके भागको अग्नियुक्त सिद्ध करते हैं तो प्रत्यक्ष बाधा आयेगी या हेतु विफल ठहरेगा अर्थात् दृश्यमान प्रदेश भागमें यदि अग्नि प्रत्यक्षसे दिखायी दे रही तो उसको हेतु द्वारा सिद्ध करना व्यर्थ है क्योंकि साध्य उपलब्ध हो चुका। और यदि उक्त भागमें अग्नि प्रत्यक्ष

प्रत्यक्षतेति ? तदप्यसमीचीनम्; अवयविद्रव्यापेक्षया पर्वतादेः सांव्यवहारिकप्रत्यक्षप्रसिद्धताभिधानात्। अतिसूक्ष्मेक्षिकापर्यालोचने न किञ्चित्प्रत्यक्षं स्यात्, बहिरन्तर्वाऽस्मदादिप्रत्यक्षस्याशेषविशेषतोऽर्थ-साक्षात्करणेऽसमर्थत्वात्, योगिप्रत्यक्षस्यैव तत्र सामर्थ्यात्।

ननु प्रयोगकालवद्व्याप्तिकालेपि तद्विशिष्टस्य धर्मिण एव साध्यव्यपदेशः कुतो न स्यादित्या-शङ्कयाह—

व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ॥३२॥

न पुनस्तद्वान्।

अन्यथा तदघटनात् ॥३३॥

अनेन हेतोरन्वयासिद्धेः। न खलु यत्र यत्र कृतकत्वादिक प्रतीयते तत्र तत्रानित्यत्वादिविशिष्ट-शब्दाद्यन्वयोस्ति।

नहीं है तो वहां हेतु द्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध करना प्रत्यक्ष बाधित है। यदि उक्त प्रदेशके अदृश्यमान भागमें अग्निमत्वको सिद्ध करते हैं तो उस भागको प्रत्यक्षसिद्ध धर्मी किस प्रकार कह सकते हैं ?

समाधान — यह कथन असम्यक है, अवयवी द्रव्यकी अपेक्षासे पर्वतादिप्रदेश सांव्यवहारिक प्रत्यक्षसे प्रसिद्ध माने गये हैं। यदि अत्यंत सूक्ष्म दृष्टिसे विचार करे तो कोई भी पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं कहलायेगा, क्योंकि अंतरंग या बहिरंग (चेतनाचेतन) पदार्थको जाननेवाला हम जैसे सामान्य व्यक्तिका प्रत्यक्ष ज्ञान (सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष प्रमाण) पूर्ण विशेषताके साथ पदार्थका साक्षात्कार करनेमें असमर्थ है, ऐसा साक्षात्कार करनेमें तो योगी प्रत्यक्षज्ञान (पारमार्थिक प्रत्यक्ष प्रमाण) ही समर्थ है।

शंका—प्रयोगकालके समान व्याप्तिकालमें भी साध्यधर्म विशिष्ट धर्मीको ही साध्य क्यों नहीं बनाते ?

समाधान — इस शंकाका समाधान अग्रिम दो सूत्रों द्वारा करते हैं —

व्याप्तौ तु साध्यं धर्म एव ॥३२॥

अन्यथा तदघटनात् ॥३३॥

सूत्रार्थ व्याप्ति करते समय धर्मको ही साध्य बनाते हैं न कि धर्मविशिष्ट धर्मीको, क्योंकि धर्मीको (पर्वतादिको) साध्य बनाने पर व्याप्ति घटित नहीं हो सकती।

'ननु प्रसिद्धो धर्मीत्यादिपक्षलक्षणप्रणयनमयुक्तम्; अस्ति सर्वज्ञ इत्याद्यनुमानप्रयोगे पक्षप्रयोगस्यैवासम्भवात् अर्थादापन्नत्वात्तस्य । अर्थादापन्नस्याप्यभिधाने पुनरुक्तत्वप्रसङ्गः-"अर्थादापन्नस्य स्वशब्देनाभिधानं पुनरुक्तम्" [न्यायसू० ५।२।१५] इत्यभिधानात् । तत्प्रयोगेपि च हेत्वादिवचनमन्तरेण साध्याप्रसिद्धेस्तद्वचनादेव च तत्प्रसिद्धे र्व्यर्थः पक्षप्रयोगः' इत्याशङ्क्य साध्यधर्माधारेत्यादिना प्रतिविधत्ते—

साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥३४॥

साध्यधर्मोऽस्तित्वादिः, तस्याधार आश्रयः यत्रासौ साध्यधर्मो वर्त्तते, तत्र सन्देहः-किमसौ साध्यधर्मोऽस्तित्वादिः सर्वज्ञे वर्त्तते सुखादौ वेति, तस्यापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।

अर्थात् जहां जहां धूम है वहां वहां पर्वत है ऐसी व्याप्ति नहीं होती अपितु जहां जहां धूम है वहां वहां साध्य धर्म अग्नि है ऐसी व्याप्ति ही घटित होती है । इसका भी कारण यह है कि धर्मीके साथ हेतुका अन्वय असिद्ध है । जैसे शब्द अनित्य है (धर्मी) क्योंकि वह कृतक है (हेतु) इस अनुमानके कृतकत्व हेतुका अन्वय केवल अनित्यत्वादि-विशिष्ट शब्दमें ही नहीं है । अर्थात् जहां जहां कृतकत्वादि प्रतीत होता है वहां वहां शब्दरूप धर्मी ही प्रतीत होवे ऐसी बात नहीं, कृतकत्व तो शब्दके समान घट पट आदि अनेकों के साथ रहता है ।

बौद्ध—"प्रसिद्धो धर्मी" इसप्रकार से पक्षका लक्षण करना अयुक्त है, क्योंकि "सर्वज्ञ है" इत्यादि अनुमान प्रयोगमें पक्षका प्रयोग होना ही असंभव है, पक्ष तो अर्थादापन्न ही है (प्रकरणसे ही गम्य है) अर्थादापन्न का भी कथन करे तो पुनरुक्त दोष आयेगा "अर्थादापन्नस्य स्वशब्देनाभिधानम् पुनरुक्तम्" ऐसा न्याय सूत्रमें कहा है । तथा पक्षका प्रयोग करनेपर भी जब तक हेतु वचन प्रयुक्त नहीं होता तब तक साध्य की सिद्धि नहीं होती, हेतु वचनसे ही साध्य सिद्धि होती है अतः पक्षका प्रयोग करना व्यर्थ है ।

जैन—अब इसी शंका का निरसन करते हैं—

साध्य धर्माधार संदेहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ॥३४॥

सूत्रार्थ—साध्य धर्मके आधारका संदेह दूर करनेके लिये गम्यमान अर्थात् जाने हुए भी पक्षका कथन करना आवश्यक है । अस्तित्वादि साध्यका धर्म होता है उसका आधार या आश्रय कि जहां पर साध्य धर्म रहता है उसमें संशय प्रादुर्भूत

साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसंहारवत् ॥३५॥

तस्याऽवचनं साध्यसिद्धिप्रतिबन्धकत्वात्, प्रयोजनाभावाद्वा ? तत्र प्रथमपक्षोऽयुक्तः, वादिना साध्याविनाभावनियमैकलक्षणेन हेतुना स्वपक्षसिद्धौ साधयितुं प्रस्तुतायां प्रतिज्ञाप्रयोगस्य तत्प्रतिबन्धकत्वाभावात् ततः प्रतिपक्षासिद्धेः । द्वितोयपक्षोप्ययुक्तः; तत्प्रयोगे प्रतिपाद्यप्रतिपत्तिविशेषस्य प्रयोजनस्य सद्भावात्, पक्षाऽप्रयोगे तु केषाञ्चिन्मन्दमतीनां प्रकृतार्थाप्रतिपत्तेः । ये तु तत्प्रयोगमन्तरेणापि प्रकृतार्थं प्रतिपद्यन्ते तान्प्रति तदप्रयोगोऽभीष्ट एव । "प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः" [ ] इत्यभिधानात् । ततो युक्तो गम्यमानस्याप्यस्य प्रयोगः, कथमन्यथा शास्त्रादावपि प्रतिज्ञाप्रयोगः स्यात् ? न हि शास्त्रे नियतकथायां प्रतिज्ञा नाभिधीयते–'अग्निरत्र धूमात्, वृक्षोयं शिंशपात्वात्'

होता है कि यह अस्तित्वादि साध्यधर्म सर्वज्ञमें रहता है या सुखादिमें रहता है ? इत्यादि, इस संशयको दूर करनेके लिए ज्ञात होते हुए भी पक्षको कहना जरूरी है ।

साध्य धर्मिणि साधन धर्मावबोधनाय पक्ष धर्मोपसंहारवत् ॥३५॥

सूत्रार्थ—जिसप्रकार साध्यधर्मीमें साधनधर्मका अवबोध करानेके लिये पक्षधर्मका उपसंहार किया जाता है ।

बौद्ध पक्ष प्रयोग नहीं मानते सो उसके नहीं कहनेमें क्या कारण है, साध्यके सिद्धिमें प्रतिबंधक होनेके कारण पक्षको नहीं कहते या प्रयोजन नहीं होनेके कारण पक्षको नहीं कहते ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, जब वादी साध्य विनाभावो नियम वाले हेतु द्वारा अपने पक्षको सिद्ध करनेमें प्रस्तुत होता है तब किया गया पक्षका प्रयोग साध्यकी सिद्धिमें प्रतिबंधक हो नहीं सकता, क्योंकि उस पक्ष प्रयोगसे तो प्रतिवादीका पक्ष असिद्ध हो जाता है (खंडित होता है) द्वितीय विकल्प भी अयुक्त है, क्योंकि प्रतिपाद्य विषयकी प्रतिपत्ति (जानकारी) होना रूप विशेष प्रयोजन पक्ष प्रयोग होने पर ही सधता है यदि पक्षका प्रयोग न किया जाय तो किन्ही मंदबुद्धि वालोंको प्रकृत अर्थका बोध नहीं हो सकता । हां यह बात जरूर है कि जो व्यक्ति पक्ष प्रयोगके विना भी प्रकृत अर्थको जान सकते हैं उनके लिये तो पक्षका प्रयोग नहीं करना अभीष्ट ही है । अनुमान प्रयोगकी परिपाटी तो प्रतिपाद्य (शिष्यादि) के अनुसार हुआ करती है अतः गम्यमान (ज्ञात) रहते हुए भी पक्षका प्रयोग करना चाहिये । यदि ऐसी बात नहीं होती तो शास्त्रके प्रारंभमें प्रतिज्ञा प्रयोग किस प्रकार होता ? शास्त्रमें नियत कथाके

इत्याद्यभिधानानां तत्रोपलम्भात् । परानुग्रहप्रवृत्तानां शास्त्रकाराणां प्रतिपाद्यावबोधनाधीनधियां शास्त्रादौ प्रतिज्ञाप्रयोगो युक्तिमानेवोपयोगित्वात्तस्येत्यभिधाने वादेपि सोऽस्तु तत्रापि तेषां तादृशत्वात् ।

अमुमेवार्थं को वेत्यादिना परोपहसनव्याजेन समर्थयते—

को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ? ॥३६॥

को वा प्रामाणिकः कार्यस्वभावानुपलम्भभेदेन पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयभेदेन वा त्रिधा हेतुमुक्त्वाऽसिद्धत्वादिदोषपरिहारद्वारेण समर्थयमानो न पक्षयति ? अपि तु पक्षं करोत्येव । न चाऽसमर्थितो हेतुः साध्यसिद्ध्यङ्गमतिप्रसङ्गात् । ततः पक्षप्रयोगमनिच्छता हेतुमनुक्त्वैव तत्समर्थनं कर्त्तव्यम् । हेतोरवचने

प्रसंगमें प्रतिज्ञा अर्थात् पक्षप्रयोग नहीं होता हो सो भी बात नहीं "अग्निरत्र धूमात्" वृक्षोयं शिंशपात्वात् यहां पर धूम होनेसे अग्नि है, शिंशपा होनेसे यह वृक्ष है इत्यादि रूपसे पक्षके प्रयोग शास्त्र कथामें उपलब्ध होते हैं ।

बौद्ध—शास्त्रकार जन शिष्योंको बोध किस प्रकार हो इस प्रकारके विचारमें लगे रहते हैं अतः परानुग्रहको करनेवाले वे शास्त्रादिमें यदि प्रतिज्ञाका प्रयोग करते हों तो युक्तिसंगत है, क्योंकि प्रतिपाद्य-शिष्यादिके लिये पक्ष प्रयोग उपयोगी है ?

जैन—तो यही बात वादमें है, वादमें भी वादीगण परानुग्रह पक्ष एवं प्रतिपाद्य को अवबोधन करानेमें लगे रहते हैं अतः वाद कालमें भी पक्षका प्रयोग नितांत आवश्यक है । इसी अर्थका उपहास करते हुए समर्थन करते हैं—

को वा त्रिधा हेतु मुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।।३६।।

सूत्रार्थ—कौन ऐसा बुद्धिमान है कि जो तीन प्रकारके हेतुको कहकर पुनश्च उसका समर्थन करता हुआ भी पक्षका प्रयोग न करे ? [अपितु अवश्य ही करे] ऐसा कौन प्रामाणिक बुद्धिमान पुरुष है जो कार्य हेतु, स्वभाव हेतु एवं अनुपलंभ हेतु इसप्रकार हेतु के तीन भेदोंको कथन करता है अथवा पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्तिरूप हेतुके तीन स्वरूपका प्रतिपादन असिद्धादि दोषोंका परिहार करनेके लिये करता है वह पुरुष पक्षका प्रयोग न करे ? अर्थात् वह अवश्य ही पक्षका प्रयोग करता है । असमर्थित हेतु साध्यसिद्धिका निमित्त होना भी असंभव है, क्योंकि अतिप्रसंग आता है अर्थात् समर्थन रहित हेतु साध्यसिद्धिके प्रति निमित्त हो सकता है तो हेत्वाभास भी साध्यसिद्धिके प्रति निमित्त हो सकता है क्योंकि उसके स्वरूपका प्रति-

कस्य समर्थनमिति चेत् ? पक्षस्याप्यनभिधाने क्व हेत्वादिः प्रवर्त्तताम् ? गम्यमाने प्रतिज्ञाविषये एवेति चेत्; गम्यमानस्य हेत्वादेरपि समर्थनमस्तु। गम्यमानस्यापि हेत्वादेर्मन्दमतिप्रतिपत्त्यर्थं वचने तदर्थमेव प्रतिज्ञावचनमप्यस्तु विशेषाभावात्। ततः साध्यप्रतिपत्तिमिच्छता हेतुप्रयोगवत्पक्षप्रयोगोप्यभ्युपगन्तव्यः। तद्द्वयस्यैवानुमानाङ्गत्वात्, इत्याह—

एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्, नोदाहरणम् ॥३७॥

ननु "पक्षहेतुदृष्टान्तोपनयनिगमनान्यवयवाः" [न्यायसू० १।१।३२ (?)] इत्यभिधानाद् दृष्टान्तादेरप्यनुमानाङ्गत्वसम्भवादेतद्द्वयमेवांगमित्ययुक्तमुक्तम्। प्रतिज्ञा ह्यागमः। हेतुरनुमानम्,

---

पादनादिरूपसे समर्थन करना तो आवश्यक नहीं रहा ? फिर तो पक्षप्रयोगको नहीं चाहने वाले पुरुषको हेतुको बिना कहे ही उसका समर्थन करना चाहिये।

बौद्ध—हेतुका वचन या प्रयोग किये बिना किसका समर्थन करे ?

जैन—तो पक्षका वचन न कहने पर हेतु आदि भी कहां पर प्रवृत्त होंगे ?

बौद्ध—गम्यमान (ज्ञात हुए) प्रतिज्ञाके विषयमें ही हेतु आदि प्रवृत्त होते हैं।

जैन—तो वैसे ही गम्यमान हेतु आदिका समर्थन करना चाहिए।

बौद्ध—मंदमतिको समझाने के लिये गम्यमान हेतु आदिका भी कथन करना पड़ता है ?

जैन—इसीप्रकार प्रतिज्ञा प्रयोग भी मंदमतिको समझानेके लिये करना पड़ता है उभयत्र समान बात है, कोई विशेषता नहीं। अतः साध्यकी प्रतिपत्तिको चाहनेवाले पुरुषको हेतु प्रयोगके समान पक्षप्रयोग भी स्वीकार करना चाहिये। यही दो अनुमानके अंग हैं ऐसा अग्रिम सूत्रमें कहते हैं—

एतद् द्वयमेवानुमानांगं नोदाहरणम् ॥३७॥

सूत्रार्थ—पक्ष और हेतु ये दो ही अनुमानके अंग हैं, उदाहरण अनुमानका अंग नहीं है।

यहां पर नैयायिकादि परवादियोंका कहना है कि पक्ष, हेतु, दृष्टांत, उपनय, निगमन ये पांच अनुमानके अंग हैं, इनमें उदाहरणको भी अनुमानका अंग स्वीकार किया है अतः अनुमानके दो ही अंग मानना अयुक्त है। पक्ष आदि अंगोंका अर्थ

प्रतिज्ञातार्थस्य तेनानुमीयमानत्वात्। उदाहरणं प्रत्यक्षम्, "वादिप्रतिवादिनोर्यत्र बुद्धिसाम्यं तदुदाहरणम्" [ ] इति वचनात्। उपनय उपमानम्, दृष्टांतधर्मिसाध्यधर्मिणोः सादृश्यात्, "प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्" [न्यायसू० १।१।६] इत्यभिधानात्। सर्वेषामेकविषयत्वप्रदर्शनफलं निगमनमित्याशंकयोदाहरणस्य तावत्तदंगत्वं निराकुर्वन्नाह–नोदाहरणम्। अनुमानांगमिति सम्बन्धः।

तद्धि किं साक्षात्साध्यप्रतिपत्त्यर्थमुपादीयते, हेतोः साध्याविनाभावनिश्चयार्थं वा, व्याप्तिस्मरणार्थं वा प्रकारान्तरासम्भवात्? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः—

इसप्रकार है—पक्ष अर्थात् प्रतिज्ञा आगम ज्ञान रूप होती है। हेतु अनुमान रूप होता है, क्योंकि प्रतिज्ञात अर्थ अनुमान द्वारा अनुमेय (जानने योग्य) होता है। उदाहरण अर्थात् दृष्टांत प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि वादी और प्रतिवादी (जो पहले अपना पक्ष स्थापित करता है उसे वादी कहते हैं और जो उस पक्षका निराकरण करते हुए अपना दूसरा पक्ष (सिद्धांत) स्थापित करता है उसे प्रतिवादी कहते हैं) का बुद्धिसाम्य जहां पर हो उसे उदाहरण कहते हैं, अर्थात् दोनोंको जो मान्य एवं ज्ञात हो उसे उदाहरण कहते हैं। उपनय उपमा प्रमाणरूप होता है क्योंकि दृष्टांत धर्मी और साध्यधर्मीका सादृश्य इसका विषय है, प्रसिद्ध साधर्म्यसे साध्यको साधना उपमाज्ञान कहलाता है इस ज्ञानरूप उपनय होता है। सभी प्रमाणोंका एक विषय है ऐसा प्रदर्शन करना अर्थात् आगम अनुमानादिप्रमाण द्वारा प्रतिपादित पक्ष हेतु आदिका विषय एक अग्नि-आदि साध्यको सिद्ध करना ही फल है ऐसा अंतमें दिखलाना निगमननामा अनुमानांग है।

इसप्रकार के नैयायिकादिके मंतव्यको लक्ष्य करके ही माणिक्यनंदी आचार्यने "नोदाहरणम्" इस पदका प्रयोग किया है अर्थात् उदाहरण अनुमानका अंग नहीं है ऐसा प्रथम ही यहां पर कहकर उक्त मंतव्यका निराकरण किया है (आगे क्रमशः उपनय और निगमनका भी निराकरण करेंगे)

उदाहरणका प्रयोग साक्षात् साध्यकी प्रतिपत्ति करानेके लिये होता है अथवा हेतुका साध्याविनाभाव निश्चित करानेके लिये होता है या व्याप्तिका स्मरण करानेके लिये होता है? इसप्रकार नैयायिकके प्रति जैनके प्रश्न हैं उक्त तीन विकल्पों को छोड़कर अन्य प्रकार तो संभव नहीं है। प्रथम विकल्प अयुक्त है—

न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यङ्गं तत्र यथोक्तहेतोरेव व्यापारात् ॥३८॥

न हि तत् साध्यप्रतिपत्त्यंग तत्र यथोक्तहेतोरेव साध्याविनाभावनियमैकलक्षणस्य व्यापारात्। द्वितीयविकल्पोप्यसम्भाव्यः—

तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः ॥३९॥

न हि हेतोस्तेन साध्येनाविनाभावस्य निश्चयार्थं वा तदुपादानं युक्तम्; विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धेः। न हि सपक्षे सत्त्वमात्राद्धेतोर्व्याप्तिः सिद्धयति, 'स श्यामस्तत्पुत्रत्वादितरतत्पुत्रवत्' इत्यत्र तदाभासेपि तत्सम्भवात्। ननु साकल्येन साध्यनिवृत्तौ साधन निवृत्तेरत्रासम्भवात्परत्र गौरेपि तत्पुत्रे

न हि तत् साध्यप्रतिपत्यंगं तत्र यथोक्त हेतोरेव व्यापारात् ॥३८॥

सूत्रार्थ—साध्यकी प्रतिपत्तिके लिये उदाहरण निमित्त नहीं है, क्योंकि वह प्रतिपत्ति तो यथोक्त (साध्याविनाभावी) हेतुके प्रयोगसे ही हो जाती है। साध्यके साथ जिसका अविनाभावी संबंध है ऐसे हेतु द्वारा ही साध्यका बोध हो जानेसे उदाहरणकी आवश्यकता नहीं रहती है। द्वितीय विकल्पहेतुका साध्याविनाभाव ज्ञात करनेके लिये उदाहरणरूप अंगको स्वीकार करना भी अयुक्त है—

तदविनाभावनिश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत् सिद्धेः ॥३९॥

सूत्रार्थ—साध्य साधनका अविनाभाव निश्चित करनेके लिए भी उदाहरण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि विपक्षमें बाधक प्रमाणको देखकर ही उसका निश्चय हो जाता है। साध्यके साथ अमुक हेतुका अविनाभाव है इसप्रकारका निर्णय करनेके लिए उदाहरणको ग्रहण करना भी अयुक्त है, वह निर्णय तो विपक्षमें बाधक प्रमाणसे ही हो जाता है अर्थात् अमुक हेतु विपक्षमें सर्वथा असंभव है, इस प्रकारके बाधक प्रमाणसे ही हेतुका अविनाभाव सिद्ध होता है। हेतुके साध्याविनाभावकी सिद्धि केवल सपक्षसत्त्वसे नहीं होती, क्योंकि सपक्षसत्त्व तो हेत्वाभासमें भी संभव है, जैसे "वह पुत्र काला है, क्योंकि उसका पुत्र है, जिस तरह उसके अन्य पुत्र भी काले हैं" इस प्रकारके तत्पुत्रत्वादि हेत्वाभासोंमें सपक्ष सत्त्व रहता है किन्तु उससे साध्यके साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती।

तत्पुत्रत्वस्य भावाच्च व्याप्तिः; तर्हि साकल्येन साध्यनिवृत्तौ साधननिवृत्तिनिश्चयरूपाद्बाधकादेव व्याप्तिप्रसिद्धेरलं दृष्टान्तकल्पनया।

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिः तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्यात् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ॥४०॥

किंच, वादिप्रतिवादिनोर्यत्र बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तो भवति प्रतिनियतव्यक्तिरूपः, यथाऽग्नौ साध्ये महानसादिः। व्यक्तिरूपं च निदर्शनं कथं तदविनाभावनिश्चयार्थं स्यात्? प्रतिनियतव्यक्तौ तन्निश्चयस्य कर्तुमशक्तेः। अनियतदेशकालाकाराधारतया सामान्येन तु व्याप्तिः। कथमन्यथान्यत्र

शंका—उक्त अनुमानमें साकल्यपनेसे साध्यके निवृत्त होनेपर साधनकी निवृत्ति होना असंभव है, क्योंकि उसके अन्य गोरे पुत्रमें भी तत्पुत्रत्व संभावित है अतः तत्पुत्रत्व हेतुकी स्वसाध्य (काला होना) के साथ व्याप्ति सिद्ध नहीं होती?

समाधान—तो फिर साकल्यपनेसे साध्यके निवृत्त होने पर साधनकी निवृत्ति होती है ऐसा निश्चय करानेवाले बाधक प्रमाणसे ही व्याप्तिकी सिद्धि हुई, दृष्टांतकी कल्पना तो व्यर्थ ही है।

व्यक्तिरूपं च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्ति स्तत्रापि तद् विप्रतिपत्तावनवस्थानं स्यात् दृष्टांतांतरापेक्षणात् ॥४०॥

सूत्रार्थ—दूसरी बात यह भी है कि दृष्टांत किसी विशेष व्यक्तिरूप मात्र होता है किन्तु व्याप्ति सामान्यरूप होती है अतः दृष्टांतमें भी यदि साध्यसाधनके अविनाभाव संबंधमें विवाद खड़ा हो जाय तो अनवस्था दोष आयेगा क्योंकि उक्त विवाद स्थानमें पुनः दृष्टांतकी आवश्यकता पड़ेगी, तथा उसमें विवाद होनेपर तीसरे दृष्टांतकी आवश्यकता होगी।

किंच, जहां वादी प्रतिवादी दोनोंके बुद्धिका साम्य हो वह दृष्टांत कहलाता है, यह दृष्टांत प्रतिनियत व्यक्तिरूप हुआ करता है, जैसे अग्निरूप साध्यमें महानसका दृष्टांत है। यह व्यक्तिरूप उदाहरण साध्यसाधनके अविनाभावका निश्चय किसप्रकार करा सकता है? प्रतिनियत व्यक्तिमें उसके निश्चयको करना तो अशक्य ही है। इसका भी कारण यह है कि अनियत देश अनियत काल एवं अनियत आकार के आधाररूपसे सामान्यस्वरूप व्याप्ति होती है उसका प्रतिनियतव्यक्ति में निश्चय होना कथमपि संभव

साधनं साध्यं साधयेत् ? तत्रापि दृष्टान्तेपि तस्यां व्याप्तौ विप्रतिपत्तौ सत्यां दृष्टांतान्तरान्वेषणेऽनवस्थानं स्यात् ।

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं तथाविधहेतुप्रयोगादेव तत्स्मृतेः ॥४१॥

नापि व्याप्तिस्मरणार्थं दृष्टान्तोपादानं तथाविधस्य प्रतिपन्नाविनाभावस्य हेतोः प्रयोगादेव तत्स्मृतेः । एवं चाप्रयोजनं तदुदाहरणम् ।

तत्परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ॥४२॥

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ? ॥४३॥

परं केवलमभिधीयमानं साध्यसाधने साध्यधर्मिणि सन्दहयति सन्देहवती करोति । कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ?

नहीं है । यदि ऐसा नहीं होता तो अन्यत्र स्थान पर हेतु स्वसाध्यको कैसे सिद्ध करता ? तथा दृष्टांतमें भी व्याप्तिके विषयमें विवाद हो जाय तो अन्य दृष्टांतकी खोज करनी पड़नेसे अनवस्था आयेगी ।

नापि व्याप्ति स्मरणार्थ तथाविध हेतु प्रयोगादेव तत्स्मृतेः ॥४१॥

सूत्रार्थ—व्याप्तिका स्मरण करानेके लिए भी उदाहरणकी जरूरत नहीं, उसका स्मरण तो तथाविध हेतुके प्रयोगसे ही हो जाया करता है । व्याप्ति स्मृतिके लिये दृष्टांतका ग्रहण भी व्यर्थ है, क्योंकि जिसका साध्याविनाभाव ज्ञात है ऐसे हेतुके प्रयोग से ही व्याप्ति स्मरण हो जाता है । इस प्रकार उदाहरण प्रयोजनभूत नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ ।

तत् परमभिधीयमानं साध्यधर्मिणि साध्यसाधने संदेहयति ॥४२॥

कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ॥४३॥

सूत्रार्थ—तथा केवल उदाहरणको कहनेसे साध्यधर्मीमें साध्यसाधनके बारेमें संशय उत्पन्न होता है । यदि ऐसा नहीं होता तो उदाहरणके अनंतर ही उपनय और निगमनके प्रयोगकी आवश्यकता किस तरह होती ? अभिप्राय यह कि बाल प्रयोगरूप अनुमानमें पक्ष हेतु और उदाहरणके अनंतर तत्काल ही उपनय और निगमनका प्रयोग किया जाता है, केवल उदाहरणका प्रयोग करे और आगेके उपनयादि को न कहे तो साध्यसाधन संदेहास्पद हो जाते हैं (अर्थात् ये धूम तथा अग्निरूप साध्यसाधन महानस के समान है या अन्य है ? इसप्रकार केवल उदाहरणके प्रयोग से संदेह बना रहता है ।)

मा भूद्दृष्टान्तस्यानुमानं प्रत्यंगत्वमुपनयनिगमनयोस्तु स्यादित्याशंकापनोदार्थमाह—

न च ते तदंगे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवाऽसंशयात् ॥४४॥

न च ते तदंगे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेव हेतुसाध्यप्रतिपत्तौ संशयाभावात्। तथापि दृष्टान्तादेरनुमानावयवत्वे हेतुरूपत्वे वा—

समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवोवास्तु साध्ये तदुपयोगात् ॥४५॥

समर्थनमेव वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तस्योपयोगात्। समर्थनं हि नाम हेतोरसिद्धत्वादिदोषं निराकृत्य स्वसाध्येनाऽविनाभावसाधनम्। साध्यं प्रति हेतोर्गमकत्वे च तस्यैवोपयोगो नान्यस्येति।

ननु व्युत्पन्नप्रज्ञानां साध्यधर्मिणि हेतुसाध्ययोर्वचनादेवासंशयादर्थप्रतिपत्तेर्दृष्टान्तादिवचनमनर्थकमस्तु। बालानां त्वव्युत्पन्नप्रज्ञानां व्युत्पत्त्यर्थं तन्नानर्थकमित्याह—

दृष्टांत अनुमानका अंग मत होवे किन्तु उपनय और निगमन तो उसके अंग होते हैं? इसप्रकारकी आशंका होने पर उसको दूर करते हैं—

न च ते तदंगे साध्यधर्मिणि हेतु साध्ययोर्वचनादेवाऽसंशयात् ॥४४॥

सूत्रार्थ—उपनय और निगमन भी अनुमानके अंग नहीं हैं क्योंकि साध्यधर्मी में साध्य और हेतुका कथन करनेसे ही तत्संबंधी संशय दूर हो जाता है। इसप्रकार संशय रहित साध्य सिद्धि संभावित होते हुए भी दृष्टांतादिको अनुमानका अंग माना जाय अथवा सपक्षसत्त्वादि हेतुका त्रिरूप माना जाय तो—

समर्थनं वा वरं हेतुरूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तदुपयोगात् ॥४५॥

सूत्रार्थ—हेतुरूप समर्थनको ही अनुमानका अवयव माना जाय, क्योंकि वह साध्यमें उपयोगी है। हेतुके असिद्धादि दोषको दूर करके स्वसाध्यके साथ उसका अविनाभाव स्थापित करना समर्थन कहलाता है। अथवा विपक्षमें साकल्यपनेसे बाधक प्रमाणका प्रदर्शन करना समर्थन है। साध्यके प्रति हेतुका गमकपना होनेमें समर्थन ही उपयोगी है अन्य नहीं।

शंका—व्युत्पन्न प्रज्ञा वाले (साध्य साधन संबंधी पूर्णज्ञान रखने वाले) पुरुषोंको साध्यधर्मीमें हेतु और साध्यके कथन करनेसे ही संशयरहित अर्थकी प्रतिपत्ति

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ।।४६।।

बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे दृष्टान्तोपनयनिगमनत्रयाभ्युपगमे, शास्त्र एवासौ तदभ्युपगमः कर्तव्यः न वादेऽनुपयोगात् । न खलु वादकाले शिष्या व्युत्पाद्यन्ते व्युत्पन्नप्रज्ञानामेव वादेऽधिकारात् । शास्त्रे चोदाहरणादौ व्युत्पन्नप्रज्ञा वादिनो वादकाले ये प्रतिवादिनो यथा प्रतिपद्यन्ते तान् तथैव प्रतिपादयितुं समर्था भवन्ति, प्रयोगपरिपाट्याः प्रतिपाद्यानुरोधतो जिनपतिमतानुसारिभिरभ्युपगमात् ।

तत्र तद्व्युत्पादनार्थं दृष्टान्तस्य स्वरूपं प्रकारं चोपदर्शयति—

दृष्टान्तो द्वेधाऽन्वयव्यतिरेकभेदात् ।।४७।।

हो जाती है अतः उनको दृष्टांतादि का कथन करना व्यर्थ है किन्तु अव्युत्पन्न प्रज्ञावाले पुरुषोंको व्युत्पन्न करानेके लिए दृष्टान्तादिक व्यर्थ नहीं होते ?

उपर्युक्त शंकाका समाधान करते हैं—

बालव्युत्पत्यर्थ तत् त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ।।४६।।

सूत्रार्थ—बाल बुद्धिवाले पुरुषोंके जानकारीके लिए दृष्टांत आदि तीनों अंगोंको स्वीकार किया जाता है किन्तु वह स्वीकृति शास्त्रके समय है वादके समय नहीं, वादमें दृष्टान्तादि तो अनुपयोगी है । यदि दृष्टांत उपनय और निगमनको स्वीकार करना है तो वह शास्त्र चर्चामें स्वीकार करना चाहिए । वाद कालमें नहीं । इसका कारण यह है कि वादकालमें शिष्योंको व्युत्पन्न नहीं बनाया जाता । वादका अधिकार तो व्युत्पन्न बुद्धिवालोंको ही है । शास्त्रमें उदाहरण आदि रहते हैं उसमें जो निपुण हो जाते हैं वे वादीगण वाद करते समय सामनेवाले प्रतिवादी पुरुष जिसप्रकारसे समझ सके उनको उसी प्रकारसे समझानेमें समर्थ हुआ करते हैं, उस समय जितने अनुमानांगसे प्रयोजन सधता है उतने अंगका प्रयोग किया जाता है, क्योंकि प्रयोग परिपाटी तो प्रतिपाद्यके अनुसार होती है ऐसा जिनेन्द्रमतका अनुसरण करनेवालोंने स्वीकार किया है ।

अब बाल बुद्धिको व्युत्पन्न करानेके लिए दृष्टांतका स्वरूप तथा प्रकार कहते हैं—

दृष्टांतो द्वेधा अन्वय व्यतिरेकभेदात् ।।४७।।

दृष्टौ हि विधिनिषेधरूपतया वादिप्रतिवादिभ्यामविप्रतिपत्त्या प्रतिपन्नोऽन्तः साध्यसाधनधर्मौ यत्रासौ दृष्टान्त इति व्युत्पत्तेः।

अथ कोऽन्वयदृष्टान्तः कश्च व्यतिरेकदृष्टांत इति चेत्—

साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोन्वयदृष्टान्तः ॥४८॥

यथाग्नौ साध्ये महानसादिः।

साध्याभावे साधनाभावः यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः ॥४९॥

यथा तस्मिन्नेव साध्ये महाह्रदादिः।

अथ को नाम उपनयो निगमनं वा किमित्याह—

हेतोरुपसंहार उपनयः ॥५०॥

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥५१॥

सूत्रार्थ—दृष्टांतके दो भेद हैं अन्वय दृष्टांत और व्यतिरेक दृष्टांत। वादी और प्रतिवादी द्वारा विना विवादके विधि प्रतिषेधरूपसे देखा गया है साध्य साधन धर्म जहां पर उसे "दृष्टान्त" कहते हैं इसप्रकार दृष्टान्त शब्दका व्युत्पत्ति अर्थ है दृष्टौ अन्तौ–साध्यसाधन–धर्मौ यस्मिन् स दृष्टान्तः। अन्वय दृष्टान्त कौन है और व्यतिरेक दृष्टान्त कौन है? इसप्रकार प्रश्न होने पर कहते हैं—

साध्य व्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वय दृष्टान्तः ॥४८॥

सूत्रार्थ—जहां पर साध्यसे व्याप्त साधनको दिखाया जाता है उसे अन्वय दृष्टान्त कहते हैं। जैसे अग्निको साध्य करने पर रसोई घर का दृष्टांत देते हैं।

साध्याभावे साधनाभावः यत्रकथ्यते स व्यतिरेक दृष्टान्तः ॥४९॥

सूत्रार्थ—जहांपर साध्यके अभावमें साधनका अभाव दिखलाया जाता है उसे व्यतिरेक दृष्टान्त कहते हैं। जैसे उसी अग्निरूप साध्य करनेमें महाह्रद (सरोवर) का दृष्टान्त दिया जाता है।

उपनय किसे कहते हैं और निगमन किसे कहते हैं सो बताते हैं—

हेतोरुपसंहार उपनयः ॥५०॥

प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ॥५१॥

प्रतिज्ञायास्तूपसंहारो निगमनम् । उपनयो हि साध्याविनाभावित्वेन विशिष्टे साध्यधर्मिण्युपनीयते । येनोपदर्श्यते हेतुः सोभिधीयते । निगमनं तु प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयाः साध्यलक्षणैकार्थतया निगम्यन्ते सम्बद्धयन्ते येन तदिति ।

तच्चानुमानं द्वयवयवं त्र्यवयवं पञ्चावयवं वा द्विप्रकारं भवतीति दर्शयन्—

तदनुमानं द्वेधा ॥५२॥

इत्याह ।

कुतस्तद् द्वेधेति चेत् ?

स्वार्थपरार्थभेदात् ॥५३॥

तत्र—

स्वार्थमुक्तलक्षणम् ॥५४॥

स्वार्थमनुमानं साधनात्साध्यविज्ञानमित्युक्तलक्षणम् ।

सूत्रार्थ—हेतुको दुहराना उपनय है और प्रतिज्ञाको दुहराना निगमन है । साध्यके साथ जिसका अविनाभाव है ऐसे हेतुका विशिष्ट साध्य धर्मीमें जिसके द्वारा प्रदर्शन किया जाता है उसको उपनय कहते हैं "उपनीयते हेतुः येन स उपनयः" इस प्रकार उपनय शब्दकी निरुक्ति है । प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय इनका साध्य लक्षणभूत एक है अर्थ जिसका इसप्रकार जिसके द्वारा संबद्ध किया जाता है उसे निगमन कहते हैं । "निगम्यते–संबद्धयंते प्रतिज्ञादयः येन तद् निगमनम्" इसतरह निगमन शब्दकी निरुक्ति है ।

इसप्रकार दो अवयव वाला या तीन अवयव वाला अथवा पांच अवयव वाला वह अनुमान दो प्रकारका होता है ऐसा दिखलाते हैं—

तदनुमानं द्वेधा ॥५२॥

स्वार्थपरार्थभेदात् ॥५३॥

स्वार्थमुक्त लक्षणम् ॥५४॥

सूत्रार्थ—वह अनुमान दो प्रकारका है, स्वार्थानुमान और परार्थानुमान साधनसे होनेवाले साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं ऐसा पहले बताया है वही स्वार्थानुमान कहलाता है । परार्थानुमान कौनसा है सो ही कहते हैं—

किं पुनः परार्थानुमानमित्याह परार्थमित्यादि—

परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ॥५५॥

तस्य स्वार्थानुमानस्यार्थः साध्यसाधने तत्परामर्शिवचनाज्जातं यत्साध्यविज्ञानं तत्परार्थानुमानम् ।

ननु वचनात्मकं परार्थानुमानं प्रसिद्धम्, तच्चोक्तप्रकारं साध्यविज्ञानं परार्थानुमानमिति वर्णयता कथं सङ्गृहीतमित्याह—

तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ॥५६॥

तद्वचनमपि तदर्थपरामर्शिवचनमपि तद्धेतुत्वात् ज्ञानलक्षणमुख्यानुमानहेतुत्वादुपचारेण परार्थानुमानमुच्यते । उपचारनिमित्तं चास्य प्रतिपादकप्रतिपाद्यापेक्षयानुमानकार्यकारणत्वम् ।

परार्थं तु तदर्थं परामर्शि वचनाज्जातम् ॥५५॥

सूत्रार्थ—स्वार्थानुमानके अर्थका परामर्श करनेवाले वचनसे जो उत्पन्न होता है उसे परार्थानुमान कहते हैं । स्वार्थानुमानके अर्थभूत साध्यसाधनको प्रकाशित करने वाले वचनको सुनकर जो साध्यका ज्ञान होता है वह परार्थानुमान है ।

शंका—परार्थानुमान वचनात्मक होता है, साध्यके ज्ञानको परार्थानुमान कहते हैं ऐसा वर्णन करते हुए उक्त वचनात्मक परार्थानुमान का संग्रह क्यों नहीं किया है ?

इस शंकाका समाधान करते हैं—

तद् वचनमपि तद्धेतुत्वात् ॥५६॥

सूत्रार्थ—स्वार्थानुमान का प्रतिपादक वचन भी कथंचित् परार्थानुमान कहलाता है, क्योंकि वह वचन परार्थानुमान ज्ञानमें कारण पड़ते हैं । साध्य साधनभूत अर्थके द्योतक वचन भी ज्ञान लक्षणभूत मुख्य अनुमानका निमित्त होनेके कारण उपचारसे परार्थानुमान कहलाता है । प्रतिपादक पुरुष और प्रतिपाद्य शिष्यादिकी अपेक्षासे इस अनुमानमें कार्य कारणभाव होनेसे यह उपचार निमित्तिक है । साध्यसाधन वचनका प्रतिपादन करने वाले पुरुषका ज्ञान लक्षणभूत अनुमान है कारण जिसका उसको कहते हैं "तद् वचन" । तथा प्रतिपाद्य शिष्यादि पुरुषके ज्ञान लक्षणरूप अनुमानका जो

तत्प्रतिपादकज्ञानलक्षणानुमान(नं)हेतुः कारणं यस्य तद्वचनस्य, तस्य वा प्रतिपाद्यज्ञानलक्षणानुमानस्य हेतुः कारणम्, तद्भावस्तद्धेतुत्वम्, तस्मादिति। मुख्यरूपतया तु ज्ञानमेव प्रमाणं परनिरपेक्षतयाऽर्थप्रकाशकत्वादिति प्राक्प्रतिपादितम्।

यथा चानुमानं द्विप्रकारं तथा हेतुरपि द्विप्रकारो भवतीति दर्शनार्थं स हेतुर्द्वेधेत्याह—

स हेतुर्द्वेधा उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात् इति ॥५७॥

कारण है उसे "तद्धेतुत्व" कहते हैं यह "तद् वचनं" और "तद्धेतुत्वात्" शब्दकी निरुक्ति है। इसका अर्थ यह है कि जिस पुरुषको धूम और अग्निरूप साध्य साधनका ज्ञान है वह कहीं पर्वतादिमें धूमको देखकर समीपस्थ पुरुषको कहता है कि "यहां पर अग्नि अवश्य है क्योंकि धूम दिखायी दे रहा है" इस साध्यसाधनके वचनको सुनकर उसके निमित्तसे उक्त पुरुषको जो साध्यसाधनका ज्ञान होता है वह वास्तविक परार्थानुमान है और उक्त ज्ञाता पुरुषके जो साध्यसाधनके वचन मात्र है वह औपचारिक परार्थानुमान है। परकी अपेक्षा बिना किये जो पदार्थोंको प्रकाशित करता है ऐसा ज्ञान ही मुख्यरूपसे प्रमाण है इसप्रकार पहले प्रतिपादन कर चुके हैं (प्रथम भागके कारकसाकल्यवाद सन्निकर्षवाद आदि प्रकरणोंमें) अतः वचनात्मक अनुमान उपचार मात्रसे परार्थानुमान कहला सकता है वास्तविकरूपसे नहीं ऐसा निश्चय हुआ।

भावार्थ—नैयायिक आदि परवादी साध्यसाधनको कहने वाले वचनको ही परार्थानुमान मानते हैं, उनके यहां सर्वत्र ज्ञानके कारणको ही प्रमाण माना जाता है जैसे इन्द्रिय और पदार्थका सन्निकर्ष अर्थात् योग्य समीप स्थानमें होना ज्ञानका कारण है सो इस सन्निकर्षको प्रमाण माना किन्तु पदार्थोंको जाननेकी सामर्थ्य तो ज्ञानमें है अतः ज्ञान ही प्रमाण है, बाध्यसन्निकर्षादि तो व्यभिचारी कारण है अर्थात् इससे ज्ञान हो नहीं भी हो, तथा दिव्य ज्ञानीके तो इन कारणोंके बिना ही ज्ञान उत्पन्न होता है अतः प्रमाण तो ज्ञान ही है, वचनको प्रमाण मानना, सन्निकर्षको प्रमाण मानना यह सब मान्यता सदोष है, इसका विवेचन प्रथम भागमें भली भांति हुआ है। इसप्रकार यह निश्चित हो जाता है, साध्यसाधनके वचन परार्थानुमानका निमित्त होनेसे उपचारसे उसे परार्थानुमान कह देते हैं, वह कोई वस्तुभूत अनुमान प्रमाण नहीं है। अस्तु।

अनुमानके समान हेतु भी दो प्रकारका होता है ऐसा कहते हैं—

स हेतु द्वेधा उपलब्ध्यनुपलब्धि भेदात् ॥५७॥

योऽविनाभावलक्षणलक्षितो हेतुः प्राक्प्रतिपादितः स द्वेधा भवति उपलब्ध्यनुपलब्धिभेदात्।

तत्रोपलब्धिर्विधिसाधिकैवानुपलब्धिश्च प्रतिषेधसाधिकैवेत्यनयोर्विषयनियममुपलब्धिरित्यादिना विघटयति—

उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥५८॥

अविनाभावनिमित्तो हि साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावः। यथा चोपलब्धेर्विधौ साध्येऽविनाभावाद्गमकत्वं तथा प्रतिषेधेपि। अनुपलब्धेश्च यथा प्रतिषेधे ततो गमकत्वं तथा विधावपीत्यग्रे स्वयमेवाचार्यो वक्ष्यति।

सा चोपलब्धिर्द्विप्रकारा भवत्यविरुद्धोपलब्धिर्विरुद्धोपलब्धिश्चेति—

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरभेदात् ॥५९॥

सूत्रार्थ—उपलब्धि हेतु और अनुपलब्धि हेतु इसतरह हेतुके दो भेद हैं। साध्यके साथ जिसका अविनाभाव है वह हेतु कहलाता है ऐसा पहले कहा है, उसके उपलब्धि हेतु और अनुपलब्धि हेतु इसतरह दो भेद हैं। उपलब्धि हेतु केवल विधि-साधक ही है, और अनुपलब्धि हेतु केवल प्रतिषेध साधक ही है ऐसा इन हेतुओंके विषयका नियम करनेवालेका मंतव्य विघटित करते हैं—

उपलब्धिर्विधि प्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ॥५८॥

सूत्रार्थ—उपलब्धि हेतु भी विधि तथा प्रतिषेध (अस्तित्व नास्तित्व या सद्भाव अभाव) का साधक है और अनुपलब्धि हेतु भी विधि तथा प्रतिषेधका साधक है। साध्य–साधनमें गम्य–गमकभाव अविनाभावके निमित्तसे होता है। जिसप्रकार विधिरूप साध्यमें अविनाभावके कारण उपलब्धि हेतु गमक होता है उसप्रकार प्रतिषेध-रूप साध्यमें भी अविनाभावके कारण उक्त उपलब्धि हेतु उस प्रतिषेधरूप साध्यका गमक होता है। तथा जिस प्रकार प्रतिषेधरूप साध्यमें अविनाभावके निमित्तसे अनुप-लब्धि हेतु गमक होता है उसप्रकार विधिरूप साध्यमें भी उसी निमित्तसे अनुपलब्धि हेतु गमक होता है। आगे स्वयं आचार्य इस विषयको कहेंगे। उपलब्धि दो प्रकारकी है अविरुद्धोपलब्धि और विरुद्धोपलब्धि। आगे अविरुद्धोपलब्धिके भेद बताते हैं—

अविरुद्धोपलब्धिर्विधौषोढा व्याप्य कार्य कारण पूर्वोत्तर सहचर भेदात् ॥५९॥

तत्र साध्येनाविरुद्धस्य व्याप्यादेरुपलब्धिर्विधौ साध्ये षोढा भवति व्याप्यकार्यकारणपूर्वोत्तर-सहचरभेदात् ।

ननु कार्यकारणभावस्य कुतश्चित्प्रमाणादप्रसिद्धेः कथं कार्यं कारणस्य तद्वा कार्यस्य गमकं स्यादित्यप्यास्तां तावद्विषयपरिच्छेदे सम्बन्धपरीक्षायां कार्यकारणतादिसम्बन्धस्य प्रसाधयिष्य-माणत्वात् ।

ननु प्रसिद्धेऽपि कार्यकारणभावे कार्यमेव कारणस्य गमकं तस्यैव तेनाविनाभावात्, न पुनः कारणं कार्यस्य तदभावात्; इत्यसङ्गतम्; कार्याविनाभावितयाऽवधारितस्यानुमानकालप्राप्तस्य छत्रा-देर्विशिष्टकारणस्य छायादिकार्यानुमापकत्वेन सुप्रसिद्धत्वात् । न ह्यनुकूलमात्रमन्त्यक्षणप्राप्तं वा कारणं

सूत्रार्थ—विधिरूप साध्यके रहने पर अविरुद्ध उपलब्धिरूप हेतुके छह भेद होते हैं व्याप्यअविरुद्धोपलब्धिहेतु, कार्यअविरुद्धउपलब्धिहेतु, कारणअविरुद्धउपलब्धिहेतु, पूर्वचरअविरुद्धउपलब्धिहेतु, उत्तरचरअविरुद्ध उपलब्धि हेतु, सहचर अविरुद्ध उपलब्धि हेतु । साध्यके साथ जो अविरुद्धपने से उपलब्ध हो ऐसे हेतुके विधिरूप साध्यके रहने पर ये छह भेद संभावित हैं ।

बौद्ध—किसी प्रमाणसे कार्य कारणभाव सिद्ध नहीं होता अतः कार्य हेतु कारणरूप साध्यका गमक या कारण हेतु कार्यरूप साध्यका गमक किस प्रकार हो सकता है ?

जैन—इस मंतव्यको अभी ऐसे ही रहने दीजिये आगे प्रमाणके विषयका वर्णन करनेवाले परिच्छेदमें संबंधकी परीक्षा करते हुए कार्यकारण आदि संबंधको भले प्रकारसे सिद्ध करने वाले हैं ।

बौद्ध—कार्यकारण भाव सिद्ध हो जाय तो भी केवल कार्य ही कारणका गमक बन सकता है क्योंकि कार्य कारणके साथ अविनाभावी है, किन्तु कारण, कार्यके साथ अविनाभावी नहीं होनेसे उसका गमक नहीं बन सकता ?

जैन—यह असंगत है, जिस कारणका कार्याविनाभाव सुनिश्चित है ऐसे अनुमानकालमें उपस्थित हुए छत्रादि विशिष्ट कारण, छायाआदिरूप कार्यके अनुमापक हो रहे प्रसिद्ध ही है । हम जैन अनुकूलतारूप कारणमात्र को कारण हेतु नहीं मानते, न अंत्यक्षण प्राप्त कारणको कारण हेतु मानते हैं जिससे कि अविनाभावित्वकी

लिंगमुच्यते, येन प्रतिबन्धवैकल्यसम्भवाद्वयभिचारि स्यात्, द्वितीयक्षणे कार्यस्य प्रत्यक्षीकरणादनुमानानर्थक्यं वा। तदेव समर्थयमानो रसादेकसामग्रयनुमानेनेत्याद्याह—

रसादेकसामग्रयनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ॥६०॥

आस्वाद्यमानाद्धि रसात्तज्जनिका सामग्रयनुमीयते। पश्चात्तदनुमानेन रूपानुमानम्। सजातीयं हि रूपक्षणान्तरं जनयन्नेव प्राक्तनो रूपक्षणो विजातीयरसादिक्षणान्तरोत्पत्तौ प्रभुर्भवेन्नान्यथा। तथा चैकसामग्रयनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारणं हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये भवतः।

अथ पूर्वोत्तरचारिणोः प्रतिपादितहेतुभ्योर्थान्तरत्वसमर्थनार्थमाह—

विकलता संभावित रहनेसे व्यभिचार दोष आवे। अथवा कारणके द्वितीय क्षणमें अर्थात् उत्तरकालमें कार्यका साक्षात्कार हो जानेसे कारणानुमान व्यर्थ हो जानेका प्रसंग आ सके! आगे इसी विषयको कहते हैं—

रसादेक सामग्रचनुमानेन रूपानुमान मिच्छद्भिरिष्टमेव किंचित्कारणं—
हेतु र्यत्र सामर्थ्याप्रतिबंधकारणांतरा वैकल्ये ॥६०॥

सूत्रार्थ—रससे सामग्रीका अनुमान और उस अनुमानसे रूपका अनुमान होना स्वीकार करनेवाले बौद्धोंको कारण हेतुको अवश्य मानना होगा जिसमें कि सामर्थ्यका प्रतिबंध नहीं हुआ हो एवं कारणांतरोंकी अविकलता (पूर्णता) हो। अर्थात् बौद्धोंका मंतव्य है कि आस्वादन किये गये रससे उस रसको उत्पन्न करनेवाली सामग्रीका अनुमान लग जाता है, पश्चात् उस अनुमानसे रूपका अनुमान होता है। इसका कारण यह है कि पहलेका रूपक्षण सजातीय अन्य रूपक्षणको उत्पन्न करके ही विजातीय रसादि क्षणांतरकी उत्पत्ति करानेमें समर्थ सहायक हो सकता अन्यथा नहीं। इसप्रकार एक सामग्रीभूत अनुमान द्वारा रूपानुमानका प्रादुर्भाव माननेवाले बौद्धोंका जहांपर सामर्थ्यकी रुकावट और अन्य कारणोंकी अपूर्णता न हो उस कारणको कारणहेतुरूपसे स्वीकार करना इष्ट ही है।

इसप्रकार बौद्धके मान्य तीन हेतुओंमें (कार्य-स्वभाव और अनुपलब्धि) कारणरूप हेतुका समावेश नही होनेसे उनके हेतुकी संख्या गलत सिद्ध होती है। तथा

न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा कालव्यवधाने तदनुपलब्धेः ।।६१।।

प्रयोग:—यद्यत्काले अनन्तरं वा नास्ति न तस्य तेन तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा यथा भविष्यच्छङ्खचक्रवर्त्तिकाले असतो रावणादेः, नास्ति च शकटोदयादिकाले अनन्तरं वा कृत्तिकोदयादिकमिति । तादात्म्यं हि समसमयस्यैव कृतकत्वानित्यत्वादेः प्रतिपन्नम् । अग्निधूमादेश्चान्योन्यमव्यवहितस्यैव तदुत्पत्तिः, न पुनर्व्यवहितकालस्य अतिप्रसङ्गात् ।

पूर्वचर और उत्तरचर हेतु भी उक्त हेतुओंसे पृथकरूप सिद्ध होते हैं ऐसा आगेके सूत्रमें कह रहे—

न च पूर्वोत्तरचारिणोस्तादात्म्यं तदुत्पत्ति र्वा कालव्यवधानेतदनुपलब्धेः ।।६१।।

सूत्रार्थ—पूर्वचर हेतु और उत्तर हेतु तादात्म्य तथा तदुत्पत्तिरूप तो हो नहीं सकते क्योंकि इनमें कालका व्यवधान पड़ता है अतः इन हेतुओंका स्वभाव हेतु या कार्य हेतुमें अन्तर्भाव करना अशक्य है । काल व्यवधानमें तो तादात्म्य और तदुत्पत्ति की अनुपलब्धि ही रहेगी । जो जिसकालमें या अनंतरमें नहीं है उसका उसके साथ तादात्म्य तदुत्पत्तिरूप संबंध नहीं पाया जाता है, जैसे आगामीकालमें होनेवाले शंख नामा चक्रवर्तीके समयमें असद्भूत रावणादिका तादात्म्य या तदुत्पत्तिरूप संबंध नहीं पाया जाता । रोहिणी नक्षत्रके उदयकालमें अथवा अनंतर कृतिका नक्षत्रका उदय नहीं पाया जाता अतः उन नक्षत्रोंका तादात्म्यादि संबंध नहीं होता । जो समान समयवर्ती होते हैं ऐसे कृतकत्व और नित्यत्वादिका ही तादात्म्य संबंध हो सकता है । तथा अग्नि और धूम आदिके समान जो परस्परमें अव्यवहित रहते हैं उनमें ही तदुत्पत्ति संबंध होना संभव है, काल व्यवधानभूत पदार्थोंमें नहीं । ऐसा नहीं मानेंगे तो अतिप्रसंग होगा । अर्थात् अतीत और अनागतवर्त्ती में भी तादात्म्यादि माननेका अनिष्ट प्रसंग प्राप्त होगा ।

बौद्ध – प्रज्ञाकर गुप्त नामा ग्रंथकार का मंतव्य है कि भावी रोहिणी का उदय कृतिकोदयका कार्य है अतः कृतिकोदयका गमक होता है, इसलिए इस रोहिणी उदयका कार्य हेतुमें अंतर्भाव कैसे नहीं होगा ? अर्थात् इसका अंतर्भाव कार्य हेतुमें होना चाहिए ।

ननु प्रज्ञाकराभिप्रायेण भाविरोहिण्युदयकार्यतया कृत्तिकोदयस्य गमकत्वात्कथं कार्यहेतौ नास्यान्तर्भाव इति चेत् ? कथमेवमभूद्भरण्युदयः कृत्तिकोदयादित्यनुमानम् ? अथ भरण्युदयोपि कृत्तिकोदयस्य कारणं तेनायमदोषः; ननु येन स्वभावेन भरण्युदयात्कृत्तिकोदयस्तेनैव यदि शकटोदयात्;

जैन—तो फिर "भरणीका उदय एक मुहूर्त्त पहले हो चुका क्योंकि कृतिका का उदय हो रहा है" इस अनुमानकी किस प्रकार प्रवृत्ति होगी ? अर्थात् इस हेतुका किसमें अंतर्भाव करेंगे ?

बौद्ध—भरणीका उदयभी कृतिकोदयका कारण है अतः उक्त अनुमान प्रवृत्त नहीं होना आदि दोष नहीं आयेगा।

जैन–जिस स्वभाव द्वारा भरणी उदयसे कृतिकोदय हुआ उसी स्वभाव द्वारा रोहिणी उदयसे कृतिकोदय हुआ है क्या ? यदि हां तो भरणी उदयके बाद जैसे कृतिका उदय होता है वैसे रोहिणी उदयके बाद भी कृतिका उदय होना चाहिए ? तथा जिस प्रकार रोहिणी उदयके पहले कृतिका का उदय होता है उस प्रकार भरणी उदयके पहले भी कृतिका उदय होना चाहिए था ? तथा इसप्रकार अतीत और अनागत कारणोंका एक कार्यमें व्यापार होना स्वीकार करते हैं तो आस्वाद्यमान रसका अतीत रस और भावीरूप दोनों ही कारण हो सकते हैं ? (क्योंकि अतीत और अनागत कारणोंका एकत्र कार्यमें व्यापार होना स्वीकार कर लिया) फिर वर्त्तमानरूप की अथवा अतीतरूपकी प्रतीति संभावित नहीं रहेगी। अभिप्राय यह है कि वर्त्तमान कार्यमें अनागत हेतु होता है तो उसका अवबोध किस प्रकार होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता। अतीतकाल और एक काल अर्थात् वर्त्तमानकाल है जिनका उन पदार्थोंका बोध होता है (कारणहेतुसे) न कि अनागतोंका। ऐसा बौद्ध अभिमत प्रमाणवार्त्तिक ग्रंथमें कहा है यह भी उक्त कथनसे अयुक्त हो जाता है।

बौद्ध– कृतिकोदयरूप हेतु भरणी उदय और रोहिणी उदयमें से किसी एकका कार्य है ?

जैन–तो उससे भरणी उदय और रोहिणी उदयमें से किसी एकको ही प्रतीति होगी।

तदा भरण्युदयादिनाऽतोपि पश्चादसौ स्यात्। यथा च शकटोदयात्प्राक्तथैव भरण्युदयादपि। यदि चातीतानागतयोरेकत्र कार्ये व्यापारः; तर्ह्यास्वाद्यमानरसस्यातीतो रसो भावि च रूपं हेतुः स्यात्। ततो न वर्त्तमानस्य रूपस्य वातीतस्य वा प्रतीतिः। इत्ययुक्तमुक्तम्-"अतीतैककालानां गतिर्नाऽनागतानाम्" [प्रमाणवा० स्ववृ० १।१३] इति। अथान्यतरकार्यमसौ; तर्ह्यन्यतरस्यैवातः प्रतीतिर्भवेत्।

ननु स्वसत्तासमवायात्पूर्वमसन्तोपि मरणादयोऽरिष्टादिकार्यकारिणो दृष्टास्ततोऽनेकान्तो हेतोरित्याशङ्क्य भाव्यतीतयोरित्यादिना प्रतिविधत्ते—

भावार्थ—बौद्ध पूर्वचर उत्तरचर आदि हेतुको नहीं मानते अतः प्रश्न होता है कि कृतिकोदय आदिरूप पूर्वचर आदि हेतुओंका अंतर्भाव किस हेतुमें किया जाय? उनके यहां तीन हेतु माने हैं-कार्य हेतु, स्वभाव हेतु और अनुपलब्धि हेतु। तादात्म्य संबंधवाले पदार्थमें स्वभाव हेतु प्रवृत्त होता है एवं अनुपलब्धि हेतु अभावरूप होता है अतः इनमें पूर्वचरादि हेतु अंतर्भूत नहीं हो सकते, कार्य हेतुमें अंतर्भाव करना चाहे तो वह भी असंभव है क्योंकि कृतिका नक्षत्रका उदय भरणी और रोहिणीके अंतराल काल में होता हैं अर्थात् भरणी उदयके अनन्तर और रोहिणीके पहले होता है अतः यह भरणी उदयका तो उत्तरचर हेतु है, अर्थात् कृतिकाका उदय हुआ देखकर भरणी उदयका निश्चय हो जाता है। तथा कृतिकोदयके एक मुहूर्त्त पश्चात् रोहिणीका उदय होता है अतः उसके लिये यह कृतिकोदय पूर्वचर हेतु होता है, इसप्रकार कृतिकोदय भरणी उदय आदिसे काल व्यवधानको लिए हुए है, जिनमें कालका व्यवधान पड़ता है उन पदार्थोंमें कार्य कारणभाव नहीं माना जाता। फिर भी बौद्धकी मान्यता है कि कृतिकोदय हेतुका कार्य हेतुमें ही अंतर्भाव करना चाहिए, इस मान्यतापर विचार करते हैं-कृतिकोदय एक कार्य है ऐसा मानकर उसमें अतीत भरणी उदय और अनागत रोहिणी उदय कारण पड़ते हैं ऐसा स्वीकार करते हैं तो पहली बाधा तो यह आती है कि जिसका कारण अभी आगे होनेवाला है उसकी प्रतीति नहीं हो सकेगी क्योंकि कारण ही नहीं तो उसका कार्य किसप्रकार दृष्टिगोचर होवे? दूसरी बाधा यह होगी कि स्वयं बौद्ध ग्रंथमें लिखा है कि—"अतीतैक कालानां गतिर्नागतानाम्" अतीत और वर्त्तमानवर्त्ती रूपादि साध्य की ही कार्य हेतु द्वारा अवगति (ज्ञान) होती है, अनागत साध्यकी नहीं। अतः कृतिकोदयरूप पूर्वचर आदि हेतुओंका कार्यहेतुमें अंतर्भाव करना कथमपि सिद्ध नहीं होता।

भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ।।६२।।

तद्व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ।।६३।।

न च पूर्वमेवोत्पन्नमरिष्टं करतलरेखादिकं वा भाविनो मरणस्य राज्यादेर्व्यापारमपेक्षते, स्वयमुत्पन्नस्यापरापेक्षायोगात् । अथास्योत्पत्तिर्मरणादिनैव क्रियते; न; असतः खरविषाणवत्कर्तृत्वायोगात् । कार्यकालेऽसत्त्वेपि स्वकाले सत्त्वाददोषश्चेत्; ननु किं भाविनो मरणादेः स्वकाले पूर्वं सत्त्वम्,

---

शंका—स्वसत्ताका समवाय होनेके पहले मरणादिक असद्भूत होते हुए भी अरिष्ट आदि कार्यको करते हुए देखे गये हैं अर्थात् मरण भावीकालमें स्थित है और उसका अरिष्टरूप कार्य पहले होता है अतः कारण हेतु पहले ही होता है ऐसा कारण हेतुका लक्षण व्यभिचरित होता है ?

समाधान—इसी आशंकाका अग्रिम सूत्र द्वारा निरसन करते हैं—

भाव्यतीतयोर्मरण जाग्रद् बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौप्रतिहेतुत्वम् ।।६२।।

तद् व्यापाराश्रितं हि तद्भावभावित्वम् ।।६३।।

सूत्रार्थ—भावी मरणका अरिष्टके प्रति हेतुपना नहीं है, तथा अतीत जाग्रद् बोधका (निद्रा लेनेके पहलेका जाग्रत अवस्थाके ज्ञानका) उद्बोधके (निद्रा के अनन्तर होने वाले ज्ञानके) प्रति हेतुपना नहीं है, अर्थात् भावीकालमें होनेवाला मरण वर्त्तमानके अरिष्टका कारण नहीं हो सकता एवं अतीतकालका जाग्रद ज्ञान आगामी अनेक समयोंके अंतरालमें होनेवाले उद्बोधका (सुप्तदशाके अनन्तरका ज्ञान) कारण नहीं हो सकता, क्योंकि कारणभावका होना कारणके व्यापारके आश्रित है पहलेसे ही उत्पन्न हुए अरिष्ट आदि अथवा हस्तरेखादिक आगामी कालके मरण या राज्यप्राप्ति आदिके व्यापारकी अपेक्षा नहीं रखते हैं, क्योंकि "जो स्वयं उत्पन्न हो चुका है उसको अन्यकी अपेक्षा नहीं होती" ऐसा न्याय है ।

बौद्ध—अरिष्टादिकी उत्पत्ति भावी मरणादि द्वारा ही की जाती है ?

जैन—नहीं, खर विषाणके समान जो असत् है उसमें कार्यके कर्तृत्वका अयोग है ।

अरिष्टादेर्वा। भाविनः पूर्वं सत्त्वे ततः पश्चादरिष्टादिकमुपजायमानं पाश्चात्यं न पूर्वम्। इत्ययुक्तमुक्तम्–'पूर्वमसन्तोपि मरणादयोऽरिष्टादिकार्यकारिणः' इति। अथान्यभाविमरणाद्यपेक्षयारिष्टादिकं पूर्वमुच्यते; ननु तदपि सत् स्वकाले यदि ततः प्रागेव स्यात्; तर्हि पाश्चात्यमरिष्टादिकं कथं ततः पूर्वमुच्यते? अन्यभाविमरणाद्यपेक्षया चेदनवस्था।

अथ पूर्वमरिष्टादिकं स्वकाले पश्चाद्भाविमरणादिकं स्वकालनियतं भवेत्; तर्हि निष्पन्नस्य निराकाङ्क्षस्यास्य पश्चादुपजायमानेन मरणादिना कथं करणं कृतस्य करणायोगात्? अन्यथा न

बौद्ध—कार्यके कालमें भले असत्व हो किन्तु स्वकालमें सत्त्व होनेसे कोई दोष नहीं आता, अर्थात् मरणादिका भावीकालमें सत्त्व होता ही है अतः वह अरिष्टादि का कारण हो सकता है ?

जैन—स्वकालमें होनेवाले भावी मरणादिका पहले सत्व था या अरिष्टादिका पहले सत्त्व था ? भावी मरणका पहले सत्त्व था पीछे उससे अरिष्टादि उत्पन्न हुए ऐसा कहो तो अरिष्टादिको पाश्चात्यपना ठहरा न कि पूर्वपना ? इस तरह तो पूर्वोक्त कथन अयुक्तसिद्ध होता है कि "पूर्वमें असत् होकर भी मरणादिक अरिष्टादिको करते हैं"।

बौद्ध—अन्यके भावी मरणादिकी अपेक्षासे अरिष्टको पहले हुआ ऐसा कहा जाता है।

जैन—वह अन्यका भावी मरण भी स्वकालमें पहले सत्त्वरूप था तो अरिष्टादिको पाश्चात्यपना ही ठहरता है, फिर उसको मरणके पहले हुआ ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं ? अन्यके भावी मरणकी अपेक्षासे कहो तो अनवस्थादोष स्पष्ट दिखायी देता है।

स्वकालमें होनेवाले अरिष्टादिका पहले सत्त्व या भावी मरणादिक तो पीछे स्वकालमें होते हैं ऐसा दूसरा विकल्प स्वीकार करे तो जो निष्पन्न हो चुका है एवं किसी की अपेक्षा नहीं करता है ऐसे इस अरिष्टको पश्चात् उत्पन्न होनेवाले मरणादिके द्वारा किसप्रकार किया जाय ? किये हुएको तो किया नहीं जाता, अन्यथा किसीभी कार्यमें किसी भी कारणका कभी भी उपरम नहीं होगा अर्थात् कारण हमेशा उस एक कार्यको करता ही जायगा, क्योंकि पुनः पुनः उसी उसीको करना मान लिया।

क्वचित्कार्ये कस्यचित्कारणस्य कदाचिदुपरमः स्यात्, पुनःपुनस्तस्यैव करणात् । अथ निष्पन्नस्याप्य-निष्पन्नं किञ्चिद्रूपमस्ति तत्करणात्तत्तत्कारणं कल्प्यते, तत्ततो यद्यभिन्नम्; तदेव तत्तस्य च न करण-मित्युक्तम् । भिन्नं चेत्; तदेव तेन क्रियते नारिष्टादिकमित्यायातम् । तत्सम्बन्धिनस्तस्य करणात्तदपि कृतमिति चेत्; भिन्नयोः कार्यकारणभावान्नान्यः सम्बन्धः, स्वयं सौगतैस्तथाऽभ्युपगमात् । तत्र चारिष्टा-दिना तत्क्रियेत, तेन वारिष्टादिकम् ? प्रथमपक्षेऽरिष्टादेरेव तन्निष्पत्तेर्मरणादिकमकिञ्चित्करमेव क्वचि-

---

बौद्ध— निष्पन्न वस्तुका स्वरूप भी कुछ अनिष्पन्न रहता है उसको पुनः किया जाता है अतः वह उसका कारण माना जाता है, अर्थात् अरिष्ट आदि निष्पन्न होते हुए भी उसका कुछ रूप अनिष्पन्न रहता है और उसको भावी मरण करता है ?

जैन—निष्पन्न अरिष्टका जो स्वरूप अनिष्पन्न है वह यदि अरिष्टसे अभिन्न है तो निष्पन्न अरिष्टरूप ही है और उसको तो करना नहीं है। यदि अनिष्पन्न स्वरूप अरिष्टसे भिन्न है तो उसीको मरणादिने किया अरिष्टको नहीं किया ऐसा अर्थ हुआ।

बौद्ध—अरिष्टका अनिष्पन्न स्वरूप अरिष्टसे सम्बद्ध रहता है अतः उसको करनेसे अरिष्टको भी किया ऐसा माना जाता है ?

जैन—अरिष्ट और उसका अनिष्पन्न स्वरूप ये दोनों भिन्न होनेसे इनमें कार्यकारण भावसे अन्य कोई संबंध बन नहीं सकता, स्वयं बौद्धने ऐसा स्वीकार किया है। अब प्रश्न होता है कि यदि अरिष्ट और उसके अनिष्पन्न स्वरूपमें कार्यकारणभाव सम्बन्ध है तो उनमेंसे किसके द्वारा किसको किया जाता है, अरिष्ट द्वारा अनिष्पन्न स्वरूपको किया जाना है या अनिष्पन्न स्वरूप द्वारा अरिष्टको किया जाता है ? प्रथम पक्षमें माने तो अरिष्टसे अनिष्पन्न स्वरूप बन जानेसे मरणादिक अकिंचित्कर ठहरते हैं, क्योंकि किसी कार्यमें भी वे उपयोगी नहीं हैं। अनिष्पन्न स्वरूप द्वारा अरिष्टको किया जाता है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो अरिष्ट पहलेसे ही निर्मित है अतः पीछेसे उत्पन्न होनेवाले अनिष्पन्न स्वरूप द्वारा उसको क्या करना शेष है ? कुछ भी नहीं, किये हुएको पुनः पुनः करना व्यर्थ है ऐसा पहले ही निर्णय हो चुका है। यदि कहा जाय कि अरिष्ट पहलेसे निर्मित रहते हुए भी उसका कुछ स्वरूप अनिष्पन्न रहता है और उसको किया जाता है तो यह वही पहलेकी चर्चा है इसमें तो अनवस्था दोष आना स्पष्ट ही है।

दप्यनुपयोगात् । तेनारिष्टादिकरणे पूर्वनिष्पन्नस्य पश्चादुपजायमानेन तेन किं क्रियत इत्युक्तम् । अथाऽनिष्पन्नं किञ्चिदस्ति; तत्रापि पूर्ववच्चर्चानवस्था च ।

ननु यद्यत्र कार्यकारणभावो न स्यात्कथं तर्हि एकदर्शनादन्यानुमानमिति चेत्; 'अविनाभावात्' इति ब्रूमः । तादात्म्यतदुत्पत्तिलक्षणप्रतिबन्धेप्यविनाभावादेव गमकत्वम् । तदभावे वक्तृत्वतत्पुत्रत्वादेस्तादात्म्यतदुत्पत्तिप्रतिबन्धे सत्यपि असर्वज्ञत्वे श्यामत्वे च साध्ये गमकत्वाप्रतीतेः । तदभावेपि चाविनाभावप्रसादात् कृत्तिकोदय-चन्द्रोदय-उद्गृहीताण्डकपिपीलिकोत्सर्पणएकाम्रफलोपलभ्यमानमधुररसस्वरूपाणां हेतूनां यथाक्रमं शकटोदय-समानसमयसमुद्रवृद्धि-भाविवृष्टि-समसमयसिन्दूरारुणरूपस्वभावेषु साध्येषु गमकत्वप्रतीतेश्च । तदुक्तम्—

बौद्ध—अरिष्ट और भावी मरणमें यदि कार्यकारण भाव न माने तो उनमेंसे एकको देखनेसे दूसरेका अनुमान किस प्रकार हो जाता है ?

जैन—अविनाभाव होनेसे एकको देखकर दूसरेका अनुमान होता है । जहां पर तादात्म्य या तदुत्पत्ति लक्षण वाले संबंध होते हैं उनमें भी अविनाभावके कारण ही परस्परका गमकपना सिद्ध होता है । अविनाभावके नहीं होनेसे ही वक्तृत्व तत्पुत्रत्व आदि हेतु तादात्म्य और तदुत्पत्तिके रहते हुए भी असर्वज्ञत्व और श्यामत्व रूप साध्यके गमक नहीं हो पाते । और तादात्म्य तथा तदुत्पत्ति नहीं होने पर भी केवल अविनाभावके प्रसादसे कृतिकोदय हेतु, चन्द्रोदय हेतु तथा उद्गृहीत-अंडक पिपीलिका उत्सर्पण-अर्थात् अंडेको लेकर चींटियोंका निकलना रूप हेतु, एक आम्रफल में उपलब्ध हुआ मधुररस स्वरूप हेतु, इतने सारे हेतु यथाक्रमसे अपने अपने साध्यभूत रोहिणी उदय, समान समयकी समुद्र वृद्धि, भावी वर्षा, समान समयका सिंदूरवत् लालवर्ण को सिद्ध करते हुए प्रतीतिमें आते है ।

भावार्थ—एक मुहूर्तके अनंतर रोहिणी नक्षत्रका उदय होगा क्योंकि कृतिका नक्षत्रका उदय हो रहा है । इस अनुमानके कृतिकोदय हेतुमें साध्यके साथ तादात्म्य और तदुत्पत्ति संबंध नहीं है फिर भी यह स्वसाध्यभूत रोहिणी उदयका गमक अवश्य है, इसीप्रकार समुद्रकी वृद्धि अभी जरूर हो रही क्योंकि चन्दमाका उदय हुआ है, वर्षा होनेवाली है क्योंकि चींटियां अंडे लेकर निकल रही है इत्यादि तथा सिंदूरके समान लाल रंग वाले एक आमको पहले किसीने खाया था पीछे प्रकाश रहित स्थान पर किसी आमको खाया तो उसके मधुर रससे अनुमान प्रवृत्त होता है कि यह आम सिंदूर वर्णी है क्योंकि मधुर रसवाला है, इन अनुमानोंके हेतु तादात्म्य तदुत्पत्तिसे

"कार्यकारणभावादिसम्बन्धानां द्वयी गतिः।
नियमानियमाभ्यां स्यादनियमादनङ्गता ॥१॥
सर्वेप्यनियमा ह्येते नानुमोत्पत्तिकारणम्।
नियमात्केवलादेव न किञ्चिन्नानुमीयते ॥२॥" [ ]

ततः शरीरनिर्वर्त्तकाऽदृष्टादिकारणकलापादरिष्टकरतलरेखादयो निष्पन्नाः भाविनो मरणराज्यादेरनुमापका इति प्रतिपत्तव्यम्।

जाग्रद्बोधस्तु प्रबोधबोधस्य हेतुरित्येतत्प्रागेव प्रतिविहितम्, स्वापाद्यवस्थायामपि ज्ञानस्य प्रसाधितत्वात्। ततो भाव्यतीतयोर्मरणजाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम्, येनाभ्यामनैकान्तिको हेतुः स्यादिति स्थितम्।

रहित होकर भी केवल स्वसाध्यके अविनाभावी होनेके कारण गमक–स्व स्व साध्यको सिद्ध करने वाले होते हैं। अतः अविनाभावके निमित्तमे हेतुका गमकपना निश्चित होता है।

जैसा कि कहा है—कार्यकारणभाव आदि संबंधोंकी दो गति हैं अर्थात् दो प्रकार है एक नियमरूप संबंध (अविनाभाव) और एक अनियमरूप संबंध, यदि हेतुमें अनियमत्व है तो वह अनुमानका कारण नहीं हो सकता ॥१॥ वक्तृत्वादि उक्त सभी हेतु अनियमरूप हैं अतः अनुमानके उत्पत्तिमें कारण नहीं हैं, तथा केवल अविनाभावरूप नियमवाले हेतुसे ऐसा कोई साध्य नही है कि जो अनुमानित नहीं होता हो। अर्थात् मात्र नियमरूप हेतुसे अनुमानकी उत्पत्ति अवश्य होती है किन्तु नियम रहित हेतु चाहे तादात्म्यादि से युक्त हो तो भी उससे अनुमान प्रादुर्भूत नहीं होता ॥२॥

इसलिये निश्चय होता है कि अरिष्ट करतल रेखा आदि, शरीरकी रचना करनेवाले अदृष्ट-कर्म आदि कारण समूहसे उत्पन्न होते हैं और वे भावी मरण और राज्यादिके अनुमापक (अनुमान करनेवाले) होते हैं।

जाग्रद्बोध प्रबोध अवस्थाके बोधका हेतु होता है ऐसे मंतव्यका निराकरण तो पहले ही (मोक्षविचार नामा प्रकरणमें) कर दिया है, वहांपर निद्रादि अवस्थामें ज्ञानका सद्भाव होता है ऐसा सिद्ध हो चुका है, अतः "निद्रा लेनेके पहले ज्ञान प्रातः कालके जागकर उठनेके अनंतर होनेवाले ज्ञानका हेतु होता है अंतराल कालमें ज्ञानका अभाव रहता है इसलिये काल व्यवधान वाले पदार्थोंमें भी कार्यकारणभाव है" इत्यादि

यथा च पूर्वोत्तरचारिणोर्न तादात्म्यं तदुत्पत्तिर्वा तथा—

सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ॥६४॥

ययोः परस्परपरिहारेणावस्थानं न तयोस्तादात्म्यम् यथा घटपटयोः, परस्परपरिहारेणावस्थानं च सहचारिणोरिति। एककालत्वाच्चानयोर्न तदुत्पत्तिः। ययोरेककालत्वं न तयोस्तदुत्पत्तिः यथा सव्येतरगोविषाणयोः, एककालत्वं च सहचारिणोरिति।

न चास्वाद्यमानाद्रसात्सामग्र्यनुमानं ततो रूपानुमानमनुमितानुमानादित्यभिधातव्यम्; तथा व्यवहाराभावात्। न हि आस्वाद्यमानाद्रसाद् व्यवहारी सामग्रीमनुमिनोति, रससमसमयस्य रूप-

---

कथन असत्य सिद्ध होता है। इसप्रकार "भावी मरण और अतीत जाग्रद् बोध क्रमशः अरिष्ट तथा उद्बोधके हेतु होनेसे जैनका कारण हेतुका लक्षण अनेकांतिक होता है" ऐसा बौद्धका प्रतिपादन खंडित होगया।

जैसे पूर्वचर और उत्तरचर हेतुमें तादात्म्य तदुत्पत्ति संबंध नहीं होता वैसे—

सहचारिणोरपि परस्पर परिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ॥६४॥

सूत्रार्थ—सहचरभूत साध्यसाधनोंमें भी तादात्म्य और तदुत्पत्ति संबंध नहीं हो सकता क्योंकि ये परस्परका परिहार करके अवस्थित रहते हैं तथा युगपत् प्रादुर्भूत होते हैं। जिन दो पदार्थोंका परस्पर परिहार करके अवस्थान होता है उनमें तादात्म्य नहीं होता, जैसे घट और पट में तादात्म्य नहीं है, सहचारि पदार्थभी परस्पर परिहार करके अवस्थित हैं अतः इनमें तादात्म्य नहीं हो सकता। तथा सहचारी पदार्थोंमें एक काल भाव होनेसे तदुत्पत्ति संबंध (उससे उत्पन्न होना रूप कार्यकारण संबंध) भी असंभव है। जिनमें एक कालत्व होता है उनमें तदुत्पत्ति संबंध नहीं होता जैसे गायके दायें बायें सींगमें नहीं होता, सहचारी साध्यसाधनमें एक कालत्व है अतः तदुत्पत्ति नहीं हो सकती।

बौद्धका जो यह कहना है कि आस्वादनमें आ रहे रससे सामग्रीका अनुमान होता है और उस सामग्रीके अनुमानसे रूपका अनुमान होता है अतः रूपानुमान अनुमितानुमान कहलाता है, सो वह असत् है क्योंकि उस प्रकारका व्यवहार देखनेमें नहीं आता। व्यवहारी जन आस्वाद्यमानरससे सामग्रीका अनुमान नहीं करते अपितु रसके समकालमें होनेवाले रूपका इसके द्वारा अनुमान होता है। आप भी व्यवहारके

स्यानेनानुमानात् । व्यवहारेण च प्रमाणचिन्ता भवता प्रतन्यते । "प्रामाण्यं व्यवहारेण" [प्रमाणवा० २।५] इत्यभिधानात् । सामग्रीतो रूपानुमाने च कारणात्कार्यानुमानप्रसङ्गाल्लिङ्गसंख्याव्याघातः स्यात् ।

तानेव व्याप्यादिहेतून् बालव्युत्पत्त्यर्थमुदाहरणद्वारेण स्फुटयति । तत्र व्याप्यो हेतुर्यथा—

परिणामी शब्दः, कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टः यथा घटः, कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामीति । यस्तु न परिणामी स न कृतकः यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चायम्, तस्मात् परिणामीति ॥६५॥

'दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेकभेदात्' इत्युक्तम् । तत्रान्वयदृष्टान्तं प्रतिपाद्य व्यतिरेकदृष्टांतं प्रतिपादयन्नाह—यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टः यथा वन्ध्यास्तनन्धयः, कृतकश्चायम्,

---

अनुसार प्रमाणका विचार करते हैं "प्रामाण्यं व्यवहारेण" ऐसा कहा गया है । तथा दूसरी बात यह होगी कि यदि सामग्रीसे रूपका अनुमान होना स्वीकार करते हैं तो कारणसे (सामग्रीका अर्थ कारण है यह बात प्रसिद्ध ही है) कार्यका अनुमान होना सिद्ध होता है, फिर आपके हेतुकी त्रिसंख्याका (कार्य हेतु स्वभाव हेतु और अनुपलब्धि हेतु) विघटन हो जाता है । इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि पूर्वचर आदि कार्य हेतुमें अंतर्भूत नहीं होते । तथा यह भी सिद्ध हुआ कि कारण पूर्ववर्त्ती होता है एवं कारण कार्यमें कालका व्यवधान नहीं होता ।

अब क्रमसे अविरुद्ध उपलब्धिरूप हेतुके छह भेदोंका वर्णन बाल बुद्धिवालोंको समझानेके लिये उदाहरणपूर्वक उपस्थित करते हैं । उनमें प्रथम क्रम प्राप्त व्याप्य हेतुको दिखलाते हैं—

परिणामी शब्दः, कृतकत्वात्, य एवं स एवं दृष्टः यथा घटः, कृतकश्चायं तस्मात् परिणामी । यस्तु न परिणामी स न कृतकः यथा वंध्यास्तनंधयः कृतकश्चायं तस्मात् परिणामी ॥६५॥

सूत्रार्थ—शब्द परिणामी है क्योंकि किया जाता है, जो इस तरहका होता है वह ऐसा ही रहता है जैसे घट, शब्द कृतक है अतः परिणामी है । जो परिणामी नहीं होता वह कृतक नहीं होता जैसे वंध्यास्त्रीका पुत्र, यह शब्द तो कृतक है इसलिए परिणामी होता है । अन्वय और व्यतिरेकके भेदसे दृष्टांत दो प्रकारका होता है ऐसा

तस्मात्परिणामीति। कृतकत्वं हि परिणामित्वेन व्याप्तम्। पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थिति-लक्षणपरिणामशून्यस्य सर्वथा नित्यत्वे क्षणिकत्वे वा शब्दस्य कृतकत्वानुपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्।

किं पुनः कार्यलिङ्गस्योदाहरणमित्याह—

अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादेः ॥६६॥

व्याहारो वचनम्। आदिशब्दाद्व्यापाराकारविशेषपरिग्रहः। ननु ताल्वाद्यन्वयव्यतिरेकानु-विधायितया शब्दस्योपलम्भात्कथमात्मकार्यत्वं येनातस्तदस्तित्वसिद्धिः स्यात्? न खल्वात्मनि विद्य-मानेपि विवक्षाबद्धपरिकरे कफादिदोषकण्ठादिव्यापाराभावे वचनं प्रवर्त्तते; तदप्यसारम्; शब्दोत्पत्तौ

कह आये हैं। इस सूत्रमें अन्वय दृष्टांतका प्रतिपादन करके व्यतिरेक दृष्टांत देते हुए कहते हैं कि जो परिणामी नहीं होता वह कृतक नहीं देखा जाता जैसे वंध्याका पुत्र। यह कृतक है इसलिये परिणामी है। कृतकपना परिणामीके साथ व्याप्त है। पूर्व आकारका परिहार और उत्तर आकारकी प्राप्ति एवं स्थिति है लक्षण जिसका ऐसे परिणामसे जो शून्य है उस सर्वथा क्षणिक या नित्य पक्षमें शब्दका कृतकपना सिद्ध नहीं हो सकता। आगे शब्दनित्यत्ववाद प्रकरणमें इस विषयको कहने वाले हैं।

कार्य हेतुका उदाहरण क्या है? ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—

अस्त्यत्र देहिनि बुद्धि र्व्याहारादेः ॥६६॥

सूत्रार्थ—इस प्राणीमें बुद्धि है, क्योंकि वचनालाप आदि पाया जाता है। वचनको व्याहार कहते हैं आदि शब्दसे व्यापार–प्रवृत्ति आकार विशेष (मुखका आकार आदि) का ग्रहण होता है। किसी व्यक्तिके वचन कुशलताको देखकर बुद्धिका अनुमान लगाना कार्यानुमान है इसमें बुद्धिके अदृश्य रहते हुए भी उसका कार्य वचनको देखकर बुद्धिका सत्त्व सिद्ध किया जाता है।

शंका—तालु कंठ आदिके अन्वय व्यतिरेक का अनुविधायी शब्द है अर्थात् तालु आदिकी प्रवृत्ति हो तो शब्द उत्पन्न होता है और न हो तो नहीं, इसलिये शब्द तो तालु आदिका कार्य है उसको आत्मा का (बुद्धिका) कार्य किसप्रकार कह सकते हैं? जिससे कि वचनालापसे आत्मरूप बुद्धिका अस्तित्व सिद्ध हो। तथा आत्माके विद्यमान होते हुए भी बोलनेकी इच्छाको रोकनेवाले कफादिदोष के कारण कंठादि व्यापार के अभावमें वचन नहीं होते, अतः वचनको बुद्धिका कार्य न मानकर व तालु आदिका कार्य मानना चाहिए?

ताल्वादिसहायस्यैवात्मनो व्यापाराभ्युपगमात्। घटाद्युत्पत्तौ चक्रादिसहायस्य कुम्भकारादेर्व्यापारवत्, कथमन्यथा घटादेरप्यात्मकार्यता ? कार्यकार्यादेश्च कार्यहेतावेवान्तर्भावः।

कारणलिंगं यथा—

अस्त्यत्र छाया छत्रात् ॥६७॥

कारणकारणादेरत्रैवानुप्रवेशान्नार्थान्तरत्वम्।

पूर्वचरलिंगं यथा—

उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयात् ॥६८॥

पूर्वपूर्वचराद्यनेनैव संगृहीतम्।

उत्तरचरं लिंगं यथा—

उदगाद्भरणिस्तत एव ॥६९॥

समाधान—यह कथन असार है, जैनने शब्दकी उत्पत्तिमें तालुआदिकी सहायतासे युक्त आत्माको कारण माना है, जैसे घट आदिकी उत्पत्तिमें चक्रादिकी सहायतासे युक्त हुआ कुंभकार प्रवृत्ति करता है। शब्दकी उत्पत्तिमें आत्माको कारण न मानो तो घटआदिकी उत्पत्तिमें आत्माको कारण भी किसप्रकार मान सकते हैं ? अस्तु। इस कार्य हेतुमें ही कार्यकार्यहेतुका अंतर्भाव होता है।

कारण हेतुका उदाहरण—

अस्त्यत्र छाया छत्रात् ॥६७॥

सूत्रार्थ—यहांपर छाया है क्योंकि छत्र है। कारण कारण हेतुका इसी हेतुमें अंतर्भाव होनेसे उसमें पृथक हेतुत्व नहीं है।

पूर्वचर हेतुका उदाहरण—

उदेष्यति शकटं कृतिकोदयात् ॥६८॥

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त बाद रोहिणी नक्षत्रका उदय होगा, क्योंकि कृतिका नक्षत्रका उदय हो रहा है। पूर्व पूर्वचर हेतु इसीमें अंतर्हित है। उत्तरचर हेतुका उदाहरण—

उदगाद् भरणिस्तत एव ॥६९॥

कृतिकोदयादेव । उत्तरोत्तरचरमेतेनैव संगृह्यते ।

सहचरं लिंगं यथा—

अस्त्यत्र मातुलिंगे रूपं रसात् ॥७०॥

संयोगिन एकार्थसमवायिनश्च साध्यसमकालस्यात्रैवान्तर्भावो द्रष्टव्यः ।

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्त पहले भरणि नक्षत्रका उदय हो चुका है क्योंकि कृतिकोदय हो रहा । इसी हेतुमें उत्तर उत्तर चर हेतु गर्भित होता है । सहचर हेतुका उदाहरण—

अस्त्यत्र मातुलिंगे रूपं रसात् ॥७०॥

सूत्रार्थ—इस बिजौरेमें रूप है क्योंकि रस है । साध्यके समकालमें होनेवाले संयोगी और एकार्थसमवायी हेतुका इसी सहचर हेतुमें अंतर्भाव हो जाता है ।

विशेषार्थ—नैयायिक मतमें संयोगी और एकार्थ समवायी हेतु भी माने हैं, जैनाचार्यने इनको सहचर हेतुमें अंतर्भूत किया है । जो साध्यके समकालमें हो तथा साध्यका कार्य या कारण न हो वह सहचर हेतु कहलाता है, उक्त संयोगी आदि हेतु इसी रूप है जैसे—यहां आत्माका अस्तित्व है, क्योंकि विशिष्ट शरीराकृति विद्यमान है । आत्मा और शरीरका संयोग होनेसे विशिष्ट शरीर रूप हेतु संयोगी कहलाता है, इसका सहचर हेतुमें सहज ही अंतर्भाव हो जाता है, क्योंकि जैसे बिजौरेमें रूप और रस साथ उत्पन्न होते हैं वैसे विवक्षित पर्यायमें आत्मा और शरीर साथ रहते हैं । एकार्थ समवायी हेतु भी सहचर हेतु रूप है–एक अर्थ में समवेत होने वाले रूप रस आदि अथवा ज्ञान दर्शन आदि हैं इनमेंसे एकको देखकर अन्यका अनुमान होता है । पूर्वचर हेतुका उदाहरण यह दिया कि एक मुहूर्त्तके अनंतर रोहिणीका उदय होगा क्योंकि कृतिकाका उदय हो रहा । उत्तर हेतु–एक मुहूर्त्त पहले भरणिका उदय हो चुका है क्योंकि अब कृतिकोदय हो रहा । भरणि कृतिका और रोहिणी इन तीन नक्षत्रोंका आकाशमें उदय एक एक मुहूर्त्तके अंतरालसे होता है अतः ज्योतिर्विद इनमेंसे किसी एक नक्षत्रोदयको देखकर अन्य नक्षत्रके उदयका अनुमान कर लेते हैं । कृतिकोदय इनके मध्यवर्त्ती है अतः यह रोहिणी उदयका पूर्वचर है और भरणिका उत्तर चर है । कृतिकोदयको देखकर दोनों अनुमान हो जाते हैं कि एक मुहूर्त्त पहले

अथाविरुद्धोपलब्धिमुदाहृत्येदानीं विरुद्धोपलब्धिमुदाहर्त्तुं विरुद्धेत्याद्याह—

विरुद्धतदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथेति ॥७१॥

प्रतिषेध्येन यद्विरुद्धं तत्सम्बन्धिनां तेषां व्याप्यादीनामुपलब्धिः प्रतिषेधे साध्ये तथाऽविरुद्धोपलब्धिवत् षट्प्रकारा ।

तानेव षट् प्रकारान् यथेत्यादिना प्रदर्शयति—

(यथा) नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ॥७२॥

यथेत्युदाहरणप्रदर्शने । औष्ण्यं हि व्याप्यमग्नेः । स च विरुद्धः शीतस्पर्शेन प्रतिषेध्येनेति ।

विरुद्धकार्यं लिंगं यथा—

नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ॥७३॥

भरणिका उदय हो चुका है, तथा एक मुहूर्त्त बाद रोहिणीका उदय होगा। इसतरह कृतिकोदय हेतु भरणिके प्रति उत्तर चर और रोहिणीके प्रति पूर्वचर है । अस्तु ।

अविरुद्धोपलब्धिके उदाहरणोंको प्रस्तुत कर अब विरुद्धोपलब्धिके उदाहरणों का प्रतिपादन करते हैं—

विरुद्ध तदुपलब्धिः प्रतिषेधे तथा ॥७१॥

सूत्रार्थ—प्रतिषेधरूप साध्यमें विरुद्धोपलब्धि हेतुके वैसे ही भेद होते हैं। प्रतिषेध्यरूप साध्यसे जो विरुद्ध है उस विरुद्धके संबंधभूत व्याप्य, कार्य आदिकी उपलब्धि होना विरुद्धतदुपलब्धि कहलाती है, प्रतिषेधरूप साध्यमें इस हेतुके अविरुद्धोपलब्धिके समान छह भेद हैं । अब उन्हींके भेद क्रमसे बताते हैं—

यथा नास्त्यत्र शीनस्पर्श औष्ण्यात् ॥७२॥

सूत्रार्थ—यहांपर शीत स्पर्श नहीं है, क्योंकि उष्णता है। सूत्रोक्त यथा शब्द उदाहरणका द्योतक है । औष्ण्य अग्निका व्याप्य है वह प्रतिषेध्यभूत शीतस्पर्शके विरुद्ध है अतः यह हेतु व्याप्य विरुद्धोपलब्धि है ।

विरुद्ध कार्य हेतुका उदाहरण—

नास्त्यत्र शीतस्पर्शोधूमात् ॥७३॥

विरुद्धकारणं लिंगं यथा—

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ।।७४।।

सुखेन हि प्रतिषेध्येन विरुद्धं दुःखम् । तस्य कारणं हृदयशल्यम् । तत्कुतश्चित्तदुपदेशादेः सिद्धयत्सुखं प्रतिषेधतीति ।

विरुद्धपूर्वचरं यथा—

नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ।।७५।।

शकटोदयविरुद्धो ह्यश्विन्युदयस्तत्पूर्वचरो रेवत्युदय इति ।

विरुद्धोत्तरचरं यथा—

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्त्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ।।७६।।

सूत्रार्थ—यहांपर शीत स्पर्श नहीं है, क्योंकि धूम है ।

विरुद्ध कारण हेतुका उदाहरण—

नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदयशल्यात् ।।७४।।

सूत्रार्थ—इस शरीरधारी प्राणीमें सुख नहीं है, क्योंकि हृदयमें शल्य है । प्रतिषेध्यभूत सुखके विरुद्ध दुःख है और उसका कारण हृदय शल्य है, उस हृदय-शल्यका अस्तित्व किसीके कथनसे जाना जाता है और उससे सुखका प्रतिषेध होता है ।

विरुद्ध पूर्वचर हेतुका उदाहरण—

नोदेष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं रेवत्युदयात् ।।७५।।

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्तके अनंतर रोहिणीका उदय नहीं होगा क्योंकि रेवती नक्षत्रका उदय हो रहा । रोहिणी उदयके विरुद्ध अश्विनीका उदय है और उसका पूर्वचर रेवतीका उदय है, अतः रेवतीका उदय रोहिणीके विरुद्ध पूर्वचर कहलाया ।

विरुद्ध उत्तरचर हेतुका उदाहरण—

नोदगाद्भरणि मुंहूर्त्तात् पूर्व पुष्योदयात् ।।७६।।

भरण्युदयविरुद्धो हि पुनर्वसूदयस्तदुत्तरचरः पुष्योदय इति ।

विरुद्धसहचरं यथा—

नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भागदर्शनात् ।।७७।।

परभागाभावेन हि विरुद्धस्तत्सद्भावस्तत्सहचरोऽर्वाग्भाग इति ।

अथोपलब्धिं व्याख्यायेदानीमनुपलब्धिं व्याचष्टे । सा चानुपलब्धिरुपलब्धिवद्द्विप्रकारा भवति । अविरुद्धानुपलब्धिर्विरुद्धानुपलब्धिश्चेति । तत्राद्यप्रकारं व्याख्यातुकामोऽविरुद्धेत्याद्याह—

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभावव्यापककार्यकारण-

पूर्वोत्तरसहचरानुपलम्भभेदादिति ।।७८।।

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्त पहले भरणिका उदय नहीं हुआ क्योंकि पुष्यका उदय हो रहा । भरणि उदयका विरोधी पुनर्वसू का उदय है और उसका उत्तरचर पुष्योदय है अतः पुष्योदय भरणि उदयका विरुद्ध उत्तरचर है ।

विरुद्ध सहचर हेतुका उदाहरण—

नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भाग दर्शनात् ।।७७।।

सूत्रार्थ— इस भित्तिमें पर भागका अभाव नहीं है क्योंकि अर्वाग्भाव इधरका भाग दिखायी देता है । परभागके अभावका विरोधी उसका सद्भाव है और उसका सहचर अर्वागभाग है अतः यह विरुद्ध सहचर कहा जाता है ।

अब उपलब्धि हेतुका कथन करके अनुपलब्धि हेतुका प्रतिपादन करते हैं । वह अनुपलब्धि भी उपलब्धिके समान दो प्रकारकी है—अविरुद्ध अनुपलब्धि और विरुद्ध अनुपलब्धि । इनमें प्रथम प्रकारका व्याख्यान करते हैं—

अविरुद्धानुपलब्धिः प्रतिषेधे सप्तधा स्वभाव व्यापक कार्यकारणपूर्वोत्तर

सहचरानुपलंभभेदात् ।।७८।।

प्रतिषेध्येनाविरुद्धस्यानुपलब्धिः प्रतिषेधे साध्ये सप्तधा भवति। स्वभावव्यापककार्यकारणपूर्वोत्तरसहचरानुपलब्धिभेदात्।

तत्र स्वभावानुपलब्धिर्यथा—

नास्त्यत्र भूतले घट उपलब्धि लक्षणप्राप्तस्यानुपलब्धेः ॥७९॥

पिशाचादिभिर्व्यभिचारो मा भूदित्युपलब्धिलक्षणप्राप्तस्येति विशेषणम्। कथं पुनर्यो नास्ति स उपलब्धिलक्षणप्राप्तस्तत्प्राप्तत्वे वा कथमसत्त्वमिति चेदुच्यते-आरोप्यैतद्रूपं निषिध्यते सर्वत्रारोपितरूपविषयत्वान्निषेधस्य। यथा 'नायं गौरः' इति। न ह्यत्रैतच्छक्यं वक्तुम्-सति गौरत्वे न निषेधो निषेधे वा न गौरत्वमिति। नन्वेवमदृश्यमपि पिशाचादिकं दृश्यरूपतयाऽऽरोप्यप्रतिषेध्यतामिति चेन्न; आरोप-

---

सूत्रार्थ—प्रतिषेधरूप साध्यमें अविरुद्ध अनुपलब्धि हेतुके सात भेद होते हैं—स्वभाव-अविरुद्धानुपलब्धि, व्यापक अविरुद्धानुपलब्धि, कार्य-अविरुद्धानुपलब्धि, कारण अविरुद्धानुपलब्धि, पूर्वचर अविरुद्धानुपलब्धि, उत्तरचर अविरुद्धानुपलब्धि और सहचर अविरुद्धानुपलब्धि। प्रतिषेध्यके अविरुद्धकी अनुपलब्धि होना रूप हेतु प्रतिषेधरूप साध्यके होने पर सात प्रकार का होता है।

उनमें क्रमप्राप्त स्वभावानुपलब्धिको कहते हैं—

नास्त्यत्र भूतले घटो उपलब्धि लक्षण प्राप्तस्यानुपलब्धेः ॥७९॥

सूत्रार्थ—इस भूतलपर घट नहीं है क्योंकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त होकर भी अनुपलब्धि है। पिशाच परमाणु आदिके साथ व्यभिचार न होवे इसलिये "उपलब्धि लक्षण प्राप्तस्य" ऐसा हेतुमें विशेषण प्रयुक्त हुआ है।

शंका—जो नहीं है वह उपलब्धि लक्षण प्राप्त कैसे हो सकता हैं और जो उपलब्धि लक्षण प्राप्त है उसका असत्त्व कैसे कहा जा सकता है ?

समाधान—उपलब्धि लक्षण प्राप्तका आरोप करके निषेध किया जाता है, क्योंकि सर्वत्र निषेधका विषय आरोपितरूप ही होता है। जैसे यह गोरा नहीं है। यहां पर ऐसा तो नहीं कह सकते कि गोरापन है तो निषेध नहीं हो सकता और निषेध ही है तो गोरापन काहे का।

शंका—यदि ऐसा है तो अदृश्यभूत पिशाचादिका भी दृश्यपनेका आरोप करके प्रतिषेध करना चाहिये ?

योग्यत्वं हि यस्यास्ति तस्यैवारोपः। यश्चार्थो विद्यमानो नियमेनोपलभ्येत स एवारोपयोग्यः, न तु पिशाचादिः। उपलम्भकारणसाकल्ये हि विद्यमानो घटो नियमेनोपलम्भयोग्यो गम्यते, न पुनः पिशाचादिः। घटस्योपलम्भकारणसाकल्यं चैकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशादावुपलभ्यमाने निश्चीयते। घटप्रदेशयोः खलूपलम्भकारणान्यविशिष्टानीति। यश्च यद्देशाधेयतया कल्पितो घटः स एव तैनेकज्ञानसंसर्गी, न देशान्तरस्थः। ततश्चैकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भे योग्यतया सम्भावितस्य घटस्योपलब्धिलक्षणप्राप्तानुपलम्भः सिद्धः।

ननु चैकज्ञानसंसर्गिण्युपलभ्यमाने सत्यपीतरविषयज्ञानोत्पादनशक्तिः सामग्रयाः समस्तीत्यवसातुं न शक्यते, प्रभाववतो योगिनः पिशाचादेर्वा प्रतिबन्धात्सतोपि घटस्यैकज्ञानसंसर्गिणि प्रदेशा-

---

समाधान – नहीं, जिसमें आरोप की योग्यता होती है उसीका आरोप किया जाता है। जो विद्यमान पदार्थ नियमसे उपलब्ध होता है वही आरोप योग्य होता है न कि पिशाचादि। इसका भी कारण यह है कि उपलंभ अर्थात् प्रत्यक्ष होनेके सकल कारण मिलनेपर विद्यमान घट नियमसे उपलंभ योग्य हो जाता है किन्तु पिशाचादि ऐसे नहीं होते। घटके प्रत्यक्ष होनेके सकल कारण तो एक व्यक्तिके ज्ञान संसर्गी उपलभ्यमान प्रदेशादिमें निश्चित किये जाते हैं (अर्थात् जाने जाते हैं) घट और उसके रखनेका प्रदेश इन दोनोंके प्रत्यक्ष होनेके कारण समान है अर्थात् घट और उसका स्थान ये दोनों ही एक ही पुरुषके ज्ञानके द्वारा जाने जाते हैं। अतः घट आरोप योग्य है। पिशाच आदि ऐसे नहीं है अतः आरोप योग्य नहीं है। तथा जो घट जिस प्रदेशके आधेयपनेसे कल्पित है वही उससे एक पुरुषके ज्ञानका संसर्गी है, अन्य प्रदेशस्थ घट एक पुरुषके ज्ञानका संसर्गी नहीं है। इसलिये एक पुरुषके ज्ञानका संसर्गी पदार्थांतर अर्थात् भूतल का उपलंभ (प्रत्यक्ष) होनेपर दृश्यपनेसे संभावित घटका उपलब्धि लक्षण प्राप्त अनुपलंभ सिद्ध होता है।

शंका—एक ज्ञान संसर्गी पदार्थांतर के उपलभ्यमान होने पर भी दूसरा विषय जो घट है उसके ज्ञानोत्पादनकी शक्ति है ऐसा उक्त सामग्रीसे निश्चय करना शक्य नहीं, क्योंकि किसी प्रभावशाली योगी द्वारा अथवा पिशाचादि द्वारा प्रतिबंध होवे तो घटके विद्यमान रहते हुए भी उसका एक ज्ञान संसर्गीभूत प्रदेशादिके उपलभ्यमान होते भी अनुपलंभ संभव है ? अर्थात् घटके रहते हुए भी किसी योगी आदिने उसको अदृश्य कर दिया हो तो उसका अस्तित्व रहते हुए भी अनुपलंभ होता है दिखायी नहीं

दावुपलभ्यमानेप्यनुपलम्भसम्भवात्; तदयुक्तम्; यतः प्रदेशादिनैकज्ञानसंसर्गिण एव घटस्याभावो नान्यस्य। यस्तु पिशाचादिनाऽन्यत्वमापादितः स नैव निषेध्यते। इह चैकज्ञानसंसर्गिभासमानोर्थस्तज्ज्ञानं च पर्युदासवृत्त्या घटस्याऽसत्तानुपलब्धिश्चोच्यते।

ननु चैवं केवलभूतलस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तद्रूपो घटाभावोपि सिद्ध एवेति किमनुपलम्भसाध्यम्? सत्यमेवैतत्, तथापि प्रत्यक्षप्रतिपन्नेप्यभावे यो व्यामुह्यति साङ्ख्यादिः सोनुपलम्भं निमित्तीकृत्य प्रतिपाद्यते। अनुपलम्भनिमित्तो हि सत्त्वरजस्तमःप्रभृतिष्वसद्व्यवहारः। स चात्राप्यस्तीति निमित्त-

---

देता अतः उपलब्ध होने योग्य होकर उपलब्ध न होवे तो उसका नियमसे अभाव ही है ऐसा कहना गलत ठहरता है ?

समाधान—यह शंका अयुक्त है प्रदेशादिसे जो घट एक ज्ञानका संसर्गी (विषय) था उसी घटका अभाव निश्चित किया जाता है न कि अन्य घटका। जो घट पिशाचादि द्वारा अन्यरूप अर्थात् अदृश्यरूप कर दिया है उसका निषेध (अभाव) नहीं किया जाता है। यहां पर एक पुरुषके ज्ञान संसर्गमें प्रतिभासमान पदार्थ और उसका ज्ञान इन दोनोंको पर्युदासवृत्तिसे घटकी असत्ता और अनुपलब्धि इन शब्दों द्वारा कहा जा रहा है। अभिप्राय यह है कि किसी एक पुरुषने एक स्थान पर घट देखा था पुनः किसी समय उस स्थान को घट रहित देखता है तो अनुमान करता है—यहां भूतल पर घट नहीं है क्योंकि उपलब्ध नहीं होता (दिखायी देने योग्य होकर भी दिखता नहीं) जो घट पिशाचादिके द्वारा अदृश्य किया गया है उस घट की चर्चा इस अनुमान में नहीं है।

शंका—ऐसी बात है तो केवल भूतल तो प्रत्यक्ष सिद्ध है अतः उस रूप घट का अभाव भी सिद्ध ही है इसलिये "नास्त्यत्रभूतले" इत्यादि अनुमान के अनुपलंभ हेतुसे क्या सिद्ध करना है ?

समाधान—यह कथन सत्य है, किन्तु अभावके प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात होनेपर भी जो सांख्यादिपरवादी उस अभावके विषयमें व्यामोहित हैं अर्थात् अभावको स्वीकार नहीं करते उनको अनुपलंभ हेतुका निमित्त करके प्रतिबोधित किया जाता है।

सांख्याभिमत सत्त्वरजतमः आदि प्रकृतिके धर्मोंमें असत्पनेका जो व्यवहार होता है वह अनुपलंभके निमित्तसे ही होता है अर्थात् सत्त्वमें रजोधर्म नहीं है अथवा रजोधर्ममें सत्त्वधर्म नहीं है इत्यादि अभावका व्यवहार अनुपलंभ हेतु द्वारा ही होता है

प्रदर्शनेन व्यवहारः प्रसाध्यते। दृश्यतेहि विशाले गवि सास्नादिमत्त्वात्प्रवर्त्तितगोव्यवहारो मूढमति-र्विशङ्कटे सादृश्यमुत्प्रेक्षमाणोपि न गोव्यवहारं प्रवर्त्तयतीति विशङ्कटे वा प्रवर्त्तितो गोव्यवहारो न विशाले, स निमित्तप्रदर्शनेन गोव्यवहारे प्रवर्त्त्यते। सास्नादिमन्मात्रनिमित्तको हि गोव्यवहारस्त्वया प्रवर्त्तितपूर्वो न विशालत्वविशङ्कटत्वनिमित्तक इति। तथा महत्यां शिंशपायां प्रवर्त्तितवृक्षव्यवहारो मूढमतिः स्वल्पायां तस्यां तद्व्यवहारमप्रवर्त्तयन्निमित्तोपदर्शनेन प्रवर्त्त्यते वृक्षोयं शिंशपात्वादिति।

व्यापकानुपलब्धिर्यथा—

कि—यहां सत्त्वमें रजोधर्म नही है क्योंकि उपलब्धि लक्षण प्राप्त होकर भी अनुपलब्धि है। इस तरहका अनुपलंभरूप असत्का व्यवहार उक्त अनुमानमें भी है इसप्रकार निमित्त प्रदर्शन द्वारा घटाभावका व्यवहार प्रसाधित किया जाता है। देखा भी जाता है कि—जिस मूढमतिको विशाल बैलमें (अथवा गायमें) सास्नादि हेतु द्वारा बैलपनेका व्यवहार प्रवर्त्तित किया जाता है अर्थात् इस पशुके गलेमें चर्म लटक रहा है इसे सास्ना कहते हैं जिसमें ऐसी सास्ना होती है उसे बैल (या गाय) कहते हैं ऐसा किसीने एक विशाल बैलको दिखलाकर मूढमतिको समझाया, पुनश्च वह मूढमति छोटे बैलको देखता है उसमें उसे सास्नादि दिखायी देती है तो भी वह मूढ बैलपनेका व्यवहार नहीं करता (अर्थात् यह बैल है ऐसा नहीं समझता है) अथवा किसी मूढको छोटे बैलमें शुरुवातमें बैलपने का ज्ञान कराया था वह विशाल बैलमें बैलपनेको नहीं जान रहा है उस मूढमति पुरुषको सास्नादि निमितको दिखलाकर गो व्यवहारमें प्रवर्त्तित कराया जाता है। अर्थात् बैलपनेका व्यवहार केवल सास्ना निमित्तक है तुम्हारेको पहले जो बैल में प्रवृत्ति करायी थी वह केवल सास्ना निमित्तक थी विशाल या छोटेपनेकी निमित्तक नहीं थी, अर्थात् विशाल हो चाहे छोटा हो जिस पशुमें सास्ना होती है उसे बैल अथवा गाय कहते हैं इससे गोत्वका व्यवहार—बैल या गायका कार्य लिया जाता है इत्यादि रूपसे मूढको समझाते हैं। तथा बड़े शिंशपावृक्षमें शिंशपावृक्षत्वका व्यवहार जिसको प्रवर्त्तित कराया है वह मूढमति छोटे शिंशपावृक्षमें उसका व्यवहार नहीं करता तो उसे शिंशपापनरूप निमित्त दिखलाकर प्रवृत्ति करायी जाती है कि यह शिंशपारूप होनेसे वृक्ष है। इसप्रकार निश्चय हुआ कि अनुपलब्धिरूप हेतु कार्यकारी है।

व्यापकानुपलब्धि हेतुका उदाहरण—

नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षाऽनुपलब्धेः ॥८०॥

कार्यानुपलब्धिर्यथा—

नास्त्यत्राऽप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ॥८१॥

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥८२॥

इति कारणानुपलब्धिः।

न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकटं कृत्तिकोदयानुपलब्धेः ॥८३॥

इति पूर्वचरानुपलब्धिः।

नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्प्राक् तत एव ॥८४॥

कृत्तिकोदयानुपलब्धेरेव। इत्युत्तरचरानुपलब्धिः।

नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धेः ॥८०॥

सूत्रार्थ—यहां पर शिंशपा नहीं है क्योंकि वृक्षकी अनुपलब्धि है। कार्यानुपलब्धि तथा कारणानुपलब्धिका उदाहरण—

नास्थत्रा प्रतिबद्ध सामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ॥८१॥

नास्त्यत्र धूमोऽनग्नेः ॥८२॥

सूत्रार्थ—यहां अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाली अग्नि नहीं, क्योंकि धूमकी अनुपलब्धि है। तथा—यहां धूम नहीं क्योंकि अग्निकी अनुपलब्धि है।

पूर्वचर अनुपलब्धिहेतुका उदाहरण—

न भविष्यति मुहूर्त्तान्ते शकटं कृतिकोदयानुपलब्धेः ॥८३॥

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्तके अनंतर रोहिणीका उदय नहीं होगा, क्योंकि कृतिकोदयकी अनुपलब्धि है।

उत्तरचर अनुपलब्धि हेतुका उदाहरण—

नोदगाद् भरणिर्मुहूर्त्तात् प्राक् तत एव ॥८४॥

सूत्रार्थ—एक मुहूर्त्त पहले भरणिका उदय नहीं हुआ था क्योंकि कृतिकोदय की अनुपलब्धि है।

नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥८५॥

इति सहचरानुपलब्धिः ।

अथानुपलब्धिः प्रतिषेधसाधिकैवेति नियमप्रतिषेधार्थं विरुद्धेत्याद्याह—

विरुद्धानुपलब्धिः विधौ त्रेधा विरुद्धकार्यकारणस्वभावानुपलब्धिभेदात् ॥८६॥

विधेयेन विरुद्धस्य कार्यादेरनुपलब्धिर्विधौ साध्ये सम्भवन्ती त्रिधा भवति–विरुद्धकार्यकारण-स्वभावानुपलब्धिभेदात् ।

तत्र विरुद्धकार्यानुपलब्धिर्यथा—

यथास्मिन्प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः ॥८७॥

आमयो हि व्याधिः, तेन विरुद्धस्तदभावः, तत्कार्या विशिष्टचेष्टा तस्या अनुपलब्धिर्व्याधि-विशेषास्तित्वानुमानम् ।

सहचर अनुपलब्धि हेतुका उदाहरण—

नास्त्यत्र समतुलाया मुन्नामो नामानुपलब्धेः ॥८५॥

सूत्रार्थ—इस तुलामें उन्नाम–ऊँचापना नहीं क्योंकि नाम–नीचापनकी अनुपलब्धि है ।

अनुपलब्धिरूप हेतु केवल प्रतिषेधरूप साध्यको ही सिद्ध करता है ऐसा किसी का मंतव्य है उस नियम का निषेध करनेके लिए अग्रिम सूत्र अवतरित होता है—

विरुद्धानुपलब्धिः विधौ त्रेधा विरुद्ध कार्य कारण स्वभावानुपलब्धिभेदात् ॥८६॥

सूत्रार्थ—विधिरूप (अस्तित्वरूप) साध्यके रहनेपर विरुद्ध अनुपलब्धि हेतुके तीन भेद होते हैं विरुद्ध कार्यानुपलब्धि, विरुद्धकारणानुपलब्धि, विरुद्धस्वभावानुपलब्धि । साध्यके विरुद्ध कार्यादिकी अनुपलब्धि होना रूप हेतु उक्त तीन प्रकारका है ।

विरुद्धकार्यानुपलब्धि हेतुका उदाहरण—

यथास्मिन् प्राणिनि व्याधिविशेषोऽस्ति निरामय चेष्टानुपलब्धेः ॥८७॥

सूत्रार्थ—जैसे इस प्राणीमें रोगविशेष है क्योंकि निरोगके समान चेष्टा नहीं करता । आमय रोगको कहते हैं उस आमयके विरुद्ध उसका अभाव निरामय कहलाता है निरामय अवस्थाका कार्य विशिष्ट चेष्टा है उसकी अनुपलब्धि होनेसे रोगके अस्तित्व का अनुमान लग जाता है ।

विरुद्धकारणानुपलब्धिर्यथा—

अस्त्यत्र देहिनि दुःखमिष्टसंयोगाभावात् ॥८८॥

दुःखेन हि विरुद्धं सुखम्, तस्य कारणमभीष्टार्थेन संयोगः, तदभावस्तदनुपलब्धिर्दुःखास्तित्वं गमयतीति।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धिर्यथा—

अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तानुपलब्धेः ॥८९॥

अनेकान्तेन हि विरुद्धो नित्यैकान्तः क्षणिकैकान्तो वा। तस्य चानुपलब्धिः प्रत्यक्षादि-प्रमाणेनाऽस्य ग्रहणाभावात्सुप्रसिद्धा। यथा च प्रत्यक्षादेस्तद्ग्राहकत्वाभावस्तथा विषयविचारप्रस्तावे विचारयिष्यते।

ननु चैतत्साक्षाद्विधौ निषेधे वा परिसङ्ख्यातं साधनमस्तु। यत्तु परम्परया विधेर्निषेधस्य वा साधकं तदुक्तसाधनप्रकारेभ्योऽन्यत्वादुक्तसाधनसङ्ख्याव्याघातकारि छलसाधनान्तरमनुषज्येत। इत्याशङ्क्य परम्परयेत्यादिना प्रतिविधत्ते—

विरुद्ध कारणानुपलब्धि हेतुका उदाहरण—

अस्त्यत्र देहिनि दुःख मिष्ट संयोगाभावात् ॥८८॥

सूत्रार्थ—इस जीवमें दुःख है क्योंकि इष्ट संयोगका अभाव है। दुःखके विरुद्ध सुख होता है और उसका कारण अभीष्ट पदार्थका संयोग है उस संयोगका अभाव होनेसे दुःखका अस्तित्व जाना जाता है।

विरुद्धस्वभावानुपलब्धि हेतुका उदाहरण—

अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तानुपलब्धेः ॥८९॥

सूत्रार्थ—वस्तु अनेकान्तात्मक होती है क्योंकि एकांतकी अनुपलब्धि है। अनेकांतके विरुद्ध नित्यएकांत या क्षणिक एकांत होता है उसकी अनुपलब्धि प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा सिद्ध होती है क्योंकि एकांतको ग्रहण करनेवाले प्रमाणका अभाव है। प्रमाणके विषयका विचार करते समय आगे निश्चय करेंगे कि प्रत्यक्षादि प्रमाण नित्यैकांत आदि एकांतको ग्रहण नहीं करते।

शंका—जो साध्य साक्षात् विधिरूप या निषेधरूप है उसमें उक्त प्रकारके हेतुकी संख्या मानना ठीक है किन्तु जो परंपरारूपसे विधि या निषेधका साधक है ऐसा

परम्परया संभवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ॥९०॥

यतः परम्परया सम्भवत्कार्यकार्यादि साधनमत्रैव अन्तर्भावनीयं ततो नोक्तसाधनसङ्ख्या-व्याघातः।

तत्र विधौ कार्यकार्यं कार्याविरुद्धोपलब्धौ अन्तर्भावनीयम् यथा—

अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात्। कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ॥९१-९२॥

शिवकस्य हि साक्षाच्छत्रकः कार्यं स्थासस्तु परम्परयेति।

निषेधे तु कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथाऽन्तर्भाव्यते तद्यथा—

हेतु उक्त हेतु के प्रकारोंसे अन्यरूप है, अतः ऐसे हेतुसे उक्त हेतु संख्याका व्याघातकारी छल साधनांतर का प्रसंग आता है?

समाधान—इस शंकाका समाधान आगेके सूत्र द्वारा करते हैं—

परंपरया संभवत् साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम् ॥९०॥

सूत्रार्थ—परंपरारूप होनेवाला साधन (हेतु) इन्हीं पूर्वोक्त हेतुप्रकारोंमें अंतर्भूत करना चाहिए। अतः उक्त हेतुओंकी संख्याका व्याघात नहीं होता। विधिरूप साध्यमें कार्यकार्यरूप हेतुका कार्याविरुद्धोपलब्धि नामा हेतुमें अंतर्भाव होता है जैसे—

अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात् ॥९१॥ कार्यकार्यमविरुद्धकार्योपलब्धौ ॥९२॥

सूत्रार्थ—इस कुंभकारके चक्र पर शिवक नामा घट का पूर्ववर्ती कार्य हुआ है क्योंकि स्थासनामा कार्य उपलब्ध है। शिवक नामा मिट्टी के आकार का साक्षात् कार्य छत्रकाकार है और स्थास नामा कार्य परंपरारूप है।

भावार्थ—कुंभकार जब गीली चिकनी मिट्टीको घट बनानेमें उपयुक्त ऐसे चक्रपर चढ़ाता है तब उसके क्रमशः शिवक, छत्रक स्थास आदि नामवाले आकार बनते जाते हैं, पहले शिवक पीछे छत्रक और उसके पीछे स्थास आकार है अतः शिवकका साक्षात् कार्य तो छत्रक है और परंपरा कार्य स्थास है इसलिये यहां स्थासको कार्य कार्यहेतु कहा है। निषेधरूप साध्यके होनेपर कारण विरुद्ध कार्य हेतुका विरुद्ध कार्योपलब्धिमें अंतर्भाव होता है। जैसे—

नास्त्यत्र गुहायां मृगक्रीडनं मृगारिशब्दनात् कारणविरुद्धकार्यं विरुद्धकार्योपलब्धौ यथेति ।९३।।

मृगक्रीडनस्य हि कारणं मृगः । तेन च विरुद्धो मृगारिः । तत्कार्यं च तच्छब्दनमिति ।

ननु यद्यव्युत्पन्नानां व्युत्पत्त्यर्थं दृष्टान्तादियुक्तो हेतुप्रयोगस्तर्हि व्युत्पन्नानां कथं तत्प्रयोग इत्याह—

व्युत्पन्नप्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथाऽनुपपत्त्यैव वा ।।९४।।

एतदेवोदाहरणद्वारेण दर्शयति—

अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेर्वा ।।९५।।

नास्त्यत्र गुहायां मृग क्रीडनं मृगारि शब्दनात् कारण विरुद्ध कार्यविरुद्ध कार्योपलब्धौ यथा ।।९३।।

सूत्रार्थ—इस गुहामें हिरणकी क्रीडा नहीं है, क्योंकि सिंहकी गर्जना हो रही है । यह "मृगारिशब्दनात्" हेतु कारणके विरुद्ध जो कार्य है उस रूप है अतः इस हेतुका विरुद्धकार्योपलब्धि नामा हेतुमें अंतर्भाव करना होगा । क्योंकि हिरणकी क्रीडाका कारण हिरण है और उसका विरोधी सिंह है उसका कार्य गर्जना है अतः यह हेतु विरुद्ध कार्योपलब्धि कहलाया ।

शंका—अव्युत्पन्न पुरुषोंको व्युत्पन्न करनेके लिये दृष्टान्त आदिसे युक्त हेतु प्रयोग होना चाहिए ऐसा प्रतिपादन कर आये हैं किन्तु जो पुरुष व्युत्पन्नमति हैं उनके लिये किस प्रकारका हेतु प्रयोग होता है ?

समाधान—अब इसी शंकाका समाधान करते हैं—

व्युत्पन्न प्रयोगस्तु तथोपपत्त्यान्यथानुपपत्त्यैव वा ।।९४।।

सूत्रार्थ–व्युत्पन्नमति पुरुषोंके लिए तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुका प्रयोग होता है, अर्थात् इस विवक्षित साध्यके होनेपर ही यह हेतु होता है ऐसा "तथोपपत्ति" रूप हेतु प्रयोग अथवा इस साध्यके न होनेपर यह हेतु भी नहीं होता ऐसा अन्यथानुपपत्तिरूप हेतुप्रयोग व्युत्पन्नमतिके प्रति हुआ करता है । इसीका उदाहरण द्वारा प्रतिपादन करते हैं –

अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्वोपपत्तेर्धूमवत्वान्यथानुपपत्तेर्वा ।।९५।।

कुतो व्युत्पन्नानां तथोपपत्त्यन्यथाऽनुपपत्तिभ्यां प्रयोगनियम इत्याशङ्क्य हेतुप्रयोगो हीत्याद्याह-

हेतुप्रयोगो हि यथाव्याप्तिग्रहणं विधीयते, सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते इति ॥९६॥

यतो हेतोः प्रयोगो व्याप्तिग्रहणानतिक्रमेण विधीयते। सा च व्याप्तिस्तावन्मात्रेण तथोपपत्त्यन्यथानुपपत्तिप्रयोगमात्रेण व्युत्पन्नैर्निश्चीयते इति न दृष्टान्तादिप्रयोगेण व्याप्त्यवधारणार्थेन किञ्चित्प्रयोजनम्।

नापि साध्यसिद्धयर्थं तत्प्रयोगः फलवान्—

तावताच साध्यसिद्धिः ॥९७॥

यतस्तावतैव चकार एवकारार्थे निश्चितविपक्षासम्भवहेतुप्रयोगमात्रेणैव साध्यसिद्धिः।

सूत्रार्थ—यह प्रदेश अग्निमान है क्योंकि धूमपनाकी उपपत्ति है। यह तथोपपत्ति हेतु प्रयोग हुआ। अथवा यह देश अग्निमान है (अग्नियुक्त) क्योंकि धूमपनेकी अन्यथानुपपत्ति है। यह अन्यथानुपपत्ति हेतु प्रयोग है। व्युत्पन्न पुरुषोंके प्रति तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्ति प्रयोगका नियम किस कारणसे करते हैं? ऐसी आशंका का समाधान करते हैं—

हेतु प्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते, सा च तावन्मात्रेणव्युत्पन्नै रवधार्यते ॥९६॥

सूत्रार्थ—उस तरहका हेतुप्रयोग करते हैं कि जिस तरहसे व्याप्तिका ग्रहण किया जाय, अतः वह व्याप्ति उतने मात्रसे (हेतु प्रयोग मात्रसे) व्युत्पन्न पुरुषों द्वारा अवधारित (निश्चित) की जाती है। व्याप्ति ग्रहणका अनतिक्रम रखते हुए हेतुके प्रयोगका विधान किया जाता है, और वह व्याप्ति भी तथोपपत्ति अथवा अन्यथानुपपत्ति प्रयोग मात्रसे व्युत्पन्नमति द्वारा निश्चित की जाती है। इसीलिये दृष्टांतादिके प्रयोगसे व्याप्ति अवधारण करना आदि कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता।

तथा साध्यकी सिद्धिके लिये भी दृष्टांतादिका प्रयोग प्रयोजनभूत नहीं होता है—

तावता च साध्यसिद्धिः ॥९७॥

सूत्रार्थ—उतने तथोपपत्ति आदि रूप हेतु मात्रसे ही साध्यकी सिद्धि भी हो जाती है। सूत्रोक्त च शब्द एवकार अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् निश्चित विपक्ष

तेन पक्षः तदाधारसूचनाय उक्तः ॥९८॥

तेन पक्षो गम्यमानोपि व्युत्पन्नप्रयोगे तदाधारसूचनाय साध्याधारसूचनायोक्तः। यथा च गम्यमानस्यापि पक्षस्य प्रयोगो नियमेन कर्त्तव्यस्तथा प्रागेव प्रतिपादितम्।

असंभवरूप हेतु प्रयोगसे ही साध्य सिद्धि हो जाती है। उसके लिये दृष्टान्तादिकी जरूरत नहीं पड़ती।

तेन पक्षः तदाधारसूचनाय उक्तः ॥९८॥

सूत्रार्थ—इसी कारणसे साध्यके आधारकी सूचना करनेके लिए पक्षका प्रयोग करनेको कहा है। ज्ञात रहते हुए भी पक्षका प्रयोग व्युत्पन्न के प्रति किया जाता है कि जिससे साध्यका आधार सूचित होवे। पक्षका प्रयोग नियमसे करना चाहिए। ऐसा पहले अच्छी तरहसे सिद्ध कर आये हैं।

भावार्थ—अनुमान प्रमाणका विवेचन बहुत विस्तृत हुआ है इस प्रकरणमें अनुमान, हेतु, अविनाभाव, तर्क, उपनय, निगमन, दृष्टांत, पक्ष, साध्य आदि सभी लक्षण किया गया है। इनमें सबसे अधिक वर्णन हेतुका है, क्योंकि अनुमान प्रमाणका आधार स्तम्भ हेतु है हेतुके कितने भेद होते हैं इसमें परवादियोंके यहां विभिन्न मान्यतायें हैं। बौद्ध हेतुके तीन भेद मानता है। कार्य हेतु, स्वभाव हेतु और अनुपलब्धि हेतु। किन्तु इनमें पूर्वचर आदि अन्य हेतुओंका अंतर्भाव अशक्य है अतः बौद्धोंकी मान्यताका निरसन करते हुए पूर्वचर आदिका सयुक्तिक विवेचन किया है। इस प्रमेयकमल मार्त्तण्ड ग्रंथमें हेतुओंके कुल भेद बाईस किये गये हैं।

[हेतु भेद संबंधी चार्ट अगले पृष्ठ पर देखिये]

हेतुओं के बावीस भेदोंका चार्ट

उपलब्धि हेतु		अनुपलब्धि हेतु	
अविरुद्ध की उपलब्धि	विरुद्ध की उपलब्धि	अविरुद्ध की अनुपलब्धि	विरुद्ध की अनुपलब्धि
विधिसाधक	प्रतिषेध साधक	प्रतिषेध साधक	विधि साधक
१ अविरुद्ध व्याप्य उपलब्धि	१ विरुद्ध व्याप्योपलब्धि	१ अविरुद्ध स्वभावअनुपलब्धि	१ विरुद्धकार्य अनुपलब्धि
२ अविरुद्ध कार्य उपलब्धि	२ विरुद्ध कार्य उपलब्धि	२ अविरुद्ध व्यापकअनुपलब्धि	२ विरुद्धकारण अनुपलब्धि
३ अविरुद्ध कारण उपलब्धि	३ विरुद्ध कारण उपलब्धि	३ अविरुद्ध कार्यअनुपलब्धि	३ विरुद्ध स्वभाव अनपलब्धि
४ अविरुद्ध पूर्वचर उपलब्धि	४ विरुद्ध पूर्वचर उपलब्धि	४ अविरुद्ध कारणअनुपलब्धि	
५ अविरुद्ध उत्तरचर उपलब्धि	५ विरुद्ध उत्तरचर उपलब्धि	५ अविरुद्ध पूर्वचरअनुपलब्धि	
६ अविरुद्ध सहचर उपलब्धि	६ विरुद्ध सहचर उपलब्धि	६ अविरुद्ध उत्तरअनुपलब्धि	
		७ अविरुद्ध सहचरअनुपलब्धि	
१२		१०	

हेतुओंके कुल मिलाकर बावीस भेद हुए

१५

वेदापौरुषेयत्ववादः

अथेदानीमवसरप्राप्तस्यागमप्रमाणस्य कारणस्वरूपे प्ररूपयन्नाप्तेत्याद्याह—

आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ॥९९॥

आप्तेन प्रणीतं वचनमाप्तवचनम् । आदिशब्देन हस्तसंज्ञादिपरिग्रहः । तन्निबन्धनं यस्य तत्तथोक्तम् । अनेनाक्षरश्रुतमनक्षरश्रुतं च संगृहीतं भवति । अर्थज्ञानमित्यनेन चान्यापोहज्ञानस्य

(आगम प्रमाण)

अब आगम प्रमाणका वर्णन करते हुए उसका कारण तथा स्वरूप बतलाते हैं—

आप्तवचनादिनिबंधनमर्थज्ञानमागमः ॥९९॥

सूत्रार्थ— आप्तके वचनादिके निमित्तसे होनेवाले पदार्थोंके ज्ञानको आगम प्रमाण कहते हैं । आप्त द्वारा कथित वचनको आप्तवचन कहते हैं, आदि शब्दसे हस्तका इशारा आदिका ग्रहण होता है, उन आप्त वचनादिका जिसमें निमित्त है उसे आप्त वचन निबंधन कहते हैं, इस प्रकारका लक्षण करनेसे अक्षरात्मक श्रुत और अनक्षरात्मक श्रुत दोनोंका ग्रहण होता है । सूत्रमें 'अर्थ ज्ञानं' ऐसा पद आया है उससे बौद्धके अन्यापोह ज्ञानका खण्डन होता है तथा शब्द संदर्भ ही सब कुछ है शब्दसे पृथक कोई पदार्थ नहीं है ऐसा शब्दाद्वैतवादीका खंडन हो जाता है । आप्त द्वारा कथित शब्दोंसे पदार्थोंका जो ज्ञान होता है वह आगम प्रमाण है । अन्यापोह ज्ञान आदिक

शब्दसन्दर्भस्य चागमप्रमाणव्यपदेशाभावः। शब्दो हि प्रमाणकारणकार्यत्वादुपचारत एव प्रमाण-व्यपदेशमर्हति।

ननु चातीन्द्रियार्थस्य द्रष्टुः कस्यचिदाप्तस्याभावात् तत्राऽपौरुषेयस्यागमस्यैव प्रामाण्यात् कथमाप्तवचननिबन्धनं तद् ? इत्यपि मनोरथमात्रम्; अतीन्द्रियार्थद्रष्टुर्भगवतः प्राक्प्रसाधितत्वात्, आगमस्य चाऽपौरुषेयत्वासिद्धेः। तद्धि पदस्य, वाक्यस्य, वर्णानां वाऽभ्युपगम्येत प्रकारान्तराऽ-

---

आगम प्रमाण नहीं कहलाते। आप्तके वचनको जो आगम प्रमाण माना वह कारणमें कार्यका उपचार करके माना है, अर्थात् वचन सुनकर ज्ञान होता है अतः वचनको भी आगम प्रमाण कह देते हैं, किन्तु यह उपचार मात्र है वास्तविक तो ज्ञानरूप ही आगम प्रमाण है।

विशेषार्थ—आप्तके (सर्वज्ञके) वचन आदिके निमित्तसे जो पदार्थोंका बोध होता है वह आगम प्रमाण कहलाता है, इसप्रकार आगम प्रमाणका लक्षण है। यदि पदार्थोंके ज्ञानको आगम प्रमाण कहते हैं इतना मात्र लक्षण होता तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों में अतिव्याप्ति होती, क्योंकि पदार्थोंका ज्ञान तो प्रत्यक्षादिसे भी होता है अतः वचनोंके निमित्तसे होनेवाला ज्ञान आगम प्रमाण है ऐसा कहा है, "वचन निबंधनमर्थ ज्ञान मागमः" इतना ही आगम प्रमाणका लक्षण करते तो रथ्यापुरुषके वचन, उन्मत्त, सुप्त, ठग पुरुषके वचन भी आगम प्रमाणके निमित्त बन जाते अतः 'आप्त' ऐसा विशेषण प्रयुक्त किया है। सूत्रमें "अर्थ" यह शब्द आया है उसका मतलब है प्रयोजनभूत पदार्थ, अथवा जिससे तात्पर्य निकले उसे अर्थ कहते हैं, तथा बौद्ध शब्दके द्वारा अर्थका ज्ञान न होकर सिर्फ अन्यवस्तुका अपोह होना मानते हैं उस मान्यताका अर्थ पदसे खण्डन हो जाता है, अर्थात् शब्द वास्तविक पदार्थके प्रतिपादक है न कि अन्यापोहके। शब्द और अर्थ में ऐसा ही स्वाभाविक वाचक-वाच्य संबंध है कि घट शब्द द्वारा घट पदार्थ कथनमें अवश्य आ जाता है। घट पदार्थमें वाच्य शक्ति और शब्दमें वाचक शक्ति हुआ करती है। इसप्रकार आप्त पुरुषों द्वारा कहे हुए वचनोंको सुनकर पदार्थका जो ज्ञान होता है वह आगम प्रमाण है ऐसा निश्चय होता है।

शंका—अतीन्द्रिय पदार्थोंको जानने देखनेवाले आप्तनामा पुरुष होना ही असंभव है, अतः अपौरुषेय आगमको ही प्रमाणभूत माना गया है, फिर जो ज्ञान आप्त वचनके निमित्तसे हो वह आगम प्रमाण है ऐसा कहना किसप्रकार सिद्ध हो ?

सम्भवात् ? तत्र न तावत्प्रथमद्वितीयविकल्पौ घटेते; तथाहि–वेदपदवाक्यानि पौरुषेयाणि पदवाक्यत्वाद्भारतादिपदवाक्यवत् ।

अपौरुषेयत्वप्रसाधकप्रमाणाभावाच्च कथमपौरुषेयत्वं वेदस्योपपन्नम् ? न च तत्प्रसाधकप्रामाण्याभावोऽसिद्धः; तथाहि– तत्प्रसाधकं प्रमाणं प्रत्यक्षम्, अनुमानम्, अर्थापत्त्यादि वा स्यात् ? न तावत्प्रत्यक्षम्; तस्य शब्दस्वरूपमात्रग्रहणे चरितार्थत्वेन पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वधर्मग्राहकत्वाभावात् । अनादिसत्त्वस्वरूपं चापौरुषेयत्वं कथमक्षप्रभवप्रत्यक्षपरिच्छेद्यम् ? अक्षाणां प्रतिनियतरूपादिविषयतया अनादिकालसम्बन्धाऽभावतस्तत्सम्बन्धसत्त्वेनाप्यसम्बन्धात् । सम्बन्धे वा तद्वदऽनागतकालसम्बद्धधर्मादिस्वरूपेणापि सम्बन्धसम्भवान्न धर्मज्ञप्रतिषेधः स्यात् ।

समाधान—यह शंका असार है, अतीन्द्रिय पदार्थोंको जानने वाले भगवान अरिहंत देव हैं ऐसा अभी सर्वज्ञ सिद्धिमें निश्चय कर आये हैं, तथा आगम अपौरुषेय हो नही सकता, आप अपौरुषेय किसको मानते हैं पदको, वाक्यको या वर्णोंको ? इनको छोड़कर अन्य तो कोई आगम है नही । पद और वाक्यको अपौरुषेय कहना शक्य नहीं, क्योंकि पद स्वयं रचना बद्ध हो जाय ऐसा देखा नहीं जाता । अनुमान प्रयोगवेदके पद और वाक्य पौरुषेय (पुरुष द्वारा रचित) है क्योंकि पद वाक्य रूप है, जैसे महाभारत आदि शास्त्रोंके पद एवं वाक्य पौरुषेय होते हैं ।

वेदको अपौरुषरूप सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण भी दिखाई नही देता, फिर किस प्रकार उसको अपौरुषेय मान सकेंगे ? वेदके अपौरुषेयत्वका प्रसाधक प्रमाण नही है यह बात असिद्ध भी नहीं । वेदके अपौरुषेयत्वको कौनसा प्रमाण सिद्ध करेगा । प्रत्यक्ष, अनुमान या अर्थापत्ति आदिक ? श्रावण प्रत्यक्ष प्रमाणतो कर नहीं सकता क्योंकि वह तो केवल शब्दके स्वरूपको जानता है, यह सुनायी देनेवाला पद वाक्य पौरुषेय है या अपौरुषेय है इत्यादिरूप शब्दके धर्मको श्रावण प्रत्यक्ष ज्ञान जान नहीं सकता । तथा अपौरुषेय तो अनादि कालसे सत्ताको ग्रहण किया हुआ रहता है इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष उसको कैसे जान सकता है ? इंद्रियां तो अपने अपने प्रतिनियत रूप शब्द आदि विषयोंको ग्रहण करती है, इन्द्रियोंका अनादिकालसे कोई सम्बन्ध नहीं है अतः इंद्रियां अनादि अपौरुषेय शब्दके सत्ताके साथ संबंधको स्थापित नहीं कर सकती । अनादि कालीन पदार्थसे यदि इंद्रियां संबंधको कर सकती हैं तो उसके समान अनागतकाल संबंधी धर्म अधर्म के साथ भी सम्बन्ध स्थापित कर सकेगी ? फिर तो आप मीमांसक आत्माके धर्मज्ञ बननेका निषेध नहीं कर सकेंगे । अर्थात् आपका यह कहना है कि कोई

नाप्यनुमानं तत्प्रसाधकम्; तद्धि कर्त्रऽस्मरणहेतुप्रभवम्, वेदाध्ययनशब्दवाच्यत्वलिङ्गजनितं वा स्यात्, कालत्वसाधनसमुत्थं वा ? तत्राद्यपक्षे किमिदं कर्त्तुरस्मरणं नाम–कर्तृस्मरणाभावः, अस्मर्यमाणकर्त्तृकत्वं वा ? प्रथमपक्षे व्यधिकरणाऽसिद्धो हेतुः, कर्तृस्मरणाभावो ह्यात्मन्यपौरुषेयत्वं वेदे वर्त्तते इति।

द्वितीयपक्षे तु दृष्टान्ताभावः; नित्यं हि वस्तु न स्मर्यमाणकर्तृकं नाप्यस्मर्यमाणकर्तृकं प्रतिपन्नम्, किन्त्वकर्तृकमेव। हेतुश्च व्यर्थविशेषणः; सति हि कर्तरि स्मरणमस्मरणं वा स्यान्नासति

भी पुरुष चाहे वह महायोगी भी क्यों न हो किन्तु धर्म अधर्मरूप अदृष्टको प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। सो आपकी यह बात खंडित होगी, क्योंकि यहां इंद्रिय द्वारा धर्म आदिका ज्ञान होना स्वीकार कर रहे हैं ? अतः प्रत्यक्ष प्रमाण वेदके अपौरुषेयत्वको सिद्ध नहीं कर सकता।

अनुमान प्रमाण भी वेदके अपौरुषेयत्वको सिद्ध नहीं कर सकता, आप अनुमानद्वारा अपौरुषेयत्वको सिद्ध करना चाहते हैं सो उस अनुमानमें कौनसा हेतु प्रयुक्त करेंगे, कर्त्ताका अस्मरणरूप या वेदाध्ययन शब्द वाच्यत्वरूप अथवा कालत्वरूप ? प्रथम पक्षमें प्रश्न होता है कि कर्त्ताका अस्मरण इस पदका क्या अर्थ है, कर्त्ताके स्मरणका अभावरूप अर्थ है या अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप अर्थ है ? (स्मृतिमें आये हुए कर्त्ताका निषेध करना रूप अर्थ है ?) प्रथम विकल्प कहो तो व्यधिकरण असिद्ध नामा हेत्वाभास बनता है कैसे सो ही बताते हैं–साध्य और हेतुका अधिकरण विभिन्न होना व्यधिकरण असिद्ध हेत्वाभास कहलाता है, यहां पर कर्त्ताके स्मरण का अभावरूप हेतु है सो यह स्मरणका अभाव आत्मारूप अधिकरणमें है और अपौरुषेयरूप साध्य वेद अधिकरणमें है (अर्थात् स्मरणाभावरूप हेतु हमारे आत्मामें है और अपौरुषेयत्वको सिद्ध करना है वह साध्य वेद में है) अतः व्यधिकरण असिद्ध हेत्वाभास होता है।

दूसरा विकल्प–अस्मर्यमाण कर्तृत्वरूप हेतु पदका अर्थ करते हैं तो दृष्टांतका अभाव होगा, जो वस्तु नित्य होती है वह स्मर्यमाण कर्तृत्वरूप भी नहीं है और अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप भी नहीं है वह तो अकर्तृत्वरूप ही है। (क्योंकि नित्यवस्तुका कर्त्ता ही नहीं होता अतः उसके कर्त्ताका स्मरण है या नहीं इत्यादि कथन गलत ठहरता है) हेतुका विशेषण भी व्यर्थ होता है क्योंकि कर्त्ताके होने पर ही स्मरण और अस्मरण संबंधी प्रश्न होते हैं, कर्ताके अभाव में तो हो नहीं सकते, जैसे खरविषाणका

खरविषाणवत्। अथाऽकर्तृकत्वमेवात्र विवक्षितम्; तर्हि स्मर्यमाणग्रहणं व्यर्थम्, जीर्णकूपप्रासादादिभिर्व्यभिचारश्च। अथ सम्प्रदायाऽविच्छेदे सत्यऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वं हेतुः; तथाप्यनेकान्तः। सन्ति हि प्रयोजनाभावादस्मर्यमाणकर्तृकाणि 'वटे वटे वैश्रवणः' [ ] इत्याद्यनेकपदवाक्यान्यविच्छिन्नसम्प्रदायानि। न च तेषामपौरुषेयत्वं भवतापीष्यते। असिद्धश्चायं हेतुः; पौराणिका हि ब्रह्मकर्तृकत्वं स्मरन्ति "वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः" [ ] इति। "प्रतिमन्वन्तरं

स्मरण या अस्मरण कुछ भी नहीं होता। यदि कहा जाय कि वेदको अपौरुषेय सिद्ध करनेमें अकर्तृत्वको ही हेतु बनाया है तो फिर उसका अस्मर्यमाणत्व विशेषण व्यर्थ ठहरेगा ? तथा पुराने कूप महल आदिके साथ हेतु व्यभिचरित होता है, क्योंकि ये पदार्थ कर्त्ता द्वारा रचित होते हुए भी अस्मर्यमाण कर्तृत्वरूप हैं (कर्त्ताके स्मरणसे रहित हैं) यदि कहा जाय कि जिसमें संप्रदायके विच्छेदसे रहित अस्मर्यमाणकर्तृत्व है उसको हेतु बनाते हैं तो यह हेतु भी अनेकान्तिक दोष युक्त है।

भावार्थ—जिस वस्तुमें शुरूसे अभी तक परंपरासे कर्त्ताका स्मरण न हो उसे अस्मर्यमाण कर्तृत्व कहते हैं, वेद इसी प्रकारका है उसके कर्त्ताका परंपरासे अभी तक किसीको भी स्मरण नहीं है अतः इस अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु द्वारा अपौरुषेयत्वसाध्यको सिद्ध किया जाता है, जीर्ण कूप आदि पदार्थ भी अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप है किन्तु संप्रदाय अविच्छेद रूप अस्मर्यमाणकर्तृत्व नहीं है क्योंकि जीर्णकूपादिका कर्त्ता वर्त्तमान कालमें भले ही अस्मर्यमाण हो किन्तु पहले अतीतकालमें तो स्मर्यमाण ही था, अतः जीर्णकूप आदिका अस्मर्यमाणकर्तृत्व विभिन्न जातिका है ऐसा परवादी मीमांसकादिका कहना है सो यह कथन भी अनेकान्त दोष युक्त है, इसीको आगे बता रहे हैं।

वट वट में वैश्रवण रहता है, पर्वत पर्वत पर ईश्वर वसता है, इत्यादि पद एवं वाक्य प्रयोजन नहीं होनेसे अविच्छिन्न सम्प्रदायसे अस्मर्यमाण कर्त्तारूप हैं किंतु उन पद एवं वाक्योंको आप भी अपौरुषेय नहीं मानते हैं, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जो अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप है वह अपौरुषेय होता है ऐसा कहना व्यभिचरित होता है। यह अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु असिद्ध भी है, अब इसी दोषका विवरण करते हैं—आपके यहां पौराणिक लोग ब्रह्माको वेदका कर्त्ता मानते हैं, "वक्त्रेभ्योवेदास्तस्य विस्तृताः" उस ब्रह्माजीके मुखसे वेद शास्त्र निकला है ऐसा आगमवाक्य है। प्रतिमन्वन्तर (एक मनुके बाद दूसरे मनुकी उत्पत्ति होने में जो बीचमें काल होता है उस अंतरालको

वैव श्रुतिरन्या विधीयते" [ ] इति चाभिधानात्। "यो वेदांश्च प्रहिणोति" [ ] इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च तत्कर्त्ता स्मर्यते।

स्मृतिपुराणादिवच्च ऋषिनामाङ्किताः काण्वमाध्यन्दिनतैत्तिरीयादयः शाखाभेदाः कथमस्मर्यमाणकर्तृकाः ? तथाहि-एतास्तत्कृतकत्वात्तन्नामभिरङ्किताः, तद्दृष्टत्वात्, तत्प्रकाशितत्वाद्वा ? प्रथमपक्षे कथमासामपौरुषेयत्वमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वा ? उत्तरपक्षद्वयेपि यदि तावदुत्सन्ना शाखा कण्वादिना दृष्टा प्रकाशिता वा तदा कथं सम्प्रदायाऽविच्छेदोऽतीन्द्रियार्थदर्शिनः प्रतिक्षेपश्च स्यात् ? अथानवच्छिन्नैव सा सम्प्रदायेन दृष्टा प्रकाशिता वा; तर्हि यावद्भिरुपाध्यायैः सा दृष्टा प्रकाशिता वा तावतां नामभिस्तस्याः किन्नाङ्कितत्वं स्याद्विशेषाभावात् ?

प्रतिमन्वन्तर कहते हैं) प्रमाण वर्ष व्यतीत होनेपर अन्य अन्य श्रुतियोंका निर्माण होता है, इत्यादि तथा जो वेदोंका कर्त्ता है वह प्रसन्न हो इत्यादि वेद वाक्योंसे वेदकर्त्ताका स्मरण है ऐसा निश्चित होता है।

जिस प्रकार स्मृतिग्रंथ, पुराणग्रंथ आदिमें ऋषियों के नाम पाये जाते हैं उसीप्रकार कण्वऋषि निर्मित काण्व, मध्यंदिनका माध्यंदिन तैत्तिरीय इत्यादि शाखा भेद वेदोंमें पाये जाते हैं फिर उन वेदोंको अस्मर्यमाण कर्तृत्वरूप कैसे मान सकते हैं, वेद इन ऋषियों के नामोंसे अंकित क्यों हैं ? उनके द्वारा किया गया है या देखा गया है अथवा प्रकाशित हैं ? यदि उनके द्वारा किया गया है तो वह अपौरुषेय किस प्रकार कहलायेगा और अस्मर्यमाण भी किस प्रकार कहलायेगा ? अर्थात् नहीं कहला सकता। उनके द्वारा वेद देखा गया है अथवा प्रकाशित किया गया है ऐसा माने तो प्रश्न होता है कि व्युच्छिन्न हुई वेद शाखाओं को देखा या प्रकाशित किया अथवा अव्युच्छिन्न वेद शाखाओंको देखा या प्रकाशित किया ? प्रथम विकल्प माने तो वेदके संप्रदायका अविच्छेद किस प्रकार सिद्ध होगा ? तथा अतीन्द्रिय पदार्थके ज्ञाताका खंडन भी किस प्रकार सिद्ध होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता, क्योंकि कण्व आदि ऋषियोंने व्युच्छिन्न हुए वेद शाखाओंका देखा है ! द्वितीय विकल्प माने तो संप्रदाय परंपरासे जितने भी उपाध्यायों द्वारा वेद शाखायें देखी या प्रकाशित की गयी हैं उन सबके नाम वेदोंमें क्यों नहीं अंकित हुए ? आशय यह है कि जब वेद शाखा अनवच्छिन्न संप्रदायसे चली आयी है तब उस संप्रदायको अनच्छिन्न बनाये रखने वाले सभी महानुभावोंके नाम वेदमें अंकित होने चाहिए किन्हींके नाम हो और किन्हींके न हो ऐसा होनेमें कोई विशेष कारण तो है नहीं।

एतेन 'छिन्नमूलं वेदे कर्तृस्मरणं तस्य ह्यनुभवो मूलम् । न चासौ तत्र तद्विषयत्वेन विद्यते' इत्यपि प्रत्युक्तम् । यतोऽध्यक्षेण तदनुभवाभावात् तत्र तच्छिन्नमूलम्, प्रमाणान्तरेण वा ? अध्यक्षेण चेत्; किं भवत्सम्बन्धिना, सर्वसम्बन्धिना वा ? यदि भवत्सम्बन्धिना; तह्यागमान्तरेपि कर्तृग्राहकत्वेन भवत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तेस्तत्कर्तृस्मरणस्य छिन्नमूलत्वेनास्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य भावाद् व्यभिचारी हेतुः । अथागमान्तरे कर्तृग्राहकत्वेनास्मत्प्रत्यक्षस्याप्रवृत्तावपि परैः कर्तृसद्भावाभ्युपगमात् ततो व्यावृत्तमस्मर्यमाणकर्तृकत्वमपौरुषेयत्वेनैव व्याप्यते इति अव्यभिचारः; न; परकीयाभ्युपगमस्याप्रमाणत्वात्, अन्यथा वेदेपि परैः कर्तृसद्भावाभ्युपगमतोऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्यसिद्धो हेतुः स्यात् ।

मीमांसक का कहना है कि वेदके विषयमें कर्त्ताका स्मरण छिन्नमूल हो गया है, स्मरण ज्ञानका कारण अनुभव है वह वेदके विषयमें नहीं रहा है ? इत्यादि सो यह कथन भी खंडित होता है, आगे इसीको बताते हैं–प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा वेदकर्त्ताका अनुभव नहीं होनेसे उसको छिन्नमूल मानते हैं अथवा अनुमानादि प्रमाण द्वारा अनुभव नहीं होनेसे छिन्नमूल मानते हैं ? प्रथम पक्ष कहो तो वह प्रत्यक्ष प्रमाण किसका है आप स्वयंको होने वाला प्रत्यक्ष या सर्वसम्बन्धी प्रत्यक्ष ? आपके प्रत्यक्ष द्वारा वेदकर्त्ताका अनुभव नहीं आता इसलिये उसको छिन्नमूल कहो तो अन्य बौद्ध आदिके आगमकर्त्ताका भी आपको अनुभव नहीं है अतः वह आगम भी छिन्नमूल होनेसे अस्मर्यमाण कर्तृत्वरूप सिद्ध होता है और इस तरह अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु व्यभिचारी बनता है ।

भावार्थ—वेदका कर्त्ता स्मरणमें नहीं आता अतः वेद अपौरुषेय है ऐसा मीमांसकका कहना है किन्तु यह हेतु सदोष है, क्योंकि ऐसे बहुतसे पद वाक्य एवं शास्त्र हैं कि जिनके कर्त्ताका स्मरण नहीं है, अपनेको स्मरण नहीं होने मात्रसे वह वस्तु अकृतक नहीं कहलाती । स्मरणका मूल अनुभव है और अनुभव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणसे होता है, हमको वेदकर्त्ताका अनुभव प्रत्यक्षसे नहीं होनेके कारण उस वेदको अस्मर्यमाण कर्तृत्वरूप मानते हैं तो बौद्धादिके ग्रंथको भी अस्मर्यमाण कर्तृत्वरूप मानना होगा ? क्योंकि उस ग्रन्थका भी हमको प्रत्यक्षसे अनुभव नहीं है ।

मीमांसक–बौद्ध आदिके आगमका कर्त्ता हमारे प्रत्यक्ष भले ही न हो किन्तु वे परवादी तो कर्त्ताका सद्भाव स्वीकार करते ही हैं अतः उनका आगम अस्मर्यमाण कर्तृत्व नहीं होनेसे अपौरुषेय सिद्ध नहीं होता, इसतरह उस आगमसे व्यावृत्त हुआ अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु वेदमें अपौरुषेयत्वको सिद्ध कर देता है । अतः यह हेतु अव्यभिचारी है !

अथ वेदे सविगानकर्तृविशेष विप्रतिपत्तेः कर्तृस्मरणमस्तोऽप्रमाणम्–तत्र हि केचिद्धिरण्यगर्भम्, अपरे अष्टकादीन् कर्तॄन्स्मरन्तीति। नन्वेवं कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेस्तद्विशेषस्मरणमेवाप्रमाणं स्यात् न कर्तृमात्रस्मरणम्, अन्यथा कादम्बर्यादीनामपि कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तेः कर्तृमात्रस्मरणत्वेनास्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य भावात्पुनरप्यनेकान्तः। अथ वेदे कर्तृविशेषे विप्रतिपत्तिवत्कर्तृमात्रेपि विप्रतिपत्तेस्तत्स्मरणमप्यप्रमाणम्, कादम्बर्यादीनां तु कर्तृविशेषे एव विप्रतिपत्तेस्तत्प्रमाणमित्यनैकान्तिकत्वाभावोऽस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्य विपक्षे प्रवृत्त्यभावात्। ननु वेदे सौगतादयः कर्त्तारं स्मरन्ति न

जैन—ऐसा नहीं है, परवादीकी मान्यता अप्रमाण हुआ करती है, यदि उनका सिद्धांत स्वीकार करते तो उन्होंने वेदमें कर्त्ता माना उसको भी स्वीकार करना होगा। फिर उसका अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु असिद्ध हेत्वाभास ही कहलायेगा।

मीमांसक—वेदमें कर्त्ताके विषयमें परवादी विवाद करते हैं अर्थात् कर्त्ताको स्वीकार करके भी निश्चित कर्त्ता विशेष तो उनके यहां भी सिद्ध नहीं होता, अतः बौद्ध आदिका वेद कर्तृविषयक स्मरण ज्ञान अप्रमाणभूत है, उन परवादियोंमें कोई तो ब्रह्माको वेदकर्त्ता बतलाते हैं और कोई अष्टक नामा दैत्यको वेदकर्त्ता बतलाते हैं।

जैन—इसतरह कर्त्ता विशेषमें विवाद होनेसे उस कर्त्ता विशेषका स्मरण ज्ञान ही अप्रमाणभूत कहा जा सकता है किन्तु कर्त्ता सामान्यका स्मरण ज्ञान तो प्रमाण भूत ही कहलायेगा, यदि कर्त्ता विशेषमें विवाद होने मात्रसे वेदको अपौरुषेय मानकर अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु द्वारा उसे सिद्ध किया जाय तो कादंबरी आदि ग्रंथोंके कर्त्ता विशेषमें भी विवाद देखा जाता है कि इस कादंबरी आदि ग्रंथका कर्त्ता बाण नामा कवि है अथवा शंकर है? इत्यादि सो यहां कर्त्ता सामान्यका स्मरण होते हुए भी कर्त्ता विशेषका तो अस्मरण ही रहता है अतः अस्मर्यमाण कर्तृत्व होनेसे वेद अपौरुषेय है ऐसा कहना गलत ठहरता है, क्योंकि अस्मर्यमाण कर्तृत्व नामा हेतु पौरुषेय आगममें भी पाया जाता है अतः अनैकांतिक हेत्वाभास बनता है।

शंका—वेदमें कर्त्ता विशेषके समान कर्त्ता सामान्यमें भी विवाद है अतः वेद कर्त्ताका स्मरण अप्रमाणभूत है किन्तु कादंबरी आदि ग्रंथोंमें ऐसी बात नहीं है, वहां तो सिर्फ कर्त्ता विशेषमें ही विवाद है अतः वहां कर्त्ताका स्मरण प्रमाणभूत माना जाता है इसप्रकार अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं बनता, क्योंकि यह विपक्षमें नहीं जाता।

मीमांसका इत्येवं कर्तृमात्रे विप्रतिपत्तेर्यदि तदप्रमाणम्; तर्हि तद्वदस्मरणमप्यप्रमाणं किन्न स्याद्विप्रतिपत्तेरविशेषात् ? तथा चासिद्धो हेतुः ।

अथ यदनुपलम्भपूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं हेतुत्वेनोच्येत; तदोक्तप्रकारेणाऽसिद्धानैकान्तिकत्वे स्याताम्, तदभावपूर्वके तु तस्मिंस्तयोरनवकाशः; न; अत्र कर्त्रऽभावग्राहकस्य प्रमाणान्तरस्यैवाऽसम्भवात् । अस्मादेवानुमानात्तदभावसिद्धावन्योन्याश्रयः-अतो ह्यऽनुमानात्तदभावसिद्धौ तत्पूर्वकमस्मर्यमाणकर्तृकत्वं सिद्ध्यति, तत्सिद्धौ चातोऽनुमानात्तदभावसिद्धिरिति ।

समाधान—यह कथन भी ठीक नहीं, बौद्ध आदि परवादी वेद कर्त्ताका स्मरण होना मानते हैं किन्तु मीमांसक तो स्मरण होना मानते ही नहीं इसप्रकार सामान्य कर्त्ताके बारे में भी विवाद है ऐसा मानकर उस कर्त्ताके स्मरणको अप्रमाण कहेंगे तो कोई ऐसा भी कह सकता है कि वेदकर्त्ताका अस्मरण अप्रमाणभूत है, क्योंकि उसमें विवाद है । इसतरह वेदकर्त्ता का स्मरण होना और स्मरण नहीं होना इन दोनोंमें विवाद ही रह जाता है अतः मीमांसक द्वारा दिया हुआ अस्मर्यमाणकर्तृत्व नामा हेतु असिद्ध होता है ।

मीमांसक—वेद अपौरुषेय है, क्योंकि उसके कर्त्ताका अस्मरण है, इस अनुमान के अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतुको यदि अनुपलंभरूपसे सिद्ध किया जाता है अर्थात् कर्त्ताके स्मरणका अनुपलंभ होनेसे अस्मर्यमाण कर्तृत्व है, ऐसा माना जाय तब तो वह हेतु असिद्ध एवं अनैकान्तिक हो सकता है किन्तु कर्त्ताके स्मरणका अभाव होनेसे अस्मर्यमाणकर्तृत्व है ऐसा मानेंगे तब असिद्धादि दोष नहीं आते हैं ।

जैन—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि वेदकर्त्ताके अभावको ग्रहण करनेवाला कोई प्रमाणान्तर संभव नहीं है, यदि इसी अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु वाले अनुमान द्वारा वेदकर्त्ताका अभाव सिद्ध करेंगे तो अन्योन्याश्रय होगा—अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतुसे कर्त्ताका अभाव सिद्ध होनेपर उसके अभाव पूर्वक होनेवाला अस्मर्यमाणकर्तृत्व सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर इस अनुमानसे कर्त्ताका अभाव सिद्ध होवेगा, इस तरह दोनों असिद्ध कोटीमें रह जाते हैं ।

ननु वेदे कर्तृसद्भावाभ्युपगमे तत्कर्तुः पुरुषस्यावश्यं तदनुष्ठानसमये अनुष्ठातॄणामनिश्चित-प्रामाण्यानां तत्प्रामाण्यप्रसिद्धये स्मरणं स्यात्। ते ह्यदृष्टफलेषु कर्मस्वेवं निःसंशयाः प्रवर्त्तन्ते। यदि तेषां तद्विषयः सत्यत्वनिश्चयः, सोपि तदुपदेष्टुः स्मरणात्स्यात्। यथा पित्रादिप्रामाण्यवशात्स्वयमदृष्ट फलेष्वपि कर्मसु तदुपदेशात्प्रवर्त्तन्ते 'पित्रादिभिरेतदुपदिष्टं तेनानुष्ठीयते', एवं वैदिकेष्वपि कर्मस्वनुष्ठीयमानेषु कर्त्तुः स्मरणं स्यात्। न चाभियुक्तानामपि वेदार्थानुष्ठातॄणां त्रैवर्णिकानां तत्स्मरणमस्ति। तथा चैव प्रयोगः–कर्त्तुः स्मरणयोग्यत्वे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वादपौरुषेयो वेदः'। तदप्यसम्बद्धम्; आगमान्तरेऽप्यस्य हेतोः सद्भावबाधकप्रमाणाऽसम्भवेन सद्भावसम्भवतः सन्दिग्धविपक्षव्यावृत्तिकत्वेनानैकान्तिकत्वात्।

मीमांसक—बात यह है कि वेदकर्त्ताका सद्भाव मानते हैं तो उस वेदकर्त्ता का स्मरण उन पुरुषोंको अवश्य होना चाहिये जिनको कि वेदमें लिखित क्रियाका अनुष्ठान करना है, वे अनुष्ठान करने वाले पुरुष पहले तो वेदकी प्रमाणताको जानने वाले नहीं होते हैं जब वे उसकी प्रमाणताका निश्चय करते हैं तब अनुष्ठायक बनते हैं क्योंकि जब तक अनुष्ठानका फल नहीं जाना है तब तक उसमें निःसंशयरूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती, इस प्रकार वेदकी प्रमाणताका निश्चय होना चाहिए यह बात सिद्ध हुई, अब उस वेद विषयक प्रमाणताका निश्चय अनुष्ठायक पुरुषोंको किसप्रकार होगा यह देखना है, वह निश्चय तो वेदका उपदेश देने वाले पुरुषका स्मरण होने से होगा, जैसे कि जिन क्रियाओंका फल अज्ञात है उन क्रियाओंमें—अपने माता पिताके प्रमाणताके निमित्तसे क्रिया संबंधी उपदेशको पाकर प्रवृत्ति होती है कि पिताजीने इस प्रकार बताया था [ऐसी क्रिया बतलायी थी] इत्यादि, फिर तदनुसार वे पुत्रादि अनुष्ठानमें प्रवृत्ति करते हैं। ठीक इसीप्रकार वैदिक क्रियानुष्ठान करते समय भी वेद कर्त्ताका स्मरण होना चाहिए किन्तु वेद विहित क्रियानुष्ठानोंमें प्रवृत्त हुए त्रैवर्णिक पुरुषोंको ऐसा स्मरण ज्ञान होता तो नहीं! इसीसे अनुमान होता है कि वेदकर्त्ता स्मरण होने योग्य होकर भी स्मरणमें नहीं आता अतः अस्मर्यमाण होनेसे वेद अपौरुषेय है।

जैन—यह मीमांसक का विस्तृत कथन असंबद्ध प्रलाप मात्र है, आपका अस्मर्यमाण कर्तृत्व नामा हेतु बौद्धादिके पौरुषेय आगममें जाना संभव है उसका उस विपक्षीभूत पौरुषेय आगममें जानेमें कोई बाधक प्रमाण तो दिखायी नहीं देता अतः यह हेतु संदिग्ध विपक्ष व्यावृत्ति नामा अनैकांतिक हेत्वाभास बनता है।

किञ्च, विपक्षविरुद्धं विशेषणं विपक्षाद्वयावर्त्तमानं स्वविशेष्यमादाय निवर्त्तेत । न च पौरुषेयत्वेन सह कर्त्तुः स्मरणयोग्यत्वस्य सहानवस्थानलक्षणः परस्परपरिहारस्थितिलक्षणो वा विरोधः सिद्धः । सिद्धौ वा तत एव साध्यप्रसिद्धेः 'अस्मर्यमाणकर्तृकत्वात्' इति विशेष्योपादानं व्यर्थम् ।

यच्चोक्तम्–तदनुष्ठानसमय इत्यादि; तदागमान्तरेपि समानम् न वा इति चिन्त्यताम्– न चायं नियमः–'अनुष्ठातारोऽभिप्रेतार्थानुष्ठानसमये तत्कर्त्तारमनुस्मृत्यैव प्रवर्त्तन्ते' । न खलु पाणिन्यादिप्रणीत-व्याकरणप्रतिपादितशाब्दव्यवहारानुष्ठानसमये तदर्थानुष्ठातारोऽवश्यन्तया व्याकरणप्रणेतारं पाणिन्या-दिकमनुस्मृत्यैव प्रवर्त्तन्त इति प्रतीतम् । निश्चिततत्समयानां कर्तृस्मरणव्यतिरेकेणाप्याशुतरं भवत्यादिसाधुशब्दोपलम्भात् । तन्न भवत्सम्बन्धिप्रत्यक्षेणानुभवाभावात् । तत्र तच्छिन्नमूलम् ।

दूसरी बात यह है कि हेतुका जो विशेषण होता है वह विपक्षसे विरुद्ध होता है अतः जब वह विपक्षसे व्यावृत्त होता है तब स्व विशेष्यको लेकर व्यावृत्त होता है, ऐसा ही नियम है । किन्तु यहां प्रकरणमें पौरुषेय रूप विपक्षके साथ कर्त्ताके स्मरणकी योग्यताका सहानवस्था विरोध या परस्पर परिहार विरोध तो सिद्ध नहीं है, अर्थात् जहां पर पौरुषेय हो वहांपर कर्त्ताके स्मरणकी योग्यता नहीं रहे ऐसा इन दोनोंमें अंधकार और प्रकाश के समान कोई विरोध तो है नहीं जिससे कर्त्ताके स्मरणके अभावमें पौरुषेय भी नहीं रहता ऐसा नियम बन सके ? पौरुषेयत्वमें और कर्त्तास्मरण की योग्यतामें जबरदस्ती विरोधको सिद्ध भी कर लेवे तो फिर उतने मात्रसे ही साध्य (अपौरुषेयत्व) की सिद्धि हो जायगी, फिर तो अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु रूप विशेष्यको ग्रहण करना व्यर्थ ही ठहरेगा ।

मीमांसक ने कहा कि वेद विहित अनुष्ठानको करते समय कर्त्ताका स्मरण अवश्य होता है इत्यादि, सो यह बात अन्य आगममें भी समान है ? आप विचार करें कि इस तरह है कि नहीं । यह नियम नहीं बन सकता कि अनुष्ठान को करने वाले व्यक्ति शास्त्र विहित क्रियाको करते समय उस शास्त्रके कर्त्ताको जरूर स्मरण करते हों पाणिनि आदि ग्रंथकार द्वारा प्रणीत व्याकरणमें प्रतिपादित किये गये धातु लिंग आदि संबंधी शब्द होते हैं उनको व्यवहारमें प्रयोग करते समय पाणिनि आदि ग्रन्थकारका स्मरण करके ही प्रयोग करते हैं ऐसा प्रतीत नहीं होता । व्याकरण कथित शब्दोंका नियम जिनको याद है वे पुरुष व्याकरण कर्त्ताका स्मरण किये बिना भी शीघ्रतासे "भवति" इत्यादि धातुपद आदि साधु शब्दोंको उपलब्ध करते हैं । इसप्रकार आप मीमांसक के प्रत्यक्ष द्वारा वेदकर्त्ताका अनुभव नहीं होनेसे वेदकर्त्ताका स्मरण छिन्नमूल

नापि सर्वसम्बन्धिप्रत्यक्षेण; तेन ह्यनुभवाभावोऽसिद्धः। न ह्यर्वाग्दृशां 'सर्वेषां तत्र कर्तृग्राहकत्वेन प्रत्यक्षं न प्रवर्त्तते' इत्यवसातुं शक्यमिति तत्र तत्स्मरणस्य छिन्नमूलत्वासिद्धेरस्मर्यमाणकर्तृकत्वादित्यसिद्धो हेतुः।

अथ प्रमाणान्तरेणानुभवाभावः; तन्न; अनुमानस्य आगमस्य च प्रमाणान्तरस्य तत्र कर्तृसद्भावावेदकस्य प्राक्प्रतिपादितत्वात्।

किञ्च, अस्मर्यमाणकर्तृकत्वं वादिनः, प्रतिवादिनः, सर्वस्य वा स्यात्? वादिनश्चेत्; तदनैकान्तिकं "सा ते भवतु सुप्रीता" [ ] इत्यादौ विद्यमानकर्तृकेप्यस्य सम्भवात्। प्रतिवादिन-

---

माना जाता है ऐसा कहना गलत है। अब सर्व संबंधी प्रत्यक्षके द्वारा अनुभव नहीं होनेसे वेदकर्त्ताका स्मरण छिन्नमूल माना जाता है, ऐसा दूसरा पक्ष कहा जाय तो वह भी गलत होता है, क्योंकि सर्व संबंधी प्रत्यक्षके द्वारा होनेवाले अनुभवका अभाव असिद्ध है, इसमें भी कारण यह है कि हम जैसे लोगोंका प्रत्यक्ष ज्ञान "सभी जीवोंके प्रत्यक्ष द्वारा वेदकर्त्ताका अनुभव नहीं होता" ऐसा जाननेके लिये समर्थ नहीं है। जब सबके प्रत्यक्षका निर्णय ही नहीं कर सकते तो वेदकर्त्ताका स्मरण छिन्नमूल होनेसे वेदको अस्मर्यमाण कर्तृत्व रूप मानते हैं ऐसा कहना कैसे सिद्ध हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। इस तरह अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु असिद्ध ही कहलाता है।

यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा वेदकर्त्ताके अनुभवका अभाव सिद्ध नहीं होता तो मत हो अन्य प्रमाण द्वारा उस अभावको सिद्ध किया जाय? सो यह कथन गलत है, अनुमान और आगमरूप जो अन्य प्रमाण है वह तो वेदमें कर्त्ताका सद्भाव ही सिद्ध करता है, न कि अभाव, इस बात का पहले ही प्रतिपादन कर दिया है।

मीमांसक वेदको अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये अस्मर्यमाण कर्तृत्व नामा हेतु प्रस्तुत करते हैं सो वेदकर्त्ताका स्मरण किसको नहीं, वादीको (मीमांसकको) या प्रतिवादीको (जैनादिको) अथवा सभीको? वादीको कहो तो हेतु अनैकान्तिक बन जायगा, क्योंकि "सा ते भवतु सुप्रीता" इत्यादि आगम वाक्य कर्त्तायुक्त होते हुए भी अस्मर्यमाण कर्तृत्व वाले हैं, अर्थात् इन वाक्योंका कर्त्ता भी स्मरणमें नहीं आता। प्रतिवादीको वेदकर्त्ताका स्मरण नहीं है ऐसा कहो तो असिद्ध हेत्वाभास होवेगा, क्योंकि

श्चेत्; तदसिद्धम्; तत्र हि प्रतिवादी स्मरत्येव कर्त्तारम् । एतेन सर्वस्यास्मरणं प्रत्याख्यातम् । सर्वात्मज्ञानविज्ञानरहितो वा कथं सर्वस्य तत्र कर्त्रऽस्मरणमवैति ?

किंच, अतः स्वातन्त्र्येणापौरुषेयत्वं साध्येत्, पौरुषेयत्वसाधनमनुमानं वा बाध्येत ? प्राच्यविकल्पे स्वातन्त्र्येणापौरुषेयत्वस्यादः साधनम्, प्रसङ्गो वा ? स्वातन्त्र्यपक्षे नाऽतोऽपौरुषेयत्वसिद्धिः पदवाक्यत्वतः पौरुषेयत्वप्रसिद्धेः । अतो न ज्ञायते किमस्मर्यमाणकर्तृत्वादपौरुषेयो वेदः पदवाक्यात्मकत्वात्पौरुषेयो वा ? न च सन्देहहेतोः प्रामाण्यम् ।

ननु न प्रकृताद्धेतोः सन्देहोत्पत्तिर्येनास्याऽप्रामाण्यम् किन्तु प्रतिहेतुतः, तस्य चैतस्मिन्सत्यऽप्रवृत्तेः कथं संशयोत्पत्तिः ? तदयुक्तम्; यथैव हि प्रकृतहेतोः सद्भावे पौरुषेयत्वसाधकहेतोरप्रवृत्तिर-

---

प्रतिवादी को तो वेदकर्त्ताका स्मरण ही है । वादी प्रतिवादी सभीको वेदकर्त्ताका स्मरण नहीं है ऐसा कहना भी इसी उपर्युक्त कथनसे खण्डित होता है । जब हमें सभी जीवोंका ज्ञान ही नहीं होता तब कैसे कह सकते हैं कि सभीको वेदकर्त्ताका स्मरण नहीं है ?

तथा आप मीमांसक को इस हेतु द्वारा क्या साधना है स्वतन्त्रतासे मात्र अपौरुषेयपने को सिद्ध करना है अथवा पौरुषेयपने को सिद्ध करने वाले अनुमान में बाधा उपस्थित करना है ? प्रथम विकल्पमें प्रश्न होता है कि यह हेतु स्वतंत्रतासे अपौरुषेयत्वको साधने वाला है अथवा प्रसंग साधन रूप है ? स्वतन्त्रतासे अपौरुषेयत्व को साधने वाला है ऐसा कहो तो इस हेतुसे (अस्मर्यमाणकर्तृत्वसे) अपौरुषेयत्व सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि पद वाक्यत्वरूप अन्य हेतुसे पौरुषेयत्व प्रसिद्ध होना संभव है । अतः निर्णीत नहीं होता कि वेद अस्मर्यमाणकर्तृत्व होनेसे अपौरुषेय अथवा पद वाक्यात्मका रचा हुआ होनेसे पौरुषेय है । इस प्रकार जो संदेहास्पद होता है वह हेतु प्रामाणिक नहीं कहलाता ।

शंका—अस्मर्यमाणकर्तृत्व नामा हेतु संदेहास्पद होनेसे अप्रामाणिक नहीं होता अपितु प्रतिकूल हेतु द्वारा अप्रामाणिक हो सकता है किन्तु उस प्रतिकूल हेतुकी यहां पर प्रवृत्ति नहीं है अतः किसप्रकार संशय होगा ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, जिस प्रकार अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतुके रहने पर पौरुषेयत्व को सिद्ध करने वाला प्रति हेतु प्रवृत्ति नहीं करता ऐसा कहा जाता है

भिधीयते तथा पदवाक्यत्वलक्षणहेतुसद्भावे सत्यस्मर्यमाणकर्तृकत्वस्याप्यप्रवृत्तिरस्तु विशेषाभावात्। तन्न स्वतन्त्रसाधनमिदम्।

नापि प्रसङ्गसाधनम्; तत्खलु 'पौरुषेयत्वाभ्युपगमे वेदस्य तत्कर्तुः पुरुषस्य स्मरणप्रसङ्गः स्यात्'। इत्यनिष्टापादनस्वभावम्। न च कर्तृस्मरणं परस्यानिष्टम्; स हि पदवाक्यत्वेन हेतुना तत्कर्तुः स्मरणं प्रतीयन् कथं तत्स्मरणस्याऽनिष्टतां ब्रूयात्?

पौरुषेयत्वसाधनानुमानबाधापक्षेऽपि किमनेनास्य स्वरूपं बाध्यते, विषयो वा? न तावत्स्वरूपम्; अपौरुषेयत्वानुमानस्याप्यनेन स्वरूपबाधनानुषङ्गात्, तयोस्तुल्यबलत्वेनान्योन्यं विशेषाभावात्।

उसीप्रकार पद वाक्यत्वनामा हेतुके रहने पर उसका प्रतिहेतु अस्मर्यमाण कर्तृत्व प्रवृत्ति नही करता ऐसा भी कह सकते हैं, दोनों कथनोंमें या हेतुओंमें कोई विशेषता तो है नहीं। इसलिये अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु स्वतन्त्रतासे प्रयुक्त हुआ है ऐसा कहना असिद्ध है।

इस हेतुको प्रसंग साधनरूपसे प्रयुक्त किया है ऐसा कहना भी गलत है, प्रसंग साधन तो तब बनता जब वेदको पौरुषेय मानकर कर्त्ताका स्मरण होना नहीं मानते, ऐसे समय पर अनिष्टका आपादन हो सकता था कि जैनादि परवादी यदि वेदको पौरुषेय स्वीकार करते हैं तो उन्हें कर्त्ताका स्मरण भी अवश्य मानना होगा। इत्यादि, किन्तु जैनादिके लिये कर्त्ताका स्मरण मानना अनिष्ट नही है वे तो पदवाक्यत्व हेतु द्वारा वेदकर्त्ताका स्मरण सिद्ध करते ही हैं अर्थात् वेदमें पद एवं वाक्योंकी रचना दिखायी देती है अतः वह अवश्यमेव पुरुष द्वारा रचित पौरुषेय है। इसप्रकार वेद कर्त्ताका स्मरण मानना इष्ट ही है फिर वह अनिष्ट कैसे होगा?

विशेषार्थ—"परेष्टयाऽनिष्टापादनं प्रसंग साधनम्" परवादोके इष्टको लेकर उससे उनका अनिष्ट सिद्ध करके बताना प्रसंग साधन हेतु कहलाता है। वाद विवाद करते समय सामनेवाले व्यक्ति द्वारा स्वसिद्धांतको सिद्ध करनेके लिये अनुमानका प्रयोग किया जाता है, अनुमानमें सबसे अधिक महत्वशाली हेतु हुआ करता है, उस हेतुमें असिद्ध विरुद्ध आदि दोष तो होने ही नहीं चाहिये किन्तु ऐसा भी हेतु नहीं होना चाहिए कि जिस हेतुको लेकर परवादी हमारे अनिष्टको सिद्ध करके दिखावे। अनुमानके प्रमुख दो अवयव होते हैं साध्य और साधन, इसीको पक्ष और हेतु कहते हैं, प्रतिज्ञा और हेतु इस तरह भी कहा जाता है। साध्य और साधन दोनों अवयव ऐसे होने चाहिए कि

अतुल्यबलत्वे वा किमनुमानबाधया ? येनैव दोषेणास्याऽतुल्यबलत्वं तत एवाप्रामाण्यप्रसिद्धेः। विषय-बाधाप्यनुपपन्ना; तुल्यबलत्वेन हेत्वोः परस्परविषयप्रतिबन्धे वेदस्योभयधर्मशून्यत्वानुषङ्गात्। एकस्य वा स्वविषयसाधकत्वेऽन्यस्यापि तत्प्रसङ्गाद् धर्मद्वयात्मकत्वं स्यात्। अतुल्यबलत्वे तु यत एवातुल्यबलत्वं तत एवाऽप्रामाण्यप्रसिद्धेः किमनुमानबाधयेत्युक्तम्।

एतेन

दोनों भी हमें इष्ट हो मान्य हो। यहां मीमांसकके अपौरुषेय वेदका प्रकरण है, "अस्मर्यमाणकर्तृत्वात् वेदः अपौरुषेयः" वेद अपौरुषेय (किसी पुरुष द्वारा रचा हुआ नहीं स्वयं ही बना हुआ है) है (साध्य) क्योंकि इसके कर्त्ताका स्मरण नहीं है (हेतु) इसप्रकार मीमांसक का अनुमान प्रयोग है, इसमें अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु है, इसका जैनाचार्यने विविध प्रकारसे खंडन किया है एवं उसमें असिद्धादि दोष सिद्ध किये हैं। जब यह हेतु सदोष सिद्ध हुआ तब मीमांसक कहते हैं कि हमने इस हेतुको प्रसंग साधनरूपसे ग्रहण किया है, किन्तु यह कथन सर्वथा असत् है, अस्मर्यमाणकर्तृत्व हेतु प्रसंग साधन तब बनता जब जैन वेदको पौरुषेय मानकर भी उसके कर्त्ताका स्मरण होना स्वीकार नहीं करते अर्थात् अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप हेतुको तो मानते और साध्य बनाते पौरुषेयत्वको, तब अनिष्ट का प्रसंग प्राप्त हो सकता था कि यदि जैनादि अन्य वादी वेदकर्त्ताका स्मरण होना नहीं मानते तो उन्हें वेदको अपौरुषेय भी मानना होगा इत्यादि। किन्तु ऐसा प्रसंग आ नहीं सकता, क्योंकि जैन आदि वादी पहलेसे ही वेद कर्त्ताका स्मरण होना बतलाते हैं। इसप्रकार मीमांसकका उपर्युक्त हेतुको निर्दोष सिद्ध करनेका प्रयत्न असफल होता है।

पौरुषेयत्वको सिद्ध करने वाले अनुमान में बाधा आती है ऐसा मीमांसकका कहना है सो उसमें प्रश्न होता है कि प्रसंग साधनरूप अनुमान द्वारा इस अनुमानका स्वरूप बाधित किया जाता है अथवा विषय बाधित किया जाता है ? स्वरूप बाधित किया जाता तो शक्य नहीं, क्योंकि यदि पौरुषेयत्व साध्यवाला अनुमान उक्त अनुमान से बाधित हो सकता है तो आपका अपौरुषेय साध्यवाला अनुमान भी उक्त अनुमानसे बाधित हो सकता है, क्योंकि ये दोनों अनुमान (पौरुषेय साध्यवाला और अपौरुषेय साध्यवाला) तुल्यबल वाले हैं परस्पर में विशेषता नहीं है। यदि मान लिया जाय कि उक्त दोनों अनुमानोंमें तुल्य बल नहीं है तो अनुमान द्वारा बाधा उपस्थित करना

"वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम् ।

वेदाध्ययनवाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा" [मी० श्लो० अ० ७ श्लो० ३५५] इत्यनेनानुमानेन पौरुषेयत्वप्रसाधकानुमानस्य बाधा; इत्यपि प्रत्याख्यातम्; प्रकृतदोषाणामत्राप्यविशेषात् ।

किञ्च, अत्र निर्विशेषणमध्ययनशब्दवाच्यत्वमपौरुषेयत्वं प्रतिपादयेत्, कर्त्रऽस्मरणविशिष्टं वा ? निर्विशेषणस्य हेतुत्वे निश्चितकर्तृकेषु भारतादिष्वपि भावादनैकान्तिकत्वम् ।

व्यर्थ है, क्योंकि जिस दोषके कारण तुल्य बल नहीं है उसी दोषसे एक अनुमान अप्रामाणिक सिद्ध होगा । पौरुषेयसाध्यवाले अनुमान का विषय बाधित किया जाता है ऐसा दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं, क्योंकि तुल्य बलशाली हेतुओंमें (पदवाक्यत्व रूप हेतु और अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप हेतु में) परस्परके विषयोंको प्रतिबंध करानेकी सामर्थ्य समानरूपसे होनेके कारण बिचारा वेद दोनों धर्मोंसे (पौरुषेय और अपौरुषेयसे) शून्य हो जायेगा । अथवा उक्त दोनों अनुमानोंमेंसे एक अनुमानने अपने विषयको सिद्ध किया तो दूसरा अनुमान भी अपने विषयको सिद्ध करेगा और इस तरह वेद दो धर्मात्मक (पौरुषेय धर्म और अपौरुषेय धर्म) हो जायेगा । और यदि उक्त दोनों अनुमानोंमें अतुल्यबल है (समान बल नही है) तो फिर जिस कारणसे समानबल नही है उसी कारणसे एक अनुमान अप्रामाणिक सिद्ध हो जाता है इसलिये फिरसे उसमें प्रसंग साधनरूप अनुमान द्वारा बाधा उपस्थित करनेसे क्या प्रयोजन रहता है ? कुछ भी नहीं ।

मीमांसकका दूसरा अनुमान प्रयोग है कि—वेदका जो भी अध्ययन होता है वह सब गुरु अध्ययन पूर्वक होता है क्योंकि वह वेदाध्ययनरूप है जैसे वर्त्तमानकालका वेदका अध्ययन गुरुसे होता है । सो इस अनुमान द्वारा हमारे पौरुषेय प्रसाधक अनुमान में बाधा देना भी असंभव है, क्योंकि इसमें वे ही पूर्वोक्त दोष आते हैं कोई विशेषता नहीं है ।

तथा इस अनुमानका वेदाध्ययन वाच्यत्वहेतु विशेषण रहित होकर ही अपौरुषेयत्व साध्यको सिद्ध करता है अथवा "कर्त्ताका अस्मरणरूप" विशेषण सहित होकर अपौरुषेय साध्यको सिद्ध करता है ? प्रथम विकल्प माने तो भारत आदि निश्चित कर्त्तावाले ग्रंथोंमें भी उक्त हेतु चला जानेसे अनैकान्तिक होता है । अर्थात् महाभारत आदि पौरुषेय ग्रंथोंका अध्ययन भी गुरु अध्ययन पूर्वक होता है अतः ऐसा

किंच, यथाभूतानां पुरुषाणामध्ययनपूर्वकं दृष्टं तथाभूतानामेवाध्ययनशब्दवाच्यत्वमध्ययनपूर्वकत्वं साधयति, अन्यथाभूतानां वा ? यदि तथाभूतानां तदा सिद्धसाधनम् । अथान्यथाभूतानां तर्हि सन्निवेशादिवदऽप्रयोजको हेतुः । अथ तथाभूतानामेव तत्तथा ततः साध्यते, न च सिद्धसाधनं सर्वपुरुषाणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिवैकल्येनातीन्द्रियार्थप्रतिपादकप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येनेदृशत्वात् । तदप्यसाम्प्रतम्; यतो यदि प्रेरणायास्तथाभूतार्थप्रतिपादने अप्रामाण्याभावः सिद्धः स्यात् स्यादेतत्–यावता गुणवद्वक्त्रऽभावे तद्गुणैरनिराकृतैर्दोषैरपोहितत्वात् तत्र सापवादं प्रामाण्यम्, तथाभूतां प्रेरणामतीन्द्रियार्थदर्शनशक्तिविरहिणोपि कर्त्तुं समर्था इति कुतस्तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येनाऽशेषपुरुषाणामीदृशत्वसिद्धिर्यतः सिद्धसाधनं न स्यात् ?

नहीं कह सकते कि जिसका अध्ययन गुरु पूर्वक चला आ रहा वह ग्रंथ अपौरुषेय ही होता है ।

यहां एक प्रश्न है कि अध्ययन वाच्यत्व हेतु अध्ययन पूर्वकत्व साध्यको सिद्ध करता है सो वर्त्तमानमें जिस तरहके पुरुष होते हैं और उनके द्वारा अध्ययन चलता है । उसी प्रकारके पुरुषों द्वारा अध्ययन चला आ रहा है ऐसा अध्ययन पूर्वकत्व सिद्ध करना है अथवा विशिष्ट पुरुषों द्वारा (अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाननेवाले अतीन्द्रिय ज्ञानी पुरुषों द्वारा) अध्ययन चला आ रहा है ऐसा अध्ययन पूर्वकत्व सिद्ध करना है ? प्रथम पक्ष कहो तो सिद्ध साधन है, हम मानते ही हैं कि अध्ययन गुरुपूर्वक होता है । दूसरा पक्ष कहो तो हेतु अप्रयोजक कहलायेगा ? (जो हेतु सपक्ष में तो रहे और पक्षसे व्यावृत होवे ऐसा उपाधिके निमित्तसे संबंधको प्राप्त हुआ हेतु अप्रयोजक दोष युक्त होता है) जैसे कि ईश्वरकी सिद्धिमें दिये गये सन्निवेशत्व आदि हेतु अप्रयोजक दोष युक्त होते हैं ।

मीमांसक–हम तो वर्त्तमानमें जैसे पुरुष होते हैं उन पुरुषोंके द्वारा वेदाध्ययन होना मानते हैं और उसी हेतु से अपौरुषेय साध्यको सिद्ध करते हैं ऐसा करने पर भी सिद्ध साधन नामा दोष नहीं आता, क्योंकि हम विश्वके संपूर्ण व्यक्तियोंको अतीन्द्रिय पदार्थोंके ज्ञानसे रहित मानते हैं किसी कालका भी पुरुष हो वह अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रतिपादन करनेवाले वेदकी रचना कर नहीं सकता, अतः वेद अपौरुषेय ही सिद्ध होता है ।

अथ न गुणवद्वक्तृकत्वेनैव शब्देऽप्रामाण्यनिवृत्तिरपौरुषेयत्वेनाप्यस्याः सम्भवात् तेनायमदोषः। तदुक्तम्—

"शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितम्।
तदभावः क्वचित्तावद्गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥१॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे सङ्क्रान्त्यसम्भवात्।
यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥२॥"

[मी० श्लो० सू० २ श्लो० ६२-६३]

जैन—यह कथन असुन्दर है, वेदके वाक्य उस प्रकारके अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रतिपादन करते हैं ऐसा तब सिद्ध हो जब उसमें अप्रामाण्यका अभाव सिद्ध हो किन्तु वह सिद्ध नहीं है। आप लोग गुणवान वक्ताका अभाव मानते हैं, जब गुणवान वक्ता ही नहीं है तब उसके गुणोंद्वारा दोषोंका निराकरण नहीं हो सकता और दोषोंका निराकरण नहीं होनेसे वेदका प्रामाण्य सदोष ही बना रहता है ऐसे अप्रामाण्यभूत वेदको तो अतीन्द्रिय ज्ञान रहित पुरुष भी रच सकते हैं। अतः जो कहा था कि वेद अतीन्द्रिय पदार्थोंका प्रकाशक है। विश्वके संपूर्ण पुरुषों में इसप्रकारके वेदका प्रणयन करने की शक्ति नहीं है इत्यादि, सो यह कथन असत्य है। इसप्रकार वेदाध्ययन वाच्यत्व नामा पूर्वोक्त हेतु सिद्ध साधन कैसे नहीं हुआ ? अर्थात् हुआ ही।

मीमांसक—शब्दमें अप्रामाण्यकी निवृत्ति गुणवान वक्ताके निमित्तसे ही होती हो सो बात नहीं है, अपौरुषेयत्वके निमित्त से भी अप्रामाण्यकी निवृत्ति हो सकती है, अतः हमारा हेतु सिद्ध साधन नहीं है कहा है कि शब्दमें दोषोंकी उत्पत्ति तो वक्ताके कारण हुआ करती है उन दोषोंका अभाव कहीं वेदवाक्यके अनंतर उत्पन्न हुए स्मृति आदिके शब्दोंमें तो गुणवान वक्ताके निमित्तसे होता है ॥१॥ वक्ताके गुणोंसे निराकृत हुए दोष कोई शब्दमें जाकर संक्रामित तो होते नहीं तथा अपौरुषेय होनेसे वेदमें वक्ता का अभाव है ही, फिर उस वेदमें दोष कैसे रह सकते हैं ? क्योंकि आश्रयके बिना दोष रहते नहीं ॥२॥ इसप्रकार स्वयं ही निश्चित हो जाता है कि वेदमें अपौरुषेयत्व होनेके कारण प्रामाण्य है।

इति। तदप्यसमीचीनम्; यतोऽपौरुषेयत्वमस्याः किमन्यतः प्रमाणात्प्रतिपन्नम्, अत एव वा? यद्यन्यतः; तदाऽस्य वैयर्थ्यम्। अत एव चेत्; नन्वतोऽनुमानादपौरुषेयत्वसिद्धौ प्रेरणायामप्रामाण्याभावः स्यात्, तदभावाच्च तथाभूतप्रेरणाप्रणेतृत्वासामर्थ्येन सर्वपुरुषाणामीदृशत्वसिद्धिरित (रितीत) रेतराश्रयः। तन्न निर्विशेषणोयं हेतुः प्रकृतसाध्यसाधनः।

अथ सविशेषणः; तदा विशेषणस्यैव केवलस्य गमकत्वाद्विशेष्योपादानमनर्थकम्। भवतु विशेषणस्यैव गमकत्वम् का नो हानिः, सर्वथाऽपौरुषेयत्वसिद्धया प्रयोजनात्; तदप्ययुक्तम्; यतः कर्त्रऽस्मरणं विशेषणं किमभावाख्यं प्रमाणम्, अर्थापत्तिः, अनुमानं वा? तत्राद्यः पक्षो न युक्तः; अभावप्रमाणस्य स्वरूपसामग्रीविषयाऽनुपपत्तितः प्रामाण्यस्यैव प्रतिषिद्धत्वात्।

जैन—यह कथन असमीचीन है, वेदका अपौरुषेयपना अन्य प्रमाणसे जाना जाता है या इसी वेदाध्ययन वाच्यत्व हेतुसे जाना जाता है? यदि अन्य प्रमाणसे जाना जाता है तो यह हेतु व्यर्थ ठहरता है और इसी हतुसे जाना जाता है तो अन्योन्याश्रय आता है—वेदाध्ययनवाच्यत्व हेतुवाले अनुमानसे वेदका अपौरुषेयत्व सिद्ध होने पर उसमें अप्रामाण्यका अभाव सिद्ध होगा और अप्रामाण्यका अभाव सिद्ध होने पर सभी पुरुषोंके अतीन्द्रिय अर्थका प्रतिपादन करनेवाले वेदकी रचना करनेकी असामर्थ्य निश्चित होकर वेद अपौरुषेय सिद्ध होगा। अतः निर्णय होता है कि वेदाध्ययन वाच्यत्व हेतु निर्विशेषण होनेसे प्रकृत साध्य जो अपौरुषेयत्व है उसको सिद्ध नहीं कर पाता।

अब यदि मीमांसक अपने वेदाध्ययन वाच्यत्व हेतुमें विशेषण जोड़ देते हैं तो हम जैन कहेंगे कि अकेला विशेषण ही साध्यका गमक होनेसे विशेष्यका ग्रहण व्यर्थ ही ठहरता है।

मीमांसक—अकेला विशेषण साध्यका गमक हो जाय इसमें हमारी क्या हानि है? हमारा प्रयोजन तो वेदको सर्वथा अपौरुषेय सिद्ध करनेका है वह चाहे जिससे हो।

जैन—आपने विशेषण मात्रको हेतु रूप स्वीकार कर लिया सो ठीक है किन्तु यह कर्त्ताका अस्मरणरूप विशेषण कौनसा प्रमाण कहलायेगा—अभाव प्रमाण, अर्थापत्ति या अनुमान? अभाव प्रमाणरूप है ऐसा कहना बनता नहीं, क्योंकि अभावप्रमाणकी सामग्री, स्वरूप एवं विषय ये सब किसी प्रकारसे भी सिद्ध नहीं हो पाते हैं, अर्थात् न अभाव प्रमाणका स्वरूप सिद्ध है और न विषय आदि ही सिद्ध हैं, अतः इसमें प्रामाण्य

किञ्च, सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकनिवृत्तिनिबन्धनास्यं प्रवृत्तिः "प्रमाणपञ्चकं यत्र" [मी० श्लो० अभाव० श्लो० १] इत्याद्यभिधानात्। न च प्रमाणपंचकस्य वेदे पुरुषसद्भावावेदकस्य निवृत्तिः, पदवाक्यत्वलक्षणस्य पौरुषेयत्वप्रसाधकत्वेनानुमानस्य प्रतिपादनात्। न चास्याऽप्रामाण्यमभिधातुं शक्यम्; यतोऽस्याऽप्रामाण्यम्-किमनेन बाधितत्वात्, साध्याविनाभावित्वाभावाद्वा स्यात्? तत्राद्यपक्षे चक्रकप्रसंगः; तथाहि-न यावदभावप्रमाणप्रवृत्तिर्न तावत्प्रस्तुतानुमानबाधा, यावच्च न तस्य बाधा न तावत्सदुपलम्भकप्रमाणनिवृत्तिः, यावच्च न तस्य निवृत्तिन तावत्तन्निबन्धनाऽभावाख्य प्रमाणप्रवृत्तिः, तदप्रवृत्तौ च नानुमानबाधेति। द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; स्वसाध्याविनाभावित्वस्यात्र

नहीं है, इसके प्रमाणताका खंडन "अभावस्य प्रत्यक्षादावन्तर्भावः" नामा प्रकरणमें प्रथम भागमें हो चुका है।

यहां पुनः अभाव प्रमाणकी किंचित् चर्चा करते हैं, सत्ता ग्राहक पांचों प्रमाणों की (प्रत्यक्ष अनुमान उपमा अर्थापत्ति और आगमकी) जहां निवृत्ति होती है वहां अभावप्रमाण प्रवृत्त होता है ऐसा आपके मीमांसा श्लोकवार्त्तिक ग्रंथमें लिखा है वेदमें ऐसे अभाव प्रमाणकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अर्थात् वेदमें पुरुषके सद्भावको बतलाने वाले पांचों प्रमाण प्रवृत्त नहीं होते किन्तु निवृत्त होते हैं ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि हम जैनका पदवाक्यत्व हेतुवाला अनुमान प्रमाण वेदको पौरुषेय सिद्ध करता है। इस अनुमानको अप्रमाण भी नहीं कहना। यदि आप इसे अप्रमाण मानते हैं तो किस कारणसे मानते हैं? अन्य अनुमान द्वारा बाधित होनेके कारण अथवा साध्याविनाभावी हेतुके नहीं होनेके कारण? प्रथम पक्ष कहो तो चक्रक दोष आता है–जब तक अभाव प्रमाण प्रवृत्त नहीं होता तबतक हमारे प्रस्तुत अनुमानमें बाधा नहीं आती और जब तक प्रस्तुत अनुमान बाधित नहीं होता तब तक सत्ताग्राहक प्रमाणोंकी निवृत्ति हो नहीं सकती और पांचों प्रमाण जबतक निवृत्त नहीं होते तबतक उनके निवृत्तिसे होनेवाला अभाव प्रमाण भी प्रवृत्त नहीं हो सकता। इस तरह अभाव प्रमाण जब प्रवृत्त नहीं होता तब हमारे अनुमानमें बाधा भी कौन देगा? दूसरा पक्ष–जैनके अनुमानमें साध्याविनाभावी हेतु नहीं है अतः वह अप्रमाण है ऐसा कहना भी अयुक्त है, हमारा पद वाक्यत्व हेतु अपने पौरुषेयत्वसाध्यका अवश्य ही अविनाभावी है, क्योंकि जो पदवाक्य रूप रचित होता है वह पौरुषेयके बिना कहीं पर भी दिखायी नहीं देता है अतः इस हेतुमें साध्यके अविनाभावका अभाव नहीं है।

सम्भवात् । न खलु पदवाक्यात्मकत्वं पौरुषेयत्वमन्तरेण क्वचिद्दृष्टं येनास्य स्वसाध्याविनाभावाभावः स्यात् ।

एतेन कर्तुरस्मरणमन्यथानुपपद्यमानं कर्त्रऽभावनिश्चायकमर्थापत्तिगम्यमपौरुषेयत्वं वेदानामित्यपास्तम्; अन्यथानुपपद्यमानत्वासम्भवस्यात्र प्रागेव प्रतिपादितत्वात् । कर्त्रऽस्मरणमनुमानरूपमऽपौरुषेयत्वं प्रसाधयतीत्यप्यनुपपन्नम्; प्रागेव कृतोत्तरत्वात् ।

एतेन—

"अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ ।
कालत्वात्तद्यथा कालो वर्त्तमानः समीक्ष्यते ॥१॥" [ ]

कर्त्ताके अस्मरणकी अन्यथानुपपत्ति होनेसे वेद अपौरुषेय है अर्थात् वेद कर्त्ता का स्मरण ही नहीं अतः वह पुरुषकृत नहीं है, इस प्रकार कर्त्ताके अभावके निश्चयरूप अर्थापत्तिद्वारा वेदका अपौरुषेयत्व गम्य होता है ऐसा कहना भी ठीक नहीं क्योंकि यहां अन्यथानुपपद्यमानत्व ही असंभव है । इस विषयका पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं कि वेदकर्त्ताका स्मरण होता है । विशेषणको अनुमान प्रमाण रूप माना जाय ऐसा तीसरा पक्ष भी ठीक नहीं, हमने पहले बता दिया है कि कर्त्ताका अस्मरण हेतु वाला अनुमान अपौरुषेयत्वको सिद्ध करनेमें असमर्थ है ।

इसप्रकार कर्त्ताका अस्मरण होनेसे वेद अपौरुषेय है यह प्रथम अनुमान तथा "वेदाध्ययन शब्द वाच्यत्वात् वेदः अपौरुषेयः" यह द्वितीय अनुमान ये दोनों ही खंडित हो गये । इसीप्रकार निम्नलिखित अनुमान भी खंडित हुआ समझना चाहिये कि अतीतानागत काल वेदके कर्त्तासे रहित है, क्योंकि वे कालरूप हैं, जैसे वर्त्तमान काल वेदकर्त्तासे रहित दिखायी देता है, भावार्थ यह है कि जैसे वर्त्तमानमें वेदरचना करने वाला कोई पुरुष दिखायी नहीं देता वैसे ही अतीत अनागत कालमें रचयिता पुरुष नहीं था और न होगा । अतः वेद अपौरुषेय कहलाता है । ऐसा मीमांसकका तीसरा अनुमान भी पूर्वोक्त दो अनुमानोंके समान दोषोंसे भरा है, इसमें कोई विशेषता नहीं है, तथा इस अनुमानका कालत्व हेतु अन्य आगम आदिमें चला जाता है ।

अतीतानागत काल वेद रचनामें जो असमर्थ है ऐसे पुरुषोंसे युक्त था और होगा ऐसा मीमांसक कहते हैं उसमें प्रश्न होता है कि जिस तरह वर्त्तमान काल वेद रचनेमें असमर्थ पुरुषोंसे युक्त है अथवा वेदकर्त्तासे रहित काल है । क्या उसीतरह अतीता-

इत्यपि प्रत्युक्तम्; प्राक्तनानुमानद्वयोक्ताशेषदोषाणामत्राप्यविशेषात् । आगमान्तरेप्यस्य तुल्यत्वाच्च ।

किंच, इदानीं यथाभूतो वेदाकरणसमर्थपुरुषयुक्तस्तत्कर्तृ पुरुषरहितो वा कालः प्रतीतोऽतीतोऽनागतो वा तथाभूतः कालत्वात्साध्येत, अन्यथाभूतो वा ? यदि तथाभूतः; तदा सिद्धसाध्यता । अथान्यथाभूतः; तदा सन्निवेशादिवदऽप्रयोजको हेतुः । अथ तथाभूतस्यैवातीतस्यानागतस्य वा कालस्य तद्रहितत्वं साध्यते, न च सिद्धसाध्यताऽन्यथाभूतस्य कालस्यासम्भवात् । नन्वन्यथाभूतः कालो नास्तीत्येतत्कुतः प्रमाणात्प्रतिपन्नम् ? यद्यन्यतः; तर्हि तत एवापौरुषेयत्वसिद्धेः किमनेन ? अत एवेति चेत्; ननु 'अन्यथाभूतकालाभावसिद्धावतोऽनुमानात्तद्रहितत्वसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चान्यथाभूतकालाभावसिद्धिः' इत्यन्योन्याश्रयः ।

नागत काल वैसे पुरुषोंसे युक्त था एवं होगा, अथवा अतीतानागत काल किसी अन्य प्रकारका था ? यदि वर्त्तमान जैसा अतीतादि काल था ऐसा कहो तो सिद्ध साध्यता है, क्योंकि वर्त्तमानके जैसे पुरुष वेदको रचते हैं ऐसा हम नहीं कहते हैं । यदि अतीतादि काल अन्यथाभूत (वर्त्तमानसे विशिष्ट) था ऐसा कहो तो कालत्व नामा सामान्य हेतु सन्निवेशत्व आदि हेतुके समान अप्रयोजक बन जायगा ।

मीमांसक– वर्त्तमान जैसा ही अतीतादि काल वेद कर्त्ता रहित सिद्ध किया जाता है और ऐसा साध्य बनानेमें सिद्ध साध्यता भी नहीं होती क्योंकि अन्यथाभूत (अन्य प्रकारका) काल है ही नहीं ।

जैन—अन्यथाभूत काल नहीं है ऐसा किस प्रमाणसे जाना है ? इस कालत्व नामा हेतुवाले अनुमानको छोड़ अन्य किसी प्रमाणसे जाना है ऐसा कहो तो उसी प्रमाणसे वेदका अपौरुषेयत्व भी सिद्ध होवेगा, इस अनुमानकी क्या जरूरत है ? तथा यदि कालत्व हेतुवाले इसी अनुमानसे अन्यथा कालका अभाव सिद्ध होता है ऐसा दूसरा विकल्प कहो तो अन्योन्याश्रय होगा– अन्यथाभूत कालका अभाव सिद्ध होवे तब उस अनुमानसे वेदकर्त्तासे रहित कालपना सिद्ध होवेगा और वेदकर्त्ता रहित कालत्वके सिद्ध होने पर अन्यथाभूत कालके अभावकी सिद्धि होवेगी ।

इस तरह यहां तक यह निर्णय हुआ कि अनुमान प्रमाणसे वेदका अपौरुषेयत्व सिद्ध नहीं होता है । अब अन्य प्रमाणोंका विचार करते हैं, आगम प्रमाण भी मीमांसक के अपौरुषेय वेदको सिद्ध नहीं कर सकता, इसमें भी अन्योन्याश्रयदोष आता है,

नाप्यागमतोऽपौरुषेयत्वसिद्धिः इतरेतराश्रयानुषंगात्। तथाहि–आगमस्याऽपौरुषेयत्वसिद्धावप्रामाण्याभावसिद्धिः, तत्सिद्धेश्चातोऽपौरुषेयत्वसिद्धिरिति। न चाऽपौरुषेयत्वप्रतिपादकं वेदवाक्यमस्ति। नापि विधिवाक्यादऽपरस्य परैः प्रामाण्यमिष्यते, अन्यथा पौरुषेयत्वमेव स्यात्तत्प्रतिपादकानां "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" [ऋग्वेद अष्ट० ८ मं० १० सू० १२१] इत्यादिप्रचुरतरवेदवाक्यानां श्रवणात्।

अपौरुषेयत्वधर्माधारतया प्रमाणप्रसिद्धस्य कस्यचित्पदवाक्यादेरसम्भवान्न तत्सादृश्येनोपमानादप्यपौरुषेयत्वसिद्धिः।

नाप्यर्थापत्तेः; अपौरुषेयत्वव्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्यार्थस्य कस्यचिदप्यभावात्। स ह्यप्रामाण्याभावलक्षणो वा स्यात्, अतीन्द्रियार्थप्रतिपादनस्वभावो वा, परार्थशब्दोच्चारणरूपो वा ? न तावदाद्यः

इसीका खुलासा करते हैं कि आगमका अपौरुषेयपना सिद्ध होने पर उससे अप्रामाण्यका अभाव सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर आगमका अपौरुषेयत्व सिद्ध होवेगा। तथा अपौरुषेयत्वका प्रतिपादन करनेवाला कोई वेदवाक्य भी नहीं मिलता है। दूसरी बात यह है कि वेदमें जो जो वाक्य विधिपरक है वही प्रमाणभूत है ऐसी मीमांसककी मान्यता है यदि आप मीमांसक अन्य वाक्य को भी प्रमाण मानते हैं तो वेदमें पौरुषेयपना सिद्ध होवेगा "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे" इत्यादि बहुतसे वेद वाक्य सुननेमें आते ही हैं (जिनसे कि वेदका पौरुषेयत्व स्पष्ट होता है) अतः आगम प्रमाणसे वेदकी अपौरुषता सिद्ध नहीं होती। उपमा प्रमाणसे भी अपौरुषेयत्व सिद्ध नहीं होता कैसे सो बताते हैं—अपौरुषेय धर्मका आधारभूत ऐसा कोई पद वाक्य प्रमाण द्वारा सिद्ध नहीं होता है, अतः उसके साथ सादृश्यको दिखलाकर उपमा द्वारा वेदकी अपौरुषता सिद्ध करना शक्य नहीं, सारांश यह है कि कहींपर कोई पद या वाक्य पुरुषके बिना उच्चारित या रचित दिखायी देता तो उसकी उपमा देकर कह सकते हैं कि अमुक पद एवं वाक्य बिना पुरुषके उपलब्ध हुए वैसे ही वेद वाक्य बिना पुरुषके बने हैं इत्यादि। किन्तु जितने पद वाक्य दिखायी सुनायी देते हैं वे सब पुरुषकृत (पौरुषेय) ही हैं अतः उपमा देकर (उपमा प्रमाणसे) वेदवाक्योंको अपौरुषेय सिद्ध करना अशक्य है।

अर्थापत्तिसे भी अपौरुषेयत्व सिद्ध नहीं होता; अपौरुषेयत्वके बिना सिद्ध न हो ऐसा कोई शब्द संबंधी पदार्थ भी नहीं है जिससे कि अर्थापत्तिका अन्यथानुपपद्यमानत्व सिद्ध होवे। मीमांसक अन्यथानुपपद्यमानत्व किसको बनायेंगे ? अप्रामाण्यके अभावको, अतीन्द्रियार्थ प्रतिपादन स्वभावको

पक्षः; अप्रामाण्याभावस्यागमान्तरेपि तुल्यत्वात्। न चासौ तत्र मिथ्या; वेदेपि तन्मिथ्यात्वप्रसंगात्। अथागमान्तरे पुरुषस्य कर्तुरभ्युपगमात्, पुरुषाणां तु रागादिदोषदुष्टत्वेन तज्जनितस्याऽप्रामाण्यस्यात्र सम्भवात्तत्रासौ मिथ्या, न वेदे तत्राप्रामाण्योत्पादकदोषाश्रयस्य कर्तुरभावात्। नन्वत्र कुतः कर्तुरभावो निश्चितः? अन्यतः, अत एव वा? यद्यन्यतः; तदेवोच्यताम्, किमर्थापत्त्या? अर्थापत्तेश्चेत्; न; इतरेतराश्रयानुषंगात्-अर्थापत्तितो हि पुरुषाभावसिद्धावप्रामाण्याभावसिद्धिः, तत्सिद्धौ चार्थापत्तितः पुरुषाभावसिद्धिरिति।

द्वितीयपक्षोप्ययुक्तः; अतीन्द्रियार्थप्रतिपादनलक्षणार्थस्यागमान्तरेपि सम्भवात्।

अथवा परार्थ शब्दोच्चारणरूपको ? प्रथम पक्ष—यदि वेद अपौरुषेय नहीं होता तो उसमें अप्रामाण्यका अभाव नहीं हो सकता था ऐसी अर्थापत्ति जोड़े तो ठीक नहीं, क्योंकि अप्रामाण्यका अभाव तो वेदसे भिन्न जो अन्य आगम हैं उनमें भी पाया जाता है जो कि पुरुषकृत है अतः ऐसा नियम नहीं बना सकते कि अपौरुषेयमें ही अप्रामाण्यका अभाव होता है। यदि कहा जाय कि अन्य अन्य आगममें तो अप्रामाण्यका अभाव वास्तविक रूपसे सिद्ध नहीं होता मिथ्यारूपसे भले ही हो ! तो फिर वेदमें भी अप्रामाण्यका अभाव मिथ्यारूपसे ही सिद्ध होवेगा।

मीमांसक—अन्य अन्य जो आगम हैं उनके कर्त्ता पुरुष होते हैं और पुरुष जो होते हैं वे सब ही राग द्वेष आदि दोषोंसे युक्त ही होते हैं अतः ऐसे पुरुषों द्वारा रचित आगमोंमें अप्रामाण्य रहना स्वाभाविक है, क्योंकि अप्रामाण्यका कारण तो दोष ही है, वेदमें ऐसी बात नहीं है उसमें अप्रामाण्य को उत्पन्न करने वाले दोषोंका आश्रयभूत पुरुषकर्त्ताका ही अभाव है ?

जैन—अच्छा तो यह बताओ कि किस प्रमाण द्वारा वेदकर्त्ताका अभाव सिद्ध किया जाता है ? अन्य प्रमाणसे या इसी अर्थापत्तिसे ? अन्य प्रमाणसे कहो तो वह अन्य प्रमाण कौनसा है सो बताओ ? क्या वह प्रमाण अर्थापत्ति ही है ? यदि हां तो अन्योन्याश्रय दोष आता है, और इसी अर्थापत्तिसे कहो तो भी यही दोष आता है, प्रथम तो अर्थापत्तिसे पुरुषके अभावकी सिद्धि होने पर उससे अप्रामाण्यके अभावकी सिद्धि होगी और उसके सिद्ध होने पर अर्थापत्तिसे पुरुषके अभावकी सिद्धि होगी।

दूसरा विकल्प था कि अतीन्द्रिय अर्थके प्रतिपादनका स्वभाव अन्यथा बन नहीं सकता (यदि वेद अपौरुषेय न होवे) सो ऐसा अप्रामाण्यभावका अन्यथानुपपद्य-

परार्थशब्दोच्चारणान्यथानुपपत्तेर्नित्यो वेदः; इत्यप्यसमीचीनम्; धूमादिवत्सादृश्यादप्यर्थप्रतिपत्तेः प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

किंच, अपौरुषेयत्वं प्रसज्यप्रतिषेधरूपं वेदस्याभ्युपगम्यते, पर्युदासस्वभावं वा? प्रथमपक्षे तत्किं सदुपलम्भकप्रमाणग्राह्यम्, उताऽभावप्रमाणपरिच्छेद्यम्? तत्राद्यः पक्षोऽयुक्तः; सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकस्यापौरुषेयग्राहकत्वप्रतिषेधात्। तद्ग्राह्यस्य तुच्छस्वभावाभावरूपत्वानुपपत्तेश्च। प्रति-

---

मानत्व अपौरुषेयत्वके साथ होता हुआ दिखायी नहीं देता, सिर्फ वेद ही अतीन्द्रिय अर्थका प्रतिपादक हो सो बात नहीं है अन्य आगम भी उसके प्रतिपादक होते हैं।

परार्थ शब्दोच्चारण की अन्यथानुपपत्ति होनेसे वेद नित्य (अपौरुषेय) है, अर्थात् वेद नित्य नहीं होता तो शिष्यादिके लिये शब्दोंका उच्चारण किस प्रकार समझमें आता कि यह वही शब्द है जो गुरु मुखसे सुना था, इत्यादि रूपसे वेद वाक्योंको नित्य सिद्ध करके अपौरुषेय बतलाना भी ठीक नहीं, शब्द तो धूमके समान सदृशताके कारण अर्थ बोध करानेमें निमित्त है, इस विषयका आगे प्रतिपादन करने वाले हैं।

भावार्थ—पहले किसीके मुखसे "यह घट है" ऐसा शब्द सुना फिर कहीं पर घट देखकर दूसरेको बतलाया कि देखो! यह घट है सो ऐसा शब्दोच्चारण तब हो सकता है जब वे शब्द नित्य हों, अन्यथा नष्ट हुये उन शब्दोंका उच्चारण तथा अन्य पुरुषोंको उनका सुनना कैसे हो सकता है एवं अर्थबोध भी कैसे हो सकता है? क्योंकि वे शब्द तो खतम हो गये? इसप्रकार मीमांसकने शब्दोच्चारणकी अन्यथानुपपत्ति जोड़कर वेदको नित्य एवं अपौरुषेय सिद्ध करना चाहा तब जैनाचार्य जबाब देते हैं कि यह शब्दोच्चारणकी अन्यथानुपपत्ति तो सदृशताके कारण हुआ करती है, पहले शब्द सुना फिर कभी उसका प्रतिपादन किया इत्यादि सो वही शब्द पुनः पुनः प्रयोगमें नहीं आते किन्तु उनके सदृश अन्य अन्य ही उत्पन्न हुआ करते हैं जैसे रसोई घरमें धूमको देखा वह अन्य है और पुनः कभी पर्वतपर देखा वह अन्य है उस सदृश धूमसे भी अग्नि का ज्ञान हो जाता है, उसीप्रकार पहले सुने हुए शब्द और पुनः किसी कालमें सुने हुए या उच्चारणमें आये हुए शब्द अन्य ही रहते हैं। उनसे अर्थ बोध भी होता रहता है, अतः शब्दोच्चारणकी अन्यथानुपपत्ति से वेदको नित्य या अपौरुषेय सिद्ध करना अशक्य है।

क्षिप्तश्च तुच्छस्वभावाभावः प्राक्प्रबन्धेन । द्वितीयपक्षस्तु श्रद्धामात्रगम्यः; अभावप्रमाणस्याऽसम्भवतस्तेन तद्ग्रहणानुपपत्तेः । तदसम्भवश्च सत्सामग्रीस्वरूपयोः प्राक्प्रबन्धेन प्रतिषिद्धत्वात्सिद्धः ।

अथ पर्युदासरूपं तदभ्युपगम्यते । नन्वत्रापि किं पौरुषेयत्वादन्यत्पर्युदासवृत्त्याऽपौरुषेयत्वशब्दाभिधेयं स्यात् ? तत्सत्त्वमिति चेत्; तत्किं निर्विशेषणम्, अनादिविशेषणविशिष्टं वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यता; ततोऽन्यस्य वेदसत्त्वमात्रस्याध्यक्षादिप्रमाणप्रसिद्धस्यास्माभिरभ्युपगमात् । पौरुषेयत्वं हि कृतकत्वम्, ततश्चान्यत्सत्त्वमित्यत्र को वै विप्रतिपद्यते ? द्वितीयपक्षः पुनरविचारितरमणीयः; वेदानादिसत्त्वे प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रसिद्धयसम्भवस्याऽनन्तरमेव प्रतिपादितत्वात् ।

यह भी प्रश्न है कि अपौरुषेय पदमें जो न ञ समासका नकार है "न पौरुषेयः इति अपौरुषेयः" यह अभाव सूचक "अ" प्रसज्यप्रतिषेधात्मक है (तुच्छ अभावरूप) या पर्युदासात्मक है ? (भावांतर स्वभावरूप) प्रथम पक्ष कहो तो उस प्रसज्य प्रतिषेधात्मक अपौरुषेयको कौनसा प्रमाण ग्रहण करता है । सत्ताग्राहक प्रमाण या अभाव ग्राहक अभावप्रमाण ? पहली बात तो कहना नहीं, क्योंकि सत्ताग्राहक पांचों ही प्रमाण अपौरुषेयत्वको ग्रहण नहीं कर सकते ऐसा हम जैनने बता दिया है । तथा सत्ताग्राहक प्रमाणों द्वारा तुच्छ स्वभाव वाले अभावरूप अपौरुषेय का ग्रहण होना भी शक्य नहीं है, हमने तुच्छ स्वभाव वाले अभावका पहले भागमें खंडन कर भी दिया है ।

अभाव प्रमाणसे अपौरुषेयत्व जाना जाता है ऐसा कहना भी श्रद्धा मात्र है, क्योंकि अभाव प्रमाण ही असंभव है तो उसके द्वारा अपौरुषेयत्व क्या ग्रहणमें आयेगा ? अभाव प्रमाण असंभव क्यों है इस बातको पहले भागके "अभावस्य प्रत्यक्षादावन्तर्भावः" नामा प्रकरणमें कह चुके हैं ।

पर्युदासात्मक अभाव इष्ट है ऐसा उत्तर पक्ष कहो अर्थात् "न पौरुषेयः इति अपौरुषेयः" जो पौरुषेय नहीं है वह अपौरुषेय है पौरुषेयसे जो अन्य हो वह अपौरुषेय पदका वाच्य है ऐसा कहा जाय तो प्रश्न होता है कि पौरुषेयसे अन्य जो वाच्य पदार्थ है वह कौनसा है ? वह वाच्यार्थ वेदका सत्व (अस्तित्व) है ऐसा उत्तर देवे तो पुनः शंका होती है कि वह सत्व निर्विशेषण है या अनादि विशेषण विशिष्ट है ? प्रथम पक्ष माने तो सिद्ध साध्यता है क्योंकि पौरुषेयसे अन्य जो वेदका सत्व मात्र है जो कि प्रत्यक्षादि प्रमाणसे प्रसिद्ध है उसको हम जैन मानते ही हैं, पौरुषेयत्व अर्थ है कृतकत्व और जो इससे अन्य है वह सत्व है ऐसा कौन नहीं मानता ? अर्थात् कृतकत्व और

अस्तु वाऽपौरुषेयो वेदः; तथाप्यसौ व्याख्यातः, अव्याख्यातो वा स्वार्थे प्रतीतिं कुर्यात् ? न तावदव्याख्यातः; अतिप्रसंगात् । व्याख्यातश्चेत्; कुतस्तद्व्याख्यानम्–स्वतः, पुरुषाद्वा ? न तावत्स्वतः; 'अयमेव मदीयपदवाक्यानामर्थो नायम्' इति स्वयं वेदेनाऽप्रतिपादनात्, अन्यथा व्याख्याभेदो न स्यात् । पुरुषाच्चेत्; कथं तद्व्याख्यानात्पौरुषेयादर्थप्रतिपत्तौ दोषाशङ्का न स्यात् ? पुरुषा हि विपरीतमप्यर्थं व्याचक्षाणा दृश्यन्ते । संवादेन प्रामाण्याभ्युपगमे च अपौरुषेयत्वकल्पनाऽनर्थिका तद्वद्वेदस्यापि प्रमाणान्तरसंवादादेव प्रामाण्योपपत्तेः न च व्याख्यानानां संवादोऽस्ति; परस्परविरुद्धभावनानियोगादिव्याख्यानानामन्योन्यं विसंवादोपलम्भात् ।

सत्त्व इन दोनोंका अर्थ पृथक् पृथक् है ऐसा मानते ही हैं । दूसरा पक्ष—अपौरुषेय शब्द का वाच्य अनादि विशेषण विशिष्ट है ऐसा कहा जाय तो यह भी अविचार पूर्ण कथन है, क्योंकि वेद अनादि है इस बातको प्रत्यक्षादि प्रमाण सिद्ध नहीं कर पाते हैं, इस विषयको अभी अभी कह आये हैं । जैसे तैसे वेदको अपौरुषेय मान लेवे तो भी वह वेद व्याख्यात होकर अर्थकी प्रतीति कराता है अथवा बिना व्याख्यात हुए ही अर्थकी प्रतीति कराता है ? बिना व्याख्यात हुए अर्थ प्रतीति कराना माने तो अतिप्रसंग होगा, फिर तो आपके समान सभी परवादीको बिना व्याख्यानके वेदके वाक्य अर्थ प्रतीति करा देते ? (किन्तु ऐसा होता तो नहीं) दूसरी बात— वेद व्याख्यात होने पर अर्थकी प्रतीति कराता है ऐसा माने तो उस वेदके पदोंका व्याख्यान कौन करेगा स्वतः ही होवेगा या पुरुष द्वारा होगा ? स्वतः होना अशक्य है, मेरे पद एवं वाक्योंका यही अर्थ है अन्य नहीं है ऐसा वेद स्वयं तो कह नहीं सकता, यदि कह देता तो उन वेद वाक्योंके व्याख्यानमें जो भावना, विधि आदिरूप प्रभेद दिखायी देते हैं वे नहीं दिखते । वेद वाक्योंका व्याख्यान पुरुष करते हैं ऐसा माना जाय तो वह व्याख्यान पौरुषेय होनेसे उससे होनेवाला अर्थबोध दोषकी शंकासे रहित कैसे हो सकेगा अर्थात् पुरुष दोष युक्त होनेसे उनके वचन निर्दोष ज्ञानके कारण कैसे हो सकेंगे ? क्योंकि पुरुष तो विपरीत अर्थको भी कहते हुए दिखायी देते हैं । यदि कहा जाय कि पुरुषके व्याख्यानमें संवादसे प्रामाण्य माना जायगा अर्थात् जो व्याख्यान संवादसे पुष्ट होता है उसको मानेंगे तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि इसतरह माननेसे अपौरुषेयत्वकी कल्पना व्यर्थ ठहरती है अर्थात् जिस प्रकार वेदका व्याख्यान पुरुषकृत होकर उसमें संवादसे प्रामाण्य आता है उसीप्रकार वेदकी रचना पुरुषकृत होकर भी उसमें संवादसे प्रामाण्य आ सकता है । तथा मीमांसक के यहां जितने भी वेदके व्याख्याता पुरुष हैं उनके व्याख्यानोंमें संवादकपना है कहां ?

किंच, असौ तद्व्याख्याताऽतीन्द्रियार्थद्रष्टा, तद्विपरीतो वा ? प्रथमपक्षे अतीन्द्रियार्थदर्शिनः प्रतिषेधविरोधो धर्मादौ चास्य प्रामाण्योपपत्तेः "धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" [ ] इत्यवधारणानुपपत्तिश्च ।

अथ तद्विपरीतः; कथं तर्हि तद्व्याख्यानाद्यथार्थप्रतिपत्तिः अयथार्थाभिधानाशंकया तदनुपपत्तेः ? न च मन्वादीनां सातिशयप्रज्ञत्वात्तद्व्याख्यानाद्यथार्थप्रतिपत्तिः; तेषां सातिशयप्रज्ञत्वासिद्धेः। तेषां हि प्रज्ञातिशयः स्वतः, वेदार्थाभ्यासात्, अदृष्टात्, ब्रह्मणो वा स्यात् ? स्वतश्चेत्; सर्वस्य स्याद्विशेषाभावात् । वेदार्थाभ्यासाच्चेत् किं ज्ञातस्य, अज्ञातस्य वा तदर्थस्याभ्यासः स्यात् ? न तावदज्ञातस्या-

---

उनमें तो परस्पर विरुद्ध भावना नियोग आदि अर्थ करना रूप विसंवाद ही दिखायी देता है ।

वेदके व्याख्याता पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थके ज्ञाता हैं कि नहीं यह बात भी विचारणीय है, यदि वे व्याख्याता अतीन्द्रिय ज्ञानी (धर्म आदि सूक्ष्म पदार्थको जानने वाले) हैं तब तो आप जो अतीन्द्रिय ज्ञानीका (सर्वज्ञका) निषेध करते हैं उसमें विरोध आवेगा तथा अतीन्द्रिय ज्ञानी धर्म आदि अदृश्य विषयोंका प्रतिपादन कर सकते हैं अतः "धर्मे चोदनैव प्रमाणम्" ऐसी आपकी प्रतिज्ञा गलत ठहरती है, क्योंकि अतीन्द्रिय ज्ञानी भी धर्मादिके विषयमें प्रमाणभूत है ऐसा सिद्ध होनेसे धर्मादिके विषयमें वेद वाक्य ही प्रमाणभूत है ऐसा नियम विघटित हो जाता है ।

वेदके वाक्योंका व्याख्यान करनेवाले पुरुष अतीन्द्रिय ज्ञानी नहीं हैं सामान्य हैं ऐसा दूसरा विकल्प माने तो उन सामान्य पुरुषोंके व्याख्यानोंसे यथार्थ ज्ञान किस प्रकार हो सकेगा ? वहां तो शंका ही रहेगी कि क्या मालूम यह अल्पज्ञ पुरुष यथार्थ प्रतिपादन कर रहा है अथवा विपरीत कर रहा है ? तुम कहो कि हमारे यहां मनु आदि प्रधान पुरुष हुए हैं उनके सातिशय ज्ञान सूक्ष्म आदि अदृश्य पदार्थोंको जानने वाला ज्ञान था अतः वे यथार्थ व्याख्यान करते थे, सो यह बात भी गलत है मनु आदिके सतिशय ज्ञान होना ही असिद्ध है, उनको सातिशय ज्ञान स्वयं होवेगा या वेदार्थके अभ्याससे, अदृष्ट (भाग्य) से अथवा ब्रह्माजीसे ? स्वतः होता है कहो तो सभी पुरुषों को सातिशय ज्ञान होना चाहिये, सिर्फ मनुमें ही हो ऐसी कोई विशेषता नहीं दिखायी देती । वेदार्थके अभ्याससे मनु आदि का ज्ञान सातिशय होता है ऐसा माने तो प्रश्न होता है कि उस वेदके अर्थका अभ्यास ज्ञात–समझकर होगा अथवा अज्ञात बिना समझे

ऽतिप्रसंगात्। ज्ञातस्य चेत्; कुतस्तज्ज्ञप्तिः-स्वतः, अन्यतो वा? स्वतश्चेत्; अन्योन्याश्रयः-सति हि वेदार्थाभ्यासे स्वतस्तत्परिज्ञानम्, तस्मिंश्च तदर्थाभ्यास इति। अन्यतश्चेत्; तस्यापि तत्परिज्ञानमन्यत इत्यतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमेऽन्धपरम्परातो यथार्थनिर्णयानुपपत्तिः।

अदृष्टोपि प्रज्ञातिशयाऽसाधकः; तस्यात्मान्तरेपि सम्भवात्। न तथाविधोऽदृष्टोऽन्यत्र मन्वादावेवास्य सम्भवादिति चेत्; कुतोऽत्रैवास्य सम्भवः? वेदार्थानुष्ठानविशेषाच्चेत्; स तर्हि वेदार्थस्य ज्ञातस्य, अज्ञातस्य वाऽनुष्ठाता स्यात्? अज्ञातस्य चेत्; अतिप्रसंगः। ज्ञातस्य चेत्; परस्पराश्रयः-सिद्धे हि वेदार्थज्ञानातिशये तदर्थानुष्ठानविशेषसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तज्ज्ञानातिशयसिद्धिरिति।

होगा? बिना समझे अभ्यास द्वारा सातिशय होता है ऐसा कहो तो अतिप्रसंग होगा—फिर तो आबाल गोपालको वेदार्थका अभ्यास होने लगेगा। वेदके अर्थको समझकर अभ्यास किया जाता है ऐसा माने तो किसके द्वारा अर्थको समझा अपने द्वारा या अन्य किसीसे? पहली बात माने तो अन्योन्याश्रय दोष खड़ा होगा—वेदार्थका अभ्यास होने पर स्वतः उसके अर्थका ज्ञान होवेगा और उसके होनेपर वेदार्थका अभ्यास होवेगा। अन्य किसी पुरुषद्वारा वेदार्थको समझकर अभ्यास किया जाता है ऐसा कहे तो अन्य पुरुषने भी किसी अन्य पुरुषसे वेदार्थको समझा होगा, इसतरह अतीन्द्रिय ज्ञानीको नहीं मानने वाले आप मीमांसकके यहां अंध पुरुषोंकी परम्पराके समान दूसरे दूसरे पुरुषोंकी अनवस्थाकारी परंपरा तो बढ़ती जायगी किंतु वेदके अर्थका यथार्थ निर्णय तो हो नहीं सकेगा।

मनु आदिको अदृष्टसे (भाग्यसे) ज्ञानका अतिशय होता है ऐसा कहना भी गलत है, अदृष्ट तो अन्य सामान्य जनों को भी होता है।

मीमांसक—प्रज्ञाका अतिशय करने वाला अदृष्ट तो मनु आदिमें ही हो सकता है सर्वसाधारण जनोंमें नहीं?

जैन—तो फिर ऐसा अदृष्ट मनुके किस कारणसे हुआ? वेदार्थका अनुष्ठान करनेसे हुआ कहो तो वह भी वेदार्थको जाननेके बाद किया या बिना जाने किया? बिना जाने किया कहो तो वहीं अतिप्रसंग होगा और जाननेके बाद किया तो उस वेदार्थको कैसे जाना, उसमें वही अन्योन्याश्रयकी बात आती है—वेदार्थके ज्ञानका अतिशय सिद्ध होने पर उसके अर्थका अनुष्ठान विशेष सिद्ध होवेगा और उसके सिद्ध

ब्रह्मणोपि वेदार्थज्ञाने सिद्धे सत्यऽतो मन्वादेस्तदर्थपरिज्ञानातिशयः स्यात्। तच्चास्य कुतः सिद्धम्? धर्मविशेषाच्चेत्; स एवेतरेतराश्रयः—वेदार्थपरिज्ञानाभावे हि तत्पूर्वकानुष्ठानजनितधर्मविशेषानुत्पत्तिः, तदनुत्पत्तौ च वेदार्थपरिज्ञानाभाव इति। तन्नातीन्द्रियार्थदर्शिनोऽनभ्युपगमे वेदार्थप्रतिपत्तिर्घटते।

ननु व्याकरणाद्यभ्यासाल्लौकिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तौ तदविशिष्टवैदिकपदवाक्यार्थप्रतिपत्तिरपि प्रसिद्धेरश्रुतकाव्यादिवत्, तत्र वेदार्थप्रतिपत्तावऽतीन्द्रियार्थदर्शिना किंचित्प्रयोजनम्; इत्यप्यसारम्; लौकिकवैदिकपदानामेकत्वेप्यनेकार्थत्वव्यवस्थितेः अन्यपरिहारेण व्याचिख्यासितार्थस्य नियमयितुमशक्तेः। न च प्रकरणादिभ्यस्तन्नियमः; तेषामप्यनेकप्रवृत्तेर्द्विसन्धानादिवत्। यदि च लौकिकेनाग्न्या-

---

होनेपर वेदार्थ ज्ञानका अतिशय सिद्ध होगा। ब्रह्माजीमे वेदार्थको जाना है ऐसा कहो तो ब्रह्माको वेदार्थका ज्ञान है, यह पहले सिद्ध होना चाहिये तब जाकर उसके ज्ञानका अतिशय सिद्ध हो सकेगा। ब्रह्माको वेदार्थका ज्ञान किससे हुआ? धर्म विशेषसे हुआ कहो तो पहलेके समान अन्योन्याश्रय होता है—वेदार्थके परिज्ञानका जबतक अभाव है तबतक उस परिज्ञानपूर्वक होनेवाले अनुष्ठान विशेषसे धर्म विशेष उत्पन्न नहीं हो सकेगा, और धर्म विशेषके अभावमें वेदार्थके परिज्ञानका अभाव रहेगा। इसलिये अतीन्द्रिय ज्ञानीको नहीं माननेसे वेदार्थका ज्ञान होना भी घटित नहीं होता है।

मीमांसक—व्याकरण आदिका अभ्यास करनेसे जैसे लौकिक पद एवं वाक्योंके अर्थकी प्रतिपत्ति हो जाया करती है वैसे ही लौकिक पदादिके सदृश होनेवाले जो वैदिक पद वाक्य हैं उनके अर्थकी प्रतिपत्ति भी सिद्ध होवेगी, जिस तरह की अश्रुतपूर्व काव्य आदिके वाक्योंका अर्थाभ्यास होता हुआ देखा जाता है? इसलिये वेदार्थको जाननेके लिये अतीन्द्रिय ज्ञानीकी जरूरत होवे सो बात नहीं है।

जैन—यह कथन असार है, लौकिक पद और वैदिक पद सदृश होते हुए भी अर्थ विभिन्न है अतः अन्य अर्थका परिहार करके यही अर्थ सही है ऐसा अर्थका नियम निश्चित करना अशक्य है, अर्थात् एक एक पद एवं वाक्यके अनेक अनेक अर्थ हुआ करते हैं उन अनेक अर्थोंमें से यहां पर यही अर्थ ग्रहण किया जायगा ऐसा निर्णय होना अशक्य है, यदि कहा जाय कि प्रकरणके अनुसार अर्थका निर्णय हो जाता है सो भी बात नहीं है प्रकरण भी अनेक हुआ करते हैं जैसें द्विसंधानकाव्य आदिमें एक एक प्रकरणके अनेक अर्थ होते हैं। तथा यदि आप मीमांसक लौकिक अग्नि आदि शब्दके

दिशब्देनाविशिष्टत्वाद्वैदिकस्याग्न्यादिशब्दस्यार्थप्रतिपत्तिः; तर्हि पौरुषेयेणाविशिष्टत्वात्पौरुषेयोसौ कथं न स्यात् ? लौकिकस्य ह्यग्न्यादिशब्दस्यार्थवत्त्वं पौरुषेयत्वेन व्याप्तम् । तत्रायं वैदिकोऽग्न्यादिशब्दः कथं पौरुषेयत्वं परित्यज्य तदर्थमेव ग्रहीतुं शक्नोति ? उभयमपि हि गृह्णीयाज्जह्याद्वा ।

न च लौकिकवैदिकशब्दयोः शब्दस्वरूपाविशेषे संकेतग्रहणसव्यपेक्षत्वेनाऽर्थप्रतिपादकत्वे अनुच्चार्यमाणयोश्च पुरुषेणाऽश्रवणे समाने अन्यो विशेषो विद्यते यतो वैदिका अपौरुषेयाः शब्दा लौकिकास्तु पौरुषेया स्युः । संकेते(ता)नतिक्रमेणार्थप्रत्यायनं चोभयोरपि ।

न चापौरुषेयत्वे पुरुषेच्छावशादर्थप्रतिपादकत्वं युक्तम्, उपलभ्यन्ते च यत्र पुरुषैः संकेतिताः शब्दास्तं तमर्थमविगानेन प्रतिपादयन्तः, अन्यथा तत्संकेतभेदपरिकल्पनानर्थक्यं स्यात् । ततो ये

समान ही वैदिक अग्नि आदि शब्दसे अर्थबोध होना मानते हैं तो लौकिक शब्दके समान वैदिक शब्द को भी पौरुषेय मानना होगा फिर वेद पौरुषेय कैसे नहीं कहलायेगा ? लौकिक (जन साधारणमें प्रयोग आने वाले) अग्नि आदि शब्दोंका अर्थ पौरुषेयत्वके साथ व्याप्त है इस तरह जब सिद्ध है तब वैदिक अग्नि आदि शब्द पौरुषेयत्वको तो छोड़ देवे और मात्र उसके अर्थको (वाच्य पदार्थ जो साक्षात् जलती हुई अग्नि नाम की चीज है उसको) बतलावे ऐसा किसप्रकार हो सकता है ? वह शब्द या तो दोनों पौरुषेयत्व अपौरुषेयत्व धर्मोंको छोड़ेगा या दोनोंको ग्रहण करेगा ।

लौकिक शब्द और वैदिक शब्द इनमें शब्दत्व तो समान है तथा इस शब्दका यह अर्थ है इसप्रकारका संकेत ग्रहण जिसमें हो वही शब्द अर्थका प्रतिपादक बन सकता है ऐसी जो शब्दकी योग्यता है वह भी दोनों प्रकारके (लौकिक वैदिक) शब्दोंमें समान है, दोनों ही शब्द उच्चारण किये बिना पुरुष द्वारा सुनायी नहीं देते इतनी सब समानता है तब कैसे कह सकते हैं कि लौकिक शब्द तो पुरुषकृत (पौरुषेय) है और वैदिक शब्द पुरुषकृत नहीं है ? (अपौरुषेय है) संकेतका अतिक्रमण किये बिना ही दोनों प्रकारके शब्द अर्थको प्रतीति कराते हैं अतः दोनोंमें समानता ही है ।

यह भी बात है कि वैदिक शब्दोंको अपौरुषेय मानते हैं तो उनका अर्थ पुरुषकी इच्छानुसार करना शक्य नहीं है, किन्तु देखा जाता है कि वैदिक शब्दोंका पुरुष द्वारा जिन जिन अर्थोंमें संकेत किया गया है उन उन अर्थोंका बिना विवादके

नररचितवचनरचनाऽविशिष्टास्ते पौरुषेयाः यथाऽभिनवकूपप्रासादादिरचनाऽविशिष्टा जीर्णकूपप्रासादादयः, नररचितवचनाऽविशिष्टं च वैदिकं वचनमिति ।

न चात्राश्रयासिद्धो हेतुः; वैदिकीनां वचनरचनानां प्रत्यक्षतः प्रतीतेः । नाप्यप्रसिद्धविशेषणः पक्षः; अभिनवकूपप्रासादादौ पुरुषपूर्वकत्वेनास्य साध्यविशेषणस्य सुप्रसिद्धत्वात् । न च हेतोः स्वरूपासिद्धत्वम्; तद्वचनरचनासु विशेषग्राहकप्रमाणाभावेनास्याऽभावात् ।

न चाप्रामाण्याभावलक्षणो विशेषस्तत्रेत्यभिधातव्यम्; तस्य विद्यमानस्यापि तन्निराकारकत्वाभावात् । यादृशो हि विशेषः प्रतीयमानः पौरुषेयत्वं निराकरोति तादृशस्यास्याऽभावादऽविशिष्टत्वम् न पुनः सर्वथा विशेषाभावात्, एकान्तेनाऽविशिष्टस्य कस्यचिद्वस्तुनोऽभावात् । अप्रामाण्याभावलक्षणश्च

प्रतिपादन होता है, यदि ऐसी बात नहीं होती तो उन अर्थोके भिन्न भिन्न संकेत हुआ करते हैं उनकी कल्पना व्यर्थ ठहरती । इसलिये निश्चय होता है कि मनुष्यों द्वारा रचे हुए शब्दोंके समान ही जो शब्द हैं वे पौरुषेय ही हैं, जैसे नये बनाये हुए कूप महल आदिकी रचनाके समान पुराने कूप महल आदि होते हैं तो उनको पुरुषकृत ही मानते हैं वैदिक शब्द मनुष्यों द्वारा रचे हुए शब्दोंके समान ही हैं अतः पौरुषेय हैं ।

यह नर रचित वचन समानत्व हेतु (मनुष्य द्वारा रचित शब्दके समान ही वेदके शब्द हैं) आश्रय असिद्ध दोष युक्त भी नहीं है, क्योंकि वैदिक शब्दोंकी रचना मनुष्य रचित शब्दके समान प्रत्यक्षसे ही प्रतीत होती है । इस हेतुका पक्ष अप्रसिद्ध विशेषणवाला भी नहीं है, सपक्ष–नवीन कूप महल आदिमें पुरुषकृतपना देखा जाता ही है । अतः साध्यका पौरुषेय विषेषण सुप्रसिद्ध ही है, हेतुका स्वरूप भी असिद्ध नहीं है अर्थात् मनुष्य रचित शब्दोंके स्वरूपके समान ही वैदिक शब्दोंका स्वरूप है, उन शब्दोंकी विशेषता बतलानेवाला कोई प्रमाण भी नहीं है जिससे कि वैदिक शब्दोंकी विशेषता सिद्ध हो जाय ।

वैदिक शब्दोंमें अप्रामाण्यका अभाव है अतः लौकिक शब्दोंसे वैदिक शब्दोंमें विशेषता मानी जाती है ऐसा भी नहीं कहना, वैदिक शब्दोंमें अप्रामाण्यका अभाव भले ही पाया जाता हो किन्तु उससे पौरुषेयत्व नहीं हटाया जा सकता अर्थात् अप्रामाण्यका अभाव वेदको अपौरुषेय सिद्ध कर देवे सो शक्ति उसमें नहीं है । जिसके द्वारा वेदके शब्दोंका पौरुषेयत्व निराकरण किया जाय ऐसी कोई विशेषता उन शब्दोंमें नहीं है अतः

विशेषो दोषवन्तमप्रामाण्यकारणं पुरुषं निराकरोति न गुणवन्तमप्रामाण्यनिवर्त्तकम्। न च गुणवतः पुरुषस्याभावादन्यस्य चानेन विशेषेण निराकृतत्वात्सिद्धमेवापौरुषेयत्वं तत्रेत्यभ्युपगन्तव्यम्; तत्सद्भावस्य प्राक्प्रतिपादितत्वात्। तदभावेऽप्रामाण्याभावलक्षणविशेषाभावप्रसंगाच्च।

पौरुषेये प्रासादादौ हेतोर्दर्शनादपौरुषेये चाकाशादावदर्शनान्नानैकान्तिकत्वम्। अत एव न विरुद्धत्वम्; पक्षधर्मत्वे हि सति विपक्षे वृत्तिर्यस्य स विरुद्धः, न चास्य विपक्षे वृत्तिः। नापि कालात्ययापदिष्टत्वम्; तद्धि हेतोः प्रत्यक्षागमबाधितकर्मनिर्देशानन्तरप्रयुक्तं भवतेष्यते। न च यत्र स्वसाध्या-

---

वे लौकिक शब्दसे अविशिष्ट (समान) है किन्तु सर्वथा अविशिष्ट नहीं है, कोई वस्तु सर्वथा समान नहीं हुआ करती। आपने वैदिक शब्दोंमें अप्रामाण्याभाव नामका जो विशेष बतलाया वह विशेष तो मात्र अप्रामाण्यका कारण जो दोष युक्त पुरुष है उसीका निराकरण करता है, जो पुरुष गुणवान है अप्रामाण्यको हटानेवाला है उस पुरुषका निराकरण नहीं करता है। आप कहो कि गुणवान पुरुषका तो अभाव है और दोष युक्त पुरुषका निराकरण अप्रामाण्याभाव विशेषसे हो जाता है, अतः अपने आप ही वैदिक शब्द अपौरुषेय सिद्ध हो जाते हैं? सो यह कथन भी असत है गुणवान पुरुषका सद्भाव है इस बातको अभी अभी सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणमें निश्चित कर आये हैं। तथा यह भी निश्चित है कि यदि आप मीमांसक गुणवान पुरुषको नहीं मानते तो अप्रामाण्य का अभावरूप विशेष भी सिद्ध नहीं हो सकेगा उसका भी अभाव होनेका प्रसंग आता है।

"वैदिक शब्द पौरुषेय हैं (पुरुषने बनाये हैं) क्योंकि वे मनुष्य रचित शब्दों के समान रचनावाले ही देखे जाते हैं" यह हम जैनका अनुमान प्रमाण वेदके अपौरुषेयत्वका निराकरण करनेके लिये प्रयुक्त हुआ है, इस अनुमानका मनुष्य रचित वचन रचना अविशिष्टत्व नामक हेतु अनैकान्तिक भी नहीं है, क्योंकि पौरुषेय प्रासाद आदि की जो रचना है उसमें तो यह हेतु पाया जाता है और अपौरुषेयभूत आकाशादिक है उस विपक्षमें नहीं रहता। तथा विपक्षमें नहीं जानेके कारण ही विरुद्ध दोष युक्त भी नहीं है, इसीको बतलाते हैं—जिस हेतुमें पक्ष धर्मत्व होकर विपक्षमें वृत्ति पायी जाय वह विरुद्ध हेतु कहलाता है, किन्तु प्रस्तुत हेतु विपक्षमें नहीं रहता है।

विनाभूतो हेतुर्धर्मिणि प्रवर्त्तमानः स्वसाध्यं प्रसाधयति तत्रैव प्रमाणान्तरं प्रवृत्तिमासादयत्तमेव धर्मं व्यावर्त्तयति; एकस्यैकदैकत्र विधिप्रतिषेधयोर्विरोधात् । प्रकरणसमत्वमपि प्रतिहेतोर्विपरीतधर्मप्रसाधकस्य प्रकरणचिन्ताप्रवर्त्तकस्य तत्रैव धर्मिणि सद्भावोऽभिधीयते । न च स्वसाध्याविनाभूतहेतुप्रसाधितधर्मिणो विपरीतधर्मोपेतत्वं सम्भवतीति न विपरीतधर्माधायिनो हेत्वन्तरस्य तत्र प्रवृत्तिरिति । तन्न वेदपदवाक्ययोर्नित्यत्वं घटते ।

नापि वर्णानां कृतकत्वतः शब्दमात्रस्यानित्यत्वसिद्धौ तेषामप्यनित्यत्वसिद्धौ तेषामप्यनित्यत्वोपपत्तेः । तथाहि–अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद् घटवत् । न च कृतकत्वमसिद्धम्; तथाहि–कृतकः शब्दः

जैनका यह हेतु कालात्ययापदिष्ट दोष युक्त भी नहीं है, जिस हेतुका पक्ष प्रत्यक्षसे बाधित हो या आगमसे बाधित हो उसके बाद भी उसका प्रयोग किया जाय तो वह हेतु कालात्ययापदिष्ट नामा हेत्वाभास होता है ऐसा आप मीमांसकका ही कहना है । धर्मीमें स्वसाध्यके साथ अविनाभाव रूपसे रहकर जो हेतु स्वसाध्यको सिद्ध कर देता है ऐसा विशिष्ट हेतु जहां पर रहता है वहां पर अन्य प्रत्यक्ष आदि प्रमाण प्रवृत्त होकर उस हेतुके साध्यधर्मको हटा देवे, सो हो नहीं सकता, क्योंकि एक जगह एक कालमें एक ही धर्मका विधि और प्रतिषेध करनेमें विरोध आता है । प्रकरणसम नामा दोष भी हमारे हेतुमें नहीं है, जहां प्रति हेतु आकर साध्य धर्मसे विरुद्ध धर्मको सिद्ध कर देनेकी संभावना होती है, जिसमें प्रकरण चिंता होती है, ऐसे सत्प्रतिपक्षवाले हेतुको प्रकरणसम हेत्वाभास कहते हैं, स्वसाध्यके अविनाभावी हेतुक द्वारा साध्यधर्मी के सिद्ध होने पर ऐसा दोष नहीं आता, उस धर्मीमें विपरीत धर्म युक्त होनेकी संभावना नहीं रहती अतः साध्यसे विपरीत धर्मको सिद्ध करने वाला अन्य हेतु उसमें प्रवृत्त नहीं हो सकता । इसप्रकार हम जैनका "नर रचित शब्द रचना अविशिष्टत्वात्" हेतु असिद्ध विरुद्ध अनैकान्तिक कालात्ययापदिष्ट और प्रकरणसम इन पांचों दोषोंसे रहित है ऐसा सिद्ध होता है और इसीलिये वह स्वसाध्यको) वेदके पौरुषेयत्वको) नियमसे सिद्ध करता है । अतः वेदके पद एवं वाक्योंको नित्य रूप सिद्ध करना घटित नहीं होता । वेदके पद वाक्य तो पौरुषेय अनित्य ही सिद्ध होते हैं ।

पद और वाक्योंके समान वर्णोंका नित्यपना (अपौरुषेयत्व) भी सिद्ध नहीं होता, शब्दमात्र ही फिर चाहे वे वर्णरूप हो पद रूप हो या वाक्यरूप हो सब कृतकत्व हेतु द्वारा अनित्य ही सिद्ध होते हैं, अर्थात् शब्द अनित्य हैं क्योंकि वे किये हुए हैं इस

कारणान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्तद्वदेव । न चैवमप्यसिद्धम्; ताल्वादिकारणव्यापारे सत्येव शब्दस्यात्मलाभप्रतीतेस्तदभावे वाऽप्रतीतेः, चक्रादिव्यापारसद्भावासद्भावयोर्घटस्यात्मलाभालाभप्रतीतिवत् ।

अनुमानसे शब्दमें अनित्यपना सिद्ध होनेपर वर्ण आदिका अनित्यपना स्वतः ही सिद्ध होता है । यह कृतकत्व हेतु असिद्ध दोष युक्त भी नहीं है, इसीको बताते हैं—शब्द किया हुआ है क्योंकि उसका कारणके साथ अन्वय व्यतिरेक है । जैसे घट का मिट्टीरूप कारण के साथ अन्वय व्यतिरेक है । शब्दका कारणके साथ अन्वय व्यतिरेक होना असिद्ध भी नहीं है तालु ओठ कंठ आदि कारणोंका जब व्यापार होता है तभी शब्द उत्पन्न होता है अन्यथा नहीं ऐसी ही सभीको प्रतीति आ रही है । जैसे कि चक्र चीवर मिट्टी आदि कारणोंका अन्वय (सद्भाव) हो तो घट बनता है और वे कारण न होवे तो नहीं बनता । इसतरह वेदके पद एवं वाक्य पौरुषेय (पुरुष द्वारा रचित) सिद्ध होते है तथा साथ ही अनित्य भी सिद्ध होते हैं क्योंकि जो पौरुषेय है वह अवश्य ही अनित्य होगा । मीमांसक आदि परवादी वेद वाक्यके समान अकार आदि संपूर्ण वर्णमालाको भी नित्य अपौरुषेय मानते हैं, इस मान्यताका निरसन भी वेदके अपौरुषेयत्वका खंडन होनेसे हो जाता है क्योंकि यह मान्यता प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाणोंसे बाधित है, कोई भी पद वाक्य या शब्द मात्र ही प्रयत्नके बिना उत्पन्न होता है या अनादिका हो ऐसा अनुभव में नहीं आता है, अनुभवके आधार पर वस्तु व्यवस्था हुआ करती है यदि उसमें किसी प्रमाणसे बाधा नहीं आती है तो शब्द वर्ण आदि जब तालु आदिसे उत्पन्न होते हुए दिखायी दे रहे हैं तब बुद्धिमानोंका कर्त्तव्य होता है कि वे उन्हें पौरुषेय स्वीकार करें । अस्तु ।

विशेषार्थ— मीमांसक आदि वैदिक दार्शनिक ऋग्वेद आदि चारों वेदोंको अपौरुषेय एवं सर्वथा नित्य स्वीकार करते हैं, इनका कहना है कि वेदमें धर्म अधर्म आदि अदृश्य पदार्थोंका व्याख्यान पाया जाता है इन अदृश्य पदार्थोंका साक्षात्कार किसी भी प्राणीको चाहे वह मनुष्य हो या देवता हो या अन्य कोई हो, हो नहीं सकता, इसका भी कारण यह है कि अतीन्द्रिय ज्ञानी सर्वज्ञका अस्तित्व नहीं है न था और न आगामी कालमें होगा । बस यही कारण है कि सूक्ष्मतत्वका प्रतिपादन करनेवाला वेद अपौरुषेय होना चाहिए । किन्तु विचार करने पर यह बात घटित नहीं होती, जब वेदके

पद एवं वाक्य मनुष्य द्वारा रचित पद और वाक्यके समान ही है तब कैसे कह सकते हैं कि वे अपौरुषेय हैं ? रही बात अदृश्य पदार्थके व्याख्यानकी सो सर्वज्ञसिद्धि प्रकरणमें इसका निश्चय कर आये हैं कि किन्ही किन्ही मनुष्य विशेषोंके आवरणके हट जानेपर पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति रूप सर्वज्ञता हो सकती है, मीमांसक सर्वज्ञको नहीं मानते किन्तु यह मान्यता उन्हींसे बाधित होती है; क्योंकि वेदके पद एवं वाक्योंका अर्थ करनेवाला व्याख्याता पुरुष यदि अल्प ज्ञानी है तो वह अतीन्द्रिय पदार्थका ज्ञाता नहीं होनेसे विपरीत प्रतिपादन कर देगा और सर्वज्ञ है तो प्रतिज्ञा हानि नामक दोष (सर्वज्ञ नहीं है ऐसी मान्यतामें दोष) आयेगा। अतः निश्चित होता है कि वेदके वाक्य पद एवं वर्ण पुरुषकृत है अपौरुषेय नहीं है।

॥ वेदापौरुषेयत्ववाद समाप्त ॥

वेद अपौरुषेयत्ववाद का सारांश

पूर्वपक्ष—मीमांसक—हमारी मान्यता है कि वेद अपौरुषेय है किसी पुरुष द्वारा उसकी रचना नहीं हुई है क्योंकि पुरुष को अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है, अतः धर्म अधर्म आदि बहुत से अतीन्द्रिय पदार्थोंका कथन नहीं कर सकता है, तथा यह रागी द्वेषी है इसलिये विपरीत अर्थ का प्रतिपादन भी कर सकेगा इत्यादि अनेक कारणोंसे हम मीमांसक वेद का कोई कर्त्ता नहीं मानते हैं। अनुमान के द्वारा भी वेद अपौरुषेय सिद्ध होता है "वेद अपौरुषेय है क्योंकि उसके कर्त्ता का स्मरण नहीं है"। स्मरण प्रत्यक्ष पूर्वक होता है किंतु वेद कर्त्ताका प्रत्यक्ष ज्ञान किसी को भी नहीं है। परम्परासे स्मृति चली आना तभी सम्भव है जब पहले किसी न किसी को वह कर्ता प्रत्यक्ष हो। इस तरह अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु वेदको अपौरुषेय सिद्ध करता है।

तथा—

वेदाध्ययनं सर्व गुर्वध्ययन पूर्वकं।
वेदाध्ययन वाच्यत्वादधुनाध्ययनं यथा ॥१॥

वेद का अध्ययन गुरु से गुरु द्वारा ही होता चला आया है क्योंकि वह वेदका अध्ययन है जैसे वर्तमान का अध्ययन।

अतीतानागतौ कालौ वेदकार विवर्जितौ।
कालत्वात् तद् यथा कालो वर्तमानः समीक्ष्यते ॥१॥

भूत और भविष्यत काल वेद कर्ता से रहित है, क्योंकि काल रूप है। इन अनुमानोंके द्वारा वेद का अपौरुषेयपना अच्छी तरह सिद्ध होता है।

उत्तर पक्ष जैन—यह सर्व कथन युक्ति संगत नहीं है, आप वेदके पदको अपौरुषेय मानते हैं या वाक्य को या दोनों को? दोनों को कहो तो वह अनुमान बाधित है-वेद पौरुषेय है क्योंकि पद एवं वाक्य रूप है, जैसे भारतादि ग्रन्थ हैं। आपने कहा कि वेद कर्ता का किसी प्रमाण से ग्रहण नहीं होता किन्तु यह कथन सिद्ध नहीं होता। तथा वेदके अपौरुषेयत्व को सिद्ध करने वाले अनुमान का हेतु असत् है। अस्मर्यमाण कर्तृत्व आपको है हमारे यहां वेद कर्ताका स्मरण है (जैन कालासुर नामक राक्षस को वेदका कर्ता मानते हैं जिसने पशु बलि की पद्धति चलाकर अन्त में सुलसा आदि का होम कराया था) तथा चोरी आदिका उपदेश भी अपौरुषेय होनेसे सत्य

मानना होगा ? क्योंकि आपके यहां सत्यता का निर्णय औरुषेयत्व पर निर्भर है ? आपके वेदमें ऋषियों के नाम हैं सो उसका अनादिपना कैसे ? काण्व, माध्यन्दिन आदि ऋषि लोग, वेद के कर्ता हैं या उसके प्रकाशक हैं अथवा मात्र देखने वाले हैं यह बताना होगा । इन ऋषियोंको वेद का कर्ता तो कहेंगे नहीं । प्रकाशक माने तो भी प्रश्न होगा कि क्या वेद नष्ट हो गया था सो उन ऋषियों ने प्रकाशन कराया ? इस तरह मानने से तो अस्मर्यमाण कर्तृत्व हेतु और अपौरुषेय साध्य दोनों ही नष्ट होते हैं । दूसरे अनुमानका वेदाध्ययनत्व हेतु विशेषण रहित है या अस्मर्यमाणकर्तृत्वरूप विशेषण युक्त है ? विशेषण रहित कहे तो अनेकांतिक होगा क्योंकि भारतादि ग्रन्थका अध्ययन भी गुरु अध्ययन पूर्वक है । तथा अपौरुषेय साध्य को किस प्रमाण से सिद्ध करेंगे इसी अनुमानसे या अन्य से ? अन्य प्रमाण से करते हैं तो यह वेदाध्ययन आदि हेतु वाले अनुमान व्यर्थ ठहरते हैं, और इसी हेतु वाले अनुमान के द्वारा करे तो अन्योन्याश्रय दोष आता है ।

आगम से वेद को अपौरुषेय सिद्ध करना अशक्य है, अन्योन्याश्रय दोष आता है अर्थात् आगम अपौरुषेय सिद्ध होने पर वेदमें अप्रमाण्य का अभाव सिद्ध होगा और उसके सिद्ध होने पर आगमकी अपौरुषेयता सिद्ध होगी । जबरदस्ती अपौरुषेय वेद को मान भी लेवें तो उसके व्याख्यान में विवाद है उस वेदका व्याख्यान सामान्य लोग करते हैं तो उन्हें वेद कथित अतीन्द्रिय वस्तुका बोध नहीं होनेसे वेद का अर्थ अप्रमाण होगा । वेद व्याख्याता अतीन्द्रिय पदार्थोंका ज्ञाता है ऐसा माने तो वेदको अपौरुषेय मानने का आग्रह व्यर्थ है । उसी अतीन्द्रियदर्शी सर्वज्ञ के द्वारा वेद रचना हो जायगी ? अतः यह अनुमान प्रयोग सत्य है कि वेद के पद और वाक्य पौरुषेय हैं क्योंकि वे पुरुष के द्वारा रचित पद, वाक्यके समान हैं । "यह पुरुष रचित वचन समानत्व" हेतु असिद्ध नहीं है क्योंकि वेदमें वचनों की रचना प्रत्यक्ष दिखाई देती है, अनेकान्तिक दोष भी नहीं है क्योंकि यह हेतु पक्ष सपक्ष में होकर विपक्ष जो अपौरुषेय आकाशादि हैं उनमें नहीं जाता है । अनेकान्तिक नहीं होने से विरुद्ध भी नहीं है तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित नहीं होने के कारण कालात्ययापदिष्ट भी नहीं है । प्रकरणसम दोष भी सत्प्रतिपक्ष नहीं होने से दूर रहता है । इस तरह नर रचित पद रचना अविशिष्टत्व हेतु सम्पूर्ण दोषोंसे निर्मुक्त होकर अपना साध्य जो वेदका पौरुषेयत्व है उसे सिद्ध करता है । ।। समाप्त ।।

१६

शब्दनित्यत्ववादः

ननु शब्दस्याऽनित्यत्वोपगमे ततोर्थप्रतीतिर्न स्यात्, अस्ति चासौ। ततो 'नित्यः शब्दः स्वार्थप्रतिपादकत्वान्यथानुपपत्तेः' इत्यभ्युपगन्तव्यम्। स्वार्थेनावगतसम्बन्धो हि शब्दः स्वार्थं प्रतिपादयति, अन्यथाऽगृहीतसंकेतस्यापि प्रतिपत्तुस्ततोऽर्थप्रतीतिप्रसंगः।

सम्बन्धावगमश्च प्रमाणत्रयसम्पाद्यः; तथाहि–यदैको वृद्धोऽन्यस्मै प्रतिपन्नसंकेताय प्रतिपादयति–'देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन' इति, तदा पार्श्वस्थान्योऽव्युत्पन्नसंकेतः शब्दार्थौ प्रत्यक्षतः

मीमांसक के वेद अपौरुषेयवाद का खण्डन होने पर पुनः वे लोग शब्द के नित्यता के विषय में अपना विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

मीमांसक—जैन शब्दको अनित्य मानते हैं किन्तु ऐसा मानने से शब्दों को सुनकर जो अर्थ प्रतीति होती है वह नहीं हो सकेगी, किन्तु "घट" ऐसा शब्द सुनते ही घट नाम की वस्तु का बोध अवश्य होता है अतः "शब्द नित्य है क्योंकि अपने वाच्य अर्थ की प्रतिपादनकी अन्यथानुपपत्ति है। ऐसी अनुमान सिद्ध बात स्वीकार करनी चाहिये। अपने वाच्य अर्थके द्वारा जिसने संबंध को ग्रहण किया है वही शब्द उस अर्थ का प्रतिपादन करता है, यदि संबंध ग्रहण की जरूरत नहीं होती तो जिसने वाच्य वाचक संबंधी संकेत को ग्रहण नहीं किया है वह पुरुष भी शब्द से अर्थ की प्रतीति कर लेता।

शब्द और अर्थ का संबंध प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति इन तीन प्रमाणोंसे जाना जाता है आगे इसी का खुलासा करते हैं—जब एक वृद्ध पुरुष जिसने पहले संकेत जान लिया है ऐसे अन्य पुरुष के लिये कहता है कि हे देवदत्त ! सफेद गाय को

प्रतिपद्यते, श्रोतुश्च तद्विषयक्षेपणादिचेष्टोपलम्भानुमानतो गवादिविषयां प्रतिपत्तिं प्रतिपद्यते, तत्प्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या च तच्छब्दस्यैव तत्र वाचिकां शक्तिं परिकल्पयति पुनः पुनस्तच्छब्दोच्चारणादेव तदर्थस्य प्रतिपत्तेः। सोयं प्रमाणत्रयसम्पाद्यः सम्बन्धावगमो न सकृद्वाक्यप्रयोगात्सम्भवति । न चाऽस्थिरस्य पुनः पुनरुच्चारणं घटते, तदभावे नान्वयव्यतिरेकाभ्यां वाचकशक्त्यवगमः, तदसत्त्वान्न प्रेक्षावद्भिः परावबोधाय वाक्यमुच्चार्येत । न चैवम् । ततः परार्थवाक्योच्चारणान्यथानुपपत्त्या निश्चीयते नित्योसौ ।

तदुक्तम्–"दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यः शब्दः" [जैमिनिसू० १।१।१८]

दण्डा से निकाल दो । उस समय वहां पर तीसरा कोई अन्य पुरुष बैठा था जिसको कि गाय, दण्डा आदि शब्द और उनके वाच्यार्थ का संकेत मालूम नहीं था वह शब्द और अर्थ को प्रत्यक्ष प्रमाण से जानता है अर्थात् गो आदि शब्दको कर्णजन्य प्रत्यक्षसे और गो पदार्थको नेत्रज प्रत्यक्ष से जानता है । और जिस देवदत्त के प्रति वृद्ध पुरुष ने वाक्य कहा था उसके गो आदि विषय के ज्ञान को गाय को ताडना आदि चेष्टा की उपलब्धि रूप अनुमान प्रमाणसे जाना जाता है, तथा उस ज्ञानकी अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा उसी शब्द की वाचक शक्ति को जाना जाता है कि पुनः पुनः गो शब्द के उच्चारण से ही उसके अर्थ की प्रतीति होती है । इस प्रकार तीन प्रमाण द्वारा संपादित होने वाला संबंध का ज्ञान एक बार के वाक्य प्रयोग से होना संभव नहीं है । अनित्य शब्द का पुनः पुनः उच्चारण होना भी अशक्य है, उसके अभाव में अन्वय व्यतिरेक द्वारा वाचक शक्ति का ज्ञान नहीं हो सकता है, और उसके अभाव होने पर प्रेक्षावान पुरुष पर को समझाने के लिये वाक्य का उच्चारण भी नहीं कर सकेंगे किन्तु यह नहीं होता, अतः पर के लिये वाक्य उच्चारण की अन्यथानुपपत्तिरूप प्रमाण द्वारा शब्द नित्य रूप सिद्ध होता है ।

महर्षि जैमिनि भी कहते हैं कि "दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यः शब्दः" शब्दोंका उच्चारण पुनः पुनः किया जाता है उससे पर शिष्यादिको समझाया जाता है, इसीसे निश्चित होता है कि शब्द नित्य है ।

शंका—पुनः पुनः उच्चारण में आने वाला शब्द सदृशता के कारण एक रूप प्रतीत होता हुआ अर्थ बोध कराता है न कि नित्य होने के कारण ?

अथ मतम्—पुनः पुनरुच्चार्यमाणः शब्दः सादृश्यादेकत्वेन निश्चीयमानोऽर्थप्रतिपत्तिं विदधाति न पुनर्नित्यत्वात्; तदसमीचीनम्; सादृश्येन ततोर्थाऽप्रतिपत्तेः। न हि सदृशतया शब्दः प्रतीयमानो वाचकत्वेनाध्यवसीयते किन्त्वेकत्वेन। य एव हि सम्बन्धग्रहणसमये मया प्रतिपन्नः शब्दः स एवायमिति प्रतीतेः।

किंच, सादृश्यादर्थप्रतीतौ भ्रान्तः शाब्दः प्रत्ययः स्यात्। न ह्यन्यस्मिन्नगृहीतसंकेतेऽन्यस्मादर्थ-प्रत्ययोऽभ्रान्तः, गोशब्दे गृहीतसंकेतेऽश्वशब्दाद्गवार्थप्रत्ययेऽभ्रान्तत्वप्रसङ्गात्। न च भूयोऽवयवसाम्य-योगस्वरूपं सादृश्यं शब्दे सम्भवति; विशिष्टवर्णात्मकत्वाच्छब्दानां वर्णानां च निरवयवत्वात्। न च गत्वादिविशिष्टानां गादीनां वाचकत्वं युक्तम्; गत्वादिसामान्यस्याऽभावात्, तदभावश्च गादीनां नाना-त्वायोगात्, सोपि प्रत्यभिज्ञया तेषामेकत्वनिश्चयात्। न चात्र प्रत्यभिज्ञा सामान्यनिबन्धना; भेदनिष्ठस्य सामान्यस्यैव गादिष्वसम्भवात्।

समाधान—यह जैन आदि परवादी की शंका ठीक नहीं है, क्योंकि सादृश्य द्वारा उस शब्द से अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती यह प्रतीयमान शब्द सदृशता के कारण वाचकपने से नही जाना जाता किन्तु एकत्व के कारण वाचकपनेसे जाना जाता है क्योंकि जिस शब्द को मैंने संबंध ग्रहण के समय में जाना था वही यह शब्द है, इस प्रकार की प्रतीति आती है।

किंच, सादृश्य से अर्थ की प्रतीति होना माने तो शाब्दिक ज्ञान भ्रांत कहलायेगा, क्योंकि जिसमें संकेतका ग्रहण नहीं हुआ है ऐसे शब्दमें अन्य शब्द से होने वाली अर्थ प्रतीति अभ्रांत नहीं हो सकती यदि इसको अभ्रांत माने तो जिस गो शब्द में संकेत हुआ था उसके नष्ट होने पर अश्व शब्द से गो अर्थ की प्रतीति होना और वह प्रतीति अभ्रांत है ऐसा स्वीकार करना होगा ? क्योंकि संकेतित गो शब्द अनित्य होनेके कारण नष्ट हो चुकता है और अश्वादि अन्य शब्द उस वक्त उपस्थित हो सकते हैं। बहुत से अवयवों के साम्य का है योग जिसमें ऐसा सादृश्य शब्द में होना संभव भी नहीं है, क्योंकि शब्द विशिष्ट वर्णात्मक होते हैं और वर्ण निरवयव होते हैं। तथा सामान्य से विशिष्ट ग आदि में वाचकत्व मानना भी युक्त नहीं, गत्वादि सामान्य का अभाव है, वह अभाव भी इसलिये है कि ग आदि में नानापने का अयोग है, वह अयोग भी इस कारण से है कि प्रत्यभिज्ञान द्वारा ग आदि शब्दोंका एकपने का निश्चय होता है। शब्द में होने वाला प्रत्यभिज्ञान गत्वादि सामान्य के कारण होता है ऐसा

किंच, गत्वादीनां वाचकत्वम्, गादिव्यक्तीनां वा ? न तावद्गत्वादीनाम्; नित्यस्य वाचकत्वेऽस्मन्मताश्रयणप्रसङ्गात् । नापि गादिव्यक्तीनाम्; तथा हि–गादिव्यक्तिविशेषो वाचकः, व्यक्तिमात्रं वा ? न तावद्गादिव्यक्तिविशेषः; तस्यानन्वयात् । नापि व्यक्तिमात्रम्; तद्धि सामान्यान्तः पाति, व्यक्तयन्तर्भूतं वा ? सामान्यान्तः पातित्वे स एवास्मन्मतप्रवेशः । व्यक्तयन्तर्भूतत्वे तदवस्थोऽनन्वयदोष इति । ततोऽर्थप्रतिपादकत्वान्यथानुपपत्तेर्नित्यः शब्दः । तदुक्तम्—

"अर्थापत्तिरियं चोक्ता पक्षधर्मादिवर्जिता ।
यदि नाशिनिनित्ये वा विनाशिन्येव वा भवेत् ॥१॥

शब्दे वाचकसामर्थ्यं ततो दूषणमुच्यताम् ।
फलवद्व्यवहारांगभूतार्थप्रत्ययांगता ॥२॥

कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जो भेदों में (विशेषों में) निष्ठ है उसका सामान्य का ग आदि में होना ही असंभव है ।

जैनादि परवादी गत्व आदि सामान्यको अर्थ का वाचक मानते है अथवा गकार आदि विशेष को ? गत्व आदि सामान्य को मान नहीं सकते, क्योंकि नित्य सामान्य को वाचक मान लेने पर हमारे (मीमांसक) मत में प्रवेश होने का प्रसंग आता है । गकार आदि विशेष को वाचक मानना भी ठीक नहीं है, इसी को बताते हैं– गकार आदि शब्द व्यक्ति विशेष पदार्थ का वाचक होता है अथवा व्यक्ति मात्र का वाचक होता है ? गकारादि शब्द व्यक्ति विशेष वाचक होना अशक्य है, क्योंकि उसका अन्वय नहीं होता है । व्यक्ति मात्र भी वाचक नहीं होता, क्योंकि वह व्यक्ति मात्र कौन सा लिया जाय, सामान्य में रहने वाला या व्यक्ति में रहनेवाला ? प्रथम विकल्प कहो तो वही हमारे मत में प्रवेश होने का दोष आता है । दूसरा विकल्प–व्यक्ति में रहने वाला व्यक्ति मात्र वाचक होता है, ऐसा कहो तो वही अनन्वय दोष आता है । इसलिये अर्थ प्रतिपादकत्व की अन्यथानुपपत्ति से शब्द नित्य रूप सिद्ध होता है । कहा भी है— अर्थापत्ति पक्ष धर्मत्वादि से रहित होती है यदि वह नित्यानित्यात्मक या केवल नित्य स्वभाव वाले शब्दमें वाचक शक्ति को सिद्ध करती है तो क्या दूषण है ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसका उत्तर यह है कि प्रवृत्ति–निवृत्तिरूप जगत का फलवान् व्यवहार अर्थ ज्ञान से होता है और अर्थ ज्ञान का हेतु शब्द है, (अर्थ ज्ञान के बिना व्यवहार निष्फल रूप माना जाता है) शब्द की योग्यता से अर्थ की प्रतीति होती है अतः युक्ति पूर्वक

निष्फलत्वेन शब्दस्य योग्यत्वादवगम्यते ।
परीक्षमाणस्तेनास्य युक्त्या नित्यविनाशयोः ॥३॥

स धर्मोऽभ्युपगन्तव्यो यः प्रधानं न बाधते ।
न ह्यङ्गाङ्गयनुरोधेन प्रधानफलबाधनम् ॥४॥

युज्यते नाशिपक्षे च तदेकान्तात्प्रसज्यते ।
न ह्यदृष्टार्थसम्बन्धः शब्दो भवति वाचकः ॥५॥

तथा च स्यादपूर्वोपि सर्वः सर्वं प्रकाशयेत् ।
सम्बन्धदर्शनं चास्य नाऽनित्यस्योपपद्यते ॥६॥

सम्बन्धज्ञानसिद्धिश्चेद्ध्रुवं कालान्तरस्थितिः ।
अन्यस्मिन् ज्ञातसम्बन्धे न चान्यो वाचको भवेत् ॥७॥

गोशब्दे ज्ञातसम्बन्धे नाऽश्वशब्दो हि वाचकः ।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २३७-२४४] इति ।

शब्द के नित्य अनित्य के विषय में परीक्षा करते हुए उस धर्म को स्वीकार करें कि जो प्रधान को (फल को) बाधित नहीं करता हो, नित्य शब्द और अर्थ ज्ञान में अंग अंगी भाव (कारण कार्य भाव) होने से प्रधान फल में बाधा नहीं आती है। किन्तु शब्द को अनित्य मानने के पक्ष में एकांत से बाधा का प्रसंग आता है, क्योंकि अर्थ के साथ जिसका सम्बन्ध अज्ञात है वह शब्द अर्थ का वाचक नहीं हो सकता, अर्थात् अनित्य शब्द में अर्थ का संकेत होना असंभव है और संकेत बिना शब्द उसका वाचक नहीं होता, तथा यदि बिना संकेत के ही शब्द को अर्थ का प्रकाशक माना जाय तो अश्रुत पूर्व ऐसा शब्द भी अर्थ प्रतीति करा सकेगा एवं सभी शब्द सब अर्थ को प्रकाशित करा सकेंगे ? शब्द को अनित्य मानने के पक्ष में शब्दार्थ के संबंध का ग्रहण अर्थात् इस शब्द का यह वाच्यार्थ है ऐसा संकेत होना बिल्कुल नहीं बनता। यदि इस तरह का वाच्य वाचक संबंध के ज्ञान से अर्थ की प्रतीति होती है ऐसा माने तो अवश्य ही शब्द का कालांतर तक उपस्थित रहना सिद्ध होता है। कोई कहे कि जिसमें संकेत होता है वह शब्द अन्य है और जो वाचक बनता है वह शब्द अन्य है तो यह गलत है, गो शब्द में संकेत ज्ञात हो और अश्व शब्द उसका वाचक हो ऐसा नहीं होता है ॥१॥२॥३॥४॥५॥६॥७॥

अथ विभिन्नदेशादितयोपलभ्यमानत्वाद्गकारादीनां नानात्वाऽनित्यत्वे साध्येते; तन्न; अनेकप्रतिपत्तृभिर्विभिन्नदेशादितयोपलभ्यमानेनादित्येनानेकान्तात्। विभिन्नदेशादितयोपलम्भश्चैषां व्यञ्जकध्वन्यधीनो, न स्वरूपभेदनिबन्धनः। तदुक्तम्—

"नित्यत्वं व्यापकत्वं च सर्ववर्णेषु संस्थितम्।
प्रत्यभिज्ञानतो मानाद्बाधसंगमवर्जितात् ॥१॥" [ ]

"यो यो गृहीतः सर्वस्मिन्देशे शब्दो हि विद्यते।
न चास्याऽवयवाः सन्ति येन वर्त्तेत भागशः ॥२॥

शब्दो वर्त्तत इत्येव तत्र सर्वात्मकश्च सः।
व्यञ्जकध्वन्यऽधीनत्वात्तद्देशे स च गृह्यते ॥३॥

न च ध्वनीनां सामर्थ्यं व्याप्तुं व्योम निरन्तरम्।
तेनाऽविच्छिन्नरूपेण नासौ सर्वत्र गृह्यते ॥४॥

शंका—विभिन्न देशादिपने से उपलब्ध होने के कारण गकार आदि शब्दों को नाना एवं अनित्य रूप सिद्ध करते हैं ?

समाधान—यह बात ठीक नहीं। इस कथन में अनेक प्रतिपत्ता द्वारा विभिन्न देशादिपने से उपलब्ध होने वाले सूर्य के साथ अनैकान्तिकता आती है, अर्थात् विभिन्न देशों में गकारादि वर्ण उपलब्ध होने के कारण अनेक है ऐसा माने तो विभिन्न देशों में सूर्य उपलब्ध होने के कारण उसे भी अनेक मानना होगा। बात तो यह है कि शब्दों की विभिन्न देशों में उपलब्धि होनेका कारण उनकी व्यंजक ध्वनि है न कि स्वरूप भेद है। अर्थात् व्यंजक ध्वनियां नाना होनेसे विभिन्न देशादि रूप से शब्द की उपलब्धि होती है, स्वरूप में भेद होने के कारण नहीं। कहा है कि–ककार से लेकर जितने वर्ण हैं वे सब नित्य हैं, तथा व्यापक हैं, इनका नित्यपना निर्बाध प्रत्यभिज्ञान प्रमाण द्वारा जाना जाता है ॥१॥ जो जो शब्द ग्रहण में आया है वह सब देश में रहता है अर्थात् व्यापक है, क्योंकि इसके अवयव नहीं होते हैं जिससे वह खण्ड खण्ड रूप से रहें ॥२॥ जहां भी शब्द है वहां सर्वात्मपने से है, किन्तु जहां पर उसकी व्यञ्जक ध्वनि रहती है वहीं पर ग्रहण में आता है ॥३॥ शब्दों को प्रकट करने वाली व्यञ्जक ध्वनियां संपूर्ण आकाश को निरन्तर रूप से व्याप्त नहीं कर सकती अतः सर्वत्र अविच्छिन्न रूप से शब्द ग्रहण में नहीं आता ॥४॥ व्यञ्जक ध्वनियां भिन्न भिन्न देशों में विभिन्न हैं

ध्वनीनां भिन्नदेशत्वं श्रुतिस्तत्रानुरुद्धयते ।
अपूरितान्तरालत्वाद्विच्छेदश्चावसीयते ॥५॥
तेषां चाल्पकदेशत्वाच्छब्देप्यऽविभुतामतिः ।
गतिमद्वेगवत्त्वाभ्यां ते चायान्ति यतो यतः ॥६॥
श्रोता ततस्ततः शब्दमायान्तमिव मन्यते ।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७२-१७५]

अथैकेन भिन्नदेशोपलम्भाद् घटादिवन्नानात्वम्; न; आदित्येनानेकान्तात् । दृश्यते ह्य केनादित्यो भिन्नदेशः, न चैतावतासौ नाना । अथ 'युगपदेकेन भिन्नदेशोपलब्धेः' इति विशेष्योच्यते; तथाप्यनेनैवानेकान्तः । जलपात्रेषु हि भिन्नदेशेषु सवितंकोप्येकेन युगपद्भिन्नदेशो गृह्यते । उक्तं च—

"सूर्यस्य देशभिन्नत्वं न त्वेकेन न गृह्यते ।
न नाम सर्वथा तावद्दृष्टस्यानेकदेशता ॥१॥
सविशेषेण हेतुश्चेत्तथापि व्यभिचारिता ।
दृश्यते भिन्नदेशोयमित्येकोपि हि बुद्धयते ॥२॥

अतः शब्दों का सुनाई देना बीच में रुकता है ध्वनियों में देशों का अंतराल पड़ता है इसलिये जहां अंतराल हो वहां श्रवण ज्ञान में विच्छेद हो जाता है ॥५॥ व्यञ्जक ध्वनि अल्प स्थान पर रहती है इस कारण से शब्द में भी अव्यापकपने का ज्ञान हो जाया करता है । उन ध्वनियों में गतिपना तथा वेग रहता है अतः जैसी जैसी ध्वनियां निकट आती हैं वैसे वैसे श्रोता जन समझने लग जाते हैं कि शब्द ही आ रहा है ॥६॥

शंका—एक ही पुरुष के द्वारा भिन्न भिन्न देश में शब्द उपलब्ध होता है अतः शब्द घटादि पदार्थोंके समान पृथक पृथक है ?

समाधान—यह कथन सूर्य के साथ अनैकान्तिक होगा, देखा जाता है कि सूर्य एक है किन्तु एक ही पुरुष द्वारा भिन्न भिन्न देश में उपलब्ध होता है किन्तु इतने मात्र से वह नाना (अनेक) नहीं होता । कोई परवादी कहे कि सूर्य के साथ होने वाले अनैकान्तिक दोष को हटाने के लिये विशेष्य जोड़ा जायगा कि "एक ही समय में" एक पुरुष द्वारा भिन्न देशों में उपलब्ध होने से शब्द अनेक रूप है ? सो इस विशेष्य होने पर भी उसी सूर्य के साथ व्यभिचार आता है, भिन्न देश रूप अनेक जल सूर्य एक

जलपात्रेषु चैकेन नानेकः सवितेक्ष्यते ।
युगपन्न च भेदेस्य प्रमाणं तुल्यवेदनात् ।।३।।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७६-१७८]

कश्चिदाह—न तत्र सवितेक्ष्यते तस्य नभसि व्यवस्थानात्, तन्निमित्तानि तु तेषु प्रतिबिम्बानि प्रतीयन्ते ततो नानेकान्त. ।

"आहैकेन निमित्तेन प्रतिपात्रम् पृथक् पृथक् ।
भिन्नानि प्रतिबिम्बानि गृह्यन्ते युगपन्मया ।।१।।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १७६]

एतत्कुमारिलः परिहरन्नाह—

"अत्र ब्रूमो यदा यावज्जले सौर्येण तेजसा ।
स्फुरता चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्तितम् ।।१।।

होकर भी एक साथ एक पुरुष द्वारा अनेक रूप से ग्रहण में आता है ? कहा भी है—सूर्य विभिन्न देशों में एक के द्वारा ग्रहण नहीं होता हो सो भी बात नहीं है किन्तु अनेक रूप दिखाई देने मात्र से सूर्य अनेक रूप सिद्ध नहीं होता । सूर्य के भिन्न देशों में उपलब्ध होने रूप हेतु में युगपत् ऐसा विशेषण जोड़ा जाय तो भी वही अनैकान्तिक दोष आता है क्योंकि जल पात्रों में एक साथ एक ही पुरुष द्वारा सूर्य एक होकर भी अनेक दिखायी देता है, किन्तु तुल्य वेदन होने से यह भेद प्रतीति प्रमाणभूत नहीं है ।।३।।

शंका—जल पात्रों में सूर्य नहीं दिखता है सूर्य तो आकाश में स्थित है, उस सूर्य का निमित्त पाकर उन जल पात्रों में सूर्य के प्रतिबिम्ब नाना रूप प्रतीत होते हैं, अतः सूर्य के दृष्टांत द्वारा शब्द के नानात्व को व्यभिचरित नहीं कर सकते । कहा है कि एक ही सूर्य का निमित्त लेकर प्रत्येक जलपात्र में पृथक पृथक सूर्य एक साथ मेरे द्वारा ग्रहण किये जाते हैं, ऐसा जो प्रतिभास होता है वह भिन्न भिन्न प्रतिबिम्ब के कारण होता है न कि एक सूर्य के कारण ।।१।।

समाधान—इस शंका का निरसन कुमारिल नामा गुरु करते हैं—जब जल में स्फुरायमान सूर्य तेज के साथ चक्षु तेज नाना रूप परिवर्तित होता है तब वह स्वस्थान

स्वदेशमेव गृह्णाति सवितारमनेकधा ।
भिन्नमूर्त्ति यथापात्रं तदास्यानेकता कुतः ॥२॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८०-१८१]

यथा च प्रदीपः ।

"ईषत्सम्मिलितेऽङ्गुल्या यथा चक्षुषि दृश्यते ।
पृथगेकोपि भिन्नत्वाच्चक्षुर्वृत्तेस्तथैव नः ॥१॥
अन्ये तु चोदयन्त्यत्र प्रतिबिम्बोदयैषिणः ।
स एव चेत्प्रतीयेत कस्मान्नोपरि दृश्यते ॥२॥
कूपादिषु कुतोऽधस्तात्प्रतिबिम्बाद्विनेक्षणम् ।
प्राङ्मुखो दर्पणं पश्यन् स्याच्च प्रत्यङ्मुखः कथम् ॥३॥
तत्रैव बोधयेदर्थं बहिर्यातं यदीन्द्रियम् ।
तत एतद्भवेदेवं शरीरे तत्तु बोधकम् ॥४॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८२-१८५]

पर सूर्य को जितने जल भरे पात्र हों उतने रूप भिन्न भिन्न आकार में ग्रहण करता है, अतः सूर्य के प्रतिबिम्ब में अनेकता कहां हुई ? अर्थात् नहीं हुई ॥१॥२॥

दीपक का दृष्टांत है कि जब किंचित मिली हुई अंगुली को नेत्रपर रखकर दीप को देखते हैं, तब एक ही दीपक नाना रूप दिखाई देता है, वह हमारे ही चक्षु की वृत्ति विभिन्न (अनेक) हो जाने से दिखता है ॥१॥

जल पात्र में सूर्य आदि के प्रतिबिम्बित हो जाने से सूर्यादिक नाना रूप दिखाई देते हैं ऐसा जो जैनादि मानते हैं, उनके प्रति हम मीमांसकों का प्रश्न है कि यदि सूर्य के कारण ही अनेक जल पात्रों में अनेक सूर्य दिखायी देते हैं तो ऊपर आकाश में भी अनेक रूप क्यों नहीं दिखता ? ॥२॥ तथा कूप आदि में नीचे की ओर बिना प्रतिबिम्ब के कैसे दिखाई देता है ? कोई पुरुष पूर्व दिशा में मुख करके खड़ा होकर दर्पण में देख रहा है तब उसको अपना मुख पश्चिम में कैसे दिखायी देता है ? ॥३॥ यदि कहा जाय कि किरण चक्षु दर्पण की ओर जाने से उस तरफ अपना मुख दिखाई देता है तो वहीं पर पदार्थ का ज्ञान भी होना था ? किन्तु ऐसा नहीं होता । अब यहां

अत्राह—

"अप्सूर्यदर्शिनां नित्यं द्वेधा चक्षुः प्रवर्त्तते ।
एकमूद्र्ध्वमधस्ताच्च तत्रोद्ध्वांशप्रकाशितम् ॥१॥
अधिष्ठानानृजुत्वाच्च नात्मा सूर्यं प्रपद्यते ।
पारम्पर्यार्पितं स तमवाग्वृत्त्या तु बुध्यते ॥२॥
उद्र्ध्ववृत्ति तदेकत्वादवागिव च मन्यते ।
अधस्तादेव तेनार्कः सान्तरालः प्रतीयते ॥३॥
एवं प्राग्गतया वृत्त्या प्रत्यग्वृत्तिसमर्पितम् ।
बुध्यमानो मुखं भ्रान्तेः प्रत्यगित्यवगच्छति ॥४॥
अनेकदेशवृत्तौ च सत्यपि प्रतिबिम्बके ।
समानबुद्धिगम्यत्वान्नानात्वं नैव विद्यते ॥५॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १८६-१९०]

किञ्च,

"देशभेदेन भिन्नत्वं मतं तच्चानुमानिकम् ।
प्रत्यक्षस्तु स एवेति प्रत्ययस्तेन बाधकः ॥६॥

पर इसी को खुलासा करते हैं—जल में सूर्य को देखने वाले मनुष्यों की चक्षु हमेशा दो प्रकार से प्रवृत्ति करती है, ऊपर और नीचे की ओर, इनमें से जो ऊपर का अंश प्रकाशित होता है उसका स्वरूप सीधा प्रकाशित नहीं हो पाता, क्योंकि रश्मि चक्षु का अधिष्ठान जो गोलक चक्षु है वह वक्र है, इसी कारण से चक्षु का तेज सूर्य को प्राप्त नहीं होता, हां परंपरा से जाकर नीचे की वृत्ति से उसको जान लेता है ॥२॥ रश्मि चक्षु चूंकि ऊपर की तरफ भी जाती है, और सूर्य आकाश में एक है अतः वह नीचे की ओर सांतराल प्रतीत होता है ॥३॥ इसी प्रकार दर्पण की तरफ पूर्व की ओर से निकलकर जाती हुई चक्षु किरणें दर्पण में अपने को अर्पित करती हैं अतः दर्पण में मुख को देखने वाला व्यक्ति भ्रान्ति से पश्चिम में मुख को मान लेता है ॥४॥ इस प्रकार सूर्य अनेक देशों में उपलब्ध होता है, तथा जल पात्रों में अनेक प्रतिबिम्ब भी उपलब्ध होते हैं किन्तु समान बुद्धि होने से सूर्य में नानात्व नहीं रहता है ॥५॥ दूसरी बात यह है कि देश भेद से, गकारादि शब्दों में भेद है ऐसा जिनका मत है वह प्रत्यक्ष से बाधित होता है क्योंकि यह वही शब्द है इस प्रकार के ज्ञान द्वारा शब्दों में अभेद

पर्यायेण यथा चैको भिन्नदेशान् व्रजन्नपि ।
देवदत्तो न भिद्येत तथा शब्दो न भिद्यते ।।७।।
ज्ञातैकत्वो यथा चासौ दृश्यमानः पुनः पुनः ।
न भिन्नः कालभेदेन तथा शब्दो न देशतः ।।८।।
पर्यायादविरोधश्चेद्व्यापित्वादपि दृश्यताम् ।
दृष्टसिद्धो हि यो धर्मः सर्वथा सोऽभ्युपेयताम् ।।९।।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १९७–२००] इति ।

अत्र प्रतिविधीयते । नित्यः शब्दोऽर्थप्रतिपादकत्वान्यथानुपपत्तेरित्ययुक्तम्; धूमादिवदनित्यस्यापि शब्दस्यावगतसम्बन्धस्य सादृश्यतोऽर्थप्रतिपादकत्वसम्भवात् । न खलु य एव संकेतकाले दृष्टस्तेनैवार्थ-

---

सिद्ध होता है ।।१।। जिस प्रकार देवदत्त नामा कोई पुरुष है वह क्रम क्रम से विभिन्न देशों में जाता है किन्तु देवदत्त तो वहीं रहता है, उसमें कोई भेद नहीं है उसी तरह शब्द नाना देशों में उपलब्ध होते हुए भी एक है अनेक नहीं ।।२।। जिस प्रकार जिसका एकत्व जान लिया है ऐसा देवदत्त विभिन्न काल में पुनः पुनः दिखाई देने पर भी भिन्न नहीं कहा जाता, उसी प्रकार शब्द के पुनः पुनः उपलब्ध होने पर भी देश भेद से भेद नहीं कहा जा सकता ।।३।। यदि कहा जाय कि देवदत्त एक है पर उसकी पर्याय अनेक होने से देशादि का भेद बन जाता है ? तो इसी प्रकार शब्द एक है पर वह व्यापक होने से विभिन्न देशादि में भेद रूप उपलब्ध होता है ऐसा मानना चाहिये ? क्योंकि जो धर्म प्रत्यक्ष सिद्ध होता है वह सर्वथा स्वीकार करने योग्य होता है ।।४।। इस प्रकार शब्द में एकपना तथा नित्यपना सिद्ध होता है ।

जैन — अब यहां पर मीमांसक के मंतव्य का खण्डन किया जाता है—शब्द नित्य है, क्योंकि अर्थ प्रतिपादकत्व की अन्यथानुपपत्ति है । यह मीमांसक का अनुमान अयुक्त है, बाच्य वाचक संबंध सादृश्यता से जाना जाता है अतः अनित्य शब्द भी अर्थ का प्रतिपादक होना संभव है, जैसे धूम आदि पदार्थ अनित्य होकर भी अग्नि को सिद्ध करते हैं । ऐसा नियम नहीं है कि जिस शब्द में वाच्य वाचक संबंध को जाना था वही अर्थ की प्रतीति करा सकता है, देखा जाता है कि धूम को महानस में देखा था वह तो अब पर्वतादि में नहीं है उसके सदृश धूम है फिर भी उस धूम से अग्निका अनुमान होता है । ऐसा तो है नहीं कि जो धूम महानस में उपलब्ध हुआ था वही धूम पर्वतादि

प्रतीतिः कर्त्तव्येति नियमोस्ति, महानसदृष्टधूमसदृशादपि पर्वतधूमादग्निप्रतिपत्त्युपलम्भात् । न हि महानसप्रदेशोपलब्धैव धूमव्यक्तिरन्यत्राप्यग्निं गमयति; सदृशपरिणामाक्रान्तव्यक्त्यन्तरस्य तद्गमकत्वप्रतीतेः, अन्यथा सर्वस्य सर्वगतत्वानुषंगः । सदृशपरिणामप्रधानतया च साध्यसाधनयोः सम्बन्धावधारणम् । न ह्यनाश्रितसमानपरिणतीनां निखिलधूमादिव्यक्तीनां स्वसाध्येनाऽर्वाग्दृशा सम्बन्धः शक्यो ग्रहीतुम्; असाधारणरूपेण तस्य तासामप्रतिभासनात्, अथ धूमसामान्यमेवाग्निप्रतिपत्तिकारणम्; न; व्यक्तिसादृश्यव्यतिरेकेण तदसम्भवात् । न च 'धूमत्वान्मया प्रतिपन्नोग्निः' इति प्रतिपत्तिः, किन्तु धूमात् । सा च सामान्यविशिष्टव्यक्तिमात्रयोः सम्बन्धग्रहणे घटते । न तु धूमाग्निसामान्ययोरवश्यं

पर अग्नि को सिद्ध करता हो ? वहां तो महानस के समान परिणाम वाला अन्य कोई दूसरा ही धूम विशेष है वही साध्य का गमक होता है । अन्यथा सभी वस्तु सर्वगत व्यापक बैठेगी ? अर्थात् महानस का धूम ही पर्वत पर है उसके सदृश अन्य नहीं है ऐसा कहा जाय तो उसका मतलब धूम सर्वत्र व्यापक एक है ? इस तरह तो घट पट आदि सभी विषय में कहेंगे कि यह वही है इत्यादि फिर सभी पदार्थ सर्वगत ही कहलायेंगे ? साध्य साधन के संबंध को जानने के लिये सदृश परिणाम ही प्रधानता से कारण होता है । यदि धूम आदि पदार्थ समान परिणाम से रहित हैं तो अल्पज्ञानी पुरुष अग्निरूप स्वसाध्य के साथ उनका जो अविनाभाव संबंध है उसको जान नहीं सकते, क्योंकि अल्पज्ञानी को उन धूमादि निखिल पदार्थोका असाधारण रूप से प्रतिभास नहीं होता है ।

मीमांसक—सामान्य धूम ही अग्नि का ज्ञान करा देता है ?

जैन—विशेष धूम में पाया जाने वाला जो सादृश्य है वही सामान्य धूम कहलाता है, उससे अन्य तो कुछ है नहीं, अर्थात् महानस पर्वत आदि स्थान विशेष के धूमों में जो समानता पायी जाती है वही धूम सामान्य है अन्य कोई व्यापक, एक, नित्य ऐसा धूम सामान्य नहीं होता है । तथा जब कोई पुरुष पर्वत पर धूम देखकर अग्नि का ज्ञान कर लेता है तब मैंने धूमत्व सामान्य से अग्नि को जाना ऐसा प्रतिभास नहीं होता किन्तु "धूम से अग्नि जानी" ऐसा ही प्रतीत होता है । यह प्रतिभास धूम और अग्नि में जो सामान्य परिणाम से युक्त व्यक्ति स्वरूप रहता है उसका संबंध जानने पर ही हो सकता है । तथा धूम सामान्य और अग्नि सामान्य में जो अनुमापक और अनुमेयत्व रहता है उन धूम अग्नि में अवश्य सामान्य से युक्त विशेष रूपता है

चानुमेयानुमापकयोः सामान्यविशिष्टविशेषरूपतोपगन्तव्या, अन्यथा सामान्यमात्रस्य दाहाद्यर्थक्रिया-साधकत्वाऽभावात् ज्ञानाद्यर्थक्रियायाश्चतत्साध्यायास्तदैवोत्पत्तेः, दाहाद्यर्थिनामनुमेयार्थप्रतिभासात् प्रवृत्त्यभावतोऽस्याप्रामाण्यप्रसंगः । सामान्यविशिष्टविशेषरूपता चात्र वाच्यवाचकयोरपि समाना न्यायस्य समानत्वात् ।

यदप्युक्तम्—

"सदृशत्वात्प्रतीतिश्चेत्तद्द्वारेणाप्यवाचकः ।
कस्य चैकस्य सादृश्यात्कल्प्यतां वाचकोऽपरः ॥१॥

ऐसा नहीं समझना, यदि ऐसा मानेंगे तो सामान्य के दहन पचन आदि अर्थ क्रिया का अभाव होने से उससे साधने योग्य जो ज्ञानादि अर्थ क्रिया थी वह उसी अनुमान के वक्त ही उत्पन्न हो जायगी, फिर दहन पचन आदि कार्य को चाहने वाले पुरुष के अनुमेय अर्थका (अग्निका) प्रतिभास होने से जो प्रवृत्ति होती है वह नहीं हो सकेगी अतः सामान्य तो अप्रमाणभूत बन जायगा ? जो यह धूम और अग्नि की बात है वही शब्द और अर्थ के वाच्य वाचकपने की है ? न्याय तो सर्वत्र समान होता है । इस कथन का निष्कर्ष यह निकला कि मीमांसक शब्द को सर्वत्र एक मानकर उसमें पदार्थ का वाचकपना होना बतलाते हैं सो इस तरह फिर धूम के विषय में भी कह देंगे कि धूम सर्वत्र एक है पर्वत आदि में वही एक रहता है और साध्य को सिद्ध कर देता है ? किंतु ऐसा नहीं है महानस का धूम ही पर्वत पर नहीं होता किन्तु उसके समान अन्य ही होता है इसी तरह इस घट वाच्य का यह 'घ' 'ट' शब्द वाचक होता है ऐसा संकेत ग्रहण किया उस काल में और पुनः घट शब्द सुनकर घट का ज्ञान हुआ तब इन दोनों समयों में एक ही घट शब्द नहीं होता किन्तु उसके समान दूसरा ही रहता है, ऐसा प्रतीति के अनुसार मानना चाहिए ।

मीमांसक के यहां पर कहा है कि—जो लोग संकेत काल का शब्द और व्यवहार का शब्द एक नहीं है किन्तु संकेतकाल के शब्द के समान दूसरा ही कोई नया शब्द व्यवहार काल में रहता है उस सदृश शब्द से ही अर्थ प्रतीति होती है, ऐसा मानते हैं वह ठीक नहीं क्योंकि व्यवहार कालीन नया शब्द पदार्थ का वाचक नहीं बन सकता क्योंकि यदि जिसमें संकेत नहीं हुआ है ऐसा शब्द भी अर्थ का वाचक होता है तो किसी एक की सदृशता से अन्य किसी का वाचकपना होना भी स्वीकार करना होगा ?

अदृष्टसंगतत्वेन सर्वेषां तुल्यता यदा ।
अर्थवान्पूर्वदृष्टश्चेत्तस्य तावान्क्षणः कुतः ॥३॥
द्विस्तावानुपलब्धो हि अर्थवान्सम्प्रतीयते ।"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २४८-२५०]

इत्यादि; तदप्यसारम्; अनुमानवार्त्तोच्छेदप्रसंगात् । धूमादिलिंगात्पूर्वोपलब्धधूमादिसादृश्यतोऽग्न्यादिसाध्यप्रतिपत्तावप्यस्य सर्वस्य समानत्वात् ।

एतेनैवमपि प्रत्युक्तम्—

"शब्दं तावदनुच्चार्य सम्बन्धकरणं कुतः ।
न चोच्चारितनष्टस्य सम्बन्धेन प्रयोजनम् ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २५६] इत्यादि ।

यतोऽदृष्टे धूमे सम्बन्धो न शक्यते कर्त्तुम् । नापि दृष्टनष्टस्यास्य सम्बन्धेन प्रयोजनं किञ्चित् ।

शब्द तो सभी समान हैं कोई संकेत संबंध की जरूरत तो नहीं रही ? यदि कहा जाय कि जिसमें पहले संकेत हुआ है वह शब्द अर्थ प्रतीति कराता है, तो प्रश्न होता है कि शब्द का उतने क्षण तक स्थिर रहना कैसे हुआ ? कम से कम दो बार वही शब्द उपलब्ध हो तब जाकर संकेत होना और अर्थ प्रतीति करना शक्य है ॥१॥२॥ इत्यादि, सो यह कथन बेकार है । इस तरह तो अनुमान की बात ही खतम हो जायगी ? इसी का खुलासा करते हैं—पहले रसोई घर में धूम को देखा फिर उसके समान पर्वत पर धूम देखा उस सदृश धूम द्वारा अग्निका ज्ञान होता हुआ देखा जाता है वह नहीं हो सकेगा ? वहां भी कह सकेंगे कि रसोई घर में जो धूम देखा था वह तो पर्वत पर नहीं है अतः उससे अग्निका अनुमान ज्ञान नहीं हो सकता इत्यादि ।

मीमांसक ने और भी कहा है कि—शब्द का उच्चारण जब तक नहीं करते तब तक उसका वाच्यार्थ के साथ सम्बन्ध कैसे जोड़े ? और उच्चारण कर भी लेवे तो वह उच्चारण करते ही नष्ट हो जाता है तब उसका सम्बन्ध जोड़ने से लाभ ही क्या हुआ ? कुछ भी नहीं ॥१॥ इस कथन के प्रत्युत्तर में हम जैन कहेंगे कि धूम को बिना देखे तो उसका अग्नि के साथ जो सम्बन्ध है उसको जान नहीं सकते और धूम जब तक देख लेते हैं तब तक वह खतम हो ही जाता है तब उसका अग्निसे सम्बन्ध जोड़ना ही व्यर्थ है ?

यच्च सादृश्ये दूषणमुक्तम्—

"तथा भिन्नमभिन्नं वा सादृश्यं व्यक्तितो भवेत् ।
एवमेकमनेकं वा नित्यं वानित्यमेव वा ॥१॥

भिन्ने चैकत्वनित्यत्वे जातिरेव प्रकल्पिता ।
व्यक्त्यऽनन्यदर्थैकं च सादृश्यं नित्यमिष्यते ॥२॥

व्यक्तिनित्यत्वमापन्नं तथा सत्यस्मदीहितम् ।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २७१-२७३] इत्यादि;

तदप्ययुक्तम्; स्वहेतोरेकस्य हि यादृशः परिणामस्तादृश एवापरस्य सादृश्यम्, न तु स एव । स च व्यक्तिभ्यो भिन्नोऽभिन्नश्च, तथाप्रतीतेः । न च जातिस्तथाभूता; नित्यव्यापित्वेनाभ्युपगमात् ।

भावार्थ—यहां पर आचार्य मीमांसक को समझा रहे हैं कि यदि आप संकेत कालीन शब्द को एक ही मानकर अर्थ प्रतीति होना स्वीकार करते हो तो रसोई घर का धूम और पर्वत का धूम दोनों धूमों को एक मानकर उसके द्वारा अग्नि का ज्ञान होना स्वीकार करना होगा ? यदि मीमांसक कहे कि ऐसी बात कैसे स्वीकार करें ? वह तो पृथक ही धूम होता है रसोई घर का धूम पर्वत पर कैसे आया ? सो यही बात शब्द के विषय में है, संकेत काल के शब्द और व्यवहार काल के शब्द अलग अलग ही हैं। जिस प्रकार रसोई घर के धूम के सदृश पर्वत का धूम होने से उससे अग्नि का ज्ञान होना स्वीकार करते हैं उसी प्रकार संकेत काल के शब्द सदृश व्यवहार काल के शब्द होने से उससे अर्थ की प्रतीति होती है ऐसा मानना चाहिए।

सादृश्य धर्म में दूषण देते हुए मीमांसक के यहां कहा जाता है कि सादृश्य धर्म व्यक्ति से (विशेष से) भिन्न होता है या अभिन्न ? एक होता है या अनेक ? यदि अनेक रूप है तो वह भी नित्य है कि अनित्य ? यदि सादृश्य को व्यक्ति से भिन्न और सर्वथा नित्य मानते हैं तब तो वह सामान्य ही कहलायेगा ? तथा यदि व्यक्ति से अभिन्न, एक नित्य मानते हैं तो व्यक्ति भी नित्य बन जायगा ? क्योंकि उससे अभिन्न जो सादृश्य है वह नित्य है, इस तरह हमारा इष्ट तत्व ही सिद्ध होता है ॥१॥२॥

भावार्थ यह है कि हम मीमांसक शब्द में सादृश्य को न मानकर एकत्व मानते हैं, जैन शब्द को अनित्य मानते हैं अतः वे वाच्य वाचक संबंध को सादृश्यता के

तथाभूतायश्चास्याः सामान्यनिराकरणे निराकरिष्यमाणत्वात्। ततः प्रवृत्तिमिच्छता लिंगाच्छब्दाद्वा न सामान्यमात्रस्य प्रतिपत्तिरभ्युपगन्तव्या।

ननु सामान्यस्य विशेषमन्तरेणानुपपत्तितो लक्षितलक्षणया विशेषप्रतिपत्तेर्न प्रवृत्त्याद्यभावानुषंगः; इत्यप्रातीतिकम्; क्रमप्रतीतेरभावात्। न हि वाचकोद्भूतवाच्यप्रतिभासे प्राक् सामान्यावभासः पश्चाद्विशेषप्रतिभास इत्यनुभवोस्ति।

आधार पर सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु वह सादृश्य तो सामान्य रूप सिद्ध होता है, क्योंकि सादृश्य को अनेक तथा अनित्य मानेंगे तो उससे शब्द का वाच्यार्थ के साथ संबंध सिद्ध नहीं हो पाता है और अनेक एवं नित्य स्वभाव रूप सादृश्य मानते हैं तो एक ही सादृश्य द्वारा अर्थ प्रतीति हो जाने से अनेक निष्ठ सादृश्य मानने की जरूरत नहीं रहती है, इत्यादि ? सो यह वर्णन अयुक्त है। जो बात शब्द के सादृश्य के विषय में कही वही बात धूम आदि हेतु के विषय में कही जायगी, धूमादि एक हेतु का जैसा परिणाम है वैसा दूसरे धूमादि का भी परिणाम होना सादृश्य कहलाता है न कि उसी एक के परिणाम को सादृश्य कहते हैं। यह जो सादृश्य परिणाम है वह व्यक्तियों से (धूम विशेषों से) कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है, क्योंकि उसी तरह की प्रतीति आती है यह सब सादृश्य की बात है, ऐसी बात सामान्य में घटित नहीं होती, उस सामान्य को तो आप नित्य व्यापक मानते हैं ? और ऐसे नित्य सामान्य का हम जैन आगे निराकरण करने वाले हैं। इसलिये प्रवृत्ति को चाहने वाले पुरुष को हेतु से या शब्द से मात्र सामान्य प्रतिभास होता है ऐसा नहीं मानना चाहिये।

शंका—सामान्य तो विशेष के बिना होता ही नहीं अतः लक्षित लक्षण न्याय से अर्थात् सामान्य के प्रतिभासित हो जाने से विशेष का प्रतिभास भी हो जाता है ऐसा हम मानते हैं इसलिये प्रवृत्ति होना इत्यादि का अभाव होवेगा ऐसा जो दूषण दिया था वह नहीं आता है ?

समाधान—यह कथन प्रतीति विरुद्ध है, ऐसी क्रमिक प्रतीति नहीं होती कि वाचक शब्द से उत्पन्न हुआ वाच्य का जो प्रतिभास है उसमें पहले सामान्य प्रतीत होता हो और पीछे विशेष प्रतीत होता हो।

किञ्च, सामान्याद्विशेषः प्रतिनियतेन रूपेण लक्ष्येत, साधारणेन वा ? न तावदाद्यः पक्षः, प्रतिनियतरूपतयाऽस्याऽप्रतीतेः । न हि शब्दोच्चारणवेलायां जातिपरिमितो विशेषोऽसाधारणरूपतयाऽनुभूयते प्रत्यक्षप्रतिभासाऽविशेषप्रसङ्गात् । प्रतिनियतरूपेण जातेरविनाभावाभावाच्च कुतस्तया तस्य लक्षणम् ? नापि द्वितीयः; साधारणरूपतया प्रतिपन्नस्यापि विशेषस्यार्थक्रियाकारित्वाऽसामर्थ्येन प्रवृत्त्यहेतुत्वात्, प्रतिनियतस्यैव रूपस्य तत्र सामर्थ्योपलब्धेः । पुनरपि साधारणरूपतातो विशेषप्रतिपत्तावनवस्था स्यात् । साधारणरूपतया चातो विशेषप्रतिपत्तौ सामान्यात्सामान्यप्रतिपत्तौ सामान्यप्रतिपत्तिरेव स्यान्न विशेषप्रतिपत्तिः, साधारणरूपतायाः सामान्यस्वभावत्वात् ।

किञ्च, यदि नाम शब्दाज्जातिः प्रतिपन्ना व्यक्तेः किमायातम्, येनासौ तां गमयति ? तयोः सम्बन्धाच्चेत्; सम्बन्धस्तयोस्तदा प्रतीयते, पूर्वं वा ? न तावत्तदा; व्यक्तेरनधिगतेः 'जातिरेव हि

दूसरी बात यह है कि आपने जो सामान्य से विशेष का प्रतिभास होना बतलाया वह प्रतिनियत रूप द्वारा लक्षित होता है अथवा साधारण रूप द्वारा लक्षित होता है ? प्रथम पक्ष ठीक नहीं है, प्रतिनियत रूप से विशेष का प्रतिभास होता हुआ देखा नहीं गया है, इसी का खुलासा करते हैं—जब शब्द का उच्चारण कर रहे हैं उस समय जाति परिमित विशेष असाधारण रूप से अनुभव में नहीं आता, यदि आता तो दोनों का (सामान्य विशेष का) अविशेष रूप से प्रत्यक्ष प्रतिभास हो जाता, तथा प्रतिनियत रूप के साथ सामान्य का अविनाभाव होता ही नहीं अतः उसके द्वारा विशेष का ज्ञान कैसे होगा ? दूसरा पक्ष–साधारण रूप से सामान्य द्वारा विशेष लक्षित किया जाता है ऐसा मानना भी ठीक नहीं है । मात्र साधारण रूप से जाना हुआ जो विशेष है उससे अर्थ क्रिया होना शक्य नहीं, अतः वह प्रवृत्ति का हेतु बन नहीं सकता, प्रवृत्ति कराने की सामर्थ्य तो प्रतिनियत रूप में ही होती है । यदि साधारण रूप से विशेष को जानकर फिर विशेष की प्रतिपत्ति होती है ऐसा माना जाय तब तो अनवस्था होवेगी । तथा साधारण रूप से सामान्य के द्वारा विशेष की प्रतिपत्ति होती है ऐसा माने तो सामान्य से सामान्य की प्रतिपत्ति हुई ऐसा ही कहलायेगा ? विशेष की प्रतिपत्ति तो होवेगी नहीं ? क्योंकि साधारण रूप तो सामान्य स्वभाव वाला ही होता है ।

यह भी बात है कि शब्द से जाति सामान्य जानी भी गई तो उससे व्यक्ति का (विशेष का) क्या हुआ, जिससे वह व्यक्ति को बतला देवे ? जाति और व्यक्तिका सम्बन्ध है अतः जाति को जानने से व्यक्ति का जानना भी हो जाता है ? ऐसा कहना

केवला तदा प्रतिभासते' इत्यभ्युपगमात्, अन्यथा किं लक्षितलक्षणया ? न च व्यक्त्यनधिगमे तत्संबंधाधिगमः; द्विष्ठत्वात्तस्य। अथ पूर्वमसौ प्रतीतः तथापि तदैवासौ भवतु। न ह्येकदा तत्सम्बन्धेऽन्यदाप्यसौ भवत्यतिप्रसङ्गात्। न च जातेर्विशेषनिष्ठत्वं स्वरूपम्; व्यक्त्यन्तराले तत्स्वरूपाऽसत्त्वप्रसङ्गात्। तत्कथं व्यक्त्यऽविनाभावोऽस्याः ?

किंच, सर्वदा जातिर्व्यक्तिनिष्ठेति प्रत्यक्षेण प्रतीयते, अनुमानेन वा ? प्रत्यक्षेण चेत्किं युगपत्, क्रमेण वा ? तत्राद्यपक्षोऽयुक्तः; सर्वव्यक्तीनां युगपदप्रतिभासनात्। न च तासामप्रतिभासे तथा संबंधावसायोऽतिप्रसंगात्। नापि द्वितीयः; क्रमेण निरवधेः सकलव्यक्तिपरम्परायाः परिच्छेत्तुमशक्तेः। कादाचित्के तु जातेर्व्यक्तिनिष्ठताधिगमे सर्वत्र सर्वदा न तन्निष्ठताधिगमः स्यात्। तन्न प्रत्यक्षेण जातेस्त-

---

भी ठीक नहीं, उन दोनों का सम्बन्ध कब जाना जाता है, जब शब्द से जाति जानी है उसी वक्त या पहले ? उसी वक्त अर्थात् शब्दोच्चारण के समय ही जाना जाता है, कहो तो गलत है, उस वक्त सिर्फ जाति (सामान्य) प्रतीत होती है ऐसा आप स्वयं मानते हैं तथा यदि शब्दोच्चारण के समय में ही सामान्यवत् विशेष भी जाना जाता है तो उस सामान्य को लक्षित लक्षणा कैसे कहा है ? "लक्षितेन (ज्ञानेन) सामान्येन लक्षणा— विशेष प्रतिपत्तिः तया" इस प्रकार 'लक्षित लक्षणा' शब्द की निष्पत्ति है। अर्थात् सामान्य के ज्ञात होने पर उससे विशेष के जानने को लक्षित लक्षणा कहते हैं, अतः दोनों को एक साथ जाना है ऐसा नहीं कह सकते। जब विशेष को उस समय जाना ही नहीं तब दोनों का सम्बन्ध भी कैसे जाने ? संबंध तो दो में होता है ? दूसरा पक्ष—शब्दोच्चारण के पहले ही दोनों का संबंध जाना हुआ रहता है ऐसा कहो तो जिस समय उस संबंध को जाना था उस समय ही वह रहे ? अन्य समय में उसको क्यों माने ? एक किसी काल में संबंध को जान भी लेवे तो उसको अन्य काल में नहीं जोड़ना चाहिए ? अन्यथा अतिप्रसंग आयेगा ? घट पट का एक बार संबंध देखा या जाना तो उनको हमेशा संबंधित ही मानना पड़ेगा ? मात्र विशेष में निष्ठ रहना ही सामान्य का लक्षण नहीं है। यदि ऐसा होता तो व्यक्ति व्यक्ति के अंतराल में सामान्य के स्वरूप का अभाव होने का प्रसंग आता है। अतः सामान्य का विशेष के साथ अविनाभाव है यह किस प्रकार कह सकते हैं ?

तथा सामान्य सर्वदा विशेष में निष्ठ रहता है ऐसा प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है कि अनुमान से प्रतीत होता है यह बताना होगा प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है कहो तो दोनों को एक साथ जानते हैं कि क्रम से प्रथम पक्ष कहना गलत होगा क्योंकि सब

श्चितताधिगमः । नाप्यनुमानेन; अस्याऽध्यक्षपूर्वकत्वेनाभ्युपगमात् । तस्य चात्राऽप्रवृत्तावनुमानस्याप्यप्रवृत्तिः । तन्न लक्षितलक्षणया विशेषप्रतिपत्तिः सम्भवति, इति वाच्यवाचकयोः सामान्यविशिष्टविशेषरूपतोपगन्तव्या धूमादिवत् ।

ननु धूमादेः सामान्यसद्भावात्तद्विशिष्टस्योक्तन्यायेन गमकत्वमस्तु, शब्दे तु तस्याभावात्कथं तद्विशिष्टस्य गमकत्वम् ? तदभावश्च वर्णान्तरग्रहणे वर्णान्तरानुसन्धानाभावात् । यत्र हि सामान्यमस्ति तत्रैकग्रहणेऽपरस्यानुसन्धानं दृष्टं यथा शाबलेयग्रहणे बाहुलेयस्य । वर्णान्तरे च गादौ गृह्यमाणे न कादीनामनुसन्धानम्; तदसाम्प्रतम्; गादौ हि वर्णान्तरे गृह्यमाणे यदि 'अयमपि

विशेषों का एक साथ प्रतिभास नहीं होता है। सभी विशेषों को जाने बिना उनका सामान्य के साथ सदा रहने वाला संबंध भी नहीं जाना जा सकता, अन्यथा अतिप्रसंग होगा। सामान्य विशेष में निष्ठ है ऐसा प्रत्यक्ष द्वारा क्रम से प्रतिभासित होता है इस तरह का दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि व्यक्तियां असंख्य हैं उनको क्रम से जानना शक्य नहीं है। सामान्य का विशेष में निष्ठ रहना क्वचित् कदाचित् जानने में आता है ऐसा कहे तो सर्वत्र हमेशा सामान्य विशेष में निष्ठ रहता है इस प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिये निर्णय हुआ कि प्रत्यक्ष द्वारा सामान्य का विशेष में निष्ठ रहना नहीं जाना जाता। अनुमान के द्वारा भी वह निष्ठता ग्रहण में नहीं आती क्योंकि अनुमान भी प्रत्यक्ष पूर्वक होता है जब इस विषय में प्रत्यक्ष प्रवृत्त नहीं होता तो अनुमान भी प्रवृत्त नहीं होगा। अतः लक्षित लक्षणा से विशेष की प्रतिपत्ति होना संभव नहीं है। इस प्रकार वाच्य वाचक में सामान्य से विशिष्ट विशेष रूपता रहती है ऐसा स्वीकार करना ही ठीक है, जैसे धूम आदि हेतु में मानी है।

मीमांसक—धूम आदि में तो सामान्य का सद्भाव है, अतः वह उस विशिष्ट साध्य का गमक हो सकता है, किन्तु शब्द में तो सामान्य का सद्भाव नहीं है अतः वह उस विशिष्ट अर्थ का ज्ञापक किस प्रकार हो सकता है ? शब्द में सामान्य का अभाव इसलिये है कि किसी वर्ण को ग्रहण करते है तो उसमें अन्य वर्ण का अनुसंधान नहीं दिखायी देता है, जहां पर सामान्य रहता है वहां पर एक को ग्रहण करते ही अन्य का अनुसंधान होता हुआ देखा जाता है, जैसे शाबलेय ग्रहण करने पर बाहुलेय का ग्रहण हो जाता है, वर्णान्तर ग्रहण में ऐसी बात नहीं होती, गकार आदि के ग्रहण हो जाने पर भी ककार आदि ग्रहण में नहीं आते हैं अतः इनमें अनुसंधान का अभाव है।

वर्णः' इत्यनुसन्धानाभावः सोऽसिद्धः, तथानुभू(तथाभू)तानुसन्धानस्यानुभूयमानत्वेनाऽभावासिद्धेः। अथ गादौ वर्णान्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि कादिः' इत्यनुसन्धानाभावान्न सामान्यसद्भावः; तर्हि शाबलेयादावपि व्यक्त्यन्तरे गृह्यमाणे 'अयमपि बाहुलेयः' इत्यनुसन्धानाभावाद्गोत्वस्याप्यभावः। अथ 'गौर्गौः' इत्यनुगताकारप्रत्ययसद्भावान्न गोत्वाऽसत्त्वम्; तदन्यत्रापि समानम्–तत्रापि हि 'वर्णो वर्णः' इत्यनुगताकारप्रत्ययोस्तु, तत्कथं वर्णेषु वर्णत्वस्य गादिषु गत्वादेः शब्दे शब्दत्वस्याभावः निमित्ताऽविशेषात्? तथाहि–समानासमानरूपासु व्यक्तिषु क्वचित् 'समानाः' इति प्रत्ययोऽन्वेत्यन्यत्र व्यावर्त्तते। यत्र च प्रत्ययानुवृत्तिस्तत्र सामान्यव्यवस्था, नान्यत्र। सा च प्रत्ययानुवृत्तिर्गादिष्वपि समानेति कथं न तत्र सामान्यव्यवस्था? तथाप्यत्र सामान्यानभ्युपगमे शाबलेयादावपि सोस्तु। न हि

जैन—यह कथन गलत है, जब ग आदि वर्णान्तर का ग्रहण होता है तब "यह भी वर्ण है" ऐसा अन्य वर्ण में अनुसंधान का अभाव करना चाहते हैं तो वह असिद्ध है क्योंकि ऐसा अनुसंधान होते हुए अनुभव में आ रहा है। अभिप्राय यह हुआ कि कोई एक विवक्षित गत्व है उसमें अन्य कत्व आदि तो नहीं है किन्तु वर्णपने की समानता तो है ही अतः उनमें वर्णत्व सामान्य का अनुसंधान तो अवश्य होगा।

शंका—गकार आदि वर्णान्तर के ग्रहण करते समय "यह भी क आदि वर्ण है" ऐसा अनुसंधान नहीं होता अतः उनमें सामान्य का सद्भाव नहीं मानते?

समाधान—तो फिर शाबलेय आदि में अन्य व्यक्ति को ग्रहण करते समय यह भी बाहुलेय है ऐसा अनुसंधान नहीं होने से उसमें गोत्व का अभाव होवेगा।

शंका—शाबलेय, बाहुलेय आदि गायों में गो है गो है ऐसा अनुगत प्रत्यय पाया जाता है अतः उनमें गोत्व सामान्य का अभाव नहीं होता है।

समाधान—ठीक है, यही बात शब्द के विषय में है "यह वर्ण है यह वर्ण है" इस प्रकार वर्णों में भी अनुगत प्रत्यय होता है, अतः आप निमित्त की अविशेषता होते हुए भी वर्णों में वर्णत्व ग आदि में गत्व, शब्द में शब्दत्व का अभाव किस प्रकार मानते हैं? अर्थात् जैसे गो में अनुगत प्रत्यय होता है, वैसे वर्णों में भी अनुगत प्रत्यय होता ही है। समान और असमान रूप वाले व्यक्तियों में कहीं तो समान है ऐसा अनुगत प्रत्यय होता है और अन्यत्र वह प्रत्यय नहीं होता, जहां पर समान प्रत्यय की अनुवृत्ति होती है वहीं पर सामान्य की व्यवस्था होती है अन्यत्र नहीं। ऐसी प्रत्ययों की अनुवृत्ति ग आदि वर्णों में भी पायी जाती है, फिर उनमें सामान्य की व्यवस्था क्यों

तत्रापि तथाभूतप्रत्ययानुवृत्तिमन्तरेण सामान्याभ्युपगमेऽन्यन्निमित्तमुत्पश्यामः। यदि चात्राऽनुगताऽबाधिताऽक्षजप्रत्ययविषयत्वे सत्यपि गत्वादेरभावः; तर्हि गादेरपि व्यावृत्तप्रत्ययविषयस्याभावः स्यात्। तथा च कस्य दर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यत्वं साध्येत ?

यच्चोक्तम्—'सादृश्येन ततोऽर्थाप्रतिपत्तेः' इति; तत्सदृशपरिणामलक्षणसामान्यविशिष्टव्यक्तेरर्थप्रतिपादकत्वसमर्थनात्प्रत्युक्तम्।

यदप्यभिहितम्-सादृश्यादर्थप्रतीतौ भ्रान्तः शाब्दः प्रत्ययः स्यात्; तद्धूमादेरग्न्यादिप्रतिपत्तौ समानम्।

यदप्युक्तम्–'गत्वादीनां वाचकत्वं गादिव्यक्तीनां वा' इत्यादि; तत्सामान्यविशिष्टव्यक्तेर्वाचकत्वसमर्थनादेव प्रत्युक्तम्।

नहीं की जाय ? यदि नहीं करते तो शाबलेय आदि में भी गोत्व सामान्य को नहीं मानना चाहिए। क्योंकि गायों में भी अनुगत प्रत्यय के बिना अन्य किसी निमित्त से गोत्व सामान्य की व्यवस्था होती हुई दिखायी नहीं देती। यदि आप मीमांसक गत्व आदि में इन्द्रियों से गम्य, अबाधित ऐसा अनुगताकार प्रत्यय होते हुए भी उन शब्दों में गत्व आदि का अभाव मानते हैं, तो गकार आदि का जो कि व्यावृत्त प्रत्यय का विषय है उसका भी अभाव मानना होगा। इस तरह उसका अभाव सिद्ध होने पर किसका उच्चारण करेंगे तथा "दर्शनस्य परार्थत्वात्" इत्यादि सूत्र द्वारा किस शब्द का नित्यपना साधा जायगा।

तथा मीमांसक ने कहा था कि वर्णों की सदृशता से अर्थ बोध नहीं होता किन्तु एकत्व से होता है, इत्यादि सो इस विषय का समाधान सदृश परिणाम है लक्षण जिसका ऐसे सामान्य से विशिष्ट व्यक्ति से अर्थ प्रतिपत्ति होती है ऐसा सिद्ध करने से ही हो जाता है, अर्थात् गकार आदि वर्णों में सदृश सामान्य रहता है उसी से पदार्थ का ज्ञान होता है न कि वही पहले संकेत काल के सुने हुए शब्द से। आपने कहा था कि संकेत काल के शब्द द्वारा अर्थ बोध न होकर उसके सदृश अन्य शब्द द्वारा अर्थ बोध होगा तो वह ज्ञान भ्रांत कहलायेगा। सो उसका समाधान धूम से होने वाले अग्नि के ज्ञान के दृष्टांत से हो जाता है, जैसे रसोई घर का धूम पर्वत पर नहीं रहता किंतु उसके सदृश रहता है और उस सदृश धूम से होने वाला अग्नि का ज्ञान सत्य

यच्चोक्तम्—'यो यो गृहीतः' इत्यादि; तदप्युक्तिमात्रम्; पक्षस्यानुमानबाधितत्वात्। तथाहि-अनेको गोशब्द एकेनैकदा भिन्नदेशस्वभावतयोपलभ्यमानत्वाद् घटादिवत्। न चानेकप्रतिपत्तृभिर्भिन्न-देशतयोपलभ्यमानेनादित्यादिना, कालभेदेन भिन्नदेशादितयोपलभ्यमानेन देवदत्तेन वा व्यभिचारः; 'एकेनैकदा' इति विशेषणद्वयोपादानात्। एकेनैकदा दर्शनस्पर्शनाभ्यां भिन्नस्वभावतयोपलभ्यमानेन घटादिना वा; 'भिन्नदेशतया' इति विशेषणात्। जलपात्रसंक्रान्तादित्यादिप्रतिबिम्बैस्तद्व्यभिचारः; तेषामग्रेऽनेकत्वप्रसाधनात्। तथाप्यत्र सर्वगतत्वादिधर्मसम्भवे घटादावपि सोऽस्तु—

'न चास्याऽवयवाः सन्ति येन वर्त्तेत भागशः।
घटो वर्त्तत इत्येव तत्र सर्वात्मकश्च सः॥"

कहलाता है वैसे ही संकेत कालीन शब्द व्यवहार काल में नहीं रहते हुए भी उसके सदृश अन्य शब्द के द्वारा घट आदि पदार्थ का होने वाला ज्ञान सत्य कहलाता है।

पहले कहा गया था कि जो जो शब्द ग्रहण किया है वही सर्वत्र देशों में विद्यमान है इत्यादि, किन्तु यह कथन अयुक्त है, इस पक्ष में अनुमान से बाधा आती है—गो शब्द अनेकों हैं, क्योंकि एक ही पुरुष द्वारा एक काल में विभिन्न देश तथा स्वभाव से उपलब्ध होते हैं, जैसे घट आदि पदार्थ विभिन्न देशों में विभिन्न स्वभावों में उपलब्ध होते हैं तो उन्हें अनेक मानते हैं। अनेक देश तथा स्वभावों से उपलब्ध होना रूप जो हेतु है वह जानने वाले अनेक व्यक्तियों द्वारा विभिन्न देशों में उपलब्ध होने वाले सूर्य से अनैकान्तिक नहीं होता है, तथा काल भेद से भिन्न देशों में उपलब्ध होने वाले देवदत्त के साथ भी अनैकान्तिक नहीं होता है। इन्हीं दो व्यभिचारों को दूर करने के लिये एक पुरुष द्वारा, और एक समय में इस प्रकार के दो विशेषण हेतु में जोड़ दिये हैं। तथा ये दो विशेषण होते हुए भी दर्शन और स्पर्शन की अपेक्षा भेद स्वभाव रूप से उपलब्ध होने वाले घटादि के साथ हेतु व्यभिचरित होता था अतः "भिन्न देशतया" यह तीसरा विशेषण ग्रहण किया है। इस हेतु में कोई शंका उपस्थित नहीं करना कि अनेक जल पात्रों में संक्रामित हुए सूर्य के प्रतिबिम्ब के साथ व्यभिचार आता है, क्योंकि इन प्रतिबिम्बों के विषय में आगे सिद्ध करने वाले हैं कि वे जल पात्रों में स्थित प्रतिबिम्ब अनेक हैं। इस प्रकार निर्दोष हेतु से शब्द में अनित्यपना तथा अव्यापकपना सिद्ध हो जाता है, तो भी आप मीमांसक पक्ष व्यामोह के कारण शब्द में सर्वगतत्व आदि धर्म मानते हैं तो घट पट आदि पदार्थों में भी सर्वगतत्व आदि धर्म

इत्यादेरत्राप्यभिधातुं शक्यत्वात् । यथा च—

क्वचिद्रक्तः क्वचित्पीतः क्वचित्कृष्णश्च गृह्यते ।
प्रतिदेशं घटस्तेन विभिन्नो मम युक्तिमान् ॥

तथा—

उदात्तः कुत्रचिच्छब्दोऽनुदात्तश्च तथा क्वचित् ।
अकारो मि(कारमि)श्रितोऽन्यत्र विभिन्नः स्याद् घटादिवत् ॥

ननु 'व्यञ्जकध्वनिधर्मा एवोदात्तादयो नाऽकारादिधर्माः, ते तु तत्रारोपात्तद्धर्मा इवावभासन्ते जपाकुसुमरक्ततेव स्फटिकादाविति । उक्तञ्च—

"बुद्धितीव्रत्वमन्दत्वे महत्त्वाल्पत्वकल्पना ।
सा च पट्वी भवत्येव महातेजःप्रकाशिते ॥१॥
मन्दप्रकाशिते मन्दा घटादावपि सर्वदा ।
एवं दीर्घादयः सर्वे ध्वनिधर्मा इति स्थितम् ॥२॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१६-२२०]

मानने होंगे ? कोई कह सकता है कि–घट के अवयव नहीं होते हैं जिससे कि वह खण्ड खण्ड रूप से सर्वत्र रह जाय, अतः "घट है" इत्यादि वाक्य का अर्थ घट पूर्ण रूप से एक जगह विद्यमान है ऐसा ही होता है न कि सर्वत्र विद्यमान ऐसा । घट कहीं पर लाल, कही पीला, कहीं काला दिखाई देता है अतः वह प्रतिदेश में विभिन्न है ऐसा कहना यदि युक्ति संगत है तो शब्द कहीं तो उदात्त अकार रूप उपलब्ध होता है कहीं अनुदात्त अकाररूप और कहीं उभयरूप उपलब्ध होता है, अतः शब्द भी घट आदि के समान प्रतिदेश में विभिन्न है ऐसा भी स्वीकार करना चाहिये ।

मीमांसक —आपने जो उदात्त आदि भेद किये वे शब्द के न होकर व्यञ्जक ध्वनियों के हैं, व्यञ्जक ध्वनियों के धर्मों का शब्द में आरोप होता है अतः शब्द के हैं ऐसा मालूम पड़ता है, जैसे कि स्फटिक में स्वयं में लालिमा नहीं है किन्तु जपा कुसुम की लालिमा आरोपित होने से स्फटिक की है ऐसा मालूम पड़ता है । कहा भी है— महान प्रकाश के होने पर तीव्र बुद्धि होती है और अल्प प्रकाश के होने पर मन्द बुद्धि होती है ऐसी बुद्धि में तीव्र मन्द की कल्पना करते हैं, तथा मंद प्रकाश में घट मंद दिखता है और तीव्र प्रकाश में तीव्र दिखायी देता है सो मन्द तीव्र धर्म प्रकाश के थे किन्तु उसका आरोप घट आदि में करते हैं वैसे ही दीर्घ, ह्रस्व, उदात्त, अनुदात्त, इत्यादि धर्म ध्वनियों के हैं किन्तु उनका शब्दों में आरोप किया जाता है ।

तदप्यसारम्; यतो यद्युदात्तादिधर्मरहितोऽकारादिस्तत्सहितश्च ध्वनिः रक्तेतरस्वभावजपाकुसुमस्फटिकवत् क्वचिदुपलब्धः स्यात् तदा स्यादेतत् 'अन्यधर्मस्तदारोपात्तद्धर्मतयेवावभाति' इति। न चासौ स्वप्नेपि तथोपलभ्यते। शब्दधर्मतया चैते प्रतीयमाना यद्यन्यस्येष्यन्तेऽन्यत्र कः समाश्वासहेतुः? बाधकाभावश्चेत्सोत्रापि समानः। विपरीतदर्शनं हि बाधकम्, यथा द्विचन्द्रदर्शनस्यैकचन्द्रदर्शनम्। न चात्र तदस्ति–उदात्तादिधर्मात्मिकस्यैवाकारादेः सर्वदा प्रतीतेः। तथापि तत्कल्पने रक्तादिधर्मरहितस्य घटादेर्दर्शनं तथैव कल्प्यताम्। तथाविधस्यानुपलम्भादसत्त्वम्; शब्देपि समानम्।

किञ्चेदं बुद्धेस्तीव्रत्वं नाम? किं महत्त्वरहितस्यार्थस्य महत्त्वेनोपलम्भः, यथाऽवस्थितस्याऽत्यन्तस्पष्टतया वा? प्रथमे विकल्पे भ्रान्तताऽस्याः स्यात्। 'सा च पट्वी भवत्येव महातेजःप्रकाशिते

जैन—यह कथन असार है, आप जैसा कह रहे हैं वैसा उदात्त आदि धर्म रहित अकार आदि स्वर उपलब्ध होते तथा ध्वनियां उन उदात्तादि धर्मों से युक्त कहीं उपलब्ध होती तब तो उन ध्वनियों के धर्मों का अकारादि वर्णों में आरोप कर लेते, जैसे कि लाल रंग युक्त जपा कुसुम और सफेद स्फटिक पृथक् उपलब्ध होते हैं तब लाल रंग का स्फटिक में आरोप हो जाता है, किन्तु उदात्त आदि धर्म रहित वर्ण कभी स्वप्न में भी उपलब्ध नहीं होते। शब्द के धर्म रूप से प्रतीत होते हुए भी उनको दूसरे के माना जाय तो अन्यत्र कैसे विश्वास होगा कि यह घट में दिखाई देने वाले रूप आदिक घट के हैं अथवा अन्य के द्वारा आरोपित हैं? बाधकाभाव होने से घट में रूपादि धर्म निजी माने जाते हैं ऐसा कहो तो यही बात शब्द में है। उसमें भी उदात्तादि धर्म दिखायी देते हैं वे उसी के हैं आरोपित नहीं, क्योंकि उसमें कोई बाधा नहीं है। बाधा तो विपरीत दिखाई देने से आती है, जैसे कि दो चन्द्र का दिखना एक चन्द्र दर्शन से बाधित होता है। ऐसा विपरीत दर्शन शब्द में नहीं है, शब्द में तो उदात्तादि धर्म रूप अकारादि की सर्वदा प्रतीति होती है, फिर भी उनको आरोपित मानेंगे तो घट आदि के लाल आदि धर्म को भी आरोपित मानना पड़ेगा। यदि लाल आदि धर्म से रहित घट का अनुपलम्भ होने से उस तरह के घट का असत्व मानते हैं तो यही बात शब्द में है, उदात्तादि धर्म रहित शब्द का अनुपलम्भ होने से उस तरह के शब्द का असत्व ही है।

किंच, बुद्धि की तीव्रता किसे कहते हैं महत्व रहित पदार्थ को महत्व रूप जानना बुद्धि की तीव्रता है अथवा जैसा पदार्थ है वैसा अत्यन्त स्पष्ट रूप से जानना बुद्धि की तीव्रता है? प्रथम विकल्प कहो तो वह बुद्धि की तीव्रता भ्रान्त कहलायेगी

घटादौ सर्वदा' इति च निदर्शनमयुक्तम्; न हि महातेजःसामर्थ्यादल्पोपि घटो 'महान्' इत्यवभासते, किन्त्वत्यन्तस्पष्टतया। द्वितीयविकल्पे तु महत्त्वादिधर्मरहितस्यास्याऽत्यन्तस्पष्टतया ग्रहणं स्यात्। तथा च न व्यञ्जकध्वनिधर्मानुविधायित्वं स्यात्।

एतेन बुद्धिमन्दत्वेऽल्पता निरस्ता। न खलु मन्दतेजसः प्रकाशिते घटादौ महति बुद्धिमन्दत्वेनाल्पत्वप्रतीतिरस्ति। ततो 'महाताल्वादिव्यापारे महत्त्वादिधर्मोपेतोऽल्पे चाल्पत्वादिधर्मोपेतः शब्द एवोत्पद्यते' इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

यदि च ताल्वादयो ध्वनयो वास्य व्यञ्जकाः; तर्हि तद्व्यापारे तद्धर्मोपेतस्यास्य नियमेनोपलब्धिर्न स्यात्। कारकव्यापारो ह्येषः—स्वसन्निधाने नियमेन कार्यसन्निधापनं नाम, न व्यञ्जकव्यापारः। न खलु यत्र यत्र व्यंजकः प्रदीपादिस्तत्र तत्र व्यंग्यघटादिसन्निधापनमुपलब्धिर्वा नियम-

---

महातेज से प्रकाशित हुए घटादि में वह बुद्धि पटु होती है ऐसा जो दृष्टांत दिया वह अयुक्त है, क्योंकि महान प्रकाश के सामर्थ्य से छोटा घट महान रूप से प्रतिभासित नहीं होता किन्तु अत्यंत स्पष्ट रूप से प्रतिभास होता है। दूसरा विकल्प—जैसी वस्तु है वैसा अत्यंत स्पष्ट रूप से जानना बुद्धि की तीव्रता है, ऐसा कहो तो महत्व आदि धर्म से रहित अत्यन्त स्पष्ट रूप से घट का ग्रहण होना ही सिद्ध होता है, फिर उदात्तादि धर्म व्यंजक ध्वनि के अनुविधायी होते हैं ऐसा कहना असत्य ही ठहरता है। इसी तरह बुद्धि की मंदता से घट में अल्पता आती है ऐसा कहना भी खण्डित हुआ समझना चाहिए। क्योंकि मंद प्रकाश से प्रकाशित हुए महान घटादि में बुद्धि के मंद होने मात्र से अल्पता की प्रतीति नहीं होती है, इससे निश्चय होता है कि तालु कंठ आदि का महा व्यापार (जोर जोर से पूरा मुख खोलके बोलना इत्यादि रूप व्यापार) होने पर महान शब्द उत्पन्न होता है, और अल्प व्यापार के होने पर अल्प धर्म युक्त शब्द उत्पन्न होता है। यदि मीमांसक तालु आदि को या ध्वनियों को शब्द का व्यंजक कारण मानते हैं तो उस व्यापार के होने पर उदात्त आदि धर्म युक्त शब्द की नियम से उपलब्धि होना सिद्ध नहीं होता, क्योंकि यह काम तो कारक व्यापार का है, जो कि अपने निकट रहने पर नियम से कार्य की सन्निधि कर देता है। किन्तु इस कार्य को व्यंजक व्यापार नहीं कर सकता, जहां जहां व्यंजक (प्रगट करने वाले को व्यंजक और उत्पन्न करने वाले को कारक कहते हैं) दीपकादि है वहां वहां व्यंग्य जो घटादि हैं उनकी उपलब्धि या निकटता होती ही है ऐसा नियम नहीं है, यदि ऐसा होता तो

तोऽस्ति, अन्यथा तयोरविशेषप्रसंगात्, चक्रादिव्यापारवैयर्थ्यानुषंगाच्च । अथ घटादेरसर्वगतत्वान्न तद्व्यञ्जकसन्निधाने सर्वत्रोपलम्भः, शब्दस्य तु सम्भवति विपर्ययात्; इत्यप्यनिरूपिताभिधानम्; तस्य सर्वगतत्वाऽसिद्धेः । तथाहि-न सर्वगतः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियप्रत्यक्षत्वाद् घटादिवत् । ततो घटादिभ्यः शब्दस्य विशेषाभावादुभयोः कार्यत्वं व्यंगयत्वं चाभ्युपगन्तव्यम् ।

किंच, एते ध्वनयः श्रोत्रग्राह्याः; न वा ? श्रोत्रग्राह्यत्वे अत एव शब्दाः तल्लक्षणत्वात्तेषाम् । तत्र च तात्त्विका एवोदात्तादयो धर्माः । तथा चापरशब्दकल्पनानर्थक्यम् । अथ न श्रोत्रग्राह्याः; कथं तर्हि तद्धर्मा उदात्तादयस्तद्ग्राह्याः ? न हि रूपादीनां धर्मा भासुरत्वादयो रूपादेरग्रहणे श्रोत्रेण गृह्यन्ते । अथ न भावतस्तेन ते गृह्यन्ते, किन्त्वारोपात् । ननु चाऽगृहीतस्यारोपोपि कथम् ? अन्यथा भासुरत्वादेरपि तत्रारोपः स्यात् । अथ व्यजकत्वाद् ध्वनीना तद्धर्मा एव तत्रारोप्यन्ते, न रूपादीनां

कारक और व्यंजक कारणों में अन्तर ही नही रहता । फिर तो दीपक जलने मात्र से घट तैयार हो जाता, कुम्भकार, चक्र मिट्टी आदि को क्रिया व्यर्थ ही ठहरती ।

शंका—घट आदि पदार्थ असर्वगत होने से व्यंजक कारण के निकट होने पर भी उसकी सर्वत्र उपलब्धि नही होती, किन्तु शब्द तो सर्वगत है अतः व्यंजक के निकट होने पर उसकी सर्वत्र उपलब्धि हो जाती है ।

समाधान—यह कथन असत् है । शब्द का सर्वगतत्व असिद्ध है । इसी को अनुमान द्वारा सिद्ध करते हैं—शब्द सर्वगत नहीं है, क्योंकि सामान्य विशेष रूप होकर बाह्य एक इन्द्रिय (कर्ण) के द्वारा प्रत्यक्ष होता है, जैसे घट आदि एक इन्द्रिय (नेत्र) द्वारा प्रत्यक्ष होता है । इस प्रकार घट आदि से शब्द की कोई विशेषता सिद्ध नहीं होने से दोनों में कार्यत्व या व्यंगत्व समान रूप से कोई एक ही मानना चाहिये ।

मीमांसक के यहां शब्द की व्यंजक ध्वनियां मानी हैं वे कर्ण द्वारा ग्राह्य हैं तो उसीको शब्द कहना होगा, क्योंकि शब्द का यही लक्षण है । तथा ध्वनियों में उदात्त आदि धर्म वास्तविक ही माने जाते हैं । इस प्रकार ध्वनियां ही शब्द रूप सिद्ध होने से इनसे अन्य शब्द की कल्पना करना व्यर्थ ठहरता है । यदि कहा जाय कि ध्वनियां कर्ण ग्राह्य नहीं हैं तो उनके उदात्तादि धर्म किस प्रकार कर्ण ग्राह्य हो सकेंगे ? रूपादि युक्त पदार्थों के भासुरत्वादि धर्म रूपादि के कर्ण द्वारा अग्रहीत होने पर ग्रहण में नहीं आते हैं ।

विपर्ययात्; ननु ज्ञानजनकत्वान्नापरं व्यंजकत्वम्। तथा सत्यल्पेन चक्षुषा व्यज्यमानः पर्वतो महानपि तद्धर्मारोपात्तत्परिमाणतया प्रतीयेत सर्षपश्च बृहत्परिमाणतया, न चैवम्। तन्नैते ध्वनिधर्मा उदात्तादयोऽपि तु शब्दधर्माः। तथाप्यस्यैकव्यक्तिकत्वे घटादेरपि तदस्तु विशेषाभावात्।

ननु चास्यैकत्वे नभोवत्कारणानायत्तत्वान्न तदुत्कर्षापकर्षाभ्यामुत्कर्षापकर्षौ स्याताम्; तच्छब्देपि समानम्-तस्यापि हि प्रत्येकमेकव्यक्तिकत्वे ताल्वोत्कर्षाऽपकर्षाभ्यामुत्कर्षापकर्षयोगो न स्यात्, किन्तु सर्वत्र तुल्यप्रतीतिविषयता स्यात्। ननु चासिद्धं ताल्वादेर्महत्त्वादेः, शब्दस्य महत्त्वादिकम्; तथाहि—

मीमांसक—उदात्त आदि धर्म कर्ण द्वारा भाव रूप से ग्रहण नहीं होते किन्तु आरोप से ग्रहण में आते हैं ?

जैन—ग्रहण किये बिना आरोप भी किस प्रकार हो सकता है ? अन्यथा शब्द में भासुरत्व आदि धर्म का आरोप भी मानना पड़ेगा।

मीमांसक—ध्वनियां शब्द की व्यंजक हुआ करती हैं अतः उनके धर्म का आरोप शब्द में हो जाता है किन्तु रूपादि शब्द के व्यंजक नहीं हैं अतः उसका उसमें आरोप नहीं होता है ?

जैन—ज्ञान को उत्पन्न करना व्यंजक कहलाता है इससे अन्य तो व्यंजकत्व नहीं है अब यदि ऐसे व्यंजक का धर्म पदार्थ में (व्यंग्य में) आरोपित होता है ऐसा माना जाय तो छोटी सी चक्षु द्वारा व्यज्यमाण पर्वत महान होते हुए भी चक्षु जितना छोटा दिखायी देगा ? क्योंकि चक्षु व्यंजक हैं और व्यंजक का धर्म व्यंग्य में आरोपित होता है ऐसा आपने कहा है ? तथा सरसों बृहत् परिमाण वाली दिखायी देगी, क्योंकि चक्षु का धर्म उसमें आरोपित होता है ? किन्तु ऐसा नहीं होता इससे सिद्ध होता है कि उदात्तादि धर्म ध्वनियों के नहीं हैं, अपितु शब्दों के हैं। ऐसी बात होते हुए भी यदि शब्दों को एक व्यक्तिरूप ही माना जाय तो घट पट आदि को भी एकत्व रूप मानना होगा ? दोनों में कोई विशेषता नहीं है।

शंका—घट आदि को यदि एक रूप माना जाय तो आकाश के समान वह भी कारणाधीन नहीं होगा ? फिर कारण के उत्कर्ष (मिट्टी के अधिक) होने पर घट का उत्कर्ष (बड़ा) होना और कारण के अपकर्ष (मिट्टी के अल्प) होने पर घट का अपकर्ष (छोटा) होना सिद्ध नहीं होगा ?

"कारणानुविधायित्वं यच्चाल्पत्वमहत्त्वयोः ।
तदसिद्धं न वर्णो हि वर्द्धते न पदं क्वचित् ॥
वर्णान्तरजनौ तावत्तत्पदत्वं विहन्यते ।
अपदं हि भवेदेतद्यदि वा स्यात्पदान्तरम् ॥
वर्णोऽनवयवत्वात्तु वृद्धिह्रासौ न गच्छति ।
व्योमादिवदतोऽसिद्धा वृद्धिरस्य स्वभावतः ॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१०-२१२]

अत्रोच्यते-किं कारणानुविधायित्वमल्पत्वमहत्त्वयोः स्वभावसिद्धत्वादसिद्धम्, आहोस्वित्कारणाल्पत्वमहत्त्वाभ्यां शब्दस्याल्पत्वमहत्त्वे एव न विद्येते स्वभावतस्तद्रहितत्वात् इति ? तत्राद्यपक्षे स्वभावे एव वास्याऽल्पत्वमहत्त्वे विद्येते, न तु ते तस्य कारणाल्पत्वमहत्त्वाभ्यां कृते इत्यायातम्, तथा

समाधान–यह बात शब्द में भी घटित होती है प्रत्येक क, ख आदि शब्द को एक व्यक्ति रूप ही मानते हैं तो शब्द तालु आदि के उत्कर्ष से उदात्त और अपकर्ष से अनुदात्त धर्म युक्त होता है ऐसा कहना सिद्ध नहीं होगा अपितु सर्वत्र समान ही प्रतीत होगा ।

मीमांसक–तालु आदि के महत्त्व से शब्द का महत्त्व आदि रूप होना असिद्ध है, इसी को ग्रन्थाधार से सिद्ध करते हैं–शब्द के कारण जो तालु आदिक हैं उसके अल्प और महान होने से शब्द अल्प और महान होता है ऐसा मानना असिद्ध है क्योंकि न वर्ण बढ़ता हुआ दिखाई देता है और न कहीं पर पद ही बढ़ता हुआ दिखाई देता है ॥१॥ तथा जब वर्णान्तर उत्पन्न होता है तब उसका पदत्व नष्ट होता है ऐसा माना जायगा तो प्रथम वर्ण को अपदत्व बन जाने का या पदान्तर रूप होने का प्रसंग आता है ॥२॥ अवयव रहित होने के कारण वर्ण वृद्धि और ह्रास को प्राप्त नहीं होता है । उसमें तो आकाश आदि के समान स्वभाव से ही वृद्धि होने की असिद्धि है ॥३॥

जैन—यह कथन असार है, आपने जो कहा कि कारण के अनुसार शब्द में अल्पत्व और महत्व होना असिद्ध है, सो क्यों असिद्ध है शब्द में वे धर्म स्वभाव से सिद्ध होने से अथवा स्वभाव से उन धर्मों से रहित होने से ? प्रथम पक्ष लेवे तो शब्द के स्वभाव में ही अल्प महत्व है कारण कि अल्प महत्व से किया हुआ नहीं है ऐसा सिद्ध हुआ ? फिर शब्द के समान घट आदि में भी स्वभाव से अल्पत्व और महत्व होता है न कि मिट्टी

च घटादेरपि तथा तत्सत्त्वप्रसंगः। निर्हेतुकत्वेन सर्वदा भावानुषंगश्चोभयत्र समानः। द्वितीयस्तु पक्षोऽसंगतः; तयोस्तत्र प्रतीयमानत्वेन स्वभावतस्तद्रहितत्वासिद्धेः। न खलु महति ताल्वादौ महानऽल्पे चाल्पः शब्दो न प्रतीयते, सर्वत्र तयोरनाश्वासप्रसंगात्।

यदप्युक्तम्—'न हि वर्णो वर्द्धते' इत्यादि; तत्र यदि तावत् 'अल्पताल्वादिजनितो वर्णादिरल्पो महतस्ताल्वादिव्यापारान्न वर्द्धते' इत्युच्यते; तदा सिद्धसाधनम्। न हि घटोऽल्पान्मृत्पिण्डात्तथाविधो जातोऽन्यतः स एव वर्द्धते अघटत्वप्रसंगात्, घटान्तरमेव वा स्यात्। अथान्योपि वृद्धिमान्न जायते; तन्न; तथाविधस्य दृष्टत्वात्। दृष्टस्य चाऽपह्नवाऽयोगात्।

एतेनैतन्निरस्तम्—

"अथ ताद्रूप्यविज्ञानं हेतुरित्यभिधीयते।
तथापि व्यभिचारित्वं शब्दत्वेपि हि तन्मतिः ॥१॥

आदि कारण की अल्पता महत्ता से, ऐसा मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि घटादि का अल्प महत्व निर्हेतुक होता तो सर्वदा बना रहता ? सो यह दोष शब्द में भी घटित होता है। दूसरा पक्ष भी गलत है क्योंकि शब्द में वे दोनों धर्म प्रतीत हो रहे हैं अतः शब्द स्वभाव से ही अल्पत्वादि धर्म से रहित होता है ऐसा कहना असिद्ध ठहरता है। शब्द तालु आदि के महान् व्यापार होने पर महान और अल्प व्यापार में अल्प रूप से प्रतीत नहीं होता हो सो बात नहीं है प्रतीति में आते हुए भी इन अल्पत्व आदि को शब्द में न माना जाय तो सर्वत्र (घटादि में) नहीं मानने का प्रसंग आता है।

आपने कहा कि वर्ण बढ़ता नहीं है इत्यादि सो उसमें यह बात है कि जो वर्ण अल्प तालु आदि से उत्पन्न हुआ है वह महान तालु आदि के व्यापार होने पर बढ़ता नहीं है ऐसी मान्यता हो तब तो सिद्ध साधन है, क्योंकि जो घट अल्प मिट्टी से अल्प आकार में बन चुका है वही घट अन्य अन्य मिट्टी द्वारा बढ़ाया नहीं जा सकता, अन्यथा उसमें अघटत्व का प्रसंग होगा अथवा घटान्तरपना आयेगा। यदि कहा जाय कि दूसरा वर्ण भी नहीं बढ़ता तो यह कथन असत्य है, क्योंकि अन्य अन्य वर्ण उदात्त आदि रूप से बढ़ते हुए देखे जाते हैं, देखे हुए धर्म का अपह्नव असंभव है।

इसी प्रकार निम्नलिखित कथन भी निरस्त होता है कि वर्ण में उस प्रकार की अल्प महत्वरूप प्रतीति होने से उसे अल्पत्वादि से युक्त मानते हैं तो शब्दत्व सामान्य में भी उस प्रकार की प्रतीति होने के कारण व्यभिचार दोष आता है। जिस प्रकार लोक व्यवहार में माना जाता है कि अल्प महत्व धर्म व्यक्ति में रहते हैं और

व्यक्त्यल्पत्वमहत्त्वे हि तद्यथानुविधीयते ।
तथैवानुविधातायं ध्वन्यल्पत्वमहत्त्वयोः ॥२॥'
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१३-२१४] इति ।

सदृशपरिणामो हि सामान्यम् । तस्य च वर्णवदऽल्पत्वमहत्त्वसम्भवात् कथं तेनानेकान्तः ? भवत्कल्पितं तु सामान्यमग्रे निषिद्धत्वात्खरविषाणप्रख्यमिति कथं तेन व्यभिचारोद्भावनम् ?

यदप्युच्यते—

व्यंग्यानां चैतदस्तीति लोकेऽप्यैकान्तिकं न तत् ।
दर्पणाल्पमहत्त्वे हि दृश्यतेऽनुपतन्मुखम् ॥१॥
न स्यादव्यंग्यता तस्मिस्तत्क्रियाजन्यतापि वा ।
न चास्योच्चारणादन्या विद्यते जनिका क्रिया ॥२॥"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१५-२१६]

उनका अनुविधाता सामान्य होता है, उसी प्रकार ध्वनि के अल्प महत्व धर्म का अनुविधाता वर्ण है ऐसा मानना चाहिये इत्यादि ।

इस मीमांसक के कथन का अभिप्राय यह है कि ध्वनि के अल्प महत्व के कारण वर्ण में वैसा ज्ञान हो जाया करता है यदि ऐसा न मानकर अल्पत्वादि को वर्ण के निजी धर्म माने जायेंगे तो शब्दत्व सामान्य में अल्पत्वादि की प्रतीति होने से उसमें भी उन धर्मों को मानना पड़ेगा । किन्तु यह कथन गलत है, हम जैन सदृश परिणाम को सामान्य मानते हैं उस सामान्य में वर्ण के समान अल्पत्व महत्व धर्म रहना संभव होने से उसके साथ व्यभिचार दोष देना किस प्रकार संभव है ? और आप मीमांसक द्वारा मान्य सामान्य का आगे निराकरण किया है अतः खर विषाण सदृश उस सामान्य द्वारा व्यभिचार दोष का उद्भावन किस प्रकार हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है ।

मीमांसक—शब्द व्यंग्य है व्यंग्य व्यञ्जक का अनुकरण करते हैं यह बात लोक में भी देखी जाती है, अतः वह अनैकान्तिक नहीं है, दर्पण के अल्प महत्व के अनुसार उसमें पड़ा हुआ मुख का प्रतिबिम्ब छोटा बड़ा दिखता है ॥१॥ किन्तु इतने मात्र से मुख में व्यंग्य धर्म नहीं हो अथवा वह दर्पण की क्रिया से जन्य हो सो बात नहीं है । तथा शब्द में उच्चारण को छोड़कर अन्य उत्पन्न होने रूप क्रिया भी नहीं होती है ।

तदप्यचारु; भ्रान्तेनाऽभ्रान्तस्य व्यभिचाराऽयोगात् । शब्दे हि महत्त्वादिप्रत्ययोऽभ्रान्तो बाधवर्जितत्वादित्युक्तम् । मुखे तु भ्रान्तो विपर्ययात् । न चान्यस्य भ्रान्तत्वेऽन्यस्यापि तत्, अन्यथा सकलशून्यतानुषंगः–स्वप्नादिप्रत्ययवत्सकलप्रत्ययानां भ्रान्ततापत्तेः । न च खंगे प्रतिबिम्बितदीर्घतया मुखमेवाऽऽभाति दर्पणे तु वर्तुलतया गौरनीले काचे नीलतया; किन्तु तदाकारस्तत्र प्रतिबिम्बितस्तद्धर्मानुकारी प्रतिभाति । न च शब्दस्याप्याकारो ध्वनौ, ध्वनेर्वा शब्दे प्रतिबिम्बितस्तद्धर्मानुकारी भवतीत्यभिधातव्यम्; शब्दस्याऽमूर्त्तत्वेन मूर्त्ते ध्वनौ तत्प्रतिबिम्बनाऽसम्भवात् । मूर्त्तानामेव हि मुखादीनां मूर्त्ते दर्पणादौ तत्प्रतिबिम्बनं दृष्टं नाऽमूर्तानामात्मादीनाम् । न चाऽश्रोत्रग्राह्यत्वे ध्वनेः प्रतिबिम्बितोप्याकारः श्रोत्रेण ग्रहीतुं शक्योऽतिप्रसंगात् । तद्ग्राह्यत्वे वा अपरशब्दकल्पना व्यर्थेत्युक्तम् ।

यच्चाप्युक्तम्—

जैन—यह कथन असत् है, भ्रान्त प्रतिभास द्वारा अभ्रान्त प्रतिभास में व्यभिचार देना अयुक्त है, शब्द में जो अल्प महत्व का ज्ञान होता है वह तो सत्य है, क्योंकि इस ज्ञान में बाधा नहीं आती, किन्तु मुख में होने वाला अल्पत्वादि का ज्ञान बाधा युक्त होने से भ्रान्त है । अन्य के भ्रान्त होने से अन्य कोई भ्रान्त नहीं बनता अन्यथा सकल शून्यता का प्रसंग होगा । स्वप्न ज्ञान भ्रान्त होने से सभी ज्ञानों को भ्रांत मानना होगा । प्रतिबिम्ब की बात कही सो उस विषय में खुलासा करते हैं—तलवार में प्रतिबिम्ब के दीर्घरूप होने से मुख ही दीर्घ रूप प्रतीत होवे ऐसा नहीं है तथा दर्पण में वर्तुल रूप एवं सफेद नीली काच में नील रूप प्रतीत होवे सो भी नहीं है किन्तु दर्पण आदि प्रतिबिम्बित हुआ मुख का जो आकार है वही दर्पणादि के वर्तुलादि धर्म का अनुकरण करता है । किन्तु शब्द के विषय में ऐसी बात नहीं है अर्थात् शब्द का आकार ध्वनि में या ध्वनि का आकार शब्द में प्रतिबिम्बित होकर उसके आकार का अनुकरण करता है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आप शब्द को अमूर्तिक मानते हैं अमूर्तिक का मूर्तिक ध्वनि में बिम्बित होना असंभव है । देखा जाता है कि मूर्तिक मुख आदि मूर्तिक दर्पणादि में प्रतिबिम्बित होते हैं किन्तु अमूर्त्त आत्मा आदि नहीं होते हैं । तथा मीमांसक ध्वनि को श्रोत्र ग्राह्य नहीं मानते हैं इसलिये शब्द में ध्वनि का आकार प्रतिबिम्बित होने पर भी श्रोत्र द्वारा ग्रहण होना अशक्य है अन्यथा अतिप्रसंग होगा, यदि ध्वनियों के आकार को श्रोत्र ग्राह्य मानते हैं तब तो शब्द को मानना ही व्यर्थ ठहरता है क्योंकि शब्द का सारा कार्य तो ध्वनियों ने किया ।

"यथा महत्यां खातायां मृदि व्योम्नि महत्त्वधीः ।
अल्पायामल्पधीरेवमत्यन्ताऽकृतके मतिः ॥
तेनात्रैवं परोपाधिः शब्दवृद्धौ मतिर्भ्रमः (मतिभ्रमः) ।
न च स्थूलत्वसूक्ष्मत्वे लक्ष्येते शब्दवर्त्तिनी ॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० २१७-२१८]

तदप्यसमीचीनम्; व्योम्नोऽतीन्द्रियत्वेन महत्त्वादिप्रत्ययविषयत्वायोगात् । तद्योगो चाल्पया खातयाऽवष्टब्धो व्योमप्रदेशोऽल्पो महत्या च महानिति नाऽनेनाऽनेकान्तः । निरवयवत्वे हि तस्याणुवद्व्यापित्वासम्भवः, अत्यन्ताकृतकत्वेन च क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोध इति वक्ष्यते । तथा शब्दस्यापि सावयवत्वाभ्युपगमे—

"पृथग् न चोपलभ्यन्ते वर्णस्यावयवाः क्वचित् ।
न च वर्णेष्वनुस्यूता दृश्यन्ते तन्तुवत्पटे ॥१॥

मीमांसक—जिस प्रकार मिट्टी की खदान में बड़ा भारी गड्ढा खोदने पर आकाश में महानपने की बुद्धि होती है (परवादी पोल को आकाश मानते हैं अतः किसी भी ठोस वस्तु को भीतर भीतर ही पोल करे तो उसमें आकाश है अन्यथा नहीं ऐसी इनकी कल्पना है, उसी के आधार पर दृष्टांत दे रहे हैं) और अल्प गड्ढे के खोदने पर अल्पपने की वृद्धि होती जब कि आकाश अत्यंत अकृतक है ॥१॥ इसी प्रकार शब्द में वृद्धि का भ्रम हो जाता है अर्थात् ध्वनियों की वृद्धि में शब्द वृद्ध हुआ और हानि में हीन हुए ऐसा ज्ञान हो जाया करता है, किन्तु शब्द में स्थूलत्व और सूक्ष्मत्व (वृद्धि हानि) नहीं होते हैं ।

जैन—यह मीमांसक का कथन असत्य है, आकाश अतीन्द्रिय है उसमें बड़ा छोटा ऐसा ज्ञान नहीं हो सकता है । जब वह अतीन्द्रिय ही है तब अल्प गड्ढे के खोदने से अल्प आकाश और महान गड्ढे के खोदने पर महान आकाश हुआ ऐसी कल्पना नहीं हो सकती और न इसके द्वारा अनैकान्तिक दोष आता है । तथा आप आकाश को निरवयवी मानते हैं निरवयत्व में अणु के समान व्यापकपना भी असंभव है तथा अत्यंत अकृतक ऐसे आकाश में क्रमशः और युगपत रूप से अर्थ क्रिया का होना भी असंभव है ऐसा आगे निश्चित करने वाले हैं । मीमांसक शब्द को सावयव मानते हैं तो उनके ग्रंथ का निम्नलिखित कथन विरुद्ध होता है कि—वर्ण के अवयव कहीं पर

तेषामनुपलब्धेश्च न जाता लिङ्गतो गतिः ।
नागमस्तत्परश्चास्मिन्नाऽदृश्ये चोपमा क्वचित् ।।२।।

न चास्यानुपपत्तिः स्याद्वर्णस्यावयवैर्विना ।
यथान्यावयवानां हि विनाप्यवयवान्तरैः ।।३।।

प्रत्यक्षेणावबुद्धश्च वर्णोऽवयववर्जितः ।
किन्न स्याद्वयोमवच्चात्र लिंगं तद्रहिता मतिः ।।४।।"

[मी० श्लो० स्फोटवा० श्लो० ११-१४]

इति वचो विरुद्धयेत ।

यत्पुनरुक्तम्–'व्यञ्जकध्वन्यधीनत्वात्तद्देशे स च गृह्यते' इत्यादि; तत्र कुतो ध्वनयः प्रतिपन्ना येन तदधीना शब्दश्रुतिः स्यात् ? प्रत्यक्षेण, अनुमानेन, अर्थापत्त्या वा ? प्रत्यक्षेण चेत्कि श्रोत्रेण, स्पर्शनेन वा ? न तावच्छ्रोत्रेण; तथा प्रतीत्यभावात् । न खलु शब्दवत्तत्र ध्वनयः प्रतिभासन्ते विप्रतिपत्त्यभाव-

---

पृथक् नहीं दिखते हैं, तथा वस्त्र में जैसे तंतु दिखायी देते हैं वैसे वर्ण में अवयव दिखाई नहीं देते हैं, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से वर्ण के अवयवों की सिद्धि नहीं होती ।।१।। अनुपलब्धि होने से अनुमान द्वारा भी वर्ण के अवयव सिद्ध नहीं होते हैं । आगम भी शब्द के अवयवों का प्रतिपादक नहीं है, तथा अदृश्य होने से उपमा द्वारा भी उसके अवयव सिद्ध नहीं होते ।।२।।

ऐसा भी नहीं है कि अवयवों के बिना वर्ण की व्यवस्था नहीं बनती हो, जैसे अवयवों में अन्य अवयवों की जरूरत नहीं पड़ती वैसे वर्ण में अवयव की जरूरत नहीं है जब प्रत्यक्ष से ही वर्ण अवयव रहित प्रतीत होता है तब उसे आकाश के समान अवयव रहित क्यों न माना जाय ? वर्ण अवयव रहित है क्योंकि वैसी प्रतीति होती है, इस प्रकार के हेतु से भी वर्ण अवयव रहित सिद्ध होते हैं ।।३।।४।। इत्यादि ।

मीमांसक ने कहा था कि शब्द व्यञ्जक ध्वनि के अधीन है, व्यञ्जक ध्वनि जहां होती है वहां वर्ण ग्रहण में आता है, इत्यादि । सो इस पर हम जैन का प्रश्न है कि व्यंजक ध्वनियों को किस प्रमाण से जाना है जिससे कि शब्द का सुनना उसके अधीन माना जाय, प्रत्यक्ष से अनुमान से अथवा अर्थापत्ति से ? प्रत्यक्ष से माने तो यह कौनसा प्रत्यक्ष है कर्णेन्द्रिय प्रत्यक्ष से कहो तो ठीक नहीं है क्योंकि उस तरह की

प्रसङ्गात्। तत्र ध्वनिप्रतिभासे चापरशब्दकल्पनावैयर्थ्यमित्युक्तम्। अथ स्पार्शनप्रत्यक्षेण ते प्रतीयन्ते-स्वकरपिहितवदनो हि वदन् स्वकरसंस्पर्शनेन तान्प्रतिपद्यते, वदतो मुखाग्रे स्थिततूलादेः प्रेरणोपलम्भानुमानेनेति; तदप्यसाम्प्रतम्; वायुवत्तात्वादिव्यापारानन्तरं कफांशानामप्युपलम्भेन शब्दाभिव्यञ्जकत्वप्रसङ्गात्। वक्तृवक्त्रप्रदेश एवैषां प्रक्षयेण श्रोतृश्रोत्रप्रदेशे गमनाभावान्न तत्; इत्यन्यत्रापि समानम्। न हि वायवोपि तत्र गच्छन्तः समुपलभ्यन्ते। शब्दप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या प्रतिपत्तिस्तूभयत्रसमाना। यथा च स्तिमितभाषिणो न कफांशोपलम्भस्तथा वायूपलम्भोपि नास्ति। स्तिमितस्य कल्पनमुभयत्र समानम्। तत्र प्रत्यक्षेणानुमानेन वा तत्प्रतिपत्तिः।

प्रतीति नहीं होती, जैसे कान में शब्द सुनाई देते हैं वैसे ध्वनियां सुनाई नहीं देती, यदि सुनाई देती तो विवाद ही नहीं रहता। दूसरी बात यह है कि यदि कान में ध्वनियां सुनाई देती हैं तो शब्द को मानना व्यर्थ है क्योंकि शब्द का कार्य ध्वनि द्वारा सम्पन्न हो जाता है इस विषय में पहले कह चुके हैं।

मीमांसक—ध्वनियां स्पर्शनज प्रत्यक्ष के द्वारा प्रतीत होती हैं, इसी का खुलासा करते हैं—अपने हाथ से मुख को ढककर बोलता हुआ पुरुष अपने हाथ के स्पर्श से उन ध्वनियों को जान लेता है, तथा अन्य पुरुष की ध्वनि को बोलने वाले के मुख के आगे स्थित कपासादि के हिलने से अनुमान द्वारा जान लिया जाता है ?

जैन—यह कथन असार है क्योंकि तालु आदि के व्यापार के अनंतर जिस प्रकार वायु उपलब्ध होती है उस प्रकार कफ के अंश भी उपलब्ध होते हैं अतः उन्हें भी शब्द के अभि व्यंजक कारण मानने का प्रसंग आता है मीमांसक—कफ के अंश बोलने वाले के मुख प्रदेश में नष्ट हो जाते हैं सुनने वाले के कान तक नहीं जाते अतः उनको शब्द के व्यंजक कारण नही मानते ?

जैन—वायु के विषय में भी यही बात है वह भी कान के प्रदेश में जाती हुई उपलब्ध नहीं होती है।

मीमांसक—व्यंजक वायु नहीं होती तो शब्द की प्रतीति नहीं हो सकती थी, इस प्रकार की अन्यथानुपपत्ति से उसकी सिद्धि होती है ?

जैन—यही अन्यथानुपपत्ति कफांश में भी हो सकती है। तथा जिस प्रकार स्तिमितभाषी (मुख को अल्प मात्रा में खोलकर धीमें स्वर में बोलने वाला) पुरुष के

अथार्थापत्त्या तेषां प्रतिपत्तिः; तथाहि-शब्दस्तावन्नित्यत्वान्नोत्पद्यते संस्कृतिरेव तु क्रियते। सा च विशिष्टा नोपपद्येत यदि ध्वनयो न स्युः। तदुक्तम्—

'शब्दोत्पत्तेर्निषिद्धत्वादन्यथानुपपत्तितः।
विशिष्टसंस्कृतेर्जन्म ध्वनिभ्यो व्यवसीयते ॥१॥
तद्भावभाविता चात्र शक्त्यस्तित्वावबोधिनी।
श्रोत्रशक्तिवदेवेष्टा बुद्धिस्तत्र हि संहृता ॥२॥
कुड्यादिप्रतिबन्धोपि युज्यते मातरिश्वनः।
श्रोत्रादेरभिघातोपि युज्यते तीव्रवर्त्तिना ॥३॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १२६-१२६]

कफांश उपलब्ध नहीं होते उसी प्रकार वायु भी उपलब्ध नहीं होती है। यदि कहा जाय कि वायु के रहते हुए भी स्तिमित भाषी होने के कारण वह उपलब्ध नहीं होता ऐसा मानना पड़ेगा। अतः प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा अथवा अनुमान प्रमाण द्वारा व्यंजक ध्वनियों की प्रतीति होना सिद्ध नहीं होता।

मीमांसक—अर्थापत्ति द्वारा ध्वनियों की प्रतीति होती है, इसका विवरण आगे करते हैं—नित्य होने से शब्द तो उत्पन्न किया नहीं जाता, हां उसकी संस्कृति (संस्कार) की जाती है, वह संस्कृति विशिष्ट होने के नाते यदि ध्वनियां न होवे तो उत्पन्न नहीं हो सकती, जैसा कि कहा है—शब्द की उत्पत्ति होना निषिद्ध हो चुका है अतः अर्थापत्ति प्रमाण द्वारा निश्चय होता है कि ध्वनियों से विशिष्ट संस्कृति की ही उत्पत्ति होती है ॥१॥ ध्वनियों के होने पर ही विशिष्ट संस्कृति का होना संभव है इस प्रकार की तद्भावभावित्व नामकी जो शक्ति है वही ध्वनियों के अस्तित्वका ज्ञान कराती है, श्रोत्रशक्ति के समान यह शक्ति भी स्वीकार करना इष्ट है, अर्थात् जिस तरह कर्ण में श्रवण शक्ति सिद्ध होती है उसी तरह ध्वनियों में संस्कारोत्पादक शक्ति सिद्ध होती है, क्योंकि इन उभय शक्तियों में शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान उसमें नियत है अर्थात् कर्ण में श्रवण शक्ति और ध्वनियों में संस्कारोत्पादक शक्ति इन दोनों के होने पर ही शब्द का प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है ॥२॥ भित्ति आदि से शब्द के व्यंजक वायु का प्रतिबंध होना भी संगत है अर्थात् शब्द अमूर्त होने से उसका भित्ति आदि से प्रतिबंध होना तो अशक्य है किन्तु तद् व्यंजक वायुका प्रतिबंध तो युक्ति संगत ही है, तथा तीव्र वायु से कर्णादिका अभिघात होना भी युक्ति पूर्ण है।

इति; तत्र केयं विशिष्टा संस्कृतिर्नाम-शब्दसंस्कारः, श्रोत्रसंस्कारः, उभयसंस्कारो, वा ? परैरा हि त्रेधा संस्कारोऽभ्युपगम्यते । स च –

"स्याच्छब्दस्य हि संस्कारादिन्द्रियस्योभयस्य वा ।"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ५२]

"स्थिरवाय्यपनीत्या च संस्कारोस्य भवन्भवेत् ।"
[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६२]

इत्यभिधानात् ।

तत्राद्ये पक्षे कोयं शब्दसंस्कारः-शब्दस्योपलब्धिः, तस्यात्मभूपः क्वचिदतिशयः, अनतिशय-व्यावृत्तिर्वा, स्वरूपपरिपोषो वा, व्यक्तिसमवायो वा, तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता वा, व्यंजकसन्निधानमात्रं

जैन— यह सब वर्णन तब ठीक हो सकता जब आपका यह विशिष्ट संस्कृति अर्थात् संस्कार सिद्ध हो, बताइये कि संस्कृति किसे कहते हैं। शब्द संस्कार को या कर्ण संस्कार को अथवा उभय संस्कार को ? क्योंकि आपके यहां शब्द के लिये ये तीन प्रकार के संस्कार माने जाते हैं जैसा कि कहा है कि—शब्द के संस्कार से या इंद्रियों के संस्कार से अथवा उभय के संस्कार से शब्द की अभिव्यक्ति होती है इत्यादि । शब्द का संस्कार स्थिर वायु की अपनीति से (स्थिर वायु के हट जाने से) होता है । इस प्रकार आपके यहां माना है । प्रथम पक्ष— शब्द के संस्कार को विशिष्ट संस्कृति कहते हैं ऐसा माने तो शब्द संस्कार का अर्थ क्या होता है शब्द की उपलब्धि होने को शब्द संस्कार कहते हैं अथवा उस शब्द का कहीं पर आत्मभूत अतिशय होने को, अनतिशयकी व्यावृत्ति होने को, स्वरूप के परिपोष होने को, व्यक्ति में समवाय होने को, व्यक्तिग्रहण की अपेक्षा से उसकी ग्रहणता होने को, व्यंजक का सन्निधान होने को अथवा आवरण का विगम होने को ? शब्द की उपलब्धि होने को शब्दसंस्कार कहते हैं तो यह ध्वनियों की गमक कैसे होगी, क्योंकि शब्दोपलब्धि तो केवल श्रोत्र से होती है, फिर उसमें अन्य निमित्त की कल्पना करे तो हेतुओं का कोई नियम ही नहीं रहेगा कि अमुक वस्तुका अमुक निमित्त है ।

शब्द का आत्मभूत कोई अतिशय होनेको शब्दसंस्कार कहते हैं अथवा अनतिशय व्यावृत्ति होने को शब्द संस्कार कहते हैं ऐसे दो पक्ष भी ठीक नहीं, आगे इसीको कहते हैं–अतिशय दृश्य स्वभाव वाला ही होता है और अनतिशय व्यावृत्ति

वा, आवरणविगमो वा स्यात् ? यदि शब्दोपलब्धिः; कथमसौ ध्वनीनां गमिका शब्दे श्रोत्रमात्रभावित्वात्तस्याः ? तथाप्यन्यनिमित्तकल्पने हेतूनामनवस्थितिः स्यात् ।

तस्यात्मभूतः कश्चिदतिशयोऽनतिशयव्यावृत्तिर्वा इत्यत्रापि अतिशयो दृश्यस्वभाव एव, अनतिशयव्यावृत्तिस्त्वदृश्यस्वभावखण्डनमेव । ते चेत्ततोऽन्ये; तत्करणेपि शब्दस्य न किञ्चित्कृतमिति तदवस्थाऽस्याऽश्रुतिः । अथाऽनन्ये; तदा शब्दस्यापि कार्यतया अनित्यत्वानुषंगः । यो हि यस्मादसमर्थस्वभावपरित्यागेन समर्थस्वभावं लभते स चेन्न तस्य जन्यः क्वेदानीं जन्यताव्यवहारः ? न च समर्थस्वभाव एव जन्यो न शब्दः इत्यभिधातव्यम्; तस्याऽतो विरुद्धधर्माध्यासतो भेदानुषंगात् । तत्र चोक्तो दोषः ।

श्रोत्रप्रदेशे एव चास्य संस्कारे तावन्मात्रक एव शब्दः, न सर्वगतः स्यात् । तस्यैवान्यत्र तद्विपर्ययेणावस्थाने दृश्याऽऽदृश्यत्वप्रसंगात् निरंशत्वव्याघातो विप्रतिपत्त्यभावश्चास्य परिणामित्व-

---

अदृश्य स्वभावका खंडन स्वरूप ही है, अब यदि ये दोनों प्रकार के शब्द संस्कारशब्द से अन्य हैं और इनको ध्वनियों द्वारा किया जाता है तो ध्वनियों ने शब्द का तो कुछ भी नहीं किया, अतः इस शब्द का अश्रवण पूर्ववत् रहेगा, अर्थात् उक्त संस्कारों के हो जाने पर भी चूंकि वे शब्द से पृथक हैं अतः शब्द अभिव्यक्त न होने के कारण सुनायी नहीं देगा । उक्त दोनों प्रकार के संस्कार शब्द से अभिन्न हैं ऐसा माने तो शब्द कार्य रूप सिद्ध होने से अनित्य बन जायगा । अर्थात् शब्द से अभिन्न ऐसा जो आत्मभूत अतिशय आदि है उसको ध्वनियों ने किया तो इसका मतलब शब्द को ही किया, जो किया गया है वह अनित्यरूप होता ही है । क्योंकि जो जिससे असमर्थ स्वभावका परित्याग करके समर्थ स्वभावको प्राप्त करता है वह स्पष्ट रूप से उसका कार्य है फिर भी उसको जन्य (अर्थात् कार्य) न माना जाय तो जन्यताका व्यवहार कहां माने ? समर्थ स्वभाव ही जन्य है शब्द नहीं ऐसा कहना भी अनुचित है, नित्य शब्द का समर्थ स्वभाव जन्य माने तो विरुद्ध धर्म युक्त होने से उसको शब्द से भिन्न मानना होगा और उस भिन्न पक्ष में वही उक्त दोष आयेगा, अर्थात् शब्दसे भिन्न रहने वाला समर्थ स्वभाव ध्वनियों से जन्य है तो ध्वनियों द्वारा शब्द का कुछ भी किया गया अतः वह अश्रवण रूप ही बना रहेगा ।

तथा यदि इस शब्द का संस्कार केवल श्रोत्र प्रदेश में ही होता है तो उतना मात्र ही शब्द है सर्वगत नहीं ऐसा निश्चय होता है । यदि कहा जाय कि श्रोत्र प्रदेश उपलब्ध होने वाला शब्द ही उस प्रदेशसे अन्य जगह विपर्ययरूप से अर्थात् अनुपलब्ध

प्रसिद्धेः। यदस्माभिः 'श्रावणस्वभावविनाशोत्पत्तिमत्पुद्गलद्रव्यम्' इत्यभिधीयते तद्युष्माभिः 'वर्णः' इत्याख्यायते। यौ च श्रावणस्वभावोत्पादविनाशौ शब्दोत्पादविनाशावस्माभिरिष्टौ तौ युष्माभिः शब्दाभिव्यक्तितिरोभावाविति नाम्नैव विवादो नार्थे। दृश्येतररूपता चैकस्य ब्रह्मवादं समर्थयते तद्वच्चेतनेतररूपतयाप्येकस्याऽवस्थित्यविरोधात्। घटादेरपि चैवं सर्वगतत्वानुषंगः-'सोपि हि दृष्टप्रदेशे दृश्योऽन्यत्र चादृश्यः' इति वदतो न वक्त्रं वक्रीभवेत्। सर्वत्र चास्य संस्कारे सर्वदोपलब्धिः स्यात्, न वा क्वचित्कदाचित् विशेषाभावात्।

स्वरूपपरिपोषः संस्कारोस्य; इत्यप्यऽचर्चिताभिधानम्; नित्यस्य स्वभावान्यथाकरणाऽसम्भवात्। करणे वा स्वभावातिशयपक्षभावी दोषोनुषज्यते।

रूप से मौजूद रहता ही है तो एक ही शब्द में दृश्यत्व और अदृश्यत्वका प्रसंग आने से उसको निरंश मानने का सिद्धांत गलत साबित होता है, तथा दृश्य और अदृश्य स्वभावका परिवर्तन मानने से शब्द में परिणामीपना भी सिद्ध होता है अतः जैन और मीमांसकका शब्दविषयक विवाद भी समाप्त होता है। क्योंकि जिसको हम कर्ण द्वारा सुनायी देना रूप स्वभाव वाला विनाश एवं उत्पत्तिमान पुद्गल द्रव्य नाम देते हैं उसी को आप 'वर्ण' इस नामसे कहते हैं। तथा जिसको हम श्रावण स्वभावका उत्पाद विनाश होना रूप शब्दका उत्पाद विनाश मानते हैं उसीको आप शब्दकी अभिव्यक्ति तिरोभाव कहते हैं, इस तरह केवल नाम में विवाद रहा न कि अर्थ में। दूसरी बात यह है कि यदि आप मीमांसक एक ही शब्द में दृश्यत्व और अदृश्यत्व मानते हैं तो इस मान्यतासे ब्रह्मवादका समर्थन हो जाता है, क्योंकि जिसप्रकार दृश्यत्व और अदृश्यत्वकी एकमें (शब्द में) अवस्थिति हो सकती है उस प्रकार चेतन और अचेतनकी भी एक में (ब्रह्म में) अवस्थिति होना अविरुद्ध होगा। केवल कर्ण प्रदेशमें उपलब्ध होते हुए भी शब्दको सर्वगत माना जाय तो घटादि पदार्थको भी सर्वगत मानने का प्रसंग आयेगा— उसके विषय में भी कह सकते हैं कि दृष्ट प्रदेश में घट दृश्य रहता है और अन्यत्र अदृश्य। ऐसा कहते हुए कोई मुख तो वक्र नहीं होता। केवल कर्ण प्रदेशमें शब्दका संस्कार न होकर सर्वत्र होता है ऐसा दूसरा विकल्प माने तो हमेशा शब्दकी उपलब्धि होगी क्वचित् कदाचित् नहीं, क्योंकि सर्वत्र शब्द संस्कार हो चुका है कोई भेद विशेष नहीं रहा।

स्वरूप का परिपोष होना शब्द संस्कार कहलाता है ऐसा चौथा विकल्प भी चर्चा योग्य नहीं, क्योंकि नित्यके स्वभावका अन्यथाकरण असंभव है अर्थात् जब शब्द

नापि व्यक्तिसमवायः; वर्णस्य व्यक्त्यऽसम्भवात्, अन्यथा सामान्यात्कोऽस्य विशेषः ? अत एव न तद्ग्रहणापेक्षग्रहणता ।

नापि व्यंजकसन्निधानमात्रम्; सर्वत्र सर्वदा सर्वप्रतिपत्तृभिः सर्ववर्णानां ग्रहणप्रसंगात् । ननु प्रतिनियतेन ध्वनिना प्रतिनियतो वर्णः संस्कृतः प्रतिनियतेनैव प्रतिपत्त्रा प्रतीयते तथैव सामर्थ्यात् : उक्तं च—

सर्वथा नित्य है तब ध्वनि द्वारा उसके स्वरूपका परिपोष होना रूप संस्कार कैसे संभव हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । यदि नित्य शब्द के स्वभावका अन्यथाकरण मानते हैं तो स्वभावातिशय के पक्ष में दिया गया दोष आता है ।

भावार्थ—व्यंजक ध्वनि द्वारा शब्द के स्वभावका परिपोष होना शब्द संस्कार कहलाता है ऐसा शब्द संस्कार का अर्थ करते हैं तो प्रथम तो नित्य शब्द में संस्कार होना ही अशक्य है, दूसरे स्वरूप या स्वभावका परिवर्त्तन होने रूप जो संस्कार है वह शब्दसे भिन्न है या अभिन्न है ऐसा प्रश्न होता है, यदि भिन्न है तो ध्वनिने शब्द का कुछ भी नहीं किया, शब्द तो जैसा पहले अश्रवण (सुनाई नहीं देना) रूप था वैसा ही रहा ? उक्त संस्कार शब्द से अभिन्न है तो ध्वनि ने शब्दको किया ऐसा सिद्ध होता है इससे शब्द अनित्यरूप ठहरता है, इस तरह स्वरूपपरिपोषको शब्द संस्कार कहते हैं ऐसा चौथा विकल्प असत् हो जाता है ।

व्यक्ति में (क, ग, ख आदि में) समवाय होने को शब्द संस्कार कहते हैं ऐसा पंचम विकल्प भी अनुचित है, वर्णकी (शब्द की) व्यक्ति असंभव है यदि शब्द में व्यक्ति अर्थात् विशेष संभव है तो सामान्य से इसमें क्या विशेषता है कि शब्द में व्यक्ति तो मान ली जाय और सामान्य न माना जाय ? अतः व्यक्ति में समवाय होने को शब्द संस्कार कहते हैं ऐसा पक्ष गलत है । व्यक्ति ग्रहण की अपेक्षा से शब्दग्रहणता का होना शब्द संस्कार है ऐसा छठवां विकल्प भी पूर्ववत् असत् है ?

व्यञ्जक का सन्निधान होने मात्र को शब्द संस्कार कहते हैं ऐसा सातवां विकल्प भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यंजक के सन्निधान को शब्द संस्कार मानेंगे तो सर्वत्र सर्वदा सभी प्रतिपत्ता को सर्ववर्णों का ग्रहण हो जाने का प्रसंग प्राप्त होता है ।

"विषयस्यापि संस्कारे तेनैकस्यैव संस्कृतिः ।
नरैः सामर्थ्यभेदाच्च न सर्वैरवगम्यते ॥१॥
यथैवोत्पद्यमानोयं न सर्वैरवगम्यते ।
दिग्देशाद्यविभागेन सर्वान्प्रति भवन्नपि ॥२॥
तथैव यत्समीपस्थैर्नादैः स्याद्यस्य संस्कृतिः ।
तैरेव श्रूयते शब्दो न दूरस्थैः कथञ्चन ॥३॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८३-८६] इति ।

तदप्यपेशलम्; तेषां तदुपलम्भाऽसामर्थ्ये सर्वदाऽनुपलम्भप्रसंगाद्‌बधिरवत् । यदा तत्समीपस्थैर्व्यञ्जकैर्व्यज्यतेऽसौ तदा तैरेवोपलम्यते इत्यप्यसुन्दरम्; यतस्तेषां व्यंजकैः किं क्रियते येन ते तैर्निय-

---

मीमांसक—प्रतिनियत ध्वनि द्वारा प्रनिनियत वर्ण संस्कृत (संस्कारित) किया जाता है एवं प्रतिनियत पुरुष से ही उसकी प्रतीति होती है, क्योंकि वैसी ही सामर्थ्य देखी जाती है । कहा भी है—विषय का संस्कार माने तो उस संस्कार में भी उक्त ध्वनि द्वारा एक का ही संस्कार किया जाता है, तथा प्रतिपत्ता पुरुषों में सामर्थ्य भेद होने से भी सभी पुरुषों द्वारा सब वर्ण ग्रहण में नहीं आते ॥१॥ शब्द संस्कार रूप से उत्पद्यमान यह शब्द जिस प्रकार दिशा और देश आदिके अविभाग से सबके प्रति होता हुआ भी सबके द्वारा ज्ञात नहीं होता, उसी प्रकार जिस पुरुष के समीपवर्त्ती ध्वनि द्वारा जिस शब्दका संस्कार हुआ है उन्हीं पुरुषों से वही शब्द सुनायी देता है, दूरस्थ पुरुषों द्वारा किसी प्रकार भी सुनायी नहीं देता ॥२॥३॥

जैन—उपर्युक्त सारा कथन अयुक्त है, क्योंकि पुरुषों में शब्द ग्रहण की सामर्थ्य नहीं मानी तो उनको शब्दका सर्वदा अनुलंभ ही रहेगा जैसा बधिर पुरुषोंको रहता है ।

शंका—जब उस पुरुष के समीपस्थ व्यंजक ध्वनि द्वारा वह शब्द अभिव्यक्त होता है तब उसी पुरुष द्वारा वह उपलब्ध किया जाता है अतः सर्वदा अनुपलंभ होने का प्रसंग नहीं आता ?

समाधान—यह कथन असुन्दर है, व्यंजक ध्वनि द्वारा उनका क्या किया जाता है कि जिसके कारण वे नियम से उन व्यंजकों की अपेक्षा करते हैं ? क्योंकि

मेनापेक्षन्तेऽकिञ्चित्करेऽपेक्षाऽसम्भवात्? तद्ग्रहणे योग्यतेति चेत्; किमात्मनः, शब्दस्य, इन्द्रियस्य वा ? आद्यविकल्पद्वये सर्वदोपलम्भोऽनुपलम्भो वा स्यात्। इन्द्रियसंस्कारस्तु निराकरिष्यते।

यदप्युक्तम्—यथैवोत्पद्यमानोऽयमित्यादि; तदप्यसंगतम्; न हि दिगाद्यपेक्षयाऽस्माभिस्तद्ग्रहणमिष्यतेऽपि तु श्रवणान्तर्गतत्वेन। अतो यस्यैव श्रवणान्तर्गतो यः शब्दः स तेनैव गृह्यते। सर्वगतवर्णपक्षे तु नायं परिहारो निखिलवर्णानां सकलप्रतिपत्तृश्रवणान्तर्गतत्वेन तथैवोपलम्भप्रसंगात्।

आवरणविगमः शब्दसंस्कारः; इत्यप्यसत्यम्; यतः प्रमाणान्तरेण शब्दसद्भावे सिद्धे तस्यावरणं सिद्धयेत् स्पार्शनप्रत्यक्षप्रतिपन्ने घटेऽन्धकारादिवत्। न चासौ सिद्धः। तत्कथमस्यावरणम्?

कुछ किये बिना तो उनकी अपेक्षा होना अशक्य है। यदि कहा जाय कि शब्द ग्रहण की योग्यता लाना व्यंजक ध्वनि का कार्य है तो वह योग्यता आत्मा की है या शब्द की अथवा इन्द्रिय की ? प्रथम के दो पक्ष माने तो या तो शब्दों का सर्वदा उपलंभ ही होगा या सर्वदा अनुपलंभ ही होगा। व्यंजक द्वारा इन्द्रिय में शब्द ग्रहण की योग्यता लायी जाती है ऐसा इन्द्रिय संस्कार का पक्ष तो आगे निराकृत होने वाला ही है।

"जैसे उत्पद्यमान यह शब्द सबके द्वारा सुनायी नहीं देता" इत्यादि पूर्वोक्त कथन भी असंगत है, क्योंकि हम जैन दिशादि की अपेक्षा से शब्द का ग्रहण होना नहीं मानते अपितु कर्ण के अंतर्गत होने की अपेक्षा से मानते हैं। प्रसिद्ध ही है कि जिस पुरुष के कर्ण के अंतर्गत जो शब्द होता है वह उसी के द्वारा ग्रहण होता है। किन्तु आपके वर्ण को सर्वगत मानने के पक्ष में उक्त रीत्या अति प्रसंग का परिहार नहीं हो सकता, आपके यहां तो सभी वर्ण सभी प्रतिपत्ता पुरुषों के कर्णान्तर्गत होने से सर्वदा उपलब्ध होने का प्रसंग अवश्य आता है।

आवरण का विगम हो जाना शब्द संस्कार है ऐसा आठवां विकल्प भी असत्य है, क्योंकि किसी प्रमाणांतर से शब्द का सद्भाव सिद्ध होवे तो उसका आवरण सिद्ध हो सकता है जैसे कि स्पर्शनेन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष से घटके ज्ञात होने पर उसमें अंधकार आदि का आवरण आना सिद्ध होता है। किन्तु शब्द अभी तक सिद्ध नहीं हो पाया है अतः उसका आवरण किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ? तथा आपने शब्द को नित्य माना है, नित्य पदार्थ अनाधेय और अप्रहेय (आरोप आदि के अयोग्य) होता है अतः उसके लिये आवरण का विगम होना भी अकिंचित्कर (व्यर्थ) है किन्तु किसीका आवरण अकिंचित्कर नहीं होता अन्यथा अति प्रसंग होगा।

नित्यस्याऽस्याऽनाधेयाऽप्रहेयाऽतिशयात्मतयाऽस्याकिंचित्करत्वाच्च । न चाऽकिंचित्कर. कस्यचिदावरण-मतिप्रसंगात् । उपलब्धिप्रतिबन्धकारणात्तच्चेत्; न; तज्जननैकस्वभावस्य तदयोगात् । न हि कारणाऽक्षये कार्यक्षयो युक्तस्तस्याऽतत्कार्यत्वप्रसंगात् । कथमेवं कुड्यादयो घटादीनामावारका इति चेत्; तज्जनकस्वभावखण्डनात् । कथमन्यस्योपलब्धि जनयन्तीति चेत् ? तं प्रति तत्स्वभावत्वात् । कथमेकस्योभयरूपता ? इत्यप्यचोद्यम्; तथा दृष्टत्वात् । शब्दस्यापि स्वभावखण्डनेऽनित्यतेत्युक्तम् ।

सर्वगतत्वे चास्याव्रियमाणत्वायोगः । आवार्या हि येनाव्रियते तदावारकम्, यथा पटो घटस्य । शब्दस्त्वावारकमध्ये तद्देशे तत्पार्श्वे च सर्वत्र विद्यमानत्वात्कथं केनचिदाव्रियेत ? प्रत्युत स एवावारकः

शंका—शब्द का आवरण अकिंचित्कर नहीं होगा क्योंकि वह शब्द के उपलब्धि का प्रतिबंध करना रूप कार्य करता है ?

समाधान—ऐसा नही हो सकता, उसके जनन रूप एक स्वभाव का उसमें अयोग है । कारण के रहते हुए कार्य का क्षय होना तो युक्त नहीं अन्यथा वह उसका कार्य ही नहीं कहलायेगा ।

शंका—आवरण को इस तरह का माना जाय तो घटादि पदार्थों के भित्ति आदिक आवारक किस प्रकार कहे जाते हैं ?

समाधान—घटादि में उपलब्धि को उत्पन्न करने का जो स्वभाव है उस स्वभाव का भित्ति आदिक खंडन करते हैं अर्थात् घटादि की उपलब्धि नहीं होने देते अतः वे उनके आवारक कहलाते हैं ।

शंका—यदि ऐसा है तो भित्ति के इस तरफ स्थित अन्य पुरुषको वे घटादिक उपलब्धि को कैसे उत्पन्न कर देते हैं ?

समाधान—उसके प्रति उपलब्धि स्वभाव मौजूद है, उसका खंडन नहीं हुआ है । यदि कहा जाय कि एक ही घट में किसी के प्रति तो उपलब्धि स्वभाव और किसी के प्रति अनुपलब्धि स्वभाव ऐसी उभयरूपता कैसे हो सकती है ? सो यह प्रश्न भी व्यर्थ का है, क्योंकि ऐसा देखा ही जाता है । घट के समान शब्द के स्वभाव का खंडन होना स्वीकार करेंगे तो उसको अनित्य मानना होगा । इस विषय में पहले से ही कहते आ रहे कि स्वभाव का परिवर्त्तन, स्वरूप का परिपोष, स्वभाव का खंडन आदि जिसमें संभव है वह पदार्थ अनित्य कहलाता है ।

स्यात्। तद्वत्तदावारकमपि सर्वगतमिति चेत्; न तर्ह्यावारकम्। न ह्याकाशमात्मादीनामावारकम्। मूर्त्तत्वात्तदिति चेत्; न तर्हि सर्वगतं घटादिवत्।

अथ यावद्व्योमव्यापिनो बहव एवास्यावारकाः ते; किं सान्तराः, निरन्तरा वा ? यदि सांतराः; न तर्हि तस्यावरणम्, तन्मध्ये तद्देशे तत्पार्श्वे च विद्यमानत्वात्। अथ स्वमाहात्म्यात्तथापि स्वदेशे तदावारकाः; तर्ह्यन्तराले तदुपलम्भप्रसंगः। तथा च सान्तरा प्रतिपत्तिः प्रतिवर्णं खण्डशः प्रतिपत्तिश्च

मीमांसक शब्द को सर्वगत मानते हैं, सर्वगत रूप इस शब्द में आव्रियमाणत्वका (ढकने योग्य होने का) अयोग ही रहेगा। इसी का आगे खुलासा करते हैं—आवार्य (आवरण करने योग्य) पदार्थ जिसके द्वारा आवृत किये जाते हैं उसे आवारक कहते हैं, जैसे वस्त्र घट का आवारक है। किन्तु शब्द में यह सब घटित नहीं होता, क्योंकि शब्द तो आवारक के मध्यमें उसके देशमें उसके पासमें सर्वत्र ही विद्यमान रहने से वह किस प्रकार आवृत किया जा सकता है ? बल्कि शब्द ही उस आवारक का आवारक बन बैठेगा।

मीमांसक—शब्द के समान शब्द का आवारक भी सर्वगत है ?

समाधान—तो फिर उसे आवारक ही नहीं कहेंगे, क्योंकि सर्वगत रूप पदार्थ आवारक हो और वह सर्वगत पदार्थ को आवृत करे ऐसा देखा नहीं जाता जैसे सर्वगत आकाश सर्वगत आत्मा को आवृत नहीं करता।

मीमांसक—आकाश अमूर्त्त है अतः आवारक नहीं किन्तु यह शब्द का आवारक मूर्त्त है अतः उसको आवृत कर सकता है ?

जैन—तो फिर उसे सर्वगत नहीं मान सकते जैसे घटादि मूर्त्त होने से सर्वगत नहीं कहलाते।

मीमांसक—आकाश तक व्यापक ऐसे बहुत से आवारक मानेंगे ?

जैन—ठीक है, किन्तु वे सांतर हैं कि निरंतर ? यदि सांतर हैं तो शब्द का आवरण नहीं कर सकते, क्योंकि आवारक के मध्य में, देश में एवं उसके पास सर्वत्र ही शब्द विद्यमान है।

मीमांसक—शब्द के सर्वत्र विद्यमान रहते हुए भी वे आवारक अपने माहात्म्य से अपने स्थान पर शब्दों को आवृत करते हैं।

स्यात् । सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मना विद्यमानत्वान्न दोषश्चेत्; नैवम्; प्रतिप्रदेशमकारादिबहुत्वस्य ध्वन्यादिवैफल्यस्य चानुषंगात्, तदभावेप्यन्तराले उपलम्भसम्भवात् । अथान्तरालेऽसन्तोप्यावारकाः; तर्ह्येकमेवावारकं प्रदेशनियतं कल्पनीयं किं तद्बहुत्वेन ? अन्यत्राविद्यमानं कथमावारकमिति चेत् ? अंतरालवदिति ब्रूमः । तन्नसान्तराः । निरन्तरत्वे चैषाम् तद्वच्छब्दस्यापि निरन्तरत्वादावार्यावारकभावः समान एवोभयत्र । अथ वस्तुस्वाभाव्यात् स्तिमिता वायव एव तदावारकाः; ननु दृष्टे वस्तुन्येतद्वक्तु

जैन—तो फिर आवारक रहित बीच के स्थान में शब्द की उपलब्धि होने का प्रसंग आयेगा, और इस तरह होने पर शब्दों की प्रतीति सांतर होने लगेगी एवं प्रत्येक वर्ण की खंड खंड रूपसे प्रतीति होने लगेगी ।

मीमांसक—शब्द सर्वत्र सर्वदा सर्वात्म रूपसे विद्यमान रहने से खंडशः प्रतीति होने का प्रसंग नहीं आयेगा ।

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि इस तरह मान लेने पर प्रत्येक प्रदेश में बहुत से अकार, इकार आदि है ऐसा मानना होगा एवं उनकी अभिव्यंजक ध्वनियां भी व्यर्थ हो जायेंगी, क्योंकि ध्वनियों के नहीं होने पर भी आवारक के अंतराल में शब्द की उपलब्धि होना शक्य है ।

मीमांसक—यद्यपि अंतराल में [शब्द और आवारक के बीच में] आवारक नहीं हैं तो भी वे शब्दों को आवृत करते हैं ?

जैन—तो फिर प्रदेश में नियत कोई एक ही आवारक मानना चाहिये ? बहुत से आवारक मानने में क्या लाभ है ।

मीमांसक—अन्य प्रदेश में आवारक नहीं रहेगा तो वह शब्द को आवृत कैसे करेगा ?

जैन—जैसे अंतराल में नहीं रहते हुए भी आवारक शब्द को आवृत करता है वैसे अन्य प्रदेश में नहीं रहते हुए उसको आवृत कर सकते हैं कोई विशेषता नहीं है । इस प्रकार आवारकों को सांतर मानने के पक्ष में दोष आते हैं । दूसरा निरंतर का पक्ष माने तो शब्दके समान आवारक भी निरंतर होने से इनमें आवार्य–आवारक समान रूप से लागू होगा अर्थात् आवारक शब्द को आवृत कर सकते हैं तो शब्द भी आवारक को आवृत कर सकेंगे ।

शक्यम्, यथा दृष्टेऽग्नौ दाहकत्वेन 'वस्तुस्वाभाव्यादग्निर्दहति न जलम्' इत्युच्यते। न च तथाविधा वायवो दृष्टाः। नापि सन् शब्दस्तैराव्रियमाणो येनैवं स्यात्। अदृष्टकल्पनमुभयत्र समानम्। तन्न किंचित्स्यावारकम्।

अस्तु वा तत्, तथाप्यस्य कुतो विगमः ? ध्वनिभ्यश्चेत्; न; तत्सद्भावावेदकप्रमाणप्रतिषेधतस्तेषामसत्त्वात्। सत्त्वे वा कुतस्तेषामुत्पत्तिः ? ताल्वादिव्यापाराच्चेत्; न; तद्वच्छब्दस्यापि तद्व्यापारे सत्युपलम्भतस्तत्कार्यतानुषंगात्। ननु खननाद्यनन्तरं व्योमोपलभ्यते, न च तत्कार्यमतोऽनैकान्तिकत्वम्। तदुक्तम्—

मीमांसक—वस्तु स्वभावही ऐसा है कि स्तिमित वायु रूप आवारक ही शब्द को आवृत कर सकते हैं, शब्द उनको आवृत नहीं कर सकते ?

जैन–दृष्ट (प्रत्यक्ष) वस्तु में इस तरह कह सकते हैं, जैसे कि अग्नि में दाहक गुण देखकर कहते हैं कि अग्नि वस्तु स्वभाव के कारण ही जलाती है, जल नहीं जला सकता इत्यादि। किन्तु अग्नि के समान स्तिमित वायु तो दृष्टिगोचर नहीं है, न शब्द ही उनके द्वारा आवृत होता हुआ दृष्टिगोचर होता है जिससे कि वैसा मान लेवे। यदि अदृष्ट बिना देखे ही वैसी कल्पना करनी है तो दोनों प्रकार से कर सकते हैं अर्थात् शब्द को वायु आवृत करती है तो शब्द वायु को क्यों नहीं आवृत करता ? इसलिये उस शब्द की कोई आवारक रूप वस्तु सिद्ध नहीं होती।

जैसे तैसे मान लेवे कि शब्द का आवारक है तो भी उस आवारक का विगम (हटाना, नष्ट होना) किनसे होगा ? ध्वनि से होगा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि ध्वनियों के सद्भाव को सिद्ध करने वाले प्रमाण का निषेध हो चुका है अतः उनका अभाव ही है। यदि हटाग्रहसे अस्तित्व मान भी लेवे तो उनकी उत्पत्ति किससे होगी ? तालु, ओठ आदि के व्यापार से ध्वनियों की उत्पत्ति होती है ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि यदि तालु आदि के व्यापार से ध्वनि की उत्पत्ति होती है तो उसी व्यापार से शब्द की उत्पत्ति भी संभव है, उस व्यापार के होने पर शब्द की उपलब्धि भी पायी जाती है अतः शब्द उसी का कार्य है।

मीमांसक—पृथ्वी खोदकर पोल होती है उसमें आकाश (मीमांसक आदि परवादियों ने ठोस जगह में आकाश को आवृत माना है) उत्पन्न हुआ ऐसा कहा जाता है किन्तु वह खनन क्रिया का कार्य नहीं कहलाता, अतः जैन ने अभी जो कहाकि

"अनैकान्तिकता तावद्धेतूनामिह कथ्यते।
प्रयत्नानन्तरं दृष्टिर्नित्येपि न विरुद्धयते ॥१॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १६]

"आकाशमपि नित्यं सद्यदा भूमिजलावृतम्।
व्यज्यते तदपोहेन खननोत्सेचनादिभिः ॥२॥

प्रयत्नानन्तरं ज्ञानं तदा तत्रापि दृश्यते।
तेनानैकान्तिको हेतुर्यदुक्तं तत्र दर्शनम् ॥३॥

अथ स्थगितमप्येतदस्त्येवेत्यनुमीयते।
शब्दोपि प्रत्यभिज्ञानात्प्रागस्तीत्यवगम्यताम् ॥४॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ३०-३३]

तालु आदि के व्यापार के अनंतर शब्द उपलब्ध होने से उसका कार्य है। सो यह कथन अनैकान्तिक होता है क्योंकि उसके अनंतर उपलब्ध होने मात्र से कोई उसका कार्य नहीं बन जाता। जैसा कि कहा है–पक्ष विपक्ष दोनोंमें हेतुके जाने से अनेकांतिक दोष आता है किन्तु यहां शब्द के विषय में दूसरी बात है अर्थात् "शब्द नित्य है क्योंकि वह अकृतक है" ऐसा हमारा अनुमान प्रमाण है, सो उसमें तालु आदि के व्यापार के अनंतर शब्द के उपलब्ध होने से शब्द उसका कार्य रूप सिद्ध होने से अनित्य के कोटी में आ जाता है ऐसा अकृतकत्व हेतु में अनैकांतिकपना उपस्थित करना ठीक नहीं, क्योंकि नित्य वस्तु भी प्रयत्न के (व्यापार के) अनंतर उपलब्ध हो सकती है कोई विरोध नहीं है ॥ १ ॥ इसी का स्पष्टीकरण करते हैं–आकाश भी नित्य होता है किन्तु भूमि जल आदि से आवृत होने पर उसके आवरण को खनन उत्सेचन (खोदना पानी को निकाल देना) आदि क्रिया द्वारा हटाने पर वह आकाश उपलब्ध (प्रगट) होता है। उससमय उस नित्य आकाश में भी "प्रयत्न के अनंतर हुआ" ऐसा ज्ञान हो जाया करता है। अतः उपर्युक्त शब्द के अकृतकत्व हेतु को अनैकांतिक कहना असत् है ॥२॥३॥ अथवा इस अकृतक हेतु वाले अनुमान को थोड़ी देर के लिये स्थगित कर दीजिये, तो भी अन्य अनुमान से भी शब्द की नित्यता सिद्ध होती है। वह इस प्रकार है–शब्द नित्य है क्योंकि प्रत्यभिज्ञान से उसका अस्तित्व तालुव्यापार के पूर्व में भी सिद्ध होता है ॥४॥ इत्यादि।

तदप्यसंगतम्; ध्वनीनामप्येवं ताल्वादिव्यापारकार्यत्वाभावप्रसंगात् । एकरूपता चाकाशस्याप्यसिद्धा; स्वविज्ञानजननैकस्वभावत्वे हि तस्य न खननाद्यनन्तरमेवोपलब्धिः किन्तु पूर्वमपि स्यात् । तदस्वभावत्वे वा न कदाचनाप्युपलब्धिः स्याद्विशेषाभावात् । विशेषे वा एकरूपताव्याघातः । प्रत्यभिज्ञानाच्छब्दे प्राक् सत्त्वसिद्धिश्च ध्वनावपि समाना 'य एव पूर्वमकारस्य व्यंजको ध्वनिः स एव पश्चादपि' इति प्रतीतेः । तथा च व्यंजनस्यापि सर्वत्र सर्वदा सद्भावे ताल्वादिव्यापारवैफल्यं सर्वत्र सर्वदा व्यंग्यप्रतीतिश्च स्यात् । तन्न ताल्वादिव्यापारकार्यता ध्वनीनामेव । अतः कथं तेषां सत्त्वमुत्पादकाभावात् ?

सन्तु वा ते, तथाप्यतः क्वचिदावरणविगमे विवक्षितवर्णवन्निखिलवर्णोपलब्धिप्रसंगः; व्यापकत्वेन सर्वेषां तत्र सद्भावात्, तथा च ध्वन्यन्तरस्य वैफल्यम् । ननु चावार्याणामिवावारकाणां तद्वच्च तदपनेतॄणां भेदस्तेनायमदोषः । उक्तञ्च—

जैन—यह सारा कथन असंगत है, इस तरह शब्द को तालु आदिका कार्य न माना जाय तो ध्वनियों को भी तालु आदि के व्यापार का कार्य नहीं माना जायगा । तथा आपके उपर्युक्त कथन से आकाश की एक रूपता भी असिद्ध हो जाती है, क्योंकि यदि आकाश में अपने ज्ञानको उत्पन्न करने का एक स्वभाव है तो खनन के अनंतर ही उसकी उपलब्धि नहीं होगी अपितु पहले भी होगी, अथवा यदि उक्त स्वभाव आकाश में नहीं है तो "यह आकाश है" इस तरह कभी भी उसकी उपलब्धि नहीं हो पायेगी क्योंकि उस नित्य एक स्वभाव वाले आकाश में कोई भेद विशेष नहीं है । यदि आकाश में विशेष है तो उसको एक रूप मानने का सिद्धांत खंडित हो जाता है । आपने प्रत्यभिज्ञान द्वारा तालु आदिके व्यापार के पूर्व में शब्दका अस्तित्व करना चाहा सो यह न्याय ध्वनि में भी घटित हो सकता है, क्योंकि अकार वर्ण की व्यंजक ध्वनि जो पूर्व में थी वही पश्चात् भी है ऐसा प्रतीत (प्रत्यभिज्ञान) होता ही है । इसप्रकार व्यञ्जक ध्वनिका सर्वत्र सर्वदा सद्भाव होने पर उनके लिये किया गया तालु आदिका व्यापार व्यर्थ ही ठहरता है एवं ध्वनि द्वारा व्यक्त होने वाले शब्दरूप व्यंग्यकी प्रतीति भी सर्वत्र सर्वदा होनेका प्रसंग आता है । अतः तालु आदि के व्यापार का कार्य ध्वनियां ही है ऐसा कथन असिद्ध होता है, और जब उनका कोई उत्पादक कारण सिद्ध नहीं होता तब अस्तित्व भी किस प्रकार सिद्ध हो सकता है ?

यदि मान लिया जाय कि ध्वनियों का सद्भाव है और उनके द्वारा शब्द के आवरण का निगम होता है तो भी कहीं एक जगह आवरण का विगम होने पर विवक्षित

"व्यंजकानां हि वायूनां भिन्नावयवदेशता।
जातिभेदश्च तेनैवं संस्कारो व्यवतिष्ठते ॥१॥
अन्यार्थं प्रेरितो वायुर्यथान्यं न करोति वः।
तथान्यवर्णसंस्कारशक्तो नान्यं करिष्यति ॥२॥
अन्यैस्ताल्वादिसयोगैर्वर्णो नान्यो यथैव हि।
तथा ध्वन्यन्तराक्षेपो न ध्वन्यन्तरसारिभिः ॥३॥
तस्मादुत्पत्त्यभिव्यक्त्योः कार्यार्थापत्तितः समः।
सामर्थ्यभेदः सर्वत्र स्यात्प्रयत्नविवक्षयोः ॥४॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ७९-८२]

एक वर्ण के समान निखिल वर्णोकी उपलब्धि होनेका प्रसंग आता है, क्योंकि व्यापक होने के कारण निखिल वर्णों का वहां पर (जहां आवरण विगम हुआ है) सद्भाव है, और इस तरह सब वर्णोकी उपलब्धि हो जाने पर अन्य ध्वनियां व्यर्थ ठहरती है।

मीमांसक—आवार्य शब्दों के समान आवारक (स्तिमित वायु) एवं आवारक का विगम करने वाली ध्वनियां इनमें भेद पाया जाता है अतः उपर्युक्त दोष नहीं आता। कहा भी है—व्यंजक वायुओं के भिन्न भिन्न अवयव देश होते हैं। तथा जाति भेद भी होते हैं अतः वर्णोका इस प्रकार का संस्कार सिद्ध होता है ॥१॥ शब्दों की उत्पत्ति मानने वाले आप जैनों के यहां जिस प्रकार अन्य अर्थके लिये (अन्य शब्दके लिये) प्रेरित हुई वायु किसी अन्यको नहीं करती अर्थात् तालु आदि के व्यापार रूप वायु प्रतिनियत चकार इकार आदिको करती है अन्य टकार ऋकार आदिको नहीं उसी प्रकार उक्त वायु द्वारा शब्दोंका संस्कार होना मानने वाले हम मीमांसक के यहां अन्य वर्ण के संस्कार करने में शक्ति रखने वाली वायु किसी अन्य वर्ण के संस्कार को नहीं करती ऐसा सिद्ध होगा ही ॥२॥ तथा जिस प्रकार अन्य तालु आदिके संयोग से अन्य वर्ण नहीं किया जाता ऐसा आप जैन मानते हैं उसी प्रकार अन्य ध्वनि द्वारा होने वाला शब्द संस्कार अन्य कोई ध्वनियों द्वारा नहीं किया जाता ऐसा हम मीमांसक मानते हैं ॥३॥ इसलिये उत्पत्ति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष इनमें कार्य की अर्थापत्ति समान ही दिखायी देती है। अर्थात् जैन उत्पत्तिरूप कार्य की अर्थापत्तिसे शब्द की सिद्धि करते हैं और मीमांसक अभिव्यक्तिरूप कार्य की अर्थापत्ति से उसकी सिद्धि करते

तदप्यसमीक्षिताभिधानम्, अभिन्नदेशेऽभिन्नेन्द्रियग्राह्ये चावार्ये आवरणभेदस्याभिव्यंजकभेदस्य चाऽप्रतीतेः। न खलु घटशरावोदञ्चनादीनां तथाविधानामावरणव्यंजकभेदो दृष्टः, काण्डपटादेरेकस्यैवावरणत्वस्य प्रदीपादेश्चैकस्यैवाभिव्यंजकत्वस्य प्रसिद्धेः। तथा च प्रयोग:-शब्दाः प्रतिनियतावरणावार्याः प्रतिनियतव्यंजकव्यंग्या वा न भवन्ति, समानदेशैकेन्द्रियग्राह्यत्वाद्, घटादिवत्। न

है। सामर्थ्य भेद तो सर्वत्र ही है, चाहे प्रयत्न के अनंतर शब्दका उत्पन्न होना रूप पक्ष ग्रहण करे चाहे विवक्षा के अनंतर शब्दका अभिव्यक्त होना रूप पक्ष ग्रहण करे सामर्थ्य का भेद तो इष्ट ही है। अर्थात् प्रयत्न के अनंतर शब्द उत्पन्न होते हुए भी हर कोई प्रयत्न से (तालु आदि के व्यापार से) हर कोई शब्द उत्पन्न नहीं होता क्योंकि प्रयत्न में पृथक् पृथक् सामर्थ्य होती है ऐसा जैन कहते हैं और व्यंजक ध्वनिसे शब्दका संस्कार होकर शब्द व्यक्त होता है तो भी हर कोई ध्वनि से हर कोई शब्द संस्कार नहीं होता क्योंकि ध्वनि आदि में पृथक् पृथक् सामर्थ्य होती है ऐसा मीमांसक मानते हैं ॥४॥ इत्यादि

जैन—यह प्रतिपादन बिना सोचे किया गया है, क्योंकि अभिन्न देश में होने वाले एवं अभिन्न इन्द्रिय (कर्णेन्द्रिय द्वारा) ग्राह्य होने वाले आवार्य में (शब्द में) आवरण का भेद और अभिव्यंजक का भेद प्रतीत नहीं होता। क्योंकि उक्त प्रकार के घट, शराव, उदंचन (पानी सींचने का पात्र विशेष) आदि के आवरण एवं व्यंजक में भेद नहीं देखा जाता है अपितु एक ही वस्त्र आदि रूप आवरण देखा जाता है तथा दीपकादि एक ही व्यंजक देखा जाता है अर्थात् आवार्य रूप घटादि का आवरण एक वस्त्रादि से हो जाता है उनके लिये प्रत्येक में पृथक आवरण की जरूरत नहीं पड़ती, तथा एक ही दीपक रूप व्यंजक उन घटादि की अभिव्यक्ति कर देता है उनके लिये प्रत्येक में पृथक् पृथक् दीपक की जरूरत नहीं पड़ती। अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि-शब्द प्रतिनियत आवरण द्वारा आवार्य नहीं होते एवं प्रतिनियत व्यंजक द्वारा व्यंग्य नहीं होते, क्योंकि समान देश और एक ही इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं जैसे घटादिक हैं। आप मीमांसक आवार्य भूत वर्णों में देश भेद भी स्वीकार नहीं कर सकते यदि करेंगे तो उनमें व्यापकपने का अभाव हो जायगा। देश भेद तो उन पदार्थों में पाया जाता है जो परस्पर के देश का परिहार करके अवस्थित रहते हैं जैसे गो और हाथीमें देश भेद पाया जाता है। इस अनुमान प्रमाण द्वारा शब्द के आवरण का भेद मानना असिद्ध होता है, इसलिये आवरणके भेद से शब्द के जाति में भेद की कल्पना तथा उस

चाऽऽवार्यवर्णानां देशभेदो युक्तः; व्यापकत्वाभावप्रसंगात्। देशभेदो हि परस्परदेशपरिहारेणावस्थानात्प्रसिद्धो गोकुञ्जरवत्। तथा चावरणभेदस्याऽसतः कथं जातिभेदप्रकल्पनं तदपनेतृजातिभेदप्रकल्पनं च श्रेयो यतो 'जातिभेदश्च' इत्यादि शोभेत।

नन्वेकेन्द्रियग्राह्यस्यापि व्यंग्यस्य व्यंजकभेदो दृष्टः, यथा भूमिगन्धस्य जलसेकः न शरीरगन्धस्य। अस्यापि मरीचिचक्रसहायस्तैलाभ्यंगो न भूमिगन्धस्येति। सत्यं दृष्टः; स तु विषयसंस्कारकस्य व्यञ्जकस्य, न त्वावरणविगमहेतोः। नैव वा गन्धस्याभिव्यञ्जका जलसेकादयोऽपि तु कारकाः,

---

आवरण को हटाने वाले ध्वनि में जाति भेद की कल्पना करना श्रेयस्कर नहीं है, अतः आपके मीमांसा श्लोक वार्त्तिकका जाति भेदश्च...इत्यादि पूर्वोक्त कथन असत् ठहरता है।

मीमांसक—जो व्यंग्य एक ही इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होता है उसमें भी व्यंजक का भेद देखा जाता है, जैसे - भूमिकी गंधका अभिव्यंजक जलसेक (पानी का सींचना) होता है यह जलसेक शरीरकी गंधका अभिव्यंजक नहीं है और शरीर गंधका अभिव्यंजक मरीचि आदि अनेक पदार्थका उवटन जिसमें सहायक है ऐसा तेलका अभ्यंग (मालिश) होता है वह उस भूमि गंधका अभिव्यंजक नहीं हो पाता, अभिप्राय यह है कि भूमिगंध और शरीर गंध ये दोनों व्यंग्यभूत एक ही घ्राणेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य हैं किन्तु इनके व्यंजक में भेद है।

जैन—ठीक है, किन्तु यह भेद विषय में संस्कार करने वाले व्यंजकका है न कि आवरण करने वाले कारण का। दूसरी बात यह है कि जलसेक आदिक भूमिगंधके अभिव्यंजक नहीं हैं अपितु कारक हैं (उसको प्रगट करने वाले न होकर उत्पन्न करने वाले है) क्योंकि जलसेक आदिकी सहायता से पृथिवी आदि के विशिष्ट गंधकी उत्पत्ति ही होती है उसका भी कारण यह है कि जलसेकादि के सहायता के पहले उस गंधके सद्भाव को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है कि जिससे पृथिवी में गंध पहले था और उसको जलसेक ने व्यक्त किया ऐसा सिद्ध हो सके। हां जो कारकभूत कारण होते हैं उनमें यह नियम देखा जाता है कि एक इन्द्रिय ग्राह्य होने पर एवं समान देश में होने पर भी उस कार्य का कारण एक नही होता। जैसे एक देश में स्थित होने पर भी सभी यवबीजादि शालिके अंकुर को और यवके अंकुर को उत्पन्न नहीं करते किन्तु शालिबीज ही शालिके अंकुरको उत्पन्न करता है और यवबीज ही यव के अंकुरको उत्पन्न करता है। इस तरह शब्दके आवरण में भेद मानना खंडित होता है।

तत्सहकारिणः पृथिव्यादेर्विशिष्टस्य गन्धस्योत्पत्तेः पूर्वं तत्र तत्सद्भावावेदकप्रमाणाभावात्। कारकाणां चैकेन्द्रियग्राह्ये समानदेशे च कार्ये नियमो दृष्टः। यथैकत्र स्थिता अपि यवबीजादयो न सर्वे शाल्यंकुरं यवांकुरं चोत्पादयन्ति, किन्तु शालिबीजमेव शाल्यंकुरं यवबीजं च यवांकुरम् इति।

एतेन 'अन्यैस्ताल्वादिसंयोगैः' इत्यादि निरस्तम्; कथम्? ध्वन्यन्तरसारिभिस्ताल्वादिभिर्यद्यपि ध्वन्यन्तराक्षेपो नास्ति तथापि य एव तैराक्षिप्यते तत एव सर्ववर्णश्रुतेर्ध्वन्यन्तराक्षेपपक्षदोषस्तदवस्थः। तन्न शब्दसंस्कारोभिव्यक्तिर्घटते।

भावार्थ—व्यंजककारण और कारककारण इनमें समानता नहीं है। जैसे एक ही प्रदीप प्रकोष्ठक में स्थित सभी पदार्थोंको प्रकाशित कर देता है, एक ही सूर्य भूमंडलको प्रकाशित करता है इस प्रकारका अभिव्यंजक कारण स्वयं एक होकर भी अनेकों को प्रकाशित करने रूप अनेक कार्योंको करता है। किन्तु कारक कारण ऐसा नहीं होता, जैसे एक यव बीज रूप कारक कारण एक ही यवांकुर को उत्पन्न करता है अन्य यवांकुर एवं शालि अंकुरको उत्पन्न नहीं कर सकता, एक मिट्टी रूप कारक कारण घट को ही उत्पन्न करता है वस्त्रादि को नहीं, इस प्रकार कारक और व्यंजक में महान अंतर है। इसलिये मीमांसक ने ऊपर जो दृष्टांत दिया था कि भूमिकी गंध और शरीरकी गंध गंधकी अपेक्षा एक व्यग्य रूप होकर भी उनके व्यंजक में भेद है भूमि गंध जलसेक रूप व्यंजक से प्रगट होती है और शरीर गंध उबटनादि से, ऐसे ही शब्द रूप व्यंग्य एक होने पर भी उसके व्यंजक ध्वनिमें भेद होगा इत्यादि सो यह दृष्टांत गलत है, क्योंकि प्रथम तो इस दृष्टांत में व्यंजक कारण न होकर कारक कारण है अर्थात् जल सेकादि कारण गंधको प्रगट नहीं करते अपितु उत्पन्न ही करते हैं, दूसरे, कारक और व्यंजक में अंतर है। कारक एक ही कार्यको करने वाला होता है अतः अनेक कार्योंके कारकों में भेद सिद्ध होता है किन्तु आप ध्वनिको शब्दका अभिव्यंजक मानते हैं न कि कारक अतः दीपकके समान एक ही ध्वनि द्वारा संपूर्ण शब्द (या वर्ण) एक साथ प्रगट होने का अतिप्रसंग आप मीमांसक के यहां अवश्य आता है।

इसीप्रकार "अन्य तालु आदिके संयोग से अन्य शब्दका संस्कार नहीं होता" इत्यादि पूर्वोक्त कथन भी खंडित होता है, कैसे सो बताते हैं—यद्यपि ध्वन्यन्तर को करने वाले तालु आदिके व्यापार से अन्य ध्वनिका आक्षेप (अन्य ध्वनिको उत्पन्न करना) नहीं होता है तथापि तालु आदिसे जो भी कोई एक ध्वनि उत्पन्न की जायगी

अथेन्द्रियसंस्कारोसौ। तदुक्तम्—

"अथापीन्द्रियसंस्कारः सोप्यधिष्ठानदेशतः।
शब्दं न श्रोष्यति श्रोत्रं तेनाऽसंस्कृतशष्कुलि ॥१॥
अप्राप्तकर्णदेशत्वाद्ध्वनेर्न श्रोत्रसंस्क्रिया।
अतोऽधिष्ठानभेदेन संस्कारनियमस्थितिः ॥२॥

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६९-७०]

"यद्यपि व्यापि चैकं च तथापि ध्वनिसंस्कृतिः।
अधिष्ठानेषु सा यस्य तच्छब्दं प्रतिपत्स्यते ॥१॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ६८] इति।

उसी एक ध्वनिसे संपूर्ण वर्ण सुनायी दे सकनेसे (क्योंकि सर्व वर्ण सर्वत्र मौजूद हैं) अन्य ध्वनिका आक्षेप होनेका जो पक्ष है अर्थात् अन्य अन्य ध्वनिसे अन्य अन्य वर्ण प्रगट किये जाते हैं ऐसा जो मीमांसक का पक्ष है उसमें तो दोष आते ही हैं अर्थात् अन्य अन्य ध्वनिकी कल्पना व्यर्थ ठहरती है क्योंकि एक ध्वनि द्वारा संपूर्ण वर्ण प्रगट होना सिद्ध होता है। अतः शब्द संस्कार को अभिव्यक्ति कहते हैं और वह ध्वनिसे होती है इत्यादि कथन घटित नहीं होता।

मीमांसक—ध्वनिसे इन्द्रिय का संस्कार होता है, जैसा कि कहा है—इन्द्रिय संस्कार वहां होता है जहां उसका अधिष्ठान देश है, जैसे श्रोत्रेन्द्रियका श्रोत्र देश है (कर्ण की पोल) सो श्रोत्र यदि संस्कार द्वारा सुसंस्कृत नहीं है तो वह शब्दको नहीं सुनेगा ॥१॥ अन्य ध्वनि कर्ण देश में प्राप्त न होने से कर्ण संस्कार को कर नहीं सकती, अतः अधिष्ठान के विभिन्न होने से ध्वनि द्वारा होने वाले संस्कार का नियम (अन्य अन्य ध्वनिसे अन्य अन्य श्रोत्रेन्द्रिय का संस्कार होना) सिद्ध होता है ॥२॥ यद्यपि श्रोत्र व्यापी और एक है तो भी उसके अधिष्ठान अनेक अनेक हैं उनमें से जिस अधिष्ठान में ध्वनि द्वारा संस्कार होता है वही श्रोत्राधिष्ठान उस शब्दको जानता (सुनता) है ॥३॥ इत्यादि।

अत्रापि सकृत्संस्कृतं श्रोत्रं युगपत्सर्ववर्णान् शृणुयात् । न ह्यञ्जनादिना संस्कृतं चक्षुः सन्निहितं नीलधवलादिकं कञ्चित्पश्यति कञ्चिन्नेति । बलातैलादिना संस्कृतं श्रोत्रं वा कांश्चिदेव गकारादीन् शृणोति कांश्चिन्नेतीति नियमो दृष्टो येनात्रापि तथा कल्पना स्यात् ।

ततो निराकृतमेतत्—

"तथा(यथा)घटादेर्दीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते ।
चक्षुषोऽनुग्रहादेवं ध्वनिः स्याच्छ्रोत्रसंस्कृतेः ॥१॥
न चा(च)पर्यनुयोगोत्र केनाकारेण संस्कृतिः ।
उत्पत्तावपि तुल्यत्वाच्छक्तिस्तत्राप्यतीन्द्रिया ॥२॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ४२-४३] इति ।

जैन—इस पक्ष में भी एक बार सुसंस्कृत हुआ श्रोत्र युगपत् संपूर्ण वर्णोंको सुन सकता है ऐसा पूर्वोक्त दोष आता ही है । प्रसिद्ध बात है कि अंजन आदि से सुसंस्कृत हुआ नेत्र निकटवर्त्ती नील धवल आदि वस्तु में से किसी को तो देखे और किसी को न देखे ऐसा नहीं होता अपितु नेत्र नीलादि सभी को देखती है । तथा बला तेल (संपूर्ण शब्दोंको सुनने की शक्ति को उत्पन्न करने वाला कोई तेल) द्वारा सुसंस्कृत हुआ श्रोत्र किन्हीं गकारादिको तो सुने और किन्हीं वर्णोंको न सुने ऐसा नहीं होता । इसी प्रकार यदि ध्वनि द्वारा श्रोत्र देश सुसंस्कृत होना मानते हैं तो सभी वर्ण उस श्रोत्र द्वारा सुनायी देते हैं ऐसा अनिष्ट मानने का प्रसंग अवश्य आता है ।

इसीलिये निम्नलिखित कथन भी निराकृत हुआ समझना चाहिये कि—जिस प्रकार चक्षु के अनुग्रह से अर्थात् चक्षु के संस्कार के निमित्त होने से दीपादिक घटादि-पदार्थ के अभिव्यंजक माने जाते हैं उस प्रकार श्रोत्र संस्कार की ध्वनि अभिव्यंजक है ऐसा मानते हैं । इसमें व्यर्थ के प्रश्न नहीं करना चाहिये कि वह श्रोत्र संस्कार किसी रूप से होता है ? किसी एक ध्वनि द्वारा संस्कार होने पर सब वर्ण सुनायी देना चाहिये । क्योंकि शब्द की अभिव्यक्ति मानने के पक्षमें यदि ऐसे प्रश्न उठा सकते हैं तो शब्द की उत्पत्ति मानने के पक्ष में भी ये ही प्रश्न उठा सकते हैं । क्योंकि जिस तरह शब्द की अभिव्यक्ति की शक्ति अतीन्द्रिय है उस तरह शब्द की उत्पत्ति की शक्ति भी अतीन्द्रिय है, अतः उभय पक्ष में भी प्रश्न होना स्वाभाविक है ॥१॥२॥ इत्यादि ।

प्रदीपादिनानुगृहीतचक्षुषा पटाद्यनेकार्थग्रहणवत् ध्वन्यनुगृहीतश्रोत्रेणाप्येकदानेकशब्दश्रवण-प्रसङ्गात् । प्रयोगः-श्रोत्रमेकेन्द्रियग्राह्याभिन्नदेशावस्थितार्थग्रहणाय प्रतिनियतसंस्कारकसंस्कार्यं न भवति इन्द्रियत्वाच्चक्षुर्वत् । तन्न श्रोत्रसंस्कारोप्यभिव्यक्तिर्घटते ।

भावार्थ—उपर्युक्त मीमांसा श्लोक वार्त्तिक ग्रन्थ के उद्धरण में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि व्यंजक और कारक कारण समान होते हैं । अर्थात् मीमांसक का कहना है कि ध्वनियां शब्द को व्यक्त करती है ऐसा हम मानते हैं, इस मान्यता में जैन प्रश्न करते हैं कि ध्वनि द्वारा एक साथ सब शब्द (वर्ण) क्यों नहीं व्यक्त होते ? इत्यादि सो यह प्रश्न हम मीमांसक जैन के प्रति भी कर सकते हैं कि तालु आदि से शब्द उत्पन्न किये जाते हैं तो एक साथ सब शब्द क्यों नहीं उत्पन्न किये जाते इत्यादि । किन्तु जैनाचार्य ने इसका समाधान पहले ही दिया है कि व्यंजक कारण और कारक कारण समान नहीं होते इनका कार्य समान नहीं होता एक व्यंजक कारण रूप प्रदीप एक साथ अनेक घटादिको अभिव्यक्त (प्रकाशित) करता है किन्तु एक कारक कारण रूप यवबीज अनेक यवांकुरों को या शालि अंकुरों को उत्पन्न नहीं करता । यही तो कारक और व्यंजक में अंतर है—कारक तो उस वस्तु को नयी रूप से निर्माण करता है किन्तु व्यंजक ऐसा नहीं है वह तो केवल बनी बनायी वस्तु को प्रकाशित करता है । अतः यदि ध्वनि शब्द को केवल अभिव्यक्त करती है तो उसको एक साथ सब वर्णों को अभिव्यक्त करने का प्रसंग आता ही है । किन्तु तालु आदि के व्यापार से शब्द की उत्पत्ति मानने वाले जैन के पक्ष में ऐसा अति प्रसंग दोष नहीं होता ।

यदि मीमांसक ध्वनि द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होना ही मानते हैं तो जिस तरह प्रदीपादि से अनुग्रहीत (सुसंस्कृत) हुई चक्षु वस्त्र आदि अनेक पदार्थों को ग्रहण करती है (देखती जानती है) उस तरह ध्वनि से अनुग्रहीत (सुसंस्कृत) हुआ श्रोत्र भी एक साथ अनेक शब्दों को श्रवण कर सकता है ऐसा अनिष्ट मानने का प्रसंग अवश्य आता है । अनुमान प्रमाण से सिद्ध होता है कि—श्रोत्र एक ही इंद्रिय से ग्राह्य अभिन्न देश में अवस्थित पदार्थों को ग्रहण करने के लिये प्रतिनियत संस्कार द्वारा संस्कारित होने योग्य नहीं है, क्योंकि वह इन्द्रिय रूप है जैसे चक्षु इन्द्रिय रूप होने से प्रतिनियत संस्कारक द्वारा संस्कारित होने योग्य नहीं है । इस प्रकार श्रोत्र संस्कार को अभिव्यक्ति कहते हैं ऐसा कहना घटित नहीं होता ।

अस्तु तर्ह्युभयसंस्कारः । न चात्रोक्तदोषानुषङ्गः । तदुक्तम्—

> "द्वयसंस्कारपक्षे तु वृथा दोषद्वये वचः ।
> येनान्यतरवैकल्यात्सर्वैः सर्वो न गृह्यते ॥१॥"
>
> [मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० ८६]

तदप्ययुक्तम्; उक्तदोषादेव, तथाहि–यदैकवर्णग्राहकत्वेन संस्कृतं श्रोत्रं संस्कृतं वर्णं प्रतिपद्यते तदा तत्रत्यसर्ववर्णान्प्रतिपद्येत संस्कृतं च वर्णं सर्वत्र सर्वदाऽवस्थितत्वेन, अन्यथा तत्प्रतीतिरेव न भवेत्तदात्मकत्वात्तस्य । अतो व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावस्य विचार्यमाणस्याऽयोगान्न व्यंजकध्वन्यधीनो विभिन्नदेशकालस्वभावतया शब्दस्योपलम्भोऽपि तु तत्स्वभावभेदनिबन्धनः ।

मीमांसक—तो फिर उभय संस्कार (शब्द तथा इन्द्रिय दोनों का संस्कार) स्वीकार करना चाहिए अर्थात् उभय संस्कार से शब्द की अभिव्यक्ति होती है ऐसा मानना चाहिये । इस पक्ष में तो उक्त दोष नहीं आयेगा । जैसा कि कहा है—इन्द्रिय संस्कार और शब्द संस्कार दोनों संस्कारों के द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होती है ऐसा मानने पर भी दो दोष आते हैं अर्थात् शब्द संस्कार के पक्ष में दिया हुआ और इन्द्रिय संस्कार के पक्ष में दिया हुआ इस तरह दो दोष उभय संस्कार के पक्ष में आते हैं ऐसा जैनादि परवादी कहे तो वह असत् है, क्योंकि दोनों संस्कारों में से किसी एक के नहीं होने के कारण ही सब वर्ण सबके द्वारा ग्रहण नहीं होते हैं ॥१॥

जैन — यह कथन भी अयुक्त है, क्योंकि इस पक्ष में वही दोष आते हैं । आगे इसी को बताते हैं—जब एक वर्ण को ग्राहकपने से सुसंस्कृत हुआ श्रोत्र सुसंस्कृत वर्ण को ग्रहण करता है (सुनता है) तब वहां पर स्थित जो सब वर्ण हैं उनको ग्रहण करेगा ही क्योंकि सुसंस्कृत (संस्कारित हुआ) वर्ण सर्वत्र सर्वदा अवस्थित ही रहता है, यदि सुसंस्कृत वर्ण को श्रोत्र ग्रहण नहीं करेगा तो उसकी प्रतीति ही नहीं होवेगी, इसका भी कारण यह है कि वर्ण हमेशा तदात्मक (उसी एक रूप) होता है । इसलिए शब्द और ध्वनि में व्यंग्य–व्यंजक भाव मानने का जो सिद्धांत है वह विचार करने पर अयुक्त साबित होता है । अतः विभिन्न देश काल एवं स्वभाव रूप से शब्द की उपलब्धि होना व्यंजक ध्वनि के अधीन नहीं है अपितु शब्द में स्वयं उस प्रकार का स्वभाव है कि वह क्रमशः ही उत्पन्न होता है ।

यच्चोक्तम्–'जलपात्रेषु च' इत्यादि; तदप्यसाम्प्रतम्; तत्रोपलभ्यमानस्यादित्यप्रतिबिम्बस्यानेकत्वात्। 'गगनतलावलम्बी हि सविता तत्रोपलभ्यते' इत्यत्र न प्रत्यक्षं प्रमाणं तत्स्वरूपाप्रतिभासनात्। तस्य हि स्वरूपं गगनतलावलम्बि चैकं च, तन्नावभासते। यच्चावभासि जलपात्रावलम्बि चानेकं च, तद्वृक्षच्छायादिवद्वस्त्वन्तरमेव। न चान्यप्रतिभासेऽन्यप्रतिभासो नामाऽतिप्रसंगात्। न च जलभानोर्गगनभानुना सादृश्यादेकत्वम्; कमनीयकामिनीनयनयोरपि तत्प्रसंगात्। नापि तद्विकारे जलभानुविकारादेकत्वम्; वृक्षच्छाययोरपि तत्प्रसंगात्।

ननु तत्र तत्प्रतिबिम्बानां वस्त्वन्तरत्वे कुतः प्रादुर्भावः स्यादिति चेत्? जलादित्यादिलक्षणस्वसामग्रीविशेषात्। तर्हि स्वच्छताविशेषसद्भावाज्जलादर्शादयो मुखादित्यादिप्रतिबिम्बाकारविकार-

---

मीमांसक ने पहले कहा था कि—सूर्य के एक रहते हुए भी जल पात्रों में नाना रूप दिखायी देता है वैसे वर्ण एक होकर नाना प्रतीत होते हैं इत्यादि सो वह कथन अनुचित है जल पात्रों में जो सूर्य का प्रतिबिम्ब उपलब्ध होता है वह अनेक ही है, क्योंकि उन पात्रों में आकाशस्थित सूर्य उपलब्ध होता है ऐसा मानना प्रत्यक्ष प्रमाण रूप नहीं है अर्थात् ऐसा प्रत्यक्ष से प्रतीत होना कहो तो वह प्रामाणिक नहीं, क्योंकि उसमें सूर्यका स्वरूप प्रतिभासित हो नहीं होता। सूर्यका स्वरूप तो गगनतल में अवलंबित एवं एक रूप रहना है वह स्वरूप जल पात्रों में तो है नहीं। और जो यहां प्रतीत हो रहा वह जल पात्रों में अवलंबित एवं अनेक रूप है, अतः यह जल पात्रावलंबी प्रतिबिम्ब सूर्य से अन्य कोई वस्तु रूप ही है जैसे कि वृक्षकी छाया वृक्ष से अन्य किसी वस्तु रूप है। अन्य के प्रतिभास में किसी अन्य का प्रतिभास मानना तो अतिप्रसंग का कारण होगा। जल में स्थित सूर्य में और आकाश में स्थित सूर्य में सदृशता होने से एकपना है ऐसा कहना भी अयुक्त है, यदि सदृशता होने के कारण एकपना माना जाय तो किसी सुन्दर ललना के दो नेत्रोंको भी एक मानना पड़ेगा। यदि कहा जाय कि आकाश स्थित सूर्य में विकार आने पर (मेघादिका आवरण आने पर) जल में स्थित सूर्य बिंब में भी विकार आता है अतः इन दोनों को एक मानना चाहिए, सो यह भी गलत है क्योंकि इस तरह माने तो वृक्ष और छाया में भी एकत्व मानना होगा। क्योंकि वृक्ष में हिलना आदि विकार आने पर छाया में भी विकार तो आता ही है।

शंका—जल पात्रों में स्थित सूर्य के प्रतिबिम्बों को सूर्य से पृथक् वस्तु रूप मानते हैं तो उनका प्रादुर्भाव किससे होगा?

धारिणः कस्मान्न सर्वदोपलभ्यन्ते इति चेत् ? स्वसामग्र्यऽभावतोऽभावाच्छब्दसुखादिवत् । कश्चिद्धि विकारः सहकारिनिवृत्तावप्यनिवर्त्तमानो दृष्टो यथा घटादिः, कश्चित्तु निवर्त्तमानो यथा शब्दादिः, अचिन्त्यशक्तित्वाद्भावानाम् । ताल्वादिव्यापारसहकारिनिवृत्तौ हि पुद्गलस्य श्रावणस्वभावव्यावृत्तिः । स्रग्वनितानिवृत्तौ चाल्हादनाकारव्यावृत्तिरात्मनः सकलजनप्रसिद्धा, एवमादित्यादिसहकारिनिवृत्तौ जलादेस्तत्प्रतिबिम्बाकारनिवृत्तिरविरुद्धा ।

समाधान—जल और सूर्य आदि रूप स्व सामग्री विशेष से उक्त प्रतिबिम्बों का प्रादुर्भाव होता है ।

शंका—तो फिर स्वच्छता विशेष का सद्भाव हमेशा होने से जल और दर्पणादि पदार्थ मुख और सूर्य के प्रतिबिम्ब आदि के आकार को धारण करने वाले हमेशा क्यों नहीं दिखायी देते ?

समाधान—वे दर्पणादि पदार्थ स्व सामग्री का अभाव होने से हमेशा उक्त आकारों को हमेशा धारण करते हुए उपलब्ध नहीं होते जैसे कि स्व सामग्री के अभाव में शब्द की उपलब्धि नहीं होती एवं सुख की सामग्री के अभाव में सुख की उपलब्धि नहीं होती । कोई कोई विकार ऐसा होता है कि वह सहकारी कारण के निवृत्त होने पर भी (हट जाने पर भी) स्वयं निवृत्त नहीं होता जैसे घटादि पदार्थ रूप आकार को कराने वाले चक्र, दंडा आदि के निवृत्त होने पर भी जो मिट्टी का घटाकार रूप विकार निर्मित हुआ वह बना ही रहता है । तथा कोई कोई विकार ऐसा होता है कि सहकारी कारणों के निवृत्त होने पर स्वयं भी निवृत्त हो जाता है जैसे शब्दादि विकार उनके सहकारी कारणभूत तालु आदि के व्यापार के निवृत्त होने पर (हट जाने पर अथवा समाप्त होने पर) स्वयं भी समाप्त हो जाते हैं । क्योंकि पदार्थों में विभिन्न प्रकार की अचिंत्य शक्तियां हुआ करती हैं उन विभिन्न शक्तियों के कारण ही इस प्रकार सहकारी के निवृत्त होने पर निवृत्त होना अथवा नहीं होना इत्यादि रूप प्रभेद दिखायी देता है । तालु आदि के व्यापार रूप सहकारी कारण के निवृत्त हो जाने पर शब्दरूप पुद्गल के श्रावण स्वभाव (सुनायी देने की शक्ति) की व्यावृत्ति (निवृत्ति या समाप्ति) हो जाती है । तथा माला वनिता आदि सहकारी कारणों के निवृत्त हो जाने पर आल्हाद रूप सुख की आत्मा से व्यावृत्ति हो जाती है यह बात सर्व जन प्रसिद्ध ही है । इसी तरह सूर्य आदि सहकारी कारणों के निवृत्त हो जाने पर जलादि में सूर्य के प्रतिबिंबाकार की निवृत्ति होती है, इसमें कोई विरोध नहीं ।

ततो निराकृतमेतत्–'अत्र ब्रूमो यदा तावज्जले सौर्येण' इत्यादि; स्वप्रदेशस्थतया सवितुर्ग्रहणासिद्धेः। 'चाक्षुषं तेजः प्रतिस्रोतः प्रवर्त्तितम्' इति चातीवाऽसंगतम्, प्रमाणाभावात्। न हि चक्षुस्तेजांसि जलेनाभिसम्बध्य पुनः सवितारं प्रति प्रवर्त्तितानि प्रत्यक्षादिप्रमाणतः प्रतीयन्ते। यथा च चक्षूरश्मीनां विषयं प्रति प्रवृत्तिर्नास्ति तथा चक्षुरप्राप्यकारित्वप्रघट्टके प्रतिपादितम्। इत्यलमतिविस्तरेण।

यच्चान्यदुक्तम्–'देशभेदेन भिन्नत्वम्' इत्यादि; तदप्यसारम्; यतो यदि प्रत्यक्षमेवानुमानस्य बाधकं नानुमानं प्रत्यक्षस्य; तर्हि चन्द्रार्कादौ स्थैर्याध्यक्षं देशाद्देशान्तरप्राप्तिलिंगजनितगत्यनुमानेन

इस प्रकार सूर्य का जल में स्थित प्रतिबिंब सूर्य से पृथक्भूत पदार्थ है ऐसा सिद्ध होने से उसके एकत्व का दृष्टांत देकर शब्द में एकत्व सिद्ध करना खंडित होता है ऐसे ही यह कथन भी खंडित हुआ समझना चाहिये कि—जब जल में सूर्य के तेज के कारण चक्षुका तेज भी स्फुरायमान हो जाता है तब सूर्यबिंब नाना रूप परिवर्तित होता है तथा इसीलिये स्वप्रदेश में स्थितरूप से सूर्य का ग्रहण नहीं हो पाता इत्यादि। आप मीमांसक के उपर्युक्त कथन में "चक्षुका तेज स्फुरमान होकर सूर्यबिंब नाना रूप परिवर्त्तित होता है" ऐसा कहना तो अत्यंत असम्बद्ध है क्योंकि ऐसा मानने में सर्वथा प्रमाणका अभाव है। क्योंकि चक्षु की किरणें जल से संबद्ध होकर पुनः सूर्य के प्रति प्रवृत्ति करती हुई किसी भी प्रत्यक्षादि प्रमाण से प्रतीत नहीं होती हैं। दूसरी बात यह है कि चक्षु की न कोई किरणें हैं और न वे अपने विषयभूत घट पट आदि पदार्थ के प्रति गमन करती हैं, इस विषय का प्रतिपादन चक्षुप्राप्यकारित्वखण्डन मे पहले ही (प्रथम भाग में) हो चुका है, अब उस विषय में अधिक नहीं कहना है।

मीमांसक ने पूर्व में कहा था कि गकारादि वर्णों में देशभेद से भेद सिद्ध करने वाला अनुमान "वही यह गकारादि है" इस प्रकार के प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है इत्यादि। सो वह असार है, क्योंकि यदि एकांत से प्रत्यक्ष ही अनुमान का बाधक माना जाय अनुमान को प्रत्यक्ष का बाधक नहीं माना जाय तो चन्द्र सूर्य आदि में स्थिरतारूप प्रतीति कराने वाला प्रत्यक्ष देश से देशांतर की प्राप्ति रूप हेतु से जनित गति को सिद्ध करने वाले अनुमान द्वारा बाध्य नहीं हो सकेगा।

शंका—चन्द्रादि की स्थिरता प्रतीत कराने वाले प्रत्यक्ष में बाधित विषय होने से प्रत्यक्षपना ही नहीं माना जाता ?

बाध्यं न स्यात्। अथास्य प्रत्यक्षरूपतैव नास्ति बाधितविषयत्वात्; तत्प्रकृतेपि समानम्, लूनपुनर्जातनखकेशादिवत्सादृश्यप्रतीत्या तन्नानात्वप्रसाधकानुमानेन चाऽत्राप्येकत्वप्रतीतेर्बाधितविषयत्वाऽविशेषात्। अतोऽयुक्तमेतत्—

समाधान—सो यह बात प्रकृत गकारादि शब्दों में भी समान रूप से घटित होगी, आगे इसीको बताते हैं—कट कर पुनः उत्पन्न हुए नख और केशादि में एकत्व की प्रतीति कराने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान जिस प्रकार सादृश्य प्रतीति से उन नखादि के नानापने को सिद्ध करने वाले अनुमान ज्ञान द्वारा बाधित होता है, उसी प्रकार गकारादि वर्णों में एकत्व की प्रतीति कराने वाला प्रत्यक्षज्ञान सादृश्य प्रतीति से उन गकारादि के नानापने को सिद्ध करने वाले अनुमान द्वारा बाधित होता है, नखादि के एकत्व को विषय करने वाला प्रत्यक्ष और गकारादि वर्णों के एकत्व को विषय करने वाला प्रत्यक्ष इन दोनों प्रत्यक्षों के विषय समान रूप से बाधित हैं कोई विशेषता नहीं है।

भावार्थ—मीमांसक गकार, ककार आदि वर्णों को सारे विश्व में एक एक रूप ही मानते हैं। मीमांसक के प्रति यदि प्रश्न किया जाय कि गकारादि वर्ण एक एक ही हैं तो भिन्न भिन्न देश में भिन्न भिन्न व्यक्ति द्वारा एक ही गकारादिका सुनायी देना एवं मुख से उच्चारण करना कैसे होता है? तो इसका उत्तर देते हैं कि वे वर्ण सर्वत्र एक ही हैं किन्तु उनके व्यंजक कारण पृथक् पृथक् हैं, अतः विभिन्न देशादि में विभिन्न रूप से उपलब्ध होते हैं इत्यादि। जैनाचार्य ने वर्ण के इस व्यंजक कारण का अनेक प्रकार से निरसन किया है, शब्द या वर्ण तालु आदि से प्रगट नहीं किये जाते अपितु नये नये उत्पन्न किये जाते हैं। जैसे नख और केशादिक कट कर पुनः पुनः नये उत्पन्न होते हैं। यदि कदाचित् गकारादि वर्णों में "यह वही गकार है जिसको कल सुना था" इत्यादि रूप एकत्व प्रत्यभिज्ञान हो भी तो वह ज्ञान अनुमान द्वारा बाधित होता है। इस पर मीमांसक का कहना है कि एकत्व प्रत्यभिज्ञान को हम प्रत्यक्ष प्रमाण रूप मानते हैं अतः वह अनुमान द्वारा बाधित नहीं हो सकता, सो यह कथन असत् है, क्योंकि अनुमान से प्रत्यक्षज्ञान बाधित होता हुआ देखा जाता है, प्रत्यक्ष ज्ञान सूर्यादि को स्थिर बताता है किन्तु वह देशांतर गमनरूप अनुमान प्रमाण से बाधित है। संसार में ऐसे प्रत्यक्षज्ञान (सांव्यावहारिक प्रत्यक्षज्ञान) होते ही हैं कि जो अनुमान

"स एवेति मतिर्नापि सादृश्यं न च तत्क्वचित् ।
विनावयवसामान्यैर्वर्णेष्ववयवा न च ।।"

[मी० श्लो० स्फोटवा० श्लो० १८] इति ।

अवयवसामान्यस्याप्यत्रात एव प्रसिद्धेः । तेनायुक्तमुक्तम्–'पर्यायेण' इत्यादि, देवदत्ते हि 'स एवायम्' इति प्रत्ययः, अत्र तु 'तेनानेन चायं सदृशः' इति । न च सदृशप्रत्ययादेकत्वम्; गोगवययोरपि तत्प्रसंगात् । यद्यप्युच्यते—

"जैनकापिलनिर्दिष्टं शब्दश्रोत्रादिसर्पणम् ।
साधीयोऽस्मात्तदप्यत्र युक्त्या नैवावतिष्ठते ।।१।।"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १०६]

द्वारा बाधित होते हैं । अतः जिसको मीमांसक प्रत्यक्ष रूप मानते हैं ऐसे प्रत्यभिज्ञान द्वारा शब्दों में एकत्व सिद्ध करना असंभव है ।

इसलिये निम्नलिखित कथन भी अनुचित है कि–गकार आदि वर्णों में "वही यह है" ऐसा जो एकत्व का ज्ञान होता है उसको असत्य नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वर्णों में अवयव नहीं होते और अवयव सामान्यों के बिना उन गकारादि वर्णों की सादृश्य प्रतीति होना अशक्य है ।।१।।

गकार आदि वर्णों के अवयव सामान्य अर्थात् अनेक पृथक् पृथक् गकार और उन सब में पाया जाने वाला सदृश सामान्य तो सादृश्यप्रतीति रूप हेतु वाले अनुमान द्वारा भलीभांति सिद्ध होता है । अतः मीमांसक का पूर्वोक्त कथन खण्डित होता है कि–पर्याय रूप से अर्थात् कालक्रम से एक ही देवदत्त विभिन्न देश में जाता है उसमें भेद नहीं मानते, वैसे शब्द में भी भेद नहीं मानना चाहिए । सो देवदत्त में तो "वही यह देवदत्त है" इस प्रकार की एकत्व प्रतीति निराबाध रूप से आती है, किन्तु गकारादि शब्दों में तो उसके समान यह गकार है अथवा इस वर्ण के समान यह वर्ण है ऐसी सादृश्य प्रतीति आती है । सादृश्य प्रतीति से एकत्व की सिद्धि करना तो अनुचित है अन्यथा गाय और रोझ में भी एकत्व सिद्ध करना होगा ।

मीमांसक का कहना है कि—जैन और सांख्य क्रमशः शब्द और श्रोत्र का गमन होना मानते हैं सो यह इस वक्ष्यमान कल्पना से कुछ सही होते हुए भी हम मीमांसक की युक्ति द्वारा खंडित ही होता है ।।१।। अर्थात् जैन की मान्यता है कि शब्द

जैनेन हि निर्दिष्टं श्रोतारं प्रति शब्दस्य सर्पणं कापिलेन तु वक्तारम् श्रोत्रादेर्यत्तदेव साधीयोऽस्मान्नैयायिकोपकल्पितात् वीचीतरंगन्यायेन शब्दस्यामूर्त्तस्यागमनात्। तदप्यत्र युक्त्या नैवावतिष्ठते। यस्मात्—

"शब्दस्यागमनं तावददृष्टं परिकल्पितम्।
मूर्त्तिस्पर्शादिमत्त्वं च तेषामभिभवः सताम् ॥१॥
त्वगग्राह्यत्वमन्ये च भागाः सूक्ष्माः प्रकल्पिताः।
तेषामदृश्यमानानां कथं च रचनाक्रमः ॥२॥
कीदृशाद्रचनाभेदाद्वर्णभेदश्च जायताम्।
द्रवित्वेन विना चैषां संक्लेषः (सश्लेषः)कल्प्यते कथम् ॥३॥
आगच्छतां च विश्लेषो न भवेद्वायुना कथम्।
लघवोऽवयवा ह्येते निबद्धा न च केनचित् ॥४॥
वृक्षाद्यभिहतानां च विश्लेषो लोष्टवद्भवेत्।
एकश्रोत्रप्रवेशे च नान्येषां स्यात्पुनः श्रुतिः ॥५॥

श्रोता के पास चला जाता है और सांख्य कहते हैं कि श्रोत्र वक्ता के पास चला जाता है, सो यह मान्यता इस नैयायिक की कल्पना से श्रेयस्कर ही है क्योंकि नैयायिक तो शब्द को अमूर्त्त मानकर पुनः उसका वीचीतरंग न्याय से आगमन होना मानते हैं। किन्तु यह जैनादि सभी परवादियों का कथन हमारी युक्ति के आगे ठहरता नहीं। आगे इसी का खुलासा करते हैं—शब्द का आगमन मानना अदृष्ट परिकल्पना मात्र है अर्थात् प्रमाण से सिद्ध नहीं है, तथा शब्दों को मूर्त्तिक स्पर्शादिमान मानना एवं अभिभव मानना भी असिद्ध है ॥१॥ स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा शब्दों का अग्राह्य कहना, उनके सूक्ष्म भाग कल्पित करना यह सब असत् है (क्योंकि यदि शब्द स्पर्शादिमान है तो स्पर्शनेन्द्रिय से ग्राह्य क्यों नहीं इत्यादि प्रश्न होते हैं और उनके समाधानकारक उत्तर नहीं मिलते) यदि शब्द अदृश्य हैं तो उनका रचनाक्रम किस प्रकार होगा यह भी एक समस्या है ॥२॥ तथा किस तरह के रचना भेद से वर्ण भेद होगा? शब्दों में द्रवपना (तरलपना) भी नहीं है फिर उनका परस्पर संश्लेष किस प्रकार होगा ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥३॥ जब शब्द कर्ण के पास आ रहे हों तब उनका वायु द्वारा विश्लेष भी कैसे नहीं होगा? क्योंकि शब्द तो लघु अवयवरूप हैं उनको किसी ने संबद्ध भी नहीं किया है ॥४॥ आते हुए शब्द जब वृक्ष, भित्ति आदि से अभिहत होवेंगे तब मिट्टी के

न चावान्तरवर्णानां नानात्वस्याऽस्ति कारणम् ।
न चैकस्यैव सर्वासु गमनं दिक्षु युज्यते ॥६॥"

[मी० श्लो० शब्दनि० श्लो० १०७-११२]

इत्यादि । तद्वयञ्जकवाय्वागमनेपि समानम् । शक्यते हि शब्दस्थाने वायुं पठित्वा 'वायोरागमनं तावददृष्टं परिकल्पितम्' इत्याद्यभिधातुम् ।

किंच, अदृष्टकल्पनागौरवदोषो भवत्पक्ष एवानुषज्यते; तथाहि—शब्दस्य पूर्वापरकोटयोः सर्वत्र च देशेऽनुपलभ्यमानस्य सत्त्वम्, तस्य चावारकाः स्तिमिता वायवः प्रमाणतोऽनुपलभ्यमानाः कल्पनीयाः,

---

ढेले के समान बिखर जायेंगे । एक कोई विवक्षित शब्द कर्णप्रदेश में प्रविष्ट होगा तब वह अन्य को सुनायी नहीं देना चाहिये ? क्योंकि वह तो उतना ही अव्यापक था ॥५॥ आते हुए शब्दों से अवांतर शब्द हो जाय ऐसा एक को नानारूप करने का कोई निमित्त भी नहीं दिखायी देता । तथा तालु आदि से निर्मित एक शब्द सब दिशाओं में एक साथ गमन भी किस प्रकार कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता ॥६॥ इत्यादि ।

सो यह मीमांसक का कथन उनके व्यंजक वायु के आगमन के विषय में भी समानरूप से घटित होता है । शब्द के विषय में जितने भर भी प्रश्न थे उनमें शब्द के स्थान पर वायु को रखकर हम जैन कह सकते हैं कि व्यंजक वायु का आगमन मानना अदृष्ट परिकल्पित मात्र है, जब वायु स्पर्शयुक्त है तो वह स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा क्यों नहीं ग्रहण होती ? अदृश्यभूत वायुका रचना क्रम भी किस प्रकार होवे ? इत्यादि ।

दूसरी बात यह है कि—अदृष्ट की कल्पना करना रूप दोष तो आप मीमांसक के पक्ष में ही आता है, कैसे सो बताते हैं—शब्द की पूर्वापरकोटि अर्थात् आदि अंत दिखता है तो भी उसे नहीं मानना और अदृष्ट नहीं देखे ऐसे नित्यत्व की कल्पना करना, सर्वत्र देश में व्यापक रूप उपलब्ध नहीं होने पर भी व्यापक मानना, शब्द का आवरण करने वाली स्तिमित वायु किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है तो भी उसकी अदृष्ट कल्पना करते रहना, स्तिमित वायुको हटाने वाली व्यंजक वायु स्वीकार करना तथा उनमें नाना शक्तियों की कल्पना भी करना, इस प्रकार इतनी सारी अदृष्ट कल्पनायें (जो कि प्रमाण से असिद्ध हैं) आप मीमांसकों को ही करनी होगी हम जैन को नहीं । हम जैन शब्द को पुद्गल द्रव्य की पर्यायरूप मानते हैं, आगे यथा अवसर (तृतीय भाग में) सिद्ध करेंगे कि शब्द आकाश द्रव्यका गुण नहीं है अपितु

तदपनोदकाश्चान्ये, तेषां शक्तिनानात्वं कल्पनीयम्, नास्मत्पक्षे। पौद्गलिकत्वं च यथावसरं गुणनिषेध-प्रक्रमे प्रसाधयिष्यामः। तत्सिद्धं घटस्य चक्रादिव्यापारकार्यत्ववच्छब्दस्यताल्वादिव्यापारकार्यत्वमिति साधूक्तम्—'आप्तवचनम्' इत्यादि।

पुद्गल (जड़) द्रव्य की पर्याय है। अंत में यह निश्चय होता है कि जैसे घट कुंभकार, चक्र आदि के व्यापार का कार्य है वैसे शब्द तालु आदि के व्यापार का कार्य है। इसलिये आगम प्रमाण लक्षण करते हुए श्रीमाणिक्यनंदी आचार्य ने ठीक ही कहा कि—"आप्तवचनादिनिबंधनमर्थज्ञानमागम:" आप्त पुरुष के वचनादि के निमित्त से होनेवाला पदार्थ का ज्ञान आगम प्रमाण कहलाता है इत्यादि।

विशेषार्थ—शब्द के विषय में विवाद है कि वह नित्य है कि अनित्य, मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं, उनका कहना है कि शब्द को अनित्य मानेंगे तो उनके उत्पत्ति कारण बतलाना होगा, उत्पन्न होकर श्रोता के पास कैसे गमन करेंगे, मार्ग में वायु, वृक्ष, पर्वतादि से टकरायेंगे। तथा शब्द अनित्य है तो उत्पन्न होते ही नष्ट हो जायेंगे, अथवा कुछ समय तक ठहर भी जाये तो भी जिस शब्द में बाल्यकाल में संकेत हुआ था वह आगे युवा काल आदि में नहीं रहता अतः उस शब्द को सुनते ही अर्थ बोध होता है वह कैसे घटित होगा। शब्द में द्रवत्व नहीं होने से अनेक शब्दों में परस्पर संश्लेप भी कैसे हो, तथा वक्ता के मुख से निकले हुए क्रमिक एक एक शब्द एक ही किसी श्रोता के कर्ण में प्रविष्ट होगा क्योंकि अव्यापक एवं एक है अतः अन्य अनेक श्रोताओं को उस वक्ता का व्याख्यान कैसे सुनाई देगा इत्यादि। प्रभाचन्द्राचार्य ने कहा कि ये शब्द विषयक प्रश्न आप मीमांसक के अभिव्यंजक वायु में ठीक इसी तरह लागु होते हैं, अर्थात् व्यंजक वायु जब वक्ता के पास शब्द को प्रगट करने जायेगी तब मार्ग के वृक्ष आदि से टकराकर बिखर जायगी। शब्दों का आवृत होना मानते हैं सो उनका आवरण कौन है, उनको कौन दूर करेगा, आवारक के दूर होते ही सारे वर्ण सुनाई देने चाहिए क्योंकि वर्ण नित्य एवं व्यापक है ? गकार आदि वर्ण विश्वभर में एक एक हैं तो पृथक् पृथक् रूप से हजारों श्रोताओं को एक साथ कैसे सुनाई देते हैं यदि शब्द व्यापक है तो एक विवक्षित स्थान पर सर्वांगरूप से अर्थात् समूचेरूप से कैसे उपलब्ध होगा ? बंबई से लेकर देहली तक लगी हुई रेल की पटरी एक जगह सर्वांग रूप से कैसे उपलब्ध हो ? विशाल मंडप पर छाया हुआ वस्त्र एकत्र पूर्ण रूपेन कैसे

प्राप्त हो ? अर्थात् यह असंभव है इसी प्रकार एक ही शब्द सर्वत्र देश में व्याप्त है तो एक व्यक्ति को एक स्थान पर सर्वांगरूप से कैसे सुनायी दे सकता है ? अर्थात् नहीं दे सकता, शब्द जब नित्य है तो उसमें संकेत होने पर सभी को उससे अर्थ बोध होना चाहिए इस तरह कोई भी पुरुष किसी भी भाषा का अनभिज्ञ नहीं रहेगा। इत्यादि प्रश्नों का सही उत्तर मीमांसक दे नहीं सकते। अतः निष्कर्ष यह है कि शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्याय है अर्थात् एक जड़ पदार्थ की अवस्था विशेष है और वह मिट्टी की एक अवस्था विशेष जो घट है उसके समान अपने निमित्त कारण के मिलने पर प्रादुर्भूत होती है, अर्थात् शब्द का उपादान तो भाषावर्गणारूप पुद्गल द्रव्य है और निमित्त अनेकों हैं (तालु आदि का व्यापार) इस शब्द के भाषात्मक, अभाषात्मक, अक्षरात्मक, अनक्षरात्मक, तत, वितत, घन, सुषिर आदि अनेक प्रभेद हैं और इनके निमित्त कारण भी अनेक हैं। यहां प्रकरण में तो केवल मनुष्य के तालु आदि के व्यापार से उत्पन्न हुए शब्दों का वर्णन है। अस्तु।

॥ शब्दनित्यत्ववाद समाप्त ॥

शब्दनित्यत्ववाद के खण्डन का सारांश

मीमांसक—शब्द नित्य है क्योंकि अर्थ प्रतिपादन की अन्यथानुपपत्ति है, शब्द अनित्य होता तो उसमें संकेत नहीं हो सकता। शब्द और अर्थ का वाच्य वाचक संबंध तीन प्रमाणों से जाना जाता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति जब कोई पुरुष संकेत जानने वाले किसी दूसरे व्यक्ति को कहता है कि हे देवदत्त सफेद गाय को दण्डे से भगा दो, पास में कोई तीसरा पुरुष है जो संकेत ज्ञान से रहित है वह देवदत्त के द्वारा गाय को हटाता आदि को प्रत्यक्ष से देखकर शब्द और अर्थ समझ लेता है कि इस वाक्य का यह अर्थ है तथा गाय को हटाने की क्रिया से देवदत्त को तद्–विषयक ज्ञान है ऐसा अनुमान लग जाता है। पुनश्च शब्द की वाचक शक्ति और पदार्थ की वाच्य शक्ति का ज्ञान अर्थापत्ति से होता है कि इस शब्द में पदार्थ को कहने की शक्ति है इत्यादि। जैन सदृश शब्द से अर्थ का बोध होना मानते हैं अर्थात् संकेत कालीन शब्द नष्ट होकर पदार्थ को जानते समय अन्य सदृश शब्द आता है उससे अर्थ ज्ञान होना मानते हैं। किन्तु ऐसा मानने पर शाब्दिक ज्ञान भ्रान्त सिद्ध होगा। गौ आदि शब्द गोत्वादि सामान्य के वाचक हैं या गो व्यक्ति के वाचक हैं यह भी विचारणीय है गो शब्द सामान्य का वाचक है ऐसा माने तो सामान्य नित्य होने से उसका वाचक शब्द भी नित्य होगा। गो व्यक्ति का वाचक गो शब्द है ऐसा माने तो गो के नष्ट होने पर गो शब्द का अस्तित्व समाप्त होगा। क्योंकि शब्द को अनित्य माना ? तथा ये लोग शब्द को अनेक मानते हैं, किन्तु वह भी ठीक नहीं सूर्य एक है तो भी अनेक देशों में अनेक रूप दिखता है वैसे शब्द भी एक होकर अनेक जगह उपलब्ध होता है। प्रत्यभिज्ञान से भी शब्द का एकत्व सिद्ध होता है अतः शब्द को एक नित्य एवं व्यापक मानना चाहिये।

जैन—यह मीमांसक का शब्द नित्यवाद अनेक दोषों से भरा हुआ है। आपको शब्द अनित्य मानने में यह आपत्ति दिखती है कि शब्द अनित्य होने पर अर्थ ज्ञान नहीं होगा, सो अयुक्त है, सदृश शब्द से अर्थ ज्ञान होता है अर्थात् किसी ने "गाय" यह शब्द कहकर बालक को संकेत किया कि इस पदार्थ को गाय कहना, अब जब कभी वह बालक पुनः गाय शब्द सुनता है तो वह शब्द संकेत किये गये शब्द के सदृश रहता है अतः उसको सुनते ही वह सास्नायुक्त पशु का ज्ञान कर लेता है। जैसे रसोई घर की अग्नि और धूम के सम्बन्ध का ज्ञान होने पर पुनः पर्वतादि में उस धूम के

समान अन्य धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होता है। आपने शब्द को एकत्वरूप माना है किंतु शब्द में अनुगत प्रत्यय से अनेकपना सिद्ध होता है, तथा एक ही पुरुष एक ही समय में अनेक गो शब्द को विभिन्न देशों से ग्रहण कर लेता है इसलिये भी शब्द अनेक हैं। आप तालु आदि के व्यापार से व्यञ्जक वायु उत्पन्न होना मानते हैं तो उनसे शब्द उत्पन्न होते हैं ऐसा क्यों नहीं मानते? ध्वनि शब्दों की व्यञ्जक ही है तो उस व्यंजक के होते ही नियम से शब्द क्यों उपलब्ध होता है? व्यंजक होते ही व्यंग्य होवे ऐसा कोई नियम नहीं, दीप व्यंजक के होते हुए घटादि व्यंग्य नियम से हो ही ऐसा दिखाई नहीं देता है।

तथा अभिव्यंजक वायु से शब्द व्यक्त होते हैं तो एक साथ सब शब्द व्यक्त होना चाहिये थे? क्योंकि सभी शब्द मौजूद हैं, यदि कहा जाय कि जैसे घट रूप कार्यों की क्रमशः उत्पत्ति होती है वैसे शब्दों की क्रमशः अभिव्यक्ति होती है तो यह भी असत है घट रूप कार्य स्वकारण कलाप से उत्पन्न होता है न कि अभिव्यक्त, अतः वह क्रमशः होना संगत है किन्तु अभिव्यक्ति में क्रम नहीं होता, जैसे एक घड़ा बनाने की इच्छा से कुंभकार ने मिट्टी का एक पिंड चाक पर रखा, तो उससे घड़ा रूप एक ही कार्य उत्पन्न होगा, अन्य नहीं, किन्तु व्यंजक ऐसा नहीं होता, किसी ने अन्धकार में रखे हुए किसी एक घड़े को ढूंढने के लिए दीपक जलाया, वह दीपक उस घड़े को तो प्रकाशित करेगा ही, साथ ही समीप में रखे हुए अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करेगा। कहने का भाव यह है कि मृत् पिंड एक काल में एक ही घट का कारण है, किंतु दीपक विद्यमान सभी पदार्थों का प्रकाशक या अभिव्यंजक है। इसी प्रकार शब्द की व्यंजक एक वायु जब उसे अभिव्यक्त करे, तब सभी शब्दों की अभिव्यक्ति एक साथ होनी चाहिये, सो होती नहीं है। इस प्रकार यह दोष केवल अभिव्यक्ति के पक्ष में आता है न कि उत्पत्ति के पक्ष में। अतः निश्चित होता है कि तालु आदि के व्यापार से शब्दों की उत्पत्ति ही होती है न कि अभिव्यक्ति, यदि अभिव्यक्ति होती तो सभी शब्दों की होनी चाहिए, इसलिये शब्द को नित्य मानना सिद्ध नहीं होता है।

॥ समाप्त ॥

१७

शब्दसम्बन्धविचारः

ननु शब्दार्थयोः सम्बन्धासिद्धेः कथमाप्तप्रणीतोपि शब्दोऽर्थे ज्ञानं कुर्यायेत आप्तवचन-निबन्धनमित्यादि वचः शोभेतेत्याशङ्कापनोदार्थम् 'सहजयोग्यता' इत्याद्याह—

सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयः वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।।१००।।

बौद्ध—जैन ने शब्द को अनित्य सिद्ध करके आप्त पुरुष के शब्द द्वारा होने वाले पदार्थ के ज्ञान को आगम प्रमाण बताया। किंतु शब्द और अर्थ का कोई भी सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, फिर आप्त का कहा हुआ वचन पदार्थ का ज्ञान किस प्रकार करा सकता है जिससे आप्तवचनादि निबन्धन...इत्यादि आगम प्रमाण का लक्षण घटित हो सके ?

जैन—अब इस शंका का समाधान अग्रिम सूत्र द्वारा करते हैं—

सहजयोग्यतासंकेतवशाद्धि शब्दादयः वस्तु प्रतिपत्ति हेतवः ।।१००।।

सूत्रार्थ—शब्द वर्ण वाक्यादि में ऐसी सहज योग्यता है जिस योग्यता के कारण तथा संकेत होने के कारण (यह घट है इस पदार्थ को घट शब्द से पुकारते हैं इत्यादि संकेत के कारण) वे शब्दादिक अर्थ का ज्ञान कराने में हेतु हो जाते हैं।

सहजा स्वाभाविकी योग्यता शब्दार्थयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकशक्तिः ज्ञानज्ञेययोर्ज्ञाप्यज्ञापकशक्तिवत् । न हि तत्राप्यतो योग्यतातोऽन्यः कार्यकारणभावादिः सम्बन्धोस्तीत्युक्तम् । तस्यां सत्यां संकेतः । तद्वशाद्धि स्फुटं शब्दादयो वस्तुप्रतिपत्तिहेतवः ।

शब्द और पदार्थ में सहज स्वाभाविक योग्यता होती है उसी के कारण शब्द प्रतिपादक और पदार्थ प्रतिपाद्य की शक्ति वाला हो जाया करता है, जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञाप्य ज्ञापक शक्ति हुआ करती है । ज्ञान और ज्ञेय में भी सहज योग्यता को छोड़कर अन्य कोई कार्य कारण आदि सम्बन्ध नहीं होता, इस विषय को पहले (प्रथम भाग में) निर्विकल्प प्रत्यक्षवाद और साकार ज्ञानवाद प्रकरण में भलीभांति सिद्ध कर दिया है ।

विशेषार्थ—शब्द और पदार्थ में वाच्य–वाचक सम्बन्ध है न कि कार्यकारण आदि सम्बन्ध । ज्ञान और ज्ञेय अथवा प्रमाण और प्रमेय में भी कार्य कारण आदि सम्बन्ध नहीं पाये जाते अपितु ज्ञाप्य ज्ञापक सम्बन्ध ही पाया जाता है । बौद्ध ज्ञान और ज्ञेय में कार्य कारण सम्बन्ध मानते हैं उनका कहना है कि ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता है अतः ज्ञान कार्य है और उसका कारण ज्ञेय (पदार्थ) है किन्तु यह मान्यता सर्वथा प्रतीति विरुद्ध है । ज्ञानानुभव आत्मा में होता है अथवा यों कहिये कि अग्नि और उष्णतावत् आत्मा ज्ञान स्वरूप ही है ऐसा आत्मा से अपृथक्भूत ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होना सर्वथा असंभव है इसका विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ के प्रथम भाग में प्रकाशित हो चुका है वहां निर्विकल्प प्रत्यक्षवाद और साकार ज्ञानवाद नामा प्रकरण में सिद्ध कर दिया है । ज्ञान आत्मा से ही उत्पन्न होता है ज्ञेय से नहीं, फिर भी प्रतिनियत ज्ञेयको जानता अवश्य है, अर्थात् अमुक ज्ञान अमुक पदार्थ को जान सकता है अन्य को नहीं ऐसी प्रतिकर्म व्यवस्था ज्ञानकी क्षयोपशम जन्य योग्यता के कारण हुआ करती है । अस्तु । यहां पर शब्द और पदार्थ के योग्यता का कथन हो रहा है कि ज्ञान और ज्ञेय के समान ही शब्द और अर्थ में परस्पर में वाच्य वाचक सम्बन्ध होता है उस सम्बन्ध के कारण ही "घट" यह दो अक्षर वाला शब्द कंबुग्रीवादि से विशिष्ट पदार्थ को कहता है और यह कंबु आदि आकार से विशिष्ट घट पदार्थ भी उक्त शब्द द्वारा अवश्यमेव वाच्य होता है (कहने में आ जाता है) तथा शब्द द्वारा पदार्थ में बार बार संकेत भी किया जाता है कि यह गोल ग्रीवादि आकार वाला पदार्थ घट है इसको

यथा मेर्वादयः सन्ति ॥१०१॥

इति ।

ननु चासौ सहजयोग्यताऽनित्या, नित्या वा? न तावदनित्या; अनवस्थाप्रसङ्गात्–येन हि प्रसिद्धसम्बन्धेन 'अयम्' इत्यादिना शब्देनाप्रसिद्धसम्बन्धस्य घटादेः शब्दस्य सम्बन्धः क्रियते तस्याप्यन्येन प्रसिद्धसम्बन्धेन सम्बन्धस्तस्याप्यन्येनेति। नित्यत्वे चास्याः सिद्धं नित्यसम्बन्धाच्छब्दानां वस्तुप्रतिपत्तिहेतुत्वमिति मीमांसकाः; तेऽप्यतत्त्वज्ञाः; हस्तसंज्ञादिसम्बन्धवच्छब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यत्वेप्यर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वसम्भवात्। न खलु हस्तसंज्ञादीनां स्वार्थेन सम्बन्धो नित्यः, तेषामनित्यत्वे तदाश्रितसम्बन्धस्य नित्यत्वविरोधात्। न हि भित्तिव्यपाये तदाश्रितं चित्रं न व्यपैतीत्यभिधातुं शक्यम्।

घट कहना, घट ऐसा होता है इत्यादि। इस प्रकार शब्द और अर्थ की सहज योग्यता और संकेत ग्रहण इन दो कारणों से शब्द द्वारा पदार्थ का बोध होता है।

इस तरह शब्द की योग्यता के होने पर संकेत होता है और संकेत से शब्दादिक वस्तु के प्रतीति में हेतु हो जाते हैं।

यथा मेर्वादयः सन्ति ॥१०१॥

सूत्रार्थ—जैसे मेरुपर्वत आदि पदार्थ हैं ऐसा कहते ही आगमोक्त मेरुपर्वत की प्रतीति हो जाया करती है।

मीमांसक— यह सहज योग्यता अनित्य है या नित्य? अनित्य है ऐसा तो कह नहीं सकते क्योंकि अनवस्था दूषण आता है कैसे सो ही बताते हैं—प्रसिद्ध सम्बन्ध वाले "यह" इत्यादि शब्द द्वारा अप्रसिद्ध सम्बन्धभूत घट आदि शब्द का सम्बन्ध किया जायगा, पुनः उस शब्द का भी किसी अन्य प्रसिद्ध सम्बन्ध वाले शब्द द्वारा सम्बन्ध किया जाना और उसका भी अन्य द्वारा (क्योंकि योग्यता अनित्य होने से नष्ट हो जाती है और उसको पुनः पुनः अन्य अन्य शब्द द्वारा सम्बद्ध करना पड़ता है) हां यदि इस सहज योग्यता को नित्य रूप स्वीकार करते हैं तो उस नित्य योग्यता का सम्बन्ध होने के कारण ही नित्य रूप शब्द पदार्थ का बोध कराने में हेतु होते हैं ऐसा स्वयमेव सिद्ध होता है?

जैन—यह कथन असत् है, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनित्य होते हुए भी हस्त संज्ञा आदि के सम्बन्ध के समान ये भी अर्थ की प्रतिपत्ति कराने में हेतु होते हैं अर्थात् हस्त के इशारा से नेत्र के इशारा से जिस प्रकार अर्थ बोध होता है जो कि

न चानित्यत्वेऽस्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वं न दृष्टम्; प्रत्यक्षविरोधात् । एवं शब्दार्थसम्बन्धेप्येतद्वाच्यम्-स हि न तावदनाश्रितः; नभोवदनाश्रितस्य सम्बन्धत्वाऽसम्भवात् । आश्रितश्चेत्किं तदाश्रयो नित्यः, अनित्यो वा ? नित्यश्चेत्; कोयं नित्यत्वेनाभिप्रेतस्तदाश्रयो नाम ? जातिः, व्यक्तिर्वा ? न तावज्जातिः; तस्याः शब्दार्थत्वे प्रवृत्याद्यभावप्रतिपादनात्, निराकरिष्यमाणत्वाच्च । व्यक्तेस्तु तदाश्रयत्वे कथं नित्यत्वमनभ्युपगमात्तथाप्रतीत्यभावाच्च । अनित्यत्वे च तदाश्रयत्वस्य सिद्धं तद्व्यपाये सम्बन्धस्यानित्यत्वं भित्तिव्यपाये चित्रवत् । ततोऽयुक्तमुक्तम्—

अनित्य है उसी प्रकार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनित्य होते हुए भी उसके द्वारा अर्थ बोध होता है । हस्त संज्ञा (हाथ का इशारा) आदि का अपने अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध तो हो नहीं सकता क्योंकि स्वयं हस्तादि ही अनित्य हैं तो उनके आश्रय से होने वाला सम्बन्ध नित्य रूप किस प्रकार हो सकता है ? भित्ति के नष्ट होने पर उसके आश्रित रहने वाला चित्र नष्ट नहीं होता ऐसा कहना तो अशक्य ही है । अभिप्राय यह है कि स्वयं हस्त संज्ञादि अनित्य है अतः उसका अर्थ सम्बन्ध भी नष्ट होने वाला है जैसे कि भित्ति नष्ट होती है तो उसका चित्र भी नष्ट होता है ।

हस्त संज्ञा आदि अनित्य होने पर भी उससे अर्थ बोध नहीं होता हो सो ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि ऐसा कहना प्रत्यक्ष से विरुद्ध पड़ता है—हम प्रत्यक्ष से देखते हैं हस्तादि के इशारे अनित्य रहते हैं तो भी उनसे अर्थ की प्रतिपत्ति होती है । इसी हस्त संज्ञाका न्याय शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में लगाना चाहिए, शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनाश्रित तो हो नहीं सकता क्योंकि आकाश के समान अनाश्रित वस्तुका सम्बन्ध होना असंभव है । अब यदि यह शब्दार्थ सम्बन्ध आश्रित है तो प्रश्न होगा कि उसका आश्रय नित्य है या अनित्य है ? शब्दार्थ सम्बन्ध का आश्रय नित्य है ऐसा कहे तो नित्यरूप से अभिप्रेत ऐसा यह शब्दार्थ सम्बन्ध का आश्रय कौन हो सकता है जाति (सामान्य) या व्यक्ति ? (विशेष) वह आश्रय जातिरूप तो हो नहीं सकता, क्योंकि शब्द और अर्थ में जाति की प्रवृत्ति आदि नही होती ऐसा पहले सिद्ध हो चुका है तथा आगे चौथे परिच्छेद में (तृतीय भाग में) इस जाति अर्थात् सामान्य का निराकरण भी करने वाले हैं । शब्दार्थ के सम्बन्ध का आश्रय व्यक्ति है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो उस सम्बन्ध को नित्यरूप किस प्रकार कह सकते हैं ? क्योंकि आपने व्यक्ति को (विशेष को) नित्य माना ही नहीं और न नित्यरूप से उसकी प्रतीति ही

"नित्याः शब्दार्थसम्बन्धास्तत्राम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतन्त्राणां भाष्याणां च प्रणेतृभिः॥"

[वाक्यपदी० १।२३] इति;

सदृशपरिणामविशिष्टस्यार्थस्य शब्दस्य तदाश्रितसम्बन्धस्य चैकान्ततो नित्यत्वासम्भवात्। सर्वथा नित्यस्य वस्तुनः क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियासम्भवतोऽसत्त्वं चाऽश्वविषाणवत्। अनवस्थादूषणं चायुक्तमेव; 'अयम्' इत्यादेः शब्दस्यानादिपरम्परातोऽर्थमात्रे प्रसिद्धसम्बन्धत्वात्, तेनावगतसम्बन्धस्य घटादिशब्दस्य सकेतकरणात्।

होती है। व्यक्ति अनित्य ही है अतः उसके आश्रित रहने वाला उक्त सम्बन्ध भी अनित्य सिद्ध होता है जैसे कि भित्ति के अनित्य होने से तदाश्रित चित्र भी अनित्य होता है। इस प्रकार शब्दार्थ सम्बन्ध अनित्य है ऐसा निश्चय हुआ। इसलिये परवादी का निम्न कथन असत् होता है कि—महर्षियों ने शब्द और अर्थों के सम्बन्ध नित्यरूप स्वीकार किये हैं तथा सूत्र अनुतंत्र एवं भाष्यों का प्रणयन करने वाले पुरुषों ने भी शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य माना है॥१॥

तथा सदृश परिणाम से विशिष्ट ऐसा अर्थ और शब्द के एवं उसके आश्रित रहने वाले सम्बन्ध के सर्वथा नित्यपना होना असंभव ही है। क्योंकि सर्वथा नित्य वस्तु में क्रम से अथवा युगपत् अर्थक्रिया का होना अशक्य है और अर्थक्रिया के अभाव में उस वस्तु का असत्त्व ही हो जाता है, जैसे अश्वविषाण में अर्थक्रिया न होने से उसका असत्त्व है। शब्दार्थ सम्ब्रन्ध को अनित्य माने तो अनवस्था दोष आता है ऐसा मीमांसक का कहना तो अयुक्त ही है, क्योंकि "अयम्" यह इत्यादि शब्दका अर्थमात्र में सम्बन्ध अनादि प्रवाह से चला आ रहा है, उस प्रसिद्ध सम्बन्ध द्वारा जिसका सम्बन्ध ज्ञात हुआ है ऐसे घट आदि शब्द में संकेत किया जाता है। अतः अनवस्था नहीं होती।

तथा शब्दार्थ में नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करने वाले आप मीमांसकादि प्रवादी के यहां भी उक्त अनवस्था दोष समान रूप से संभावित है, कैसे सो बताते हैं—शब्द को नित्य मानते हुए भी एवं शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानते हुए आपने उसके अभिव्यक्त और अनभिव्यक्त भेद किये हैं अतः अनभिव्यक्त सम्बन्ध वाले शब्द का

नित्यसम्बन्धवादिनोपि चानवस्थादोषस्तुल्य एव–अनभिव्यक्तसम्बन्धस्य हि शब्दस्याभिव्यक्तसम्बन्धेन शब्देन सम्बन्धाभिव्यक्तिः कर्त्तव्या, तस्याप्यन्येनाभिव्यक्तसम्बन्धेनेति। यदि पुनः कस्यचित्स्वत एव सम्बन्धाभिव्यक्तिः; अपरस्यापि सा तथैवास्तीति संकेतक्रिया व्यर्था। शब्दविभागाभ्युपगमे चालं सम्बन्धस्य नित्यत्वकल्पनया। कल्पने चाऽगृहीतसंकेतस्याप्यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्। संकेतस्तस्य व्यंजकः; इत्यप्ययुक्तम्; नित्यस्य व्यंगयत्वायोगात्। नित्यं हि वस्तु यदि व्यक्तं व्यक्तमेव, अथाव्यक्तमप्यव्यक्तमेव, अभिन्नस्वभावत्वात्तस्य। शब्दाभिव्यक्तिपक्षनिक्षिप्तदोषानुषङ्गश्चात्रापि तुल्य एव।

जिसकी अभिव्यक्ति हो चुकी है ऐसे शब्द के द्वारा सम्बन्ध की अभिव्यक्ति करनी होगी और उस पूर्व शब्द का भी किसी अन्य अभिव्यक्त सम्बन्ध वाले शब्द द्वारा संबंधाभिव्यक्त करना होगा। इस अनवस्था को दूर करने के लिये किसी एक शब्द की संबंधाभिव्यक्ति स्वतः ही होती है ऐसा मानते हैं तो दूसरे शब्द की सम्बन्धाभिव्यक्ति भी स्वतः हो सकती है इसलिये फिर उसमें संकेत करना व्यर्थ ही हो जाता है अर्थात् शब्दार्थ का सम्बन्ध स्वतः ही अभिव्यक्त होता है तो उसके लिये वृद्ध पुरुषादि के द्वारा "यह घट है" इत्यादि रूप से बार बार संकेत क्यों किया जाता है ? इस संकेत क्रिया से ही स्पष्ट होता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध स्वतः अभिव्यक्त नहीं होता। यदि शब्दों में विभाग स्वीकार किया जाय कि "अयम्" इत्यादि शब्द अभिव्यक्त सम्बन्ध वाला है और "घटः" इत्यादि शब्द अनभिव्यक्त सम्बन्ध वाला है तो फिर सम्बन्ध को नित्य मानने की कल्पना ही व्यर्थ है। उस सम्बन्ध को यदि नित्य मानने का हटाग्रह हो तो संकेत ग्रहण के बिना भी शब्द से अर्थकी प्रतीति होती है ऐसा मीमांसक को स्वीकार करना होगा।

मीमांसक—नित्य शब्द के सम्बन्ध को संकेत द्वारा व्यक्त किया जाता है अर्थात् संकेत उसका व्यंजक माना गया है ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, नित्य वस्तु व्यक्त करने योग्य नहीं होती, क्योंकि नित्य वस्तु यदि व्यक्त है तो सदा व्यक्त ही रहेगी और अव्यक्त है तो सदा अव्यक्त ही रहेगी, इसका भी कारण यह है कि नित्य वस्तु सदा एक अभिन्न स्वभाववाली होती है। तथा संकेत द्वारा सम्बन्ध की अभिव्यक्ति मानने के इस पक्ष में पहले के शब्दाभिव्यक्तिके पक्षमें दिये गये दूषण भी समान रूप से प्राप्त होते हैं।

किंच, संकेतः पुरुषाश्रयः स चातीन्द्रियार्थज्ञानविकलतयान्यथापि वेदे संकेतं कुर्यादिति कथं न मिथ्यात्वलक्षणमस्याप्रामाण्यम् ?

किंच, असौ नित्यसम्बन्धवशादेकार्थनियतः, अनेकार्थनियतो वा स्यात् ? एकार्थनियतश्चेत्किमेकदेशेन, सर्वात्मना वा ? सर्वात्मनैकार्थनियमे अर्थान्तरे वेदात्प्रतिपत्तिर्न स्यात्, ततश्चाम्याज्ञानलक्षणमप्रामाण्यम्। एकदेशेन चेत्; स किमेकदेशोऽभिमतैकार्थनियतः, अनभिमतैकार्थनियतो वा ? अनभिमतैकार्थनियतश्चेत्; कथं न मिथ्यात्वलक्षणमप्रामाण्यम् ? अभिमतैकार्थनियतश्चेत्किं पुरुषात्, स्वभावाद्वा ? प्रथमपक्षे अपौरुषेयत्वसमर्थनप्रयासो व्यर्थः। पुरुषो हि रागाद्यन्धत्वात्प्रतिक्षिप्यते,

---

किंच, संकेत पुरुष के आश्रित होता है और पुरुष अतीन्द्रिय ज्ञान से रहित होते हैं अतः ऐसे पुरुष द्वारा वेद में स्थित शब्दोंका विपरीत अर्थ में भी संकेत किया जाना संभावित होने से इस वेदवाक्य में मिथ्यापन रूप अप्रामाण्य कैसे नहीं होगा ? अर्थात् अवश्य होगा।

तथा यह संकेत नित्य सम्बन्ध के वश से एक अर्थ में नियत है अथवा अनेक अर्थोमें नियत है ? एक अर्थ में ही नियत है ऐसा कहे तो एक देश से नियत है अथवा सर्वात्मना–सर्वस्वरूप से नियत है ऐसी आशंका होती है ? यदि एक अर्थ में सर्व स्वरूप से संकेत का होना स्वीकार करते हैं तो वेद से अन्य अर्थ में प्रतीति नहीं हो सकेगी और इस तरह अर्थांतर में इस वेद को अज्ञानरूप अप्रामाणिक ही माना जायगा। नियत एक अर्थ में एक देश से संकेत होता है ऐसा द्वितीय विकल्प माने तो वह एक देश से होने वाला संकेत भी अभिमत एक अर्थ नियत है (अर्थात् अपने को इष्ट ऐसे एक अर्थ में नियत है) अथवा अनभिमत (अनिष्ट) एकार्थ नियत है ? यदि अनभिमत एकार्थ नियत है ऐसा मानेंगे तो वेद में मिथ्यापना रूप अप्रामाण्य का प्रसंग प्राप्त होता है अर्थात् स्वयं मीमांसक को अनिष्ट ऐसे अर्थ में एकदेशरूप संकेत होने से वेद में विपर्यासरूप अप्रमाणता सिद्ध होती है। क्योंकि अनभिमत एकार्थ में संकेत किया जाता है ऐसा मान लिया। दूसरा विकल्प–संकेत अभिमत एकार्थ नियत होता है ऐसा माने तो वह भी किस कारण से होता है पुरुष से होता है अथवा स्वभाव से होता है ? पुरुष से होता है ऐसा कहो तो वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने का प्रयास व्यर्थ है क्योंकि मीमांसक सभी पुरुषों का सर्वदा राग द्वेषादि दोषयुक्त मानकर उनका निराकरण करते हैं। यदि रागादिमान पुरुष से वेद के एकदेश से होने वाला अर्थ का नियम जाना जाता है तो वेद को अपौरुषेय मानने से क्या प्रयोजन सधता है ? कुछ

तस्माच्चेद्वेदैकदेशोऽर्थनियमं प्रतिपद्यते, किमपौरुषेयत्वेन ? अनेकार्थनियमे च विरुद्धोऽप्यर्थः सम्भवेत्, तथा चास्य मिथ्यात्वम्।

किंच, असौ सम्बन्ध ऐन्द्रियः, अतीन्द्रियः, अनुमानगम्यो वा स्यात् ? न तावदैन्द्रियः; स्वेन्द्रिये स्वेन रूपेणाप्रतिभासमानत्वात्। अतीन्द्रियश्चेत्; कथं प्रतिपत्त्यंगं ज्ञापकस्य निश्चयापेक्षणात् ? सन्निधिमात्रेण ज्ञापनेऽतिप्रसंगात्।

अनुमानगम्यश्चेत्; न; लिंगाभावात्। तस्य हि लिंगं ज्ञानम्, अर्थः, शब्दो वा ? न तावज्ज्ञानम्; सम्बन्धासिद्धौ तत्कार्यत्वेनास्याऽनिश्चयात्। नाप्यर्थः; तस्य तेन सम्बन्धासिद्धेः। न हि सम्बन्धार्थ-

---

भी नहीं। अर्थात् वेद को अपौरुषेय इसलिये मानते हैं कि रागादियुक्त पुरुष वेद की रचना को प्रामाणिक रूप नहीं कर सकते किन्तु जब रागादियुक्त पुरुष वेद वाक्य का अभिमत एक निश्चित अर्थ कर सकते हैं तब उस वेद को अपौरुषेय मानने का कुछ प्रयोजन नहीं रहता है। संकेत अनेक अर्थों में नियत है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो वेद वाक्य का विरुद्ध अर्थ होना भी संभव है और विरुद्ध अर्थ संभावित होने से वेद में मिथ्यापनारूप अप्रमाणता आ जाती है।

तथा यह शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध इन्द्रिय द्वारा गम्य है अथवा अतीन्द्रिय है या कि अनुमानगम्य है ? इन्द्रियगम्य तो हो नहीं सकता क्योंकि अपने इन्द्रियों द्वारा (कर्ण तथा नेत्र) असाधारण रूप से शब्दार्थ सम्बन्ध प्रतिभासित नहीं होता है (इसका भी कारण यह है कि वाच्य वाचक का सामर्थ्य अतीन्द्रिय होता है) शब्दार्थ सम्बन्ध अतीन्द्रिय है ऐसा कहे तो वह सम्बन्ध प्रतीतिका निमित्त कैसे हो सकता है ? क्योंकि ज्ञापक अर्थात् प्रतीतिका हेतु नही हो सकता जो निश्चय रूप हो। सन्निधान होने मात्र से किसी को ज्ञापक माना जाय तो अतिप्रसंग होगा।

शब्दार्थ का नित्य सम्बन्ध अनुमानगम्य होता है ऐसा कहे तो भी ठीक नहीं, क्योंकि हेतुका अभाव है, हेतु के बिना अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती, यहां नित्य सम्बन्ध को जानने के लिये हेतु ज्ञानको बनावे या अर्थको अथवा शब्दको ? ज्ञानको तो बना नहीं सकते क्योंकि सम्बन्ध ही असिद्ध है तो उसके कार्य रूप इस ज्ञानका निश्चय कैसे होवे ? अभिप्राय यह है परवादी ज्ञानको पदार्थ का कार्य मानते हैं सो सम्बन्ध रूप पदार्थ के असिद्ध रहने पर उसका कार्य रूप ज्ञान भी अनिश्चय स्वरूप ही होगा। सम्बन्ध को ज्ञात करने के लिये अर्थको हेतु बनाते हैं तो ठीक नहीं, क्योंकि

योस्तादात्म्यम्; सम्बन्धस्यानित्यत्वानुषंगात् । नापि तदुत्पत्तिः; अनभ्युपगमात् । असम्बद्धश्चार्थः कथं सम्बन्धं ज्ञापयत्यतिप्रसंगात् ? ज्ञापने वा शब्दा एवं सम्बन्धविकलाः किमर्थं न ज्ञापयन्त्यलं सिद्धोपस्थायिना नित्यसम्बन्धेन ? तन्नार्थोपि लिंगम् । नापि शब्दः; अर्थपक्षोक्तदोषानुषंगात् । ततो नित्यसम्बन्धस्य प्रमाणतोऽप्रसिद्धेर्न तद्वशाद्वेदोऽर्थप्रतिपादकः ।

अथ स्वभावादेवासौ तत्प्रतिपादकः; तन्न; 'अयमेवास्माकमर्थो नायम्' इति वेदेनानुक्तेः । तदुक्तम्—

"अयमर्थो नायमर्थ इति शब्दा वदन्ति न ।
कल्प्योयमर्थः पुरुषैस्ते च रागादिविप्लुताः ॥१॥"

[प्रमाणवा० ३।३१२]

अर्थका शब्दार्थ के नित्य सम्बन्ध के साथ सम्बन्ध होना असिद्ध है कैसे सो बताते हैं—सम्बन्ध और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध तो होता नहीं, यदि इनमें तादात्म्य माना जायगा तो अर्थके समान सम्बन्ध को भी अनित्य मानना पड़ेगा । सम्बन्ध और अर्थमें तदुत्पत्ति सम्बन्ध होना तो अशक्य है क्योंकि ऐसा परवादी ने माना नहीं । और शब्दार्थ नित्य सम्बन्ध के साथ जब तक अर्थ सम्बद्ध नहीं होता तब तक वह अर्थ उक्त सम्बन्ध को किस प्रकार बतला सकता है ? अर्थात् नहीं बतला सकता अन्यथा अतिप्रसंग होगा । अथवा यदि असम्बद्ध अर्थ द्वारा नित्य सम्बद्ध ज्ञापित भी होवे तो भी कुछ लाभ नहीं, इस तरह तो सम्बन्ध रहित केवल शब्द ही अर्थका ज्ञापन क्यों नहीं कर लेवे ? अर्थात् नित्य सम्बन्ध के बिना भी शब्द अपने वाच्यार्थ को कहने में समर्थ है अतः इस सिद्ध उपस्थायी (सब कार्य हो चुकने पर उपस्थित होने वाले) नित्य सम्बन्ध की परिकल्पना से अब बस हो । उससे क्या प्रयोजन है ? इस प्रकार नित्य सम्बन्ध का हेतु अर्थ है ऐसा द्वितीय पक्ष गलत सिद्ध हुआ । शब्दको हेतु मानना भी अयुक्त है इस पक्ष में भी अर्थ पक्ष में दिये हुए दोष आते हैं । इसलिये नित्य सम्बन्ध प्रमाण द्वारा असिद्ध होने से उसके द्वारा वेद अर्थका प्रतिपादक होता है ऐसा कहना असिद्ध होता है ।

मीमांसक—वेदवाक्य स्वभाव से ही अर्थ के प्रतिपादक हुआ करते हैं ?

जैन—यह कथन असत् है "हमारे वाक्यों का यही अर्थ है, यह अर्थ नहीं है" ऐसा वेद द्वारा कहा नहीं जाता है । जैसा कि ग्रन्थांतर में बतलाया है कि—शब्द आप

इति । ततो लौकिको वैदिको वा शब्दः सहजयोग्यतासंकेतवशादेवार्थप्रतिपादकोऽभ्युपगन्तव्यः प्रकारान्तरासम्भवात् ।

स्वयं नहीं कहते हैं कि यह अर्थ है, इसका यह अर्थ नहीं होता इत्यादि, ऐसा अर्थ तो पुरुषों द्वारा किया जाता है और वे पुरुष रागादि युक्त ही होते हैं ।।१।। इस कारिका से निश्चित होता है कि शब्द अपने अर्थको नही बतलाते हैं । इसलिये यह निष्कर्ष निकलता है कि लौकिक शब्द हो चाहे वैदिक शब्द हो दोनों ही सहज योग्यता और संकेत होने के कारण ही अर्थके प्रतिपादक हुआ करते हैं । अर्थ प्रतिपत्ति के लिये अन्य कोई प्रकार नही पाया जाता ।

विशेषार्थ—शब्द द्वारा घटादि पदार्थ का ज्ञान किस कारण से होता है इस विषय में विवाद है मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं और उस नित्य शब्द का स्ववाच्य के साथ नित्य सम्बन्ध भी मानते हैं किन्तु यह मान्यता असमीचीन है, क्योंकि शब्द और अर्थका सम्बन्ध यदि नित्य है तो एक शब्द एक ही अर्थका वाचक हो सकेगा तथा हमेशा उसी एक अर्थको ही बतायेगा किन्तु ऐसा नहीं होता । तथा शब्द नित्य न होकर अनित्य होता है ऐसा अभी शब्द नित्यवाद का निराकरण करते हुए निश्चय कर आये हैं । मीमांसक की इस विषय में शंका है कि यदि शब्द और अर्थका सम्बन्ध अनित्य मानते हैं उसमें संकेत किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि जैन शब्द को अनित्य मानते हैं अतः जिस शब्द में संकेत हुआ वह तो नष्ट हो चुकता है तथा जिस शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध होता है वह भी नष्ट हो जाता है तब इस घट शब्द का यह वाच्य है इत्यादि रूप से संकेत कैसे होवे ? आचार्य ने इसका समाधान किया है कि शब्द अनित्य है किन्तु तत् सदृश अन्य शब्द उत्पन्न होता रहता है उसमें संकेत होता है, अमुक शब्दका अमुक अर्थ होता है इत्यादि रूप से वाच्य-वाचक सम्बन्ध और उसमें संकेत होना ये सब परंपरागत चले आते हैं, गुरु से शिष्य को, माता पिता से बालक को संकेत होता रहता है, यह संकेत परंपरा गंगा प्रवाह के समान चली आ रही है अर्थात् गंगा की धारा वही नहीं रहती अपितु प्रतिक्षण नयी नयी बहती चलती है । इसी प्रकार शब्द और अर्थका सम्बन्ध तथा उनमें होने वाला संकेत नित्य बना नहीं रहता किन्तु गुरु शिष्यादि की परंपरा से चला आ रहा है । यहां तो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का विषय है अतः उनके लिये प्रतिपादन किया है ऐसे ही शब्द तथा पदार्थ भी कथंचित

नित्य और कथंचित अनित्य होते हैं, स्याद्वाद द्वारा यह सब घटित हो सकता है। किंतु मीमांसक, बौद्ध आदि परवादी के यहां प्रत्येक वस्तु को एक धर्मात्मक माना जाता है अतः कुछ भी सिद्ध नहीं होता, शब्द को नित्य मानकर मीमांसक चाहे जितना विवाद करे और बौद्ध अनित्य का पक्ष लेकर झगड़ा करे किन्तु सार नहीं निकलता, इनकी अच्छी युक्तियां भी एकांत के कारण सदोष हो जाती हैं अतः शब्द और अर्थके संबंध को अनित्य मानना होगा और अनित्य होते हुए भी अनादि प्रवाह रूप मानना होगा। इस प्रकार शब्द में सहज स्वाभाविक वाचक शक्ति है और अर्थ में वाच्य शक्ति है अतः घट आदि शब्द द्वारा घट पदार्थ का ज्ञान होता है ऐसा मानना चाहिये, तथा शब्द द्वारा अर्थ बोध होने में संकेत भी कारण है ऐसा निर्बाध सिद्ध हुआ।

।। समाप्त ।।

१८

अपोहवादः

ननु चार्थप्रतिपादकत्वमेषामसम्भाव्यम्, य एव हि शब्दाः सत्यर्थे दृष्टास्ते एवातीतानागतादौ तदभावेपि दृश्यन्ते । यदभावे च यद्दृश्यते न तत्तत्प्रतिबद्धम् यथाऽश्वाऽभावेपि दृश्यमानो गौर्न तत्प्रतिबद्धः, अर्थाभावेपि दृश्यन्ते च शब्दाः, तन्नैतेऽर्थप्रतिपादकाः, किन्त्वन्यापोहमात्राभिधायकाः । तदप्यविचारितरमणीयम्; अर्थवतः शब्दात्तद्रहितस्यास्यान्यत्वात् । न चान्यस्य व्यभिचारेऽन्यस्याप्यसौ

बौद्ध—जैन शब्द में सहज योग्यता आदि के होने के कारण अर्थ की प्रतीति होना सिद्ध करते हैं अर्थात् शब्द अर्थका प्रतिपादन करते हैं ऐसा इनका कहना है किंतु शब्द द्वारा अर्थका प्रतिपादन होना असंभव है, क्योंकि जो शब्द विद्यमान अर्थ में देखे गये हैं वे ही अतीत अनागत काल में अर्थ के नहीं होने पर भी देखे जाते हैं ? जिसके नहीं होने पर जो दिखायी देता है वह उसके साथ सम्बद्ध (अविनाभावी) नहीं होता, जैसे अश्व के नहीं होने पर गो दिखायी देने से वह उसके साथ सम्बद्ध नहीं मानी जाती, पदार्थ के अभाव में भी शब्दों की उपलब्धि होती ही है अतः ये अर्थों के प्रतिपादक नहीं हो सकते, शब्द तो केवल अन्यापोह के अभिद्यायक (प्रतिपादक) होते हैं । अर्थात् शब्द द्वारा अन्य अर्थ का व्यावर्त्तन मात्र होता है न कि विवक्षित अर्थ की प्रतिपत्ति । अपोह्यते अन्यार्थः येनासौ अन्यापोहः शब्द इति । ऐसा अन्यापोह का निरुक्ति अर्थ है अर्थात् गो आदि शब्द गो अर्थ के वाचक न होकर केवल अश्वादि अर्थ के व्यावर्त्तक हैं ।

जैन—यह कथन अविचारपूर्ण है, अर्थ के सद्भाव में होने वाले शब्दों से अर्थाभाव में होने वाले शब्द भिन्न हैं, अर्थाभाव में होने वाले शब्दों का व्यभिचार अर्थ

युक्तः; अन्यथा गोपालघटिकादिधूमस्याग्निव्यभिचारोपलम्भात्पर्वतादिप्रदेशवर्तिनोपि स स्यात्, तथा च कार्यहेतवे दत्तो जलाञ्जलिः। 'सकलशून्यता च, स्वप्नादिप्रत्ययानां क्वचिद्विभ्रमोपलम्भतो निखिलप्रत्ययानां तत्प्रसङ्गात्। 'यत्नतः परीक्षितं कार्यं कारणं नातिवर्तते' इत्यन्यत्रापि समानम्—'यत्नतो हि शब्दोर्थवस्त्वेतरस्वभावतया परीक्षितोर्थं न व्यभिचरति' इति। तथा चान्यापोहमात्राभिधायित्वं शब्दानां श्रद्धामात्रगम्यम्।

किंच, अन्यापोहमात्राभिधायित्वे प्रतीतिविरोधः–गवादिशब्देभ्यो विधिरूपावसायेन प्रत्ययप्रतीतेः। अन्यनिषेधमात्राभिधायित्वे च तत्रैव चरितार्थत्वात्सास्नादिमतोर्थस्यातोऽप्रतीतेः तद्विषयाया

के सद्भाव में होने वाले शब्दों में लगाना ठीक नहीं यदि इस तरह अन्य का व्यभिचार दोष अन्य में लगायेंगे तो गोपालघटिका आदि में होने वाला धूम अग्नि से व्यभिचरित होता हुआ देखकर उस व्यभिचार को पर्वतादि प्रदेशस्थ धूम में भी लगाना चाहिए ? और इस प्रकार धूमादि हेतु व्यभिचार युक्त मानने पर कार्य हेतु के लिये जलांजलि ही दी जायगी, अर्थात् कार्य हेतु की मान्यता ही नष्ट हो जायगी। दूसरा दोष सकल शून्यता का आयेगा, अर्थात् अन्य का व्यभिचार किसी अन्य में लगाते हैं तो स्वप्नादि में होने वाला अर्थ प्रतिभास भ्रांत हुआ देखकर सभी प्रतिभासों को भ्रांत मानना होगा ? क्योंकि अन्य का दोष अन्य में लगा सकते हैं ? और इस तरह सभी प्रतिभास (ज्ञान) भ्रांत हैं तो इनके विषयभूत पदार्थ भी भ्रांत (काल्पनिक) कहलायेंगे। और ज्ञान तथा पदार्थ भ्रांत हैं तो सकल शून्यता आ ही जाती है।

बौद्ध – यह प्रसंग नहीं आता क्योंकि यत्न से परीक्षा किया हुआ कार्य कारण के साथ व्यभिचारित नहीं होता अर्थात् पर्वतादि का धूम रूप कार्य अपने अग्नि रूप कारण के साथ व्यभिचरित नहीं होता अतः सब कार्य हेतु सदोष होना या सकल शून्यता आना इत्यादि दोष नहीं आते।

जैन – ठीक है, यही बात शब्द के विषय में है, कोई कोई शब्द अर्थ के विद्यमान नहीं होते हुए उपलब्ध होने पर भी अन्य शब्द तो ऐसे नहीं है अर्थात् यत्न से परीक्षा करने पर निर्णीत होता है कि अमुक शब्द अर्थवान् है और अमुक शब्द नहीं इस प्रकार परीक्षित हुआ शब्द कभी भी व्यभिचरित नहीं होता। अतः शब्द केवल अन्यापोह के अभिधायक है ऐसा कहना श्रद्धा मात्र है।

गवादिबुद्धेर्जनकोन्यो ध्वनिरन्वेषणीयः। अर्थकेनैव गोशब्देन बुद्धिद्वयस्योत्पादान्न परो ध्वनिर्मृग्यः; न; एकस्य विधिकारिणो निषेधकारिणो वा ध्वनेर्युगपद्विज्ञानद्वयलक्षणफलानुपलम्भात्। विधिनिषेधज्ञानयोश्चान्योन्यं विरोधात् कथमेकस्मात्सम्भवः ?

यदि च गोशब्देनागोशब्दनिवृत्तिर्मुख्यतः प्रतिपद्यते; तर्हि गोशब्दश्रवणानन्तरं प्रथमतरम् 'अगौः' इत्येषा श्रोतुः प्रतिपत्तिर्भवेत्। न चैवम्, अतो गोबुद्धयनुत्पत्तिप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

शब्द केवल अन्यापोह के वाचक ही है ऐसा मानना प्रतीति विरुद्ध भी है, क्योंकि गो आदि शब्दों से अस्तित्वरूप निश्चय द्वारा सास्नादिमान पदार्थों की प्रतीति हो रही है फिर कैसे कह सकते हैं कि शब्द केवल अन्यापोह का वाचक है ? यदि गो आदि शब्द अन्य का निषेध मात्र करते तो उसी अर्थ में शब्द का कर्त्तव्य समाप्त हो जाने से सास्नादिमान गो पदार्थ उससे प्रतिभासित नहीं हो सकेगा अतः उस गो आदि विषय को करने वाला गो आदि के ज्ञानका जनक कोई अन्य शब्द ही खोजना पड़ेगा ? अर्थात् गो शब्द ने केवल अन्य अर्थ जो अश्वादि है उसका निषेध किया है सास्नायुक्त गो पदार्थ को नहीं कहा है उस सास्नायुक्त पदार्थ को कहने वाला कोई दूसरा शब्द ही चाहिये ।

बौद्ध—एक ही गो शब्द से दोनों ज्ञान (अन्य का अपोह सम्बन्धी और सास्नायुक्त गो सम्बन्धी) उत्पन्न किये जाते हैं अतः अन्य शब्द नहीं खोजना पड़ता ?

जैन—ऐसा शक्य नहीं । विधिकारक या निषेधकारक एक ध्वनि या शब्द द्वारा एक साथ दो ज्ञान उत्पन्न करना रूप फल उपलब्ध नहीं होता है । तथा विधि रूप ज्ञान (गो है इत्यादि) और निषेध रूप ज्ञान (अश्वादि नहीं है) ये परस्पर में विरोध रूप है इन दोनों का एक शब्द से प्रादुर्भाव होना किस प्रकार संभव है ? अर्थात् संभव नहीं है ।

तथा यदि गो शब्द द्वारा मुख्य रूप से अगोशब्द की निवृत्ति होना ही मानते हैं तो गो शब्द को सुनते ही सबसे पहले "अगो" इस प्रकार का सुनने वाले को ज्ञान होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता । यदि ऐसा होता तो गो का ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता । बौद्ध के तत्त्वसंग्रह ग्रंथ में भी पूर्वपक्ष रूप से यही बात कही है—तुम बौद्ध के मत में शब्द को अन्यापोह का वाचक माना जाता है किन्तु शब्द द्वारा होने वाले

"नन्वन्यापोहकृच्छब्दो युष्मत्पक्षेऽनुवर्णितः ।
निषेधमात्रं नैवेह प्रतिभासेऽवगम्यते ॥१॥
किन्तु गौर्गवयो हस्ती वृक्ष इत्यादिशब्दतः ।
विधिरूपावसायेन मतिः शाब्दी प्रवर्त्तते ॥२॥"

[तत्त्वसं० का० ९१०-११ पूर्वपक्षे]

"यदि गौरित्ययं शब्दः समर्थोन्यनिवर्त्तने ।
जनको गवि गोबुद्धि(द्धे)र्मृग्यतामपरो ध्वनिः ॥३॥
ननु ज्ञानफलाः शब्दा न चैकस्य फलद्वयम् ।
अपवादविधिज्ञानं फलमेकस्य वः कथम् ॥४॥
प्रागगौरिति विज्ञानं गोशब्दश्राविणो भवेत् ।
येनाऽगोः प्रतिषेधाय प्रवृत्तो गौरिति ध्वनिः ॥५॥"

[भामहालं० ६।१७-१९]

ज्ञान में अन्यापोहरूप निषेध मात्र प्रतिभासित नहीं होता अपितु गो शब्द से गो का अस्तित्वरूप प्रतिभास ही होता है एवं गवय, हाथी, वृक्ष इत्यादि शब्द से अस्तित्व रूप अर्थ ही प्रतीत होता है न कि अन्यापोह रूप ॥१-२॥ भामह विरचित काव्यालंकार नामा ग्रंथ में भी इसी तरह कहा है—यदि "गौः" इस प्रकार का शब्द केवल अन्य अश्वादिकी निवृत्ति करने में समर्थ है तो गो पदार्थ में गो का ज्ञान कराने वाला कोई अन्य शब्द खोजना होगा ॥३॥ बौद्ध कहे कि अन्य शब्द की खोज करना पड़े तो पड़ने दो ? सो भी बात नहीं क्योंकि शब्द ज्ञान रूप फलको उत्पन्न करने वाले माने हैं। किन्तु यह बात भी नहीं है कि वे विधि और निषेध रूप दो ज्ञानों को उत्पन्न कर सकते हों। अतः आप बौद्ध के यहां एक ही गो शब्द से अन्यापोह और अस्तित्व रूप दो ज्ञान उत्पन्न होना किस प्रकार स्वीकार किया है ? ॥४॥ यदि शब्द अन्यापोह के वाचक है तो गो शब्द को सुनने वाले पुरुष को पहले "अगौः" इस प्रकार का ज्ञान होना था ? किन्तु होता तो नहीं। फिर आगे का प्रतिषेध करने के लिये गो शब्द प्रवृत्त होता है ऐसा किस प्रकार माना जाय अर्थात् नहीं मान सकते ॥५॥

किंच, अपोहलक्षणं सामान्यं वाच्यत्वेनाभिधीयमानं पर्युदासलक्षणं वाभिधीयेत, प्रसज्यलक्षणं वा ? प्रथमपक्षे सिद्धसाध्यतायदेव ह्यगोनिवृत्तिलक्षणं सामान्यं गोशब्देनोच्यते भवतातदेवास्माभिर्गोत्वाख्यं भावलक्षणं सामान्यं गोशब्दवाच्यमित्यभिधीयेत, अभावस्य भावान्तरात्मकत्वेन व्यवस्थितत्वात्।

कश्चायं भवतामश्वादिनिवृत्तिस्वभावो भावोऽभिप्रेतः ? न तावदसाधारणो गवादिस्वलक्षणात्मा; तस्य सकलविकल्पगोचरातिक्रान्तत्वात्। नापि शावलेयादिव्यक्तिविशेष; असामान्यप्रसंगतः। यदि गोशब्दः शावलेयादिवाचकः स्यात्तर्हि तस्यानन्वयान्न स सामान्यविषयः स्यात्। तस्मात्सर्वेषु सजातीयेषु शावलेयादिपिण्डेषु यत्प्रत्येकं परिसमाप्तं तन्निबन्धना गोबुद्धिः, तच्च गोत्वाख्यमेव सामान्यम्। तस्याऽगोऽपोहशब्देनाभिधानान्नाममात्रं भिद्येत। उक्तश्च—

किंच, बौद्ध मत में शब्द का वाच्य अपोह सामान्य माना है सो वह अपोह पर्युदास लक्षण वाला है या प्रसज्य लक्षण वाला है ? प्रथम पक्ष में सिद्ध साध्यता है (सिद्ध को ही सिद्ध करना है) क्योंकि जिसको आप अगो निवृत्तिरूप सामान्य गो शब्द द्वारा वाच्य होना मानते हैं उसी को हम जैन गोत्व नामधेय सद्भावरूप सामान्य गो शब्द द्वारा वाच्य होना मानते हैं अर्थात् आप उस सामान्य को अगो व्यावृत्ति नाम देते हैं और हम गोत्व सामान्य नाम देते हैं, क्योंकि पर्युदास लक्षण वाला अभाव भावांतर स्वभाव वाला होता है।

आपके मत में यह अश्वादि की निवृत्ति (अगो व्यावृत्तिरूप अन्यापोह) स्वभाव वाला पदार्थ कौनसा है ? असाधारण गो आदि स्वलक्षणरूप पदार्थ अर्थात् क्षणिक निरंश निरन्वयरूप पदार्थ (बौद्ध मत में स्वलक्षण को क्षणिक निरंश एवं निरन्वय माना है) तो हो नहीं सकता क्योंकि यह स्वलक्षणरूप पदार्थ संपूर्ण विकल्पों के अगोचर है। अश्वादि की निवृत्तिरूप स्वभाव वाला पदार्थ शाबलेयादि व्यक्ति विशेषरूप (चितकबरी गो आदि विशेष गो रूप) है ऐसा माने तो असामान्य का प्रसंग आता है (अर्थात् सामान्य का अपोह असामान्य है ऐसा अर्थ होता है और असामान्य तो विशेष ही है किन्तु बौद्ध शब्द द्वारा केवल सामान्य ही वाच्य होता है ऐसा मानते हैं) तथा यदि गो शब्दको शाबलेयादि विशेष का वाचक मानेंगे तो अन्वय नहीं होने से उसका सामान्य विषय नहीं बन सकता। इसलिये सभी सजातीय शाबलेयादि गो व्यक्तियों में जो प्रत्येक में परिसमाप्त होकर रहता है तथा जिसके निमित्त से गो का ज्ञान होता है वह गोत्व नामका सामान्य है और वह गो शब्द द्वारा

"अगोनिवृत्तिः सामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम् ।
गोत्वं वस्त्वेव तैरुक्तमगोपोहगिरा स्फुटम् ।।१।।
भावान्तरात्मकोऽभावो येन सर्वो व्यवस्थितः ।
तत्राश्वादिनिवृत्त्यात्मा भावः क इति कथ्यताम् ।।२।।
नेष्टोऽसाधारणस्तावद्विशेषो निर्विकल्पनात् ।
तथा च शाबलेयादिरसामान्यप्रसंगतः ।।३।।"

[मी० श्लोक० अपोह० श्लो० १-३]

"तस्मात्सर्वेषु यद्रूपं प्रत्येकं परिनिष्ठितम् ।
गोबुद्धिस्तन्निमित्ता स्याद्गोत्वादन्यच्च नास्ति तत् ।।"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० १०]

द्वितीयपक्षे तु न किंचिद्वस्तु वाच्यं शब्दानामिति अतोऽप्रवृत्तिनिवृत्तिप्रसंगः। तुच्छरूपाभावस्य चानभ्युपगमान्न प्रसज्यप्रतिषेधाभ्युपगमो युक्तः; परमतप्रवेशानुषंगात् ।

वाच्य होता है ऐसा मानना चाहिये । उसी गोत्व सामान्य को आप अगो अथवा अपोह शब्द से कहते हैं तब तो नाम मात्रका भेद रहा । कहा भी है—जिन्होंने अगो निवृत्ति रूप सामान्य को गो शब्द का वाच्य माना है उन्होंने अपोह इस नाम से गोत्वरूप वस्तु को ही कहा ऐसा समझना चाहिए ।।१।। क्योंकि सभी अभाव भावांतर स्वभाव वाले माने गये हैं यदि गो शब्दका अर्थ अश्वादि निवृत्तिरूप है तो वह कौनसा पदार्थ है उसको बताना चाहिए ।।२।। असाधारणभूत क्षणिक स्वलक्षण को अश्वादि निवृत्तिरूप पदार्थ कहते हैं ऐसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि स्वलक्षण रूप विशेष को अपने निर्विकल्प (शब्द के अगोचर) स्वीकार किया है, तथा ऐसा मानने से शाबलेयादि को असामान्य मानने का प्रसंग आता है ।।३।। इसलिये सभी गो पिण्डों में प्रत्येक में परिसमाप्त होकर जो पदार्थ रहता है और जिसके निमित्त से गोपनेका ज्ञान होता है वह गो शब्द द्वारा कहा जाता है, उस पदार्थ का नाम गोत्व सामान्य ही है इससे भिन्न कुछ भी नहीं ।।१।। इस प्रकार मीमांसाश्लोकवार्त्तिक नामा ग्रंथ में शब्दका वाच्य विधिरूप अर्थ होता है ऐसा निश्चय किया गया है ।

अपोह सामान्य का वाच्य प्रसज्य लक्षण वाला अभाव है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो शब्दों द्वारा कुछ भी वाच्य नहीं होता ऐसा अर्थ निकलता है, फिर तो गो

अपि च ये विभिन्नसामान्यशब्दा गवादयो ये च विशेषशब्दाः शावलेयादयस्ते भवदभिप्रायेण पर्यायाः प्राप्नुवन्त्यर्थभेदाभावाद्वृक्षपादपादिशब्दवत् । न खलु तुच्छरूपाभावस्य भेदो युक्तः; वस्तुन्येव संस्पृ(संसृ)ष्टत्वैकत्वनानात्वादिविकल्पानां प्रतीतेः । भेदाभ्युपगमे वा अभावस्य वस्तुरूपतापत्तिः; तथाहि— ये परस्परं भिद्यन्ते ते वस्तुरूपा यथा स्वलक्षणानि, परस्परं भिद्यन्ते चाऽपोहा इति ।

न चापोह्यलक्षणसम्बन्धिभेदादपोहानां भेदः; प्रमेयाभिधेयादिशब्दानामप्रवृत्तिप्रसंगात्, तदभिधेयापोहानामपोह्यलक्षणसम्बन्धिभेदाभावतो भेदासम्भवात् । अत्र हि यत्किञ्चिद्व्यवच्छेद्यत्वेन

आदि शब्द से न प्रवृत्ति हो सकती है और न निवृत्ति हो सकती है। तथा ऐसे तुच्छा-भाव रूप प्रसज्य प्रतिषेध अभाव को आप सौगतने माना भी नही, यदि मानेंगे तो नैयायिकादि के मत में आपका प्रवेश हो जायेगा।

तथा जो विभिन्न सामान्य के अभिधायक गो आदि शब्द हैं और जो विशेप के अभिधायक शावलेय आदि शब्द हैं ये सबके सब आपके अभिप्रायके अनुसार पर्याय-वाची शब्द बन जायेंगे ? क्योंकि शब्द केवल प्रसज्य अभावरूप अपोह को कहते हैं अतः सबका वाच्य एक अभाव ही है उनमें कुछ भी अर्थ भेद नहीं रहता जैसे कि "वृक्ष और पादप" इन शब्दों में अर्थ भेद नहीं रहता। तुच्छाभावरूप अपोह में किसी प्रकार का अर्थ भेद आदि होना तो अयुक्त है। किसी प्रकार का अर्थका भेद आदि भेद तो वस्तुभूत पदार्थ में होता है, क्योंकि संसृष्टपना, एकपना, नानापना इत्यादि भेद तो वस्तु में ही प्रतीत होते हैं (न कि अभाव में) यदि अन्यापोह रूप अभाव में भेदको मानना इष्ट है तो उस अभाव के वस्तुरूपता सिद्ध होती है, कैसे सो ही बताते हैं— जो परस्पर में भेदको प्राप्त होते हैं वे वस्तुरूप होते हैं जैसे स्वलक्षण वस्तुरूप होने से भेदको प्राप्त होते हैं, अश्वादि निवृत्तिरूप अपोह भी भेदको प्राप्त होते हैं अतः वे वस्तुरूप हैं।

अपोह करने योग्य अश्वादि अपोह्य पदार्थरूप सम्बन्धियों के भेद से अपोहों में (अभावों में) भेद होता है ऐसा कहना भी अशक्य है, इस तरह मानने से तो प्रमेय, अभिधेय आदि शब्दों की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। आगे इसी का खुलासा करते हैं— जिस प्रकार गो शब्दका अर्थ अगोव्यावृत्ति है उस प्रकार प्रमेय शब्दका अर्थ अप्रमेयव्यावृत्ति है अभिधेय शब्दका अर्थ अनभिधेय व्यावृत्ति है सो ये अनभिधेय आदि अपोह्य नहीं हो सकते क्योंकि इनका अस्तित्व ही नहीं है। अतः अपोह्य रूप

कल्प्यते तत्सर्वं व्यवच्छेद्याकारेणालम्ब्यमानं प्रमेयादिस्वभावमेवावतिष्ठते । न ह्यविषयीकृतं व्यवच्छेत्तुं शक्यमतिप्रसंगात् । न च सम्बन्धिभेदो भेदकः, अन्यथा बहुषु शावलेयादिव्यक्तिष्वेकस्याऽगोपोहस्याऽभावप्रसंगः । यस्य चान्तरंगाः शावलेयादिव्यक्तिविशेषा न भेदकाः 'तस्याऽश्वादयो भेदकाः' इत्यतिसाहसम् ! सम्बन्धिभेदाच्च वस्तुन्यपि भेदो नोपलभ्यते किमुताऽवस्तुनि; तथाहि–देवदत्तादिकमेकमेव वस्तु युगपत्क्रमेण वानेकैराभरणादिभिरभिसम्बद्ध्यमानमनासादितभेदमेवोपलभ्यते ।

भवतु वा सम्बन्धिभेदाद्भेदः; तथापि–वस्तुभूतसामान्यानभ्युपगमे भवतां स एवापोहाश्रयः सम्बन्धी न सिद्धिमासादयति यस्य भेदात्तद्भेदः स्यात् । तथाहि–गवादीनां यदि वस्तुभूतं सारूप्यं

सम्बन्धियों के भेद से अपोहों में भेद करना असंभव है । प्रमेय आदि शब्दों में जिस किसी को भी व्यवच्छेद्यरूप से कल्पित किया जायगा वह सब ही व्यवच्छेद्यआकार से विषय हो जाने से प्रमेयादि स्वभावरूप ही स्थित होता है । जो अविषयीकृत होता है वह तो व्यवच्छेद होने योग्य (जानने योग्य) ही नहीं होता, यदि अविषय को व्यवच्छेद्य मानेंगे तो आकाश पुष्पादि को भी व्यवच्छेद्य मानने का अतिप्रसंग आयेगा । तथा सम्बन्धियों के भेद अपोहों में भेद करते हैं ऐसा बौद्ध का कथन गलत ही है, यदि ऐसा मानेंगे तो बहुत से शाबलेयादि गो व्यक्तियों में एक ही अगो रूप अपोह पाया जाता है उसका अभाव होवेगा । अव्यभिचारीपने से उन्हीं में नियत रूप से रहने वाले अंतरंग शाबलेय आदि गो व्यक्तियां जिस गोत्व सामान्य रूप अपोह के भेद नहीं करती हैं उस गोत्व सामान्य के भेद अश्वादिक करते हैं ऐसा बौद्ध का कहना तो अतिसाहस पूर्ण है अर्थात् ऐसा कहना सर्वथा अयुक्त है । सम्बन्धी पदार्थों के भेद से भेद होने की मान्यता भी असत् है, सम्बन्धी के भेद से तो वस्तु में भी भेद होना अशक्य है फिर अवस्तुरूप अपोह में तो क्या हो सकता है । इसीको बताते हैं—एक देवदत्तादि कोई पदार्थ है वह युगपत् या क्रमशः अनेक वस्त्राभरण आदि से सम्बन्ध को प्राप्त होता हुआ भी अनेक या भेद रूप नहीं हो जाता एक ही रहता है । उसी प्रकार सम्बन्धी के भेद से अपोह में भेद होना असंभव है ।

आपके हटाग्रह से मान लेवे कि सम्बन्धी के भेद से अपोह में भेद होता है तो भी आपके मत में सामान्य को वास्तविक पदार्थ नहीं माना अतः अपोह का आश्रय भूत सम्बन्धी ही सिद्ध नहीं होता जिसके कि भेद से अपोह में भेद करना है । आगे इसीका खुलासा करते हैं–यदि गो आदि पदार्थों में वास्तविक सादृश सामान्य सिद्ध

प्रसिद्धं भवेत्तदाश्वाद्यपोहाश्रयत्वमविशेषेणैषां प्रसिद्धयेन्नान्यथा। अतोऽपोहविषयत्वमेषामिच्छताऽवश्यं सारूप्यमंगीकर्त्तव्यम्। तदेव च सामान्यं वस्तुभूतं भविष्यतीत्यपोहकल्पना वृथैव।

यदि वाऽसत्यपि सारूप्ये शावलेयादिष्वगोपोहकल्पना तदा गवाश्वयोरपि कस्मान्न कल्प्येताऽसौ विशेषाभावात्? तदुक्तम्—

"अथाऽसत्यपि सारूप्ये स्यादपोहस्य कल्पना।
गवाश्वयोरयं कस्मादगोपोहो न कल्प्यते ॥१॥
शावलेयाच्च भिन्नत्वं बाहुलेयाश्वयोः समम्।
सामान्यं नान्यदिष्टं चेत्क्वागोपोहः प्रवर्त्तताम् ॥२॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ७६-७७]

होवे तो अश्व आदि पदार्थों के अपोह का आश्रयपना इनमें सिद्ध हो सकता है अन्यथा नहीं, अर्थात् गो आदि पदार्थों में सादृश्य या सामान्य को नहीं मानते तो वे पदार्थ अन्यापोह के आश्रयभूत नहीं हो सकते। अतः गो आदि में अपोह का विषयपना चाहने वाले बौद्ध को सादृश्य धर्मको अवश्य स्वीकार करना होगा। और इस तरह सादृशको स्वीकार करने पर वही सामान्य होने से वास्तविक सामान्य भी सिद्ध होगा फिर अपोह की कल्पना करना व्यर्थ ही है।

यदि शाबलेय आदि गो व्यक्तियों में सादृश्य के नहीं रहते हुए भी अगो अपोह की कल्पना शक्य है तो गो और अश्व में भी उक्त कल्पना को क्यों नहीं कर सकेंगे? सादृश्य का अभाव तो समान ही है? अन्यत्र भी कहा है कि–सादृश्य के अभाव में भी यदि अपोह की कल्पना संभावित है तो गो अश्वों में किस कारण से एक अगो अपोह कल्पित नहीं किया जाता? ॥१॥ यदि कहा जाय कि गो और अश्व में भिन्नता होने के कारण एक अगो अपोह आश्रयत्व की कल्पना नहीं होती तो शाबलेयादि गो में भी यही बात है अर्थात् शाबलेय गो से बाहुलेय गो और अश्व समान रूप से भिन्न है फिर भी उक्त गो की केवल अश्व से अगो व्यावृत्ति होती है, बाहुलेय से नहीं होती ऐसा क्यों? आप बौद्ध के यहां जब वास्तविक सामान्य को स्वीकार ही नहीं किया तब यह अगो अपोह किस आश्रय में रहे? अर्थात् कहीं पर भी नहीं रह सकता ॥२॥

यथा च स्वलक्षणादिषु समयासम्भवान्न शब्दार्थत्वं तथाऽपोहेऽपि। निश्चितार्थो हि समयकृत्समयं करोति। न चापोहः केन चिदिन्द्रियैर्व्यवसीयते; तस्यावस्तुत्वादिन्द्रियाणां च वस्तुविषयत्वात्। नाप्यनुमानेन; वस्तुभूतसामान्यमन्तरेणानुमानस्यैवाऽप्रवृत्तेः।

भावार्थ—बौद्ध मत में सामान्य को काल्पनिक माना है, वे सादृश्य को सारूप्य नाम देते हैं इस सारूप्य या सादृश्य को भी वे लोग नहीं मानते अतः यहां अपोहवाद प्रकरण में आचार्य कह रहे हैं कि आपके यहां गो शब्द का अर्थ सास्नायुक्त गो पदार्थ न होकर "अगोव्यावृत्ति" होता है, किसी ने "गौः" ऐसा कहा तो उसका अर्थ किया जायगा कि यह सामने स्थित पदार्थ अश्व नहीं है हाथी नहीं है इत्यादि, गो को अन्य पशुओं से पृथक् करना गो शब्द का कार्य है। सो सबसे पहले तो ऐसा प्रतीत ही नहीं होता, गो शब्द सुनते ही सास्नायुक्त पशुका बोध होता है न कि यह अश्व नहीं इत्यादि निषेध रूप (अपोह रूप) वस्तुका, सभी आबाल गोपाल को इसी प्रकार की शाब्दी प्रतीति होती है। फिर भी थोड़ी देर के लिये बौद्ध के आग्रह से मान लिया जाय कि गो शब्द अगोव्यावृत्ति का वाचक है, किन्तु इसमें प्रश्न होता है कि अगोव्यावृत्तिरूप पदार्थ कौनसा है ? यह तो अभाव रूप है और अभाव में भेद नहीं होता, अब समस्या यह आती है कि शाबलेयादि अनेक गो व्यक्तियों में गोत्व सामान्य तो है नहीं क्योंकि सामान्य को काल्पनिक मान बैठे हैं, जब गो व्यक्तियों में गोत्व ही नहीं तो वे गो व्यक्तियां किस प्रकार अगो से व्यावृत्त हो सकती हैं ? क्योंकि जैसे अश्वादि में अगोपता है वैसे गो व्यक्तियों में है। बड़ा आश्चर्य है कि गो में गोत्व सामान्य नहीं है और फिर भी उनको अश्वादि से व्यावृत्ति होती है। अश्वादि पशुओं से गो व्यक्तियों को भिन्न करने का कारण कौन होगा यदि उनमें गोत्व सामान्य नहीं माना जाय अतः सामान्य को काल्पनिक मानना और गो आदि शब्दों का अगो व्यावृत्ति आदि रूप अर्थ करना ये दोनों ही सिद्धांत गलत साबित होते हैं। आगे इसी को कह रहे हैं।

जिस प्रकार बौद्धाभिमत क्षणिक निरंशभूत स्वलक्षण आदि में संकेत का होना असंभव होने से शब्दार्थपना घटित नहीं होता उसी प्रकार अपोह में भी शब्द और अर्थपना घटित नहीं हो सकता। इसका भी कारण यह है कि "इस शब्द का यह अर्थ है" इस प्रकार जिसको अर्थ का निश्चय हुआ वह पुरुष ही संकेत का ज्ञाता होने से संकेत को करता है, किन्तु अपोह किसी पुरुष के द्वारा इन्द्रियों से जाना नहीं जाता है

अस्तु वा समयः, तथापि-कथमश्वादीनां गोशब्दानभिधेयत्वम् ? सम्बन्धानुभवक्षणेऽश्वादेस्तद्विषयत्वेनादृष्टेः' इत्यनुत्तरम्; यतो यदि यद्गोशब्दसंकेतकाले दृष्टं ततोऽन्यत्र गोशब्दप्रवृत्तिर्नेष्यते, तदैकस्मात्संकेतेन विषयीकृताच्छावलेयादिगोपिण्डात् अन्यद्बाहुलेयादि गोशब्देनापोह्यं न भवेत्।

इतरेतराश्रयश्च-अगोव्यवच्छेदेन हि गोः प्रतिपत्तिः, स चाऽगौर्गोनिषेधात्मा, ततश्च अगौः इत्यत्रोत्तरपदार्थो वक्तव्यो यो 'न गौः' इत्यत्र नञा प्रतिषेध्येत। न ह्यनिर्ज्ञातस्वरूपस्य निषेधो विधातुं

क्योंकि वह अवस्तु रूप (अभाव रूप) है और इन्द्रियां वस्तु रूप विषय को ग्रहण करती हैं, अतः इन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान द्वारा अपोह का निश्चय करके उसमें संकेत होना अशक्य है। अनुमानज्ञान द्वारा भी अपोह का निश्चय करना अशक्य है क्योंकि वस्तुभूत सामान्य के बिना उसमें अनुमान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

अपोह में संकेत होता है ऐसा मान भी लेवे तथापि अश्वादि पदार्थ गो शब्द से वाच्य नहीं यह कैसे सिद्ध हो सकता है ?

बौद्ध—गो शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध का अनुभवन करते समय अश्वादि पदार्थ उस अनुभव के विषय होते हुए नही देखे जाते, अतः वे पदार्थ गोशब्द से वाच्य नहीं होते ?

जैन—यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यदि गो शब्द के संकेत काल में जो देखा है उसको छोड़कर अन्यत्र गो शब्द की प्रवृत्ति होना आपने स्वीकार नहीं किया है तो संकेत द्वारा विषयभूत एक शाबलेयादि गो विशेष से जो अन्य है ऐसे बाहुलेयादि गो विशेष गो शब्द द्वारा अश्वादि से अपोह्य (अपोह करने योग्य) नहीं हो सकेंगे अर्थात् गो शब्द से विवक्षित एक शाबलेय गो ही अश्वादि से व्यावृत्य हो सकेगी अन्य बाहुलेयादि गो अश्वादि से अव्यावृत्त ही रह जायगी।

शब्द का अर्थ अन्यापोह है ऐसा माने तो इतरेतराश्रय दोष भी आता है कैसे सो ही बताते हैं—अगो का व्यावर्त्तन करके गो की प्रतीति होगी और जो अगो है वह गोका निषेध स्वरूप है अतः "अगो" इस पद में स्थित गो शब्द है उसका अर्थ क्या है सो बताना होगा ? जिसका कि प्रतिषेध "न गौः" इस प्रकार के नञ समास द्वारा किया जाता है। अर्थको बिना जाने उसका प्रतिषेध करना तो शक्य नहीं है, क्योंकि अनिर्ज्ञात स्वरूप का निषेध करना अशक्य है ऐसा नियम है।

शक्यः। अथाऽगोनिवृत्यात्मा गौरेव, नन्वेवमगोनिवृत्तिस्वभावत्वादगोरगोप्रतिपत्तिद्वारेणैव प्रतीतिः, अगोश्च गोप्रतिषेधात्मकत्वाद्गोप्रतिपत्तिद्वारेणेति स्फुटमितरेतराश्रयत्वम्।

अथाऽगोशब्देन यो गौर्निषिध्यते स विधिरूप एवागोव्यवच्छेदलक्षणापोहसिद्धयर्थम् तेनेतरेतराश्रयत्वं न भविष्यति; यद्येवम्-'सर्वस्य शब्दस्यापोहोऽर्थ' इत्येवमपोहकल्पना वृथा विधिरूपस्यापि शब्दार्थस्य भावात्, अन्यथेतरेतराश्रयो दुर्निवारः। तदुक्तम्—

"सिद्धश्चागौरपोह्येत गोनिषेधात्मकश्च सः।
तत्र गौरेव वक्तव्यो नञा यः प्रतिषिध्यते ॥१॥

शंका—अगो की निवृत्तिरूप जो पदार्थ है वह गो ही है।

समाधान—इस तरह कहने पर तो गो नामा पदार्थ अगो की निवृत्तिरूप स्वभाव वाला सिद्ध होता है अतः गो का ज्ञान अगो के जानने के अनंतर ही हो सकेगा, पुनश्च "अगो" नामकी वस्तु भी गो के प्रतिषेध स्वरूप होने से गो की प्रतीति होने के अनन्तर ही अगो का ज्ञान होवेगा इस प्रकार स्पष्टतया इतरेतराश्रय दोष आता है। अर्थात् गो का ज्ञान तब होवे जब अगो का व्यावर्त्तन हो और अगो भी गो के निषेध रूप होने से गो को ज्ञात करने के अनन्तर ही व्यावृत्त हो सकती है इसलिए गो ज्ञान और अगो ज्ञान परस्पराश्रित सिद्ध होकर गो शब्द द्वारा अर्थ बोध होना दुर्लभ हो जाता है।

बौद्ध—"अगो" इस पद में स्थित जो गो शब्द है उस गो शब्द से जिस गो अर्थका निषेध किया जाता है वह विधिरूप ही है (अस्तित्वरूप ही है, अगो की निवृत्ति रूप नहीं है) अगो के व्यवच्छेद स्वरूप अपोह की सिद्धि के लिये उसका प्रयोग होता है अतः उक्त इतरेतराश्रय दोष नहीं होगा?

जैन—यदि ऐसी बात है तो "सभी शब्दका अर्थ अपोह ही होता है" ऐसा कहना व्यर्थ है क्योंकि विधिरूप भी शब्दका अर्थ होता है ऐसा मान लिया। अन्यथा वही इतरेतराश्रय दोष आना दुर्निवार है। जैसा कि कहा है – अगो पद में जो गो शब्द है वह ज्ञात होकर ही अपोहित किया जा सकता है जो कि गो का निषेध स्वरूप है, "न गौः', इस नञ समास द्वारा जो प्रतिसिद्ध होता है वह पदार्थ गो ही है ऐसा बौद्ध का कहना है ॥१॥ नञ समास द्वारा प्रतिसिद्ध होने वाले उस अर्थको अगो की

स चेदगोनिवृत्त्यात्मा भवेदन्योन्यसंश्रयः ।
सिद्धश्चेद्गौरपोहार्थं वृथापोहप्रकल्पनम् ॥२॥
गव्यसिद्धे त्वगौर्नास्ति तदभावेप्य(पि)गौः कुतः ।
नाधाराधेयवृत्त्यादिसम्बन्धश्चाप्यभावयोः ॥३॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ८३–८५]

दिग्नागेन विशेषणविशेष्यभावसमर्थनार्थम् "नीलोत्पलादिशब्दा अर्थान्तरनिवृत्तिविशिष्टानर्थानाहुः" [ ] इत्युक्तम्; तदयुक्तम्; यस्य हि येन कश्चिद्वास्तवः सम्बन्धः सिद्धस्तत्तेन विशिष्टमिति वक्तुं युक्तम्, न च नीलोत्पलयोरनीलानुत्पलव्यवच्छेदरूपत्वेनाभावरूपयोराधाराधेयत्वादिः सम्बन्धः सम्भवति; नीरूपत्वात् । आदिग्रहणेन संयोगसमवायैकार्थसमवायादिसम्बन्धग्रहणम् । न चासति वास्तवे सम्बन्धे तद्विशिष्टस्य प्रतिपत्तिर्युक्ताऽतिप्रसङ्गात् ।

निवृत्तिरूप माने तो स्पष्टरूप से इतरेतराश्रय दोष आता है, यदि अगो पद का विधिरूप अर्थ करते हैं और केवल अगो व्यावृत्तिरूप अपोह की सिद्धि के लिये उसका प्रयोग करते हैं तो उस अपोह की कल्पना करना वृथा ही है ॥२॥ तथा गो शब्द का अर्थ अप्रसिद्ध है तो अगो का अर्थ भी नहीं हो पाता और अगो का अभाव रूप गो पदार्थ भी किस हेतु से सिद्ध हो सकेगा ? अर्थात् नहीं हो सकता । अभिप्राय यह है कि गो शब्द और अगो शब्द इन दोनों शब्दों का भी अर्थ सिद्ध नहीं होता, अभावों में आधार आधेयवृत्ति आदि रूप सम्बन्ध होना भी अशक्य है ॥३॥

बौद्ध मत के ग्रन्थकार दिग्नाग ने कहा है कि — विशेषण और विशेष्य भाव के समर्थन के लिये प्रयुक्त हुए नील, उत्पल आदि शब्द अर्थांतर की (अनील, अनुत्पल आदि की) निवृत्तिरूप विशिष्ट अर्थोंको ही कहते हैं इत्यादि, सो यह कथन अयुक्त है । इसी का खुलासा करते हैं – जिसका जिसके साथ कोई वास्तविक सम्बन्ध सिद्ध रहता है तो वह उससे विशिष्ट है ऐसा कह सकते हैं किन्तु अनील और अनुत्पल की व्यावृत्ति के कारण अभावरूप सिद्ध हुए नील और उत्पल पदार्थों में आधार आधेय आदि सम्बन्ध होना अशक्य है क्योंकि अनीलादि अभाव नीरूप है । आदि शब्द से संयोग सम्बन्ध, समवाय सम्बन्ध, एकार्थसमवाय सम्बन्ध इत्यादि सम्बन्धों का ग्रहण करना चाहिये, अर्थात् इन अनील अनुत्पल आदि की व्यावृत्तिरूप नीरूप पदार्थों में संयोग सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध आदि सम्बन्ध भी नहीं हो सकते । और जब वास्तविक

नास्माकमनीलादिव्यावृत्त्या विशिष्टोऽनुत्पलादिव्यवच्छेदोऽभिमतो यतोयं दोषः स्यात्। किं तर्हि? अनीलानुत्पलाभ्यां व्यावृत्तं वस्त्वेव तथा व्यवस्थितम्। तच्चार्थान्तरव्यावृत्त्या विशिष्टं शब्देनोच्यते; इत्यप्यपेशलम्; स्वलक्षणस्याऽवाच्यत्वात्। न च स्वलक्षणस्य व्यावृत्त्या विशिष्टत्वं सिद्धयति; यतो न वस्त्वपोहोऽसाधारणं तु वस्तु, न च वस्त्वऽवस्तुनोः सम्बन्धो युक्तः, वस्तुद्वयाधारत्वात्तस्य।

अस्तु वा सम्बन्धः, तथापि विशेषणत्वमपोहस्याऽयुक्तम्, न हि सत्तामात्रेण किञ्चिद्विशेषणम्। किं तर्हि? ज्ञातं सद्यत्स्वाकारानुरक्तया बुद्धया विशेष्यं रञ्जयति तद्विशेषणम्। न चापोहेऽयं प्रकारः

सम्बन्ध ही नहीं तो उस सम्बन्ध से (विशेषण विशेष्य से) विशिष्ट (युक्त) पदार्थ की प्रतीति होना भी अशक्य है अन्यथा अतिप्रसंग होगा।

बौद्ध—हम लोग अनील की व्यावृत्ति से विशिष्ट अनुत्पल का व्यवच्छेद नहीं मानते जिससे यह आधार आधेय सम्बन्ध का अभाव होना रूप दोष संभावित हो सके। किन्तु अनील और अनुत्पल से व्यावृत्त वस्तु ही उस रूप से (नीलोत्पल रूप से) व्यवस्थित होना मानते हैं, और उस अर्थांतर की व्यावृत्ति से विशिष्ट वस्तु को शब्द द्वारा कहा जाता है?

जैन—यह कथन असुन्दर है, आपके यहां अर्थान्तर से व्यावृत्त पदार्थ को वास्तविक माना है, वास्तविक पदार्थ स्वलक्षण रूप (क्षणिक निरंशरूप) होता है और स्वलक्षण अवाच्य होता है ऐसी आपकी मान्यता है अतः अर्थान्तर व्यावृत्तरूप स्वलक्षण शब्द द्वारा कहा जाता है ऐसा कथन असत् ठहरता है। तथा स्वलक्षण का व्यावृत्ति से विशिष्टरूप होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि व्यावृत्ति अर्थात् अपोह वस्तु रूप (वास्तविक) नहीं है, वस्तु तो असाधारण स्वरूप वाली होती है। वस्तु अवस्तु का सम्बन्ध होना भी असम्भव है और इसका कारण भी यह है कि सम्बन्ध दो वास्तविक सद्भावरूप वस्तुओं में ही होता है।

उक्त अनील व्यावृत्ति रूप नील आदि पदार्थों में सम्बन्ध होना मान लेवे तो भी अपोह के (अभाव के) विशेषणपना अयुक्त ही है क्योंकि किसी की सत्ता होने मात्र से वह विशेषण नहीं बन जाता अर्थात् अपोह का अस्तित्व है अतः विशेषण रूप होवे ही ऐसा नियम नहीं है। विशेषण तो वह होता है कि जो पदार्थ ज्ञात हो एवं अपने आकार से अनुरक्त हुए ज्ञान द्वारा विशेष्य को रंजित करे। अपोह में यह प्रकार

सम्भवति। न ह्यश्वादिबुद्धयापोहोऽध्यवसीयते। किं तर्हि ? वस्त्वेव। अपोहज्ञानासम्भवश्चोक्तः प्राक्। न चाज्ञातोप्यपोहो विशेषणं भवति। "नागृहीतविशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" [ ] इत्यभिधानात्।

अस्तु वाऽपोहज्ञापनम्, (ज्ञानम्;) तथापि-अर्थे तदाकारबुद्धयभावात्तस्याऽविशेषणत्वम्। सर्वं हि विशेषणं स्वाकारानुरूपां विशेष्ये बुद्धिं जनयद्दृष्टम्, न त्वन्यादृशं विशेषणमन्यादृशीं बुद्धिं विशेष्ये जनयति। न खलु नीलमुत्पले 'रक्तम्' इति प्रत्ययमुत्पादयति, दण्डो वा 'कुण्डली' इति। न

सम्भव नहीं है। क्योंकि अपोह अज्ञात है। अश्वादि के ज्ञान द्वारा अपोह का निश्चय नहीं किया जाता किन्तु वस्तु का ही निश्चय किया जाता है, इसका भी कारण पहले बता दिया है कि अपोह का ज्ञान होना असम्भव है। अज्ञात होते हुए भी अपोह विशेषण बन सकता है ऐसा तो नहीं कहना क्योंकि "नागृहीत विशेषणा विशेष्ये बुद्धिः" जिसने विशेषण को ग्रहण नहीं किया वह ज्ञान विशेष्य में प्रवृत्त नहीं होता ऐसा नियम है।

यदि मान लिया जाय कि अपोह का ज्ञान होना शक्य है तो भी तदाकार (अपोहाकार) रूप ज्ञान के नहीं होने से उसमें विशेषणपना आना अशक्य है (बौद्ध मत में ज्ञान पदार्थ के आकार हुए बिना उसको जान नहीं सकता) क्योंकि जो भी विशेषण होता है वह सर्व ही विशेष्य में अपने आकार के अनुरूप ज्ञानको उत्पन्न करता हुआ देखा गया है, ऐसा तो होना नहीं कि विशेषण किसी अन्याकार हो और विशेष्य में किसी अन्य आकाररूप ज्ञानको उत्पन्न करे। नील विशेषण कमल में "यह लाल है" ऐसे ज्ञान को उत्पन्न करा सकता है क्या ? अर्थात् नहीं करा सकता, दण्डा किसी पुरुष में "यह कुण्डल वाला है" ऐसे ज्ञानको उत्पन्न करा सकता है क्या ? नहीं करा सकता। इसी प्रकार अश्वादि पदार्थों में शब्द द्वारा उत्पन्न होने वाला ज्ञान अभाव से अनुरक्त (अपोह से संसक्त) नहीं होता, किन्तु सद्भावाकार ही होता है। अर्थात् शब्द जन्य ज्ञान अभावाकार नहीं होता अपितु सद्भावाकार ही होता है, इसलिये अश्वादि की व्यावृत्तिरूप अपोह या अनील की व्यावृत्तिरूप अपोह किसी का विशेषण नहीं हो सकता। इस प्रकार सिद्ध होता है कि अपोह किसी का विशेषण नहीं बन सकता फिर भी जबरदस्ती उसमें विशेषणपना माना जाता है तब तो सब सबके विशेषण हो सकेंगे। यदि कदाचित् अश्वादि पदार्थों में होने वाले शब्दजन्य ज्ञान को अभावाकार

चाश्वादिष्वभावानुरक्ता शाब्दी बुद्धिरुपजायते। किन्तर्हि? भावाकाराध्यवसायिनी। तथापि विशेषणत्वे सर्वं सर्वस्य विशेषणं स्यात्। अनुरागे वा अभावरूपेण वस्तुनः प्रतीतेर्वस्तुत्वमेव न स्यात्, भावाभावयोर्विरोधात्। शब्देनाऽगम्यमानत्वाच्चाऽसाधारणवस्तुनो न व्यावृत्त्या विशिष्टत्वं प्रत्येतुं शक्यम्। उक्तञ्च—

"न चासाधारणं वस्तु गम्यतेपोहवत्तया।
कथं वा परिकल्प्येत सम्बन्धो वस्त्ववस्तुनो. ॥१॥

स्वरूपसत्त्वमात्रेण न स्यात्किञ्चिद्विशेषणम्।
स्वबुद्धया रज्यते येन विशेष्यं तद्विशेषणम् ॥२॥

न चाप्यश्वादिशब्देभ्यो जायतेपोहभासनम्।
विशेष्ये बुद्धिरिष्टेह न चाज्ञातविशेषणा ॥३॥

न चान्यरूपमन्यादृक् कुर्याज्ज्ञानं विशेषणम्।
कथं वाऽन्यादृशे ज्ञाने तदुच्येत विशेषणम् ॥४॥

माना जायगा तब तो वस्तु की अभावरूप प्रतीति आ जाने से उसमें वस्तुपना ही नहीं रहेगा, क्योंकि भाव और अभाव का (वस्तु और अवस्तु का) एकत्र रहना विरुद्ध है। अर्थात् एक वही वस्तु और अवस्तु नहीं होती। दूसरी बात यह है कि आप बौद्ध के यहां पर असाधारण वस्तु को (स्वलक्षण को) शब्द द्वारा अगम्य (अवाच्य) माना है अतः उसका अपोह से विशिष्टपना जानना शक्य नहीं है। मीमांसा श्लोक वार्त्तिक ग्रन्थ में भी कहा है कि—

असाधारण वस्तु (स्वलक्षण) अपोह से विशिष्ट प्रतीत नहीं हो सकती तथा स्वलक्षणरूप वस्तु और अपोह रूप अवस्तु का सम्बन्ध भी किस प्रकार परिकल्पित हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता ॥१॥ बिना सम्बन्ध के अस्तित्व मात्र से कोई किसी का विशेषण नहीं बनता है, क्योंकि जिसके द्वारा अपने ज्ञान से विशेष्य को अनुरक्त किया जाता है वह विशेषण कहलाता हैं ॥२॥ अश्वादि शब्दों से अपोह का प्रतिभास नहीं होता अतः उनकी व्यावृत्तिरूप अपोह को विशेषण नहीं बना सकते और जो ज्ञान विशेषण के प्रतिभास से रहित है वह विशेष्य में प्रवृत्ति करा नहीं सकता ॥३॥ विशेषण अन्य रूप हो और उसके द्वारा विशेष्य में किसी अन्य विशेषण रूप ज्ञान उत्पन्न कराया जाय ऐसा होना तो अशक्य है, यदि अन्य रूप ज्ञान उत्पन्न कराता

अथान्यथा विशेष्येपि स्याद्विशेषणकल्पना ।
तथा सति हि यत्किञ्चित्प्रसज्येत विशेषणम् ॥५॥
अभावगम्यरूपे च न विशेष्येस्ति वस्तुता ।
विशेषितमपोहेन वस्तु वाच्यं न तेऽस्त्यतः ॥६॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ८६-९१]

"शब्देनागम्यमानं च विशेष्यमिति साहसम् ।
तेन सामान्यमेष्टव्यं विषयो बुद्धिशब्दयोः ॥"

[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ९४]

इतश्च सामान्यं वस्तुभूतं शब्दविषयः; यतो व्यक्तीनामसाधारणवस्तुरूपाणामशब्दवाच्यत्वान्न व्यक्तीनामपोह्येत, अनुक्तस्य निराकर्तुमशक्यत्वात्, अपोह्येत सामान्यं तस्य वाच्यत्वात् । अपोहानां

है तो वह उसका विशेषण है ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं ? ॥४॥ यदि अन्य प्रकार के विशेष्य में अन्य ही कोई विशेषण की कल्पना की जा सकती है तब तो चाहे जिसका चाहे जो विशेषण बन सकता है ॥५॥ तथा विशेष्य रूप वस्तु का अभाव रूप प्रतिभास होना स्वीकार करे तो उसकी वस्तुता ही समाप्त हो जाती है । अपोह विशेषण युक्त स्वलक्षण का होना भी अशक्य है क्योंकि आपके यहां स्वलक्षण रूप वस्तु को अवाच्य माना है ॥६॥ बड़ा आश्चर्य है कि शब्द द्वारा अगम्य भी है और वही विशेष्य भी है ऐसा कहना तो अतिसाहसपूर्ण अनुचित है । इस प्रकार यहां तक के विवरण से यह स्पष्ट होता है कि अपोह और शब्द में (अथवा शब्द का अर्थ अन्यापोह करने पर) वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध नहीं है, इसलिये जो शब्द द्वारा वाच्य हो एवं बुद्धि द्वारा गम्य हो ऐसा गोत्वादि सामान्य ही गो आदि शब्द का विषय है ऐसा मानना चाहिए। क्योंकि अपोह का अर्थ सामान्य है वह काल्पनिक होता है उसी को शब्द द्वारा कहा जाता है इत्यादि बौद्धाभिमत सर्वथा अयुक्त सिद्ध हो चुका है ॥७॥

शब्द के विषयभूत गोत्वादि सामान्य को वास्तविक इसलिये माना जाता है कि गो आदि विशेषों का अपोह किया नहीं जाता, क्योंकि असाधारण स्वलक्षण रूप गो आदि विशेष शब्द द्वारा वाच्य नहीं है जो अवाच्य होता है उसका निराकरण (अपोह) करना असंभव है, सामान्य का निराकरण शक्य है क्योंकि वह वाच्य है । अश्वादि-

त्वभावरूपतयाऽपोह्यत्वासम्भवात्, अभावानामभावाभावात्, वस्तुविषयत्वात्प्रतिषेधस्य । अपोह्यत्वेऽपोहानां वस्तुत्वमेव स्यात् । तस्मादश्वादौ गवादेरपोहो भवन् सामान्यभूतस्यैव भवेदित्यपोह्यत्वाद्वस्तुत्वं सामान्यस्य । तदुक्तम्—

"यदा चाऽशब्दवाच्यत्वान्न व्यक्तीनामपोह्यता ।
तदापोह्येत सामान्यं तस्यापोहाच्च वस्तुता ॥१॥
नाऽपोह्यत्वमभावानामभावाऽभाववर्जनात् ।
व्यक्तोऽपोहान्तरेऽपोहस्तस्मात्सामान्यवस्तुनः ॥२॥"
[मी० श्लो० अपोह० श्लो० ६५-६६]

यावन्मात्र पदार्थों को आपने शब्द द्वारा अन्यापोह रूप माना है अतः वे अपोह के विषयभूत पदार्थ अभाव रूप स्थित होने के कारण व्यावर्त्तन करने के अयोग्य हैं, अभाव का अभाव तो होता नहीं, क्योंकि प्रतिषेध वस्तु विषयक हुआ करता है, यदि अपोहभूत पदार्थों के अपोह्यपना शक्य है तो वे वस्तु रूप ही सिद्ध होंगे । इसलिये अश्वादि में गो आदिका अपोह होता है तो उसका अर्थ यही है कि सामान्य का ही अपोह होता है, और यदि ऐसा है तो अपोह करने योग्य होने से सामान्य का वास्तविकपना प्रसिद्ध हो ही जाता है । जैसा कि कहा है—गो विशेष अर्थात् शाबलेयादि गो अशब्द वाच्य होने से अपोह्य योग्य नहीं है, अपोह्य योग्य सामान्य ही है, उसका अपोह करना शक्य होने से उसमें वस्तुपना सिद्ध है ॥१॥ अभावों में अभाव न होने से उनके अपोह्यत्व भी नहीं बनता गो रूप अपोह से अन्य अश्वादि रूप अपोहांतर में अपोह करना इष्ट है तो गोत्व आदि सामान्य परमार्थभूत है ऐसा सिद्ध होता है । इस कारिकाद्वय से निश्चित होता है कि गोत्वादि सामान्यों को परमार्थभूत माने बिना वे अन्यापोह के विषय नहीं हो सकते ।

भावार्थ—बौद्ध के यहां विशेष को अवाच्य माना जाता है अतः शाबलेय आदि गो विशेष शब्द द्वारा कहे नहीं जा सकते । शब्द द्वारा केवल सामान्य वाच्य होता है, सो इस पर आचार्य कह रहे हैं कि यदि आप सामान्य को परमार्थभूत मानते हैं तो वे शब्द द्वारा वाच्य हो सकते हैं किन्तु आपने ऐसा स्वीकार नहीं किया, बड़ा आश्चर्य है कि गो विशेष तो अवाच्य है और गोत्व सामान्य काल्पनिक, ऐसी दशा में गो शब्द किस अर्थ को कहेगा ? बौद्ध गो आदि शब्द का अर्थ अन्य का अपोह मानते हैं किन्तु जिसका अपोह करना है वह अन्य यदि विशेष रूप है तो शब्द के गम्य नहीं और यदि

किंच, अपोहानां परस्परतो वैलक्षण्यं वा स्यात्, अवैलक्षण्यं वा ? तत्राद्यपक्षे [अ]भावस्यागोशब्दाभिधेयस्याभावो गोशब्दाभिधेयः, स चेत्पूर्वोक्तादभावाद्विलक्षणः; तदा भाव एव अवेदभावनिवृत्तिरूपत्वाद्भावस्य। न चेद्विलक्षणः; तदा गौरप्यगौः प्रसज्येत तदवैलक्ष्येण (तदवैलक्षण्येन) तादात्म्यप्रतिपत्तेः। तन्न वाच्याभिमतापोहानां भेदसिद्धिः।

नापि वाचकाभिमतानाम्; तथाहि-शब्दानां भिन्नसामान्यवाचिनां विशेषवाचिनां च परस्परतोऽपोहभेदो वासनाभेदनिमित्तो वा स्यात्, वाच्यापोहभेदनिमित्तो वा ? प्रथमपक्षोऽयुक्तः; अवस्तुनि

सामान्य है तो वास्तविक नहीं फिर किसका अपोह ? तथा अपोह भी अभाव रूप है उस अर्थ को शब्द द्वारा कैसे कहा जाय ? इत्यादि अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं, इनका समाधान कारक उत्तर बौद्ध नहीं दे पाते। कम से कम सामान्य को परमार्थभूत मानते हैं तो शब्द का कुछ वाच्य सिद्ध हो सकता है अतः बौद्धों को पुनः पुनः कहा जा रहा है कि अपोह करने योग्य सामान्य को तो वास्तविक मानना ही चाहिए।

किंच, गो शब्द अश्व शब्द इत्यादि शब्दों द्वारा वाच्य होने वाले अपोहों में परस्पर में विलक्षणता है अथवा अविलक्षणता है यह भी एक प्रश्न है। यदि उक्त अपोहों में विलक्षणता है तो अगो शब्द के अभिधेय रूप अभाव (अपोह) का जो अभाव है वह गो शब्द का अभिधेय है, वह अभाव यदि पूर्वोक्त अभाव से (अगो शब्द के वाच्यभूत अभाव से) विलक्षण है तो वह सद्भाव रूप ठहरता है क्योंकि सद्भाव अभाव की निवृत्ति रूप हुआ करता है। दूसरा पक्ष–अपोहों में परस्पर में अविलक्षणता है ऐसा माने तो गो पदार्थ भी अगो बन जायगा अर्थात् दोनों एक रूप हो जायेंगे, क्योंकि गो शब्द और अगो शब्द के वाच्यभूत अपोहों में अविलक्षणता (समानता) होने से उनमें एकत्व का प्रतिभास ही होगा। अतः वाच्य रूप से स्वीकार किये गये अपोहों में भेद की सिद्धि नहीं होती है।

वाचक रूप स्वीकृत हुए पदार्थों में भी (शब्दों में) भेद की सिद्धि नहीं होती, आगे इसी को बताते हैं–भिन्न भिन्न सामान्यों के वाचक शब्द और विशेषों के वाचक शब्द हैं इनके अपोहों में परस्पर में जो भेद पड़ता है वह वासना भेदों के कारण पड़ता है अथवा वाच्यों के अपोह भेदों के कारण पड़ता है ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि वाचकों के अपोह अवस्तुरूप है ऐसे अवस्तु में वासना का होना ही असंभव है, वह असंभव इसलिये है कि जिस अपोह को यहां वासना का कारण माना है वह तुच्छ

वासनाया एवासम्भवात् । तदसम्भवश्च तद्धेतोर्निर्विषयप्रत्ययस्यायोगात् । नापि वाच्यापोहभेदनिमित्तः; तद्भेदस्य प्रागेव कृतोत्तरत्वात् ।

ननु प्रत्यक्षेणैव शब्दानां कारणभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासाच्च भेदः प्रसिद्ध एव; इत्यप्यसाम्प्रतम्; यतो वाचकं शब्दमङ्गीकृत्यैवमुच्यते । न च श्रोत्रज्ञानप्रतिभासिस्वलक्षणात्मा शब्दो वाचकः; संकेतकालानुभूतस्य व्यवहारकालेऽचिरनिरुद्धत्वात् इति न स्वलक्षणस्य वाचकत्वं भवदभिप्रायेण । तदुक्तम्—

"नार्थशब्दविशेषेण वाच्यवाचकतेष्यते ।
तस्य पूर्वमदृष्टत्वात्सामान्यं तूपदिश्यते ॥१॥" [ ]

रूप होने से वासना रूप ज्ञान का विषय नहीं हो सकता अर्थात् बौद्धागतानुसार जो ज्ञान का कारण है वही उसका विषय (ज्ञेय) माना गया है, यहां वासना ज्ञान अवस्तु रूप अपोह में होना कह रहे सो यह कथन निर्विषय में ज्ञान का अयोग होने से अयुक्त है । वाच्यों के अपोहों में भेद होने के कारण वाचक शब्दों के अपोहों में परस्पर में भेद होता है ऐसा दूसरा पक्ष भी गलत है क्योंकि वाचक शब्दों के अपोहों में भेद होना अशक्य है ऐसा पहले ही उत्तर दे आये हैं ।

बौद्ध—तालु आदि कारणों के भेद होने से तथा विरुद्ध धर्माध्यास अर्थात् भिन्न धर्मों के ग्रहण होने से शब्दों में भेद होना सुप्रसिद्ध ही है ? अर्थात् यह शब्द तालु से हुआ है और यह कंठ से इत्यादि रूप से शब्दों में भेद देखा जाता है अतः वाचक शब्दों का पारस्परिक भेद तो इन कारण भेदों से ही होना स्वीकार करना चाहिये, ऐसा करने से उपर्युक्त दोष नहीं आते ?

जैन—यह कथन असत् है । गो आदि शब्द परमार्थभूत गो अर्थ के वाचक होते हैं ऐसा स्वीकार करने पर ही इस तरह कह सकते हैं किन्तु आपके यहां कर्ण ज्ञान में प्रतिभासित होने वाला स्वलक्षण रूप शब्द अर्थ का वाचक हो ही नहीं सकता क्योंकि संकेत काल में अनुभूत किया गया शब्द व्यवहार काल में विनष्ट हो चुकता है इसका भी कारण यह है कि स्वलक्षण रूप पदार्थ सर्वथा क्षणिक एवं निरंश माने हैं ? इसलिये आपके अभिप्रायानुसार स्वलक्षण रूप शब्द में वाचकपना होना अशक्य है । कहा भी है—अर्थ विशेष और शब्द विशेष से वाच्य वाचकता होना मान नहीं सकते क्योंकि ये दोनों ही व्यवहार काल में अदृष्ट हो जाते हैं अर्थात् संकेत कालीन शब्दार्थ

"तत्र शब्दान्तरापोहे सामान्ये परिकल्पिते ।
तथैवावस्तुरूपत्वाच्छब्दभेदो न कल्प्यते ।।२।।"
[मी० श्लो० अपोह० श्लो० १०४]

ततो ये अवस्तुनी न तयोर्गम्यगमकभावो यथा खपुष्प-खर-विषाणयोः । अवस्तुनी च वाच्यवाचकापोहौ भवतामिति । ननु मेघाभावादृष्टयभावप्रतिपत्तेरनैकान्तिकता हेतोः; इत्यप्ययुक्तम्; तद्विविक्ताकाशालोकात्मकं हि वस्तु मत्पक्षेऽत्रापि प्रयोगेस्त्येव, अभावस्य भावान्तरस्वभावत्वप्रतिपादनात् । भवत्पक्षे तु न केवलमपोहयोर्विवादास्पदीभूतयोर्गम्यगमकत्वाभावोऽपि तु वृष्टिमेघाद्यभावयोरपि ।

विनष्ट होने से व्यवहार करते समय वे तो रहते नहीं, उस समय तो सामान्य शब्दार्थ ही कहने में आते हैं ।।१।। सामान्य शब्द और अर्थ में वाच्य वाचकभाव माने ऐसा भी आप बौद्ध कह नहीं सकते, क्योंकि शब्द को अन्यापोह का वाचक माना है एवं उस अपोह रूप सामान्य को काल्पनिक माना है अतः अवस्तु रूप सामान्य से शब्दों का भेद होना सर्वथा अशक्य ही है ।।२।। इन दोनों कारिकाओं का भावार्थ यह है कि–विशेष स्वलक्षणभूत क्षणिक जिसको कि वास्तविक मानते हैं उस शब्द और अर्थ में तो वाच्य वाचक भाव होना अशक्य है क्योंकि प्रथम बात तो यह है कि ये क्षणिक हैं दूसरी बात बौद्धों ने इनमें वाच्य वाचकता मानी भी नहीं । सामान्य शब्द और अर्थ में वाच्य वाचक भाव तो भी नहीं बनता, क्योंकि आपने सामान्य को अवस्तु माना है । अतः पहले जो कहा था कि वाच्य के भेद से अपोह में भेद होता है इत्यादि, सो घटित नहीं होता ।

इस प्रकार बौद्ध के यहां सामान्य वाच्य और उसके वाचक शब्द ये तथा इनके अपोह अवस्तु रूप स्वीकार किये हैं । जो अवस्तु रूप होते हैं उनमें गम्यगमक भाव नहीं होता जैसे आकाश पुष्प और खर विषाण में गम्यगमक भाव नहीं होता । आपके वाच्य वाचक अपोह भी अवस्तु रूप ही है अतः गम्यगमकपना असंभव है ।

बौद्ध—अवस्तु में गम्य गमकपना नही होता ऐसा कहना अनैकान्तिक दोष युक्त है, क्योंकि "मेघों का अभाव होने से वर्षा का अभाव है" इस प्रकार अभाव रूप साध्य और अभाव रूप हेतु में गम्यगमकपना पाया जाता है ये साध्य साधन भी तो अवस्तु रूप हैं ?

किंच, अपोहो वाच्यः; अथावाच्यो वा ? वाच्यश्चेत्किं विधिरूपेण, अन्यव्यावृत्त्या वा ? यदि विधिरूपेण; कथमपोहः सर्वशब्दार्थः ? अथान्यव्यावृत्त्या; तर्हि नापोहोपि शब्दाधिगम्यो मुख्यः। अनवस्था च-तद्व्यावृत्तेरपि व्यावृत्त्यन्तरेणाभिधानात्। अथाऽवाच्यः; तर्हि "अन्यशब्दार्थाऽपोहं शब्दः प्रतिपादयति' इत्यस्य व्याघातः।

किंच, 'नान्यापोहः अनन्यापोहः' इत्यादौ विधिरूपादन्यद्वाच्यं नोपलभ्यते प्रतिषेधद्वयेन विधेरेवाध्यवसायात्।

जैन– यह कथन अयुक्त है, इस अनुमान प्रयोग में भी सद्भाव रूप मेघ रहित आकाश एवं सूर्य प्रकाश स्वरूप वस्तु मौजूद ही है, क्योंकि अभाव भावांतर स्वभाव वाला होता है ऐसा हम प्रतिपादन करते हैं। आप बौद्ध के मत में विवाद में आगत अपोहों में ही केवल गम्य गमक का अभाव हो सो बात नहीं अपितु वृष्टि अभाव और मेघ अभाव में भी गम्य गमक भाव नहीं है।

दूसरी बात यह है कि यह अपोह शब्द द्वारा वाच्य है कि अवाच्य है ? यदि वाच्य है तो विधि रूप शब्द से वाच्य है अथवा अन्य व्यावृत्ति से वाच्य होता है ? यदि विधिरुप शब्द द्वारा वाच्य है तो सभी शब्दार्थ अपोह रूप ही होता है ऐसा किस प्रकार कह सकते हैं ? अर्थात् नहीं कह सकते, क्योंकि अपोह विधि अर्थात् अस्तित्व रूप शब्द द्वारा वाच्य होने से सभी शब्दों का अर्थ अपोह (अभाव) ही होता है ऐसा आपका सिद्धांत खंडित होता है। अन्य व्यावृत्ति से अपोह वाच्य होता है ऐसा कहो तो स्वलक्षण के समान अपोह भी शब्द द्वारा मुख्य रूप से गम्य होना सिद्ध नहीं होता। तथा इस तरह मानने से अनवस्था भी आती है क्योंकि अन्य व्यावृत्ति भी किसी अन्य व्यावृत्ति से वाच्य होगी। यदि अपोह को अवाच्य मानते हैं तो गो आदि शब्द अन्य शब्दार्थ के अपोह का प्रतिपादन करता है ऐसे बौद्ध के मत का व्याघात हो जाता है।

किंच, "न अन्यापोहः अनन्यापोहः" इत्यादि शब्द में विधि रूप वाच्य को छोड़ कर अन्य कुछ भी अर्थ नहीं निकलता है क्योंकि दो प्रतिषेध द्वारा तो विधि का ही निश्चय होता है, अर्थात् जिस शब्द में (या वाक्य में) दो नकार प्रयुक्त होते हैं उसका विधि रूप अर्थ ही होता है।

कश्चायमन्यापोहशब्दवाच्योर्थो यत्रान्यापोहसंज्ञा स्यात् ? अथ विजातीयव्यावृत्तानर्थानाश्रित्यानुभवादिक्रमेण यदुत्पन्नं विकल्पज्ञानं तत्र यत्प्रतिभाति ज्ञानात्मभूतं विजातीयव्यावृत्तार्थाकारत्याध्यवसितमर्थप्रतिबिम्बकं तत्रान्यापोह इति संज्ञा । ननु विजातीयव्यावृत्तपदार्थानुभवद्वारेण शाब्दं विज्ञानं तथाभूतार्थाध्यवसाय्युत्पद्यते इत्यत्राविवाद एव । किन्तु तत्तथाभूतपारमार्थिकार्थग्राहृचम्युपगन्तव्यमध्यवसायस्य ग्रहणरूपत्वात् । विजातीयव्यावृत्तेश्च समानपरिणामरूपवस्तुधर्मत्वेन व्यवस्थापितत्वान्नाममात्रमेव भिद्येत ।

जैन का बौद्ध के प्रति प्रश्न है कि अन्यापोह शब्द द्वारा जिसको कहा जाता है वह पदार्थ कौनसा है जहां पर कि अन्यापोह संज्ञा अर्थात् संकेत किया जाय ?

बौद्ध—विजातीय अश्वादि से व्यावृत्त होने वाले पदार्थों का आश्रय लेकर अनुभवादि क्रम से जो विकल्प ज्ञान होता है उस ज्ञान में जो ज्ञानात्मभूत प्रतीत होता है, तथा जो विजातीय से व्यावृत्त होने वाले अर्थों के आकार रूप से अध्यवसित (निश्चित) होता है एवं जो अर्थ प्रतिबिम्ब स्वरूप (ज्ञान से अभिन्न) है उस वस्तु में अन्यापोह संज्ञा की जाती है (ऐसा हमारे विज्ञानाद्वैत वादी बौद्ध भाई का कहना है) इसका स्पष्टीकरण करते हैं—"गौः" यह शब्द प्रथम तो गो से विजातीय भूत अश्व, हस्ती आदि से पृथक् जो खंडी गो मुंडी गो इत्यादि गो विशेष हैं उनका आश्रय लेकर क्रम से अनुभव आदि उत्पन्न होते हैं, अर्थात् पहले तो खंड आदि गो का अनुभव नामा निर्विकल्प दर्शन प्रादुर्भूत होता है पुनः सविकल्प ज्ञान होता है उसके अनन्तर संकेत काल में ज्ञात किये हुए वाच्य वाचक का स्मरण होकर उससे वाच्य वाचक की योजना होती है और "यह गो है" इस प्रकार विकल्प ज्ञान होता है, ऐसा ज्ञान जिसमें हो वह अन्यापोह का वाच्यार्थ है ?

जैन—ठीक है, विजातीय अर्थ से व्यावृत्त होने वाले पदार्थों के अनुभव क्रम से होने वाला शाब्दिक ज्ञान उस तरह का अध्यवसाय करने वाला उत्पन्न होता है इसमें कोई विवाद नहीं है किन्तु उस प्रकार के उक्त ज्ञान को वास्तविक पदार्थ का ग्राहक है ऐसा स्वीकार करना होगा क्योंकि अध्यवसाय अर्थात् निश्चायकपना उसी ज्ञान में संभव है कि जो उस विषय को ग्रहण करता है । अभिप्राय यह है कि यदि विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ने जो यह कहा कि गो आदि शब्द से होने वाला शाब्दिक ज्ञान पदार्थ का निश्चय कराता है सो तब संगत हो सकता जब उक्त ज्ञानके विषयभूत अर्थ

यच्चोक्तम्—"तत्प्रतिबिम्बकं च शब्देन जन्यमानत्वात्तस्य कार्यमेवेति कार्यकारणभाव एव वाच्यवाचकभावः" [ ] तदप्ययुक्तम्; शब्दाद्विशिष्टसंकेतसव्यपेक्षाद्बाह्यार्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्ति-प्राप्तिप्रतीतेः स एवास्यार्थो युक्तः, न तु विकल्पप्रतिबिम्बकमात्रं शब्दात्तस्य वाच्यतयाऽप्रतीतेः।

अतोऽयुक्तम्—"प्रतिबिम्बस्य मुख्यमन्यापोहत्वं विजातीयव्यावृत्तस्वलक्षणस्यान्यव्यावृत्तेश्चौपचारिकम्" [ ] इति। अन्यापोहस्य हि वाच्यत्वे मुख्योपचारकल्पना युक्तिमती,

---

को पारमार्थिक स्वीकार किया जाय ! किन्तु आपने पदार्थ मात्र को काल्पनिक माना है अतः उक्त कथन बनता नहीं। तथा जिसे आप विजातीय पदार्थ से व्यावृत्ति होना कहते हैं अर्थात् गो शब्द विजातीय अश्वादि से गो अर्थों को व्यावृत्त करता है वह भी उन गो व्यक्तियों में होने वाले समान परिणाम रूप वस्तुभूत गोत्व धर्म के निमित्त से होता है, यह तो नाम मात्र का भेद है कि विजातीय व्यावृत्ति और समान परिणाम, गो व्यक्तियां समान परिणाम के कारण विजातीय से व्यावृत्ति होती है अथवा विजातीय से पृथक् होने के कारण उनमें समान परिणाम है। समान परिणाम अर्थात् गोत्व आदि सामान्य एक वास्तविक धर्म है ऐसा स्वीकार करने पर ही उपर्युक्त कथन सिद्ध हो सकता है अन्यथा नहीं।

बौद्ध का कहना है कि ज्ञान में अर्थका प्रतिबिम्ब शब्द द्वारा उत्पन्न होता है अतः वह शब्द का कार्य है, इसलिये वाच्य वाचक भाव को कार्य कारण भाव रूप मानना चाहिये ? सो यह अयुक्त है, क्योंकि विशिष्ट संकेत की अपेक्षा रखने वाले शब्द से गो, घट, पट आदि बाह्य पदार्थ में प्रतिपत्ति होने पर एवं प्रवृत्ति और प्राप्ति होने पर ऐसा कह सकते हैं कि वही इस शब्द का अर्थ है, केवल विकल्प ज्ञान में प्रतिबिंबित होने मात्र से नहीं कह सकते, ज्ञानके प्रतिबिंब स्वरूप पदार्थ तो शब्द से वाच्य होता हुआ प्रतीत ही नहीं होता।

भावार्थ—गो आदि शब्द किसको कहते हैं ऐसा बौद्ध के प्रति प्रश्न होने पर विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ने उत्तर दिया कि जो ज्ञान में प्रतिबिंबित होता है वह शब्द द्वारा वाच्य होता है तब जैनाचार्य ने कहा कि यह बात तो तब संभव है जब उस वाच्यार्थ को परमार्थभूत स्वीकार करे किन्तु विज्ञानाद्वैतवादी ने ज्ञानको ही परमार्थभूत माना है बाह्यार्थ को नहीं, अतः अमुक शब्द का अमुक वाच्य है इत्यादि व्यवस्था होना अशक्य है।

तच्चास्य नास्तीत्युक्तम् । ततः प्रतिनियताच्छब्दात्प्रतिनियतेऽर्थे प्राणिनां प्रवृत्तिदर्शनात्सिद्धं शब्द-प्रत्ययानां वस्तुभूतार्थविषयत्वम् । प्रयोगः-ये परस्परासंकीर्णप्रवृत्तयस्ते वस्तुभूतार्थविषयाः यथा श्रोत्रादिप्रत्ययाः, परस्पराऽसंकीर्णप्रवृत्तयश्च दण्डीत्यादिशब्दप्रत्यया इति। न चायमसिद्धो हेतुः; 'दण्डी विषाणी' इत्यादिधीध्वनी हि लोके द्रव्योपाधिकौ प्रसिद्धौ, 'शुक्लः कृष्णो भ्रमति चलति' इत्यादिकौ तु गुणक्रियानिमित्तौ, 'गौरश्वः' इत्यादी सामान्यविशेषोपाधी, 'इहात्मनि ज्ञानम्' इत्यादिकौ सम्बन्धोपाधिकावेवेति प्रतीतेः ।

इसलिये बौद्ध का निम्नलिखित कथन अयुक्त सिद्ध होता है कि जो ज्ञान के प्रतिबिंब स्वरूप है वह मुख्य अन्यापोहत्व है और विजातीय से व्यावृत्तभूत स्वलक्षण के निमित्त से होने वाला अन्यापोहत्व औपचारिक है । अन्यापोह को वाच्य रूप स्वीकार करने पर ही मुख्य अन्यापोहत्व और औपचारिक अन्यापोहत्व ऐसा भेद करना युक्ति संगत होता है किन्तु अन्यापोह वाच्य हो नहीं सकता ऐसा अभी अभी सिद्ध हो चुका है । इस प्रकार शब्द का अर्थ अपोह है ऐसा सिद्ध नहीं होता इसलिये प्रतिनियत शब्द से प्रतिनियत अर्थ में प्राणियों की प्रवृत्ति होती हुई देखकर निश्चित हो जाता है कि शब्द जन्य ज्ञानों का विषय परमार्थभूत पदार्थ हैं । अनुमान प्रयोग - जिन ज्ञानों की प्रवृत्तियांएक दूसरे की अपेक्षा किये बिना परस्पर असंकीर्ण होती हैं वे ज्ञान परमार्थ-भूत वस्तु को विषय करने वाले होते हैं, जैसे कर्णादि से होने वाले ज्ञान परस्पर की अपेक्षा से रहित असंकीर्ण होते हैं, "दण्डी" इत्यादि शब्द जन्य ज्ञान भी परस्पर में असंकीर्ण है अतः परमार्थभूत वस्तु विषयक है । यह परस्पर असंकीर्ण प्रवृत्ति रूप हेतु असिद्ध भी नहीं, क्योंकि 'दण्डी' विषाणी–दण्डा वाला, सींग वाला इत्यादि रूप प्रतीति और शब्द ये दोनों द्रव्य की उपाधि रूप से अर्थात् द्रव्य के निमित्त से होने वाले लोक में प्रसिद्ध ही है । "शुक्ल कृष्ण" तथा "चलता है, घूमता है" इत्यादि शब्द और ज्ञान तो गुण और क्रिया के निमित्त से प्रवृत्त होते हैं । "गो अश्व" इत्यादि शब्द तथा ज्ञान तो सामान्य और विशेष उपाधि निमित्तक अर्थात् गोत्व सामान्य और उससे व्यावृत्त होना रूप विशेष इनसे प्रवृत्त होते हैं । "इस आत्मा में ज्ञान है" इत्यादि में होने वाले शब्द तथा ज्ञान सम्बन्ध निमित्तक हैं, इस प्रकार प्रतीति सिद्ध बात है कि शाब्दीक ज्ञान परमार्थ वस्तु को विषय करते हैं ।

इस तरह शब्द का वाच्य अन्यापोह न होकर वास्तविक गो आदि पदार्थ ऐसा सिद्ध होने पर अब यहां पर बौद्ध अपना विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

ननु चाकृतसमया ध्वनयोर्थाभिधायकाः, कृतसमया वा ? प्रथमपक्षेतिप्रसंगः। द्वितीयपक्षे तु क्व तेषां संकेतः-स्वलक्षणे, जातौ वा, तद्योगे वा, जातिमत्यर्थे वा, बुद्धयाकारे वा प्रकारान्तरासम्भवात् ? न तावत्स्वलक्षणे; समयो हि व्यवहारार्थं क्रियमाणः संकेतव्यवहारकालव्यापके वस्तुनि युक्तो नान्यत्र। न च स्वलक्षणस्य संकेतव्यवहारकालव्यापकत्वम्; शाबलेयादिव्यक्तिविशेषाणां देशादिभेदेन परस्परतोऽत्यन्तव्यावृत्ततयाऽन्वयाभावात्, तत्रानन्त्येन संकेतासम्भवाच्च। विकल्पबुद्धावध्याहृत्य तेषु संकेताभ्युपगमे विकल्पसमारोपितार्थविषय एव शब्दसंकेतः, न परमार्थवस्तुविषयः स्यात्। स्थिरैकरूपत्वाद्धिमाचलादिभावानां संकेतव्यवहारकालव्यापकत्वेन समयसम्भवोप्यसम्भाव्यः; तेषामप्यनेकाणुप्रचयस्वभावानां प्रादुर्भावानन्तरमेवापवर्गितया तदसम्भवात्।

बौद्ध—जिनमें संकेत नहीं किया है ऐसे शब्द अर्थों के अभिधायक होते हैं अथवा संकेत वाले शब्द अर्थाभिधायक होते हैं ? प्रथम पक्ष में अति प्रसंग दोष आता है। द्वितीय पक्ष माने तो प्रश्न होता है कि उन शब्दों का संकेत किसमें होता है स्वलक्षण में गोत्वादि सामान्यभूत जाति में, अथवा उस जाति से युक्त गो आदि पदार्थ में, या गो आदि पदार्थाकार हुई बुद्धि में ? इनको छोड़कर अन्य प्रकार में तो संकेत हो नहीं सकता। स्वलक्षण में शब्दों का संकेत होता है ऐसा प्रथम विकल्प ठीक नहीं, क्योंकि संकेत व्यवहार के लिये किया जाता है (लौकिक एवं पारमार्थिक प्रयोजन सिद्धि के लिये) अतः वह संकेतकाल और व्यवहारकाल इन दोनों कालों में व्यापक रूप से रहने वाली वस्तु में ही करना युक्त है न कि क्षणिक स्वलक्षण में। इसका कारण यह कि स्वलक्षण को क्षणिक निरंश एवं निरन्वय माना है अतः वह संकेत काल से लेकर व्यवहार काल तक व्यापक रूप से रह नहीं सकता, तथा स्वलक्षण विशेष रूप है अतः शाबलेय, बाहुलेय, खंडी मुंडी आदि स्वलक्षणभूत गो विशेषों में देश भेद एवं स्वभावादि भेद पाये जाने से (पृथक् पृथक् स्थान में स्थित होना एवं वर्ण आकारादिका भेद होना) इनमें परस्पर में अत्यंत भिन्नता है इसलिये इनमें अन्वय का भी अभाव है, तथा अंनत संख्या प्रमाण हैं इस प्रकार के गो आदि विशेष पदार्थों में गो आदि शब्द द्वारा संकेत करना सर्वथा असम्भव है। अर्थात् जो गो शब्द है वह मुण्डी गो का वाचक है इत्यादि रूप अन्वय या संकेत गो विशेष में होना अशक्य है। विकल्प बुद्धि में आरोप करके उन शब्दोंमें संकेत किया जाता है ऐसा माने तो शब्दों का संकेत केवल विकल्प में आरोपित पदार्थों को विषय करता है परमार्थभूत पदार्थों को नहीं ऐसा सिद्ध होता है।

किंच, एतेषु समयः क्रियमाणोऽनुत्पन्नेषु क्रियेत, उत्पन्नेषु वा ? न तावदनुत्पन्नेषु परमार्थतः समयो युक्तः; असतः सर्वोपाख्यारहितस्याधारत्वानुपपत्तेः । नाप्युत्पन्नेषु; तस्यार्थानुभवशब्दस्मरणपूर्वकत्वात् शब्दस्मरणकाले चार्थस्य प्रध्वंसात् । सर्वेषां स्वलक्षणक्षणानां सादृश्यमैक्येनाध्यारोप्य संकेतविधाने सिद्धं स्वलक्षणस्याऽवाच्यत्वम् बुद्धयारोपितसादृश्यस्यैवाभिधानैरभिधानात् । वाच्यत्वे वा शब्दबुद्धेः स्पष्टप्रतिभासप्रसङ्गः, न चैवम् । न खलु यथेन्द्रियबुद्धिः स्पष्टप्रतिभासा प्रतिभासते तथा शब्दबुद्धिः । प्रयोगश्च-यो यत्कृते प्रत्यये न प्रतिभासते न स तस्यार्थः यथा रूपशब्दप्रभवप्रत्यये रसाप्रतिभासने नासौ तदर्थः, न प्रतिभासते च शाब्दप्रत्यये स्वलक्षणमिति । उक्तञ्च —

शंका— हिमाचल आदि पदार्थ स्थिर एवं एक रूप होते हैं अतः संकेत काल से व्यवहार काल तक व्यापक रूप से वे रहते ही हैं उनमें संकेत होना संभव है ?

समाधान—ऐसा सम्भव नहीं, हिमाचलादि पदार्थ भी अनेक अणुओं के समूह रूप होते हैं इन अणुओं के प्रचय प्रादुर्भाव के अनंतर ही अपवर्गित (विनष्ट) हो जाते हैं अतः इनमें संकेत का होना असंभव ही है ।

तथा इन शाबलेयादि गो विशेषों में यदि संकेत किया जाय तो वह अनुत्पन्न गो विशेषों में करे कि उत्पन्न गो विशेषों में करे ? अनुत्पन्न गो विशेषों में तो वास्तविकपने से संकेत हो नहीं सकता क्योंकि जो अनुत्पन्न है अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ वह पदार्थ असत् ही है असद्भूत संपूर्ण स्वभाव से रहित पदार्थ संकेत का आधार नहीं होता । उत्पन्न हुए गो आदि विशेषों में संकेत किया जाना भी अशक्य है इसका भी कारण यह कि पदार्थ का अनुभव एवं शब्द का स्मरण होने पर ही संकेत किया जाना शक्य है किन्तु शब्द के स्मरण काल में पदार्थ विनष्ट हो चुकता है ।

शंका—संपूर्ण स्वलक्षणभूत विशेष क्षणों में अभेदपने से सादृश्य का आरोप करके संकेत किया जाता है ?

समाधान—तो फिर ठीक ही है स्वलक्षण अवाच्य है यह तो भली भांति सिद्ध हुआ, बुद्धि में आरोपित हुआ जो सादृश्य है उसी को शब्दों द्वारा संकेतित किया जाता है न कि स्वलक्षण को ! यदि स्वलक्षण शब्द द्वारा वाच्य होता तो शाब्दिक ज्ञान का प्रतिभास स्पष्ट रूप से होता किन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि जिस प्रकार इन्द्रिय ज्ञान स्पष्ट रूप से प्रतीति में आता है उस प्रकार शाब्दिक ज्ञान स्पष्ट रूप से प्रतीति में नहीं आता । अनुमान द्वारा भी सिद्ध होता है कि—जो जिसके द्वारा किये

"अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद्दाहं दग्धो हि मन्यते ।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते ॥१॥"

[वाक्यप० २।४२५]

न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्ति, येनास्पष्टं वस्तुगतमेव रूपं शब्दैरभिधीयेत एकस्य द्वित्व-विरोधात् । तन्न स्वलक्षणे संकेतः ।

नापि जातौ; तस्याः क्षणिकत्वे स्वलक्षणस्येवान्वयाभावान्न संकेतः फलवान् । अक्षणिकत्वे तु क्रमेण ज्ञानोत्पादकत्वाभावः । नित्यैकस्वभावस्य परापेक्षाप्यसम्भाव्या । प्रतिषिद्धा चेयं यथास्थानम् इत्यलमतिप्रसंगेन ।

हुए ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होता वह उसका अर्थ (विषय) नहीं कहलाता, जैसे रूप और शब्द से किये गये ज्ञान में रसका प्रतिभास नहीं होने से वह उसका अर्थ नहीं कहलाता, शाब्दिक ज्ञान में स्वलक्षण प्रतिभासित नहीं होता अतः वह भी उसका वाच्यार्थ नहीं है । कहा भी है—स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा अग्नि का सम्बन्ध करके दग्ध हुआ पुरुष उस अग्नि को अन्य प्रकार से जानता है और अग्नि शब्द द्वारा किसी अन्य प्रकार से ही उस अग्नि पदार्थ को जानता है, अर्थात् स्पर्शनेन्द्रिय से होने वाला अग्नि का ज्ञान स्पष्ट रूप है और अग्नि शब्द से होने वाला अग्नि रूप वाच्यार्थ का ज्ञान अस्पष्ट रूप है ॥१॥

ऐसा तो होता नहीं कि एक ही वस्तु में दो स्वरूप (स्पष्टत्व और अस्पष्टत्व) हो जिससे कहना सम्भव होवे कि अस्पष्टत्व वस्तुगत धर्म ही है और वह शब्दों द्वारा कहा जाता है । किन्तु एक में दो स्वरूप का विरोध है । इसलिये स्वलक्षण में संकेत होना अशक्य है ऐसा निश्चय होता है ।

गोत्व आदि सामान्य रूप जाति में शब्दों का संकेत होता है ऐसा दूसरा विकल्प भी असत् है, क्योंकि जाति को क्षणिक माने तो स्वलक्षण के समान उसमें भी संकेत करना लाभदायक नहीं (क्योंकि संकेत से लेकर व्यवहारकाल तक उसका अस्तित्व नहीं रहता) और यदि उक्त जाति को अक्षणिक मानते हैं तो वह जाति ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकेगी, तथा जो अक्षणिक अर्थात् नित्य एक स्वभाव रूप होता है उसको पर की अपेक्षा भी असम्भव है, हम बौद्ध ने नित्य एक रूप जाति का (सामान्य का) यथास्थान प्रतिषेध भी किया है अतः उसके विषय में अधिक नहीं कहते ।

नापि तद्योगे संकेतः; तस्यापि समवायादिलक्षणस्य निराकृतत्वात्। जातितद्योगयोश्चासंभवे तद्वतोप्यर्थस्यासम्भवात्कथं तत्रापि संकेतः? बुद्धयाकारे वा; स हि बुद्धितादात्म्येन स्थितत्वान्न बुद्धयन्तरं प्रतिपाद्यमर्थं वानुगच्छति।

किंच, इतः शब्दादर्थक्रियार्थी पुरुषोऽर्थक्रियाक्षमानर्थान्विज्ञाय प्रवर्तिष्यते' इति मन्यमानैर्व्यवहर्तृभिरभिधायका नियुज्यन्ते न व्यसनितया। न चासौ विकल्पबुद्धयाकारोऽर्थिनोभिप्रेतं शीतापनोदादिकार्यं सम्पादयितुं समर्थः।

सामान्य रूप जाति का जिसमें सम्बन्ध हो उसमें संकेत करते हैं ऐसा तीसरा विकल्प भी उचित नहीं, क्योंकि समवाय आदि सब प्रकार के सम्बन्ध का हम बौद्ध ने निराकरण किया है। चौथा विकल्प–जातिमान् पदार्थ में संकेत किया जाता है ऐसा कहना भी असत् है क्योंकि सामान्य रूप जाति और जाति संयोग वाला पदार्थ इन दोनों के असंभव होने पर जातिमान् पदार्थ का होना भी असंभव ही है अतः उसमें किस प्रकार संकेत किया जा सकता है? पांचवा विकल्प–गो आदि पदार्थ के आकार रूप हुई बुद्धि में संकेत किया जाता है ऐसा मानना भी अयुक्त है, क्योंकि वह बुद्धिमें स्थित पदार्थ का आकार बुद्धि में तादात्म्यपने से स्थित हो चुका है वह अन्य बुद्धि में अथवा प्रतिपाद्यभूत पदार्थ में अनुगमन नहीं करता अतः उसमें संकेत कैसे सम्भव है? दूसरी बात यह है कि—अर्थ क्रिया के इच्छुक पुरुष उस अर्थ क्रिया में समर्थ ऐसे पदार्थों को ज्ञात करके प्रवृत्ति करेंगे ऐसा मानकर व्यवहारी जनों द्वारा शब्दों को नियुक्त किया जाता है न कि बिना प्रयोजन के किन्तु विकल्प बुद्धि में स्थित यह जो अर्थाकार है वह अर्थीजन के अभिलषित शीतापनोद आदि कार्य को करने में समर्थ नहीं है। फिर उसमें संकेत करना भी किसलिये?

तथा यदि बुद्धि में स्थित अर्थाकार में शब्दों का संकेत होना स्वीकार करे तो हम अपोहवादी बौद्धों का पक्ष ही स्वीकृत होता है, आगे इसी को बताते हैं—अपोहवादी के मत में भी बुद्धि में स्थित आकार बाह्य रूप से प्रतीत होता है एवं शब्द से वाच्यार्थ होता है ऐसा माना ही है, यह शब्द अर्थ विवक्षा को तो उसका कार्य होने से जतलाता है जैसे धूम अग्निका कार्य होने से उसको जतलाता है।

किंच, बुद्धयाकारे शब्दसंकेताभ्युपगमेऽपोहवादिपक्ष एवाभ्युपगतो भवेत्; तथाहि-अपोहवादिनापि बुद्धयाकारो बाह्यरूपतयाध्यवसितः शब्दार्थोभीष्ट एव, अर्थविवक्षां च कार्यतया शब्दो गमयति यथा धूमोऽग्निमिति।

अत्र प्रतिविधीयते। कृतसमया एव ध्वनयोऽर्थाभिधायकाः। समयश्च सामान्यविशेषात्मकेऽर्थेऽभिधीयते न जात्यादिमात्रे। तथाभूतश्चार्थो वास्तवः संकेतव्यवहारकालव्यापकत्वेन प्रमाणसिद्धः 'सामान्यविशेषात्मा तदर्थः' [परीक्षामु० ४।१] इत्यत्रातिविस्तरेण वर्णयिष्यते। सामान्यविशेषयोर्वस्तुभूतयोस्तत्सम्बन्धस्य चात्र प्रमाणतः प्रसाधयिष्यमाणत्वात्। न चात्राप्यानन्त्याद्वयक्तीनां

भावार्थ—शब्दों के द्वारा होने वाला संकेत स्वलक्षण, जाति इत्यादि में नहीं होता किन्तु अपोह में होता है ऐसा हम बौद्ध मानते हैं, कोई कोई वादी अर्थाकार हुई बुद्धि में संकेत का होना स्वीकार करते हैं वह तो कुछ अभिप्रेत है क्योंकि वह आकार अपोह जैसा ही काल्पनिक है। स्वलक्षण रूप वास्तविक पदार्थ में संकेत इसलिये नहीं होता कि वह क्षणिक एवं निरंश है अतः व्यवहार काल तक नहीं रहता सामान्य रूप जाति भी काल्पनिक एवं क्षणिक होने से संकेत योग्य नहीं। अन्त में यही मानना होगा कि शब्द द्वारा अपोह में संकेत होता है।

जैन—अब यहां बौद्धों का उपर्युक्त विवेचन खण्डित किया जाता है—संकेत के किये जाने पर ही शब्द अर्थ के अभिधायक (वाचक) होते हैं और वह संकेत सामान्य विशेषात्मक पदार्थ में ही होता है न कि केवल सामान्यरूप जाति या विशेष में। तथा उस प्रकार का संकेतित हुआ पदार्थ काल्पनिक न होकर वास्तविक है क्योंकि संकेत काल से व्यवहार काल तक व्यापक रूप होने से प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है। इस संकेत के विषयभूत पदार्थ का आगे (तृतीय भाग में) "सामान्य विशेषात्मा तदर्थो विषयः" इस सूत्र की टीका में अति विस्तार पूर्वक वर्णन करेंगे। वहां पर हम अच्छी तरह प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा सिद्ध करेंगे कि सामान्य और विशेष वास्तविक गुण धर्म हैं एवं इनका सम्बन्ध भी काल्पनिक न होकर वास्तविक तादात्म्यस्वरूप है। बौद्ध ने कहा था कि व्यक्तियां अनंत होने के कारण तथा उनका परस्पर में अनुगमन नहीं होने के कारण उनमें संकेत होना अशक्य है सो कथन अयुक्त है, व्यक्तियों में संकेत भली प्रकार से हो सकता है क्योंकि उनमें सदृश परिणाम (गोत्वादि सामान्य) पाया जाता है उस सदृश परिणाम की अपेक्षा लेकर क्षयोपशम विशेष के कारण

परस्परराननुगमाच्च संकेताऽसम्भवः; समानपरिणामापेक्षया क्षयोपशमविशेषाविर्भूतोहाख्यप्रमाणेन तासां प्रतिभासमानतया संकेतविषयतोपपत्तेः, कथमन्यथानुमानप्रवृत्तिः तत्राप्यानन्त्याननुगमरूपतया साध्यसाधनव्यक्तीनां सम्बन्धग्रहणासम्भवात् ?

अन्यव्यावृत्त्या सम्बन्धग्रहणम्; इत्यप्यसत्; तस्या एव सदृशपरिणामसामान्यासम्भवे असंभाव्यमानत्वात्। न चाऽसदृशेष्वप्यर्थेषु सामान्यविकल्पजनकेषु तद्दर्शनद्वारेण सदृशव्यवहारे हेतुत्वम्; नीलादिविशेषाणामप्यभावानुषंगात्। यथा हि परमार्थतोऽसदृशा अपि तथाभूतविकल्पोत्पादकदर्शन-

---

आविर्भूत हुए तर्क प्रमाण द्वारा उन व्यक्तियों का (शावलेय खंड मुंड आदि गो विशेष अथवा मनुष्य विशेषादि वस्तु विशेष का) प्रतिभास होता है अतः वे संकेत के विषय हो सकती है। यदि ऐसा न माना जाय तो अनुमान प्रमाण की प्रवृत्ति किस प्रकार हो सकेगी ? क्योंकि अनुमान की साध्य साधन रूप व्यक्तियां भी अनंत एवं अननुगमरूप होती हैं अतः उनके सम्बन्ध का (अविनाभाव) ग्रहण होना भी अशक्य हो जायगा।

शंका—साध्य साधन व्यक्तियों के सम्बन्ध का ग्रहण अन्य की व्यावृत्ति से (असाध्य असाधन की व्यावृत्ति से) होता है ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, सदृशपरिणाम रूप सामान्य के न होने पर अन्य व्यावृत्ति होना असंभव है ऐसा अभी सिद्ध कर चुके हैं। जो सदृश सामान्य का केवल विकल्प उत्पन्न करते हैं ऐसे पदार्थ यद्यपि खंडादि विसदृश रूप हैं फिर भी उन विसदृशों की प्रतीति से सदृशता का व्यवहार कराने में हेतु हैं ऐसा कहना भी अयुक्त है क्योंकि ऐसा मानने से नील आदि संपूर्ण विशेषणों का अभाव हो जाने का प्रसंग आयेगा, इसीका स्पष्टीकरण करते हैं—जिस प्रकार परमार्थ से असदृश ऐसे खंड आदि गो विशेष हैं जो कि सदृश सामान्य के विकल्प को उत्पादक होकर विसदृश प्रतीति के कारण हैं वे सदृश व्यवहार को करते हैं, उसी प्रकार जो स्वयं अनील आदि स्वभाव वाले हैं तो भी नील आदि विकल्प के उत्पादक हैं तथा उस रूप प्रतीति के हेतु से ही नीलादि व्यवहार को करते हैं ऐसा मानना होगा, अर्थात् नील आदि विशेषण स्वयं नीलादिरूप नहीं हैं केवल उस विकल्प को उत्पन्न करते हैं ऐसा अनिष्ट सिद्ध होने का प्रसंग आयेगा। दूसरी बात यह भी है कि यदि पदार्थों में सदृश परिणाम नहीं

हेतवः सदृशव्यवहारभाजो भावाः तथा स्वयमनीलादिस्वभावा अपि नीलादिविकल्पोत्पादकदर्शननिमित्ततया नीलादिव्यवहारभाक्त्वं प्रतिपत्स्यन्ते। सदृशपरिणामाभावे च अर्थानां सजातीयेतरव्यवस्थाऽसम्भवात्कुतः कस्य व्यावृत्तिः? अन्यव्यावृत्त्या सम्बन्धावगमेपि चैतत्सर्वं समानम्—तत्रानन्त्यानुगमरूपत्वस्याऽविशेषात्। ततो 'ये यत्र भावतः कृतसमया न भवन्ति न ते तस्याभिधायकाः यथा सास्नादिमत्यर्थेऽकृतसमयोऽश्वशब्दः, न भवन्ति च भावतः कृतसमयाः सर्वस्मिन्वस्तुनि सर्वे ध्वनयः' इत्यत्र प्रयोगेऽसिद्धो हेतुः; उक्तप्रकारेणार्थे ध्वनीनां समयसम्भवात्।

मानेंगे तो उनमें सजातीय और विजातीय (गो और अश्वादि) की व्यवस्था असंभव होने से किस पदार्थ से किसकी व्यावृत्ति करेंगे? अर्थात् गो शब्द अन्य की व्यावृत्ति कराता है अर्थात् विजातीय अश्वादि की व्यावृत्ति कराता है ऐसी अन्यापोह की व्यवस्था कैसे होगी? क्योंकि सजातीय विजातीय कोई है नहीं। अतः सदृशसामान्य के बिना गो आदि शब्द का संकेत होना आदि सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार अनुमान के साध्य साधन रूप व्यक्तियों का सम्बन्ध ग्रहण अन्य व्यावृत्ति से होता है ऐसा बौद्ध का पूर्वोक्त कथन भी असत् सिद्ध होता है। अर्थात् अन्य व्यावृत्ति से सम्बन्ध का ग्रहण होने की मान्यता में भी यही संकेत के पक्ष में दिये गये दूषण आते हैं। आगे इसी को कहते हैं—साध्य साधन रूप व्यक्तियां अनंत होने से तथा उनमें परस्पर अनुगमन नहीं होने से उनके अविनाभाव सम्बन्ध को अन्य व्यावृत्ति से कैसे ग्रहण कर सकते हैं? क्योंकि साध्य साधन व्यक्तियां क्षणिक एवं निरन्वय होने से अन्य व्यावृत्ति के काल में रह नहीं सकती, तथा अनंत होने से उनके सम्बन्ध को जान नहीं सकते। अतः अन्य व्यावृत्ति से शब्दों का संकेत ग्रहण एवं साध्य साधन का सम्बन्ध ग्रहण नहीं होता ऐसा सुनिश्चित असंभवत् बाधक प्रमाण से सिद्ध हो गया। इसलिये बौद्ध का उक्त अनुमान गलत ठहरता है कि जिनमें परमार्थ रूप से संकेत नहीं हैं वे शब्द अर्थाभिधायक नहीं होते हैं जैसे सास्नादिमान् गो पदार्थ में जिसका संकेत नहीं किया है ऐसा अश्व शब्द उस गो अर्थ को नहीं कहता, सब शब्द सब वस्तु में परमार्थ रूप से संकेतित नहीं होते अतः वे उनके अभिधायक (वाचक) नहीं होते हैं इत्यादि, सो इस अनुमान का "भावतः अकृतसमयत्वात् –परमार्थ से संकेत किये गये नहीं होने से" हेतु असिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि हमारे पूर्वोक्त प्रतिपादन से अर्थात् सदृश परिणाम की अपेक्षा से शब्द में संकेत किया जाना संभव है ऐसा भली भांति सिद्ध हो गया है।

यच्च हिमाचलादिभावानामप्यनेकपरमाणुप्रचयात्मनां क्षणिकत्वेन समयासम्भव इत्युक्तम्; तदप्युक्तिमात्रम्; सर्वथा क्षणिकत्वस्य बाह्याध्यात्मिकार्थे प्रतिषेत्स्यमानत्वात्। तथा चोत्पन्नेष्वप्यर्थेषु संकेतसम्भवात्, अयुक्तमुक्तम्–'उत्पन्नेष्वनुत्पन्नेषु वा संकेतासम्भवः' इत्यादि।

ननु शब्देनार्थस्याभिधेयत्वे साक्षादेवातोऽर्थप्रतिपत्तेरिन्द्रियसंहतेर्वैफल्यप्रसंगः; तन्न; अतोऽर्थस्याऽस्पष्टाकारतया प्रतिपत्तेः, स्पष्टाकारतया तत्प्रतिपत्त्यर्थमिन्द्रियसंहतिरप्युपपद्यते एवेति कथं तस्या वैफल्यम्? स्पष्टाऽस्पष्टाकारतयार्थप्रतिभासभेदश्च सामग्रीभेदान्न विरुध्यते, दूरासन्नार्थोपनिबद्धेन्द्रियप्रतिभासवत्।

बौद्ध ने कहा था कि हिमाचल आदि पदार्थ भी अनेक अणुओं के समूह रूप एवं क्षणिक होने से उनमें संकेत नहीं हो सकता, सो यह कथन अयुक्त है, क्योंकि हम आगे बाह्य एवं अभ्यंतर रूप जड़ चेतन पदार्थ में सर्वथा क्षणिकपने का निषेध करने वाले हैं। तथा उत्पन्न हुए पदार्थों में संकेत होना सम्भव है अतः पूर्वोक्त कथन असत्य सिद्ध होता है कि—उत्पन्न पदार्थ हो चाहे अनुत्पन्न पदार्थ हो दोनों में भी संकेत असंभव है इत्यादि।

बौद्ध—शब्द द्वारा अर्थ का अभिधेयत्व होना स्वीकार करे तो उससे व्यवधान रहित साक्षात् हो अर्थ की प्रतीति हो जाने से चक्षु आदि इन्द्रिय समूह व्यर्थ सिद्ध होता है?

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, शब्द से अर्थ का अस्पष्टरूप प्रतिभास होता है, अतः उस पदार्थ का स्पष्टाकार से प्रतिभास होने के लिये चक्षु आदि इन्द्रिय समूह उपयुक्त होता हो है, इसलिये उसकी व्यर्थता किस प्रकार होगी? अर्थात् नहीं होगी। एक ही पदार्थ का स्पष्टाकार और अस्पष्टाकार रूप से प्रतिभास का भेद होना सामग्री के भेद होने से विरुद्ध नहीं पड़ता अर्थात् विभिन्न सामग्री के कारण से एक ही पदार्थ कभी स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है और कभी अस्पष्ट रूप से प्रतीत होता है, जैसे दूर और निकट होने के कारण एक ही पदार्थ चक्षुइन्द्रिय द्वारा अस्पष्ट और स्पष्ट रूप प्रतीत होता है, अर्थात् पदार्थ के दूर होने रूप आदि सामग्री से चक्षु द्वारा उसका अस्पष्ट प्रतिभास होता है और निकट में होना आदि सामग्री से स्पष्ट प्रतिभास होता है, इसी प्रकार एक ही पदार्थ का शब्द द्वारा अस्पष्ट और इन्द्रिय द्वारा स्पष्ट प्रतिभास होता है।

अथाऽसत्यप्यर्थेऽतीतानागतादौ शब्दस्य प्रवृत्ति(त्ते)र्नास्यार्थाभिधायकत्वम्; तदसत्; तस्येदानीमभावेपि स्वकाले भावात्, अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यर्थविषयत्वाभावः स्यात् तद्विषयस्यापि तत्कालेऽभावात्। अविसंवादस्तु प्रमाणान्तरप्रवृत्तिलक्षणोऽध्यक्षवच्छाब्देप्यनुभूयत एव। 'आसीदग्निः' इत्याद्यतीतविषये वाक्ये विशिष्टभस्मादिकार्यदर्शनोद्भूतानुमानेन संवादोपलब्धेः, चन्द्रार्कग्रहणाद्यनागतार्थविषये तु प्रत्यक्षप्रमाणेनैव। क्वचिद्विसंवादात्सर्वत्र शाब्दस्याऽप्रामाण्ये प्रत्यक्षस्यापि क्वचिद्विसंवादात्सर्वत्राप्रामाण्यप्रसंगः। ततो निराकृतमेतत्—

बौद्ध—अतीत अनागतादि काल में पदार्थ के नहीं रहते हुए भी उसमें शब्द की प्रवृत्ति पायी जाती है अतः शब्द को अर्थ का अभिधायक नहीं मानते ?

जैन—यह कथन अयुक्त है, उक्त पदार्थ इस समय नहीं होने पर भी स्वकाल में तो विद्यमान हो था अतः शब्द उसके अभिधायक हो सकते हैं यदि ऐसा न माना जाय तो उक्त पदार्थ प्रत्यक्ष का विषय भी नहीं हो सकेगा क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान के काल में भी उसके विषयभूत पदार्थ नहीं होते। अभिप्राय यह है कि आपके क्षणिक मतानुसार शाब्दिक ज्ञान के समय और प्रत्यक्ष ज्ञान के समय दोनों समयों में भी पदार्थ विद्यमान नहीं रहता अतः यदि पदार्थ के विद्यमान नहीं होने के कारण शब्द को अर्थ का अभिधायक नहीं मानते तो प्रत्यक्ष ज्ञान को भी उसका ग्राहक नहीं मानना होगा। यदि कहा जाय कि प्रत्यक्ष ज्ञान में अविसंवाद रहता है अतः वह अर्थ का ग्राहक माना जाता है सो यह बात शाब्दिक ज्ञान में भी संभव है, अर्थात् प्रमाणान्तर की प्रवृत्ति होना रूप अविसंवाद प्रत्यक्ष के समान शब्दजन्य ज्ञान में भी अनुभव में आता ही है। "अग्नि थी" इत्यादि अतीत अर्थ को विषय करने वाले वाक्य में विशिष्ट भस्म (राख) आदि कार्य के देखने से उत्पन्न हुए अनुमान प्रमाण द्वारा संवाद हो जाता है अर्थात् सत्यता आती है तथा चन्द्र ग्रहण सूर्य ग्रहण आदि आगामी पदार्थ को विषय करने वाले वाक्य में तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा ही संवाद हो जाता है। यदि कहा जाय कि शब्दजन्य ज्ञान के विषयभूत पदार्थ में कहीं कहीं विसंवाद देखा जाता है अतः सभी शब्दजन्य ज्ञान में अप्रामाण्य माना गया है तो प्रत्यक्षज्ञान के विषय में भी कहीं विसंवाद देखा जाने से उसे भी सर्वत्र अप्रामाणिक मानना होगा। इसलिये शाब्दिक ज्ञान में सत्यता मानना आवश्यक है एवं शब्द द्वारा वास्तविक पदार्थ में संकेत होना उसका ग्रहण होना इत्यादि

"अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यमन्यच्छब्दस्य गोचरः।
शब्दात्प्रत्येति भिन्नाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते ॥१॥" [ ]

"अन्यथैवाग्निसम्बन्धाद्दाहं दग्धोभिमन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहार्थः सम्प्रतीयते ॥"

[वाक्यप० २।४।२५] इत्यादि।

सामग्रीभेदाद्विशदेतरप्रतिभासभेदो न पुनर्विषयभेदात्, सामान्यविशेषात्मकार्थविषयतया सकलप्रमाणानां तद्भेदाभावादित्यग्रेवक्ष्यमाणत्वात्। ततो 'यो यत्कृते प्रत्यये न प्रतिभासते' इत्यादिप्रयोगे हेतुरसिद्धः; सामान्यविशेषात्मार्थलक्षणस्वलक्षणस्य शाब्दप्रत्यये प्रतिभासनात्।

मानना भी आवश्यक है। इसलिये निम्नलिखित कथन निराकृत हुआ समझना चाहिए कि—इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होने वाला पदार्थ अन्य है और शब्द के गोचर पदार्थ कोई अन्य ही है, क्योंकि अन्धपुरुष शब्द से तो पदार्थ को जान लेता है किन्तु उसको प्रत्यक्ष देख नहीं सकता, अतः निश्चय होता है कि शब्द के गोचर पदार्थ कोई अन्य ही है ॥१॥ अग्नि के सम्बन्ध से दग्ध हुआ पुरुष स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा उस अग्नि को अन्य प्रकार से (स्पष्ट रूप से) जानता है, और वही पुरुष यदि अग्नि शब्द द्वारा अग्नि को जानता है तो किसी अन्य प्रकार से (अस्पष्ट रूप से) जानता है इत्यादि।

यह समझना आवश्यक है कि विशदप्रतिभास और अविशदप्रतिभास सामग्री के भेद से होता है न कि विषयभूत पदार्थ के भेद से, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण हो चाहे अनुमान प्रमाण हो अथवा अन्य शब्दज प्रमाणादि हो, सभी प्रमाणों का विषय सामान्य विशेषात्मक एक ही पदार्थ है। प्रमाणों के विषय में भेद नहीं है इसको आगे (तृतीय भाग में) सिद्ध करने वाले हैं। इसलिये पहले बौद्ध ने जो कहा था कि—"जो जिसके द्वारा किये हुए ज्ञान में प्रतीत नहीं होता वह उसका विषय नहीं होता" इत्यादि सो उक्त अनुमान का हेतु (शब्दज ज्ञान में स्वलक्षण प्रतीत नहीं होना रूप हेतु) असिद्ध है, क्योंकि शाब्दिक ज्ञान में सामान्यविशेषात्मक स्वभाव वाला स्वलक्षण प्रतिभासित होता है।

प्रयोगः—यद्यत्र व्यवहृतिमुपजनयति तत्तद्विषयम् यथा सामान्यविशेषात्मके वस्तुनि व्यवहृतिमुपजनयत्प्रत्यक्षं तद्विषयम्, तत्र व्यवहृतिमुपजनयति च शब्द इति। न चासिद्धो हेतुः; बहिरन्तश्च शाब्दव्यवहारस्य तथाभूते वस्तुन्युपलम्भात्। भवत्कल्पितस्वलक्षणस्य तु प्रत्यक्षेऽन्यत्र वा स्वप्नेप्यप्रतिभासनात्।

प्रतिज्ञापदयोश्च व्याघातः; तथाहि—'अन्यदेवेन्द्रियग्राह्यम्' इत्यनेन शब्देन कश्चिदर्थोभिधीयते वा, न वा? नाभिधीयते चेत्; कथमिन्द्रियग्राह्यस्यान्यत्वमतः प्रतीयते? अथाभिधीयतेर्थः; तर्हि तस्यैव तद्विषयत्वप्रसिद्धेः कथन्न शब्दस्यार्थागोचरत्वप्रतिज्ञाऽतो व्याहन्येत? साक्षादिन्द्रियग्राह्यागोचरोऽ-

---

अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध होता है कि—जो जहां पर व्यवहार को (विकल्प ज्ञान को) उत्पन्न करता है वह उसका विषय होता है, जैसे सामान्य विशेषात्मक पदार्थ में प्रत्यक्षज्ञान व्यवहार को उत्पन्न करता है अतः वह उसका विषय है, शब्द भी उक्त पदार्थ में व्यवहार को उत्पन्न करता है अतः वह उसका विषय है। उसमें व्यवहार को उत्पन्न करना रूप हेतु असिद्ध भी नहीं, क्योंकि बहिरंग और अंतरंग रूप उक्त प्रकार की वस्तु में (सामान्य विशेषात्मक वस्तु में) शब्द जन्य ज्ञान द्वारा होने वाला व्यवहार उपलब्ध होता है। आप सौगत द्वारा परिकल्पित स्वलक्षणरूप वस्तु तो प्रत्यक्ष और अन्य अनुमानादि में ही क्या स्वप्न में भी प्रतिभासित नहीं होती। जैसे गधे के सींग किसी भी प्रमाण में प्रतीत नहीं होते।

तथा शब्द द्वारा वास्तविक पदार्थ प्रतिभासित होना नहीं मानेंगे तो प्रतिज्ञा और पद का व्याघात हो जाने का प्रसंग आता है, आगे इसी को बताते हैं—यदि शब्द किसी भी अर्थ को नहीं कहता तो "इन्द्रिय द्वारा अन्य ही ग्राह्य होता है" इस शब्द द्वारा कोई अर्थ कहा जाता है कि नहीं? यदि नहीं कहा जाता तो यह अर्थ इन्द्रिय ग्राह्य अर्थ से अन्य है (पृथक् है) ऐसा इस शब्द से किस प्रकार प्रतीत होता है? और उक्त शब्द द्वारा अर्थ कहा जाता है तो वहीं अर्थ उस शब्द का विषय है ऐसा सिद्ध ही हुआ, फिर "अर्थ शब्द के अगोचर है" ऐसा प्रतिज्ञा वाक्य कैसे खण्डित नहीं होगा? अवश्य ही होगा।

बौद्ध—शब्द का गोचरभूत पदार्थ अव्यवधानरूप से इन्द्रिय ग्राह्य के अगोचर है?

साक्षिति चेत्; पारम्पर्येणासौ तद्गोचरो भवति, न वा ? यदि न भवति; तर्हि 'साक्षात्' इति विशेषणं व्यर्थम् । अथ भवति; तर्हि तज्ज्ञा(तज्जा)प्रतीतिः किमिन्द्रियजप्रतीतितुल्या, तद्विलक्षणा वा ? यदि तत्तुल्या; तदा 'शब्दाप्रत्येति विनष्टाक्षो न तु प्रत्यक्षमीक्षते' इत्यनेन विरोधः । तद्विलक्षणा चेत्; न तर्हि प्रतीतिवैलक्षण्यं विषयभेदसाधनम्, एकत्रापि विषये तदभ्युपगमात् ।

दाहशब्देन चात्र कोर्थोभिप्रेतः-किमग्निः, उष्णस्पर्श, रूपविशेष, स्फोटः, तद्दुःखं वा ? अस्तु यः कश्चित्, किमेभिर्विकल्पैर्भवतां सिद्धमिति चेत् ? एतेषां मध्ये योर्थोभिप्रेतो भवतां तेनार्थेनार्थवत्त्व-प्रसिद्धेः तस्यानर्थविषयत्वाभावः सिद्ध इति ।

जैन—तो फिर परम्परा से वह अर्थ शब्द के गोचर होता है ? अथवा परंपरा से भी नहीं होता ? यदि परम्परा से भी शब्द के गोचर नहीं होता तो साक्षात् गोचर नही होता ऐसा उक्त वाक्य में साक्षात् विशेषण देना व्यर्थ ठहरता है । अर्थ परंपरा से शब्द के गोचर होता है ऐसा माने तो वह शब्द से होने वाली अर्थ की प्रतीति इन्द्रियज प्रतीति के समान है अथवा उससे विलक्षण है ? यदि इन्द्रियज प्रतीति के समान है तो अंध पुरुष शब्द से अर्थ को जानता है किन्तु उस अर्थ को प्रत्यक्ष तो नही देखता है अर्थात् चक्षु ग्राह्य अर्थ अन्य है और शब्द गोचर अर्थ अन्य है ऐसा आपने पहले कहा था उस कथन के साथ विरोध आता है ? क्योंकि यहां पर शब्दज प्रतीति और इन्द्रियज प्रतीति इन दोनों को समान मान लिया । इन्द्रियज प्रतीति से शब्दज प्रतीति विलक्षण हुआ करती है ऐसा दूसरा पक्ष कहो तो आप बौद्ध का वह सिद्धांत गलत ठहरता है कि—"प्रतीति के विलक्षण होने से अर्थात् भिन्न भिन्न प्रतीति के होने से ही प्रतीति के विषयभूत पदार्थों के भेद सिद्ध होते हैं" क्योंकि यहां पर एक विषय में भी प्रतीति भेद मान लिया । अभिप्राय यह है कि आप "प्रमेय द्वैविध्यात् प्रमाण द्वैविध्यम्—प्रमेय दो प्रकार का होने से प्रमाण दो प्रकार का होता है" ऐसा मानते हैं अर्थात् प्रमेय सामान्य और विशेष के भेद से दो प्रकार का है इसलिये उनको जानने के लिये प्रमाण भी दो प्रकार के—प्रत्यक्ष और अनुमान मानने पड़ते हैं, किन्तु यहां एक ही प्रमेय अर्थात् विषय में दो विलक्षण प्रतीतियों का होना स्वीकार किया ।

दाह शब्द द्वारा अन्य ही अर्थ प्रतीत होता है इत्यादि पूर्वोक्त कथन में दाह शब्द से कौनसा अर्थ लेना इष्ट है । अग्नि, उष्णस्पर्श, रूपविशेष, स्फोट अथवा दाह से होने वाला दुःख ?

नन्वेवं दहनसम्बन्धाद्यथा स्फोटो दुःखं वा तथा दाहशब्दादपि किन्न स्यादर्थप्रतीतेरविशेषात् ? तन्न; अन्यकार्यत्वात्तस्य, न खलु दहनप्रतीतिकार्यं स्फोटादि । किं तर्हि ? दहनदेहसम्बन्धविशेषकार्यम्, सुषुप्ताद्यवस्थायामप्रतीतावपि अग्नेस्तत्सम्बन्धविशेषात् स्फोटादेर्दर्शनात्, दूरस्थस्य चक्षुषा प्रतीतावप्यदर्शनात्, मन्त्रादिबलेन त्वगिन्द्रियेणापि प्रतीतावप्यदर्शनात् । तस्मादभिन्नेपि विषये सामग्रीभेदाद्विशदेतरप्रतिभासभेदोऽभ्युपगन्तव्यः ।

बौद्ध—दाह शब्द से कोई भी अर्थ लेते हैं इन विकल्पों से आप जैनों का क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

जैन—इतने प्रकार के पदार्थों के मध्य में जो पदार्थ आप बौद्धों को इष्ट होगा उस अर्थ द्वारा शब्द का अर्थवानपना अर्थात् अर्थ को विषय कर सकना सिद्ध होने से शब्द अवास्तविक अर्थ को विषय करते हैं (अथवा शब्द अनर्थ को विषय करता है) ऐसी आपकी मान्यता गलत सिद्ध होती है ।

बौद्ध – जैसे अग्नि के सम्बन्ध से स्फोट या दुःख होता है वैसे अग्नि शब्द से भी स्फोट या दुःख क्यों नहीं होता ? क्योंकि अर्थ की प्रतीति तो समान ही है ? अर्थात् यदि इन्द्रिय ग्राह्य अर्थ और शब्द गोचर अर्थ एक ही है और शाब्दिक प्रतीति और इन्द्रियज प्रतीति समान है तो अग्नि शब्द से स्फोटादि क्यों नहीं होते ?

जैन – ऐसा कहना उचित नहीं है, स्फोट आदि होना किसी अन्य का कार्य है, अग्नि की प्रतीति का कार्य स्फोटादि नहीं है, वह कार्य तो अग्नि और शरीर के सम्बन्ध विशेष के कारण होता है, यदि स्फोट आदि अग्नि की प्रतीति का कार्य होता तो सुप्त उन्मत्त आदि दशा में अग्नि के प्रतीति के नहीं रहते हुए भी उस अग्नि के सम्बन्ध विशेष से स्फोटादि होना कैसे दिखायी देता ? दूर में स्थित पुरुष के चक्षु द्वारा अग्नि के प्रतीत होने पर भी स्फोटादि क्यों नहीं होते तथा मंत्रादि के बल से युक्त होने पर स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा प्रतीत होने पर भी स्फोटादि क्यों नहीं दिखाई देते ? अतः निश्चय होता है कि अग्नि के प्रतीति होने मात्र से स्फोट या दुःख नहीं होता अपितु अग्नि और शरीर के संयोग हो जाने से उक्त कार्य होता है इसलिये स्फोट आदि अग्नि प्रतीति का कार्य नहीं है । अतः बौद्धों को विषय के अभिन्न रहने पर भी सामग्री के भेद से विशद और अविशद रूप प्रतिभासों का भेद स्वीकार करना चाहिए । अर्थात् विभिन्न सामग्री के कारण भिन्न भिन्न प्रतिभास होता है न कि विषयभेद के कारण ।

तथा चेदमप्ययुक्तम्—'न चैकस्य वस्तुनो रूपद्वयमस्त्येकस्य द्वित्वविरोधात्' इति ।

यदि चाभावोभिधीयते शब्दैर्भावो नाभिधीयते इति क्रियाप्रतिषेधान्न किञ्चित्कृतं स्यात् । तथा च कथं नदीदेशद्वीपपर्वतस्वर्गापवर्गादिष्वाप्तप्रणीतवाक्यात्प्रतिपत्तिः श्रेयःसाधनानुष्ठाने प्रवृत्तिर्वा ? अन्यथा सर्वस्मादपि वाक्यात्सर्वत्रार्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्त्यादिप्रसंगः ।

सत्येतरव्यवस्थाभावश्च तत्त्वेतरप्रतिपत्तेरभावात् । तथाच 'यत्सत्तत्सर्वमक्षणिकं क्षणिके क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्' इत्यादेरिव 'यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकं नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियानुपपत्तेः' इत्यादेरप्यसत्त्वानुषंग. । विपर्ययप्रसंगो वा, सर्वथार्थासंस्पर्शित्वाविशेषात् । कस्यचिदनुमान-

---

इस प्रकार सामग्री के भेद के कारण प्रतिभासों में भेद होना सिद्ध होने पर बौद्धों का उक्त कथन विरोध को प्राप्त होता है कि—एक वस्तु के दो रूप (विशद अविशद) नहीं हो सकते, क्योंकि एक के द्वित्वपने का विरोध है इत्यादि ।

यदि शब्दों द्वारा अभाव अर्थात् अपोह ही कहा जाता है सद्भाव नहीं कहा जाता इस प्रकार भाव रूप क्रिया का ही निषेध किया जाता है तो शब्द द्वारा कुछ भी नहीं किया जाता ऐसा अर्थ निकलता है ? फिर तो नदी, देश, द्वीप, पर्वत, स्वर्ग, मोक्ष आदि पदार्थों में आप्त प्रणीत शब्द से प्रतिपत्ति किस प्रकार हो सकती है ? तथा मोक्ष के साधनभूत अनुष्ठान में प्रवृत्ति भी किस प्रकार हो सकती है ? और यदि शब्द से कुछ नहीं किये जाने पर भी अर्थ प्रतिपत्ति एवं प्रवृत्ति आदि होती है तो सभी वाक्य से सब अर्थों में प्रतिपत्ति और प्रवृत्ति हो जाने का प्रसंग भी प्राप्त होता है ।

तथा शब्द द्वारा कुछ प्रतीत नहीं होता अपोह ही प्रतीत होता है ऐसा माने तो सत्य और असत्य की व्यवस्था नही हो सकेगी, क्योकि तत्व और अतत्त्व की प्रतिपत्ति का अभाव है । जब सत्य असत्य की व्यवस्था नही है तब "जो सत् है वह सर्व ही अक्षणिक है क्योंकि क्षणिक में क्रम और युगपत रूप से अर्थ क्रिया का विरोध है" जैसे यह वाक्य आप बौद्ध को असत्य रूप है वैसे "जो सत् है वह सर्व क्षणिक है क्योंकि नित्य में क्रम और युगपत् रूप से अर्थ क्रिया का विरोध है" यह वाच्य भी असत्य रूप होना चाहिए ? अथवा उपर्युक्त वाक्यों में से पहले का वाक्य सत्य और अंत का वाक्य असत्य ऐसा विपर्यय का प्रसंग आ सकता है ? क्योंकि शब्द या वाक्य सर्वथा किसी भी अर्थ का स्पर्श ही नहीं करते । यदि आप बौद्ध किसी अनुमान वाक्य को किसी प्रकार

वाक्यस्य कथञ्चिदर्थसंस्पर्शित्वे सर्वथार्थस्यानभिधेयत्वविरोधः । स्वपक्षविपक्षयोश्च सत्यासत्यत्व-प्रदर्शनाय शास्त्रं प्रणयन् वस्तु सर्वथाऽनभिधेयं प्रतिजानाति इत्युपेक्षणीयप्रज्ञः, सर्वथाभिधेयरहितेन तेन तस्य प्रणेतुमशक्तेः ।

"शक्तस्य सूचकं हेतुवचोऽशक्तमपि स्वयम्" [प्रमाणवा० ४।१७] इत्यभिधानात् । तत्कृतां तत्त्वसिद्धिमुपजीवति, नार्थस्य तद्वाच्यतामिति किमपि महाद्भुतम् ! वस्तुदर्शनवंशप्रभवत्वाद्धेतुवचो वस्तुसूचकम्; इत्यक्षणिकवादिनोपि समानम् । मद्वचनमेवार्थदर्शनवंशप्रभवं न पुनः परवचनम्; इत्यन्यत्रापि समानम् ।

से अर्थ का स्पर्श करने वाला (अर्थ का वाचक) मानते हैं तब तो सर्वथा सभी शब्द अर्थ को कहते ही नहीं ऐसा आपका सिद्धांत विरुद्ध पड़ता है । स्वपक्ष की सत्यता और विपक्ष की असत्यता का प्रदर्शन कराने के लिये शास्त्र को रचने वाले आपके बौद्ध ग्रन्थकार वस्तु को सर्वथा अनभिधेय (अवाच्य) रूप मानने की प्रतिज्ञा करते हैं सो यह ग्रन्थकार उपेक्षणीयप्रज्ञ—उपेक्षा करने योग्य ज्ञान वाला अर्थात् मूर्ख है क्योंकि इधर तो सत्य असत्य की व्यवस्था शास्त्र से (शब्द से) होना मानकर शास्त्र रचता है और इधर वस्तु को शब्द द्वारा अनिभिधेय मानता है सो यह सर्वथा अनुचित है, क्योंकि सर्वथा अभिधेय रहित शब्द द्वारा शास्त्र का प्रणयन करना ही अशक्य है ।

बौद्ध ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक में कहा है कि - हेतु वचन स्वयं अशक्त होकर शक्त स्वलक्षण का सूचक हुआ करता है अर्थात् स्वरूप से असमर्थ ऐसा हेतु वचन समर्थ रूप स्वलक्षण को (साध्य को) सिद्ध करता है, सो शब्द द्वारा की गयी तत्त्व सिद्धि को तो अंगीकार करना और अर्थ शब्द से वाच्य नहीं होता ऐसा कहना महाआश्चर्यकारी है ।

बौद्ध—हेतुवचन वस्तु का (स्वलक्षणभूत साध्य का) सूचक इसलिये होता है कि उसकी उत्पत्ति वस्तुभूत धूमादि दर्शन के अन्वय से हुई है ? अर्थात् हेतु का वचन वास्तविक धूमादि को देखना रूप प्रतीति से उत्पन्न होता है अतः स्वलक्षणभूत साध्यार्थ को सिद्ध करता है ?

जैन—तो यही बात हम जैनादि अक्षणिक वादी के पक्ष में हो सकती है अर्थात् जो शब्द सत्यार्थ प्रतीत होते हैं वे अर्थाभिधायक होते हैं ऐसा सिद्ध होता है । "हमारे वचन ही अर्थ दर्शन के अन्वय से हुए हैं पर वचन नहीं" "ऐसा कहो तो जैन

सकलवचसां विवक्षामात्रविषयत्वाभ्युपगमाच्च, तावन्मात्रसूचकत्वेन च शाब्दस्य प्रामाण्ये सर्वं शाब्दविज्ञानं प्रमाणं स्यात्, प्रत्यागमस्यापि प्रतिवाद्यभिप्रायप्रतिपादकत्वाविशेषात् ।

किंच, अर्थव्यभिचारवच्छब्दानां विवक्षाव्यभिचारस्यापि दर्शनात्कथं ते तामपि प्रतिपादयेयुः ? गोत्रस्खलनादौ ह्यन्यविवक्षायामप्यन्यशब्दप्रयोगो दृश्यते एव । 'सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति' इति नियमोऽर्थविशेषप्रतिपादकत्वेप्यस्याऽस्तु ।

भी कह सकते हैं कि हमारे वचन ही अर्थ दर्शन प्रभव है परके नहीं ? सो समान ही बात है ।

तथा सम्पूर्ण वचन (साध्य साधन के वचन या अन्य वचन) विवक्षामात्र को विषय करते हैं ऐसा माना जाता है, सो विवक्षामात्र के सूचक होने से शाब्दिक ज्ञान में प्रामाण्य स्वीकार करे तो सभी शाब्दिक ज्ञान प्रामाणिक होंगे, फिर परवादी के आगम वचन में भी प्रामाणिकता माननी होगी, क्योंकि वे वचन भी प्रतिवादी के अभिप्राय अर्थात् विवक्षा के सूचक हैं ।

किंच, जिस प्रकार शब्दों का अर्थ के साथ व्यभिचार देखने में आता है अर्थात् बिना अर्थ के भी शब्द प्रवृत्त होते हैं उस प्रकार विवक्षा व्यभिचार भी देखने में आता है अर्थात् विवक्षा के बिना भी शब्द प्रवृत्त होते हैं अथवा विवक्षा अन्य होती है और शब्द अन्य निकलते हैं अतः शब्द विवक्षा का भी किस प्रकार प्रतिपादन कर सकते हैं ? गोत्र स्खलन आदि में (गोत्र अर्थात् नाम उसका स्खलन अर्थात् नाम तो कुछ हो और कहे कुछ अन्य रूप) देखा भी जाता है कि कहने की विवक्षा तो कुछ अन्य रहती है और शब्द प्रयोग होता है कुछ अन्य ही । यदि कहा जाय कि "सुविवेचितं कार्यं कारणं न व्यभिचरति" भली प्रकार से विवेचित हुआ कार्य कारण के साथ व्यभिचरित नहीं होता ऐसा नियम है अतः विचार पूर्वक प्रयुक्त हुए शब्द विवक्षा के साथ व्यभिचरित नहीं हो सकेंगे, सो यह नियम अर्थ प्रतिपादकत्व में भी सुघटित होगा अर्थात् संकेत आदि पूर्वक प्रयुक्त हुआ शब्द अर्थ के साथ व्यभिचरित नहीं होता ऐसा स्वीकार करना चाहिए ।

न चास्य विवक्षायास्तदधिरूढार्थस्य वा प्रतिपादकत्वं युक्तम्; ततो बहिरर्थे प्रतिपत्तिप्रवृत्ति-प्राप्तिप्रतीतेः प्रत्यक्षवत्। यथैव हि प्रत्यक्षात्प्रतिपत्तृप्रणिधानसामग्रीसापेक्षात्प्रत्यक्षार्थप्रतिपत्तिस्तथा संकेतसामग्रीसापेक्षादेव शब्दाच्छब्दार्थप्रतिपत्तिः सकलजनप्रसिद्धा, अन्यथाऽतो बहिरर्थे प्रतिपत्त्यादि-

---

दूसरी बात यह है कि शब्द केवल विवक्षा को कहते हैं अथवा विवक्षा में अधिरूढ़ पदार्थ को कहते हैं ऐसा मानना ही अनुचित है, क्योंकि अन्तरंग में स्थित विवक्षा में अथवा विवक्षा में अधिरूढ़ पदार्थ में शब्द द्वारा प्रतीति, प्रवृत्ति एवं प्राप्ति नहीं होती अपितु उससे भिन्न बाह्य घट पट आदि पदार्थों में होती है जैसे प्रत्यक्ष द्वारा बाह्यार्थ में प्रतीति, प्रवृत्ति एवं प्राप्ति हुआ करती है।

भावार्थ शब्द अर्थ के वाचक न होकर विवक्षा के वाचक होते हैं ऐसा किसी बौद्धादि के प्रतिपादन करने पर जैनाचार्य कहते हैं कि शब्द में अर्थ व्यभिचार के समान विवक्षा व्यभिचार भी देखा जाता है, अर्थात् जिस प्रकार अर्थ के नहीं होते हुए भी उसके वाचक शब्द कोई कदाचित् उपलब्ध होते हैं उस प्रकार विवक्षा के नहीं होते हुए या अन्य विवक्षा के होते हुए भी कदाचित् अन्य कोई शब्द मुख से निकल जाया करते हैं, ऐसा होना हुआ देखा ही जाता है कि कहने की इच्छा रहती है घट और शब्द निकलता है पट, विवक्षा रहती है रमेश की और शब्द निकलता है जिनेश, यदि कहा जाय कि विचार पूर्वक शब्द बोलते हैं तो विवक्षाव्यभिचार नहीं होता तो यही बात अर्थव्यभिचार के विषय में है अर्थात् जो शब्द विचार पूर्वक बोला जाता है वह अर्थ से व्यभिचरित नहीं होता। अतः शब्द विवक्षा को ही कहते हैं अर्थ को नहीं इत्यादि कथन अयुक्त सिद्ध होता है। शब्द को सुनकर अर्थ का ज्ञान अवश्य होता है इसलिये वह उसका अवश्य वाचक है। शब्द द्वारा पदार्थ का जैसा प्रतिभास होता है वैसा पदार्थ साक्षात् उपलब्ध भी होता है, शब्द को सुनकर पदार्थ को उठाना, देना आदि क्रिया भी होती है फिर किस प्रकार शब्द को अर्थ का प्रतिपादक नहीं माने? प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा भी इसी प्रकार पदार्थ की प्रतिपत्ति आदि होती है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। अतः जिस प्रकार प्रत्यक्ष को अर्थ का प्रतिपादक मानते हैं उसी प्रकार शब्द को भी अर्थ का प्रतिपादक मानना ही होगा।

सर्वजन सुप्रसिद्ध बात है कि जिस प्रकार प्रतिपत्ति करने वाले पुरुष के प्रणिधान (एकाग्रमन) रूप सामग्री की जिसमें अपेक्षा है ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रत्यक्ष-

विरोधः । न चार्थेऽर्थिनोऽर्थित्वादेव प्रवृत्तेः शब्दोऽप्रवर्त्तकः; अध्यक्षादेरप्येवमप्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात् तदर्थेप्यभिलाषादेव प्रवृत्तिप्रसिद्धेः। परम्परया प्रवर्त्तकत्वं शब्देप्यस्तु विशेषाभावात् ।

का चेयं विवक्षा नाम–किं शब्दोच्चारणेच्छामात्रम्, 'अनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपादयामि' इत्यभिप्रायो वा ? प्रथमपक्षे वक्तृश्रोत्रोः शास्त्रादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् । न खलु कश्चिदनुन्मत्तः शब्दनिमित्तेच्छामात्रप्रतिपत्त्यर्थं शास्त्रं वाक्यान्तरं वा प्रणेतुं श्रोतुं प्रवर्त्तते । दशदाडिमादिवाक्यैः सह

भूत अर्थ की प्रतीति होती है उस प्रकार संकेत रूप सामग्री की जिसमें अपेक्षा है ऐसे शब्द से शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है, यदि ऐसा नहीं होता तो बाह्य घटादि पदार्थ में शब्द से प्रतिभास एवं प्रवृत्ति आदि नहीं होनी थी ।

शंका—बाह्य पदार्थ में अर्थ के इच्छुक पुरुष की प्रवृत्ति होने का कारण अर्थिपना ही है अर्थात् उक्त अर्थ की इच्छा होने के कारण प्रवृत्ति होती है न कि शब्द से अतः शब्द को अप्रवर्त्तक माना जाता है ?

समाधान—तो फिर प्रत्यक्षादि को भी इसी तरह अप्रवर्त्तक मानना होगा क्योंकि प्रत्यक्षभूत पदार्थ में भी अर्थ की इच्छा होने के कारण ही प्रवृत्ति होती है । प्रत्यक्ष ज्ञान परम्परा से अर्थ में प्रवृत्ति कराता है अतः उसको प्रवर्त्तक माना है ऐसा कहो तो शब्द भी परम्परा से अर्थ में प्रवृत्ति कराता है अतः उसको भी प्रवर्त्तक मानना चाहिये । उभयत्र समानता है कोई विशेषता नहीं है ।

तथा विवक्षा किसे कहना यह भी विचारणीय है शब्दोच्चारण की इच्छा होने मात्र को विवक्षा कहते हैं अथवा इस शब्द द्वारा इस अर्थ का प्रतिपादन करता हूँ ऐसा अभिप्राय का होना विवक्षा है ? प्रथम पक्ष माने तो वक्ता और श्रोता की शास्त्रादि में प्रवृत्ति नहीं हो सकेगी । इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—कोई भी बुद्धिमान् वक्ता और श्रोता शब्दोच्चारण की इच्छा मात्र के लिये और केवल उसको जानने के लिए शास्त्र या वाक्यांतर का प्रणयन एवं श्रवण के लिये प्रवृत्त नहीं होते अर्थात् वक्ता अपनी विवक्षा को जानने के लिये शब्दोच्चारण करता हो और श्रोता वक्ता की विवक्षा को जानने के लिये शब्दोच्चारण को सुनता हो ऐसा नहीं है । यदि ऐसा स्वीकार करेंगे तो दशदाडिमादि संदर्भ रहित वाक्यों के समान सभी वाक्य संदर्भ रहित बन जायेंगे क्योंकि सभी वाक्य समान रूप से अपनी इच्छा मात्र के अनुमापक हैं । अभिप्राय यह है कि

सर्ववाक्यानामविशेषप्रसंगश्च, सर्वेषां स्वप्रभवेच्छामात्रानुमापकत्वाविशेषात् । अथ 'अनेन शब्देनामुमर्थं प्रतिपादयामि' इत्यभिप्रायो विवक्षा, तत्सूचकत्वेन शब्दानामनुमानत्वम्; तदप्ययुक्तम्; व्यभिचारात् । न हि शुकशारिकोन्मत्तादयस्तथाभिप्रायेण वाक्यमुच्चारयन्ति ।

किंच, समयानपेक्षं वाक्यं तादृशमभिप्रायं गमयेत्, तत्सापेक्षं वा ? आद्यविकल्पे सर्वेषामर्थप्रतिपत्तिप्रसंगान्न कश्चिद्भाषानभिज्ञः स्यात् । समयापेक्षस्तु शब्दोऽर्थमेव किं न गमयति ? न ह्ययमर्थाद्-

---

शब्द केवल विवक्षा को ही कहते हैं उसीके अनुमापक है ऐसा माना जाय तो दश दाडिमाः, षट् पूपाः इत्यादि निरर्थक वाक्य और "हे देवदत्त अत्र आगच्छ" इत्यादि सार्थक वाक्य इन दोनों में कोई विशेषता नहीं रहेगी (या तो दोनों सार्थक माने जायेंगे या दोनों निरर्थक माने जायेंगे) क्योंकि सभी अपनी विवक्षामात्र को कहते हैं अर्थ को तो कहते ही नहीं ? फिर कैसे कह सकते हैं कि अमुक वाक्य अर्थ को कहता है अतः सार्थक है और अमुक वाक्य वैसा नहीं है इत्यादि । दूसरा पक्ष—"इस शब्द द्वारा इस अर्थ का प्रतिपादन करता हूं" ऐसा अभिप्राय होने को विवक्षा कहते हैं और उस विवक्षा के सूचक शब्द होते हैं अतः शब्द विवक्षा के अनुमापक है ऐसा मानना भी अनुचित है क्योंकि इस तरह की मान्यता में भी व्यभिचार आता है, कैसे सो बताते हैं—शुक सारिका पक्षी तथा उन्मत्त पुरुष आदि उपर्युक्त लक्षण वाली विवक्षा से वाक्य का उच्चारण नहीं करते हैं अतः सभी शब्द एवं वाक्य विवक्षा को ही कहते हैं ऐसा नियम करना व्यभिचरित हो जाता है ।

किंच, जिसमें संकेत की अपेक्षा नहीं है वह वाक्य उस प्रकार के अभिप्राय को (इस शब्द द्वारा इस अर्थ का प्रतिपादन करता हूँ) जतलाता है अथवा जिसमें संकेत को अपेक्षा होती है वह वाक्य उक्त अभिप्राय को जतलाता है ? प्रथम विकल्प माने तो सभी वाक्यों से सब अर्थों की प्रतिपत्ति होने का प्रसंग प्राप्त होता है फिर तो कोई भी व्यक्ति किसी भी भाषा से अपरिचित नहीं रहेगा ? क्योंकि इस शब्द का यह अर्थ होता है इस अर्थ को घट कहते हैं, इस अर्थ को संस्कृत भाषा में "घटः" कहते हैं, हिंदी भाषा में 'घड़ा' कहते हैं इत्यादि प्रकार से शब्द एवं वाक्य में संकेत किये बिना ही वे शब्दादि उस उस अर्थ को कहने वाले मान लिये हैं । संकेत की अपेक्षा वाले वाक्य उस प्रकार के अभिप्राय को जतला देते हैं ऐसा दूसरा पक्ष माने तो शब्द अर्थ

बिभेति येन तत्र साक्षान्न वर्त्तेत। यच्चाशक्यसमयत्वादिकेर्थे शब्दाप्रवृत्तौ न्यायः, सोऽभिप्रायेपि समान इत्यभिप्रायावगमोपि शब्दान्न स्यात्। तन्न स्वलक्षणस्याभिधानेनानिर्देश्यत्वम्।

किंच, तच्छब्देनाऽप्रतिपाद्याऽनिर्देश्यत्वमस्योच्येत, प्रतिपाद्य वा ? न तावदप्रतिपाद्य; अतिप्रसंगात्। प्रतिपाद्य चेत्; न; स्ववचनविरोधात्। शब्देन हि स्वलक्षणं प्रतिपादयता निर्देश्यत्वमस्याभ्युपगतं स्यात्, पुनश्च तदेव प्रतिषिद्धमिति। कथं चानिर्देश्यशब्देनाप्यस्यानभिधाने अनिर्देश्यत्वसिद्धिः ?

को ही कहता है ऐसा क्यों न माना जाय ? शब्द कोई अर्थ से डरता तो नहीं है जिससे कि वह उसमें साक्षात् प्रवृत्ति नहीं कर सके।

शंका—अर्थ अनन्त हुआ करते हैं अतः उनमें शब्द द्वारा संकेत किया जाना अशक्य है, इसीलिये तो शब्द द्वारा अर्थ में साक्षात् प्रवृत्ति नहीं हो पाती ?

समाधान—तो फिर यही न्याय अभिप्राय में लगता है अर्थात् अभिप्राय अनंत हुआ करते हैं अतः शब्द द्वारा अभिप्राय को जानना अशक्य है। इस प्रकार शब्द से अर्थ का प्रतिपादन होना सिद्ध होने से स्वलक्षणरूप अर्थ शब्द द्वारा अवाच्य है ऐसा बौद्ध का कहना निराकृत हुआ समझना चाहिये।

तथा शब्द द्वारा स्वलक्षण का प्रतिपादन बिना किये उसका अनिर्देश्यपना (अवाच्यपना) कहा जाता है अथवा उसका प्रतिपादन करके कहा जाता है ? बिना प्रतिपादन किये कहा जाता है ऐसा माने तो अतिप्रसंग होगा, फिर तो घटादि पदार्थ भी अनिर्देश्य बन जायेंगे। स्वलक्षण का प्रतिपादन करके फिर उसका अनिर्देश्यपना कहा जाता है ऐसा माने तो स्ववचन विरोध होगा, क्योंकि शब्द द्वारा स्वलक्षण का प्रतिपादन कर रहे हैं तो उसका निर्देश्यत्व ही स्वीकार किया और पुनः उसीका निषेध किया। तथा "अनिर्देश्य" इस प्रकार के शब्द द्वारा भी यदि स्वलक्षण को कहा नहीं जाय तो उसका अनिर्देश्यत्व कैसे सिद्ध होगा ? भ्रांति मात्र से अनिर्देश्य शब्द द्वारा स्वलक्षण का अनिर्देश्यत्व सिद्ध करते हैं ऐसा कहो तो स्वलक्षण परमार्थ से अनिर्देश्य है अथवा असाधारण है ऐसा कहना असिद्ध होगा।

शंका—प्रत्यक्ष प्रमाण से ही उस प्रकार के स्वलक्षण की सिद्धि होती है ?

समाधान—यह कथन अयुक्त है, प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा तो शब्द से निर्देश करने योग्य साधारण और असाधारण स्वरूप वस्तु का प्रतिपादन होता है।

भ्रान्तिमात्रात् ततस्तत्सिद्धौ न परमार्थतस्तन्निर्देश्यमसाधारणं वा सिद्धयेत् । प्रत्यक्षात्तथाभूतस्यास्य प्रसिद्धिः; इत्यपि मनोरथमात्रम्; निर्देश योग्यस्य साधारणासाधारणरूपस्य वस्तुनस्तेन साक्षात्करणात् । वस्तुव्यतिरेकेण नापरा निर्देश्यता साधारणता वा प्रतिभाति' इत्यसाधारणतायामपि समानम् । 'वस्तुस्वरूपमेव सा' इत्यन्यत्रापि समानम् ।

किंच, विकल्पप्रतिभास्यऽन्यापोहगता वाच्यता वस्तुनि प्रतिषिध्यते, वस्तुगता वा ? आद्यविकल्पे सिद्धसाध्यता । न ह्यन्यापोहवाच्यतैव वस्तुवाच्यता; तत्प्रतिषेधविरोधात् । द्वितीयपक्षे तु

शंका—वस्तु से अतिरिक्त निर्देश्यता या साधारणता प्रतिभासित नहीं होती ?

समाधान—यही बात असाधारणता के विषय में भी है अर्थात् असाधारणता भी वस्तु से अतिरिक्त प्रतिभासित नहीं होती ।

शंका—असाधारणता तो वस्तु का निजी स्वरूप है अतः उसके साथ प्रत्यक्ष द्वारा प्रतिभासित हो जाती है ?

समाधान—साधारणता और निर्देश्यता भी वस्तु का निजो स्वरूप है अतः वे दोनों भी प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतिपादित होते हैं ऐसा प्रतीति सिद्ध सिद्धांत स्वीकार करना चाहिये ।

भावार्थ—बौद्ध वस्तुगत असाधारण धर्म को वास्तविक और प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतिभासित होना मानते हैं और उसी वस्तुके साधारण धर्मको काल्पनिक एवं प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा प्रतिभासित न होकर शब्द द्वारा प्रतिभासित होना मानते हैं, और इस काल्पनिक धर्म का प्रतिपादक होने से ही शब्द का विषय अभाव रूप मानते हैं । इस मान्यता का निरसन करते हुए आचार्य ने कहा कि प्रत्यक्ष प्रमाण में तो साधारण असाधारण दोनों ही धर्म प्रतिभासित होते हैं न कि केवल असाधारण । तथा वस्तु का निर्देश्यपना भी प्रत्यक्ष से प्रतीत होता है । अतः शब्द द्वारा स्वलक्षणभूत वस्तु का प्रतिपादन नहीं होता, अर्थात् स्वलक्षण शब्द से अनिर्देश्य है ऐसा बौद्ध का कथन गलत ठहरता है ।

अब इस प्रकरण के अन्त में बौद्ध के प्रति एक प्रश्न और रह जाता है कि—आप स्वलक्षण रूप वस्तु में वाच्यता का निषेध करते हैं सो वह वाच्यता स्वलक्षण रूप वस्तुगत धर्म है अथवा विकल्पप्रतिभासक बुद्धि में स्थित अन्यापोह गत धर्म है ?

स्ववचनविरोध इत्युक्तम् । ततः प्रामाणिकत्वमात्मनोऽभ्युपगच्छता प्रतीतिसिद्धा वाच्यतार्थस्याभ्युपगन्तव्या ।

प्रथम पक्ष कहे तो सिद्ध साध्यता है, क्योंकि अन्यापोहगत वाच्यता ही वस्तुगत वाच्यता नहीं कहलाती है अतः अन्यापोहगत वाच्यता निषेध करने पर भी वस्तुगत वाच्यता का निषेध तो होता ही नहीं इसलिये वस्तु तो शब्द द्वारा वाच्य ही सिद्ध होती है। दूसरा पक्ष—वस्तु में वस्तुगत वाच्यता का निषेध करते हैं ऐसा माने तो स्ववचन विरोध आता है अर्थात् "वस्तु शब्द से अवाच्य है" ऐसा शब्द द्वारा प्रतिपादन करते हैं तो उसका वाच्यपना स्वयं सिद्ध होता है इत्यादि । इस बात को अभी स्वलक्षण का निर्देश्यपना सिद्ध करते समय कहा ही है । अतः अपने मत की (अथवा आत्मा की) प्रामाणिकता को मानने वाले बौद्धादि को प्रतीति सिद्ध ऐसी पदार्थ की वाच्यता स्वीकार करना चाहिए अर्थात् शब्द द्वारा वास्तविक अर्थ कहा जाता है न कि काल्पनिक । शब्द अर्थ के अभिधायक हैं न कि अन्यापोह के, गो आदि शब्द सीधे गो अर्थ को कहते हैं न कि अन्य अश्वादि के अपोह को । ऐसा प्रमाणसिद्ध सिद्धांत सभी को स्वीकार करना चाहिये ।

॥ अपोहवाद समाप्त ॥

अपोहवाद के खण्डन का सारांश

बौद्ध शब्द द्वारा पदार्थ का ज्ञान होना नहीं मानते हैं उनका कहना है कि शब्द पदार्थ के अभाव में भी प्रतीत होते हैं अतः पदार्थों के वाचक न होकर अन्यापोह के वाचक हैं। आचार्य का कहना है कि ऐसा सर्वथा नहीं है कोई शब्द अर्थ के अभाव में होते हुए भी अर्थ सद्भाव में होने वाले शब्द भी मौजूद है अतः शब्द को अन्यापोह का वाचक नहीं मानना चाहिए। जो परीक्षा करके प्रयोगों में लाया जायगा वह शब्द अर्थ से व्यभिचरित नहीं होगा। शब्द अन्यापोह को कहता है ऐसा मानना प्रतीति विरुद्ध भी है, आप गो शब्द से अगो–व्यावृत्ति रूप ज्ञान होना मानते हैं किन्तु गो शब्द से विधि रूप गो का ही ज्ञान उत्पन्न हुआ देखा जाता है। तथा शब्द का वाच्य अपोह है तो सुनने वाले को पहले "अगो" ऐसा सुनाई देना चाहिए ? किन्तु ऐसा नहीं होता यदि होता तो गाय का ज्ञान नहीं हो सकता था। अपोह का लक्षण पर्युदास अभाव रूप है या प्रसज्य अभाव रूप है ? पर्युदास अभाव रूप मानने में कोई दोष नहीं आता, आप उसे अगोनिवृत्ति कहते हैं और हम जैन गोत्व सामान्य कहते हैं। तथा अगो निवृत्ति गो है सो क्या है ? गाय का स्वलक्षण है ऐसा कहो तो वह शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आप वस्तु का स्वरूप क्षणिक होने से शब्दगम्य होना नहीं मानते हैं। आप शब्दों का अर्थ अपोह करते हैं सो वृक्ष, हस्ती, गृह, गो, अश्व इत्यादि अनेक सामान्यवाची शब्द हैं इनका परस्पर में अपोह है अर्थात् गो शब्द का अश्व शब्द में अपोह है और अश्व शब्द का गो शब्द में अपोह है इत्यादि सो इन अपोहों में भेद होने का कारण कौन है यह भी सिद्ध नहीं होता, वासना के भेद से अपोह में भेद होना शक्य नहीं, क्योंकि वासना स्वयं ही अवस्तु है। वाच्य के निमित्त से अपोहों में भेद होना भी असम्भव है।

शंका—जैनादि शब्द को विधि रूप से पदार्थ का वाचक मानते हैं सो वह शब्द संकेतित होते हैं या बिना संकेत किये हुए ? संकेत किये हुए हैं तो संकेत हुआ स्वलक्षण में और ग्रहण हुआ अन्य किसी में क्योंकि स्वलक्षण क्षणिक है, अतः शब्द में संकेत का अभाव होने से वह अपोह का वाचक है ऐसा मानते हैं।

समाधान—यह कथन असत् है, क्योंकि पदार्थ को स्वलक्षण रूप न मानकर सामान्य विशेषात्मक माना है। आपका कहना है कि शब्द द्वारा स्पष्ट प्रतिभास नहीं

होता अतः वे अपोह मात्र को कहते हैं सो शब्द से अस्पष्ट ज्ञान होना दोषास्पद नहीं है, शब्द से अस्पष्ट जानकर पुनः चक्षु आदि इन्द्रियों से उन पदार्थों को स्पष्ट जाना जाता है।

आपने कहा कि इन्द्रिय द्वारा अन्य ही कोई वस्तु ग्रहण होती है और शब्द के द्वारा अन्य, सो इस पर हम पूछते हैं कि शब्द गोचर पदार्थ वास्तविक है कि नहीं ? यदि हैं तो अस्पष्ट आकार होने मात्र से उसको नहीं मानना गलत है और यदि वास्तविक नहीं है तो उसका मानना ही व्यर्थ है।

आपका कहना है कि शब्द द्वारा मात्र अभाव कहा जाता है किन्तु स्वर्ग, मोक्ष, धर्म आदि शब्द से सद्भाव रूप अर्थ का ज्ञान होता हुआ देखा जाता है अन्यथा इन धर्मादि का प्रतिपादन करने वाले बुद्ध भगवान असत्वादी कहलायेंगे। यदि सचमुच में गो शब्द अगो व्यावृत्ति को करता है तो उसके सुनने पर गाय रूप अर्थ में तत्काल प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि अगो की व्यावृत्ति करने में कुछ समय तो लगेगा ही। दूसरी बात यह है कि अगो—व्यावृत्ति करते समय भी गो का ज्ञान होना आवश्यक है। गो के ज्ञान बिना अगो का ज्ञान कैसे होगा और अगो का ज्ञान न होने पर उसकी व्यावृत्ति भी कैसे होगी। अतः द्राविड़ो प्राणायाम को छोड़कर गो शब्द का वाच्य सीधा गाय रूप अर्थ ही जानना चाहिये। इस प्रकार बौद्ध के अपोहवाद का निरसन हो जाता है।

।। समाप्त ।।

१६

स्फोटवादः

सत्यम्; वाच्य एवार्थः। तद्वाचकस्तु पदादिस्फोट एव, न पुनर्वर्णाः। ते हि किं समस्ताः, व्यस्ता वा तद्वाचकाः? यदि व्यस्ताः; तदैकेनैव वर्णेन गवाद्यर्थप्रतिपत्तिरुत्पादितेति द्वितीयादिवर्णोच्चारणमनर्थकम्। अथ समुदिताः; तन्न; क्रमोत्पन्नानामन्तरविनष्टत्वेन समुदायस्यैवासम्भवात्। न च युगपदुत्पन्नानां तेषां समुदायकल्पना; एकपुरुषापेक्षया युगपदुत्पत्त्यसम्भवात्, प्रतिनियतस्थानकरण-

---

जब जैन ने बौद्ध के प्रति सिद्ध किया कि शब्द द्वारा वास्तविक पदार्थ ही वाच्य होता है, तब वैयाकरणवादी भर्तृहरि आदि अपना मंतव्य उपस्थित करते हैं—

पदार्थ वाच्य ही होते हैं इसमें कोई असत्य बात नहीं है किन्तु उस वाच्यभूत पदार्थों का वाचक तो पदादिस्फोट ही होता है। वर्ण, वाक्यादि से व्यक्त होने वाला नित्य, व्यापक ऐसा पदादि का अर्थ है वह पदादिस्फोट कहलाता है, वही पदार्थ का वाचक है न कि वर्ण (शब्द)। आगे इसीका वर्णन करते हैं—जैनादि परवादी गकारादि वर्णों को अर्थ का वाचक मानते हैं सो समस्त वर्ण वाचक होते हैं या व्यस्तवर्ण वाचक होते हैं? यदि व्यस्तवर्ण वाचक होते हैं तो एक ही वर्ण से गो आदि अर्थ की प्रतीति उत्पन्न हो जायगी। द्वितीय आदि वर्ण का उच्चारण तो व्यर्थ ठहरेगा। समस्त वर्ण वाचक होते हैं ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि जो वर्ण क्रम से उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं उनमें समस्त रूप समुदाय की कल्पना असम्भव है। युगपत् उत्पन्न हुए वर्णों में समुदाय की कल्पना होवेगी ऐसा कहना भी अयुक्त है क्योंकि एक पुरुष की अपेक्षा लेकर (अर्थात् एक पुरुष से) युगपत् समुदाय रूप अनेक वर्ण उत्पन्न

प्रयत्नप्रभवत्वात्तेषाम् । न च भिन्नपुरुषप्रयुक्तगकारौकारविसर्जनीयानां समुदायेऽर्थप्रतिपादकं प्रतिपन्नम्; प्रतिनियतवर्णक्रमप्रतिपत्त्युत्तरकालभावित्वेन शाब्दप्रतिपत्तेः प्रतिभासनात् ।

न चान्त्यो वर्णः पूर्ववर्णानुगृहीतो वर्णानां क्रमोत्पादे सत्यर्थप्रतिपादकः; पूर्ववर्णानामन्त्यवर्णं प्रत्यनुग्राहकत्वायोगात् । तद्धि अन्त्यवर्णं प्रति जनकत्वं तेषां स्यात्, अर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं वा ? न तावज्जनकत्वम्; वर्णाद्वर्णोत्पत्तेरभावात्, प्रतिनियतस्थानकरणादिप्रभवत्वात्तस्य, वर्णाभावेप्याद्यवर्णोत्पत्त्युपलम्भाच्च । नाप्यर्थज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वं तेषामन्त्यवर्णानुग्राहकत्वम्; अविद्यमानानां सहकारित्वस्यैवासम्भवात् । यथा चान्त्यवर्णं प्रति पूर्ववर्णाः सहकारित्वं न प्रतिपद्यन्ते तथा तज्जनितसंवेदनान्यपि, तत्प्रभवसंस्काराश्च ।

हो ही नहीं सकते, क्योंकि उन वर्णों की उत्पत्ति प्रतिनियत स्थान, तालु, कंठ, ओष्ठ आदि प्रतिनियत क्रिया, ईषत् स्पष्टकरण आदि एवं प्रयत्न से हुआ करती हैं । पृथक् पृथक् पुरुष द्वारा युगपत् प्रयुक्त किये गकार औकार और विसर्जनीयका समुदाय बनकर उसमें अर्थ का प्रतिपादकत्व (वाचकत्व) आयेगा ऐसा कहना भी गलत है, क्योंकि प्रतिनियत वर्णक्रम से प्रतिपत्ति होकर उत्तर काल में शाब्दिक ज्ञान होता है, ऐसा ही सभी को प्रतिभासित होता है ।

वर्णों का क्रम से उत्पाद होने पर पूर्व पूर्व वर्णों द्वारा अनुगृहीत हुआ अंतिम वर्ण अर्थ का प्रतिपादक होता है ऐसा कोई कहे तो वह अयुक्त है, क्योंकि पूर्व वर्ण अंतिम वर्ण के प्रति अनुग्राहक नहीं हो सकते । परवादी पूर्व वर्ण को अंतिम वर्ण का अनुग्राहक मानते हैं सो उसमें प्रश्न होता है कि पूर्व वर्ण अंतिम वर्ण के प्रति जनक रूप से अनुग्राहक है अथवा अर्थ ज्ञान की उत्पत्ति में सहकारि रूप से अनुग्राहक है ? जनक रूप से अनुग्राहक तो हो नहीं सकते क्योंकि वर्ण से वर्ण की उत्पत्ति होती ही नहीं, वह तो अपने अपने नियत तालु, कंठ, ओष्ठ, मूर्द्धा, दंत, जिह्वा आदि आठ स्थान, अपने नियत ईषत् स्पष्टकरण आदि करण एवं प्रयत्न से हुआ करती है । तथा अन्य वर्ण के अभाव में भी आद्यवर्ण की उत्पत्ति देखी जाती है अतः पूर्व वर्ण अंत्य वर्ण का जनक रूप से अनुग्राहक है ऐसा कहना असत्य है । अर्थ ज्ञान की उत्पत्ति में पूर्व वर्ण अंत्यवर्ण के सहायक होने से अनुग्राहक माने जाते हैं ऐसा द्वितीय विकल्प भी अनुचित है, क्योंकि अंत्यवर्ण के समय पूर्व वर्ण विद्यमान हैं, अविद्यमान पदार्थ में सहकारीपना तो असंभव ही है । जिस प्रकार पूर्व वर्ण अंतिम वर्ण के प्रति सहकारिरूप सिद्ध नहीं

किञ्च, संवेदनप्रभवसंस्काराः स्वोत्पादकविज्ञानविषयस्मृतिहेतवो नार्थान्तरे ज्ञानमुत्पादयितुं समर्थाः। न खलु घटज्ञानप्रभवः संस्कारः पटे स्मृतिं विदधद्दृष्टः। न च तत्संस्कारप्रभवस्मृतीनां तत्सहायता; तासां युगपदुत्पत्त्यभावात्। अयुगपदुत्पन्नानां चावस्थित्यसम्भवात्। न चाखिलसंस्कारप्रभवैका स्मृतिः सम्भवति; अन्योन्यविरुद्धानेकार्थानुभवप्रभवसंस्काराणामप्येकस्मृतिजनकत्वप्रसंगात्। न चान्यवर्णाऽनपेक्ष एव "गौः" इत्यत्रान्त्यो वर्णोर्थे(र्थं)प्रतिपादकः; पूर्ववर्णोच्चारणवैयर्थ्यानुषंगात्। घटशब्दान्त्यव्यवस्थितस्यापि ककुदादिमदर्थप्रतिपादकत्वप्रसंगाच्च। तन्न वर्णाः समस्ता व्यस्ता वार्थ-

---

होते उसी प्रकार उन वर्णों से उत्पन्न हुए ज्ञान भी सहकारी रूप सिद्ध नहीं होते, न उन ज्ञानों से प्रादुर्भूत संस्कार ही सहकारी रूप सिद्ध होते हैं, क्योंकि अंतिम वर्ण के काल में पूर्व वर्णों के ज्ञान तथा संस्कार भी नष्ट हो चुकते हैं, जैसे पूर्व वर्ण नष्ट हो चुकते हैं।

किञ्च, पूर्व वर्णों के ज्ञानों से उत्पन्न हुए संस्कार अपने उत्पादक जो ज्ञान हैं उनके विषय में ही स्मृति उत्पन्न कर सकते हैं अन्य अर्थ में ज्ञान को उत्पन्न कराने में वे (संस्कार) समर्थ नहीं हो सकते। घट ज्ञान से उत्पन्न हुआ संस्कार पट में स्मृति को उत्पन्न करता हुआ देखा नहीं जाता। पूर्व ज्ञानों के संस्कारों से उत्पन्न हुई स्मृतियां अंत्य वर्ण को सहायता करती हैं ऐसा भी नहीं मान सकते क्योंकि उन स्मृतियों की एक साथ उत्पत्ति नहीं होती। और जो अयुगपत् (क्रम से) उत्पन्न होते हैं उनका अवस्थान होना असंभव है। ऐसा भी संभव नहीं है कि संपूर्ण संस्कारों से एक स्मृति उत्पन्न हो जायगी और अंत्यवर्ण को सहायक बनेगी, क्योंकि ऐसा माने तो परस्पर में विरुद्ध ऐसे अनेक अर्थों के ज्ञानों से उत्पन्न हुए संस्कार भी एक स्मृति को प्रादुर्भूत कर सकेंगे। अर्थात् यदि भिन्न भिन्न गकार औकार आदि वर्णों के ज्ञानों से उत्पन्न हुए संस्कार विभिन्न होकर भी एक स्मृति को उत्पन्न कर सकते हैं तो घट, पट आदि पदार्थों के ज्ञानों से उत्पन्न हुए संस्कार भी एक स्मृति को (सब घट पट आदि का एक खिचड़ी रूप स्मरण) उत्पन्न कर सकते हैं, ऐसा अनिष्ट प्रसंग आता है। "गौः" इस पद में गकार औकार और विसर्ग रूप तीन वर्ण हैं, इनमें अंतिम विसर्ग वर्ण अन्य दो वर्णों की अपेक्षा को किये बिना ही अर्थ प्रतिपादन करता है ऐसा मानना भी उचित नहीं होगा, क्योंकि इस तरह तो पूर्व के दो वर्णों का उच्चारण करना व्यर्थ ठहरेगा। तथा दूसरा दोष यह आयेगा कि यदि विसर्ग अन्य वर्ण की अपेक्षा किये बिना अर्थ का प्रतिपादक है तो "घटः" इस शब्द के अंत में स्थित विसर्ग भी सास्नादिमान गो अर्थ

प्रतिपादकाः सम्भवन्ति। अस्ति च गवादिशब्देभ्योऽर्थप्रतीतिः, तदन्यथानुपपत्त्या वर्णव्यतिरिक्तोऽर्थ-प्रतीतिहेतुः स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः।

श्रोत्रविज्ञाने चासौ निरवयवोऽक्रमः प्रतिभासते, श्रवणव्यापारानन्तरमभिन्नार्थावभासिन्याः संविदोऽनुभवात्। न चासौ वर्णविषया; वर्णानां परस्परव्यावृत्तरूपतयैकप्रतिभासजनकत्वविरोधात्। न चेयं सामान्यविषया; वर्णत्वव्यतिरेकेणापरसामान्यस्य गकारौकारविसर्जनीयेष्वसम्भवात्, वर्णत्वस्य च प्रतिनियतार्थप्रत्यायकत्वायोगात्। न चेयं भ्रान्ता; अबाध्यमानत्वात्। न चाबाध्यमानप्रत्ययगोचर-स्यापि स्फोटस्यासत्त्वम्; अवयविद्रव्यादेरप्यसत्त्वप्रसंगात्। नित्यश्चासौ स्फोटोऽभ्युपगन्तव्यः। अनित्यत्वे संकेतकालानुभूतस्य तदैव ध्वस्तत्वात्कालान्तरे देशांतरे च गोशब्दश्रवणात्ककुदादिमदर्थप्रतीतिर्न स्यात्,

---

का प्रतिपादक हो सकेगा ? क्योंकि अन्तिम विसर्गादि वर्ण को अर्थ प्रतिपादन करने में पूर्व वर्णों की अपेक्षा नहीं होती ऐसा स्वीकार कर लिया है। अतः निश्चय होता है कि व्यस्त वर्ण या समस्त वर्ण अर्थ के प्रतिपादक नहीं हैं। किन्तु गो आदि शब्दों से अर्थ की प्रतिपत्ति होती अवश्य है अतः अन्यथानुपपत्ति रूप प्रमाण से अर्थप्रतिपत्ति का हेतु वर्ण के अतिरिक्त स्फोट नामा पदार्थ है ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

यह स्फोट श्रोत्र ज्ञान में निरंश एवं अक्रम रूप प्रतिभासित होता है, क्योंकि श्रवण व्यापार के अनन्तर एक अर्थ को अवभासन करने वाला ज्ञान अनुभव में आता है, यह ज्ञान वर्ण विषयक (वर्ण को विषय करने वाला–वर्ण को जानने वाला) तो हो नहीं सकता, क्योंकि परस्पर में व्यावृत्त रूप होने से वर्णों को एक प्रतिभास के जनक मानने में विरोध आता है। तथा इस ज्ञानको सामान्य विषयक भी नहीं कह सकते, क्योंकि वर्णत्व के अतिरिक्त अन्य सामान्य का उन गकार औकार और विसर्ग में अभाव ही है, और यह जो वर्णत्व सामान्य है उसमें प्रतिनियत अर्थ की प्रतीति कराने का अयोग है (सामर्थ्य नहीं है) एक अर्थ का अवभासन कराने वाला उक्त ज्ञान भ्रांत भी नहीं है क्योंकि अबाध्य है। इस तरह श्रोत्र ज्ञान में जो निरंशादि रूप प्रतीत होता है वह स्फोट है ऐसा समझना चाहिए। यदि इस अबाधित ज्ञान के विषयभूत स्फोट की सत्ता नहीं मानेंगे तो अवयवी द्रव्य रूप गो आदि पदार्थों की सत्ता भी नहीं रहेगी। इस स्फोट को नित्य रूप स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि अनित्य मानने पर संकेत काल में अनुभूत हुए स्फोट का उसी वक्त नाश हो जाने से कालांतर में और देशांतर में गो शब्द के श्रवण से सास्नादिमान गो अर्थ का बोध नहीं हो सकेगा इसका कारण यह

असंकेतिताच्छब्दादर्थप्रतिपत्तेरसम्भवात् । सम्भवे वा द्वीपान्तरादागतस्य गोशब्दाद्गवार्थप्रतिपत्तिः स्यात्, संकेतकरणवैयर्थ्यं चासज्येत ।

अत्र प्रतिविधीयते । प्रतीयमानात्पूर्ववर्णध्वंसविशिष्टादन्त्यवर्णादर्थप्रतीतेरभ्युपगमादुक्तदोषाभावः । न चाभावस्य सहकारित्वं विरुद्धम्; वृन्तफलसंयोगाभावस्य अप्रतिबद्धगुरुत्वफलप्रपातक्रियाजनने तद्दर्शनात्, दृष्टं चोत्तरसंयोगं कुर्वत्प्राक्तनसंयोगाभावविशिष्टं कर्म, परमाण्वग्निसंयोगश्च परमाणौ तद्गतपूर्वरूपप्रध्वंसविशिष्टो रक्तामुत्पादयन्प्रतीतः ।

है कि संकेत रहित शब्द से (स्फोट से) अर्थ बोध होना असंभव है । यदि संकेत रहित शब्द से पदार्थ की प्रतीति होती तो जिस द्वीप में गायें नहीं होती ऐसे द्वीपांतर से आये हुए व्यक्ति को गो शब्द सुनकर गो अर्थ का प्रतिभास होता ? किन्तु होता तो नहीं, तथा बिना संकेत के ही शब्द से अर्थ ज्ञान होता है तो संकेत करना (यह गो है इस पदार्थ को गो कहते हैं इत्यादि) भी व्यर्थ हो जाता है । अतः नित्य व्यापक ऐसे स्फोट पदार्थ को मानना चाहिए जिससे कि अर्थ प्रतीति की सिद्धि होवे ?

जैन— अब यहां पर उपर्युक्त स्फोटवाद का निराकरण किया जाता है— स्फोट से अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती अपितु प्रतीयमान पूर्व वर्ण का ध्वंस विशिष्ट जिसमें हुआ है ऐसे अंतिम वर्ण से अर्थ की प्रतिपत्ति होती है ऐसा सिद्धांत है इससे उक्त दोष (पूर्व वर्ण का उच्चारण करना व्यर्थ होगा इत्यादि) नहीं आता । आपने कहा था कि पूर्व वर्ण तो नष्ट हो चुकते हैं वे किस प्रकार अंत्यवर्ण के सहकारी होंगे सो ऐसा नहीं है अभाव के सहकारी होने में कोई विरोध नहीं है, देखा जाता है कि वृंत और फल के संयोग का अभाव शाखा से अप्रतिबद्ध हुए गुरु भार वाले फल की गिरने रूप क्रिया को उत्पन्न करने में सहायक होता है, तथा पूर्व संयोग का जिसमें अभाव हो चुका है ऐसा विशिष्ट कर्म (क्रिया) उत्तर संयोग को करता हुआ देखा जाता है । पूर्व रूप का जिसमें नाश हो गया है ऐसा परमाणु एवं अग्नि का संयोग परमाणु में रक्तता को उत्पन्न करता हुआ भी प्रतीत होता है अर्थात् मिट्टी आदि के कृष्ण वर्ण के परमाणु अग्नि संयोग को प्राप्त होते हैं तो वे अपने पूर्व के कृष्ण वर्ण का अभाव करके लाल वर्ण को उत्पन्न करते हैं सो लाल वर्ण के उत्पादन में कृष्ण वर्ण का अभाव सहकारी होता ही है । अतः अभाव में भी सहकारीपना सिद्ध होता है ।

यद्वा, पूर्ववर्णविज्ञानाभावविशिष्टः तज्ज्ञानजनितसंस्कारसव्यपेक्षो वाऽन्त्यो वर्णोऽर्थप्रतीत्युत्पादकः। ननु संस्कारस्य कथं विषयान्तरे विज्ञानजनकत्वम्; इत्यप्यचोद्यम्; तद्भावभावितयार्थप्रतीतेरुपलब्धेः।

पूर्ववर्णविज्ञानप्रभवसंस्कारश्च प्रणालिकयाऽन्त्यवर्णसहायतां प्रतिपद्यते; तथाहि–प्रथमवर्णे तावद्विज्ञानम्, तेन च संस्कारो जन्यते। ततो द्वितीयवर्णविज्ञानम्, तेन च पूर्वज्ञानाहितसंस्कारसहितेन विशिष्टः संस्कारो जन्यते। एवं तृतीयादावपि योजनीयं यावदन्त्यः संस्कारोऽर्थप्रतिपत्तिजनकान्त्यवर्णसहायः।

अथवा, शब्दार्थोपलब्धिनिमित्तक्षयोपशमप्रतिनियमादविनष्टा एव पूर्ववर्णसंविदस्तत्संस्काराश्चाऽन्त्यवर्णसंस्कारं विदधति। तथाभूतसंस्कारप्रभवस्मृतिसव्यपेक्षो वान्त्यो वर्णः पदार्थप्रतिपत्तिहेतुः।

अथवा पूर्व वर्ण के ज्ञानका अभाव जिसमें है एवं उस ज्ञान से उत्पन्न हुआ संस्कार जिसमें अपेक्षित है ऐसा अंतिम वर्ण अर्थ के प्रतिभास को उत्पन्न करता है।

शंका—अन्य पदार्थ का संस्कार अन्य में ज्ञान को किस प्रकार उत्पन्न करेगा? अर्थात् पूर्व के गकारादि वर्ण के ज्ञान एवं संस्कार गो रूप अन्य अर्थ में ज्ञान को कैसे उत्पन्न कर सकते हैं?

समाधान—यह शंका गलत है, "उसके होने पर होना" इस प्रकार से अर्थ प्रतिभास की उपलब्धि देखी जाती है अर्थात् पूर्व वर्ण के ज्ञान के संस्कार के होने पर ही अंत्य वर्ण अर्थ ज्ञान का उत्पादक होता है, अंत्य वर्ण से अर्थ प्रतीति हो रही अतः पूर्व वर्ण ज्ञान के संस्कार अवश्य हैं ऐसा निश्चय हो जाता है।

पूर्व वर्ण के ज्ञान से उत्पन्न हुआ संस्कार प्रवाह रूप से अंतिम वर्ण की सहायता को प्राप्त करता है, आगे इसी का स्पष्टीकरण करते हैं—पहले प्रथम वर्ण का ज्ञान होता है उस ज्ञान से संस्कार उत्पन्न होता है, उस संस्कार से दूसरे वर्ण का ज्ञान होता है, पूर्व ज्ञान का प्राप्त हुआ है संस्कार जिसको ऐसा वह द्वितीय वर्ण ज्ञान विशिष्ट संस्कार को उत्पन्न करता है, इस प्रकार तीसरे आदि वर्ण एवं ज्ञानादि में भी लगाते रहना चाहिये जब तक कि अंत्य संस्कार अर्थ प्रतिपत्ति का उत्पादक अंतिम वर्ण को सहायक बने।

अथवा शब्द से अर्थ की उपलब्धि होने में निमित्तभूत ज्ञानावरणादि के क्षयोपशम का प्रतिनियम इस तरह का होने के कारण अविनष्ट रूप ऐसी पूर्व वर्णों की

वाक्यार्थप्रतिपत्तावप्ययमेव न्यायोऽङ्गीकर्त्तव्यः। वर्णाद्वर्णोत्पत्त्यभावप्रतिपादनं च सिद्धसाधनमेव। तदेवं यथोक्तसहकारिकारणसव्यपेक्षादन्त्यवर्णादर्थप्रतिपत्तेरन्वयव्यतिरेकाभ्यां निश्चयात् स्फोटपरिकल्पनाऽसम्भव एव; तदभावेप्यर्थप्रतिपत्तेरुक्तप्रकारेण सम्भवेऽन्यथानुपपत्तेः प्रक्षयात्। न खलु दृष्टादेव कारणात्कार्योत्पत्तावदृष्टकारणान्तरपरिकल्पना युक्तिः स(क्तिस)ङ्गता अतिप्रसंगात्।

न चैवंवादिनो वर्णेभ्यः स्फोटाभिव्यक्तिर्घटते; तथाहि–न समस्तास्ते स्फोटमभिव्यञ्जयन्ति; उक्तप्रकारेण तेषां सामस्त्यासम्भवात्। नापि प्रत्येकम्; वर्णान्तरोच्चारणानर्थक्यप्रसंगात्, एकेनैव

संविद (ज्ञान) और उनसे होने वाले संस्कार ये सबके सब अंत्य वर्ण के संस्कार को करते हैं, या उक्त प्रकार के संस्कार से प्रादुर्भूत हुई स्मृति की जिसको अपेक्षा है ऐसा अंतिम वर्ण गो आदि पदार्थ के प्रतिभास का हेतु बनता है। वाक्य से होने वाले अर्थ के प्रतिभास में भी यही न्याय स्वीकार करना चाहिये। वैयाकरणवादी ने कहा था कि वर्ण से वर्ण की उत्पत्ति नहीं होती सो हमारे लिये सिद्ध साधन हो है, अर्थात् हम जैन भी वर्ण से वर्ण की उत्पत्ति होना नहीं मानते। इस प्रकार उक्त सहकारी कारण की जिसमें अपेक्षा है ऐसे अंतिम वर्ण से अर्थ की प्रतिपत्ति होना सिद्ध होता है, इसमें अन्वय व्यतिरेक से निश्चय होता है अर्थात् अंत्यवर्ण के सद्भाव में अर्थ प्रतिपत्ति होती है उसके अभाव में अर्थ प्रतिपत्ति नहीं होती, अतः स्फोट की कल्पना असंभव ही है। क्योंकि उक्त प्रकार से स्फोट के अभाव में भी अर्थप्रतीति होना संभव है इसलिये स्फोट के साथ अर्थ प्रतिपत्ति की अन्यथानुपपत्ति करना अशक्य है। प्रत्यक्षभूत कारण से कार्य की उत्पत्ति होना सिद्ध होने पर उसमें अदृष्ट ऐसे अप्रत्यक्षभूत कारणांतर की कल्पना करना युक्तिसंगत नहीं है, अन्यथा अतिप्रसंग उपस्थित होगा।

समस्त वर्ण से अर्थ प्रतीति होती है या व्यस्तवर्ण से इत्यादिरूप से प्रश्न करने वाले परवादी वर्णों से स्फोट की अभिव्यक्ति होना मानते हैं किन्तु वह घटित नहीं होता, उस पक्ष में भी हम आप से पूर्ववत् प्रश्न करेंगे कि समस्त वर्ण स्फोट को व्यक्त करते हैं कि व्यस्त वर्ण। समस्त वर्ण स्फोट को अभिव्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि उक्त प्रकार से वर्णों का समस्तपना होना ही दुर्लभ है। प्रत्येक प्रत्येक व्यस्त वर्ण भी स्फोट को व्यक्त नहीं कर सकते, क्योंकि यदि प्रत्येक वर्ण ही उसको व्यक्त कर लेगा तो अन्य अन्य वर्ण का उच्चारण व्यर्थ ही हो जाता है इसका भी कारण यह है कि एक वर्ण द्वारा ही इस स्फोट की सर्व रूप से अभिव्यक्ति हो चुकती है।

वर्णेन सर्वात्मनाऽस्याभिव्यक्तत्वात् । पदार्थान्तरप्रतिपत्तिव्यवच्छेदार्थं तदुच्चारणमिति चेत्; न; तदुच्चारणेपि तत्प्रतिपत्तेरेवानुषंगात् । यथाहि "गौः" इति पदस्यार्थो गकारोच्चारणात्प्रतीयते तथौकारोच्चारणात् 'औशनसः' इति पदार्थोपि, तथा च 'गौः' इति पदादेव 'गौः, औशनसः' इत्यर्थद्वयं प्रतीयेत । संशयो वा स्यात्–'किमेकपदस्फोटाभिव्यक्तये गाद्यनेकवर्णोच्चारणं पदान्तरस्फोटव्यवच्छेदेन, किं वानेकपदस्फोटाभिव्यक्तयेऽनेकाद्यवर्णोच्चारणम्' इति ।

न च पूर्ववर्णैः स्फोटस्य संस्कारेऽन्त्यो वर्णस्तस्याभिव्यञ्जकः इति न वर्णान्तरोच्चारणवैयर्थ्यम्; अभिव्यक्तिव्यतिरिक्तसंस्कारस्वरूपानवधारणात् । न खलु तत्र तैर्वेगाख्यः संस्कारो निर्वर्त्यते; तस्य

शंका—अन्य अर्थ की प्रतिपत्ति का व्यवच्छेद करने के लिये दूसरे वर्णों को उच्चारण करना पड़ता है ? अर्थात् केवल एक वर्ण का उच्चारण करने से अपने विवक्षित अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ का प्रतिभास भी हो सकता है अतः उस अन्य अर्थ के प्रतिभास को रोकने के लिये दूसरे वर्णो का उच्चारण करते हैं ?

समाधान—ऐसा नहीं है, दूसरे वर्ण का उच्चारण करने पर भी अन्य अर्थ की प्रतिपत्ति हो सकती है, उसका व्यवच्छेद फिर भी नहीं हो सकेगा । कैसे सो बताते हैं—'गौः' इस पद का अर्थ जैसे गकार वर्ण के उच्चारण से प्रतीत होता है वैसे औकार वर्ण के उच्चारण से "औशनसः" पदार्थ भी प्रतीत होता है, इस तरह से तो "गौः" इस एक पद से हो गो और औशनस (शुक्र) इन दो वस्तुका प्रतिभास होवेगा । अथवा संशय हो जायगा कि—पदांतरके स्फोट का व्यवच्छेद करके एक पद के स्फोट को व्यक्त करने के लिये ग आदि अनेक वर्णो का उच्चारण किया गया है, या अनेक पदों के स्फोट को व्यक्त करने के लिये अनेक वर्णों का उच्चारण किया गया है । अभिप्राय यह है कि पूर्व वर्णादि का उच्चारण करने पर भी निश्चय नहीं हो सकेगा कि यह उच्चारण अनेक पदों के स्फोट को व्यक्त करने के लिये किया है अथवा एक पद के स्फोट को व्यक्त करने के लिये किया है ?

वैयाकरणवादी—पूर्व वर्णों द्वारा स्फोट का संस्कार हो जाने पर अंतिम वर्ण उसका अभिव्यंजक बनता है अतः वर्णांतर का उच्चारण व्यर्थ नहीं ठहरता ?

जैन—ऐसा नहीं कह सकते, अभिव्यक्ति को छोड़कर अन्य कोई संस्कार का स्वरूप अवधारित नहीं होता है अर्थात् अभिव्यक्ति ही संस्कार है । परवादी के यहां

मूर्त्तेष्वेव भावात् । नापि वासनारूपः; अचेतनत्वात् स्फोटस्य तच्चैतन्याभ्युपगमे वा स्वशास्त्रविरोधः । नापि स्थितस्थापकः; अस्यापि मूर्त्तद्रव्यवृत्तित्वात्, स्फोटस्य चाऽमूर्त्तत्वाभ्युपगमात् ।

किंच, असौ संस्कारः स्फोटस्वरूपः, तद्धर्मो वा ? तत्राद्यविकल्पोऽयुक्तः; स्फोटस्य वर्णोत्पाद्यत्वानुषंगात् । द्वितीयविकल्पोऽसम्भाव्यः; व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पानुपपत्तेः । स्फोटात्तस्याव्यतिरेके तत्करणे स्फोट एव कृतो भवेत्, तथा चास्याऽनित्यत्वानुषंगात् स्वाभ्युपगमविरोधः । ततस्तद्धर्मस्य व्यतिरेके सम्बन्धानुपपत्तिः तदनुपकारकत्वात् । तस्योपकाराभ्युपगमे व्यतिरिक्ताऽव्यतिरिक्तविकल्पा-

---

संस्कार तीन प्रकार का माना है वेग संस्कार, वासना संस्कार और स्थितस्थापक संस्कार, इनमें से वेग नाम का संस्कार वर्णों द्वारा नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसको मूर्त्तिक द्रव्यों में ही स्वीकार किया है । वासना नाम का संस्कार वर्ण द्वारा नही किया जा सकता क्योंकि स्फोट अचेतन है और वासना चेतन रूप मानी जाती है । यदि स्फोट को चेतन स्वरूप स्वीकार करेंगे तो स्व शास्त्र से विरोध आयेगा, क्योंकि आपके शास्त्र में स्फोट को अचेतन माना है । स्थितस्थापक संस्कार भी वर्ण द्वारा किया जाना अशक्य है क्योंकि यह मूर्त्त द्रव्य में पाया जाता है और स्फोट को आपने अमूर्त्त माना है ।

तथा यह वर्ण ज्ञान से उत्पन्न हुआ संस्कार स्फोट स्वरूप ही है अथवा उसका धर्म है ? स्फोट स्वरूप ही है ऐसा कहना अयुक्त है क्योंकि ऐसा कहने से स्फोट वर्ण द्वारा उत्पन्न किया जाता है ऐसा सिद्ध होता है और इससे स्फोट के नित्य मानने का व्याघात होता है । उक्त सस्कार स्फोट का धर्म है ऐसा द्वितीय विकल्प भी असंभव है, क्योंकि वह धर्म स्फोट से पृथक् है कि अपृथक् है ऐसे दो विकल्प होकर दोनों ही सिद्ध नहीं हो पाते । अर्थात् स्फोट से उक्त संस्कार रूप धर्म अप्रथक मानते हैं तो उसके करने पर स्फोट को किया ऐसा होता है और इससे स्फोट के अनित्यत्व प्रसंग आने से स्वमत में विरोध होता है अर्थात् स्फोट को नित्य मानने का व्याघात होता है । स्फोट से उक्त संस्कार रूप धर्म पृथक् है ऐसा दूसरा पक्ष माने तो स्फोट के साथ उस धर्म का सम्बन्ध न होने से उसका अनुपकारक ही रहेगा, यदि उसे उपकारक माना जाय तो भी वह भिन्न है कि अभिन्न ऐसे विकल्प होकर दोनों विकल्पों में वही पूर्वोक्त अनवस्थाकारी दोष उपस्थित होता है । तथा स्फोट से भिन्न ऐसा उक्त संस्कार रूप धर्म का सद्भाव मान लेने पर भी स्फोट का अनभिव्यक्त स्वरूप समाप्त नहीं होने से

नुषंगः, तत्रापि पूर्वोक्त एव दोषोऽनवस्थाकारी। न च व्यतिरिक्तधर्मसद्भावेपि स्फोटस्यानभिव्यक्तस्वरूपापरित्यागे पूर्ववदर्थप्रतिपत्तिहेतुत्वम्। तत्त्यागे चाऽनित्यत्वप्रसक्तिः।

किंच, पूर्ववर्णैः संस्कारः स्फोटस्य क्रियमाणः किमेकदेशेन क्रियते, सर्वात्मना वा? यद्येकदेशेन; तदा तद्देशानामप्यतोर्थान्तरानर्थान्तरपक्षयोः पूर्वोक्तदोषानुषंगः। सर्वात्मना तु संस्कारे सर्वत्र सर्वेषां ततोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्।

किंच, स्फोटसंस्कारः स्फोटविषयसंवेदनोत्पादनम्, आवरणापनयनं वा? यद्यावरणापनयनम्; तदैकत्रैकदावरणापगमे सर्वदेशावस्थितैः सर्वदा व्यापिनित्यतयोपलभ्येत, नित्यव्यापित्वाभ्यामपगता-

---

जैसे संस्कार के पहले अर्थ प्रतिपत्ति का हेतुपना उसमें घटित नहीं होता था वैसे संस्कार के पश्चात् भी घटित नहीं होगा, क्योंकि स्फोट तो अनभिव्यक्त स्वरूप ही है। और यदि स्फोट का अनभिव्यक्त स्वरूप समाप्त होता है तो स्पष्ट रूप से स्फोट का अनित्यपना सिद्ध होता है। अर्थात् वर्ण ज्ञान जन्य संस्कार से स्फोट के अनभिव्यक्त स्वरूप का त्याग होता है इसका अर्थ स्फोट अनित्य है, अनित्य का यही लक्षण है कि जो अपने स्वरूप में परिवर्त्तन करे।

दूसरी बात यह है कि पूर्व वर्णों द्वारा स्फोट का संस्कार किया जाता है वह एक देश से किया जाता है अथवा सर्व देश से किया जाता है? यदि एक देश से किया जाता है तो वह एक एक देश स्फोट से भिन्न है कि अभिन्न ऐसे दो पक्ष उपस्थित होकर उनमें वही पूर्वोक्त दोष आता है। स्फोट का सर्व देश से संस्कार किया जाता है ऐसा पक्ष माने तो सर्वत्र सभी प्राणियों को उससे अर्थ की प्रतीति होवेगी, क्योंकि स्फोट व्यापक एवं नित्य है।

किंच, स्फोट संस्कार इस पद का क्या अर्थ है स्फोट के विषय में संवेदन का उत्पादन करना या आवरण को दूर करना? यदि आवरण को दूर करना स्फोट संस्कार कहलाता है तो एक जगह एक बार आवरण के दूर होने पर सर्व देश में अवस्थित व्यक्तियों द्वारा हमेशा के लिये नित्य व्यापी रूप से उसकी उपलब्धि हो सकेगी, क्योंकि नित्य एवं व्यापी रूप से जिसका आवरण दूर हो गया है ऐसे स्फोट का सर्वत्र सर्वदा उपलभ्य स्वभाव ही रहता है। अभिप्राय यह है कि स्फोट में सदा एकसा स्वभाव रहता है इसलिये यदि उसमें उपलभ्य स्वभाव है तो वही हमेशा रहेगा

वरणस्यास्य सर्वत्र सर्वदोपलभ्यस्वभावत्वात्। अनुपलभ्यस्वभावत्वे वा न क्वचित्कदाचित्केनचिदप्युपलभ्येत। अथैकदेशेनावरणापगमः क्रियते; नन्वेवमावृतानावृतत्वेन सावयवत्वमस्यानुषज्येत। अथाऽविनिर्भागत्वादेकत्रानावृतः सर्वत्रानावृतोऽभ्युपगम्यते; तर्हि तदवस्थोऽशेषदेशावस्थितैरुपलब्धिप्रसंगः। यथा च निरवयत्वादेकत्रानावृतः सर्वत्रानावृतः तथैकत्रावृतः सर्वत्राप्यावृत इति मनागपि नोपलभ्येत।

अथ स्फोटविषयसंवेदनोत्पादस्तत्संस्कारः; सोप्ययुक्तः; वर्णानामर्थप्रतिपत्तिजननवत् स्फोटप्रतिपत्तिजननेपि सामर्थ्यासम्भवात्, न्यायस्य समानत्वात्।

अथ मतम्–पूर्ववर्णश्रवणज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनोऽन्त्यवर्णश्रवणज्ञानानन्तरं पदादिस्फोटस्याभिव्यक्तेरयमदोषः; तदप्यसंगतम्; पदार्थप्रतिपत्तेरप्येवं प्रसिद्धेः स्फोटपरिकल्पनार्थक्यात्।

अतः आवरण के दूर होते ही सर्वत्र सर्वदा उसकी उपलब्धि होने लगेगी अर्थात् सभी को सर्वदा अर्थ प्रतीति होने का अतिप्रसंग आयेगा। यदि स्फोट में अनुपलभ्य स्वभाव मानते हैं तो कहीं पर कभी भी किसी पुरुष को उसकी उपलब्धि नहीं हो सकेगी ? क्योंकि सदा सर्वत्र एकसा स्वभाव रूप है। यदि कहा जाय कि एक देश से ही स्फोट के आवरण का अपगम किया जाता है तो आवृत और अनावृत ऐसे स्फोट के अवयव हो जाने से निरंश मानने का सिद्धांत बाधित होता है। यदि निर्विभाग होने से स्फोट को एक जगह अनावृत होने से सर्वत्र अनावृत मानते हैं तो वही दोष आता है कि सर्व देश में अवस्थित हुए पुरुषों द्वारा स्फोट उपलब्ध होने से सभी को अर्थ प्रतीति होने का प्रसंग आता है। तथा निरंश होने से स्फोट एकत्र अनावृत है तो सर्वत्र अनावृत ही रहता है उस प्रकार कदाचित् एक जगह आवृत है तो सर्वत्र आवृत है इस तरह की कल्पना संभावित होने पर वह स्फोट किंचित् भी उपलब्ध नहीं होवेगा और इसलिये अर्थ प्रतीति भी किंचिन्मात्र नहीं हो सकेगी।

स्फोट के विषय में संवेदन का उत्पाद होना स्फोट संस्कार कहलाता है ऐसा प्रथम पक्ष कहे तो भी अयुक्त है, क्योंकि जिस प्रकार वर्णों में अर्थ प्रतीति को उत्पन्न करने की सामर्थ्य आप नहीं मानते उस प्रकार उनमें स्फोट प्रतीति को उत्पन्न करने की सामर्थ्य भी नहीं मान सकते, न्याय तो सर्वत्र समान होना चाहिये, यदि अर्थ प्रतीति की सामर्थ्य नहीं तो स्फोट प्रतीति की भी नहीं।

वैयाकरणवादी—पूर्व वर्ण के श्रवण ज्ञान से उत्पन्न हुआ है संस्कार जिसको ऐसे पुरुष के अंत्य वर्ण के श्रवण ज्ञान के अनन्तर पदादि स्फोट की अभिव्यक्ति हो जाने से यह दोष नहीं आता ?

चिदात्मव्यतिरेकेण तत्त्वान्तरस्यास्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यासम्भवाच्च स एव हि चिदात्मा विशिष्टशक्तिः स्फोटोऽस्तु । 'स्फुटति प्रकटीभवत्यर्थोऽस्मिन्' इति स्फोटश्चिदात्मा । पदार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टः पदस्फोटः । वाक्यार्थज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशिष्टस्तु वाक्यस्फोटः इति । भावश्रुतज्ञानपरिणतस्यात्मनस्थाभिधानाऽविरोधात् ।

वायवः स्फोटाभिव्यञ्जकाः; इत्यप्ययुक्तम् शब्दाभिव्यक्तिवत्स्फोटाभिव्यक्तेस्तेभ्योऽनुपपत्तेः । तेषां च व्यञ्जकत्वे वर्णकल्पनावैफल्यम्, स्फोटाभिव्यक्तावर्थप्रतिपत्तौ चामीषामनुपयोगात् । स्थिते च स्फोटस्य वर्णवायूत्पादात्पूर्वं सद्भावे वर्णानां वायूनां वा व्यंजकत्वं परिकल्प्येत । न चास्य सद्भावः कुतश्चित्प्रमाणात्प्रतिपन्नः । यच्चोक्तम्—

जैन—यह कथन भी असंगत है, इस तरह तो अर्थ प्रतिपत्ति भी हो सकती है अतः स्फोट की कल्पना करना व्यर्थ ही हो जाता है । तथा चैतन्य आत्मा को छोड़ कर अन्य वस्तु में अर्थ प्रकाशन की सामर्थ्य हो असंभव है इसलिये वही विशिष्ट शक्ति वाला चैतन्य आत्मा "स्फोट" है ऐसा मान लेवे ? "स्फुटति प्रकटी भवति अर्थः अस्मिन् इति स्फोटः चिदात्मा" इस प्रकार निरुक्ति सिद्ध अर्थ भी उपलब्ध होता है । पदार्थ सम्बन्धी ज्ञानावरण कर्म और वीर्यांतराय कर्म के क्षयोपशम से युक्त आत्मा का होना पदस्फोट कहलाता है । वाक्यार्थ सम्बन्धी ज्ञानावरण कर्म और वीर्यातराय कर्म के क्षयोपशम से युक्त आत्मा का होना वाक्य स्फोट कहलाता है, ऐसा मानना चाहिये । भाव श्रुतज्ञान से परिणत आत्मा को इस तरह कहने में कोई विरोध नहीं आता ।

स्फोट के अभिव्यंजक संस्कार न होकर वायु है ऐसा कहना भी अयुक्त है, क्योंकि जैसे शब्द को वायु अभिव्यक्त नहीं कर सकती वैसे स्फोट को भी अभिव्यक्त नहीं कर सकती । दूसरी बात यह भी है कि वायु द्वारा स्फोट का अभिव्यक्त होना मानने पर वर्ण को स्वीकार करना व्यर्थ ठहरता है, क्योंकि स्फोट के अभिव्यक्ति से अर्थ की प्रतीति हो जाने पर वर्णों की कोई उपयोगिता नहीं रहती है । तथा वर्ण और वायु के उत्पाद के पहले स्फोट का सद्भाव सिद्ध होता तो वर्ण अथवा वायु उसके अभिव्यंजक माने जाते, किन्तु किसी भी प्रमाण से स्फोट का सद्भाव ज्ञात नहीं होता है ।

इस स्फोट के विषय में भर्तृहरि का कहना है कि—नाद से (पूर्व वर्ण या वायु से) प्राप्त हो गया है संस्कार जिसमें, तथा अंतिम ध्वनि के साथ (अंतिम वर्ण

"नादेनाऽहितबीजायामन्त्ये(न्त्ये)न ध्वनिना सह ।
आवृत्तिपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवभासते ।।"

[वाक्यप० १।८५] इति;

तदप्येतेनापाकृतम्; नित्यत्वमन्तरेणामपि चार्थप्रतिपत्तिर्यथा भवति तथा प्रतिपादितमेव ।

यच्च श्रवणव्यापारानन्तरमित्याद्युक्तम्; तदप्यसारम्; घटादिशब्देषु परस्परव्यावृत्तकालप्रत्यासत्तिविशिष्टवर्णव्यतिरेकेण स्फोटात्मनोऽर्थप्रकाशकस्यैकस्याध्यक्षप्रतिपत्तिविषयत्वेनाप्रतिभासनात् । न चाभिन्नप्रतिभासमात्रादभिन्नार्थव्यवस्था, अन्यथा दूरादविरलानेकतरुषु एकप्रतिभासादेकत्वव्यवस्था स्यात् । न चास्य बाध्यमानत्वान्नैकत्वव्यवस्थापकत्वम्; स्फोटप्रतिभासेपि बाध्यमानत्वस्य प्रदर्शितत्वात् । न खलु निरवयवोऽक्रमो नित्यत्वादिधर्मोपेतोऽसौ क्वचिदपि प्रत्ययेऽवभासते ।

या वायु के साथ) जिसमें समस्त रूप से परिपाक हो चुका है ऐसी बुद्धि में शब्द अर्थात् स्फोट प्रतिभासित होता है । इत्यादि । सो यह कथन भी पूर्वोक्त रीत्या निराकृत हुआ समझना चाहिए । क्योंकि नित्य स्फोट या नित्य शब्द के बिना भी अनित्य रूप शब्द द्वारा अर्थ की प्रतीति भली प्रकार से हो जाती है ऐसा हम जैन सप्रमाण सिद्ध कर चुके हैं ।

और जो कहा था कि—श्रवण व्यापार के अनन्तर एक अर्थ बुद्धि में अवभासित होता है वह स्फोट है, इत्यादि सो वह भी असार है, क्योंकि घटादि शब्दों में परस्पर में व्यावृत्त एवं काल की निकटता से विशिष्ट ऐसे वर्ण ही अर्थ के प्रकाशक होते हुए प्रत्यक्ष से प्रतीत होते हैं उक्त वर्णों के अतिरिक्त स्फोट रूप कोई एक पदार्थ अर्थ प्रकाशन करता हो ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान के गोचर ही नहीं है । तथा ज्ञान में एक अभिन्न अर्थ प्रतिभासित होने मात्र से कोई अभिन्न एक अर्थ की व्यवस्था नहीं हुआ करती है, यदि सर्वथा ऐसा माना जाय तो अविरल रूप से स्थित अनेक वृक्ष दूर से एक अभिन्न रूप प्रतिभासित होने से उनको भी एक मानना होगा । वृक्षो में होने वाला एकत्व का प्रतिभास बाध्यमान है अतः उन वृक्षों में एकत्व स्थापित नहीं किया जाता, ऐसा कहो तो स्फोट के प्रतिभास में भी बाध्यमानत्व दिखला चुके हैं । आपका नित्य निरंश आदि धर्म युक्त ऐसा यह स्फोट किसी भी ज्ञान में अवभासित नहीं होता है ।

कथं चैवं शब्दस्फोटवद्गन्धादिस्फोटोप्यर्थप्रतीतिनिमित्तं न स्यात् ? यथैव हि शब्दः कृतसंकेतस्य क्वचिदर्थे प्रतिपत्तिहेतुस्तथा गन्धादिरप्यविशेषात्। 'एवंविधमेकं गन्धं समाघ्राय स्पर्शं च संस्पृश्य रसं चास्वाद्य रूपं चालोक्य त्वयैवंविधोर्थः प्रतिपत्तव्यः' इति समयग्राहिणां पुनः क्वचित्तादृशगन्धाद्युपलम्भात् तथाविधार्थनिर्णयप्रसिद्धो गन्धादिविशेषाभिव्यंगयो गन्धादिस्फोटोऽस्तु [वर्ण] विशेषाभिव्यंगयपदादिस्फोटवत्।

एतेन हस्तपादकरणमात्रिकाङ्गहारादिस्फोटोप्यापादितो द्रष्टव्यः। पदादिस्फोट एव, न तु स्वावयवक्रियाविशेषाभिव्यंगयो हंसपक्ष्मादिर्हस्तस्फोटः, विकुट्टितादिलक्षणः पादस्फोटः, हस्तपाद-

---

यदि शब्द का स्फोट अर्थ प्रतीति का निमित्त है ऐसा स्वीकार करते हैं तो गंध का स्फोट, रसका स्फोट आदि भी क्यों न स्वीकार किये जांय ? क्योंकि जिस प्रकार शब्द जिसने संकेत को जाना है ऐसे पुरुष के किसी पदार्थ में ज्ञान का हेतु होता है उस प्रकार गंधादि भी ज्ञान का हेतु होता है कोई विशेषता नहीं है। जैसे शब्द या स्फोट में संकेत होता है कि इस शब्द का यह अर्थ है वैसे गंधादि में भी संकेत होता है कि—इस प्रकार के एक गंध को सूंघकर, स्पर्श को छूकर, रसको चखकर और रूप को देखकर तुम ऐसे पदार्थ को जानना, इस तरह किसी पुरुष ने संकेत कराया पुनः किसी स्थान पर उस उस प्रकार के गंध रस आदि को प्राप्त कर उस प्रकार के अर्थ का निर्णय करते ही हैं, इसलिये गंधादि विशेष अभिव्यंग्य ऐसा गंधादि स्फोट भी स्वीकार करना चाहिये, जैसे कि वर्ण विशेष अभिव्यंग्य पदादि स्फोट स्वीकार करते हो ?

इसी तरह आप को हस्तस्फोट, पादस्फोट, करणस्फोट, मात्रिकास्फोट, अंगहारस्फोट आदि को भी मानने का प्रसंग आता है, उसका प्रतिपादन भी हमने गंधादिस्फोट के समान कर लिया समझना चाहिए।

वैयाकरणवादी—केवल पदादिस्फोट ही सिद्ध होता है, न कि अपने अवयवों की क्रिया विशेष से अभिव्यंग्य होने वाले हंसपक्ष्मादिरूप हस्तस्फोट (हंस के आकार रूप हाथ को बनाना) या विकुट्टित लक्षण वाला पादस्फोट (पैरों को घुमाना) हस्त तथा पादका एक साथ व्यापार होने रूप करणस्फोट, दो करण रूप मात्रिका स्फोट, मात्रिका समूह रूप अंगहार स्फोट। अभिप्राय यह है कि ये हस्तादि स्फोट केवल स्फोट नाम से भले ही कहे जाते हों किन्तु शब्दस्फोट में जैसा स्फोट का लक्षण पाया जाता है वैसा इनमें नहीं पाया जाता।

समायोगलक्षणः करणस्फोटः, करणद्वयरूपो मात्रिकास्फोटः, मात्रिकासमूहलक्षणोंऽगहारस्फोटो वेति मनोरथमात्रम्; तस्यापि स्वस्वावयवाभिव्यंगयस्य स्वाभिनेयार्थप्रतिपत्तिहेतोरशक्यनिराकरणत्वात्। तन्निराकरणे वा शब्दस्फोटाभिनिवेशो दूरतः परित्याज्यः आक्षेपसमाधानानामुभयत्र समानत्वात्। ततः शब्दस्फोटस्वरूपस्य विचार्यमाणस्यायोगान्नासौ पदार्थप्रतिपत्तिनिबन्धनं प्रेक्षादक्षैः प्रतिपत्तव्यम्। किन्तु पदं वाक्यं वा तन्निबन्धनत्वेन प्रतिपत्तव्यम्।

जैन—यह कथन भी मनोरथ मात्र है, अपने अवयव द्वारा अभिव्यंग्य करने योग्य ऐसे ये हस्तादि स्फोट भी अपने अभिनेय अर्थ की प्रतिपत्ति कराने हेतु है जैसे कि शब्द स्फोट अर्थ की प्रतीति कराने में हेतु है, अतः इन स्फोटों का निराकरण अशक्य है अर्थात् यदि शब्द स्फोट या पदादि स्फोट को स्वीकार करते हैं तो गंध स्फोटादि एवं हस्तस्फोटादि को भी स्वीकार करना होगा (जो कि आपको अनिष्ट है) यदि हस्तादि स्फोट का निराकरण करना ही है तो शब्द स्फोट की मान्यता को दूर से ही छोड़ देना चाहिये। आप इन गंधादि स्फोटों के पक्ष में जो भी आक्षेप (शंका) करेंगे वही आक्षेप शब्द स्फोट के पक्ष में आपतित होंगे तथा उन आक्षेपों का जो समाधान आप देंगे वही समाधान गंधादि स्फोट के पक्ष में रहेगा इस तरह उभय पक्ष में समान ही शंका समाधान है। कोई विशेषता नही है। इस प्रकार शब्द स्फोट के स्वरूप का विचार करने पर वह विचार के अयोग्य प्रतीत होता है अतः शब्द स्फोट अर्थ की प्रतिपत्ति का कारण नहीं है ऐसा बुद्धिमानों को निश्चय करना चाहिये। अतः शब्द स्फोट अर्थ की प्रतीति नहीं कराता अपितु पद एवं वाक्य अर्थ की प्रतीति कराता है ऐसा सुनिश्चित प्रमाण से सिद्ध होता है।

विशेषार्थ—शब्द स्फोट का खंडन करते हुए जैन ने कहा कि अर्थ की प्रतीति शब्द द्वारा न होकर अदृश्य ऐसे स्फोट द्वारा ही होती है तो गंधादि अर्थ को प्रतीति के लिये गंधादि स्फोट भी मानने होंगे एवं क्रिया विशेष की प्रतीति के लिये हस्तादि स्फोट भी मानने होंगे? इस पर परवादी ने कहा कि अवयव क्रिया का अनुकरण करना ही हस्त आदि स्फोट है अतः इनको मानना व्यर्थ है? किन्तु यह कथन शब्द विषयक स्फोट में भी घटित होता है, शब्द का अर्थ ही स्फोट है अन्य कुछ नहीं इत्यादि। यहां पर हस्तस्फोट आदि का जो वर्णन किया है वे स्फोट तो केवल शरीर की क्रिया विशेष हैं, नृत्य करते समय हस्त पादादिका जो विचित्र प्रकार से घुमाना

होता है उसकी अपेक्षा लेकर समझाया है कि यदि शब्द स्फोट की कल्पना करे तो इन स्फोटों की कल्पना भी करनी होगी। इस स्फोट नामा वस्तु की कल्पना भर्तृहरि आदि ने की है। यहां प्रथम तो इन परवादियों के मंतव्य पर विचार करेंगे फिर जैनाचार्य का निर्दोष कथन प्रस्तुत करेंगे।

वक्ता के मुख से वर्णों का क्रमशः उच्चारण होकर श्रोता के कर्ण जन्य ज्ञान का उत्पाद तथा चिंतन होने तक चारों चीजें होती हैं–नाद, स्फोट, ध्वनि (व्यक्ति) और स्वरूप। जैसा कि कहा है–

नादै राहित बीजाया मन्येन ध्वनिना सह।
आवृत्त परिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते ।।१।।

[वाक्य १।८४।]

अर्थ—नाद द्वारा प्राप्त हुआ है संस्कार जिसमें ऐसी बुद्धि में ध्वनि के साथ पूर्ण उच्चारण होने पर शब्द अवधारित होता है। (पहले इसी प्रकरण में मूल संस्कृत में यह श्लोक आया है किन्तु उसमें पाठ भेद है) यहां पहले नाद फिर संस्कार और फिर ध्वनि होती है ऐसा बताया है। श्रोता जिसकी सहायता से वर्ण ध्वनियों को ग्रहण करने में समर्थ होता है वह नाद शब्द का वाच्य है, नाद के समकाल में ही स्फोट नामा पदार्थ अनुभव में आता है, यह स्फोट नित्य एवं एक है और नाद द्वारा प्रगट होता है—

ग्रहण ग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
व्यंग्य व्यंजक भावेन तथैव स्फोट नादयोः ।।

[वाक्य १।६७।]

अर्थ—जिस प्रकार ग्रहण और ग्राह्य में स्वतः सिद्ध योग्यता है उसी प्रकार स्फोट और नाद में व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध है, स्फोट व्यंग्य है और नाद उसका व्यंजक है। नाद से नित्य एक ऐसा स्फोट प्रगट होता है। उसका स्वरूप—

"अनेक व्यक्त्यभिव्यंग्या जातिः स्फोट इति स्मृता ।।

[वाक्य १।६३]

. . . अनेक व्यक्ति रूप अभिव्यंग्य होने वाली जो जाति है वह स्फोट कहलाता है। शब्द का श्रवण पूर्ण होते ही हमें जो उसके अर्थ की या भाव ज्ञान की तात्कालिक उपलब्धि होती है उसे ही स्फोट कहते हैं। नाद और स्फोट के लिए ऐसा भी कह सकते हैं कि नाद बाह्येन्द्रिय का विषय है और सहसा उद्भूत स्फोट प्राणचेतना का विषय है। स्फोट स्वयं एक है किन्तु उसका अभिव्यंजक नाद (शब्द वर्ण) जब स्वयं उत्पन्न होकर उसको प्रगट करता है तब भाव ज्ञान की उपलब्धि होना रूप स्फोट अनुभव में आता है। स्फोट के अनन्तर ध्वनि नामकी प्रक्रिया होती है "स्फोटादेव उपजायंते" स्फोट से होने वाली ये ध्वनियां अर्थ विस्तार करती हैं। स्फोट अर्थ के चित्र के समान है और ध्वनियां अर्थ के चिंतन के समान है। बुद्धि में जो अर्थ है वह "स्वरूप" नामा चौथा चरण है। इस प्रकार ये चार प्रक्रिया शब्द और अर्थ के बीच में हुआ करती हैं। इनमें से यहां पर स्फोट का विशेष विचार किया है।

अब जैन सिद्धांतानुसार उपर्युक्त परवादी के कथन पर विमर्श करते हैं, शब्द पुद्गल नाम के दृश्य एवं जड़ पदार्थ की पर्याय (अवस्था) है, जो कुछ काल तक ठहरती है। विशेष प्रयोग द्वारा अधिक काल तक भी ठहर सकती है। शब्द के अक्षरात्मक अनक्षरात्मक, भाषात्मक अभाषात्मक, ततवितत घन सुषिर आदि अनेक भेद पाये जाते हैं जिनका राजवार्त्तिक आदि ग्रन्थों में वर्णन पाया जाता है। पुद्गल के अनेक भेदों में भाषा वर्गणा नाम का एक भेद है। यही भाषा वर्गणा सब प्रकार के शब्दों को उत्पत्ति उपादान है। शब्द के निर्माण में उपादान तो एक भाषा वर्गणा ही है किन्तु निमित्त अनेक प्रकार के हैं। यहां प्रकृत में मुख विनिर्गत शब्द की चर्चा है जो भाषात्मक एवं अक्षरात्मक है। इसका उपादान एक भाषा वर्गणा होते हुए भी निमित्त कारण तालु, कंठ आदि अनेक हैं। शब्द में रूपादि गुण यद्यपि पुद्गल होने के नाते रहते हैं किन्तु वे अव्यक्त रूप से रहते हैं। प्रतिकूल वायु से उपघात होना, यन्त्र द्वारा ग्रहण में आ जाना इत्यादि प्रक्रिया से शब्द का मूर्त्तिकपना सहज ही सिद्ध होता है अतः उसको अमूर्त्त मानने का परवादि का सिद्धांत असत्य है। ध्वनि और नाद ये दोनों तो शब्द के ही नामांतर हैं जिसको परवादी ने शब्द से पृथक् तत्व रूप स्वीकार किया है। भाषा वर्गणा सर्वत्र व्यापक है उसका अस्तित्व भी सदा रहता है। प्रतीत होता है कि इसी वजह से परवादी शब्द को नित्य एवं व्यापक मान बैठे हैं। क्योंकि मिथ्यात्व के उदय से वस्तु स्वरूप का विपर्यास हुआ ही करता है। यहां केवल भाषा

रूप अक्षरात्मक शब्द की चर्चा है, इसके अकारादि स्वर और ककारादि व्यंजन रूप भेद हैं। जब कोई व्यक्ति मुख से शब्द का उच्चारण करने के लिये प्रयत्नशील होता है तत्काल ही वहीं पर स्थित भाषा वर्गणा उन अकारादि शब्द रूप परिणमन कर जाती है और श्रोता के कर्ण तक पहुंचती है। भाषा वर्गणा का शब्द रूप परिवर्त्तन होकर कर्ण तक पहुंचने में जो प्रक्रिया होती है शायद उसी को भर्तृहरि ने ध्वनि वाद इत्यादि नाम दिये हैं। स्फोट का जो वर्णन वे लोग करते हैं वह काल्पनिक है। हां जो लोग उसको भाव ज्ञान रूप मानते हैं उस पर विचार करने पर आभास होता है कि शब्द को सुनकर जो श्रावण प्रत्यक्ष ज्ञान (सांव्यावहारिक प्रत्यक्ष) होता है जो कि शब्द श्रवण के पहले आत्मा में लब्धि रूप अवस्थित रहता है उसको स्फोट नाम से माना है क्या ? मिथ्यात्व के उदय से स्वरूप विपर्यास, कारण विपर्यास, एवं भेदा भेद होते ही हैं, जैसे द्रव्य दृष्टि से नित्य धर्म को देखकर सांख्य संपूर्ण वस्तु को नित्य धर्मात्मक ही मान बैठे हैं। पर्याय दृष्टि से अनित्य धर्म को देखकर बौद्ध संपूर्ण वस्तु को क्षणिक ही मान बैठे हैं। ऐसे ही शब्द के विषय में विपर्यास हुआ है। अस्तु। अतः युक्ति और प्रामाणिक आगम से यही सिद्ध होता है कि शब्द पुद्गल द्रव्य की अवस्था विशेष है कुछ समय तक या प्रयोग विशेष अधिक काल तक रहने वाली पर्याय है इस शब्द में ऐसी ही वाचक शक्ति है कि वह वाच्यार्थ का ज्ञान कराती है। स्फोट के विषय में वैयाकरणवादी का अधिक आग्रह देखकर आचार्य ने समझाया कि अकारादि वर्ण और पद एवं वाक्य ये ही घट पट आदि अर्थ के वाचक हैं ये ही अर्थ की प्रतीति कराने में हेतु हैं। वक्ता के मुख से शब्द विनिर्गत होकर श्रोता तक पहुंचते हैं उससे श्रोता को ज्ञान हो जाता है इसके बीच में तीसरी कोई चीज नहीं है, नाद ध्वनि, स्फोट आदि सब मनगढंत कल्पनायें हैं। हां यदि शब्द सुनकर जो अर्थ प्रतिभास होता है जो कि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम स्वरूप है उसे स्फोट नाम देते हैं तो बात अलग है तब तो यही निरुक्ति होगी कि "स्फुटति प्रकटी भवति अर्थः अस्मिन् इति स्फोटः चिदात्मा" अर्थात् जिसमें अर्थ स्फुट होता है वह आत्मा स्फोट है अथवा उसमें अभिन्न रूप से अवस्थित श्रुत ज्ञान स्फोट है। अतः अकारादि वर्ण, देवदत्तादि पद एवं वाक्य ये पुद्गल पर्याय रूप शब्द, घट, पट, गो, जीव, मनुष्य, पशु आदि चेतन अचेतन अर्थ, और आत्मा में स्थित ज्ञान इन तीनों को छोड़कर चौथा स्फोट नाम का कोई भी पदार्थ नहीं है ऐसा दृढ़ निश्चय हुआ।

अंत में एक प्रश्न रह जाता है कि – मुख से निकले हुए शब्द क्रमशः उत्पन्न होकर विनष्ट होते हैं तो श्रोता को अक्षर समूह से होने वाला ज्ञान कैसे होगा ? इस जटिल समस्या को प्रभाचन्द्राचार्य ने बहुत ही सुन्दर रीति से सुलझाया है कि—"पूर्व वर्ण विज्ञानाभाव विशिष्टः तज्ज्ञानजनित संस्कार सव्यपेक्षो वा अंत्यवर्णो अर्थ प्रतीत्युत्पादक." । अथवा "पूर्व वर्णज्ञान प्रभव संस्कारश्च प्रणालिकया अंत्यवर्ण सहायतां प्रतिपद्यते" । यद्वा शब्दार्थोपलब्धि निमित्त क्षयोपशम प्रतिनियमादविनष्टा एव पूर्व वर्ण संविदस्तत्संस्काराश्च अंत्यवर्ण संस्कारं विदधति इति । वर्ण क्रमशः उत्पन्न होकर नष्ट होते हैं किन्तु उनका विज्ञान जन्य संस्कार नष्ट नहीं होता अतः अंतिम वर्ण को वह संस्कार सहायता पहुंचाता है और उससे अर्थ का प्रतिभास होता है । या पूर्व वर्ण ज्ञान से संस्कार होता है और वह प्रवाह क्रम से अंतवर्ण को सहायक होता है । अथवा शब्द और अर्थ की उपलब्धि में निमित्तभूत क्षयोपशम के प्रतिनियम से अविनष्ट ऐसे जो पूर्व पूर्व वर्ण के ज्ञान हैं एवं तज्जनित संस्कार हैं वे अंतिम वर्ण के संस्कार को करते हैं और उससे अर्थ की प्रतीति होती है । अर्थात् शब्द और अर्थ को जानने का ज्ञानावरण को क्षयोपशम आत्मा में मौजूद रहता है अतः क्रमशः वर्ण पद एवं वाक्य को सुनकर अर्थ बोध हो जाता है ।

इस प्रकार निश्चय हुआ कि शब्द और अर्थ बोध के बीच में तीसरा स्फोट नामका कोई पदार्थ नही है । यदि इसे मानना है तो 'स्फुटति प्रतिभासते अर्थः अस्मिन् इति आत्मा, जिसमें अर्थ प्रतिभासित होता है ऐसा चैतन्य आत्मा या उसका ज्ञान ही स्फोट है ऐसा मानना चाहिए । इस तरह स्फोटवाद का निरसन हो जाता है ।

।। स्फोटवाद समाप्त ।।

स्फोटवाद के निरसन का सारांश

वैयाकरणवादी—पदार्थ वाच्य होते हैं इनमें कोई विवाद नहीं किन्तु वर्णों को इनका वाचक मानना अयुक्त है, वाचक तो पद वाक्यादि का स्फोट होता है, वर्णों के द्वारा प्रगट होने वाला नित्य व्यापक ऐसा जो अर्थ है वह स्फोट कहलाता है। वर्णों को वाचक मानें तो व्यस्त वर्ण वाचक है या समस्त वर्ण वाचक है ? प्रथम पक्ष कहो तो एक गकार से भी अर्थ का ज्ञान होने का प्रसंग आता है द्वितीय पक्ष कहो तो वर्णों का समुदाय असंभव है क्योंकि क्रम से उत्पन्न और नष्ट होने वाले वर्णों का समूह होना अशक्य है। अंतिम वर्ण पूर्व वर्णों की अपेक्षा लेकर अर्थ का वाचक होता है ऐसा कहना भी सुशोभित नहीं होता क्योंकि ऐसा मानने से ग आदि वर्णो का उच्चारण व्यर्थ हो जायगा। यदि कहा जाय कि पूर्व वर्णों के ज्ञान से उत्पन्न हुए जो संस्कार हैं उनकी सहायता से अंतिम वर्ण अर्थ का वाचक होता है तो यह भी अयुक्त है क्योंकि जिस तरह घट के ज्ञान में उत्पन्न हुआ संस्कार पट की प्रतीति नहीं कराता, उसी तरह पूर्व वर्ण का संस्कार अंतिम वर्ण का सहायक नही हो सकता। इस प्रकार व्यस्त वर्ण या समस्त वर्णों से अर्थ की प्रतीति होना सिद्ध नही होता। अतः मानना होता है कि अर्थ की प्रतीति में हेतु एक स्फोट नामक तत्त्व है। यह स्फोट नित्य, व्यापक एवं एक रूप है।

जैन—यह कथन ठीक नहीं, सुनने में आया हुआ जो पूर्व वर्ण है उससे विशिष्ट ऐसा अन्तिम वर्ण, अर्थ ज्ञान को कराता है अतः पूर्व वर्ण का उच्चारण व्यर्थ होगा इत्यादि दोष नहीं आते हैं।

पूर्व वर्ण नष्ट होने से वह अन्तिम वर्ण का सहायक नहीं हो सकता ऐसा कहना भो ठीक नही, क्योंकि हम तो अभाव को भी सहकारी मानते हैं। अथवा ऐसा भी कह सकते हैं कि पूर्व वर्ण से उत्पन्न हुए ज्ञान के संस्कार वश अन्त वर्ण अर्थ का बोध कराता है। इसी प्रकार पद और वाक्य में समझना चाहिये। वर्ण, पद, वाक्य से अर्थ बोध होने में क्षयोपशम भी कारण है, अर्थात् द्रव्यत्व की अपेक्षा पूर्व वर्णों के ज्ञान और उनसे होने वाले संस्कार दोनों अविनष्ट हैं अतः अन्त वर्ण में संस्कार करते हैं। पूर्व वर्ण स्फोट का संस्कार करते हैं और अंतिम वर्ण स्फोट को व्यक्त करता है, ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि स्फोट का अभिव्यक्ति के सिवाय दूसरा संस्कार क्या हो

सकता है। यदि सस्कार से मतलब स्फोट विषयक ज्ञान से है, सो भी ठीक नही है, क्योकि वर्ण अर्थ का ज्ञान नही करा सकते वैसे ही स्फोट का ज्ञान भी उत्पन्न नही कर सकते। वर्ण पद आदि और उनके उच्चारण के अनन्तर होने वाली अर्थ प्रतीति इन दोनो को छोडकर तीसरा स्फोट नामक तत्त्व किसी प्रकार भी प्रतीत नही होता है, अतः उसकी कल्पना करना निरर्थक है। जब दृष्ट कारण से ही कार्य उत्पन्न हो सकता है तो अदृष्ट कारणातर की कल्पना करना बुद्धिमत्ता नही है। इस प्रकार वैयाकरणो द्वारा मान्य एक, व्यापक, नित्य स्फोट को परिकल्पना सिद्ध नही होती है।

॥ समाप्त ॥

२०

वाक्यलक्षणविचारः

किं पुनः पदं वाक्यं वा यन्निबन्धनाऽर्थप्रतिपत्तिरित्यभिधीयते ? वर्णाना परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम् । पदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्ष. समुदायो वाक्यमिति । नन्वेवं कथमिदं साधनवाक्यं घटते-'यत्सत्तत्सर्वं परिणामि यथा घट, सश्च शब्द' इति ? 'तस्मात्परिणामी' इत्याकाङ्क्षणात्साकाङ्क्षस्य वाक्यत्वानिष्टेः, इत्यप्यचोद्यम्, कस्यचित्प्रतिपत्तुस्तदनाकाङ्क्षत्वोपपत्ते । निराका-

---

वैयाकरणवादी के स्फोटवाद का निराकरण करने के अनंतर प्रश्न होता है कि पद एवं वाक्य किसे कहते है जिसके द्वारा कि अर्थ की प्रतीति होती है ? सो यहां उनका निर्दोष लक्षण प्रस्तुत करते हैं—"वर्णाना परस्परा पेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम् । पदानां तु तदपेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः वाक्यम्" अर्थात् परस्पर में सापेक्ष किन्तु वर्णान्तर से निरपेक्ष ऐसा वर्णो का जो समुदाय है उसको पद कहते हैं, तथा वाक्यांतर गत पद से तो निरपेक्ष और परस्पर पदों में सापेक्ष ऐसे पद समूह का नाम वाक्य है ।

शंका — निरपेक्ष पदों का समुदाय वाक्य है ऐसा वाक्य का लक्षण करने पर साधन वाक्य किस प्रकार घटित होगा ? क्योंकि जो सत् है वह सर्व परिणामी (क्षणिक) होता है क्योंकि वह सत् रूप है, जैसे घट है, शब्द भी सत् है, इस प्रकार उपनय वाक्य तक अनुमान प्रयोग करने पर भी "इसलिये परिणामी है" इस वाक्यांतर की अपेक्षा रहती ही है । अतः जैन को अनिष्ट ऐसे सापेक्ष पदों का समूह ही वाक्य रूप सिद्ध होता है ?

ङ्क्षत्वं हि प्रतिपत्तृधर्मो वाक्येष्वध्यारोप्यते, न पुनः शब्दधर्मस्तस्याचेतनत्वात्। स चेत्प्रतिपत्ता तावतार्थं प्रत्येति, किमित्यपरमाकाङ्क्षेत् ? पक्षधर्मोपसंहारपर्यन्तसाधनवाक्यादर्थप्रतिपत्तावपि निगमनवचनापेक्षायाम् निगमनान्तपञ्चावयववाक्यादप्यर्थप्रतिपत्तौ परापेक्षाप्रसंगान्न क्वचिन्निराकाङ्क्षत्वसिद्धिः। तथा च वाक्याभावान्न वाक्यार्थप्रतिपत्तिः कस्यचित्स्यात्। ततो यस्य प्रतिपत्तुर्यावत्सु परस्परापेक्षेषु पदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिरिति प्रतिपत्तव्यम्।

एतेन प्रकरणादिगम्यपदान्तरसापेक्षश्रूयमाणसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य सत्यभामादिपदवद्वाक्यत्वं प्रतिपादितं प्रतिपत्तव्यम्।

समाधान—यह शंका ठीक नहीं, किसी प्रतिपत्ता पुरुष को उक्त अग्रिम वाक्य की अपेक्षा नहीं भी होती। निराकांक्षत्व धर्म (अपेक्षा नहीं होना) तो प्रतिपत्ता का धर्म है (जानने वाले चेतन आत्मा का) उस धर्म का वाक्यों में आरोप मात्र किया जाता है, यह धर्म शब्द का नहीं है क्योंकि शब्द तो अचेतन है। अब वह प्रतिपत्ता पुरुष उतने साधन वाक्य मात्र से साध्यार्थ को ज्ञात कर लेता है तो अन्य वाक्य की क्यों अपेक्षा करेगा ? अर्थात् नहीं करेगा। यदि पक्ष धर्मोपसंहार स्वरूप उपनय पर्यंत के साधन वाक्य से अर्थ प्रतीति हो जाने पर भी निगमन वाक्य की अपेक्षा होती ही है ऐसा आग्रह करेंगे तो निगमन तक पंच अवयव स्वरूप वाक्य से अर्थ प्रतीति होने पर भी पुनः वाक्यांतर की अपेक्षा मानना होगी और इस तरह किसी भी वाक्य में निराकांक्षत्व सिद्ध नहीं होगा, फिर तो कोई वाक्य ही नहीं कहलायेगा ? क्योंकि आगे आगे वाक्यांतर की अपेक्षा बढ़ती ही जायगी, और इस तरह किसी भी वाक्य से अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी। इसलिये जिस प्रतिपत्ता पुरुष को जितने परस्पर सापेक्ष पदों के समुदाय में निराकांक्षत्व होता है उस पुरुष को उतने में ही वाक्य की सिद्धि हो जाती है ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

एक अन्य प्रकार का भी वाक्य होता है, वह इस प्रकार होता है—प्रकरण आदि से जो गम्य होता है ऐसे पदांतर की जिसमें अपेक्षा रहती है एवं प्रकरण बाह्य पद की अपेक्षा जिसमें नहीं होती ऐसे पद मात्र को अथवा ऐसे पद समूह को भी वाक्य कहते हैं, जैसे 'सत्यभामा' यह एक पद है तो इसमें प्रकरण प्राप्त तिष्ठति या भवति पद स्वयं कल्पना से मानकर उससे वाक्यार्थ निकाला जाता है। अतः पूर्वोक्त वाक्य लक्षण में इस वाक्य का भी संग्रह हुआ समझना चाहिये।

यच्चोच्यते—

"आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी ।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्धयनुसंहृती ।।१।।
पदमाद्यं पदं चान्त्यं पदं सापेक्षमित्यपि ।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम् ।।२।।"

[वाक्यप० २।१-२]

इति; तदप्युक्तिमात्रम्; यस्मादाख्यातशब्दः पदान्तरनिरपेक्षः, सापेक्षो वा वाक्यं स्यात् ? न तावदाद्यः पक्षः; पदान्तरनिरपेक्षस्यास्य पदत्वात् । अन्यथा आख्यातपदाभावः स्यात् । द्वितीयपक्षेपि

भावार्थ—सूत्र तथा श्लोकों में ऐसे वाक्य या पद पाये जाते हैं जिनमें अध्याहार रूप से प्रकरण के अनुसार अन्य वाक्य या केवल पद जोड़कर अर्थ प्रतिभास कराया जाता है । जैसे "न देवाः" इस सूत्र के वाक्य में "नपुंसकाः भवंति" इतना वाक्य साकांक्ष है अर्थात् प्रकरण प्राप्त अध्याहृत किया जाता है । इसी तरह "तत्र च सत्यभामा" इस वाक्य में "तिष्ठति" इतना पद अपेक्षित है । फिर भी ये दोनों वाक्य कहलाते हैं क्योंकि प्रकरण के ज्ञाता पुरुष को इतने वाक्य से भी अर्थ प्रतिभास होता है ।

वाक्य के विषय में भर्तृहरि ने कहा है कि—धातु क्रिया रूप पद को वाक्य कहते हैं, वर्णों के संघात को भी कोई विद्वान वाक्य मानते हैं, इसी तरह वर्ण समुदाय में स्थित वर्णत्व जाति को, निरवयव एक शब्द को, वर्णों के क्रम को, बुद्धि को एवं परामर्श को भी कोई कोई विद्वान वाक्य मानते हैं ।।१।। तथा आद्यपद सापेक्ष ऐसा अंतिम पद वाक्य कहलाता है अथवा अंत्यपद सापेक्ष आद्यपद वाक्य है, इत्यादि रूप से वाक्य के लक्षण में न्यायवेदी पुरुषों के भिन्न भिन्न अभिमत हैं ।।२।।

किन्तु परवादी का उपर्युक्त प्रतिपादन असत् है । आगे क्रमशः उक्त वाक्य लक्षणों का निरसन किया जाता है—आख्यात शब्द अर्थात् क्रियापद पदांतर निरपेक्ष होकर वाक्य कहलाता है या सापेक्ष होकर ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि जो पदांतर निरपेक्ष होता है वह वाक्य नहीं अपितु पद रूप होता है, अन्यथा क्रिया पद में पदत्व का अभाव हो जायेगा । दूसरे पक्ष में भी क्रिया पद कहीं पर निरपेक्ष होता है कि नहीं होता ? प्रथम पक्ष कहो तो हमारे जैन मत का प्रसंग आता है । अर्थात् क्रिया पद

क्वचिन्निरपेक्षोसौ, न वा ? प्रथमपक्षेऽस्मन्मतप्रसंगः । द्वितीयपक्षस्त्वयुक्तः; पदान्तरसापेक्षस्याप्यस्य क्वचिन्निरपेक्षत्वाभावे प्रकृतार्थापरिसमाप्त्या वाक्यत्वाऽयोगादर्द्धवाक्यवत् ।

संघातो वाक्यमित्यत्रापि देशकृतः, कालकृतो वा वर्णानां संघातः स्यात् ? न तावदाद्यविकल्पो युक्तः; क्रमोत्पन्नप्रध्वंसिनां तेषामेकस्मिन्देशेऽवस्थित्या सघातत्वासम्भवात् । द्वितीयविकल्पे तु पदरूपतामापन्नेभ्यो वर्णेभ्योऽसौ भिन्नः, अभिन्नो वा ? न तावद्भिन्नोनंशः; तथाविधस्यास्याऽप्रतीतेः, संघातत्वविरोधाच्च वर्णान्तरवत् । अथ तेभ्योऽभिन्नोसौ; किं सर्वथा, कथञ्चिद्वा ? सर्वथा चेत्; कथमसौ संघातः संघातिस्वरूपवत् ? अन्यथा प्रतिवर्णं संघातप्रसंगः । न चैको वर्णः संघातो नामातिप्रसंगात् । कथञ्चि-

---

परस्पर के पदांतर का सापेक्ष होकर अन्य पद से निरपेक्ष होता है उसको वाक्य कहते हैं सो यही हम जैन के वाक्य का लक्षण है । दूसरा पक्ष—क्रिया पद कहीं पर भी निरपेक्ष नहीं होता ऐसा कहे तो ठीक नहीं, क्योंकि पदांतर का सापेक्ष होकर भी यदि यह क्रिया पद कहीं निरपेक्ष नहीं होवेगा तो प्रकृत अर्थ की समाप्ति नहीं होने से उसमें वाक्यपने का अयोग रहेगा जैसे कि अधूरे वाक्य में वाक्यपना नहीं होता ।

वर्ण संघात को वाक्य कहते हैं ऐसा वाक्य लक्षण का पक्ष माने तो प्रश्न होगा कि वर्णों का संघात (समूह) देशकृत है या कालकृत है ? आद्य विकल्प ठीक नही, क्योंकि वर्ण क्रम से उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, अतः उनमें एक देश में अवस्थित होना रूप देशकृत संघात असंभव है । दूसरा विकल्प–वर्ण संघात कालकृत है ऐसा माने तो प्रश्न होता है कि यह कालकृत संघात पदरूपता को प्राप्त हुए वर्णों से भिन्न है कि अभिन्न है ? भिन्न तो हो नहीं सकता क्योंकि ऐसा वर्णों से भिन्न कालकृत वर्ण संघात कभी प्रतीत ही नहीं होता, वर्णों से भिन्न संघात में संघातपने का ही विरोध है जैसे एक वर्ण में संघातपना विरुद्ध है । कालकृत वर्ण संघात पद प्राप्त वर्णों से अभिन्न है ऐसा द्वितीय विकल्प कहे तो वह सर्वथा अभिन्न है या कथंचित् अभिन्न है ? सर्वथा कहे तो उसे संघात कैसे कहेंगे ? क्योंकि वह तो संघाति के स्वरूप के समान एक रूप हो गया ? अर्थात् समूह रूप नहीं रहा । यदि एकमेक हुए को भी संघात माना जाय तो प्रत्येक वर्ण को भी संघात मानना पड़ेगा । किन्तु एक वर्ण को संघात रूप मानना अति प्रसंग का कारण है अर्थात् इस तरह की मान्यता से अतिप्रसंग दोष आता है । पद प्राप्त वर्णों से कालकृत वर्ण संघात कथंचित् अभिन्न है ऐसा कहो तो हमारे जैन मत का प्रसंग होगा, क्योंकि जैन ही ऐसा मानते हैं कि—परस्पर में सापेक्ष और

च्चेत्; जैनमतप्रसंगः-परस्परापेक्षाऽनाकाङ्क्षपदरूपतापन्नवर्णानां कालप्रत्यासत्तिरूपसंघातस्य कथञ्चि-द्वर्णेभ्योऽभिन्नस्य जैनोक्तवाक्यलक्षणानतिक्रमात् । साकाङ्क्षान्योन्यानपेक्षाणां तु तेषां वाक्यत्वे प्राक्प्रतिपादितदोषानुषंगः ।

एतेन जातिः संघातवर्त्तिनी वाक्यम्; इत्यपि नोत्सृष्टम्; निराकाङ्क्षान्योन्यापेक्षपदसंघात-वर्त्तिन्याः सदृशपरिणामलक्षणायाः कथञ्चित्ततोऽभिन्नाया जातेर्वाक्यत्वघटनात्, अन्यथा संघातपक्षोक्ता-शेषदोषानुषंगः ।

एकोनवयवः शब्दो वाक्यम्; इत्येतत् मनोरथमात्रम्; तस्याप्रामाणिकत्वात्, स्फोटस्यार्थ-प्रतिपादकत्वेन प्रागेव प्रतिविहितत्वात् ।

क्रमो वाक्यमित्येतत्तु संघातवाक्यपक्षान्नातिशेते इति तद्दोषेणैव तद्दुष्टं द्रष्टव्यम् ।

अन्य से निराकांक्ष ऐसे पद रूपता को प्राप्त हुए वर्णों का काल प्रत्यासत्ति रूप संघात होना वाक्य है, जो कि अपने वर्णों से कथंचित् अभिन्न और कथंचित् भिन्न है । यदि उक्त वर्ण संघात रूप वाक्य अन्य वाक्य के पदों से सापेक्ष एवं परस्पर में निरपेक्ष है तब तो पहले बताये हुए दोष आयेंगे । अर्थात् वाक्यांतर की अपेक्षा रहेगी तो कभी भी वाक्य से अर्थ की प्रतीति नहीं होगी, क्योंकि आगे आगे वाक्य की अपेक्षा बढ़ती जाने से कोई भी वाक्य पूर्ण नहीं हो पाने से अर्थ बोध नहीं करा सकता ।

संघात वर्त्तिनी जाति अर्थात् वर्णों के वर्णत्व को वाक्य कहना भी पहले समान ठीक नहीं, क्योंकि इसमें वाक्यपना तब हो सकता है जब वाक्यांतर निरपेक्ष एवं परस्पर सापेक्ष पदों के संघात में वर्त्तन करने वाली सदृश परिणाम रूप जाति को वाक्य माना जाय, जो कि स्वपदों से कथंचित् भिन्नाभिन्न स्वरूप वाली है, अन्यथा संघात को वाक्य मानने के पक्ष में जो दोष कहे थे वे इस पक्ष में भी लागू होंगे ।

एक निरंश शब्द को अर्थात् स्फोट को वाक्य कहना तो मनोरथ मात्र है, क्योंकि निरंश स्फोट अप्रामाणिक है । स्फोट अर्थ की प्रतीति कराता है ऐसा मंतव्य का अभी स्फोटवाद प्रकरण में निरसन कर चुके हैं ।

वर्णों का क्रम वाक्य है ऐसा वाक्य का लक्षण भी संघात वाक्य के पक्ष के समान है कोई भेद नहीं, संघात को वाक्य मानने में जो दोष आता है उसी दोष से यह वाक्य लक्षण भी दूषित है ऐसा निश्चय करना चाहिये ।

बुद्धिर्वाक्यमित्यत्रापि भाववाक्यम्, द्रव्यवाक्यं वा सा स्यात् ? प्रथमपक्षकल्पनायां सिद्धसाध्यता, पूर्वपूर्ववर्णज्ञानाहितसंस्कारस्यात्मनो वाक्यार्थग्रहणपरिणतस्यान्त्यवर्णश्रवणाऽनन्तरं वाक्यार्थावबोधहेतोर्बुद्धयात्मनो भाववाक्यस्याऽस्माभिरभीष्टत्वात्। द्रव्यवाक्यरूपतां तु बुद्धेः कश्चेतनः श्रद्दधीत-प्रतीतिविरोधात् ?

एतेनानुसंहृतिर्वाक्यम्; इत्यपि चिन्तितम्; यथोक्तपदानुसंहृतिरूपस्य चेतसि परिस्फुरतो भाववाक्यस्य परामर्शात्मनोऽभीष्टत्वात्।

'आद्यं पदमन्त्यमन्यद्वा पदान्तरापेक्षं वाक्यम्' इत्यपि नोक्तवाक्याद्भिद्यते, परस्परापेक्षपदसमुदायस्य निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वप्रसिद्धेः, अन्यथा पदादिसिद्धेरभावानुषंगः स्यात्।

अन्ये मन्यन्ते-पदान्येव पदार्थप्रतिपादनपूर्वकं वाक्यार्थावबोधं विदधानानि वाक्यव्यपदेशं प्रतिपद्यन्ते।

बुद्धि को वाक्य मानने का पक्ष ग्रहण करे अर्थात् वर्णों की बुद्धि को वाक्य कहते हैं ऐसा माने तो प्रश्न होता है कि वह बुद्धि कौनसी है द्रव्यवाक्य रूप या भाव वाक्य रूप ? प्रथम पक्ष में सिद्ध साध्यता है, क्योंकि पूर्व पूर्व वर्ण के ज्ञान से प्राप्त हुआ है संस्कार जिसके ऐसे आत्मा के जो कि वाक्य के अर्थ को ग्रहण करने में परिणत है अंतिम वर्ण के श्रवण के अनन्तर वाक्यार्थ का अवबोध हो जाता है उसका कारण रूप जो बुद्धि है वह भाव वाक्य है ऐसा हम जैन भी स्वीकार करते हैं। द्रव्य वाक्य रूप बुद्धि है ऐसा कहना तो कोई भी सचेतन व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि यह प्रतीति विरुद्ध है, अर्थात् द्रव्य वाक्य जड़ रूप है और बुद्धि चेतन रूप है।

परामर्श रूप अनुसंहृति को वाक्य मानने का पक्ष भी पूर्ववत् है, क्योंकि पद रूपता को प्राप्त हुए वर्णों का परामर्श जिसमें प्रतिभासमान है ऐसे आत्मा को अनुसंहृति रूप भाववाक्य मानना हमें इष्ट ही है। अंतिम पद की जिसमें अपेक्षा है ऐसा आद्यपद वाक्य कहलाता है, अथवा आद्यपद की जिसमें अपेक्षा है ऐसा अंतिमपद वाक्य कहलाता है ऐसे वाक्य के लक्षण भी हमारे पूर्वोक्त वाक्य लक्षण से पृथक् नहीं है, क्योंकि परस्पर सापेक्ष एवं अन्य से निरपेक्ष ऐसे पदों का समुदाय वाक्य है और यही लक्षण उक्त वाक्य लक्षण में है, यदि परस्पर की अपेक्षा से रहित पद को वाक्य माना जाय तो पद ही वाक्य बन जाने से पद का अभाव ही हो जायेगा।

मीमांसक प्रभाकर की मान्यता है कि—पद के अर्थ के प्रतिपादन पूर्वक वाक्य के अर्थ का अवबोध कराने वाले पद ही वाक्य संज्ञा को प्राप्त होते हैं।

"पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्भावनावतः ।"

[मी० श्लो० वाक्या० श्लो० १११]

"पदार्थपूर्वकस्तस्माद्वाक्यार्थोयमवस्थितः ।"

[मी० श्लो० वाक्या० श्लो० ३३६]

इत्यभिधानात्; तेप्यन्धसर्पबिलप्रवेशन्यायेनोक्तवाक्यलक्षणमेवानुसरन्ति; अन्योन्यापेक्षानाकाङ्क्षाक्षरपदसमुदायस्य वाक्यत्वेन तैरप्यभ्युपगमात् ।

यदि च पदान्तरार्थैरन्वितानामेवार्थानां पदैरभिधानात्पदार्थप्रतिपत्तेर्वाक्यार्थप्रतिपत्तिः स्यात्; तदा देवदत्तपदेनैव देवदत्तार्थस्य गामभ्याजेत्यादिपदवाक्यार्थैरन्वितस्याभिधानाच्छेषपदोच्चारणवैयर्थ्यम् । प्रथमपदस्यैव च वाक्यरूपताप्रसंगः । यावन्ति वा पदानि तावतां वाक्यत्वं यावन्तश्च पदार्था-

---

वाक्य के अर्थ का कारण पदों का अर्थ है ऐसा हम जानते हैं । इसलिये यह वाक्यार्थ पद के अर्थ पूर्वक अवस्थित होता है इत्यादि । सो यह अन्वित अभिधान रूप वाक्य का लक्षण करने वाले प्रभाकर भी अंध सर्प बिल प्रवेश न्याय के समान हम जैन के वाक्य के लक्षण का ही अनुसरण करते हैं, अर्थात् जिस प्रकार चींटी आदि के उपद्रव के भय से अंधा सर्प बिल से निकलता है किन्तु घूमकर उसी बिल में प्रविष्ट होता है उस प्रकार जैन के वाक्यलक्षण को नहीं चाहते हुए भी घुमाकर उसी लक्षण को स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि अन्योन्य में सापेक्ष और वाक्यांतर से निराकांक्ष ऐसे पद समुदाय को ही वाक्य रूप से प्रभाकर द्वारा स्वीकृत किया गया है अतः जैन का वाक्य लक्षण ही सर्व मान्य एवं निर्दोष सिद्ध होता है ।

अन्विताभिधानवाद

वाक्य लक्षण का निश्चय होने के अनन्तर वाक्य के अर्थ पर विचार प्रारम्भ होता है, परवादी प्रभाकर वाक्यार्थ को इस प्रकार मानते हैं कि—सपूर्ण पद अपने पूर्वोत्तर पदों के अर्थों से अन्वित (सहित) ही रहते हैं अतः उन्हीं अर्थों का पदों द्वारा कथन किये जाने से पद के अर्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ प्रतिपत्ति हो जाती है । आशय यह कि किसी विवक्षित वाक्य में जो भी पद हैं वे एक दूसरे पद के अर्थ से सहित हुआ करते हैं अतः पद के अर्थ का बोध होने पर वाक्यार्थ का बोध हो जाता है । किन्तु ऐसा अन्वित अभिधान मानने पर दूषण यह आता है कि—कोई एक विवक्षित वाक्य में स्थित देवदत्तादि पद हैं उनमें से एक देवदत्त पद द्वारा ही देवदत्त अर्थ के साथ गां अभ्याज (गाय को हटाओ) इत्यादि पद एवं वाक्य के अर्थों का अन्वित कथन

स्तावन्तो वाक्यार्थत्वं स्यात्। अविवक्षितपदार्थव्यवच्छेदार्थत्वान्न 'गाम्' इत्यादिपदोच्चारणवैयर्थ्यम्; इत्यशाप्यावृत्त्या वाक्यार्थप्रतिपत्तिः स्यात्-प्रथमपदेनाभिहितस्य द्वितीयादिपदाभिधेयैरन्वितस्यार्थस्य द्वितीयादिपदैः पुनः पुनः प्रतिपादनात्।

अथ द्वितीयादिपदैः स्वार्थस्य प्रधानभावेन पूर्वोत्तरपदाभिधेयार्थैरन्वितस्याभिधानं नाद्यपदेन अतोयमदोषः; तर्हि यावन्ति पदानि तावन्तस्तदर्थाः पदान्तराभिधेयार्थान्विताः प्राधान्येन प्रतिपत्तव्या इति तावन्त्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तयः कथं न स्युः ? न ह्यन्त्यपदोच्चारणात्तदर्थस्याशेषपूर्वपदाभिधेयैरन्वितस्य प्रतिपत्तेर्वाक्यार्थविबोधो भवति, न पुनः प्रथमपदोच्चारणात् तदर्थस्यावान्तरपदाभिधेयैरन्वितस्य, द्वितीयादिपदोच्चारणाच्चाऽशेषपदाभिधेयैरन्वितस्य तदर्थस्य प्रतिपत्तेरित्यत्रनिमित्तमुत्पश्यामः।

हो जाने से उन शेष पदों का उच्चारण करना व्यर्थ ठहरता है। तथा प्रथम पद को ही वाक्यपना प्राप्त होता है। अथवा एक वाक्य में जितने पद हैं उन सबको वाक्यपना प्राप्त होता है एवं जितने एक एक पद के अर्थ हैं उन सबको वाक्यार्थपना प्राप्त होता है।

शंका—अविवक्षित पद के अर्थ का व्यवच्छेद विवक्षित पद से हो जाता है अतः गां इत्यादि पदों का उच्चारण करना व्यर्थ नहीं ठहरता है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं, इस तरह तो पुनः पुनः प्रवृत्ति रूप आवृति से वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति होती है ऐसा मानना होगा अर्थात् द्वितीयादि पदों के अभिधेयों से अन्वित (सहित) अर्थ का प्रथम पद द्वारा कथन हो चुकता है उसी को द्वितीयादि पदों द्वारा पुनः पुनः कहा जाता है, ऐसा स्वीकार करना होगा।

शंका—पूर्वोत्तर पदों के अभिधेय अर्थों के साथ अन्वित ऐसा अपना अर्थ प्रधान रूप से द्वितीयादि पदों द्वारा कहा जाता है प्रथम पद द्वारा वैसा प्रधान रूप से नहीं कहा जाता अतः उक्त दोष नहीं आयेगा ?

समाधान—तो फिर जितने पद हैं उतने उनके अर्थ हैं और पदांतर के अभिधेय अर्थ से अन्वित प्राध्यान से प्रतिपत्ति के योग्य हैं ऐसा अर्थ निकलता है अतः उतने वाक्य एवं अर्थ प्रतिभास कैसे नहीं कहलायेंगे। अर्थात् अवश्य कहलायेंगे। मीमांसक का यह जो कहना है कि अंतिम पद के उच्चारण से अशेष पूर्व पदों के अभिधेय अर्थों से अन्वित ऐसे उसके अर्थ की प्रतिपत्ति हो जाने से वाक्यार्थ का बोध होता है किन्तु प्रथम पद के उच्चारण से अवांतर पदों के अभिधेयों से अन्वित ऐसे

अथ गम्यमानैस्तैस्तस्यान्वितत्वम् न पुनरभिधीयमानैः तेनायमदोषः; किमिदानीमभिधीयमान एव पदस्यार्थः ? तथोपगमे कथमन्विताभिधानम्–विवक्षितपदस्य गम्यमानपदान्तराभिधेयार्थान्विषय-विषयत्वात् ?

अथ पदानां द्वौ व्यापारौ—स्वार्थाभिधानव्यापारः, पदान्तरार्थगमकत्वव्यापारश्च। कथमेवं पदार्थप्रतिपत्तिरावृत्त्या न स्यात् ? पदव्यापारात्प्रतीयमानस्येव गम्यमानस्यापि पदार्थत्वात्। न च पदव्यापारात्प्रतीयमानत्वाविशेषेपि कश्चिदभिधीयमानः कश्चिद्गम्यमान इति विभागो युक्तः।

उसके अर्थ की प्रतिपत्ति से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता एवं द्वितीयादि पद के उच्चारण से अशेष पदों के अभिधेयों से अन्वित ऐसे उसके अर्थ की प्रतिपत्ति से भी वाक्यार्थ का अवबोध नहीं हो पाता, सो इस तरह की मान्यता में क्या विशेष कारण है वह दृष्टिगोचर नहीं होता, अर्थात् जब सभी पद परस्पर के अर्थ से अन्वित हैं तब अंतिम पद से तो वाक्यार्थ का अवबोध हो और प्रथमादि पद से न हो ऐसा भेद भाव होने में कोई निमित्त दिखायी नहीं देता, अतः पद का अर्थ अन्य पद के अर्थ से अन्वित ही रहता है और उससे वाक्यार्थ का ज्ञान होता है ऐसा कहना युक्ति संगत नहीं है।

प्रभाकर—जो पद गम्यमान हैं (पदांतरों से गोचरीकृत हैं) उनसे उस उच्चार्यमान पद का अर्थ अन्वित होता है न कि अभिधीयमान पदों से, अतः उक्त दोष नहीं आता ?

जैन—तो क्या आप इस समय पद का अर्थ अभिधीयमान ही मानते हैं ? यदि हां तो आपका अन्वित अभिधानवाद अर्थात् पूर्व पद का अर्थ उत्तर पद से अन्वित होता है ऐसा कहना किस प्रकार सिद्ध होगा ? क्योंकि विवक्षित पद गम्यमान पदांतरों के अभिधेय अर्थों को विषय ही नहीं करता है।

प्रभाकर—पदों के दो व्यापार (कार्य) होते हैं - एक अपने अर्थ के कथन में व्यापार और दूसरा पदांतर के अर्थ के गमकत्व में व्यापार, अतः अन्वित अभिधान रूप वाक्यार्थ घटित हो जायगा ?

जैन—इस तरह तो आवृत्ति से पद के अर्थ की प्रतिपत्ति होना रूप पूर्वोक्त दोष कैसे नहीं आयेगा ? अर्थात् अवश्य आयेगा। क्योंकि पद के व्यापार से प्रतीयमान के समान गम्यमान का भी अर्थ होता है क्योंकि दो पद के ही अर्थ हैं। पदव्यापार से प्रतीयमानता समान होते हुए भी किसी को अभिधीयमान और किसी को गम्यमान मानने का विभाग तो युक्तियुक्त नहीं है।

ननु पदप्रयोगः प्रेक्षावता पदार्थप्रतिपत्त्यर्थः, वाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थो वाभिधीयेत ? न तावत्पदार्थप्रतिपत्त्यर्थः; अस्य प्रवृत्त्यऽहेतुत्वात् । अथ वाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थः; तदा पदप्रयोगानन्तरं पदार्थे प्रतिपत्तिः साक्षाद्भवतीति तत्र पदस्याभिधानव्यापारः पदार्थान्तरे तु गमकत्वव्यापारः; तदप्यसाम्प्रतम्; 'वृक्षः' इति पदप्रयोगे शाखादिमदर्थस्यैव प्रतिपत्तेः । तदर्थाच्च प्रतिपन्नात् 'तिष्ठति' इत्यादिपदवाच्यस्य स्थानाद्यर्थस्य सामर्थ्यतः प्रतीतेः, तत्र पदस्य साक्षाद्व्यापाराऽभावतो गमकत्वायोगात् तदर्थस्यैव तद्गमकत्वात् । परम्परया तत्रास्य व्यापारे लिंगवचनस्य लिंगिप्रतिपत्तौ व्यापारोऽस्तु, तथा च शाब्दमेवानुमानज्ञानं स्यात् । लिंगवाचकाच्छब्दाल्लिंगस्य प्रतिपत्तेः सैव शाब्दी, न पुनस्तत्प्रतिपन्नलिंगा-

---

प्रभाकर—बुद्धिमान पुरुष पद का प्रयोग पद के अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये करते हैं अथवा वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये करते हैं ? पद के अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये तो कर नहीं सकते, क्योंकि पद का अर्थ प्रवृत्ति का हेतु नहीं है । वाक्य के अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये पद प्रयोग करते हैं ऐसा द्वितीय पक्ष माने तब तो ठीक ही है, पद प्रयोग के अनंतर पद के अर्थ में तो साक्षात् प्रतिपत्ति होती है, इसलिये उसमें पद का अभिधान व्यापार होगा और पदार्थांतर में गमकत्व व्यापार होगा ?

जैन—यह कथन अनुचित है, 'वृक्षः' इस प्रकार के पदप्रयोग के होने पर शाखादिमान् अर्थ की ही प्रतीति होती है । तथा उस प्रतिपन्न अर्थ से 'तिष्ठति' इत्यादि पद के वाच्यभूत स्थानादि अर्थ की सामर्थ्य से प्रतीति होती है, उस अर्थ में वृक्ष पद का साक्षात् व्यापार नहीं होने से उसका वह गमक बन ही नहीं सकता, वह तो उसी अर्थ का गमक रहेगा । यदि कहा जाय कि वृक्ष पद का तिष्ठति पद के अर्थ में परंपरा से व्यापार होता है तो हेतु वचन का साध्य के प्रतिपत्ति में व्यापार होता है ऐसा भी मानना होगा, और इस तरह मान लेने पर अनुमान ज्ञान शाब्दिक ही कहलायेगा ।

शंका—हेतु के वाचक शब्द से हेतु की प्रतीति होती है उसे ही शाब्दिक ज्ञान कहते हैं किन्तु शब्द से ज्ञात हुए हेतु से जो साध्य का ज्ञान होता है उसे तो शाब्दिक नहीं कह सकते अन्यथा अतिप्रसंग होगा ?

समाधान— तो फिर वृक्ष शब्द से होने वाली स्थानादि अर्थ की प्रतीति भी शाब्दिक मत होवे अन्यथा अतिप्रसंग होगा । अर्थात् जिस प्रकार शब्द से ज्ञात हुए हेतु द्वारा होने वाले साध्य के ज्ञान को परंपरा से पद रूप शब्दजन्य होते हुए भी शाब्दिक नहीं मानते उसी प्रकार वृक्षपद द्वारा परंपरा से होने वाले स्थानादि अर्थ ज्ञान को

लिंगिप्रतिपत्तिरतिप्रसंगात्; तर्हि वृक्षशब्दात्स्थानाद्यर्थप्रतिपत्तिर्भवन्ती शाब्दी मा भूत्तत एव, अस्य स्वार्थप्रतिपत्तावेव पर्यवसितत्वाल्लिंगशब्दवत् ।

किंच, विशेष्यपदं विशेष्यं विशेषणसामान्येनान्वितम्, विशेषणविशेषेण वाऽभिधत्ते, तदुभयेन वा ? प्रथमपक्षे विशिष्टवाक्यार्थप्रतिपत्तिविरोधः । द्वितीयपक्षे तु निश्चयासम्भवः – प्रतिनियत-विशेषणस्य शब्देनानिर्दिष्टस्य स्वोक्तविशेष्येऽन्वयसंशीतेः, विशेषणान्तराणामपि सम्भवात् । वक्तुरभि-प्रायात्प्रतिनियतविशेषणस्य तत्रान्वयश्चेत्; न; यं प्रति शब्दोच्चारणं तस्य वक्त्रभिप्रायाऽप्रत्यक्षतस्तद-निर्णयप्रसंगात्, आत्मानमेव प्रति वक्तुः शब्दोच्चारणानर्थक्यात् । तृतीयपक्षे तु उभयदोषानुषंगः ।

शाब्दिक नहीं मानना चाहिये, वृक्ष शब्द तो अपने अर्थ की प्रतीति में ही सीमित है जैसे हेतु शब्द अपने अर्थ प्रतीति में सीमित है ।

दूसरी बात यह है कि—विशेष्य पद विशेष्य को विशेषण सामान्य से अन्वित कहता है या विशेषण विशिष्ट से अन्वित विशेष्य को कहता है अथवा उभय से अन्वित विशेष्य को कहता है ? प्रथम पक्ष माने तो विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होने में विरोध आता है । दूसरा पक्ष माने तो निश्चय नहीं हो सकता, अर्थात् शब्द से जिसका निर्देश नहीं किया है ऐसे प्रतिनियत विशेषण का अपने उक्त विशेष्य में अन्वय करने में संशय उत्पन्न होगा, क्योंकि विशेष्य में अन्य अन्य विशेषणों का होना भी संभव है, अतः अपने इस विशेष्य में अमुक विशेषण ही अन्वित है ऐसा निश्चय नहीं हो सकता ।

शंका—वक्ता के अभिप्राय से प्रतिनियत विशेषण का उस विशेष्य में अन्वय हो जाता है ?

समाधान—नहीं हो सकता, जिस पुरुष के प्रति शब्द का उच्चारण किया जाता है उस पुरुष को वक्ता का अभिप्राय अप्रत्यक्ष रहता है (ज्ञात नहीं रहता) अतः उस विशेषण का निर्णय होना असंभव ही है । यदि कहा जाय कि वक्ता को अपने प्रति ही अभिप्राय प्रत्यक्ष रहता है अर्थात् वक्ता स्वयं तो अपने अभिप्राय को जानता है उससे वह नियत विशेषण का निश्चय कर लेगा ? सो ऐसा कहे तो शब्द का उच्चारण ही व्यर्थ ठहरता है, कोई स्वयं के लिये तो शब्दोच्चारण करता नहीं । तीसरे पक्ष में (विशेष्य पद विशेष्य को सामान्य और विशेष रूप उभय विशेषण से अन्वित कहता है) तो उभयपक्ष के दोष आते हैं (विशिष्ट वाक्यार्थ की प्रतीति नहीं होना और निश्चय नहीं होना)

एतेन क्रियासामान्येन क्रियाविशेषेण तदुभयेन वान्वितस्य साधनस्य, साधनसामान्येन साधनविशेषेण तदुभयेन वान्वितायाः प्रतिपादनमाख्यातेन प्रत्याख्यातम् ।

यदि च पदात्पदार्थे उत्पन्नं ज्ञानं वाक्यार्थाध्यवसायि स्यात्; तर्हि चक्षुरादिप्रभवं रूपादिज्ञानं गन्धाध्यवसायि किन्न स्यात् ? अथास्य गन्धादिसाक्षात्कारित्वाभावान्नायं दोषः; तर्हि पदोत्थपदार्थज्ञानस्यापि वाक्यार्थावभासित्वाभावात्कथं तदध्यवसायित्वं स्यात् ? चक्षुरादेर्गन्धादाविव पदस्य वाक्यार्थसम्बन्धानवधारणतः सामर्थ्यानुपपत्तेः । तन्नान्विताभिधानं श्रेयः ।

इसी प्रकार वाक्य में जो पद कर्म कारकादि साधन रूप होता है वह क्रिया सामान्य से अन्वित अर्थ को कहता है कि क्रिया विशेषण से अथवा उभय रूप से अन्वित अर्थ को कहता है ऐसे प्रश्न होते हैं और उन सब पक्ष में वही दूषण आने से उनका निराकरण भी पूर्वोक्त रीत्या हो जाता है । ऐसे ही क्रिया पद साधन सामान्य से अन्वित अर्थ को कहता है या साधन विशेष से अथवा उभय से अन्वित अर्थ को कहता है इस प्रकार तीनों पक्षों की मान्यता सदोष होने से खंडित होती है ।

तथा यदि पद से पद के अर्थ में ज्ञान उत्पन्न होता है और वह वाक्यार्थ का निश्चय करता है तो चक्षु आदि से उत्पन्न हुआ रूपादि ज्ञान गंध का निश्चय क्यों नहीं कर सकता ? आशय यह है कि 'देवदत्तः' आदि कोई एक पद देवदत्त संज्ञा वाले मनुष्य का ज्ञान कराता है और साथ ही अन्य 'तिष्ठति' पद का ज्ञान भी (बिना शब्दोच्चारण के ही) कराता है, ऐसा माना जाय तो नेत्र से उत्पन्न हुआ नील ज्ञान गुलाब की सुगंधी को जानता है ऐसा विरुद्ध कथन भी मानना होगा ।

शंका—रूपादि ज्ञान गंधादि का साक्षात्कारी नहीं होने से उसका निश्चायक नहीं होता अतः विरुद्ध मान्यता का दोष नहीं आता ।

समाधान—तो फिर पद से उत्पन्न हुआ पद के अर्थ का ज्ञान भी वाक्यार्थ का साक्षात्कारी नहीं होने से उसका निश्चायक किस प्रकार हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता । क्योंकि जिसप्रकार चक्षु आदि की गंधादि विषय में सामर्थ्य नहीं होती उसी प्रकार पद की वाक्यार्थ संबंध का अनवधारण होने से उसमें सामर्थ्य नहीं होती अर्थात् पद से वाक्य के अर्थ का ज्ञान नहीं होता । अतः अन्वित अभिधानवाद अर्थात् पदों से पदान्तरों के अर्थों से अन्वित अर्थों का ही कथन होता है इसलिये पदके अर्थ के प्रतीति से वाक्य के अर्थ की प्रतीति होती है ऐसा प्रभाकर का मत श्रेयस्कर नहीं है ।

नाप्यभिहितान्वयः; यतोऽभिहिताः पदैरर्थाः शब्दान्तरादन्वीयन्ते, बुद्धया वा ? न तावदाद्यः पक्षः; शब्दान्तरस्याशेषपदार्थविषयस्याभिहितान्वयनिबन्धनस्याभावात् । द्वितीयपक्षे तु बुद्धिरेव वाक्यं ततो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः, न पुनः पदान्येव । ननु पदार्थेभ्योऽपेक्षाबुद्धिसन्निधानात्परस्परमन्वितेभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेः परम्परया पदेभ्य एव भावान्नातो व्यतिरिक्तं वाक्यम्; तर्हि प्रकृत्यादिव्यतिरिक्तं पदमपि मा भूत्, प्रकृत्यादीनामन्वितानामभिधाने अभिहितानां वान्वये पदार्थप्रतिपत्तिप्रसिद्धेः ।

ननु 'पदमेव लोके वेदे वार्थप्रतिपत्तये प्रयोगार्हम् न तु केवला प्रकृतिः प्रत्ययो वा, पदादपोद्धृत्य तद्व्युत्पादनार्थं यथाकथञ्चित्तदभिधानात् । तदुक्तम्—"अथ गौरित्यत्र कः शब्दः ?:गकारौकार-

---

भाट्ट का अभिहित अन्वयवाद रूप वाक्यार्थ भी अयुक्त है, अर्थात् पदों द्वारा कहे हुए अर्थों का अन्वय (सम्बन्ध) वाक्यार्थ में होता है अतः "पदैः अभिहितानां अर्थानां अन्वयः सम्बन्धः वाक्यार्थः" पदों द्वारा कहे हुए अर्थ वाक्य से परस्पर में संबद्ध होते हैं अतः वे ही वाक्य का अर्थ है ऐसा भाट्ट का मंतव्य भी समीचीन नहीं है, क्योंकि पदों द्वारा कहे हुए अर्थ शब्दांतर से परस्पर में संबद्ध किये जाते हैं या बुद्धि से संबद्ध किये जाते हैं ? प्रथम पक्ष अनुचित है, क्योंकि अशेष पदों के अर्थों को विषय करने वाला ऐसा अभिहित अन्वय का निमित्तभूत कोई शब्दांतर ही नहीं है। द्वितीय पक्ष— बुद्धि से उक्त अर्थों का सम्बन्ध किया जाता है ऐसा माने तो बुद्धि वाक्य कहलायेगी क्योंकि उसीसे वाक्य के अर्थ की प्रतीति हुई है, पद ही वाक्य होते हैं ऐसा कथन तो असिद्ध ही रहा ?

शंका—अपेक्षा बुद्धि का सन्निधान होने के कारण परस्पर में अन्वित हुए पदों के अर्थों से वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति होती है अतः परंपरा से पदों द्वारा ही वाक्य का अर्थ हुआ है इसलिये इनसे व्यतिरिक्त वाक्य नहीं है ?

समाधान—तो फिर प्रकृति प्रत्यय आदि से व्यतिरिक्त पद भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि परस्पर में सम्बद्ध हुए प्रकृति प्रत्यय आदि का कथन करने पर अथवा अभिहित (कथित) प्रकृति आदिका अन्वय (सम्बन्ध) होने पर पद के अर्थ की प्रतिपत्ति होती है ऐसा सुप्रसिद्ध ही है। अतः इन प्रकृति आदि से भिन्न पद का अस्तित्व भी नहीं रहेगा।

शंका— लोक में तथा वेद में अर्थ प्रतिपत्ति के लिये पद ही प्रयोग के योग्य होता है, केवल प्रकृति (धातु और लिंग) या केवल प्रत्यय प्रयोगार्ह नहीं होते, हां

विसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः" [शाबरभा० १।१।५] इति । यथैव हि वर्णोऽनंशः प्रकल्पितमात्रा-भेदस्तथा 'गौः' इति पदमप्यनशमपोद्धृताकारादिभेदं स्वार्थप्रतिपत्तिनिमित्तमवसीयते । इत्यप्यनालोचिताभिधानम्; वाक्यस्यैवं तात्त्विकत्वप्रसिद्धेः, तद्व्युत्पादनार्थं ततोऽपोद्धृत्य पदानामुपदेशाद्वाक्यस्यैव लोके शास्त्रे वार्थप्रतिपत्तये प्रयोगार्हत्वात् । तदुक्तम्—

"द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पंचधापि वा ।
अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ॥"

[ ] इति ।

ततः प्रकृत्याद्यवयवेभ्यः कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नं च पदं प्रातीतिकमभ्युपगन्तव्यम्, न तु सर्वथाऽनंशं वर्णवत्तद्ग्राहकाभावात् । तद्वत्पदेभ्यः कथञ्चिद्भिन्नमभिन्नं च वाक्यं द्रव्यभाववाक्यभेदभिन्नं प्रोक्तलक्षणलक्षितं प्रतीतिपदमारूढमभ्युपगन्तव्यम् अलं प्रतीत्यपलापेनेति ।

प्रकृति आदि को पद से पृथक् करके पद की व्युत्पत्ति के लिये कथंचित् कदाचित् उनका कथन किया जाता है । जैसा कि कहा है—'गौः' इस पद में कौन सा शब्द पद संज्ञक है ? ऐसा प्रश्न होने पर भगवान् उपवर्ष उत्तर देते हैं कि गकार, औकार और विसर्ग ये पद संज्ञक हैं इत्यादि । जिस प्रकार वर्ण अनंश है तो भी उसमें मात्रा के निमित्त से भेद प्रकल्पित करते हैं, उसी प्रकार "गौः" यह पद अनंश है तो भी उसमें कल्पित अकारादि भेद (गकारादि भेद) अपने गो अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये करते हैं ?

समाधान—यह कथन भी अविचार पूर्ण है, इस तरह तो वाक्य का तात्त्विकपना भली प्रकार से सिद्ध होता है, उपर्युक्त पद सिद्धि के लिये किया गया प्रतिपादन वाक्य में भी घटित होता है कि लोक में अथवा शास्त्र में अर्थ की प्रतिपत्ति के लिये वाक्य का प्रयोग ही योग्य होता है, केवल वाक्य की निष्पत्ति के लिये उससे पदों को पृथक् करके उपदेश दिया जाता है इत्यादि । जैसा कि कहा है—किन्हीं विद्वानों ने वाक्यों से पदों को पृथक् करके दो प्रकारों में अर्थात् सुबंत और तिङंत में विभाजित किया है, किन्हीं ने नाम, आख्यात, निपात और कर्म प्रवचनीय रूप चार प्रकार से विभाजित किया है और किन्हीं ने उक्त चार प्रकार में उपसर्ग मिलाकर पांच प्रकार से विभाजित किया है, जैसे कि प्रकृति और प्रत्ययादि से पद को विभक्त करते हैं ।।१।। इत्यादि । वास्तविक बात तो यह है कि -प्रकृति आदि अवयवों से पद कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है ऐसा प्रतीति सिद्ध सिद्धांत स्वीकार करना चाहिए, पद को सर्वथा अनंश रूप नहीं मानना चाहिए, क्योंकि जैसे वर्ण को सर्वथा अनंश रूप ग्रहण

प्रामाण्यं सुधियो धियो यदि मतं संवादतो निश्चितात्,
स्मृत्यादेरपि किन्न तन्मतमिदं तस्याऽविशेषात्स्फुटम् ।
तत्संख्या परिकल्पितेयमधुना सन्तिष्ठतेऽतः कथम्,
तस्माज्जैनमते मतिर्मतिमता स्थेयाच्चिर निर्मले ॥१॥

इति श्रीप्रभाचन्द्रदेवविरचिते प्रमेयकमलमार्तण्डे परीक्षामुखालङ्कारे
तृतीयः परिच्छेदः ॥ श्रीः ॥

करने वाला कोई प्रमाण नहीं है वैसे पद को सर्वथा अनंश रूप ग्रहण करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। जैसे प्रकृति आदि से पद कथंचित् भिन्नाभिन्न है वैसे पदों से वाक्य कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार "पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्" ऐसा पूर्वोक्त वाक्य का लक्षण ही निर्दोष एवं प्रतीतिपद में आरूढ़ सिद्ध होता है ऐसा अभिहितान्वयवादी और अन्विताभिधानवादी भाट्ट एवं प्रभाकर को मानना चाहिये। उसके द्रव्यवाक्य और भाववाक्य ऐसे दो भेद हैं, द्रव्यवाक्य वचनात्मक है और भाववाक्य ज्ञानात्मक है ऐसा समझना चाहिए। अब प्रतीति की अपलाप से बस हो।

अब श्री प्रभाचन्द्राचार्य संपूर्ण तृतीय परिच्छेद में आगत विषयों का उपसंहार करते हुए अन्तिम मंगल श्लोक कहते है—बुद्धिमान पुरुष प्रमाण में प्रामाण्य सुनिश्चित संवाद से आता है ऐसा मानते है सो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि प्रमाणों में भी सुनिश्चित संवाद मौजूद होने से उन्हें भी प्रमाणभूत क्यो न माना जाय ? अर्थात् अवश्य मानना चाहिये। जब स्मृति आदि ज्ञान भी प्रमाणभूत सिद्ध होते हैं तब अन्य अन्य परवादियों की प्रमाण संख्या किस प्रकार सिद्ध हो सकती है ? नहीं हो सकती। इस प्रकार निर्दोष प्रमाण, संख्या आदि समस्त विषयों का प्रतिपादन करने वाला, स्याद्वाद से निर्मल ऐसे जैन मत में सभी बुद्धिमानों की बुद्धि सदा स्थिर होवे। अर्थात् गृहीत मिथ्यात्व का त्याग करके निर्मल सम्यक्त्व को धारण करना चाहिये इसी से उभयलोक में सुख एवं कल्याण होगा। अस्तु।

वाक्यलक्षणविचार का सारांश

वाक्य का लक्षण क्या है इस विषय में विभिन्न मतों में विवाद है, जैसा कि कहा है—

आख्यात शब्दः संघातो जातिः संघातवर्त्तिनी ।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्धयनुसंहृती ।।१।।

पदमाद्यं पदं चान्त्यं पदं सापेक्ष मित्यपि ।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम् ।।२।।

अर्थ—भवति आदि धातु के शब्दों को वाक्य कहना चाहिए ऐसा कोई परवादी कहते हैं, कोई वर्णों के समूह को, कोई वर्ण समूह के जाति को (वर्णत्व को) एक निरंश शब्द को, कोई वर्णों के क्रम को, कोई बुद्धि को, कोई अनुसंहृती अर्थात् पद रूपता को प्राप्त हुए वर्णों के परामर्श को, कोई आदि पद को अन्तिम पद की अपेक्षा होना और अन्तिम पद को आदि पद की अपेक्षा होने को वाक्य कहते हैं ।

प्रभाकर अन्वित अभिधान को वाक्य कहते हैं, अर्थात् एक एक पद के अर्थ के प्रतिपादन पूर्वक वाक्य का अर्थ होता है, अतः वाक्यार्थ का अवबोध करते हुए पद ही वाक्य संज्ञा को प्राप्त होते हैं ऐसा इनका मंतव्य है ।

भाट्ट अभिहित अन्वय को वाक्य कहते हैं, अर्थात् पदों के द्वारा कहे हुए अर्थों का अन्वय होना वाक्य कहलाता है। जैनाचार्य ने इन विविध वाक्य लक्षणों में अव्याप्ति आदि दूषण को बतलाते हुए समालोचना की है और वाक्य एवं पद के निर्दोष लक्षण का प्रणयन किया है, "वर्णानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम्"। "पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्"। परस्परसापेक्ष और अन्य से निरपेक्ष ऐसे वर्णों के समुदाय को पद कहते हैं, तथा परस्पर सापेक्ष और अन्य से निरपेक्ष ऐसे पदों के समुदाय को वाक्य कहते हैं, घटः एक पद है इसमें दो वर्ण हैं ये दोनों तो परस्पर सापेक्ष हैं किन्तु इन दो को छोड़कर अन्य वर्ण की अपेक्षा नहीं है। "देवदत्त ! गां अभ्याज" इस वाक्य में देवदत्त, गां, अभ्याज ये तीन पद हैं ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं किन्तु अन्य पदों से निरपेक्ष हैं इनका समुदाय वाक्य संज्ञा को प्राप्त होता है,

अभिप्राय यह है कि प्रतिपत्ता को जितने परस्पर सापेक्ष पदों का समुदाय होने पर निराकांक्षा होती है, अन्य पदों की आकांक्षा नहीं होती वह पद समूह वाक्य कहलाता है ।

आख्यात शब्द को वाक्य कहे तो प्रश्न होता है कि वह धातु पद अन्य पद की अपेक्षा रखता है या नहीं, यदि रखता है तो कहीं पर भी निराकांक्ष न होने से प्रकृत अर्थ की परिसमाप्ति नहीं हो सकेगी, और यदि अन्य पद की अपेक्षा नहीं है तो एक पद को ही वाक्य कहने का प्रसंग आता है । वर्ण समूह को वाक्य कहे तो वही उपर्युक्त दोष आता है । वर्ण समुदाय में जो वर्णपना अर्थात् वर्णत्व सामान्य है उसे वाक्य कहे तो भी अयुक्त है क्योंकि परवादी सामान्य को व्यापक एक नित्य मानते हैं ऐसा सामान्य खरविषाणवत् असत् है ।

एक निरंश शब्द अर्थात् स्फोट को वाक्य कहना तो स्फोट के निराकरण से ही निराकृत हो जाता है ।

इसी प्रकार क्रम, बुद्धि आदि को वाक्य कहना भी बाधित होता है । प्रभाकर का अन्वित अभिधान लक्षण भी अंध सर्प बिल प्रवेश न्याय का अनुसरण करता है अर्थात् अंधा सर्प चीटी आदि के कारण बिल से निकलता है और पुनः उसी में प्रविष्ट होता है उसी प्रकार जैन के वाक्य लक्षण की अनिच्छा करके पुनः उसी का ग्रहण करना होता है क्योंकि पदों का अर्थ अन्वित करके वाक्यार्थ का अवबोध कराने वाले पदों को वाक्य कहना जैन के वाक्य लक्षण को परिपुष्ट करना है । अभिहित का अन्वय करना वाक्य है ऐसा भाट्ट का लक्षण भी सदोष है, क्योंकि पदों के द्वारा कहा हुआ अर्थ यदि शब्दांतर से अन्वित होता है ऐसा कहना तो अयुक्त है, क्योंकि शब्दांतर अशेष अर्थ का निमित्त नहीं होता, यदि कहे कि पदों द्वारा कहा हुआ अर्थ बुद्धि से अन्वित किया जाता है तो बुद्धि को वाक्य कहने का प्रसंग आता है । इस प्रकार अन्य प्रवादियों के वाक्य के लक्षण सदोष सिद्ध होते हैं अतः "पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः वाक्यं" परस्पर सापेक्ष और अन्य पदों से निरपेक्ष ऐसे पद समूह को वाक्य कहना चाहिए, यही लक्षण निर्दोष सिद्ध होता है ।

॥ सारांश समाप्त ॥

इस प्रकार श्री माणिक्यनंदी विरचित परीक्षामुख सूत्र ग्रन्थ की टीका स्वरूप प्रमेय कमल मार्त्तण्ड में तृतीय परिच्छेद पूर्ण हुआ ।

उपसंहार

उपसंहार इस प्रकार है कि—प्रथम ही परोक्ष प्रमाण का लक्षण है, तदनंतर उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ऐसे पांच भेद बतलाये हैं, पुनः स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क को प्रमाण नही मानने वाले जैनेतर परवादियों के प्रति इनके प्रामाण्य की सिद्धि की है। अनंतर अनुमान प्रमाण का लक्षण एवं भेद दर्शाया, हेतु के लक्षण का प्रणयन करते हुए त्रैरूप्यवादी बौद्ध और पांच रूप्यवादी नैयायिक के हेतु लक्षण का खण्डन किया एवं पूर्ववत् आदि अनुमान के भेदों का निरसन किया, हेतु के कुल बावीस भेद सोदाहरण कहे। आगम प्रमाण का लक्षण करते ही मीमांसक ने अपौरुषेय वेद का पक्ष रखा अतः उसका निरसन किया। पुनश्च शब्द नित्यत्व का निराकरण, अपोहवाद एवं स्फोटवाद निराकरण किया है, तथा वाक्य का निर्दोष लक्षण बताया है। प्रमेयकमलमार्त्तण्डग्रन्थ के राष्ट्र भाषानुवाद स्वरूप इस द्वितीय भाग में बीस प्रकरणों का समावेश है, उपर्युक्त तृतीय परिच्छेद के स्मृति प्रमाण आदि प्रकरणों के पूर्व अर्थ कारणवाद आदि द्वितीय परिच्छेद के प्रकरण हैं। श्री माणिक्यनंदी आचार्य-विरचित परीक्षामुख ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय के अंतिम सात सूत्र तथा तृतीय अध्याय के सपूर्ण सूत्र एक सौ एक (अथवा ६६) कुल १०८ सूत्र इस हिंदी भाषानुवाद रूप द्वितीय भाग में समाविष्ट हुए हैं।

इस प्रकार उक्त सूत्र एवं प्रकरणों का अनुवाद अल्प बुद्धि अनुसार मैंने (आर्यिका जिनमति ने) किया है, इसमें अज्ञान एवं प्रमाद वश यदि स्खलन हुआ हो तो बुद्धिमान सज्जन संशोधन करे।

गच्छन्तः स्खलनं क्वापि भवेदेव प्रमादतः।
हसति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः ॥१॥

इस प्रकार परीक्षामुख का अलंकार स्वरूप श्री प्रभाचन्द्राचार्यदेव विरचित प्रमेयकमलमार्त्तण्डनामा ग्रन्थ का द्वितीय भाग परिपूर्ण हुआ।

॥ इति भद्रं भूयात् ॥

अथ प्रशस्ति

प्रणम्य शिरसा वीरं धर्मतीर्थप्रवर्त्तकम् ।
तच्छासनान्वयं किञ्चिद् लिख्यते सुमनोहरम् ॥१॥
नभस्तत्वदिग्वीराब्दे कुन्दकुन्द गणी गुणी ।
संजातः संघनायको मूलसंघप्रवर्त्तकः ॥२॥
आम्नाये तस्य संख्याताः विख्याताः सुदिगंबराः ।
प्राविरासन् जगन्मान्याः जैनशासनवर्द्धकाः ॥३॥
क्रमेण तत्र समभूत सूरिरेकप्रभावकः ।
शांतिसागर नामा स्यात् मुनिधर्मप्रवर्त्तकः ॥४॥
वीरसागर आचार्यस्तत्पट्टे समलंकृतः ।
ध्यानाध्ययने रक्तो विरक्तो विषयामिषात् ॥५॥
अथ दिवंगते तस्मिन् शिवसिन्धुर्मुनीश्वरः ।
चतुर्विधगणैः पूज्यः समभूत् गणनायकः ॥६॥
तयोः पार्श्वे मया लब्धा दीक्षा संसारपारगा ।
आकरी गुणरत्नानां यस्यां कायेऽपि हेयता ॥७॥ [विशेषकम्]
प्रशमादिगुणोपेतो धर्मसिन्धुर्मुनीश्वरः ।
आचार्यपद मासीनो वीरशासनवर्द्धकः ॥८॥
आर्या ज्ञानमती माता विदुषी मातृवत्सला ।
न्यायशब्दादिशास्त्रेषु धत्ते नैपुण्य माञ्जसम् ॥९॥
कवित्वादिगुणोपेता प्रमुखा हितशासिका ।
गर्भाधानक्रियाहीना मातैव मम निश्छला ॥१०॥
नाम्ना जिनमती चाहं शुभमत्यानुप्रेरिता ।
यया कृतोऽनुवादोयं चिरं नन्द्यात् महीतले ॥११॥

इति भद्रं भूयात् सर्वे भव्यानां

❋

परीक्षामुख सूत्र पाठः

प्रथम परिच्छेदः

प्रमाणादर्थ संसिद्धिस्तदाभासाद्विपर्ययः ।
इति वक्ष्ये तयोर्लक्ष्म सिद्धमल्पंलघीयसः ॥१॥

१ स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मक ज्ञानं प्रमाणम् ।

२ हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थं हि प्रमाण-ततो ज्ञानमेव तत् ।

३ तन्निश्चयात्मक समारोप विरुद्धत्वादनु-मानवत् ।

४ अनिश्चितोऽपूर्वार्थः ।

५ दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक् ।

६ स्वोन्मुखतया प्रतिभासन स्वस्य व्यव-सायः ।

७ अर्थस्येव तदुन्मुखतया ।

८ घटमहमात्मना वेद्मि ।

९ कर्मवत्कर्तृ करण क्रिया प्रतीतेः ।

१० शब्दानुच्चारणेऽपि स्वस्यानुभवनमर्थवत् ।

११ को वा तत्प्रतिभासिनमर्थमध्यक्षमिच्छस्त-देव तथा नेच्छेत् ।

१२ प्रदीपवत् ।

१३ तत्प्रामाण्य स्वत. परतश्चेति ।

अथ द्वितीय परिच्छेदः

१ तद्द्वेधा ।

२ प्रत्यक्षेतर भेदात् ।

३ विशदं प्रत्यक्षम् ।

४ प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेषवत्तया वा प्रतिभासनं वैशद्यम् ।

५ इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यव-हारिकम् ।

६ नार्थालोकौ कारणं परिच्छेद्यत्वात्तमोवत् ।

७ तदन्वय व्यतिरेकानु विधानाभावाच्च केशोण्डुक ज्ञान वन्नक्तञ्चरज्ञानवच्च ।

८ अतज्जन्यमपि तत्प्रकाशक प्रदीपवत् ।

९ स्वावरण क्षयोपशमलक्षण योग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति ।

१० कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचार ।

११ सामग्रीविशेषविश्लेषिताखिलावरणमती-न्द्रियमशेषतो मुख्यम् ।

१२ सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्ध-सम्भवात् ।

अथ तृतीयः परिच्छेदः

१ परोक्षमितरत् ।

२ प्रत्यक्षादिनिमित्त स्मृति प्रत्यभिज्ञानतर्का-नुमानागमभेदम् ।

३ संस्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृतिः ।

४ स देवदत्तो यथा ।

५ दर्शन स्मरण कारणकं सङ्कलनं प्रत्यभि-ज्ञानम्, तदेवेदं, तत्सदृशं, तद्विलक्षणं, तत्प्रतियोगीत्यादि ।

६ यथा स एवायं देवदत्त ।
७ गो सदृशो गवय ।
८ गोविलक्षणो महिष ।
९ इदमस्माद् दूरम् ।
१० वृक्षोऽयमित्यादि ।
११ उपलभानुपलभ निमित्तं व्याप्तिज्ञानमूह ।
१२ इदमस्मिन्सत्येव भवत्यसति न भवत्येवेति च ।
१३ यथाऽग्नावेव धूमस्तदभावे न भवत्येवेति च ।
१४ साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम् ।
१५ साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः ।
१६ सहक्रमभावनियमोऽविना भाव ।
१७ सहचारिणोर्व्याप्यव्यापकयोश्च सहभाव ।
१८ पूर्वोत्तरचारिणोः कार्यकारणयोश्च क्रमभावः ।
१९ तर्कात्तन्निर्णय ।
२० इष्टमबाधितमसिद्ध साध्यम् ।
२१ सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नाना साध्यत्व यथा स्यादित्यसिद्धपदम् ।
२२ अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयो साध्यत्व माभूदितीष्टाबाधित वचनम् ।
२३ न चासिद्धवदिष्ट प्रतिवादिन ।
२४ प्रत्यायनाय हीच्छा वक्तुरेव ।
२५ साध्य धर्म क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मी ।
२६ पक्ष इति यावत् ।
२७ प्रसिद्धो धर्मी ।
२८ विकल्पसिद्धे तस्मिन्सत्तेतरे साध्ये ।
२९ अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम् ।
३० प्रमाणोभयसिद्धे तु साध्यधर्म विशिष्टता ।
३१ अग्निमानयं देश परिणामी शब्द इति यथा ।
३२ व्याप्तौ तु साध्य धर्म एव ।
३३ अन्यथा तदघटनात् ।
३४ साध्यधर्माधारसन्देहापनोदाय गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम् ।
३५ साध्यधर्मिणि साधनधर्मावबोधनाय पक्षधर्मोपसहारवत् ।
३६ को वा त्रिधा हेतुमुक्त्वा समर्थयमानो न पक्षयति ।
३७ एतद्द्वयमेवानुमानाग नोदाहरणम् ।
३८ न हि तत्साध्यप्रतिपत्त्यग तत्र यथोक्त हेतोरेव व्यापारात् ।
३९ तदविनाभाव निश्चयार्थं वा विपक्षे बाधकादेव तत्सिद्धे ।
४० व्यक्तिरूप च निदर्शनं सामान्येन तु व्याप्तिस्तत्रापि तद्विप्रतिपत्तावनवस्थान स्यात् दृष्टान्तान्तरापेक्षणात् ।
४१ नापि व्याप्ति स्मरणार्थं तथाविध हेतु प्रयोगादेव तत्स्मृते ।
४२ तत्परिमभिधीयमान साध्यधर्मिणि साध्यसाधने सन्देहयति ।
४३ कुतोऽन्यथोपनयनिगमने ।
४४ न च ते तदगे साध्यधर्मिणि हेतुसाध्योर्वचनादेवासशयात् ।
४५ समर्थन वा वर हेतु रूपमनुमानावयवो वास्तु साध्ये तदुपयोगात् ।
४६ बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ न वादेऽनुपयोगात् ।
४७ दृष्टान्तो द्वेधा अन्वयव्यतिरेक भेदात् ।

४८ साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वय-दृष्टान्तः ।

४९ साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्त ।

५० हेतोरुपसंहार उपनय ।

५१ प्रतिज्ञायास्तु निगमनम् ।

५२ तदनुमान द्वेधा ।

५३ स्वार्थपरार्थ भेदात् ।

५४ स्वार्थमुक्त लक्षणम् ।

५५ परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम् ।

५६ तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात् ।

५७ स हेतुर्द्वेधोपलब्ध्यनुपलब्धि भेदात् ।

५८ उपलब्धिर्विधिप्रतिषेधयोरनुपलब्धिश्च ।

५९ अविरुद्धोपलब्धिर्विधौ षोढा व्याप्यकार्य कारण पूर्वोत्तर सहचर भेदात् ।

६० रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किञ्चित्कारण हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्धकारणान्तरावैकल्ये ।

६१ न च पूर्वोत्तर चारिणोस्तादात्म्य तदुत्पत्तिर्वाकाल व्यवधाने तदनुपलब्धे ।

६२ भाव्यतीतयोर्मरण जाग्रद्बोधयोरपि नारिष्टोद्बोधौ प्रति हेतुत्वम् ।

६३ तद्व्यापाराश्रित हि तद्भावभावित्वम् ।

६४ सहचारिणोरपि परस्परपरिहारेणावस्थानात्सहोत्पादाच्च ।

६५ परिणामी शब्दः, कृतकत्वात्, य एव स एव दृष्टो यथा घट', कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी, यस्तु न परिणामी स न कृतको दृष्टो यथा बन्ध्यास्तनन्धयो, कृतकश्चायम्, तस्मात्परिणामी ।

६६ अस्त्यत्र देहिनि बुद्धिर्व्याहारादे ।

६७ अस्त्यत्र छाया छत्रात् ।

६८ उदेष्यति शकटं कृतिकोदयात् ।

६९ उदगाद्भरणिः प्राक्तत एव ।

७० अस्त्यत्र मातुलिंगे रूप रसात् ।

७१ विरुद्धतदुपलब्धि' प्रतिषेधे तथा ।

७२ नास्त्यत्र शीतस्पर्श औष्ण्यात् ।

७३ नास्त्यत्र शीतस्पर्शो धूमात् ।

७४ नास्मिन् शरीरिणि सुखमस्ति हृदय शल्यात् ।

७५ नोदेष्यति मुहूर्तान्ते शकट रेवत्युदयात् ।

७६ नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्पूर्वं पुष्योदयात् ।

७७ नास्त्यत्र भित्तौ परभागाभावोऽर्वाग्भाग-दर्शनात् ।

७८ अविरुद्धानुपलब्धि प्रतिषेधे सप्तधा स्वभाव-व्यापक कार्यकारण पूर्वोत्तर सहचरानुपलम्भभेदात् ।

७९ नास्त्यत्र भूतले घटोऽनुपलब्धेः ।

८० नास्त्यत्र शिंशपा वृक्षानुपलब्धे ।

८१ नास्त्यत्राप्रतिबद्धसामर्थ्योऽग्निर्धूमानुपलब्धेः ।

८२ नास्त्यत्र धूमोऽनग्ने ।

८३ न भविष्यति मुहूर्तान्ते शकट कृतिकोदयानुपलब्धे ।

८४ नोदगाद्भरणिर्मुहूर्तात्प्राक् तत एव ।

८५ नास्त्यत्र समतुलायामुन्नामो नामानुपलब्धे ।

८६ विरुद्धानुपलब्धिर्विधौ त्रेधा विरुद्धकार्य कारणस्वभावानुपलब्धि भेदात् ।

८७ यथास्मिन् प्राणिनि व्याधि विशेषोस्ति निरामयचेष्टानुपलब्धेः।

८८ अस्त्यत्र देहिनि दु:खमिष्टसंयोगाभावात्।

८९ अनेकान्तात्मकं वस्त्वेकान्तस्वरूपानुपलब्धेः।

९० परम्परया सम्भवत्साधनमत्रैवान्तर्भावनीयम्।

९१ अभूदत्र चक्रे शिवकः स्थासात्।

९२ कार्य कार्यमविरुद्ध कार्योपलब्धौ।

९३ नास्त्यत्र गुहायाम् मृगक्रीडनं मृगारिसंशब्दनात् कारणविरुद्धकार्य विरुद्धकार्योपलब्धौ यथा।

९४ व्युत्पन्न प्रयोगस्तु तथोपपत्त्याऽन्यथानुपपत्त्यैव वा।

९५ अग्निमानयं देशस्तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेर्धूमवत्त्वान्यथानुपपत्ते र्वा।

९६ हेतुप्रयोगो हि यथा व्याप्तिग्रहणं विधीयते सा च तावन्मात्रेण व्युत्पन्नैरवधार्यते।

९७ तावता च साध्यसिद्धिः।

९८ तेन पक्षस्तदाधार सूचनायोक्तः।

९९ आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः।

१०० सहज योग्यता संकेत वशाद्धि शब्दादयो-वस्तुप्रतिपत्ति हेतवः।

१०१ यथा मेर्वादयः सन्ति।

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

१ सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः।

२ अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात्पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थिति लक्षणपरिणामेनार्था क्रियोपपत्तेश्च।

३ सामान्यं द्वेधा, तिर्यगूर्ध्वताभेदात्।

४ सदृश परिणामस्तिर्यक्, खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्।

५ परापरविवर्त्तव्यापि द्रव्य मूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु।

६ विशेषश्च।

७ पर्यायव्यतिरेकभेदात्।

८ एकस्मिन्द्रव्ये क्रमभाविनः परिणामाः पर्याया आत्मनि हर्ष विषादादिवत्।

९ अर्थान्तरगतो विसदृश परिणामो व्यतिरेको गोमहिषादिवत्।

अथ पञ्चमः परिच्छेदः

१ अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।

२ प्रमाणादभिन्नं भिन्नञ्च।

३ यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति प्रतीतेः।

अथ षष्ठः परिच्छेदः

१ ततोऽन्यत्तदाभासम्।

२ अस्वसंविदितगृहीतार्थ दर्शन संशयादयः प्रमाणाभासाः।

३ स्वविषयोपदर्शकत्वाभावात्।

४ पुरुषान्तर पूर्वार्थगच्छत्तृणस्पर्श स्थाणु पुरुषादि ज्ञानवत्।

५ चक्षुरसयोर्द्रव्ये संयुक्तसमवायवच्च।

६ अवैशद्ये प्रत्यक्षं तदाभासं बौद्धस्या कस्माद्धमदर्शनाद्वह्निविज्ञानवत्।

७ वैशद्येऽपि परोक्षं तदाभासं मीमांसकस्य करणज्ञानवत्।

८ अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्मरणाभासम्, जिनदत्ते स देवदत्तो यथा।

९ सदृशे तदेवेदं तस्मिन्नेव तेन सदृशं यमलकवदित्यादि प्रत्यभिज्ञानाभासम्।

१० असम्बद्धे तज्ज्ञानं तर्काभासम्, यावांस्तत्पुत्रः स श्यामो यथा।

११ इदमनुमानाभासम्।

१२ तत्रानिष्टादिः पक्षाभासः।

१३ अनिष्टो मीमांसकस्यानित्यः शब्दः।

१४ सिद्धः श्रावणः शब्दः।

१५ बाधितः प्रत्यक्षानुमानागम लोक स्ववचनैः।

१६ अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वाज्जलवत्।

१७ अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात् घटवत्।

१८ प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वाद धर्मवत्।

१९ शुचि नरशिरः कपालं प्राण्यङ्गत्वाच्छङ्ख शुक्तिवत्।

२० माता मे बन्ध्या पुरुष संयोगेऽप्यगर्भत्वात् प्रसिद्धबन्ध्यावत्।

२१ हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः।

२२ असत्सत्तानिश्चयोऽसिद्धः।

२३ अविद्यमानसत्ताकः परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात्।

२४ स्वरूपेणासत्वात्।

२५ अविद्यमाननिश्चयो मुग्धबुद्धि प्रत्यग्निरत्र धूमात्।

२६ तस्य वाष्पादिभावेन भूतसंघाते संदेहात्।

२७ सांख्यं प्रति परिणामी शब्दः कृतकत्वात्।

२८ तेनाज्ञातत्वात्।

२९ विपरीत निश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्।

३० विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः।

३१ निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्।

३२ आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात्।

३३ शङ्कितवृत्तिस्तु नास्ति सर्वज्ञो वक्तृत्वात्।

३४ सर्वज्ञत्वेन वक्तृत्वाविरोधात्।

३५ सिद्धे प्रत्यक्षादि बाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः।

३६ सिद्धः श्रावणः शब्दः शब्दत्वात्।

३७ किञ्चिदकरणात्।

३८ यथाऽनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादित्यादौ किञ्चित्कर्तुमशक्यत्वात्।

३९ लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्न प्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्।

४० दृष्टान्ताभाषा अन्वयेऽसिद्धसाध्यसाधनोभयाः।

४१ अपौरुषेयः शब्दोऽमूर्तत्वादिन्द्रिय सुख परमाणु घटवत्।

४२ विपरीतान्वयश्च यदपौरुषेयं तदमूर्तम्।

४३ विद्युदादिनाऽति प्रसंगात्।

४४ व्यतिरेकेऽसिद्धतद्व्यतिरेकाःपरमाण्विन्द्रियसुखाकाशवत्

४५ विपरीतव्यतिरेकश्च यन्नामूर्तं तन्नापौरुषेयम्।

४६ बालप्रयोगाभासः पंचावयवेषु कियद्धीनता।

४७ अग्निमानयं देशो धूमवत्वात् यदित्थं तदित्थं यथा महानस इति।

४८ धूमवांश्चायमिति वा।

४९ तस्मादग्निमान् धूमवांश्चायमिति।

५० स्पष्टतया प्रकृतप्रतिपत्तेरयोगात्।

५१ रागद्वेषमोहाक्रान्त पुरुषवचनाज्जातमागमाभासम् ।

५२ यथा नद्यास्तीरे मोदकराशयः सन्ति धावध्वं माणवकाः ।

५३ अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्त इति च ।

५४ विसंवादात् ।

५५ प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमित्यादि संख्याभासम् ।

५६ लौकायतिकस्य प्रत्यक्षतः परलोकादिनिषेधस्य परबुद्ध्यादेश्चासिद्धेरतद्विषयत्वात् ।

५७ सौगतसांख्ययौगप्राभाकरजैमिनीयानाम्-प्रत्यक्षानुमानागमोपमानार्थापत्त्यभावै रेकैकाधिकैर्व्याप्तिवत् ।

५८ अनुमानादेस्तद्विषयत्वे प्रमाणान्तरत्वम् ।

५९ तर्कस्येव व्याप्तिगोचरत्वे प्रमाणान्तरत्वम् अप्रमाणस्याव्यवस्थापकत्वात् ।

६० प्रतिभासभेदस्य च भेदकत्वात् ।

६१ विषयाभासः सामान्यं विशेषो द्वयं वा स्वतन्त्रम् ।

६२ तथाऽप्रतिभासनात्कार्याकरणाच्च ।

६३ समर्थस्य करणे सर्वदोत्पत्तिरनपेक्षत्वात् ।

६४ परापेक्षणे परिणामित्वमन्यथा तदभावात् ।

६५ स्वयमसमर्थस्य अकारकत्वात्पूर्ववत् ।

६६ फलाभासं प्रमाणादभिन्नं भिन्नमेव वा ।

६७ अभेदे तद्व्यवहारानुपपत्तेः ।

६८ व्यावृत्त्याऽपि न तत्कल्पना फलान्तराद्-व्यावृत्त्याऽफलत्वप्रसंगात् ।

६९ प्रमाणाद्व्यावृत्त्येवाप्रमाणत्वस्य ।

७० तस्माद्वास्तवो भेदः ।

७१ भेदे त्वात्मान्तरवत्तदनुपपत्तेः ।

७२ समवायेऽतिप्रसंगः ।

७३ प्रमाणतदाभासौ दुष्टतयोद्भावितौ परिहृतापरिहृतदोषौ वादिनः साधनतदाभासौ प्रतिवादिनो दूषणभूषणे च ।

७४ संभवदन्यद्विचारणीयम् ।

परीक्षामुखमादर्शं हेयोपादेयतत्त्वयोः ।
संविदे मादृशो बालः परीक्षादक्ष वद् व्यधाम् ।।१।।

।। इति परीक्षामुखसूत्र पाठ समाप्त ।।

विशिष्ट शब्दावली

(अ) अर्थकारणवाद—ज्ञान पदार्थ से उत्पन्न होता है ऐसा नैयायिक तथा बौद्ध मानते हैं इसको अर्थ कारणवाद कहते हैं।

अशेषार्थ गोचरत्व—पारमार्थ प्रत्यक्ष प्रमाण अशेष (संपूर्ण) पदार्थों को विषय करता है, इसको अशेषार्थ गोचरत्व कहते हैं।

अन्यादृश - अन्य तरह का।

अकिंचिज्ञ—किंचित न जानकर अशेष को जानने वाले सर्वज्ञ को अकिंचिज्ञ कहते हैं।

अवेदज्ञ—वेद को नहीं जानने वाला।

अव्युत्पन्न—अजानकार, अनुमानादि के विषय में अज्ञानी।

अदृष्ट—भाग्य, नहीं देखा हुआ पदार्थ, वैशेषिक आदि पुण्य पाप को अदृष्ट कहते हैं एवं उसको आत्मा का गुण मानते हैं।

अकृष्टप्रभव—बिना बोये उगने धान्य तृण आदि।

अन्वय-व्यतिरेक—साध्य के होने पर साधना का होना अन्वय है, साध्य के अभाव में साधन का नहीं होना व्यतिरेक है।

अविद्धकर्ण—नहीं छेदा गया है कर्ण जिसका उस व्यक्ति को अविद्धकर्ण कहते हैं। यौग मत के एक ग्रन्थकार का नाम अविद्ध कर्ण है।

अपवर्ग—मोक्ष।

अहंकार—गर्व को अहंकार कहते हैं। सांख्य का कहना है कि प्रधानतत्त्व से महान् (बुद्धि) और महान् से अहंकार आविर्भूत होता है।

अंडज—अंडे से उत्पन्न होने वाले पक्षी को अंडज कहते हैं।

अनेकांत—अनेके अंताः धर्माः यस्मिन् स अनेकांतः जिसमें अनेक धर्म (स्वभाव या गुण) पाये जाते हैं उसको अनेकांत कहते हैं। जैन प्रत्येक पदार्थ को अनेक धर्म रूप मानते हैं अतः इस मत को अनेकांत मत भी कहते हैं।

अनेकांत नाम का एक हेतु का दोष भी माना है, अथवा जो कथन व्यभिचरित होता है उसे भी अनेकांत कहते हैं।

अभ्युदय—इस लोक सम्बन्धी तथा देवगति सम्बन्धी सुख एवं वैभव को अभ्युदय कहते हैं।

अक्रमानेकांत—गुणों को अक्रम अनेकांत कहते हैं। द्रव्य गुणों की अक्रम अर्थात् युगपत्वृत्ति होती है।

अप्रेतप्रतिबन्धकत्व—प्रतिबन्धक से (रुकावट) रहित होना।

अविचारक ज्ञान – विचार रहित निर्विकल्प ज्ञान।

अनुमान—"साधनात् साध्य विज्ञानमनुमानम्" साधन (हेतु) से होने वाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

अबाधित विषयत्व—अनुमान में स्थित हेतु बाधा रहित पक्ष वाला या साध्य वाला होना अबाधित विषयत्व है।

असत् प्रतिपक्षत्व—तुल्य बलवाला अन्य हेतु जिसके पक्ष को बाधित नहीं करता उस हेतु को असत् प्रतिपक्षत्व गुण वाला हेतु कहते हैं।

अन्तर्व्याप्ति—हेतु का केवल पक्ष में ही व्याप्त रहना अन्तर्व्याप्ति कहलाती है।

अरिष्ट—शकुन को अरिष्ट कहते हैं तथा अपशकुन को भी अरिष्ट कहते हैं।

अस्मर्यमाण कर्तृत्व—कर्त्ता का स्मरण नहीं होना अस्मर्यमाण कर्तृत्व कहलाता है।

अश्रुतकाव्य—जिस काव्य को सुना न हो।

अपोहवाद—गो आदि संपूर्ण शब्द अर्थ के वाचक न होकर केवल अन्य के निषेधक हैं ऐसी बौद्ध की मान्यता है।

अन्यापोह—अन्य का अपोह अर्थात् व्यावर्त्तन या निषेध।

अकृतसमयध्वनि—जिसमें संकेत नहीं किया है ऐसी ध्वनि को अकृतसमयध्वनि कहते हैं।

अन्विताभिधानवाद—वाक्य में स्थित पद सर्वथा वाक्यार्थ से अन्वित (सम्बद्ध) ही रहते हैं ऐसा प्रभाकर का (मीमांसक का एक भेद) मत है।

अभिहितान्वयवाद—वाक्य में स्थित प्रत्येक पद वाक्य के अर्थ को कहता है ऐसा भाट्ट मानता है।

अभिधीयमान—कहने में आ रहा अर्थ या शब्द अभिधीयमान कहलाता है।

अधर्म—पाप को अधर्म कहते हैं। कुसंस्कार को या पापवर्द्धक क्रिया को भी अधर्म कहते हैं।

अनन्वय—हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति नहीं होना।

अनुविद्ध—सम्बद्ध या व्याप्त को अनुविद्ध कहते हैं।

अननुविद्ध—सम्बद्ध या व्याप्त नहीं रहना।

अनुपलंभ— अप्राप्त होना या उपलब्ध नहीं होने को अनुपलंभ कहते हैं।

अप्रयोजक हेतु—"सपक्षव्यापक पक्ष व्यावृत्तः हि उपाधि आहित सम्बन्धः हेतुः" अर्थात् सपक्ष में व्यापक और पक्ष से व्यावृत्त होने वाला उपाधियुक्त अप्रयोजक कहलाता है।

अपौरुषेय—पुरुष प्रयत्न से रहित को अपौरुषेय कहते हैं।

अनुसंधान—जोड़ को अनुसंधान कहते हैं।

अंतरंग – "अव्यभिचारि प्रतिनियतम् अन्तरंगम्" अर्थात् अव्यभिचारपने से नियत होने को अन्तरंग कहते हैं।

अश्वविषाण—घोड़े के सींग (नहीं होते)

अनुगत प्रत्यय—यह गो है यह गो है ऐसे सदृशाकार ज्ञान को अनुगत प्रत्यय कहते हैं।

अपनीति—हटाना

अनतिशयव्यावृत्ति—अतिशय रहित पने का हट जाना अर्थात् अतिशय आना।

अन्ध सर्प बिलप्रवेश न्याय—अन्धा सर्प चींटी आदि के कारण बिल से निकलकर इधर उधर घूमता है और पुनः उसी बिल में प्रविष्ट होता है वैसे ही जैनेतर प्रवादी अनेकांतमय सिद्धांत को प्रथम तो मानते नहीं किन्तु घूम फिर कर अन्य प्रकार से उसी को स्वीकृत कर लेते हैं उसे अन्ध सर्प बिल प्रवेश न्याय कहते हैं।

(आ) आलोककारणवाद—आलोक अर्थात् प्रकाश ज्ञानका कारण है ऐसा नैयायिक मानते हैं।

आवरण—ढकने वाला वस्त्र या कर्म आदि पदार्थ।

आवारक—शब्द को एक विशिष्ट वायु रोकती है उसे आवारक कहते हैं ऐसा मीमांसक मानते हैं।

(ई) ईश्वरवाद—नैयायिक वैशेषिक, सांख्यादि प्रवादीगण ईश्वर कर्तृत्व को मानते हैं, इनका कहना है कि जगत् के यावन्मात्र पदार्थ ईश्वर द्वारा निर्मित हैं, वह सर्व शक्तिमान् सर्वज्ञ सर्वदर्शी है इत्यादि।

(उ) उद्योतकर—न्यायदर्शन का मान्य ग्रन्थकार।

उद्भूतवृत्ति—प्रगट होना।

उदात्त—उच्चस्वर से बोलने योग्य शब्द। ऊंचे विचार को भी उदात्त कहते हैं।

उभयसिद्ध धर्मी—प्रमाण तथा बिकल्प द्वारा सिद्ध धर्मी (पक्ष) को उभयसिद्ध धर्मी कहते हैं।

उपलंभ—प्राप्त या उपलब्ध को उपलंभ कहते हैं।

उदंचन—जल सिंचने का पात्रविशेष।

(ऊ) ऊह—तर्क प्रमाण को कहते हैं।

(क) कामला—पीलिया रोग को कामला कहते हैं।

किंचिज्ञ—अल्पज्ञानी।

कवलाहार—अरहंत अवस्था में भगवान केवली भोजन करते हैं ऐसा श्वेताम्बर मानते हैं। कवल अर्थात् ग्रास का आहार कवलाहार कहलाता है।

क्रमानेकांत—क्रमिक अनेकांत को क्रमानेकांत कहते हैं। द्रव्य में पर्यायें क्रम से होती हैं उसे भी क्रमानेकांत कहते हैं।

कालात्ययापदिष्ट—प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित हेतु को कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास कहते हैं।
कुमारिल—मीमांसक मत के ग्रंथकार।
कर्क—सफेद घोड़ा।
कारककारण—कार्य को करने वाले कारण को कारककारण कहते हैं।

(ख) खपुष्प—आकाश का फूल (नहीं होता)
ख—आकाश, तथा लोपको ख कहते हैं।
खरविषाण—गधे के सींग (नहीं होते)

(ग) ग्राहय-ग्राहक—ग्रहण करने योग्य तथा ग्रहण करने वाला।
गृहीतग्राही—जानी हुई वस्तु को जानने वाले ज्ञान को गृहीतग्राही कहते हैं।
गमक हेतु—साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु।
गोत्रस्खलन—मुख से कुछ अन्य कहना चाहते हुए भी कुछ अन्य नामादिका उच्चारण हो जाना गोत्रस्खलन कहलाता है।
गम्यमान—ज्ञात हो रहा अर्थ।

(च) चर्यामार्ग—जैन साधु आहारार्थ निकलते हैं उस विधि को चर्यामार्ग कहते हैं।
चैतन्य प्रभव प्राणादि—चैतन्य के निमित्त से होने वाले श्वासादिप्राण।
चित्रज्ञान—अनेक आकार जिसमें प्रतीत हो रहे उस ज्ञान को चित्रज्ञान कहते हैं।
चोदना—मीमांसक वेद को चोदना भी कहते हैं। चोदना का अर्थ प्रश्न तथा प्रेरणा भी होता है।

(छ) छिन्नमूल—जिसका मूल छिन्न हुआ हो उसे छिन्नमूल कहते हैं वेद को प्रमाण मानने वाले मीमांसक आदि का कहना है कि वेद कर्त्ता का छिन्नमूल है अर्थात् उसका मूल में (शुरु में) ही कोई कर्त्ता नहीं है।

(ज) जाति—न्यायग्रंथ में सामान्य को या सामान्यधर्म को जाति कहते हैं। जन्य का नाम भी जाति है, तथा माता पक्ष की संतान परम्परा को जाति कहते हैं।
जैमिनि—मीमांसक मत के मान्य ग्रंथकार।
जन्य-जनक—उत्पन्न करने योग्य पदार्थ को जन्य और उत्पन्न करने वाले को जनक कहते हैं।

(त) तादात्विक—उसकाल का, तत्काल का।
त्रिदश—देव।
त्रैरुप्यवाद—बौद्ध हेतु के तीन अंग या गुण मानते हैं—पक्षधर्म, सपक्षसत्त्व और विपक्ष व्यावृत्ति, इसी को त्रैरुप्यवाद कहते हैं।

त्रिगुणात्मक—तीन गुण वाला, प्रधान तत्त्व में सत्त्व रज और तम ऐसे तीन गुण होते हैं ऐसा सांख्य मानते हैं।

तर्क प्रमाणवाद—जहां जहां साधन (हेतु) होता है वहां वहां साध्य अवश्य होता है इत्यादि रूप से साध्य साधन को सर्वोपसंहार से ज्ञात करने वाला ज्ञान तर्क प्रमाण कहलाता है। इसी को तर्क प्रमाणवाद कहते हैं।

(द) द्रव्य वाक्य—शब्द रूप वचन रचना एवं लिखित रचना को द्रव्य वाक्य कहते हैं।

दृष्टेष्ट विरुद्ध वाक्—दृष्ट-प्रत्यक्ष और इष्ट मायने परोक्ष इन दोनों प्रमाणों से विरुद्ध वचन को दृष्टेष्ट विरुद्ध वाक् कहलाती है।

(ध) धर्म—पुण्य। धर्म द्रव्य। सच्चे शाश्वत सुख में धरने वाला धर्म।

(न) निर्जरा—कर्मों का एक देश क्षय होना या झड़ जाना निर्जरा कहलाती है।

निवर्त्तमान—नास्ति रूप से प्रतिभासित होने वाला ज्ञान। लौटता हुआ।

निःश्रेयस - मोक्ष या मुक्ति।

नैरात्म्यभावना—चित्त सन्तान का निरन्वय नाश होता है अर्थात् मोक्ष में आत्मा नष्ट होता है, ऐसा बौद्ध का कहना है, जगत के यावन्मात्र विवाद तथा संकल्प विकल्प आत्मा मूलक है अतः आत्मा का आस्तित्व ही स्वीकार नहीं करना चाहिये ऐसा माध्यमिक आदि बौद्ध का कहना है। इसी भावना को नैरात्म्य भावना कहते हैं।

निरवयव—अवयव रहित।

निरन्वय—मूल से समाप्त होना।

(प) परिच्छेद—जानने योग्य।

प्रधान—सांख्य मत का एक तत्त्व, प्रमुख को भी प्रधान कहते हैं।

प्रकृति—सांख्य के प्रधान का दूसरा नाम प्रकृति है। प्रकृति का अर्थ स्वभाव भी है।

प्रमेय—प्रमाण द्वारा जानने योग्य पदार्थ।

प्रवर्त्तमान—अस्तित्व रूप से प्रवृत्ति करने वाला प्रमाण।

प्रशस्तमति—यौग मत का ग्रन्थकार।

प्रकृतिकर्तृत्ववाद—सांख्य का कहना है कि प्रकृति नाम का जड़ तत्त्व जगत का कर्ता है।

प्रेक्षावान्—बुद्धिमान्।

परमौदारिक—सप्त धातु रहित अरिहंतका शरीर।

परघात—जिस कर्म के उदय से पर के घात करने वाले शरीर के अवयव बने उस कर्म को परघात नाम कर्म कहते हैं।

प्रत्यवाय—विघ्न।

प्राणादि प्रभव प्राणादि—प्राणादि से उत्पन्न होने वाले प्राणादि।

परम प्रकर्ष—उत्कृष्ट रूप से वृद्धि।

प्रत्यभिज्ञान प्रामाण्यवाद—जोड़ रूप प्रत्यभिज्ञान को इस प्रकरण में प्रमाणभूत सिद्ध किया है।

परिशोधक—विषय का शोधन करने वाला ज्ञान परिशोधक कहलाता है।

प्रत्यक्ष पृष्ट भावी विकल्प ज्ञान—निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान के पीछे विकल्प ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा बौद्ध मानते हैं।

पक्ष—साध्य के आधार को पक्ष कहते हैं।

पांचरूप्यवाद—नैयायिक हेतु के पांच गुण मानते हैं—पक्ष धर्म, सपक्ष सत्व, विपक्ष व्यावृत्ति, अबाधित विषय और असत्प्रतिपक्षत्व।

प्रसज्य प्रतिषेध—सर्वथा निषेध या अभाव को प्रसज्य प्रतिषेध कहते हैं।

पर्युदासप्रतिषेध—किसी अपेक्षा से निषेध या भावांतर स्वभाव वाले अभाव को पर्युदास कहते हैं।

पूर्ववदाद्यनुमान त्रैविध्यनिरास—नैयायिक अनुमान के तीन प्रकार मानते हैं—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्य तो दृष्ट, इस मान्यता का जैन ने निरसन किया है।

प्रमाण सिद्ध धर्मी—प्रत्यक्ष प्रमाण से पक्ष के सिद्ध रहने को प्रमाण सिद्ध धर्मी कहते हैं।

प्रतिज्ञा—धर्म धर्मी समुदायः प्रतिज्ञा, धर्म और धर्मी अर्थात् साध्य और पक्ष को कहना प्रतिज्ञा कहलाती है। व्रत या नियम आदि के लेने को भी प्रतिज्ञा कहते हैं।

प्रज्ञाकर गुप्त—बौद्ध ग्रन्थकार।

प्रभाकर—मीमांसक के एक भेद स्वरूप प्रभाकर नामा ग्रन्थकार के अभिप्राय को मानने वाले प्रभाकर कहलाते हैं।

प्रतिविहित—खंडित।

प्रकरणसमहेत्वाभास—वादी प्रतिवादी दोनों के पक्ष का हेतु समान रूप से स्वसाध्य का साधक होना अर्थात् तुल्य बल वाला होना प्रकरणसम नामा हेत्वाभास है, इसको यौग मानते हैं।

प्रतिबन्ध—अविनाभाव सम्बन्ध का दूसरा नाम प्रतिबन्ध है।

प्रतिबन्धक—रोकने वाला।

प्रेरणा—वेद।

पौरुषेय—पुरुषकृत।

प्रक्षालिताशुचिमोदक परित्यागन्याय—कोई भिक्षु आदि मार्ग से मोदक (लड्डू) ले जा रहा था हाथ से मोदक नाली में गिरा उसको लोभ वश पहले तो उठाकर धो लिया किन्तु पीछे

ग्लानि तथा लोक की हँसी के कारण उसको छोड़ दिया उसी प्रकार पहले किसी बात को स्वीकार करके पीछे मर्यादि के कारण उसको छोड़ देना "प्रक्षालिताशुचिमोदकपरित्यागन्याय" कहलाता है।

(ब) बुद्धिमद्धेतुक—बुद्धिमान कारण से होने वाला

बुभुक्षा—भोजन की वांछा।

बला तैल—सर्व शब्दों को श्रवण की शक्ति को उत्पन्न करने वाला तेल।

(भ) भावनाज्ञान—किसी एक विषय में मनके तल्लीन होने से उसका सामने नहीं होते हुए भी प्रत्यक्षवत् प्रतिभास होने को भावना ज्ञान कहते हैं।

भाव वाक्य—वचन द्वारा अंतरंग में होने वाला ज्ञान।

भाट्ट—मीमांसक का एक प्रभेद-भट्ट नाम के ग्रंथकार के सिद्धांत को मानने वाला।

(म) महाभूत—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इनको महाभूत कहते हैं, इनके सूक्ष्म महाभूत तथा स्थूल महाभूत ऐसे दो भेद हैं।

महान्—प्रकृति तत्त्व से महान् (बुद्धि) उत्पन्न होता है ऐसा सांख्य मानते हैं।

मिद्ध—निद्रा

महानस—रसोई घर

मोक्ष स्वरूप विचार—अनन्तचतुष्टय स्वरूप मोक्ष होता है इसको इस प्रकरण में सिद्ध किया है।

(य) योगज धर्म—ध्यान के प्रभाव से होने वाला अतिशय ज्ञान आदि।

(र) रथ्या पुरुष—पागल, गली में भ्रमण करने वाला।

(ल) लिंग-लिंगी सम्बन्ध—साधन और साध्य का सम्बन्ध।

लक्षित लक्षणा—लक्षितेन (सामान्येन-ज्ञातेन) लक्षणा-विशेष प्रतिपत्ति, अर्थात् सामान्य के ज्ञात होने से उसके द्वारा विशेष का निश्चय होना लक्षित लक्षणा कहलाती है।

(व) विवर्त्त—पर्याय, अवस्था।

विपाकान्त—फल देने तक रहने वाला (कर्म)

व्यक्ति - विशेष भेद-प्रभेद

विपर्यय—विपरीत,

व्याप्य-व्यापक—"व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च" अर्थात्—

वाच्य-वाचक—कहने योग्य पदार्थ को वाच्य और कहने वाले शब्द को वाचक कहते हैं।

व्युत्पन्नप्रतिपत्तृ—अनुमान व्याकरण या अन्य किसी विषय में प्रवीण पुरुष को व्युत्पन्नप्रतिपत्तृ कहते हैं।

विकल्प ज्ञान—यह घट है इत्यादि साकार ज्ञान को विकल्प ज्ञान कहते हैं।

विपक्ष—जहां साध्य नहीं रहता उस स्थान को विपक्ष कहते हैं, प्रतिपक्ष को भी विपक्ष कहते हैं।

वादी-प्रतिवादी—वाद विवाद में जो पुरुष पहले अपना पक्ष उपस्थित करता है उसे वादी और उसके विरुद्ध पक्ष रखने वाला प्रतिवादी कहलाता है।

विकल्पसिद्धधर्मी - जो धर्मी अर्थात् पक्ष प्रत्यक्ष से सिद्ध न हो उसे विकल्पसिद्ध धर्मी कहते हैं।

वेदापौरुषेयवाद—वेद को अपौरुषेय अर्थात् किसी भी पुरुषादि द्वारा रचा नहीं है ऐसा मीमांसक आदि परवादी मानते हैं उसको वेदापौरुषेयवाद कहते हैं।

व्याचिख्या—कहने की इच्छा,

व्यंजकध्वनि—व्यंजकध्वनि नामा कोई एक पदार्थ है वह शब्द को प्रगट करता है ऐसा शब्द नित्य वादी मीमांसक आदि का कहना है।

वासना—संस्कार, आसक्ति,

विप्रकृष्ट—दूर,

व्यवस्था "विशिष्ट स्थिति कारणं व्यवस्था" विशिष्ट स्थिति का जो कारण है उसे व्यवस्था कहते हैं।

विनष्टाक्ष—नष्ट हो गई है आंखे जिसकी उसे विनष्टाक्ष कहते है।

व्यावृत्तप्रत्यय—यह इससे भिन्न है इत्यादि आकार वाले ज्ञान को व्यावृत्तप्रत्यय कहते हैं।

व्यंजककारण—वस्तु को प्रगट या प्रकाशित करने वाला कारण व्यंजककारण कहलाता है।

व्यंग्य-व्यंजक—प्रगट करने योग्य को व्यंग्य और प्रगट करने वाले को व्यंजक कहते हैं।

व्यवच्छेद्य-व्यवच्छेदक—पृथक् करने योग्य अथवा जानने योग्य पदार्थ को व्यवच्छेद्य कहते हैं और पृथक् करने वाले अथवा जानने वाले को व्यवच्छेदक कहते हैं।

व्यधिकरणासिद्ध हेत्वाभास—साध्य और हेतु का अधिकरण भिन्न भिन्न होना व्यधिकरणासिद्ध हेत्वाभास कहलाता है।

(श) शाबलेय—चितकबरी गाय आदि पशु।

शब्द नित्यत्ववाद—शब्द आकाश गुण है एवं वह सर्वथा नित्य एक और व्यापक ऐसा मीमांसक आदि मानते हैं।

(स) संवर—कर्मों का आना रुकना संवर कहलाता है,

सदुपलंभ प्रमाण पंचक—अस्तित्व को ग्रहण करने वाले प्रत्यक्ष अनुमान, आगम, उपमा और अर्थापत्ति ये पांच प्रमाण हैं ऐसा मीमांसक आदि मानते हैं, इनका कहना है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण केवल सत् या अस्तित्व को ही जान सकते हैं असत् या अभाव को नहीं।

स्वार्थातिलंघन—अपने विषय का उल्लंघन,

साध्यधर्मी—अनुमान द्वारा जिसको सिद्ध करना है उसको साध्य तथा उस साध्य के रहने के स्थान को धर्मी कहते हैं।

सुनिश्चिता संभवत् बाधक प्रमाण—जिसमें नियम से बाधक प्रमाण संभव न हो उस प्रमाण को सुनिश्चित असंभव बाधक प्रमाण कहते हैं।

संवाद—विवक्षित प्रमाण का समर्थन करने वाला प्रमाण संवाद कहलाता है।

सन्दिग्धव्यतिरेक—हेतु का विपक्ष में व्यतिरेक अर्थात् नहीं रहना संशयास्पद हो तो उस हेतु को सन्दिग्ध व्यतिरेक कहते हैं।

सत्तासमवाय—वस्तु की सत्ता अर्थात् अस्तित्व समवाय नामा किसी अन्य पदार्थ से होता है ऐसा सत्तासमवाय मानने वाले नैयायिकादि प्रवादी कहते हैं।

सर्ग—रचना, उत्पत्ति।

समर्थ स्वभाव—जिसमें स्वयं समर्थ स्वभाव होवे।

सर्वज्ञत्ववाद—सर्वज्ञ को मीमांसक नहीं मानते उस मान्यता का इस सर्वज्ञत्ववाद प्रकरण में खण्डन किया है।

सत्कार्यवाद—सांख्य प्रत्येक कार्य को कारण में सदा से मौजूद ही ऐसा मानते हैं, इस मान्यता को सत्कार्यवाद कहते हैं, इनका कहना है कि बीज में अंकुर, मिट्टी में घट इत्यादि पहले से ही रहते हैं।

समवशरण—अर्हंत तीर्थंकर भगवान की धर्मोपदेश की सभा जिसमें असंख्य भव्य प्राणियों को मोक्षमार्ग का उपदेश एवं शरण मिलती है।

संतान—बौद्ध प्रत्येक वस्तु को क्षण भंगुर मानते हैं, अर्थात् वस्तु प्रतिक्षण नष्ट होती हैं किन्तु तत्सम तत्काल दूसरी प्रादुर्भूत होती है उसी को संतान कहते हैं। व्यवहार में अपने पुत्र पुत्रियों को भी संतान कहते हैं।

सुषुप्त—निद्रित।

सान्वयचित्तसंतान—यह चित्त है यह चित्त है इस प्रकार के अन्वय सहित चित्त अर्थात् चैतन्य की परंपरा को सान्वयचित्त सन्तान कहते हैं।

स्वाप—निद्रा।

स्त्रीमुक्ति विचार—श्वेताम्बर स्त्रियों को उसी पर्याय में मुक्ति होना मानते हैं उसका इस प्रकरण में खंडन किया है।

सचेलसंयम—वस्त्र सहित संयम, स्त्रियों के वस्त्र सहित संयम ही संभव है, वह वस्त्र त्याग नहीं कर सकती अतः इसके संयम को सचेल संयम कहते हैं।

स्मृतिप्रामाण्यवाद—स्मरण ज्ञान को इस प्रकरण में प्रमाणभूत सिद्ध किया है।

समारोप व्यवच्छेदक—संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को समारोप कहते हैं इनको दूर करने वाले प्रमाण को समारोप व्यवच्छेदक कहते हैं।

संज्ञा संज्ञि सम्बन्ध—नाम और नाम वाले पदार्थ के सम्बन्ध को संज्ञा संज्ञि सम्बन्ध कहते हैं।

सकृत—एक बार,

सपक्ष—पक्ष के समान साध्य धर्म जिसमें रहे उसको सपक्ष कहते हैं।

सदसद् वर्ग—सद् वर्ग-सद्भाव रूप पदार्थों का समूह, असद् वर्ग-अभाव रूप पदार्थों का समूह इन दोनों को सदसद् वर्ग कहते हैं।

सकल व्याप्ति—पक्ष और सपक्ष दोनों में हेतु की व्याप्ति रहना सकल व्याप्ति कहलाती है।

सात्मकम्—आत्मा सहित शरीर को सात्मक कहते हैं।

सम्प्रदाय विच्छेद—परम्परा का विच्छेद-नष्ट होना।

सहज योग्यता—स्वभाव से होने वाली योग्यता को सहज योग्यता कहते हैं।

स्फोटवाद—गो, घट आदि शब्द द्वारा तद् वाच्य पदार्थ का ज्ञान नहीं होता किन्तु निरवयव एक व्यापक स्फोट नामा अमूर्त्त वस्तु द्वारा गो आदि पदार्थों का ज्ञान होता है, व्यंजक-ध्वनि आदि से उस स्फोट की अभिव्यक्ति होती है और उससे अर्थ बोध होता है ऐसा भर्तृहरि आदि वैयाकरणों का पक्ष है उसका इस प्रकरण में खंडन किया है।

संवेदन प्रभव संस्कार—ज्ञान से उत्पन्न होने वाला संस्कार।

सर्वक्षेप—पूर्ण रूप से स्वीकार।

संकलन—जोड़

सुविवेचित— भली प्रकार से विचार में लाया गया।

स्वरूप परिपोष—स्वरूप को पुष्ट करना।

सिद्ध साध्यता—जो प्रसिद्ध है उसको साध्य बनाना सिद्ध साध्यता नामका दोष है।

सारूप्य—बौद्ध ग्रन्थ में सदृश या समानाकार को सारूप्य नाम से कहा जाता है।

(ह) हेतु—"साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः" साध्य के साथ जिसका अविनाभाव सम्बन्ध है उसे हेतु कहते हैं। कारण को या निमित्त को भी हेतु कहते हैं।

भारतीय दर्शनोंका अति संक्षिप्त परिचय—

जैन दर्शन

जैन दर्शन में सात तत्व माने हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। जिसमें चैतन्य पाया जाता है वह जीव है, चेतनता से रहित अजीव है (इसके पांच भेद हैं-पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल) जीवके विकारी भावोंसे कर्मोंका जीवके प्रदेशोंमें आना आस्रव है, उन कर्मोंका जीव प्रदेशोंके साथ विशिष्ट प्रकारसे निश्चित अवधि तक सम्बद्ध होना बंध कहलाता है, परिणाम विशेषद्वारा उन कर्मोंका आना रुक जाना संवर है। पूर्व संचित कर्मोंका कुछ कुछ झड़ जाना निर्जरा है और संपूर्ण कर्मोंका जीवसे पृथक् होना मोक्ष कहलाता है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल इसप्रकार छह मूलभूत द्रव्य हैं। उपर्युक्त साततत्वोंमें इन छह द्रव्योंका अंतर्भाव करें तो जीव तत्वमें जीव द्रव्य और अजीव तत्वमें पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल अंतर्निहित होते हैं, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष ये पांच तत्व जीव और अजीव स्वरूप पुद्गल मय जड़ तत्व जो कर्म है इन दोनों के संयोग से बनते हैं। चेतना स्वरूप जीव द्रव्य है, पुद्गल अर्थात् दृश्यमान जड़ द्रव्य।

धर्म द्रव्य—जीव और पुद्गलके गमन शक्तिका सहायक अमूर्त द्रव्य। अधर्म द्रव्य-जीव और पुद्गलके स्थिति का हेतु। सम्पूर्ण द्रव्योंका अवगाहन करानेवाला आकाश है और दिन, रात, वर्ष आदि समयोंका निमित्त भूत अमूर्त काल द्रव्य है।

प्रमाण संख्या—मुख्य दो प्रमाण हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष, दोनों प्रमाण ज्ञान स्वरूप ही हैं, आत्माके जिस ज्ञानमें विशदपना [स्पष्टतया] पाया जाता है वह प्रत्यक्ष प्रमाण है। अविशदपना [अस्पष्टता] जिसमें पाया जाता है वह परोक्ष प्रमाण है। इसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञानादि भेद हैं।

इन प्रमाणोंमें प्रामाण्य [सत्यता] अभ्यस्तदशामें स्वतः अनभ्यस्तदशा में परसे आया करती है।

जगत में यावन्मात्र कार्य होते हैं उनके प्रमुख दो कारण हैं, निमित्त और उपादान, जो कार्योत्पत्ति में सहायक हो वह निमित्त कारण है और जो स्वयं कार्य रूप परिणमे वह उपादान कारण है जैसे घट रूप कार्य का निमित्त कारण कुंभकार, चक्र आदि है और उपादान कारण मिट्टी है। कारण से कार्य कथंचित् भिन्न है, और कथंचित् अभिन्न भी है। प्रत्येक तत्व या द्रव्य अथवा पदार्थ अनेक अनेक [अनंत] गुण धर्मोंको लिये हुए हैं और इन गुण धर्मोंका विवक्षानुसार

प्रतिपादन होता है इसीको अनेकान्त-स्याद्वाद कहते हैं, वस्तु स्वयं अपने निजी स्वरूपसे अनेक गुणधर्म युक्त पायी जाती है, उसका प्रकाशन स्याद्वाद (कथंचितवाद) करता है। बहुत से विद्वान अनेकान्त और स्याद्वादका अर्थ न समझकर इनको विपरीत रूपसे मानते हैं, अर्थात् वस्तुके अनेक गुण धर्मोंको निजी न मानना तथा स्याद्वाद को शायद शब्दसे पुकारना, किन्तु यह गलत है, स्याद्वादका अर्थ शायद या संशयवाद नहीं है, अपितु किसी निश्चित एक दृष्टिकोणसे (जो कि उस विवक्षित वस्तुमें संभावित हो। वस्तु उस रूप है और अन्य दृष्टिकोणसे अन्य स्वरूप है, स्याद्वाद अनेकान्त का यहां विवेचन करे तो बहुत विस्तार होगा, जिज्ञासुओंको तत्त्वार्थवार्त्तिक, श्लोकवार्त्तिक आदिमूल ग्रन्थ या स्याद्वाद-अनेकान्त नामके लेख, निबध, ट्रेक्ट देखने चाहिये।

सृष्टि · यह संपूर्ण विश्व (जगत) अनादि निधन है अर्थात् इसको आदि नहीं है और अंत भी नहीं है, स्वयं शाश्वत इसी रूप परिणमित है, समयानुसार परिणमन विचित्र २ होता रहता है, जगत रचना या परिवर्त्तनके लिये ईश्वर की जरूरत नहीं है।

पूर्वोक्त पुद्गल—जड़ तत्वके दो भेद हैं, अणु या परमाणु और स्कंध दृश्यमान, ये विश्वके जितने भर भी पदार्थ हैं सब पुद्गल स्कंध स्वरूप हैं, चेतन जीव एवं धर्मादि द्रव्य अमूत-अदृश्य पदार्थ हैं। परमाणु उसे कहते हैं जिसका किसी प्रकार से भी विभाजन न हो, सबसे अन्तिम हिस्सा जिसका अब हिस्सा हो नहीं सकता, यह परमाणु नेत्र गम्य एवं सूक्ष्मदर्शी दुर्बीन गम्य भी नहीं है। स्निग्धता एवं रूक्षता धर्म के कारण परमाणुओं का परस्पर सबंध होता है इन्हींको स्कंध कहते हैं। जैन दर्शनमें सबका कर्त्ता हर्त्ता ईश्वर नही है, स्वयं प्रत्येक जीव अपने अपने कर्मोका निर्माता एवं हर्त्ता है, ईश्वर भगवान या आप्त कृतकृत्य, ज्ञानमय, हो चुके हैं उन्हें जीवके भाग्य या सृष्टि से कोई प्रयोजन नहीं है।

मुक्ति मार्ग—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र स्वरूप मुक्ति का मार्ग है, समीचीन तत्वोंका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है, मोक्षके प्रयोजनभूत तत्वोंका समीचीन ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है, पापाचरण के साथ साथ संपूर्ण मन वचन आदि की क्रियाका निरोध करना सम्यक्चारित्र है, अथवा प्रारंभदशामें अशुभ या पापारूप किया का (हिंसा, झूंठ आदिका एवं तीव्र राग द्वेषका) त्याग करना सम्यक् चारित्र है। इन तीनोंको रत्नत्रय कहते हैं, इनसे जीवके विकारके कारण जो कर्म है उसका आना एवं बँधना रुक जाता है।

मुक्ति—जीवका संपूर्ण कर्म और विकारी भावोंमे मुक्त होना मुक्ति कहलाती है, इसीको मोक्ष, निर्वाण आदि नामोंसे पुकारते हैं। मुक्तिमें अर्थात् आत्माके मुक्त अवस्था हो जानेपर वह शुद्ध बुद्ध, ज्ञाता द्रष्टा परमानंदमय रहता है, सदा इसी रूप रहता है, कभी भी पुनः कर्म युक्त नहीं होता। अनंतदर्शन, अनंतज्ञान, अनंतसुख और अनंतवीर्य से युक्त आत्माका अवस्थान होना, सर्वदा निराकुल होना हो मुक्ति है।

जैन दर्शन में—जगतके विषयमें, आत्माके विषय में, कर्म या भाग्यके विषयमें अर्थात् पुण्य पाप के विषयमें बहुत बहुत अधिक सूक्ष्मसे सूक्ष्म विवेचन पाया जाता है, इन जगत आदिके विषयमें जितना गहन, सूक्ष्म, और विस्तृत कथन जैन ग्रन्थोंमें है उतना अन्यत्र अंशमात्र भी दिखाई नहीं देता। यदि जगत् या सृष्टि अर्थात् विश्वके विषयमें अध्ययन करना होवे तो त्रिलोकसार, तत्त्वार्थ-सूत्र, लोक विभाग आदि ग्रन्थ पठनीय हैं। आत्मा विषयक अध्ययनमें परमात्मप्रकाश, प्रवचनसार समयसारादि ग्रन्थ उपयुक्त हैं। कर्म-पुण्य पाप आदिका गहन गंभीर विवेचन कर्मकांड (गोम्मटसार) पंचसंग्रह आदि अनेक ग्रन्थोंमें पाया जाता है। विश्वके संपूर्ण व्यवहार संबंधमें एवं अध्यात्मसंबंधमें अर्थात् लौकिक जीवन एवं धार्मिक जीवनका करणीय कृत्योंका इस दर्शनमें पूर्ण एवं खोज पूर्ण कथन पाया जाता है। अस्तु।

बौद्ध दर्शन

यह दर्शन क्षणिकवाद नाम से भी कहा जा सकता है क्योंकि प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ समूल चूल नष्ट होकर सर्वथा नया ही उत्पन्न होता है ऐसा बौद्ध ने माना है। इनके चार भेद हैं। वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक। वैभाषिक बाह्य और अभ्यंतर दोनों ही (दृश्य जड़ पदार्थ और चेतन आत्मा) पदार्थ प्रत्यक्ष ज्ञान गम्य हैं, वास्तविक हैं। ऐसा मानता है। सौत्रान्तिक बाह्य पदार्थों को मात्र अनुमान-गम्य मानता है। योगाचार तो बाह्य पदार्थ की सत्ता ही स्वीकार नहीं करता। मात्र विज्ञान तत्व को सत्य मानता है अतः इसे विज्ञानाद्वैतवादी कहते हैं। माध्यमिक न बहिरंग पदार्थ मानता है और न अन्तरंग पदार्थ को ही। सर्वथा शून्य मात्र तत्व है ऐसा मानता है। इन सभी के यहां क्षणभंगवाद है। बौद्ध ने दो तत्व माने हैं। एक स्वलक्षण और दूसरा सामान्य लक्षण। सजातीय और विजातीय परमाणुओं से असंबद्ध, प्रतिक्षण विनाशशील ऐसे जो निरंश परमाणु हैं उन्ही को स्वलक्षण कहते हैं, अथवा देश, काल और आकार से नियत वस्तु का जो स्वरूप है-असाधारणता है वह स्वलक्षण कहलाता है।

सामान्य—एक कल्पनात्मक वस्तु है। सामान्य हो चाहे सदृश हो, दोनों ही वास्तविक पदार्थ नहीं है।

प्रमाण—अविसंवादक ज्ञान को प्रमाण कहते हैं उसके दो भेद हैं अर्थात् बौद्ध प्रमाण की संख्या दो मानते हैं, प्रत्यक्ष और अनुमान। कल्पना रहित (निश्चय रहित) अभ्रान्त ऐसे ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। और व्याप्तिज्ञान से सम्बन्धित किसी धर्म के ज्ञान से किसी धर्मी के विषय में जो परोक्ष ज्ञान होता है वह अनुमान प्रमाण कहलाता है। प्रमाण चाहे प्रत्यक्ष हो चाहे अनुमान हो सभी साकार रूप ज्ञान है। ज्ञान घट आदि वस्तुसे उत्पन्न होता है उसी के आकार को धारण करता है और उसी को जानता है। इसी को "तदुत्पत्ति, तदाकार, तदध्यवसाय" ऐसा कहते हैं।

प्रामाण्य (प्रमाण का फल) प्रमाण रूप ही है। चार आर्य सत्य दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग इनका बोध होना चाहिए। तथा पांच स्कंध–रूपस्कंध, वेदनास्कंध, संज्ञास्कंध, संस्कारस्कंध और विज्ञानस्कंध इनकी जानकारी भी होनी चाहिए, क्योंकि इनके ज्ञान से मुक्ति का मार्ग मिलता है। मुक्ति के विषय में बौद्ध की विचित्र मान्यता है, चित्त अर्थात् आत्मा का निरोध होना मुक्ति है। दीपक बुझ जाने पर किसी दिशा विदिशा में नहीं जाकर मात्र समाप्त हो जाता है उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व समाप्त होना मुक्ति है। "प्रदीप निर्वाण वदात्म निर्वाणम्" नैयायिकादि ने तो मात्र आत्मा के गुण ज्ञान आदिका अभाव मुक्ति में स्वीकार किया है किन्तु बौद्ध ने मूल जो आत्म द्रव्य है उसका ही अभाव मुक्ति में माना है उनकी मान्यता है कि पदार्थ चाहे जड़ हो चाहे चेतन प्रतिक्षण नये-नये उत्पन्न होते हैं पूर्व चेतन नयी संतान को पैदा करते हुए नष्ट हो जाता है जब तक इस तरह से संतान परम्परा चलती है तब तक संसार और जहां वह रुक जाती है वहीं निर्वाण हो जाता है। सृष्टि के विषय में बौद्ध लोग मौन हैं। बुद्ध से किसी शिष्य ने इस जगत के विषय में प्रश्न किया तो उन्होंने कहा था कि सृष्टि कब बनी? किसने बनायी? अनादि को है क्या? इत्यादि प्रश्न तो बेकार ही हैं? जीवों का क्लेश, दुःख से कैसे छुटकारा हो इस विषय में सोचना चाहिए। प्रतीत्य समुत्पाद, अन्यापोहवाद, क्षण भंगवाद, आदि बौद्धों के विशिष्ट सिद्धान्त हैं। प्रतीत्य समुत्पाद का दूसरा नाम सापेक्ष कारणवाद भी है। अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति। शब्द या वाक्य मात्र अन्य अर्थ की व्यावृत्ति करते हैं, वस्तु को नहीं बताते। जैसे किसी ने "घट" कहा सो घट शब्द घट को न बतलाकर अघट की व्यावृत्ति मात्र करता है इसी को अन्यापोह कहते हैं। प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण विशरणशील है यह क्षण भगवाद है। इत्यादि एकान्त कथन इस मत में पाया जाता है।

न्याय दर्शन

न्याय दर्शन या नैयायिक मत में १६ पदार्थों का (तत्वों का) प्रतिपादन किया है, प्रमाण प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प पितण्डा, हेत्वाभास छल, जाति, निगृह स्थान इन पदार्थों का विस्तृत वर्णन न्याय वार्त्तिक आदि ग्रन्थों में पाया जाता है। प्रमाण प्रमेय, प्रमाता, प्रमिति इस प्रकार भी संक्षेप से तत्त्व माने जाते हैं,

प्रमाण संख्या—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा, आगम इस प्रकार नैयायिक ने चार प्रमाण माने हैं। प्रमाकरणं-प्रमाणं, अर्थात् प्रमा के करण को प्रमाण कहते हैं, कारक साकल्य प्रमा का करण है अतः प्रमाण माना गया है।

प्रामाण्य वाद—प्रमाण में प्रमाणता पर से ही आती है क्योंकि यदि प्रमाण में स्वतः ही प्रामाण्य होता तो यह ज्ञान प्रमाण है या अप्रमाण है ऐसा संशय नहीं हो सकता था।

कार्य कारण भाव—न्याय दर्शन में कार्य भिन्न है और कारण भिन्न है, यह सिद्धान्त सांख्य से सर्वथा विपरीत है। अर्थात् सांख्य तो कारण कार्य में सर्वथा अभेद ही मानते हैं और नैयायिक सर्वथा भेद ही, अतः सांख्य सत्कार्य वादी और नैयायिकादि असत्यकार्यवादी नाम से प्रसिद्ध हुए।

कारण के तीन भेद हैं—

(१) समवायी कारण (२) असमवायी कारण (३) निमित्त कारण

सामान्य से तो जो कार्य के पहले मौजूद हो तथा अन्यथा सिद्ध न हो वह कारण कहलाता है। समवाय सम्बन्ध से जिसमें कार्य की उत्पत्ति हो वह समवायी कारण कहलाता है, जैसे वस्त्र का समवायी कारण तन्तु (धागा) है। कार्य के साथ अथवा कारण के साथ एक वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहते हुए जो कारण होता है उसे असमवायी कारण कहते हैं, जैसे तन्तुओं का आपस में संयोग हो जाना वस्त्र का असमवायी कारण कहलायेगा। समवायी कारण और असमवायी कारण से भिन्न जो कारण हो उसको निमित्त कारण समझना चाहिये। जैसे वस्त्र की उत्पत्ति में जुलाहा तुरी, वेम, शलाका, ये सब निमित्त कारण होते हैं।

सृष्टि कर्तृत्ववाद – यह संसार ईश्वर के द्वारा निर्मित है, पृथ्वी, पर्वत, वृक्ष, शरीर आदि तमाम रचनायें ईश्वराधीन हैं, हां इतना जरूर है कि इन चीजों का उपादान तो परमाणु है, दो परमाणुओं से द्वयणुक की उत्पत्ति होती है, तीन द्वयणुकों के संयोग से त्र्यणुक या त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है। चार त्रस रेणुओं के संयोग से चतुरेणु की उत्पत्ति होती है, इस प्रकार आगे आगे जगत की रचना होती है। परमाणु स्वतः तो निष्क्रिय है, प्राणियों के अदृष्ट की अपेक्षा लेकर ईश्वर ही इन परमाणुओं की इस प्रकार की रचना करता जाता है। मतलब निष्क्रिय परमाणुओं में क्रिया आरम्भ कराना ईश्वरेच्छा के अधीन है, ईश्वर ही अपनी इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति, और प्रयत्न शक्ति से जगत रचता है।

परमाणु का लक्षण—घर में छत के छेद से सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं तब उनमें जो छोटे-छोटे कण दृष्टि गोचर होते हैं वे ही त्रस रेणु हैं, और उनका छठवां भाग परमाणु कहलाता है परमाणु तथा द्वयणुक का परिमाण अणु होने से उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता और महत् परिणाम होने से त्रसरेणु प्रत्यक्ष हो जाते हैं।

ईश्वर—ईश्वर सर्वशक्तिमान है जगत तथा जगत वासी आत्मायें सारे के सारे ही ईश्वर के अधीन हैं। स्वर्ग नरक आदि में जन्म दिलाना ईश्वर का कार्य है, वेद भी ईश्वर कृत है-ईश्वर ने रचा है।

मुक्ति का मार्ग—जो पहले कहे गये प्रमाण प्रमेय आदि १६ पदार्थ या तत्त्व हैं उनका ज्ञान होने से मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या का नाश होता है। मिथ्याज्ञान के नाश होने पर क्रमशः दोष, प्रवृत्ति, जन्म, और दुखों का नाश होता है। इस प्रकार इन मिथ्याज्ञान आदि का अभाव करने के

लिये या तत्त्व ज्ञान प्राप्ति के लिये जो प्रयत्न किया जाता है वह मोक्ष या मुक्ति का मार्ग (उपाय) है।

मुक्ति दुख से अत्यन्त विमोक्ष होने को अपवर्ग या मुक्ति कहते हैं, मुक्त अवस्था में बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार इन नौ गुणों का अत्यन्त विच्छेद हो जाता है नैयायिक का यह मुक्ति का आवास बड़ा ही विचित्र है कि जहा पर आत्माके हो खास गुण जो ज्ञान और सुख या आनन्द हैं उन्ही का वहां अभाव हो जाता है। अस्तु।

वैशेषिक दर्शन

वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थ माने है, उनमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष समवाय ये छः तो सद्भाव हैं और अभाव पदार्थ अभावरूप ही है।

द्रव्य—जिसमें गुण और क्रिया पायी जाती है, जो कार्य का समवायी कारण है उसको द्रव्य कहते हैं। इसके नौ भेद हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन।

गुण—जो द्रव्य के आश्रित हो और स्वयं गुण रहित हो तथा संयोग विभाग का निरपेक्ष कारण न हो वह गुण कहलाता है। इसके २४ भेद है, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण वेग, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, धर्म, अधर्म, इच्छा; द्वेष, प्रयत्न, संस्कार।

कर्म—जो द्रव्य के आश्रित हो गुण रहित हो तथा संयोग विभाव का निरपेक्ष कारण हो वह कर्म है। उसके ५ भेद हैं उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण, गमन।

सामान्य—जिसके कारण वस्तुओं में अनुगत (सदृश) प्रतीति होती है वह सामान्य है वह व्यापक और नित्य है।

विशेष—समान पदार्थों में भेद की प्रतीति कराना विशेष पदार्थ का काम है।

समवाय—अयुतसिद्ध पदार्थों में जो सम्बन्ध है उसका नाम समवाय है। गुण गुणी के संबंध को समवाय सम्बन्ध कहते हैं।

अभाव—मूल में अभाव के दो भेद हैं-संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। दो वस्तुओं में रहने वाले संसर्ग के अभाव को संसर्गाभाव कहते हैं। अन्योन्याभाव का मतलब यह है कि एक वस्तु का दूसरी वस्तु में अभाव है। संसर्गाभाव के तीन भेद हैं, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यंताभाव। इनमें अन्योन्याभाव जोड़ देने से अभाव के चार भेद होते हैं। वैशेषिक दर्शन में वेद को तथा सृष्टि को नैयायिक के समान ही ईश्वर कृत माना है, परमाणुवाद अर्थात् परमाणु का लक्षण, कारण कार्य भाव आदि का कथन नैयायिक सदृश ही है।

प्रमाण संख्या—प्रमाण के तीन भेद माने हैं प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम। वैशेषिक सन्निकर्ष को प्रमाण मानते हैं प्रमाण में प्रामाण्य पर से आता है।

मुक्ति का मार्ग—निवृत्ति लक्षण धर्म विशेष से साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा द्रव्यादि छह पदार्थों का तत्व ज्ञान होता है और तत्व ज्ञान से मोक्ष होता है।

मुक्ति—बुद्धि आदि के पूर्वोक्त नौ गुणों का विच्छेद होना मुक्ति है। ऐसा नैयायिक के समान मुक्ति का स्वरूप इस दर्शन में भी कहा गया है नैयायिक और वैशेषिक दर्शन में अधिक सादृश्य पाया जाता है, इन दर्शनों को यदि साथ ही कहना हो तो यौग नाम से कथन करते हैं।

सांख्य दर्शन

सांख्य २५ तत्त्व मानते हैं। इन २५ में मूल दो ही वस्तुएं हैं-एक प्रकृति और दूसरा पुरुष। प्रकृति के २४ भेद हैं। मूल में प्रकृति व्यक्त और अव्यक्त के भेद से दो भागों में विभक्त है। व्यक्त के ही २४ भेद होते हैं। अर्थात् व्यक्त प्रकृति से महान (बुद्धि) उत्पन्न होता है महान से अहंकार, अहंकार से सोलह गण होते हैं वे इस प्रकार हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं। वाग्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ ये पांच कर्मेन्द्रियां हैं। रूप, गन्ध, स्पर्श, रस, शब्द ये पांच तन्मात्रायें कहलाती हैं। इस प्रकार ये पन्द्रह हुए और सोलहवां मन है। जो पांच रूप आदि तन्मात्रायें हैं उनसे पंचभूत पैदा होते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इस प्रकार प्रकृति या अपर नाम प्रधान के २४ भेद हैं, पच्चीसवां भेद पुरुष है, इसी को जीव आत्मा आदि नामों से पुकारते हैं। यह पुरुष प्रकृति से सर्वथा विपरीत लक्षण वाला है अर्थात् प्रकृति में जड़त्व, अविवेक, त्रिगुणत्व, विकार आदि धर्म रहते हैं और इनसे विपरीत पुरुष में चेतनत्व, विवेक, त्रिगुणातीतत्व, अविकारीत्व आदि धर्म रहते हैं। यह पुरुष कूटस्थ नित्य है, इसमें भोक्तृत्व गुण तो पाया जाता है किन्तु कर्तृत्व गुण नहीं पाया जाता।

कारण कार्य सिद्धान्त - यौग दर्शन से सांख्य का दर्शन इस विषय में नितान्त भिन्न है, वे असत् कार्य वादी है, ये सत्कार्यवादी हैं। कारण में कार्य मौजूद ही रहता है, कारणद्वारा मात्र वह प्रकट किया जाता है ऐसा इनका कहना है। किसी भी वस्तु का नाश या उत्पत्ति नहीं होती किन्तु तिरोभाव आविर्भाव (प्रकट होना और छिप जाना) मात्र हुआ करता है। सत्कार्य वाद को सिद्ध करने के लिये सांख्य पांच हेतु देते हैं—

प्रथम हेतु—यदि कार्य उत्पत्ति से पहले कारण में नहीं रहता तो असत् ऐसे आकाश कमल की भी उत्पत्ति होनी चाहिये।

द्वितीय हेतु—कार्य की उत्पत्ति के लिये उपादान को ग्रहण किया जाता है जैसे तेल की उत्पत्ति के लिए तिलों का ही ग्रहण होता है, बालुका का नहीं।

तृतीय हेतु—सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति नहीं होती है। अपितु प्रतिनियत कारण से ही होती है, अतः कारण में कार्य पहले से ही मौजूद है।

चतुर्थ हेतु—समर्थ कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है असमर्थ से नहीं।

पंचम हेतु—यह भी देखा जाता है कि जैसा कारण होता है। वैसा ही कार्य होता है। इस तरह इन हेतुओं से कारणका कार्य में सदा रहना सिद्ध होता है।

सृष्टि क्रम—प्रकृति (प्रधान) और पुरुष के संसर्ग से जगत् की सृष्टि होती है। प्रकृति जड़ है। और पुरुष निष्क्रिय है। अतः दोनों का संयोग होने से ही सृष्टि होती है। इस सांख्य दर्शन में सबसे बड़ी आश्चर्य कारी बात तो यह है कि ये लोग बुद्धिको (ज्ञान को) जड़ मानते हैं, आत्मा चेतन तो है किन्तु ज्ञान शून्य है।

प्रमाण संख्या—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इस प्रकार तीन प्रमाण होते हैं "इंद्रियवृत्ति, प्रमाणम्" इन्द्रियों के व्यापार को सांख्य प्रमाण मानते हैं। प्रामाण्य वाद के विषय में इनका कहना है कि प्रमाण हो चाहे अप्रमाण हो दोनों में प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः ही आता है। ईश्वर के विषय में इनमें मतभेद है। प्राचीन सांख्य निरीश्वर वादी थे अर्थात् एक नित्य सर्व शक्तिमान ईश्वर नामक कोई व्यक्ति को नहीं मानते थे, किन्तु अर्वाचीन सांख्य ने नास्तिकपने का लांछन दूर करने के लिये ईश्वर सत्ता को स्वीकार किया। यों तो चार्वाक और मीमांसक को छोड़कर सभी दार्शनिकों ने ईश्वर अर्थात् सर्वज्ञको स्वीकार किया है। किन्तु जैनेतर दार्शनिकों ने उसको सर्वशक्तिमान, संसारी जीवों के कार्योंका कर्त्ता आदि विकृत रूप माना और जैन ने उसको अनन्त शक्तिमान, कृतकृत्य और सम्पूर्ण जगत का ज्ञाता दृष्टा माना है न कि कर्त्ता रूप अस्तु। सांख्य ने मुक्ति के विषयों में अपनी पृथक् ही मान्यता रखी है। मुक्ति अवस्था में मात्र नहीं अपितु संसार अवस्था में भी पुरुष (आत्मा) प्रकृति से (कर्मादि से) सदा मुक्त ही है। बंध और मुक्ति भी प्रकृति के ही होते हैं। पुरुष तो निर्लेप ही रहता है। पुरुष और प्रकृति में भेद विज्ञान के होते ही पुरुष प्रकृति के संसर्गजन्य आध्यात्मिक आधिभौतिक और आदिदैविक इन तीन प्रकार के दुःखों से छूट जाता है। प्रकृति (कर्म) एक नर्तकी के समान है, जो रंग स्थल में उपस्थित दर्शकोंके सामने अपनी कला को दिखा कर हट जाती है। वह एक बार पुरुष के द्वारा देखे जाने पर पुनः पुरुष के सामने नहीं आती। पुरुष भी उसको देख लेने पर उपेक्षा करने लगता है, इस प्रकार अब सृष्टि का कोई प्रयोजन नहीं रहता अतः मोक्ष हो जाता है, इसलिये प्रकृति और पुरुष के भेद विज्ञान को ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष अवस्था में मात्र एक चैतन्य धर्म रहता है। ज्ञानादिक तो प्रकृति के धर्म हैं। अतः मोक्ष में वैशेषिकादि के समान ही ज्ञानादिका अभाव सांख्यने भी स्वीकार किया है।

सर्वज्ञ को नहीं मानने वाले मीमांसक और चार्वाक हैं उनमें से यहां मीमांसक मत का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है मीमांसक मत में वेद वाक्यों का अर्थ क्या होना चाहिए इस विषय को लेकर

भेद हुए हैं जो "अग्निष्टोमेन यजेत्" इत्यादि वेद वाक्य का अर्थ भावना परक करते हैं। उन्हें भाट्ट कहते हैं, जो नियोग रूप करते हैं वे प्रभाकर और जो विधि रूप अर्थ करते हैं वे वेदान्ती कहलाते हैं। मीमांसक वेद को अपौरुषेय मानते हैं। जबकि ईश्वर कर्त्ता मानने वाले नैयायिकादि दार्शनिक वेद को ईश्वर कृत स्वीकार करते हैं। मीमांसक चूंकि ईश्वर सत्ता को नहीं मानते अतः सृष्टि को अनादि निधन मानते हैं। इस जगत का न कोई कर्त्ता है और न कोई हर्त्ता है। शब्द को नित्य तथा सर्वव्यापक मानते हैं क्योंकि वह नित्य व्यापक ऐसे आकाश का गुण है। शब्द की अभिव्यक्ति तालु आदि के द्वारा होती है न कि उत्पत्ति, जिस प्रकार दीपक घट पट आदि का मात्र प्रकाशक (अभिव्यंजक) है। उसी प्रकार तालु आदि का व्यापार मात्र शब्द को प्रगट करता है, न कि उत्पन्न करता है।

तत्त्व संख्या—मीमांसक के दो भेदों में से भाट्ट के यहां पदार्थ या तत्त्वों की संख्या ५ मानी हैं-द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य और अभाव। प्रभाकर आठ पदार्थ मानता है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। द्रव्य नामा पदार्थ भाट्ट के यहां ग्यारह प्रकार का है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा, मन, तम और शब्द। इसमें से तम को छोड़ कर १० भेद प्रभाकर स्वीकार करता है।

प्रमाण संख्या—भाट्टकी प्रमाण संख्या छः है प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, आगम और अभाव। प्रभाकर अभाव को छोड़कर पाँच प्रमाण स्वीकार करता है।

प्रामाण्यवाद—सभी मीमांसक प्रमाणों में प्रामाण्य सर्वथा स्वतः ही रहता है ऐसा मानते है। अप्रामाण्य मात्र पर से ही आता है। मीमांसक सर्वज्ञ को न मान कर सिर्फ धर्मज्ञ को मानते हैं अर्थात् वेद के द्वारा धर्म-अधर्म आदि का ज्ञान हो सकता है किन्तु इनका साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता है। मुक्ति के विषय मे भी मीमांसक इतना ही प्रतिपादन करते है कि वेद के द्वारा धर्म आदि का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। किन्तु आत्मा में सर्वथा रागादि दोषों का अभाव होना अशक्य है तथा पूर्ण रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान होना भी अशक्य है। कोई-कोई मीमांसक दोषों का अभाव आत्मा में स्वीकार करके भी सर्वज्ञता को नहीं मानते हैं, इनके वेद या मीमांसाश्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थों में स्वर्ग का मार्ग ही विशेष रूपेण वर्णित है। यज्ञ, पूजा, जप, भक्ति आदि स्वर्ग सुख के लिये ही प्रतिपादित हैं "अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्य इसी बात को पुष्ट करते हैं। इनका अन्तिम ध्येय स्वर्ग प्राप्ति तक सीमित है, अस्तु। इस प्रकार वेद को माननेवाले प्रमुख दर्शन नैयायिक, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसक हैं, इनके आवांतर भेद और भी हैं जैसे वेदांती शब्दाद्वैतवादी, शांकरीय, भास्करीय इत्यादि, इन सबमें वेद प्रामाण्यकी मुख्यता है।

चार्वाक दर्शन

चार्वाक का कहना है कि न कोई तीर्थंकर है न कोई वेद या धर्म है। कोई भी व्यक्ति पदार्थ को तर्क से सिद्ध नहीं कर सकता। ईश्वर या भगवान भी कोई नहीं है। जीव–पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन भूत चतुष्टय से उत्पन्न होता है और मरने के बाद शरीर के साथ भस्म होता है, अतः जीवन का लक्ष्य यही है कि—

यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्यदेहस्य पुनरागमनं कुतः ॥१॥

जब तक जीना है तब तक सुख से रहे। कर्ज करके खूब घी आदि भोग सामग्री भोगे! क्योंकि परलोक में जाना नहीं, आत्मा यह शरीर रूप ही है पृथक् नहीं, शरीर यहीं भस्म होता है उसी के साथ चैतन्य भी समाप्त होता है, पुनर्जन्म है नहीं। चार्वाक के यहां दो ही पुरुषार्थ हैं अर्थ और काम। परलोक स्वर्ग नरक आदि कुछ नहीं। पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म आदि नहीं हैं, जब जीव जन्मता है तो पृथ्वी आदि से एक चैतन्य शक्ति पैदा हो जाती है। जैसे आटा, गुड़, महुआ आदि से मदिरा में मदकारक शक्ति पैदा होती है। धर्म नामा कोई तत्त्व नहीं है। जब परलोक में जाने वाला आत्मा ही नहीं है तो धर्म किसके साथ जायेगा? धर्म क्या है इस बात को समझना भी कठिन है। जीवनका चरम लक्ष्य मात्र ऐहिक सुखों की प्राप्ति है। चार्वाक एक प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है। जिस वस्तु का चक्षु आदि इन्द्रियों से ज्ञान होता है वही ज्ञान और वस्तु सत्य है, बाकी सब काल्पनिक। अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि उसमें साध्य और साधन को व्याप्ति सिद्ध नहीं होती है। जब आत्मा ही नहीं है तब सर्वज्ञ भी कोई नहीं है, न उसके द्वारा प्रतिपादित धर्म है। ज्ञान तो शरीर का स्वभाव है आत्मा का नहीं, ऐसा इस नास्तिकवादी का कहना है, इसीलिये इसको भौतिकवादी, नास्तिकवादी, लौकायत नामों से पुकारते हैं। वर्तमान में प्रायः अधिक संख्या में इसी भौतिक मत का प्रचार है।

शुद्धि पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३	२	दृष्टांता	दृष्टान्तः
८	१३	होते हैं	होते
११	५	तत्तेनापलभ्यते	तत्तेनोपलभ्यते
११	२०	पदार्थके व्यभिचरित	पदार्थके साथ व्यभिचरित
१६	१०	बतलाइये	बतलाये
१८	१०	एकल	एकत्व
२४	४	अत्रैवार्थ	अत्रैवार्थे
२७	२७	(किन्तु)	किन्तु
३५	३	कर्मति	कर्मेति
३६	१६	मिश्रता	भिन्नता
४३	२०	हानि है	हानि है, जैसे रत्नादिके आवरणकी हानि देखी जाती है, इस प्रकार
४३	२४	और अत्यंत	और उसका अत्यंत
४४	६	प्रचयात्मकेऽथ	प्रचयात्मकेऽर्थे
४६	२३	वैसे ही योगीज्ञान	वैसे ही योगीके ज्ञानका प्रतिबंधक कर्म हटने पर योगीज्ञान
५८	२५	सर्वज्ञ सिद्ध	सर्वज्ञपना सिद्ध
६०	११	कात्यायनी आदिके मत का	कात्यायनी आदिके अनुमानके अतिशय के साथ एवं जैमिनी आदिके
६५	१०	ज्ञायक	साधक
७०	८	नहीं होगा	नहीं मानेगा
७३	११	बचा लेते	बना लेते
७४	१४	मानसका धूम	महानसका धूम
७६	१८	प्रत्यभिज्ञान भी मानना	प्रत्यक्ष ज्ञान भी मानना
९८	२	अभ्यास के	अभ्यास से
१००	१२	तो उसमें भी	तो भी उसमें

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२१	१६	तथा सफेद आदि	तथा कृष्ण आदि
१२४	११	अनिष्टपाद्य	अनिष्पाद्य
१४५	१६	ही प्रसृत है	ही प्रसूत है
१५७	६	न सदकरणादुपादान	सदकरणादुपादान
१६६	२२	अविभाव	अविनाभाव
१८१	१५	सरागी भी	सरागी भी हैं
१८८	२	प्रतिबद्ध सामर्थ्य	प्रतिहृत सामर्थ्य
१९३	२७	अंत कर लेते हैं।	अंतराय कर लेते हैं।
२००	११	गुणों का होनेसे	गुणों का नाश होनेसे
२०५	१	परिहाराथ	परिहारार्थ
२०८	२६	भवका	मनका
२१०	६	अघादि	अद्यापि
२१३	२७	अन्य जन्यके	अन्य अन्यके
२१४	१	ज्ञानस्यान्तराभव	ज्ञानस्यान्तरभव
२१४	१०	ज्ञान हेतु	ज्ञानका हेतु
२१५	११	ज्ञान असत्व	ज्ञानका असत्व
२१८	४	कुष्टिनीस्त्रीवद्	कुट्टिनीस्त्रीवद्
२२४	१४	आनित्यमें	अनित्यमें
२३०	४	सेन्द्रिय—	स इन्द्रिय—
२५१	१२	अदि	यदि
२५३	१६	आत्मा का	पुरुषके
२७१	१८	योग्य पुण्य	योग्य पाप
२८०	२३	और विकल्प	और विकल्प्य
२८३	२०	पंक्ति २० के अंतिम वाक्य, [अतः यहां...] से लेकर २२ वीं पंक्ति के अंतिम वाक्य [....पाया जाता है] तक निरस्त समझें।	
२८८	५	ज्ञातम्"	ज्ञानम्"
३००	८	इत्युपख्यानं	इत्युपसंख्यानं
३१३	२५	प्रमाण	प्रमाणका
३१५	८	प्रतिपत्तिदाक्य	प्रतिपत्तिदाढ्यं

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३२१	१३	तीनरूप	तीन रूपोंसे
३३०	१	दुपयुक्तफलवत्	दुपभुक्तफलवत्
३३३	१	आध्यक्षागमयोः	अध्यक्षागमयोः
३३४	१३	वैकल्प	वैकल्य
३४९	२६	आगमक	अगमक
३५३	२४	अन्यथा	अथवा
३६८	५	पतिपत्तव्यं	प्रतिपत्तव्यं
३७२	११	प्रमाण धर्मीके	प्रमाण सिद्ध धर्मीक
३७५	१६	साध्य विनाभावी	साध्याविनाभावी
३८७	२०	बाध्यसन्निकर्षादि	सन्निकर्षादि
३९८	२५	पहले ज्ञान	पहलेका ज्ञान
४००	६	परिणामीति	परिणामी
४००	२२	परिणामी	परिणामीति
४०२	१०	भरणिस्तत एव ॥६९॥	भरणिः प्राक् तत एव ॥६९॥
४०२	२५	भरणिस्तत एव ॥६९॥	भरणिः प्राक् तत एव ॥६९॥
४३१	१९	अपौरुषेय अथया	अपौरुषेय है अथवा
४५९	१	पतिपत्ति	प्रतिपत्ति
४६०	१०	उसका सामान्यका	उस सामान्यका
४६३	९	सवितंकोप्येकेन	सवितर्कोप्येकेन
४६६	५	उद्ध्र्ववृत्ति	ऊर्ध्ववृत्ति
४८७	३	खंगे	खड्गे
४८८	१६	वृद्धि	बुद्धि
४९१	११	नहीं होता ऐसा	नहीं होता तो कफांश के विषय में भी ऐसा
४९२	८	तस्यात्मभूपः	तस्यात्मभूतः
५१३	११	हमेशा उक्त	उक्त
५३०	१९	क्योंकि ज्ञापक अर्थात् प्रतीतिका हेतु नहीं हो सकता जो निश्चय रूप हो।	क्योंकि ज्ञापकके निश्चयकी अपेक्षा होती है।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५३१	१६	सम्बद्ध	संबंध
५३७	२४	फिर आगे	फिर अगो
५४५	२५	प्रतिसिद्ध	प्रतिषिद्ध
५५४	१७	भाव तो भी	भाव भी
५७०	६	एतेषां मध्य	एतेषा मध्ये
५७२	२३	वाच्य	वाक्य
५८४	१०	स्पष्टकरण	स्पृष्टकरण
५८४	२६	विद्यमान	अविद्यमान
५६४	४	स्यात्मनस्थाभिधाना	स्यात्मनस्तथाभिधाना
५६६	२४	विकुहित	विकुट्टित
६२३	१०	अथस्येव	अर्थस्येव
६२६	२६	मेनार्था	मेनार्थ
६३०	१	अप्रेत प्रतिबधक	अपेतप्रतिबंधक
६३०	२७	अप्रयोजक	अप्रयोजक हेतु